कर्म-विज्ञान

नौवाँ भाग

****

अरिहंत-सिद्ध-स्वरूप विवेचन

****

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३६२वाँ रत्न

- कर्म-विज्ञान : नौवाँ भाग
  (अरिहंत-सिद्ध-स्वरूप विवेचन)
- लेखक : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी
- सम्पादक : विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमीचन्द जी
- प्रथम आवृत्ति : वि. सं. २०५४, आषाढ़
  जुलाई १९९७
- प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
  फोन : (०२९४) ४१३५१८
- मुद्रण : श्री राजेश सुराना द्वारा,
  दिवाकर प्रकाशन
  ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड
  आगरा-२८२ ००२
  फोन : (०५६२) ३५११६५
- मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपया मात्र

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत् के ये दो अद्भुत शब्द है, जिन पर चैतन्य जगत् की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

'कर्मवाद' का विषय बहुत गहन गम्भीर है, तथापि कर्मबंधन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत् के महान् मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने 'कर्म-विज्ञान' नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान् उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग ४५०० पृष्ठ का होने से हमने नौ भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं उसके भेदोपभेद पर तर्क पुरस्सर विवेचन है। चौथे भाग में कर्म-प्रकृतियों का, पाँचवें भाग में बंध की विविध प्रकृतियों की विस्तृत चर्चा है। छठे भाग में कर्म का निरोध एवं क्षय करने के हेतु संवर तथा निर्जरा के साधन एवं स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा सातवें भाग में संवर साधना के विविध उपायों का दिग्दर्शन कराते हुए निर्जरा तत्त्व के भेद-प्रभेद पर विस्तार के साथ चिन्तन किया है। आठवें भाग में मोक्ष का स्वरूप तथा उसके साधनभूत तत्त्वों का दिग्दर्शन है। नौवें भाग में अरिहंत तथा सिद्ध पद का विवेचन है।

यद्यपि कर्म-विज्ञान का यह विवेचन बहुत ही विस्तृत होता जा रहा है, प्रारम्भ में हमने तीन भाग की कल्पना की थी। फिर पाँच भाग का अनुमान लगाया, परन्तु अब यह नौ भागों में परिपूर्ण होने जा रहा है। किन्तु इतना विस्तृत विवेचन होने पर भी यह बहुत ही रोचक और जीवनोपयोगी बना है। पाठकों को इसमें ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध होगी, साथ ही जीवन में आचरणीय भी।

इसके प्रकाशन में पूर्व भागों की भाँति दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देशरडा का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। डॉ. श्री देशरडा साहब बहुत ही उदारमना समाजसेवी परम गुरुभक्त सज्जन हैं। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के प्रति आपकी अपार आस्था रही है, वही जीवन्त आस्था श्रद्धेय आचार्यश्री के प्रति भी है। आपके सहयोग से इस भाग का ही नहीं, अपितु कर्म-विज्ञान के आठ भागों के प्रकाशन का आर्थिक अनुदान आपश्री ने प्रदान किया है। जिसके फलस्वरूप कर्म-विज्ञान ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। ऐसे परम गुरुभक्त पर हमें हार्दिक गौरव है।

-चुन्नीलाल धर्मावत
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

पुस्तक प्रकाशन के विशिष्ट सहयोगी

डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया, व कर रहे हैं। आपमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाजहित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारतापूर्वक दान देते हैं, स्वयं अपना समय देकर लोगों को प्रेरित करते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लोग लाखों खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले ही होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में एक हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र (Metallurgical Engineering) में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्री मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को 'धम्मसहाया' विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है। आपके जीवन में सेवा, दान, स्वाध्याय एवं सामायिक की चतुर्मुखी ज्योति है।

आपके सुपुत्र हैं–श्री शेखर जी। वे भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा १९८६ में विशेष योग्यता से समुत्तीर्ण की है। आपने तभी से पिता के कारखानों के कारोबार में निष्ठा से तथा अतियोग्यता के साथ काम-काज सम्भाला है। पेपर मिलों के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपने उत्पादन को लब्ध-प्रतिष्ठित किया है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीतादेवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार एवं मधुर हैं।

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज-सेवा में भाग लेते हैं तथा उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं–सौ. सपना दुगड नासिक और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज, गुरु गणेशनगर तथा गुरु मिश्री अस्पताल, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं। आप अभी दक्षिणकेसरी मुनि मिश्रीलाल जी महाराज ग्रामीण केन्सर अस्पताल तथा रिसर्च इन्स्टीट्यूट की विशाल महायोजना को सम्पन्न कराने में तन-मन-धन से जुटे हुए हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर का वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के विभिन्न भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है तथा स्वाध्यायोपयोगी साहित्य फ्री वितरण करने में भी बहुत रुचि रखते हैं। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपकी उदारता और साहित्यिक सुरुचि प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। आपके सहयोग के प्रति हार्दिक साधुवाद !

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं :

- PRATISHTHAN ALLOY CASTINGS
- PRATISHTHAN ALLOYS PVT. LTD.
- PARASON MACHINERY (INDIA) PVT. LTD.
- SUNMOON SLEEVES PVT. LTD.

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

प्राक्कथन

कर्म-सिद्धान्त के समग्र स्वरूप पर क्रमशः चिन्तन और चर्चा करते हुए मैंने पिछले आठ भागों में विस्तारपूर्वक लिखा है। 'कर्म' का आदि बिन्दु जीव है और अन्तिम बिन्दु भी जीव है। कर्मयुक्त जीव को आधार मानकर ही कर्म के समग्र भेद-उपभेद पर चर्चा होती है, इस चर्चा का लक्ष्य केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं है, किन्तु एक स्पष्ट और सहज लक्ष्य है इस कर्म-चक्र से जीव की मुक्ति। कर्म-चक्र से मुक्त होने के उपायों पर विचार करने के लिए ही समग्र धर्मशास्त्र की रचना हुई है। अतः कर्म का अन्तिम बिन्दु ही जीव है। अन्तर यही है कर्म का आदि बिन्दु कर्मयुक्त संसारी जीव है और अन्तिम बिन्दु है कर्ममुक्त अशरीरी जीव। कर्ममुक्त होने पर कर्म की चर्चा भी समाप्त हो जाती है। कर्म का अस्तित्व संसार तक है। इसलिए हमने इस नौवें भाग में कर्ममुक्ति के चरम शिखर पर पहुँचे 'अरिहंत' वीतराग आत्मा के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक चर्चा करके अन्त में सिद्ध स्वरूप पर प्रकाश डालकर कर्म-सिद्धान्त की चर्चा समाप्त कर दी है। अतः नौवें भाग में कर्म-विज्ञान परिपूर्ण हो रहा है।

कर्म-विज्ञान के पिछले भाग पढ़ने वाले अनेक जिज्ञासु पाठकों ने सूचित किया है कि यह विवेचन उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक होते हुए भी नौ भागों में इतना विस्तृत हो गया है कि इसे पढ़कर क्रमपूर्वक ध्यान में रखना बहुत कठिन है, अतः सम्पूर्ण नौ भाग की एक सारपूर्ण संक्षिप्त जानकारी एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाये तो हमें पढ़ने और साररूप में सम्पूर्ण कर्म-विज्ञान का अवगाहन करने में सुविधा रहेगी।

प्रबुद्ध पाठकों की यह भावना मुझे भी उपयुक्त लगी और मैंने तथा मेरे विशिष्ट परम सहयोगी मुनि श्री नेमीचन्द जी महाराज ने पुनः श्रम करके समग्र कर्म-विज्ञान के सागर को गागर में भरने का प्रयास किया है। जिसे 'कर्म-सिद्धान्त : बिन्दु में सिंधु' शीर्षक से दिया जा रहा है। इस संक्षिप्त सारपूर्ण प्रस्तावना कर्म-विज्ञान अथ से इति तक का पूरा विषय क्रमिक रूप में पाठकों को पढ़ने व समझने में काफी उपयोगी होगा, ऐसा विश्वास है।

प्रारम्भ में कर्म-विज्ञान को चार-पाँच भाग में ही प्रस्तुत करने की योजना थी, परन्तु विस्तृत होते-होते यह नौ भागों में सम्पूर्ण हो रहा है और इसके अन्त में पारिभाषिक शब्द-कोष का परिशिष्ट भी जोड़ दिया है जो कर्म-विज्ञान के अध्येता और विद्यार्थियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी रहेगा।

इस प्रासंगिक प्राक्कथन के साथ ही आज मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमणसंघ के महान् आचार्यसम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज व आचार्यसम्राट् राष्ट्रसन्त महामहिम

स्व. श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का पुण्य स्मरण करता हूँ, जिन्होंने मुझे श्रमणसंघ का दायित्व सौंपने के साथ ही यह आशीर्वाद दिया था कि "अपने स्वाध्याय, ध्यान और श्रुताराधना की वृद्धि के साथ ही श्रमणसंघ में आचार-कुशलता, चारित्रनिष्ठा, पापभीरुता और परस्पर एकरूपता बढ़ती रहे-जनता को जीवन-शुद्धि का सन्देश मिलता रहे इस दिशा में सदा प्रयत्नशील रहना।" मैं उनके आशीर्वाद को श्रमण-जीवन का वरदान समझता हुआ उनके वचनों को सार्थक करने की अपेक्षा करता हूँ..... चतुर्विध श्रीसंघ से।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का पावन स्मरण करते हुए मैं अपनी श्रद्धा व आस्था के सुमन उनके पावन चरणों में समर्पित करता हूँ कि उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद मुझे जीवन में सदा मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

आदरणीया पूजनीया मातेश्वरी प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी महाराज व बहिन महासती पुष्पवती जी महाराज की सतत प्रेरणा सम्बल के रूप में रही है।

कर्म-विज्ञान जैसे विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे श्रमणसंघीय विद्वद् मनीषी मुनि श्री नेमीचन्द जी महाराज का आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है। मुझे विहार, प्रवचन, जनसम्पर्क व संघीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा है, पर मेरे स्नेह सद्भावनापूर्ण अनुग्रह से उत्प्रेरित होकर मुनिश्री ने अपना अनमोल समय निकालकर सम्पादन का कठिन कार्य सम्पन्न किया तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा और प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस लेखन-सम्पादन में जिन ग्रन्थों का अध्ययन कर मैंने उनके विचार व भाव ग्रहण किये हैं, मैं उन सभी ग्रन्थकारों/विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना का सहयोग तथा इसके प्रकाशन कार्य में परम गुरुभक्त उदारमना दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा की अनुकरणीय साहित्यिक रुचि भी अभिनन्दनीय है। श्री देसरडा साहब तो इस प्रकाशन में इतनी रुचि ले रहे हैं कि उनका उत्साह व उदारभाव देखकर मन प्रमुदित हो जाता है। प्रमोदभावपूर्वक दिया गया उनका सहकार अनुकरणीय है।

मैं पुनः पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि जैनधर्म के इस विश्वविजयी कर्म-सिद्धान्त को वे समझें और जीवन की प्रत्येक समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करें। समता, सरलता, सौम्यता का जन-जन में संचार हो, यही मंगल मनीषा....।

-आचार्य देवेन्द्र मुनि

कर्म-विज्ञान : भाग ९
विषय-सूची

क्या ?	कहाँ ?
● प्राक्कथन	
● कर्म-सिद्धान्त : बिंदु में सिंधु	
● पाठकों से एक नम्र निवेदन	

निबन्ध-क्रम

१.	मोक्ष के निकटवर्ती सोपान	१–३५
२.	अरिहन्त : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय	३६–६०
३.	विशिष्ट अरिहन्त तीर्थंकर : स्वरूप, विशेषता, प्राप्ति-हेतु	६१–१०३
४.	विदेह-मुक्त सिद्ध-परमात्मा : स्वरूप, प्राप्ति, उपाय	१०४–१४३
५.	परमात्मपद-प्राप्ति का मूलाधार : आत्म-स्वभाव में स्थिरता	१४४–१६८
६.	चतुर्गुणात्मक स्वभाव-स्थितिरूप परमात्मपद-प्राप्ति	१६९–१९९
७.	परमात्मभाव का मूलाधार : अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति	२००–२३६
८.	मोक्ष की अवश्यम्भाविता का मूल : केवलज्ञान : क्या और कैसे-कैसे ?	२३७–२७४

परिशिष्ट

१.	कर्मविज्ञान के नौ भागों की विस्तृत विषय-सूची	२७५–३८०
२.	पारिभाषिक शब्द-कोष	३८१
३.	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	४६१

कर्म-सिद्धान्त : बिंदु में सिंधु

(कर्मविज्ञान सम्पूर्ण नौ भागों का विहंगावलोकन)

आज विश्व में चारों ओर कर्म, कर्म और कर्म की आवाजें आ रही हैं। क्या पारिवारिक और क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या राजनैतिक, इसी प्रकार नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्म को प्रधानता दी जा रही है। भारतीय धर्मों और दर्शनों ने ही नहीं, पाश्चात्य धर्मों और दर्शनों ने भी एक या दूसरे प्रकार से कर्म की महत्ता को स्वीकार किया है। पश्चिमी देशों में Good deed और Bad deed के नाम से 'कर्म' शब्द प्रचलित है। जैनदर्शन ने ही नहीं, भारत के मीमांसा, वेदान्त, योग, सांख्य, बौद्ध और गीता आदि दर्शनों ने भी 'कर्म' को एक या दूसरे प्रकार से माना है। चार्वाक या नास्तिक दर्शन ने आत्मा का अस्तित्व न मानकर भी अच्छे और बुरे कार्य के रूप में कर्म को माना है।

इस प्रकार झोंपड़ी से लेकर महलों तक 'कर्म' शब्द गूँज रहा है। जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण में कर्म रमा हुआ है। कोई भी जीवित प्राणी कर्म किये बिना रह नहीं सकता।

परन्तु इनमें से अधिकांश धर्म, दर्शन, मत या समाज तो कर्म का अर्थ–किसी प्रकार का कार्य करना ही कर्म है; इतना ही करते हैं। इसके सिवाय उनकी सूझबूझ या विचारधारा कर्म से सम्बन्धित विविध प्रश्नों की ओर जाती ही नहीं। भारत के कतिपय धर्मग्रन्थ यह जरूर प्रतिपादित करते हैं–

"कर्मप्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहिं सो तस फल चाखा।"

यह विश्व कर्मप्रधान है, जो प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रायः सभी आस्तिक दर्शन या धर्म कर्म को तो एक या दूसरे प्रकार से स्वीकार करते हैं। किन्तु वे न तो उस 'कर्म' का वास्तविक स्वरूप बताते हैं, न ही उसके विविध प्रकार और अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

जैनदर्शन ने कर्म का सर्वांगीण सम्पूर्ण विचार प्रस्तुत किया है

जैनदर्शन ने कर्म का वास्तविक स्वरूप, अस्तित्व, कर्म के आस्रव, बन्ध तथा नये आते हुए कर्मों के निरोधरूप संवर तथा पुराने संचित कर्मों के क्षयरूप निर्जरा एवं सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष आदि के साथ-साथ कर्मों के प्रकार तथा उनके आस्रव एवं बन्ध के कारणों तथा कर्मनिरोध एवं कर्मक्षय के कारणों पर दीर्घ दृष्टि से गहन विचार किया है।

मीमांसा आदि कतिपय दर्शन जहाँ कामनामूलक कर्मों को वास्तविक कर्म मानते हैं, इसी प्रकार इस्लाम एवं ईसाई धर्म केवल शुभ-अशुभ कर्म का फल स्वर्ग और नरक बताकर ही छुट्टी पा लेते हैं। कर्मों से सर्वथा छुटकारा पाने या शुभाशुभ कर्मक्षय या कर्मनिरोध का कोई उपाय नहीं बताते। वैदिकधर्म की परम्परा में कतिपय कर्मों का शुभाशुभ फल बता दिया गया है अथवा अशुभ कर्म की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तरूप फल बताकर ही विराम पा लिया है। कतिपय भक्तिमार्गी सम्प्रदाय, मत अथवा दर्शन मोक्ष को बहुत ही सस्ता बताते हैं, कोई केवल भक्ति से मुक्ति मानते हैं, कोई केवल तत्त्वज्ञान से और कोई केवल तीर्थजल-स्नान या अमुक वनस्पति-सेवन या कष्टकारक क्रियाकाण्ड करने से मोक्ष मानते हैं।

कर्म से सम्बन्धित इन सभी प्रश्नों या तथ्यों का युक्ति, सूक्ति एवं अनुभूतियुक्त समाधान भगवत्प्ररूपित आगमों, शास्त्रों में एवं कर्ममर्मज्ञ आचार्यों ने कर्मग्रन्थों, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, गोम्मटसार, महाबंधो, धवला आदि ग्रन्थों में दिया गया है। परन्तु उससे आधुनिक भौतिकविज्ञानविदों, दार्शनिकों, पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओं, परामनोवैज्ञानिकों, कतिपय धर्मशास्त्रियों, अध्यात्मरसिकों या शोधार्थियों का पूर्णतया

मन:समाधान नहीं हो पाता। एक तो जैन आगम या प्राचीन धर्मग्रन्थों की भाषा प्राकृत या संस्कृत है। सामान्य पाठक उन ग्रन्थों के हार्द को समझ नहीं पाता। हिन्दी भाषा में उन शास्त्रों का अनुवाद भी हुआ है, विवेचन भी लिखा गया है, फिर भी उनमें कर्म के विषय में अस्तित्व से लेकर कर्म से सर्वथा मुक्ति तक सारा विवरण एक स्थान पर नहीं मिलता। भगवती, प्रज्ञापना, धवला, षट्खण्डागम, महाबंधो, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) आदि आगमों और ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं तो केवल आस्रव एवं बंध का तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष का संक्षिप्त वर्णन है, वह भी जटिल एवं दुरूह है। उनके भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है, किन्तु उनका स्वरूप और उनमें उठने वाली शंकाओं का पर्याप्त समाधान नहीं मिलता। यद्यपि हिन्दी भाषा में कर्मसिद्धान्त एवं कर्मवाद के विषय पर कतिपय पुस्तकें अवश्य ही प्रकाशित हुई हैं, किन्तु उनमें आधुनिक मनोविज्ञान, योगविज्ञान, भौतिकविज्ञान तथा विविध दर्शनों और धर्मों के साथ तुलनात्मक तथा यथार्थ समीक्षात्मक वर्णन नहीं मिलता। किसी-किसी पुस्तक में कर्म और उसके आस्रव तथा बंध के विषय में रोचक वर्णन अवश्य दिया गया है। परन्तु उसमें बंधों की विचित्रता, संवरों के सक्रिय आधार और आचार के विषय में तथा मोक्षलक्षी निर्जरा के वास्तविक रूप का एवं मोक्ष के स्वरूप और उपायों का विस्तृत एवं सन्तोषकारक निरूपण नहीं है, है तो भी अत्यल्प है।

कर्मविज्ञान नाम की विशेषता

इन सब दृष्टियों से कर्मसिद्धान्त का अथ से इति तक विशद, समाधानकारक, स्पष्ट तथा कर्म के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों का सांगोपांग निरूपण करने हेतु हमने नौ भागों तथा तदनुरूप बारह खण्डों में कर्मविज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है। हमने इसका नाम कर्मसिद्धान्त, कर्मवाद या कर्मशास्त्र न देकर कर्मविज्ञान इसलिए दिया है कि कर्मसिद्धान्त या कर्मवाद नाम दिया जाता तो उसमें कर्मों के आस्रव और बन्ध का ही विशेष रूप से वर्णन होता। यदि कर्मशास्त्र दिया जाता तो भी वह वर्णन कर्मों के भेद-प्रभेद एवं कारण तक प्रायः सीमित रहता। इसलिए कर्म से सम्बन्धित सभी चर्चाओं, पहलुओं, सभी शंकाओं तथा कर्म के निरोध और क्षय सम्बन्धी सभी तथ्यों पर सांगोपांग विवेचन करने तथा कर्म के अस्तित्व, वस्तुत्व, यथार्थ मूल्य-निर्णय एवं कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, उपशमन, क्षय, क्षयोपशम, निधत्त, निकाचना आदि सभी अंगोपांगों का विशद एवं युक्तिसंगत निरूपण करने हेतु इसका नाम कर्मविज्ञान दिया गया है। ज्ञान प्रायः जानकारी तक ही सीमित रहता है, जबकि विज्ञान में अनुभवयुक्त ज्ञान अथवा सक्रिय ज्ञान या आचार और आधारयुक्त ज्ञान होता है। यही कारण है कि कर्मविज्ञान में कर्म के दर्शनपक्ष, ज्ञानपक्ष और आचारपक्ष, इन तीनों का सांगोपांग विज्ञान प्रस्तुत किया गया है। इसमें जीवन और जगत् के सभी कर्मस्रोतों और कर्मबन्धों का तथा उनके निरोध और क्षय की वैज्ञानिक पद्धति से युक्तिसंगत व्याख्या की गई है। अतीत से वर्तमान तक के सैकड़ों विद्वानों, विचारकों, कर्मसिद्धान्त-मर्मज्ञों एवं लेखकों के तथ्यपूर्ण निष्कर्षों के प्रकाश में एवं शास्त्रीय, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं आधुनिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में, नौ भागों में कर्मविज्ञान का विस्तृत विवेचन किया गया है। कर्मसिद्धान्त का हिन्दी साहित्य-जगत् में इतना विशद एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन पढ़कर इसे कर्मविज्ञान का कोष कहा जा सकता है।

●●

कर्मविज्ञान : भाग १ का सारांश

कर्म का अस्तित्व

यही कारण है कि कर्मविज्ञान के प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में सर्वप्रथम कर्म के अस्तित्व को विविध प्रमाणों, युक्तियों, तर्कों तथा प्राणियों में पाई जाने वाली विविधताओं एवं विभिन्नताओं को लेकर सिद्ध किया गया है।

मनुष्य जब से आँखें खोलता है, उसके सामने चित्र-विचित्र प्राणियों से भरा संसार दिखाई पड़ता है। उन प्राणियों में कोई तो पृथ्वी के रूप में, कोई जलकाय के रूप में, कोई वायुकायिक रूप में, कोई तेजस्काय के रूप में और कोई विविध वनस्पतिकाय के रूप में दृष्टिगोचर होता है। कहीं लट, गिंडोला, अलसिया, जलौक इत्यादि द्वीन्द्रिय जीवों का समूह रेंगता हुआ नजर आता है। कहीं जूँ, घींघड़, खटमल, गजाई, चींटी, मकोड़ा, दीमक, धनेरिया इत्यादि के रूप में त्रीन्द्रिय जीवों का समूह चलता-फिरता नजर आता है। तो शयनकक्ष या भोजनकक्ष आदि में मक्खी, मच्छर, भौंरा, कंसारी, पतंगा, टिड्डीदल इत्यादि समूहरूप में उड़ते, फुदकते और सरकते दृष्टिगोचर होते हैं। इतना ही नहीं, ऊपर और नीचे, दाँये-बाँये दृष्टिपात करते हैं तो कुत्ता, बिल्ली, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल आदि स्थलचर; मछली, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि जलचर; कौआ, हंस, चील, कोयल इत्यादि नभचर; सर्प, गोह इत्यादि उरपरिसर्प तथा नेवला, चूहा, मेंढक, छछुंदर इत्यादि भुजपरिसर्प पंचेन्द्रिय जीवों के रूप में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। यों एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की अच्छी खासी हलचल दिखाई देती है। इनकी आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, चालढाल, आवाज आदि एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य जाति में भी गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेदत्रय (काम), कषाय, ज्ञान-अज्ञान, भव्य-अभव्य, संयम-असंयम, संज्ञी-असंज्ञी अथवा संज्ञा, आहार, दर्शन-अदर्शन, लेश्या, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व आदि बातों (मार्गणाओं) को लेकर अनेक विभिन्नताएँ हैं। इसके अतिरिक्त पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, धर्मसंघीय आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी रुचि, जिज्ञासा, प्रतिभा, योग्यता, क्षमता, बुद्धि, शक्ति आदि की दृष्टि से मनुष्यों में परस्पर भिन्नता एवं विलक्षणता पाई जाती है। फिर पंचेन्द्रियों में मनुष्यों और तिर्यञ्चों के अतिरिक्त नारक और देव भी हैं, जो भले ही इन चर्मचक्षुओं से दिखाई न दें, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानियों को दिव्यनेत्रों से वे प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों का विशाल और अगणित-अनन्त प्रकार की विविधताओं से भरा यह मेला संसार में दृष्टिगोचर होता है। यह तो नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चार गतियों वाले संसार में विविधताओं, विभिन्नताओं और प्रतिप्राणि की पृथक्ता से भरे जीवों का लेखा-जोखा है।

सिद्ध-मुक्त जीवों में विभिन्नताएँ-विविधताएँ नहीं

संसार से सर्वथा निर्लिप्त, निरंजन, निराकार, कर्म, काया, मोह-माया आदि सबसे रहित जन्म-मरण, दुःख-कर्म-शरीरादि से रहित सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अनन्त जीव तो इन सबसे पृथक् हैं, उनमें प्रति व्यक्ति आत्म-पृथक्ता तो है, किन्तु संसारी जीवों की तरह विविधता या विभिन्नता नहीं है।

संसारी जीवों में असंख्य विभिन्नताओं का क्या कारण है ?

प्रश्न होता है-संसारी जीवों में जिस प्रकार अगणित विभिन्नताएँ-विविधताएँ हैं, वैसी विविधताएँ-विभिन्नताएँ उन अनन्त सिद्ध-मुक्त जीवों में क्यों नहीं हैं? संसारी जीवों में इतनी विविधताओं-विभिन्नताओं का क्या कारण है? इसका स्पष्ट समाधान भगवान महावीर ने इस प्रकार किया है-

"गोयमा ! कम्मओ णं विभत्तीभावं जणयइ, नो अकम्मओ।"

–हे गौतम ! कर्म के कारण ही प्राणियों में विभेद होता है, अकर्म (कर्मरहितता) के कारण नहीं।

संसारी प्राणियों की पूर्वोक्त विभिन्नताओं का कारण कर्म को मान लेने पर भी जैववैज्ञानिकों द्वारा कर्म को न मानकर वैयक्तिक विलक्षणताओं का कारण 'जीन्स' को माना जाता है। उनका कहना है कि व्यक्ति-व्यक्ति में पाई जाने वाली शारीरिक, मानसिक आदि विलक्षणताओं और विभिन्नताओं का आधार कर्म नहीं, आनुवंशिकता है, या परिवेश (वातावरण = Invironment) है। जीन ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के संवाहक होते हैं। कतिपय मनोवैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि प्राणियों की शारीरिक-मानसिक विलक्षणताओं तथा वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण मौलिक प्रेरणाएँ (Primary Motives) हैं। किसी में कोई मुख्य प्रेरणा होती है, किसी में कोई दूसरी होती है। इसलिए 'जीन्स' आनुवंशिकता, परिवेश अथवा मौलिक प्रेरणाओं को ही प्राणियों में पाई जाने वाली शारीरिक, मानसिक विलक्षणताओं तथा विभिन्नताओं का कारण मानना चाहिए, कर्म को नहीं।

इसका निराकरण करते हुए जैन-कर्मविज्ञानविदों ने कहा कि केवल इन्हें कारण मान लेने से पूर्णतया मनःसमाधान नहीं हो पाता। अन्ततोगत्वा यही प्रश्न उठता है कि अमुक-अमुक व्यक्तियों को ऐसी ही मौलिक प्रेरणा, आनुवंशिकता या जीवों की क्षमता में न्यूनाधिकता क्यों प्राप्त हुई ? तथा एक ही वंश-परम्परा में एक साथ होने वाले या एक ही माता के उदर से होने वाले बालकों की प्रकृति, रुचि, योग्यता और बौद्धिक क्षमता में अन्तर पाया जाता है; इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि बहुधा संतति की योग्यता माता-पिता से अलग प्रकार की होती है। जो बलिष्ठता और वीरता महाराणा प्रताप में थी, वह उनके पूर्वजों या माता-पिता में नहीं थी। जो प्रखर बुद्धि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर में थी, वह उनके पिता में नहीं थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के मुख्य कारण न तो उनके माता-पिता थे और न गुरु ही। ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं कि माता-पिता शिक्षित और संस्कारी थे, जबकि उनका पुत्र निरक्षर महाशय रहा। अतः इन सब विभिन्नताओं, विलक्षणताओं या विशेषताओं का कारण कथंचित् आनुवंशिकता, पारिवेशिकता या संयोग को मानने पर भी अन्ततोगत्वा ऐसी सुयोग-प्राप्ति का मूल कारण जन्म-जन्मान्तर संचित पूर्वकृत कर्म ही सिद्ध होता है।

कर्मविज्ञान जन्मान्तर अर्जित विलक्षणताओं की व्याख्या करता है

प्राणियों की पूर्वोक्त विभिन्नताओं, मानसिक-बौद्धिक विलक्षणताओं तथा वैयक्तिक विशेषताओं एवं किसी-किसी मनुष्य में अभूतपूर्व क्षमताओं का मूल कारण पूर्वकृत कर्म क्यों है ? इसे प्रमाणित करने के लिए विभिन्न ऐतिहासिक, पौराणिक एवं आधुनिक उदाहरण दिये गए हैं। मानवेतर प्राणियों तथा वनस्पतियों में भी विलक्षणताओं के मूल कारण कर्म को सिद्ध करने के लिए भी कतिपय उदाहरण दिये गए हैं।

फिर जीन्स, आनुवंशिकता, पारिवेशिकता, ग्रन्थियों का स्राव आदि अथवा मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र या जैवविज्ञान केवल इस जन्मगत और वह भी सिर्फ मानवों की विलक्षणताओं और विशेषताओं की व्याख्या करते हैं, जबकि कर्मविज्ञान जन्म-जन्मान्तर में अर्जित तथा इस जन्म में भी पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों के आधार पर मानवों तथा मानवेतर प्राणियों में पाई जाने वाली विलक्षणताओं, विभिन्नताओं आदि की व्याख्या करता है। इन सब युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि संसारी जीवों की आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर से कर्म का अस्तित्व सिद्ध है।

चार्वाक आदि नास्तिकों द्वारा कर्म के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न

दूसरी ओर इसका प्रतिवाद करते हुए चार्वाक तथा कुछ वर्तमान युग के नास्तिकों ने कर्म के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। उनका कहना है–"घट, पट आदि के समान कर्म नाम का कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। भूत, प्रेत आदि से आविष्ट व्यक्ति को जिस प्रकार उसकी चेष्टाओं पर से जान लिया जाता है कि यह भूतादि-ग्रस्त है, या यक्षाविष्ट है, उस प्रकार कर्मग्रस्त व्यक्ति की कोई ऐसी विलक्षण चेष्टा प्रतीत नहीं होती कि यह व्यक्ति कर्मग्रस्त है। इसलिए हमारा मानना है कि तन, मन, वाणी, इन्द्रिय आदि की सभी क्रियाएँ सहजरूप से होती रहती हैं। जब शरीर का अन्त हो जाता है, तब ये क्रियाएँ भी

स्वतः बंद हो जाती है; फिर देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, खाना-पीना, सोचना आदि क्रियाओं की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। यहीं उस व्यक्ति का खेल खत्म हो जाता है, इसके पश्चात् न कहीं से आना है, न कहीं जाना है। अतः इन सब क्रियाकलापों में कर्म नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।[1]

कर्म का कार्यकलाप प्रत्यक्ष होने से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है

इसके उत्तर में भगवान महावीर ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा कर्म का अस्तित्व सिद्ध करके बताया है। उन्होंने कहा–आत्मादि अमूर्त पदार्थ तथा कर्मपुद्गल चतुःस्पर्शी होने से परोक्षज्ञानियों द्वारा इन्द्रियग्राह्य या धर्मचक्षुओं द्वारा ग्राह्य नहीं होते। किन्तु वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों को अतीन्द्रिय ज्ञानी होने से दोनों ही प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अतः जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो, वह संसार में सबको ही प्रत्यक्ष हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। जगत् में सिंह, व्याघ्र आदि अनेक वस्तुएँ सभी मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं होते, फिर भी यह कोई नहीं कहता कि जगत् में सिंह आदि प्राणी नहीं हैं। इसी प्रकार से कर्म का अस्तित्व उसके चतुःस्पर्शी होने पर भी सर्वज्ञों को उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष है, जबकि अल्पज्ञों को नहीं होता। जैसे अल्पज्ञों (छद्मस्थों) को बिजली प्रत्यक्ष नहीं होती, फिर भी उसके द्वारा होने वाले या चलने वाले पंखा, कूलर, हीटर, टी. वी., वीडिओ आदि बिजली के कार्य प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इससे बिजली के अस्तित्व को मानना ही पड़ता है, उसी प्रकार कर्म चाहे छद्मस्थों को प्रत्यक्ष न हो, किन्तु उसके कार्यकलाप सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, दीनता-हीनता-तेजस्विता, दीर्घायुष्कता-अल्पायुष्कता, मन्दबुद्धि- तीव्रबुद्धि आदि कार्य प्रत्यक्षवत् दिखाई देता है, इसलिए कर्म के परिणामस्वरूप होने वाले कार्यों को देखकर उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए।[2]

अनुमान आदि विविध प्रमाणों से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध

इस सन्दर्भ में युक्ति, सूक्ति और महान् पुरुषों की अनुभूति आदि माध्यमों से तथा प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से यहाँ कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

इसके अतिरिक्त आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ, गति, इन्द्रिय, कायादि पूर्वोक्त चौदह प्रकार की मार्गणाओं द्वारा होने वाली जीवों की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ, चौरासी लाख जीव योनि के अनन्त प्राणियों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता का मूल आधार तथा मानव जाति के पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि जीवन-क्षेत्रों में पाई जाने वाली नाना विभिन्नताएँ तथा और भी संसारी जीवों की चित्रविचित्र भिन्नताएँ कर्मकृत हैं, कर्मोपाधिक हैं। इस पर से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।[3]

अन्य दर्शनों और धर्मों ने भी कर्म का अस्तित्व माना है

जैनदर्शन के अतिरिक्त बौद्धदर्शन, मीमांसादर्शन, वेदान्तदर्शन, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग आदि दर्शनों ने तथा भगवद्गीता एवं उपनिषदों ने कर्म का अस्तित्व एक या दूसरे प्रकार से माना है, जिसका उनके ग्रन्थों के प्रमाण सहित उल्लेख 'कर्मविज्ञान' ने किया है।

इसके प्रतिवाद के रूप में कतिपय नास्तिक मतवादी कहते हैं–घट, पट आदि की तरह आत्मा किसी भी प्रकार से विभिन्न कर्मों से संश्लिष्ट होता हुआ या विभिन्न कर्मबन्ध करता हुआ अथवा कर्मों का क्षय करता हुआ प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता, तब हम कैसे मान लें कि आत्मा विभिन्न कर्मों को करती है तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुःख आदि प्राप्त करती है? एवं कर्मों से आंशिक या पूर्णतः मुक्त होती है? हम आत्मा ही नहीं मानते, तब कर्म के अस्तित्व को मानने का प्रश्न ही नहीं है।

---

१. देखें–कर्मविज्ञान, भाग १ में पृष्ठ १५८ पर
२. देखें–कर्मविज्ञान, भाग १ में पृष्ठ १५९ पर
३. (क) कम्मुणा उवाही जायइ।
   (ख) देखें–कर्मविज्ञान, भाग १, पृ. ११६-१३३

कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया

इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन आदि जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, उन्होंने कर्म को आत्मा (जीव) के द्वारा कृत माना है। आत्मा को ही कर्मों का कर्ता, फलभोक्ता, क्षयकर्ता एवं विचित्रताओं व विलक्षणताओं का मूल कारण माना गया है। कर्मों का निरोध एवं क्षय करने का पुरुषार्थ भी आत्मा ही करती है। अतः कर्म का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने से पूर्व आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करना अनिवार्य समझकर कर्मविज्ञान ने उनचालीस विभिन्न आगमों, शास्त्रों, प्रमाणों, युक्तियों और तर्कों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा आदि आस्तिक दर्शनों द्वारा आत्मा के अस्तित्व को एक या दूसरे प्रकार से सिद्ध किया है। सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा को पंचभूतात्मक, अचेतन, चतुर्धातुकात्मक, भौतिक, तज्जीव-तच्छरीरात्मक जड़ तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण से भिन्न स्वतंत्र चेतन तत्त्व माना है। इसलिए आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्ध होने के साथ ही आत्मा और कर्म का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है

कतिपय धर्म-सम्प्रदाय (इस्लाम, ईसाई आदि) आत्मा को मानते हुए भी उसका पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म नहीं मानते। चार्वाक तो आत्मा को ही नहीं मानता, वह तो उसी जन्म में पंचभूतों से उत्पन्न चैतन्य शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट होना मानता है। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त धर्म-सम्प्रदायों तथा चार्वाक आदि नास्तिक मतों का निराकरण कर्मविज्ञान ने प्रतिपादित किया है कि आत्मा (जीव) सचेतन होते हुए अचेतन (पौद्गलिक) कर्मों के साथ उसकी यात्रा प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त है, किन्तु व्यक्तिगतरूप से अनादि-सान्त भी है, जैसे प्रति समय कर्म बँधते हैं, वैसे कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम भी संवर और निर्जरा के कारण से होता रहता है। आत्मा (जीव) के साथ कर्मों के संलग्न (संयोग) के कारण है, वह विभिन्न गतियों और योनियों में तब तक परिभ्रमण करता रहता है, जब तक सर्वकर्मों से या चार घातिकर्मों से वह मुक्त नहीं हो जाता। इस दृष्टि से जीव का आयुष्यकर्म के कारण एक जन्म के शरीर का अन्त होकर दूसरे जन्म में जाना पुनर्जन्म है और दूसरे लोक में जाकर स्व-कर्मानुरूप नया शरीर धारण करना पूर्वजन्म है। कर्मविज्ञान ने कर्ममुक्त आत्मा को इस परिणामिनित्यत्व के कारण उसका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म विभिन्न युक्तियों, सर्वज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा आगम प्रमाण से एवं वर्तमान युग में परामनोवैज्ञानिकों एवं जैववैज्ञानिकों के द्वारा इस्लाम, ईसाई, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के बालक-बालिकाओं तथा विभिन्न युवा और प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन में हुए जातिस्मरण (पूर्वजन्म की स्मृति) ज्ञान से प्रामाणिक जाँच-पड़ताल करके प्रत्यक्ष सिद्ध करके बतलाया है। अतः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की विभिन्न सच्ची घटनाएँ तथा पूर्वजन्म के मानवों द्वारा प्रेतयोनि (व्यन्तरादि देवयोनि) में जन्म लेकर सम्बन्धित मानवों को अपना अस्तित्व सिद्ध करने हेतु विभिन्न प्रकार से त्रास देने या सहानुभूतिपूर्वक सहयोग देने की विभिन्न सच्ची और प्रामाणिक घटनाएँ आत्मा के तथा आत्मा (जीव) के परिणामिनित्यत्व के तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के साथ-साथ कर्म के अस्तित्व को कर्मविज्ञान ने सिद्ध कर दिखाया है।

निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा में अशुद्धि कब से, क्यों और कब तक ?

जैनदर्शन निश्चयदृष्टि से संसारी आत्मा और सिद्ध-परमात्मा में कोई अन्तर नहीं मानता, इस अपेक्षा से पुनः यही प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक आत्मा (जीव) शुद्ध है, तो यह अशुद्धि कब से और किस कारण से प्रविष्ट हुई ? कब तक रहेगी ?

इसका समाधान कर्मविज्ञान ने इस प्रकार किया है कि निश्चयदृष्टि से तो प्रत्येक आत्मा अपने आप में सिद्ध-परमात्मा के समान शुद्ध है, परन्तु कर्मों का आवरण आ जाने के कारण संसारगत आत्माएँ अशुद्ध हैं, कर्मों का आवरण जैसे-जैसे हटता जाता है, वैसे-वैसे वह आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती जाती है। भगवान महावीर ने भी कहा कि "सिद्ध-परमात्मा और संसारी आत्मा में जो पृथक्ता (विभक्ति) है, वह कर्म के कारण है।" कर्म के कारण ही यह सब (नानाविशेषणयुक्त) उपाधि है, यानी ये पूर्वोक्त विभिन्नताएँ कर्मोपाधिक हैं और संसारी जीवों की आत्मा पर आया हुआ यह कर्मावरण ऐसा नहीं है, जो दूर न हो

सके, वह कैसे दूर हो सकता है, कैसे बँधता है, कैसे कर्मों से छुटकारा पाता है, 'कर्मविज्ञान' इन्हीं तथ्यों को विशद और विस्तृत रूप से बताता है।

संसारी आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है या आदि ?

निष्कर्ष यह है कि बद्ध आत्मा (संसारी जीव) और मुक्त आत्मा (सिद्ध जीव) के बीच कर्म का एक सूत्र है, जो मुक्त आत्मा तक पहुँचने तक में संसारी (बद्ध) आत्मा को अनेक उपाधियों से युक्त बना देता है। बद्ध आत्मा कर्म से मुक्त है, मुक्त आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

संसारी आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि है, किन्तु एक विशेष कर्म की अपेक्षा से सादि है। दूसरी दृष्टि से देखें तो आत्मा अनादि है तो कर्म भी अनादि है। यानी संसार अनादि है तो कर्म भी अथवा जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। जीव और कर्म के अनादि सम्बन्ध के विषय में कर्मविज्ञान का समाधान है कि जैसे मुर्गी और अण्डे, बीज और वृक्ष में कौन पहले, कौन पीछे ? इसे कोई कह नहीं सकता, इसी प्रकार कर्म और जीव (आत्मा) की परम्परा अनादि है; स्वतः सिद्ध है।

विशुद्ध आत्मा के कर्म क्यों लगे ? : युक्तिपूर्वक समाधान

विशुद्ध आत्मा के कर्म क्यों लग गए? कर्मविज्ञान ने इसका समाधान दिया है कि 'कारण के बिना कार्य नहीं होता' इस न्याय से राग-द्वेषादि कारण से ही आत्मा (जीव) के कर्म लगे हैं और इसीलिए उन बद्ध कर्मों से मुक्त होने का उपाय कर्मविज्ञान में बताया गया है। कर्मविज्ञान का कहना है कि जीव और कर्म के सम्बन्ध परम्परा से अनादि होने से उसका अन्त हो नहीं सकता, इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए कर्मों से मुक्त होने के संवर-निर्जरामूलक विविध उपाय हैं, जिन्हें क्रमशः आगे बताये गए हैं। निष्कर्ष यह है कि संसारी जीव प्रवाहरूप से जीव और कर्म के इस अनादि सम्बन्ध को भी संवर और निर्जरा के विविध उपायों से पुरुषार्थ करके तोड़ सकता है और एक दिन सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन सकता है।

ईश्वरकर्तृत्व की कल्पना निराधार तथा अयुक्तिक

परन्तु ईश्वरकर्तृत्ववादी जीव और कर्म के अनादि सम्बन्ध को, संसार के अनादि होने को तथा संसारी जीव के कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर निरंजन-निराकार परमात्मा बनने की युक्ति से सहमत नहीं है, कर्मविज्ञान ने विविध युक्तियों, प्रमाणों और सर्वज्ञों की अनुभूतियों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि निरंजन, निराकार मुक्त परमात्मा को जड़-चेतनमयी सृष्टि की रचना करने, संसारी जीवों को कर्मों से मुक्त तथा कथंचित् मुक्त करने हेतु पुनः संसार में आने, राग-द्वेषमय जगत्-कर्तृत्व के प्रपंच में पड़ने और स्वभावतः अनादि संसार की आदि मानकर उसकी रचना करने की कल्पना निराधार तथा युक्ति प्रमाणरहित है।

कर्म का अस्तित्व : कब से और कब तक ?

जिस प्रकार स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का सम्बन्ध अनादि मानने पर भी मनुष्य के प्रयत्न-विशेष द्वारा इन्हें पृथक्-पृथक् किया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि होते हुए भी दोनों को महाव्रत, समिति-गुप्ति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्राराधना, बाह्याभ्यन्तर तप आदि से पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त, भव्य जीवों की अपेक्षा से प्रवाहतः अनादि-सान्त और एक भव्य साधक के विशेष कर्म की अपेक्षा से सादि-सान्त है; यह भी कर्मविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि प्रवाहरूप से अनन्त जीवों की अपेक्षा से संसार अनादि-अनन्त है, किन्तु एक व्यक्ति की अपेक्षा से जन्म-मरण-कर्म आदि का अन्त होने से वह अनादि-सान्त भी है। जब तक कर्म है, तब तक संसार है; जब कर्म का सर्वथा अभाव हो जायेगा, तब संसार का अन्त होकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष हो जायेगा।

कर्म के प्रति अनास्थायुक्त बने रहने से महाहानि और अव्यवस्था

कतिपय आस्थाविहीन व्यक्ति कर्म का फल तत्काल न मिलने से अथवा पापकर्म या अशुभ कर्म करने वाले का बाह्यरूप से सुखी और पुण्य कर्म या संवर-निर्जरारूप धर्म करने वाले को दुःखी देखकर कर्म के

अस्तित्व के विषय में शंका और अनास्था प्रगट करते हैं, इसका निराकरण करने के साथ ही कर्मविज्ञान ने बताया है कि कर्म के अस्तित्व के प्रति अनास्था और शंका प्रगट करने से कितनी हानि, कितनी अराजकता, आपाधापी और अव्यवस्था संसार में छा जायेगी? तथा कर्मों से मुक्त होने के लिए तप, संयम, धर्माचरण आदि में पुरुषार्थ की व्यर्थता भी हो जायेगी। साथ ही यह भी बताया है किसी संयमी या धर्मात्मा पर दुःख और पापात्मा या असंयमी पर वर्तमान में सुख वर्तमान के आचरण के कारण नहीं, किन्तु इस जन्म में या पूर्वजन्म में पूर्वबद्ध शुभ या अशुभ कर्मों के कारण है। साथ ही कर्मविज्ञान ने कर्म के अस्तित्व के साथ ही आस्तिकता के भगवदुक्त मुख्य चार अंगों को अपनाने आवश्यक बताए हैं-(१) आत्मा की परिणामी नित्यता-शाश्वतता, (२) कर्मसंयुक्त आत्मा के पुनर्जन्म और पूर्वजन्म (स्वर्ग-नरकादि लोक) के प्रति श्रद्धा, (३) शुभाशुभ कर्म का फल शुभाशुभ मिलने (कर्मवाद) के प्रति आस्था, (४) सक्रिया और दुष्क्रिया के फल (क्रियावाद) के प्रति आस्था।

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

कर्मों से मुक्तात्मा को कर्मवाद को मानना अनिवार्य रहा

द्वितीय खण्ड में कर्मवाद का प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक एवं अध्यात्म मनीषियों और मुमुक्षुओं की दृष्टि से व्यवस्थित पर्यालोचन किया गया है। भारतवर्ष में जितने भी तीर्थंकर, अवतार, सर्वज्ञ, केवलज्ञानी, ऋषि, मुनि, श्रमण-श्रमणी, साधु-संन्यासी, महामनीषी अथवा धर्मधुरन्धर, श्रमणोपासक अथवा गृहस्थ-साधक हुए हैं, उन सबने अपने-अपने ढंग से अध्यात्म-साधना करते समय आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर से बद्ध कर्मों को आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ किया है। उन अध्यात्म-शक्तियों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप अथवा ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग की; तप, त्याग और संयम की; व्रतों और महाव्रतों की आराधना-साधना करते समय भी कर्मबन्ध करने वाली इहलौकिक-पारलौकिक फलाकांक्षा, प्रशंसा, प्रसिद्धि, कीर्ति, आसक्ति, राग-द्वेष-मोह, हिंसादि अशुद्ध साधना, मिथ्यादृष्टि आदि दूषित बातों को नहीं अपनाने का ध्यान रखा। आत्म-गुणों के विघातक चार घातिकर्मों को क्षय करके ही वे स्वयं वीतराग, सर्वज्ञ एवं जीवन्मुक्त परमात्मा बने। साथ ही संसार के भव्य जीवों को भी कर्मों से मुक्त होने का अनुभवज्ञानरूप प्रसाद वितरित किया।

उन्होंने अपने पर आये हुए भयंकर कष्टों, उपसर्गों, विघ्नों और दुःखों के निवारण के लिए न तो किसी अन्य शक्ति, देवी-देव या भगवान अथवा परमात्मा से सहायता की व संकट से उबारने की प्रार्थना या याचना की और न ही आये हुए कष्टों और दुःखों के लिए देव, गुरु, धर्म अथवा विभिन्न निमित्तों को कोसा। उन्होंने अपने उपादान को ही टटोला कि मेरी ही आत्मा ने पूर्वजन्म या इस जन्म में कोई अशुभ कर्म किया है, उसी का यह फल है। इसे समभावपूर्वक भोग लेने से इन कर्मों से छुटकारा होगा। कर्म मैंने स्वयं बाँधे हैं, इसलिए इन्हें मैं स्वयं ही क्षय कर सकूँगा।

कर्म को आत्मा से पृथक् करने के लिए सभी मुक्तिकामी आत्माओं ने स्वयं पराक्रम किया

ऐसे दृढ़ निश्चय के साथ उन्होंने कर्मों को आत्मा से अलग करने के लिए कमर कस ली, जैसा कि उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि आगमों में उनके लिए कहा गया-"परीषह-रिपुओं का दमन करने वाले, मोह को प्रकम्पित करने वाले जितेन्द्रिय महर्षि सर्वदुःखरूप कर्मों को क्षीण करने के लिए स्वयं पराक्रम करते हैं तथा वे षट्कायरक्षक परिनिर्वृत (शान्त मनस्वी) संयम और तप से पूर्व कर्मों का क्षय करके सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) के मार्ग को क्रमशः प्राप्त हुए।" यही कारण है कि श्रमण भगवान महावीर ने अपनी शुद्ध आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों से जूझने के लिए इन्द्र आदि किसी की सहायता लिये बिना कटिबद्ध हो गए। उन्होंने अपने जीवन द्वारा सिद्ध करके बता दिया स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा ही व्यक्ति कर्मों से युक्त और कर्ममुक्त परमात्मा बन सकता है।

भगवान महावीर आदि ने मोक्ष-पुरुषार्थ को प्रधानता दी

भारतीय संस्कृति के पुरस्कर्ताओं द्वारा मान्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में से भगवान महावीर ने तथा अनेकानेक श्रमण-श्रमणियों को सर्वकर्ममुक्त परमात्मा बनने के लिए मोक्ष-पुरुषार्थ को प्रधानता दी। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप सद्धर्म को उक्त मोक्ष-पुरुषार्थ का मार्ग बताया। अर्थ और काम-पुरुषार्थ को कर्मक्षय का कारण बनाकर शुद्ध धर्म-पुरुषार्थ के नियंत्रण में रहने पर कदाचित् पुण्य, कदाचित् यतना रखने पर शुभ योग-संवर हो सकता है।

कर्मवादियों के दो दल : द्वितीय दल ने सर्वकर्ममुक्त होने की प्रक्रिया अपनाई

साथ ही यह भी बताया गया है उस युग में कर्मवादियों के दो दल थे—एक प्रवर्तक-धर्मवादी और दूसरा निवर्तक-धर्मवादी। प्रवर्तक-धर्मवादी स्थूल क्रियाकाण्डों पर जोर देते थे और उससे संवर-निर्जरा न होने से केवल स्वर्ग तक प्राप्त हो सकता था, मोक्ष नहीं। जबकि निवर्तक-धर्मवादी मोक्ष-पुरुषार्थ पर जोर देते थे, जिसे वे शुद्ध धर्म के पालन तथा संवर-निर्जरा द्वारा अर्जित कर लेते थे। भविष्य में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते थे। निवर्तक-धर्मवादी मनीषियों ने कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा के कारणों पर गहन चिन्तन किया और कर्म-तत्त्व से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया। कर्मसिद्धान्त-विशेषज्ञों ने कर्मशास्त्र-विषयक कई ग्रन्थ भी लिखे। यह वर्ग मोक्ष-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने से पूर्व कर्म से सम्बन्धित सभी प्रश्नों को गहराई से सोचने-समझने और समझाने लगा।

एक प्रश्न अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाया जाता है कि मोक्ष-पुरुषार्थ प्रवृत्तिरूप होने से उससे कर्मों से मुक्ति कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मोक्ष-पुरुषार्थ प्रवृत्तिरूप है, किन्तु वह प्रवृत्ति यौगिक नहीं, आत्मस्वरूप में परिणतिरूप है। साथ ही वहाँ कषाय आदि से निवृत्तिरूप संवर तथा स्वभाव-रमणरूप चारित्र भी है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में साम्परायिक क्रिया न होकर, ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जो कषाय या राग-द्वेषादि से रहित होती है; फिर भी ऐर्यापथिकी क्रिया शुभास्रवकारक होते हुए भी उसमें स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता, सिर्फ प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है, वह भी नाममात्र का होता है। प्रथम समय में आस्रव, द्वितीय समय में बन्ध होकर वह कर्म झड़ जाता है। इसलिए वहाँ भी अयोग-अवस्था होते ही मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है। अतः चाहे उच्च साधक हो या गृहस्थ साधक अपनी-अपनी धर्म-मर्यादा में रहते हुए मोक्ष को लक्ष्य में रखकर धर्म-पुरुषार्थ के नियंत्रण में किया गया अर्थ-काम-पुरुषार्थ अनुचित नहीं माना गया है। यतनापूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति करने से वह पापकर्मबन्धक नहीं होती। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम आदि की आराधना लोकोत्तर-साधना केवल कर्मक्षय की दृष्टि से की जाती है, तो वहाँ वह साधना या प्रवृत्ति संवर-निर्जरारूप या अबन्धक होती है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहारचारित्र तथा संयम बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि असंयम से निवृत्ति और भाव-संयम में प्रवृत्ति कर्मबन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय का शुभास्रव के निरोध का कारण हो सकता है। इस सम्बन्ध में भी कर्मविज्ञान ने सरस, सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है।

कर्मवाद का आविर्भाव : एक अनुचिन्तन

जैन-कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव कब से हुआ? तो उन्होंने प्रागैतिहासिककालीन आदि-तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के जीवन पर आद्योपान्त दृष्टिपात करके भोगभूमिका की समाप्ति तथा कर्मभूमिका के प्रारम्भ में यौगलिक जनता को असि-मसि-कृषि आदि प्रतीकों के माध्यम से तीन वर्गों में विभक्त करके विविध कार्य (कर्म) सौंपे तथा इन कर्मों को धर्म-मर्यादा में करते हुए कर्म का निरोध करने के साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने के लिए सम्यग्दृष्टिपूर्वक शुद्ध धर्म का प्रशिक्षण एवं उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि आत्मा के साथ कर्म प्रतिक्षण बँधता है, वैसे ही धर्म-पुरुषार्थ से छूट भी सकता है।

इस दृष्टि से यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि भगवान ऋषभदेव से कर्मवाद का व्यवस्थित रूप से आविर्भाव हुआ और भगवान ऋषभदेव ने आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का निरोध और क्षय करने हेतु

स्वयं आगारधर्म से अनगारधर्म अंगीकार किया। आम जनता को भी अपने जीवन द्वारा इन दोनों धर्मों का उपदेश दिया। दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही था–सर्वकर्मों से मुक्ति पाना। इसलिए कर्मवाद के प्रथम उपदेशक, आविष्कारक एवं प्रेरक भगवान ऋषभदेव कहे जा सकते हैं। जैन-परम्परा के कर्मवाद का प्रभाव वैदिक-परम्परा पर भी पड़ा। उन्होंने अदृष्ट के रूप में 'कर्म' की तथा 'देव' के रूप में 'अपूर्व' की कल्पना की, तथा सृष्टि के अनादि होने की मान्यता को भी स्वीकार किया।

कर्मवाद का आविर्भाव और तिरोभाव

उसके पश्चात् इस अवसर्पिणीकाल में कालक्रम से हुए चौबीस तीर्थंकरों ने अपने-अपने युग में कर्मसिद्धान्त का युक्ति, सूक्ति और अनुभूति के आधार पर प्रचार-प्रसार किया। एक तीर्थंकर के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर के होने में सैकड़ों, हजारों और कभी-कभी तो लाखों वर्षों का अन्तराल हो जाता है। इतने लम्बे व्यवधान में जनता की तत्त्वज्ञान की स्मृति, धारणा और परम्परा को धूमिल कर देता है, इस कारण बीच-बीच में कर्मवाद का तिरोभाव भी हुआ। भगवान अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवनकाल में घटित उदाहरण देकर कर्मविज्ञान ने सिद्ध किया है कि आविर्भाव-तिरोभाव के बावजूद भी कर्मसिद्धान्त का आम जनता पर गहरा और सीधा प्रभाव पड़ता रहा। भगवान महावीर ने वैदिक-परम्परा के उद्भट विद्वान् ग्यारह विप्रों को भी उनकी कर्मवाद से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान करके उन्हें अपने धर्मसंघ में शिष्यों सहित दीक्षित किया और ग्यारह ही विद्वानों को गणधर पद से विभूषित किया।

भगवान महावीर को कर्मसिद्धान्त को अपने जीवन के अनुभवों से जोर-शोर से प्रचारित और प्रसारित करने का सहज अवसर प्राप्त होने में तीन बड़े-बड़े बाधक कारण थे–(१) वैदिक-परम्परा की ईश्वर-सम्बन्धी भ्रान्त मान्यता, (२) बौद्धधर्म के एकान्त क्षणिकवाद की युक्ति-विरुद्ध मान्यता, और (३) वेदान्त द्वारा जगत् के जड़-चेतन सभी पदार्थों एकमात्र ब्रह्म (आत्मा) के अन्तर्गत स्वीकार। कर्मविज्ञान ने युक्ति-प्रमाणपूर्वक इन तीनों भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण किया है।

कर्मवाद के समुत्थान की ऐतिहासिक समीक्षा

कर्मविज्ञान के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि कर्मवाद का समुत्थान कबसे और किनके द्वारा हुआ तो जैन-कर्मविज्ञान विशारदों ने एकमत से यह निर्धारित किया कि वर्तमान में जितना भी तत्त्वज्ञान है तथा जो भी आगम या द्वादश अंगशास्त्र हैं, वे सभी भगवान महावीर के उपदेश की सम्पत्ति हैं। इसलिए कर्मवाद के आद्य समुत्थान का श्रेय भगवान महावीर को है और इसे ही निःशंकरूप से समुत्थानकाल समझना चाहिए। वर्तमान में कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में जो भी व्याख्याएँ, टीकाएँ या निर्युक्ति, भाष्य आदि हैं, उन सभी का और दूसरे शब्दों में कहें तो कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का मूल स्रोत 'कर्मप्रवादपूर्व' नामक महाशास्त्र है।

वैदिक आदि परम्पराओं में कर्मवाद का व्यापक विकास नहीं

वैदिक-परम्पराओं में भी कर्मवाद का विकास हुआ है, परन्तु देववाद, यज्ञवाद एवं पुरोहितवाद के प्राबल्य से कर्मवाद का युक्ति-तर्क संगत स्पष्ट एवं व्यवस्थित विश्लेषण इस परम्परा में नहीं हुआ, किन्तु जैन-कर्मविज्ञान-तत्त्वज्ञों ने कर्मतत्त्व के प्रत्येक पहलू पर सांगोपांग चिन्तन, मनन एवं विश्लेषण किया है। साथ ही कर्मवाद के सम्बन्ध में लोकमानस में उठती हुई शंकाओं का एवं युग-समस्याओं का बहुत ही सुन्दर ढंग से युक्तियुक्त समाधान किया है। सांख्य और योगदर्शन ने तथा बौद्धदर्शन ने कर्मवाद पर अपने-अपने ढंग से चिन्तन अवश्य किया है, परन्तु इन तीनों ने प्रायः ध्यान एवं तत्त्व-चिन्तन पर ही अधिक जोर दिया है। जैन-कर्मतत्त्व-मर्मज्ञों ने कर्मवाद की व्यापकता और बारीकी पर सर्वाधिक ध्यान दिया, फलतः कर्मवाद के सम्बन्ध में अनेकों ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें इसकी पूर्वापर शृंखलाबद्ध, क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित एवं व्यापक रूप से जीवन के सभी क्षेत्रों का स्पर्श करती हुई व्याख्या है।

कर्मवाद का उत्तरोत्तर विकास क्रमशः तीन महायुगों में

कर्मवाद का यह उत्तरोत्तर विकास क्रमशः तीन महायुगों में हुआ है–(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र, एवं (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र। सर्वप्रथम पूर्वात्मक रूप में (कर्मप्रवादपूर्व तथा

अग्रायणीय पूर्वशास्त्र आदि में) कर्मशास्त्र संकलित हुआ। तत्पश्चात् पूर्वों से उद्धृत करके आकर कर्मशास्त्रों की रचना हुई। श्वेताम्बर-परम्परा में कर्मप्रकृति (कम्मपयडी), शतक, पंचसंग्रह और सप्ततिका; ये चार महाग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं; जबकि दिगम्बर-परम्परा में महाकर्मप्रकृति-प्राभृत और कषाय-प्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वों से उद्धृत माने जाते हैं। इसके पश्चात् प्राकरणिक कर्मशास्त्रों की रचना हुई। श्वेताम्बर आचार्यों ने प्राचीन छह कर्मग्रन्थों की तथा आचार्य देवेन्द्र सूरि ने इन्हीं का अनुसरण करके प्रत्येक विषय को संक्षिप्त तथा कतिपय नये विषयों का समावेश करते हुए छह नये कर्मग्रन्थों की रचना की। उधर दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों ने पूर्वोद्धृत महाकर्म-प्राभृत के छह खण्डों (षट्खण्डागम) पर अतिविस्तृत धवला टीका की तथा कषाय-प्राभृत पर पन्द्रह अर्थाधिकारों में जयधवला की रचना की। इसके अतिरिक्त इस समग्र कर्म-साहित्य पर दोनों परम्पराओं में इन सभी कर्मशास्त्रों पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, बंगला आदि भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है तथा इस प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में कर्मविज्ञान का उपर्युक्त भाषाओं में मनोविज्ञान, योगदर्शन, समाजशास्त्र, शिक्षाविज्ञान, जीवविज्ञान, भौतिकविज्ञान एवं शरीरविज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन, अध्ययन-मनन, परिशीलन एवं साहित्य-सृजन हो रहा है। इस प्रकार कर्मविषयक साहित्य का सृजन उत्तरोत्तर कर्मवाद के समुत्थान से लेकर विकास के सोपानों पर चढ़ता रहा है।

शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र की अपेक्षा कर्मशास्त्र की विशेषता

शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र शरीर और मन की परिधि में ही विचार करते हैं, जबकि कर्मशास्त्र सबके पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व, योग्यता और क्षमता के कारण की अलग-अलग और शरीर तथा मन से सम्बद्ध बातों का सर्वांगीण विश्लेषण करता है। अर्थात् कर्मशास्त्र प्रत्येक घटना, व्यक्ति, आचरण, व्यवहार या समस्या के मूल कारण की मीमांसा करता है। कर्मशास्त्र आत्मा के हिताहित आदि प्रत्येक सम्बन्धित विषय में विचार-चिन्तन प्रस्तुत करता है। इसलिए वह अध्यात्मशास्त्र से भिन्न नहीं है। कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र के उद्देश्य की ही पूर्ति करता है। चिकित्सक, ज्योतिषी, भूतवादी, डॉक्टर आदि किसी रोग के बहिरंग कारणों को बताकर बाह्य इलाज करते हैं, जबकि कर्मशास्त्र रोग के आन्तरिक कारण तथा उसके निवारण का स्पष्ट निर्देश करता है।

कर्म का विराट् स्वरूप

विभिन्न वर्गों की दृष्टि में कर्म

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न वर्ग के लोगों में, भिन्न-भिन्न व्यवहारों में तथा समाज के विभिन्न घटकों में 'कर्म' शब्द का प्रयोग पृथक्-पृथक् अर्थों में होता है। आम जनता तो सभी काम-धंधों को, व्यवसायों को, आजीविका-सम्बन्धी कार्यों को तथा शारीरिक, वाचिक और मानसिक सभी क्रियाओं या प्रवृत्तियों को 'कर्म' कहती है। वैयाकरणों (शब्दशास्त्रियों) ने कर्ता के लिये अभीष्टतम कारक को, वेदवादरत लोगों ने विविध यज्ञादि अनुष्ठानों को, स्मार्त विद्वानों ने चार वर्ण और चार आश्रमों के लिए विहित कर्त्तव्यों को, नैयायिक-वैशेषिकों ने आत्मा के संयोग और प्रयत्न द्वारा हाथ आदि से होने वाली क्रिया को, बौद्धदार्शनिकों ने चेतना द्वारा मन-वचन-काय से होने वाली क्रिया को, भगवद्गीता ने फलाकांक्षा और आसक्ति से रहित होकर समर्पणभाव से किये गए योगयुक्त कर्म को 'कर्म' माना है।

जैन-कर्मविज्ञान की दृष्टि में कर्म का स्वरूप

जैन-कर्मविज्ञान ने जीव के द्वारा होने वाली स्वाभाविक (ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्वरूप) क्रियाओं या श्वास आदि अकृतक क्रियाओं को कर्म नहीं माना है, किन्तु जीव (आत्मा) के द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि से प्रेरित होकर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय (राग-द्वेष-मोहादि) एवं योग आदि हेतुओं (कारणों) से, मन-वचन-काया से जो किया जाता है, उसे 'कर्म' कहा है। इस लक्षण के अनुसार 'कर्म' के अन्तर्गत कर्मबन्ध के हेतु तथा तदनुरूप द्रव्यात्मक-भावात्मक, परिस्पन्दनरूप-परिणमनरूप, क्रियारूप या पर्यायरूप सभी कार्य पूर्वोक्त कारणों से जीव द्वारा किये जाएँ तो वे 'कर्म' ही हैं। इस दृष्टि से उक्त कारणपूर्वक

स्पन्दनक्रियाजन्य संस्कार भी 'कर्म' शब्द में समाविष्ट हैं। कर्मवर्गणा के (कार्माण) पुद्गलों का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन होता रहता है।

कर्म के दो रूप : द्रव्यकर्म और भावकर्म

जैन-कर्मविज्ञान ने स्व-सिद्धान्तमान्य कर्म के द्रव्यात्मक और भावात्मक दोनों रूप माने हैं। चूँकि कर्म का निर्माण जड़ और चेतन, दोनों के सम्मिश्रण से होता है। द्रव्यकर्म में कर्मवर्गणा के जड़-पुद्गलों की मुख्यता और आत्मिक तत्त्व की गौणता होती है, जबकि भावकर्म में आत्मिक तत्त्व की मुख्यता और पौद्गलिक तत्त्व की गौणता होती है। द्रव्यकर्म-भावकर्म दोनों में आत्मा और पुद्गल की प्रधानता-अप्रधानता होते हुए भी दोनों में एक-दूसरे का सद्भाव-असद्भाव नहीं होता। आशय यह है कि भावकर्म आत्मा का वैभाविक परिणाम है, इस कारण उसका उपादानरूप कर्ता जीव ही है और द्रव्यकर्म कार्मण जाति के पुद्गलों का विकार है, उसका कर्ता भी निमित्तरूप से जीव ही है। इन दोनों की मिलकर कर्मबंध संज्ञा होती है। सांसारिक जीव अनादिकालीन कर्ममलों से युक्त होने से रागादि कषायवश अपने मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों या क्रियाओं से कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं को आकर्षित कर लेता है, फिर वे आत्म-प्रदेशों के साथ श्लिष्ट-बद्ध हो जाते हैं। अतः प्रवृत्ति और कर्म में परस्पर कार्यकारणभाव को लक्ष्य में रखकर कार्मण-पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म और तज्जनित राग-द्वेषादि परिणामों से हुई प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है। इस दृष्टि से जीव की प्रवृत्ति या क्रिया भावकर्म है, उसका फल है–द्रव्यकर्म। किन्तु दूसरी दृष्टि से देखें तो द्रव्यकर्म और भावकर्म में निमित्त-नैमित्तिकरूप द्विमुखी कार्यकारणभाव-सम्बन्ध है। अर्थात् भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। ये दोनों ही कर्म साथ-साथ आत्मा से सम्बद्ध और बद्ध होते हैं। आत्मा में रागादि भाव (भावकर्मोत्पादक कर्म) मन्द या तीव्र होंगे, तो द्रव्यकर्म भी आत्मा के साथ उतने ही मंदरूप में या तीव्ररूप में बँधेंगे।

अन्य दर्शनों ने भी प्रकारान्तर से द्रव्य-भावकर्म माने हैं

कर्मविज्ञान ने यह भी बताया है कि अन्य दर्शनों ने भी द्रव्य-भावकर्म को विभिन्न नामों से स्वीकार किया है। जैसे–वेदान्तदर्शन ने आवरण और विक्षेप के रूप में, न्यायदर्शन ने धर्माधर्म संस्कार के रूप में, वैशेषिकदर्शन ने 'अदृष्ट' नाम से, योगदर्शन में अविद्यादि पंचक्लेश और वासना, आशय को द्रव्यकर्म के रूप में माना है। मीमांसादर्शन विहित काम्य कर्मों को द्रव्यकर्म और अपूर्व को भावकर्म माना है। सांख्य और गीता अहंकारयुक्त कर्म भाव-द्रव्यकर्म मानते हैं। बौद्धदर्शन राग-द्वेष-मोह को भावकर्म और कर्म से उत्पन्न वासना व अविज्ञप्ति को द्रव्यकर्म मानता है।

सृष्टिकर्तृत्ववादियों द्वारा कर्मवाद पर तीन बड़े आक्षेप और उनका परिहार

सृष्टिकर्तृत्ववादियों द्वारा कर्मवाद पर तीन बड़े आक्षेप किये गए हैं–(१) विविध रंगी जड़-चेतनमयी सृष्टि का मकान आदि के निर्माता की तरह कोई न कोई निर्माता होना चाहिए। (२) प्राणियों को अपने बुरे कर्मों का फल भुगवाने में कारण ईश्वर ही है, कर्म नहीं। (३) कर्मवादियों की मान्यता की तरह ईश्वर अनेक नहीं, एक ही होना चाहिए, जो सर्वशक्तिमान, समर्थ, नित्य, सर्वाधिपति एवं स्वतंत्र हो। नाना ईश्वर होने से जगत् की व्यवस्था बिगड़ जायेगी। कर्मविज्ञान ने इन तीनों आक्षेपों का सयुक्तिक परिहार किया है।

कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधी औपनिषदकों द्वारा छह वादों की कल्पना

इसके पश्चात् कर्मवाद के अस्तित्व को चुनौती देने वाले श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त निम्नोक्त छह वादों का उल्लेख किया है, जिनका उल्लेख उपनिषद्कालीन ऋषियों ने इस विश्ववैचित्र्य का क्या कारण है? हम सब कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? अपने सुख-दुःख में हम सब किसके अधीन होकर प्रवृत्त होते हैं? हम सब किसके बल पर जीवित हैं? इन जिज्ञासाओं से प्रेरित होकर किया था। वे छह वाद ये हैं–"काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि पंचभूत, और पुरुष। फिर उन्होंने स्वयं शंका प्रकट की है–ये जगत् के कारण

(योनि = उत्पत्ति के मूल) है; यह चिन्तनीय है। इन सबका संयोग भी कारण नहीं है तथा सुख-दुःख का हेतु होने से आत्मा भी जगत् को उत्पन्न करने में असमर्थ है।" इससे स्पष्ट है कि उक्त कारणों विश्ववैचित्र्य के सम्बन्ध में नाना वादों की कल्पना करके रह गये, किन्तु किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सके।

विश्ववैचित्र्य की व्याख्या के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने सापेक्ष रूप से पाँच वादों को कारण माना

जैन-कर्मवैज्ञानिकों के समक्ष जब यह प्रश्न आया, तब उन्होंने विश्ववैचित्र्य की व्याख्या कर्मवाद के आधार पर की, साथ ही उन्होंने प्रत्येक कार्य में निम्नोक्त पाँच कारणों पर विचार करना अनिवार्य बताया– (१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) कर्म, और (५) पुरुषार्थ। जैन-कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने प्रत्येक प्रवृत्ति, कार्य या घटना में इन पाँच कारणों को मुख्यता-गौणता के आधार पर माना। किन्तु जहाँ इन वादों के पुरस्कर्त्ताओं ने अपने-अपने वादों को ही एकान्तरूप से माना, वहाँ उसको मिथ्या तथा अयुक्तिक कहा। यदृच्छावाद अकारणवाद है, इसे पाँच कारणों में नहीं माना गया।

कर्मवाद की जड़ों को काटने वाले कतिपय वाद

यदृच्छावाद के अतिरिक्त भी कुछ वाद उस युग में प्रचलित थे, जो कर्मवाद के अस्तित्व का विरोध करने तथा उसकी जड़ काटने वाले थे, उनका भी कर्मविज्ञानविदों ने निराकरण किया है। वे वाद इस प्रकार हैं–(१) भूतवाद (पंचभूतात्मकवाद), (२) भूतचतुष्टयवाद, (३) डार्विन का विकासवाद, (४) तज्जीव-तच्छरीरवाद, (५) पुरुषवाद (जगत् के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में निमित्तकारण), (६) ब्रह्मवाद (जगत् के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों का उपादानकारण), (७) ईश्वरकर्तृत्ववाद, (८) अक्रियावाद, (९) अज्ञानवाद, (१०) अनिश्चयवाद या संशयवाद, (११) प्रच्छन्न नियतिवाद, (१२) एकान्त विनयवाद, (१३) एकान्त क्रियावाद, (१४) एकान्त ज्ञानवाद (एकमात्र तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानने वाला वाद), (१५) प्रकृतिवाद (सांख्यदर्शनमान्य प्रकृति को ही बन्धन कर्त्री-हर्त्री, सुख-दुःखदात्री मानने वाला वाद), (१६) अव्याकृतवाद (बौद्ध मान्य)।

पाँच कारणों की समीक्षा

कर्मविज्ञान ने पूर्वोक्त पाँच कारण वादों की समीक्षा करके इन सबको परस्पर निरपेक्ष होने पर असत्य माना है तथा संसार का प्रत्येक कार्य इन पाँच कारणों के मेल एवं परस्पर सापेक्ष से होता है, यह कतिपय उदाहरणों से सिद्ध करके बताया है तथा अन्त में निष्कर्ष के रूप में कर्म और पुरुषार्थ इन दोनों को पुरुषार्थ के ही रूप बताए हैं–वर्तमान में किया जाने वाला उद्यम पुरुषार्थ है तथा भूतकाल में किया जाने वाला पूर्वकृत पुरुषार्थ कर्म है। पूर्वोक्त तीन कारण जड़ से सम्बद्ध हैं, जबकि ये दो अन्तिम कारण चेतन से सम्बद्ध हैं। इसलिए पुरुषार्थवाद को ही कर्मक्षय में मुख्य कारण मानकर संवर, निर्जरा एवं मोक्ष की ओर गति-प्रगति करने की प्रेरणा कर्मविज्ञान देता है; क्योंकि चेतना का स्व-पुरुषार्थ ही पाँचों कारणों में उत्तरदायी है।

जैन-कर्मविज्ञान ने द्रव्यकर्म को पुद्गलरूप तो सिद्ध किया ही है। चूँकि जीव के द्वारा वे कषायादिवश आकृष्ट किये जाते हैं, इसलिए उन्हें औपचारिक रूप से कर्म कहा गया है। सांसारिक जीव जो कुछ भी क्रिया या प्रवृत्ति करता है, उसकी प्रतिक्रिया भी पुनः-पुनः इसलिए होती है कि आत्मा में रागादि के संस्कार एकदम निर्मूल नहीं होते। अतः वह प्रतिक्रिया एक संस्कार छोड़ जाती है, वह संस्कार ही कर्म का कारण बनता है। उस संस्कार को भी जैन-दार्शनिकों ने ही नहीं, अन्य आस्तिक दर्शनों ने भी एक या दूसरे नाम से संस्काररूप कर्म माना है। जब प्राणी जागरूक और अप्रमत्त रहकर त्रिविधयोग से कोई प्रवृत्ति या क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया यानी बार-बार आवृत्ति होती है, उसी को संस्काररूप कर्म कहा जाता है। वस्तुतः प्रमाद ही संस्काररूप कर्म (आस्रव) का कारण है। चेतन की प्रमादवश कर्मप्रवृत्ति से कार्मणशरीर पर संस्कार अंकित होते रहते हैं, वे ही कालान्तर में पुनः जाग्रत होते हैं। उन जाग्रत हुए संस्कारों से प्रेरित होकर जीव पुनः कर्मों में प्रवृत्त होता है। जिससे पुनः कार्मणशरीर पर संस्कार अंकित होते हैं। इस प्रकार संस्कारों का यह चक्र चलता है। संस्कार, धारणा, वृत्ति, आदत एवं स्मृति आदि समानार्थक हैं। अतः द्रव्यकर्म केवल संस्काररूप ही नहीं, पुद्गलरूप भी है, क्योंकि जीव के रागादि परिणामों का निमित्त पाकर

कर्मवर्गणा के पुद्गलों का कर्मरूप में स्वतः परिणमन हो जाता है। तात्त्विक दृष्टि से जीव न तो कर्म में कोई गुण उत्पन्न करता है और न ही कर्म जीव में कोई गुण उत्पन्न करता है। किन्तु दोनों का एक-दूसरे के निमित्त से विशिष्ट परिणमन हुआ करता है। इस दृष्टि से कर्म पुद्गलरूप भी है और संस्काररूप भी।

कर्मविज्ञान के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि कर्म और जीव (आत्मा) इन दोनों में बलवान् कौन है? इसका समाधान दिया गया कि कभी कर्म बलवान् हो जाता है, कभी आत्मा। छह द्रव्यों में से जीव और (कर्म) पुद्गल ये दो ही द्रव्य परस्पर श्लिष्ट-बद्ध होते हैं। इनमें जो प्रबल होता है, वह दूसरे को अपने स्वभाव से विकृत करके, दबाकर या परतंत्र बनाकर एक-दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों द्रव्यों में ज्ञानवान् तो जीव ही है। किन्तु जीव जब अपने स्वभाव को भूलकर परभाव या विभाव में रमण करने लगता है, परभाव या स्वभाव को ही स्वभाव समझकर उसमें ही त्रियोग से प्रवृत्त होने लगता है, तब परद्रव्य (कर्मपुद्गल) उस पर हावी हो जाते हैं, परतंत्र बना लेते हैं; विकृत कर देते हैं और तब कर्म का स्वरूप होता है—"जो जीव को परतंत्र बना लेता है, वह कर्म है।" विभिन्न कर्म जीव को कैसे-कैसे परतंत्र बनाते हैं? इसका कर्मविज्ञान में विस्तार से वर्णन किया है। वैसे आत्मा का स्वभाव विकास करना है, जबकि कर्म का स्वभाव है—उस विकास में अवरोध उत्पन्न करना। परन्तु आत्मा की शक्ति कर्मपुद्गल से प्रबलतर है। यदि वह जाग्रत होकर अपने अनन्त चतुष्टयरूप मूल स्वभाव को जान ले, प्रबलरूप से जाग्रत हो जाए, दृढ़-संकल्पपूर्वक प्रतिज्ञाबद्ध हो जाए कि मुझे हर्गिज यह कार्य नहीं करना है, तो कर्म या संस्कार कितने ही प्रबल हों, एक झटके में वह उन्हें तोड़ सकता है। इसलिए स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं। जीव राग-द्वेष-कषाययुक्त परिणामों से जब प्रवृत्ति करता है, तब कर्म बन्धन में डालकर परतंत्र बना देते हैं। फिर उसको परिणाम भोगना ही पड़ता है। बद्ध होने से पहले तक जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। बाद में वह कर्म-परतंत्र हो जाता है। अतः अज्ञानतावश अधिकांश प्राणी कर्म-परतंत्र हो जाते हैं। इसी अपेक्षा से कर्म का स्वरूप परतंत्रीकारक मान लिया गया।

महाशक्तिशाली : कर्म या आत्मा ?

सांसारिक जीव का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसके पीछे कर्म न लगा हुआ हो। जीव का ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शक्ति, आरोग्य, यश-अपयश, अंगोपांग, मान-सम्मान आदि सभी कर्म की शक्ति के नीचे दबे हुए हैं। संसार की कोई भी गति, योनि, जाति, क्षेत्र, परिस्थिति, वातावरण, कक्षा, श्रेणी, वर्ग, भूमिका आदि ऐसी नहीं बची है, जहाँ कर्म का सार्वभौम राज्य न हो। कर्म ऐसा शक्तिशाली विधाता या यमराज है, जो प्रत्येक प्राणी के पीछे, यहाँ तक महान् शक्तिशाली व्यक्तियों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, साधु-साध्वियों, श्रमणोपासकों, राजाओं, सम्राटों, धनकुबेरों आदि के पीछे मुक्ति न होने तक जन्म-जन्मान्तर में लगा रहता है। कर्मों की गति सर्वत्र अबाध है। कहीं भी छिपकर बैठ जाने पर भी कर्म के फल से छुटकारा नहीं मिलता। कर्मविज्ञान ने कतिपय जैन एवं वैदिक-परम्परा के घटित उदाहरण देकर इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि कर्म महाशक्तिरूप है। इसके आगे त्रिलोक-वन्द्य विश्वपूज्य तीर्थंकरों की भी नहीं चलती; सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या है?

आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है : कैसे और कब ?

साथ ही कर्मविज्ञान ने यह भी निरूपण किया है कि निश्चयदृष्टि से तो आत्मा की शक्ति कर्म की शक्ति से अधिक है। कर्मचक्र की अनवरत गति से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसकी गति पर ब्रेक नहीं लग सकता, बँधे हुए कर्मों को तप, त्याग, चारित्र, व्रत-प्रत्याख्यान आदि के द्वारा या उदय में आने पर समभाव से भोगकर नष्ट नहीं किया जा सकता। आत्मा कर्मचक्र से तभी तक ग्रस्त रहती है, जब तक वह राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि कषायों के आवेग के कारण कर्मबन्धनों से बद्ध होती रहती है। व्यक्ति चाहे तो इन विकारों से आत्मा को बचाकर बन्धनमुक्त बन सकता है। यदि कर्म-शक्ति पर आत्म-शक्ति विजयी न हो तो तप-संयम की साधनाएँ निरर्थक हो जायेंगी। अनन्त-अनन्त तीर्थंकरों, वीतरागपथानुगामी असंख्य साधु-साध्वियों की आत्मा ने नये आते हुए कर्मों का निरोध (संवर) और पूर्वकृत कर्मों का क्षय (निर्जरा) करके तथा एक दिन सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय करके कर्म-शक्ति पर विजय प्राप्त की है।

निष्कर्ष यही है कि यद्यपि कर्म महाशक्तिरूप है, किन्तु जब आत्मा को अपनी अनन्त शक्तियों का भान हो जाता है और वह भेदविज्ञान का महान् अस्त्र हाथ में उठाकर तप-संयम में प्रबल पुरुषार्थ करता है, तो कर्म की उस प्रचण्ड शक्ति को परास्त कर सकता है।

कर्म को अदृष्ट होने से क्यों माना जाए ?

कर्म के अस्तित्व के विषय में विस्तृत रूप से निरूपण करने के बावजूद भी कुछ दार्शनिक या भौतिकवादी तथा प्रत्यक्षवादी चार्वाक आदि कर्म का और कर्म के फल को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होने से नहीं मानते, जबकि वे ही अमुक शब्द या मंत्र आदि अदृश्य होने पर भी उसके कार्य या प्रभाव को जानकर उसे तो प्रत्यक्षवत् मान लेते हैं। भगवान महावीर स्वामी के भावी गणधर अग्निभूति ने यही शंका उठाई थी कि कर्म अदृष्ट है, उस अदृष्टफल वाले कर्म को क्यों माना जाए? बिजली अदृश्य (चक्षु-अगोचर) है, किन्तु उसके कार्य (पंखा, हीटर, कूलर, लाइट आदि) को सभी प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं, इसलिए उनके मूल कारणरूप बिजली के प्रत्यक्ष न होते हुए भी वे मानते हैं। इसी प्रकार कर्म और कर्मबन्ध के अदृश्य होते हुए भी कर्मों के प्रत्यक्ष दृश्यमान-सुखी-दुःखी, मन्दबुद्धि-प्रखरबुद्धि, रोगी-निरोगी आदि शुभाशुभ फलरूप परिणामों को देखते हुए चर्मचक्षुओं से अदृश्य होते हुए भी कर्म और कर्मबन्ध को माने बिना कोई चारा नहीं है।

कर्म मूर्त्त है, अमूर्त आत्मगुणरूप नहीं

इतना होने पर कतिपय दार्शनिकों ने फिर शंका प्रस्तुत की-सुख-दुःख आदि अमूर्त्त हैं, वे कर्म के कार्य हैं, कर्म उनका कारण है, इस दृष्टि से कर्म को भी अमूर्त्त मानना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। जैनदर्शन 'कर्म' को मूर्त मानता है, क्योंकि उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होने से वह पौद्गलिक है, रूपी है। अमूर्त में ये वर्णादि चारों गुण नहीं होते। मूर्त्त मूर्त्त ही रहता है, वह कदापि अमूर्त्त नहीं होता, तथैव अमूर्त भी कदापि मूर्त्त नहीं हो सकता। यद्यपि कर्म मूर्त्त होते हुए भी चतुःस्पर्शी पुद्गल होने से सूक्ष्म है, वह सम्मान्य व्यक्ति के चर्मनेत्रों से अदृश्य होता है। अनुकूल आहारादि के कारण सुखादि की तथा शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखादि की अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति अमूर्त में नहीं होती, मूर्त्त में ही वैसी अनुभूति चेतन के साथ सम्बद्ध होने से होती है। परिणाम की भिन्नता से भी आत्मा को अमूर्त और कर्म को मूर्त्त माना जाता है। कर्म के मूर्त्त कार्यों को देखकर भी उसका मूर्त्तत्व सिद्ध होता है। आप्तवचन (आगमप्रयाण) से भी कर्म का मूर्त्तरूप सिद्ध होता है। कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध होने से आत्मा भी औपचारिक रूप से व्यवहारदृष्टया कथंचित् मूर्त्त माना जाता है और बद्ध कर्मों के फलस्वरूप नाना गतियों में परिभ्रमण करता है, सुख-दुःखादिरूप फल का वेदन करता है। परन्तु अमूर्त्त आत्मा कभी मूर्त्त कर्मरूप नहीं हो जाता और न ही मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा के रूप में परिणत होता है। दोनों स्वतंत्र हैं, एक-दूसरे को प्रभावित जरूर करते हैं और विमुक्त भी हो जाते हैं। यही कर्मविज्ञान का स्पष्ट प्ररूपण है।

कर्म का प्रक्रियात्मक रूप

कर्म का अस्तित्व और मूर्त्तत्व जान लेने पर भी जब तक कर्म का सर्वांगीण प्रक्रियात्मक रूप नहीं जाना जाता, तब तक प्राचीन कर्मों का क्षय करने तथा नवीन कर्मों को रोकने का तथा समभाव में स्थित रहने का उपक्रम नहीं हो सकता। अतः कर्म की सर्वांगीण प्रक्रिया और कार्य-प्रणाली को जान लेना अत्यावश्यक है। अखण्ड, अमूर्त्त आकाश के साथ घट-पट आदि मूर्त्त पदार्थों के संयोग की तरह अमूर्त आत्मा के साथ भी मूर्त्त कर्मपुद्गलों का संयोग हो जाता है। यद्यपि आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का तादात्म्य-सम्बन्ध तो कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के उपादान, गुण और स्वभाव में अन्तर है। आत्मा के चार उपादान हैं-ज्ञान, दर्शन (आत्मिक), सुख और शक्ति। ये आत्मा के मौलिक गुण हैं। चेतना उसका स्वभाव है। जबकि कर्म पौद्गलिक पदार्थ होने से वर्णादि चार उसके उपादान हैं, पूरण-गलन-सड़न उसके गुण हैं। अचेतन उसका स्वभाव है। दोनों एक-दूसरे के सहायक हो सकते हैं। निश्चयदृष्टि से आत्मा अमूर्त्त व चेतनामय है, परन्तु वर्तमान में संसारी आत्माएँ अमूर्त्तत्व प्रगट करने का लक्ष्य होते हुए भी व्यवहार में कथंचित् मूर्त्त है। इसलिए दोनों का संयोग-सम्बन्ध होने से मात्र संयोग-सम्बन्धकृत परिवर्तन हो

सकता है। दोनों का उपादान अपना-अपना होते हुए भी निमित्त बदल सकता है। निमित्त की सीमा में दोनों एक-दूसरे से उपकृत एवं प्रभावित होते हैं।

आत्मा के साथ कर्मबन्ध की प्रक्रिया को जानना आवश्यक

आत्मा के साथ कर्मबन्ध की एक प्रक्रिया यह है–मिथ्यात्वादि पाँच आस्रव भावकर्म के स्रोत हैं। इनसे तीव्र-मन्द-मध्यम रूप से सम्बन्ध होने पर वे संवादी द्रव्यकर्मों को खींच लेते हैं। द्रव्यकर्म कार्मणशरीररूप होता है। इसे ही दूसरी तरह से समझें–सर्वप्रथम जीव में कषायात्मक या राग-द्वेषात्मक भाव आए कि भावकर्म से यह प्रभावित होता है। भावकर्म से फिर संवादी द्रव्यकर्म प्रभावित होते हैं। दोनों आत्मा को प्रभावित करते हैं। दोनों कर्मों की रासायनिक प्रक्रिया का सम्बन्ध हो जाने पर आत्मा और कर्म का बन्धयुक्त सम्बन्ध हो जाता है। भगवतीसूत्र में विशिष्ट कर्म की प्रक्रिया का अंकन संक्षेप में इस प्रकार है–जीव से कर्मशरीर, उससे स्थूलशरीर, फिर स्थूलशरीर से क्रियात्मक (वीर्य) शक्ति, उससे योगत्रय, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म (बन्ध) यह कर्म का प्रक्रियात्मक रूप है।

इसी से गर्भित एक प्रक्रिया और है–आकाशमण्डल में भाषावर्गणा के पुद्गल व्याप्त हैं, वैसे ही कर्मवर्गणा के परमाणु भी ठसाठस भरे हुए हैं। जीव के मन में जब भी राग-द्वेष-कषायात्मक भाव आता है कि तुरन्त भावकर्म निर्मित हो जाता है, फिर वहीं बैठे-बैठे ही समीपवर्ती कर्मप्रायोग्य पुद्गल-परमाणुओं को प्रभावित और आकर्षित कर लेता है। फिर वे कर्म-परमाणु जीव को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लेते हैं–यानी बंधनबद्ध कर लेते हैं।

कर्म-परमाणुओं की चतुष्प्रकारी स्वतःसंचालित प्रक्रिया

कर्मबन्ध के बाद की भी कर्म-परमाणुओं की स्वतःसंचालित क्रिया-प्रक्रिया यह है कि जो कर्म-परमाणु जीव के साथ आकर्षित होकर बँध जाते हैं, फिर उनकी प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार भागों में विभाजन = वर्गीकरण की व्यवस्था स्वतः हो जाती है। जैसे–भोजन का कौर पेट में डालने के बाद पचाने वाला रस चबाने से मिला, पाचन हुआ, पाचन क्रिया और रसायन क्रिया के बाद शरीर के सभी अंगों में फैलकर वह यथायोग्य मात्रा में पहुँचता है, इसी प्रकार कर्मबन्ध के बाद कर्म-परमाणुओं की उपर्युक्त चतुष्प्रकारी स्वतःसंचालित प्रक्रिया होती है।

शरीर में जैसे इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार (हृदय) अपने-अपने दायित्व-कर्मों (क्रियाओं) को स्वतः करते रहते हैं। श्वास की क्रिया स्वतः चलती रहती है। इसी प्रकार कर्मों की उपर्युक्त प्रक्रिया स्वतःसंचालित होती है।

कर्म और नोकर्म के लक्षण, कार्य में अन्तर

कई कर्म-तत्त्व से अनभिज्ञ लोग जिस प्रकार कर्म को बन्धनकारक, आत्म-गुणघातक, आत्म-शक्ति-प्रतिबन्धक एवं आवरणक समझते हैं, उसी प्रकार भ्रान्तिवश शरीर और शरीर से सम्बद्ध (नोकर्मरूप) सजीव-निर्जीव (पर) पदार्थों को भी बन्धनकारक आदि समझते हैं, परन्तु कर्म और नोकर्म में लक्षण और कार्य की दृष्टि से बहुत अन्तर है। गोम्मटसार में उक्त २३ प्रकार की पुद्गल (परमाणु) वर्गणा को 'धवला' में दो प्रकार में वर्गीकृत किया गया है–कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणा। कार्मणवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तेजसवर्गणा, ये चार कर्मवर्गणाएँ हैं, शेष १९ वर्गणाएँ नोकर्मवर्गणाएँ हैं। संक्षेप में पाँच प्रकार के शरीरों में से कार्मणशरीर कर्मरूप और शेष चार प्रकार के शरीर नोकर्मरूप हैं। इसका कारण यह है कि समस्त शरीरों की उत्पत्ति के मूल कारणभूत शरीर को कर्म और शेष शरीर कर्म तो नहीं हैं, किन्तु कर्म में सहायक होने से नोकर्म कहलाते हैं। अर्थात् कर्म के फल-प्रदान में या कर्म के उदय में सहायक तत्त्व हैं, इसलिए नोकर्म कहलाते हैं। नोकर्म को स्पष्ट रूप से बताते हुए कर्मविज्ञान ने कहा–शरीर और शरीर से सम्बद्ध माता-पिता, परिवार, पत्नी, पुत्र, भाई, मित्र आदि सजीव तथा धन, मकान, जमीन, जायदाद आदि निर्जीव नोकर्म हैं। इनके भी दो प्रकार हैं–बद्ध नोकर्म और अबद्ध नोकर्म। जहाँ शरीर (चतुष्टय) है, वहाँ आत्मा है। ये दोनों परस्पर बद्ध हैं। इन्द्रियाँ, मन, वाणी आदि भी शरीर के ही अन्तर्गत हैं। ये सब बद्ध

नोकर्म है तथा जो शरीर की तरह हर समय, हर क्षेत्र में साथ नहीं रहते, धन, मकान, परिवार आदि अबद्ध नोकर्म हैं। कर्म जिस प्रकार आत्मा को बन्धन में बाँधता है, वैसे दोनों प्रकार के नोकर्मों में आत्मा को बाँधने, बाधित करने, आत्म-गुणों या आत्म-शक्तियों का घात करने की शक्ति नहीं है। मतलब, ये नोकर्मद्वय अपने आप में बन्धनकारक नहीं हैं, इनके निमित्त से जिस प्राणी के मन में राग-द्वेष या कषाय होता है, तब कर्मबन्ध होता है, अगर इनके निमित्त से रागादि नहीं होते तो ये बन्धनकारक नहीं होते। स्थूल-सूक्ष्म जितने भी पंचभौतिक पदार्थ हैं, वे सब इसी स्थूलशरीर में गर्भित व सम्बद्ध होने से नोकर्म ही हैं। प्रज्ञापनासूत्र वृत्ति में नोकर्म को कर्मों के उदय और क्षयोपशम में सहायक सामग्रीरूप कारण बताया गया है। ऐसी नोकर्मरूप बाह्य सामग्री विविध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से ५ प्रकार की है। इसी प्रकार भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितियाँ आदि सब क्षेत्रीय नोकर्म हैं। कर्म का कार्य रागादि भावों के कारण जीव को बन्धन में डालना है, कालान्तर में उदय में आकर सुख-दुःख का वेदन कराता है, किन्तु बाह्य सामग्रीरूप नोकर्म की ऐसी स्थिति नहीं है। अतः कर्म और नोकर्म के लक्षण और कार्य में मौलिक अन्तर है।

कर्मविज्ञान ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव और स्थूलशरीर तथा शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं को विविध उदाहरण देकर नोकर्म का स्वरूप समझाया है। कर्मफल प्रदान करने में तथा कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम में नोकर्म (सामग्रीरूप) सहायक बन सकता है। वह स्वयं जीव को कर्मबद्ध नहीं करता, न ही उदय में आकर फल भुगवाता है, किन्तु सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म के उदय में आने पर नोकर्म रोगादि की उत्पत्ति, अहितकर भोजन, अरुचि, आलस्य, समभाव का अनभ्यास इत्यादि रूप में सहायता कर देता है। इतना ही नोकर्म का कार्य है।

कर्म के साथ विकर्म और अकर्म को पहचानना आवश्यक

कर्मविज्ञान द्वारा कर्म के विविध स्वरूप के रूपों का इतना निरूपण कर देने के बाद भी कर्मों की भीड़ में साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् भी कर्म और अकर्म को पहचानने में गलती कर बैठते हैं। कई दफा कर्म बाहर से अशुभ, अनिष्ट-सा लगता है, किन्तु भावना शुभ या शुद्ध होने पर भी स्थूलदृष्टि से देखने वाले अकर्म को कर्म समझ बैठते हैं। इसी प्रकार बाहर से निश्चेष्ट, अकर्मण्य एवं निष्क्रिय हो जाने को ही अकर्म मान लेते हैं। इस प्रकार की भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए कर्म और अकर्म की, तथैव कर्म (शुभ कर्म) और विकर्म (दुष्कर्म) की भी वास्तविक पहचान होना जरूरी है। जैन-कर्मविज्ञान ने तो इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला ही है, वैदिकधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता, बौद्धदर्शन ने भी इन तीनों का सुन्दर विश्लेषण किया है। जब तक शरीर है, तब तक शरीरधारी को मन, वचन या काया से कोई न कोई कर्म = क्रिया या प्रवृत्ति करनी ही पड़ती है। यदि सभी क्रियाएँ कर्म कहलाने लगें, तब तो कोई भी मनुष्य तो क्या, तीर्थंकर, वीतराग, केवलज्ञानी या अप्रमत्त निर्ग्रन्थ भी कर्म-परम्परा से मुक्त नहीं हो सकते, न ही कर्मबन्ध से बच सकते हैं, फिर तो कर्मरहित अवस्था एकमात्र सिद्ध-परमात्मा की माननी पड़ेगी। जैन-कर्मविज्ञानविदों ने कहा—यद्यपि क्रियाओं से कर्म आते हैं, परन्तु वे सभी बन्धनकारक नहीं होते। जैनागमों में २५ क्रियाएँ बताई गई हैं। उनमें से कायिकी आदि २४ क्रियाएँ साम्परायिक हैं, यानी वे कषाय या राग-द्वेषादि से युक्त होती हैं, इसलिए कर्मबन्धकारक हैं और पच्चीसवीं ऐर्यापथिकी है जो विवेकयुक्त = यत्नाचार-परायण, अप्रमत्त संयमी या वीतरागी की गमनागमनादि या आहार-विहारादि चर्यारूप होती है। साथ ही वह क्रिया कषाय एवं रागादि आसक्ति से रहित होने से कर्मबन्धकारिणी नहीं होती। बन्धक और अबन्धक कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है, अपितु कर्ता के परिणाम, मनोभाव या विवेक-अविवेक आदि हैं। यदि कर्ता के परिणाम रागादियुक्त नहीं हैं, शारीरिक क्रियाएँ भी संयमी जीवन-यात्रार्थ अनिवार्य रूप से, मद, विषयासक्ति, असावधानी, विकथा, अयत्ना व निन्दादि प्रमाद से रहित होकर की जाती हैं अथवा शारीरिक क्रियाओं से अतिरिक्त निरपेक्षभाव से स्व-पर-कल्याणार्थ प्रवृत्तियाँ की जाती हैं या कर्मक्षयार्थ सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना, अप्रमत्तभाव से की जाती है, तो उससे होने वाले कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धनकारक नहीं होते। अतएव ऐसे कर्मों को अकर्म समझना चाहिए। भगवान महावीर ने प्रमाद को कर्म कहा है, अप्रमाद को अकर्म। तीर्थंकरों तथा वीतराग पुरुषों द्वारा होने वाली संघ-स्थापन आदि सभी लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ अकर्म की कोटि में आती हैं। परन्तु कई दफा अकर्म (अबन्धक

कर्म) समझी जाने वाली क्रियाएँ भी उसके साथ राग-द्वेष-कषायादि दूषण हों तो कर्म की कोटि में आ जाती हैं साधनात्मक क्रियाएँ पूर्वोक्त दूषणों से युक्त हों तो अकर्म के बदले कर्मरूप बन जाती हैं। कई दफा कर्त्ता के परिणाम अशुभ होने से संवर और निर्जरा वाले स्थान में आस्रव और बंध तथा शुद्ध परिणाम हों तो आस्रव और बन्ध होने वाले स्थान में संवर और निर्जरा भी हो जाती है। इसी प्रकार कर्मविज्ञान ने विविध युक्तियों-प्रमाणों के आधार पर यह भी बताया है कि कर्म का अर्थ केवल सक्रियता या प्रवृत्ति नहीं, तथैव अकर्म का अर्थ केवल निष्क्रियता या निवृत्ति नहीं है। अतः समस्त कर्म को कर्म (बन्धकारक) मानना न्यायसंगत नहीं, अयुक्तिक भी है। जो कर्म रागादि से प्रेरित होकर किया जाए, वह साम्परायिक क्रियाजनित कर्म है, इसके सिवाय जो कर्म रागादिरहित होकर मात्र कर्तव्यरूप से किया जाए, वह ऐर्यापथिक क्रियाजनित शुद्ध कर्म = अबन्धक कर्म = अकर्म है।

विकर्म और कर्म में अन्तर : दोनों से बचकर अकर्म करने की प्रेरणा

जिस प्रकार कर्म से ही 'अकर्म' प्रादुर्भूत या निर्मित होता है, उसी प्रकार 'विकर्म' भी कर्म में से प्रादुर्भूत या निर्मित होता है। कर्म के ही ये दो विभाग हैं, एक शुभ और दूसरा अशुभ। शुभ योगत्रय के साथ कषाय हों तो शुभास्रव = पुण्यरूप शुभ बन्ध = कर्म कहलाता है तथा अशुभ योगत्रय के साथ कषाय हों तो अशुभास्रव = पापरूप अशुभ बन्ध = विकर्म कहलाता है। ये दोनों ही कर्म साम्परायिक क्रियाजनित होने से कर्मबन्धकारक होते हुए भी तीव्र कषाय-मन्द कषाय, अयत्ना-यत्ना, ज्ञात-अज्ञात, अशुभ भाव-शुभ भाव, अशुभ राग-शुभ राग तथा प्रमाद की तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से अशुभ बन्ध-शुभ बन्ध घातक होते हैं। अतः पहला कर्म 'विकर्म' और दूसरा कर्म 'कर्म' कहलाता है। दान, शील, तप, भाव, परोपकार, व्रत, नियम, पालन आदि की यतनापूर्वक की जाने वाली जो छह क्रियाएँ शुभ आस्रव तथा शुभ बन्ध की कारण हैं, वे 'कर्म' हैं तथा इसके विपरीत जो क्रियाएँ अयत्नापूर्वक प्रबल कषायाविष्ट होकर की जाती हैं, वे अशुभ बन्ध की कारण होने से उन्हें 'विकर्म' कहा जाता है। इन्हीं दोनों में से आचारांगसूत्र में मूलकर्म को 'विकर्म' में और अग्रकर्म (शुभ कर्म) को 'कर्म' में गिनाकर दोनों से बचकर 'अकर्म' करने की प्रेरणा दी गई।

शुभ, अशुभ और शुद्ध कर्म : एक अनुचिन्तन

इससे आगे के निबन्ध में कर्मविज्ञान ने समझाने का प्रयत्न किया है कि कर्मजल से परिपूर्ण इस संसाररूपी महासमुद्र में 'अकुशल', 'अर्धकुशल' और 'कुशल' इन तीन प्रकार के नाविकों के समान तीन प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं, जो अकुशल प्रमादी नाविक होता है, उसकी नौका जैसे सछिद्र होकर समुद्र-जल में डूब जाती है, तथैव अकुशल व्यक्ति द्वारा संसार महासमुद्र में पापकर्मों का ज्वार आते ही आस्रव-निरोधरूप संवर न कर पाने के कारण उसकी जीवन-नैया पापकर्म से परिपूर्ण होकर डूब जाती है। दूसरे अर्धकुशल नाविकों की तरह होते हैं, उनकी जीवन-नैया सछिद्र होते हुए भी बीच-बीच में व्रत, तप, संयम, नियम आदि पुण्यों से वे अपनी डूबती-उतराती जीवन-नैया की मरम्मत करते रहते हैं, आस्रव छिद्र बंद करते रहते हैं। तीसरे साधक अतिकुशल नाविक के समान कष्टों, विपत्तियों, परीषहों, उपसर्गों तथा कषायों के प्रसंग पर समभावरूपी चप्पू से अपनी जीवन-नैया को खेते हुए प्रशान्त कर्मजल में संवर-निर्जरा के जलमार्ग से आगे से आगे बढ़ते जाते हैं और संसार-समुद्र को पार करके सर्वकर्मजल से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। इन्हीं त्रिविध नाविकों के अनुरूप संसारी जीवों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में हम क्रमशः अशुभ, शुभ और शुद्ध कर्म; दूसरे शब्दों में-पाप, पुण्य और धर्म कह सकते हैं। शास्त्रों में इन्हें क्रमशः अशुभास्रवरूप, शुभास्रवरूप और संवर-निर्जरारूप बताया गया है। अन्तिम शुद्ध कर्म को अकर्म कहा है। वैदिक और बौद्धदर्शन में भी इन तीनों का समान या दूसरे नामों से उल्लेख है। गीता में इन त्रिविध कर्मों को तामस, राजस और सात्त्विक कर्म के रूप में पृथक्-पृथक् लक्षण बताकर निरूपित किया है। कर्म के शुभाशुभत्व का मुख्य आधार इन तीनों दर्शनों में कर्त्ता का शुभ-अशुभ मनोभाव या आशय बताया गया है। इसके सिवाय दो आधार और हैं शुभ-अशुभ कर्म को पहचानने के-(१) कर्म का अच्छा-बुरा बाह्य रूप, और (२) उससे सामाजिक जीवन पर पड़ने वाला अच्छा-बुरा प्रभाव, यानी उसका परिणाम अच्छा या बुरा हो। तथैव कर्म के शुभ-अशुभत्व का नाप-तौल वृत्ति और कृति दोनों के शुभ-अशुभत्व के आधार पर भी करना चाहिए। आत्मा के अनुकूल और प्रतिकूल व्यवहार, दृष्टिकोण या

आशय के अनुसार भी कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय किया जाता है। बन्धक और अबन्धक कर्म की दृष्टि से विचार करें तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बन्धक हैं, एकमात्र शुद्ध कर्म ही अबन्धक है। छद्मस्थ साधक ज्ञाता-द्रष्टा एवं समभावी रहकर शुद्धोपयोग में रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है, परन्तु प्रशस्त रागवश, बीच-बीच में प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति में अप्रमत्त होकर यत्नाचारपूर्वक चर्या करता है तो अशुभ योग का निरोध करके शुभ योग में प्रवृत्त रहता है।

शुभ और शुद्ध कर्म के अन्तर को समझना आवश्यक

कर्म शब्द में शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल, बन्धक-अबन्धक, सकाम-निष्काम, उत्कृष्ट-निकृष्ट, द्रव्य-भाव, ज्ञात-अज्ञात आदि अनेक अर्थ और भाव छिपे हैं। जो व्यक्ति पूर्वाग्रह, हठाग्रह एवं परम्परा के वशीभूत होकर कर्म शब्द के इस रहस्यार्थ को नहीं जानता-मानता, न ही जानने-मानने की बात सोचता है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के चक्कर में पड़ा हुआ वह व्यक्ति 'कर्म' के अधीन होकर, उस कर्म के नचाये नाचता रहता है। शुभ और शुद्ध कर्म के अन्तर और कारण को भी वह नहीं पहचान पाता।

शुभ और शुद्ध कर्म भी सकाम और निष्काम कर्म के रूप में कैसे ?

कर्मविज्ञान ने इस विषय में और गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया है--जैनदर्शन और जैनशास्त्रों में बताया गया है--बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चरण, ज्ञानादि पंच आचार, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप शुद्ध धर्म का आचरण, व्रत-महाव्रत, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान, सामायिक, पौषध आदि धर्माचरण, जो कर्मनिर्जराकारक शुद्ध कर्म हैं अथवा प्रशस्त रागवश शुभ कर्म हैं, उनमें इह-पारलौकिक कामना, नामना, प्रसिद्धि, स्वार्थलिप्सा, हिंसादि पापवृत्ति आदि सबको कैसे-कैसे दूषित कर देते हैं? ये सभी शुद्ध कर्म या प्रशस्त शुभ कर्म के बदले कैसे काम्यकर्म = सकामकर्म या कामनामूलक कर्म बन जाते हैं? इसका सकाम और निष्काम कर्म के रूप में सुन्दर विश्लेषण कर्मविज्ञान में किया गया है। साथ ही काम शब्द में सुपुप्त अर्थों का क्रम भी वासना, राग, कामना, आकांक्षा, इच्छा, लालसा, आसक्ति (मूर्च्छा-गृद्धि) एवं तृष्णा के रूप में बताया है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व; ये तीनों कृतक कर्म भी सकाम और निष्काम रूप से दो प्रकार के हो जाते हैं। फलतः आकांक्षा या वासना से लेकर तृष्णा तक के क्रम में से अथवा भगवतीसूत्र में बताये हुए कांक्षामोहनीय कर्म के किसी भी प्रकार के रूप में की गई स्थूल या सूक्ष्म इच्छा से युक्त होकर फल भोगाकांक्षा करना सकामकर्म है, इसके विपरीत किसी भी प्रकार के स्वार्थ या पूर्वोक्त काम से निःस्पृह, निरपेक्ष रहकर केवल लोकसंग्रह, परहितार्थ या परार्थ की दृष्टि से किये जाने वाले कर्म निष्काम हैं। यही प्रत्येक धर्मक्रिया या परार्थ प्रवृत्ति के पीछे सकाम और निष्काम कर्म की पहचान है।

जैनदृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान में या उससे आगे के गुणस्थानों में मन्दकषाय की स्थिति में निष्कामभाव आ सकता है। किन्तु तीव्र कषाय की स्थिति में नहीं। इस दृष्टि से निष्काम कर्म और अकर्म (विशुद्ध कर्म = अबन्धक कर्म) का अन्तर स्पष्टतः समझा जा सकता है। निष्काम कर्म में स्व-पर-हित, स्व-पर-कल्याण का शुभ विकल्प या प्रशस्त रागभाव रहता है, जबकि अकर्म में रागादिभाव, कषायभाव या मोहादि बिलकुल नहीं होता। परन्तु जैनदर्शन निष्काम कर्म के पीछे सम्यग्दर्शन (सम्यग्दृष्टि) का होना अनिवार्य बताता है। अतः शम (या सम), संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, निष्काम कर्म में सम्यग्दृष्टि को पहचानने के खास चिह्न हैं। सकामकर्मी में कर्तृत्व और भोक्तृत्वभाव होता है, जबकि निष्कामकर्मी कर्तृत्व और भोक्तृत्व से निरपेक्ष रहता है। इस दृष्टि से सकाम कर्म में संकीर्ण तुच्छ स्वार्थ होता है, जबकि निष्काम कर्म में स्व-पर-हितार्थ विस्तीर्ण परमार्थरूप स्वार्थ होता है, आत्मौपम्य बुद्धि होती है।

कर्मों के दो कुल : घातिकुल और अघातिकुल

कर्म के इतने बताने के बावजूद भी कर्मों की भीड़ में से उन कर्मों के कुल को आम आदमी के लिए पहचानना कठिन है, जो आत्मा के निजी गुणों को क्षति पहुँचाते हैं अथवा ऐसे कर्मकुल को भी पहचानना कठिन है, जो आत्मा के गुणों को तो आवृत, कुण्ठित या दमित तो नहीं कर पाते, परन्तु वे आत्मा पर प्रभाव डालकर उन घातिकुलों के प्रभाव में आकर मन में दीनता-हीनता अथवा अहंकारग्रस्तता, मदमत्तता ला देते हैं। जैन-कर्मविज्ञान ने उन्हें क्रमशः दो कुलों में विभक्त किया है--घातिकुल और अघातिकुल। आत्मा

से बँधकर उसके स्वाभाविक गुणों का न्यूनाधिक रूप से घात करने वाले, उन्हें क्षति पहुँचाने वाले घातिकर्म या घात्यकर्म चार हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इन घातिकर्मों की अनुभाग-शक्ति का प्रभाव आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों पर पड़ता है, जिससे आत्मिक-गुणों और शक्तियों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ये आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चार मुख्य गुणों का न्यूनाधिक घात करने के साथ-साथ उसके अनुजीवी गुणों, क्षमादि दशविध धर्मों (आत्म-स्वभावों) का विकास भी अवरुद्ध कर देते हैं। घातिकर्मों का उन्मूलन हुए बिना केवलज्ञान-केवलदर्शन तथा मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती, न ही अनन्त अव्याबाध-सुख और अनन्त आत्म-शक्ति प्रकट हो सकती है। घातिकर्मों के भी दो भेद हैं–सर्वघाति और देशघाति।

इनके विपरीत चार अघातिकर्म हैं–वेदनीय, आयु, नामकर्म और गोत्रकर्म। ये आत्मा के ज्ञानादि मौलिक गुणों का घात या ह्रास तो नहीं कर पाते, क्योंकि ये चारों भुने हुए बीज के समान होते हैं, जिनमें नये कर्मों का उपार्जन करने का सामर्थ्य या कर्म-परम्परा का अविच्छिन्न प्रवाह जारी रखने का सामर्थ्य नहीं होता। अतः ये मौलिक आत्म-गुणों को हानि न पहुँचाकर, केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों (अव्याबाध-सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तत्व और अगुरुलघुत्व) को प्रकट नहीं होने देते, इनका ह्रास करते हैं और जीव को संसार में रोके रखते हैं। विदेहमुक्त (सर्वकर्ममुक्त) होने में ये चार अघातिकर्म प्रतिबन्धक हैं। जब तक शरीर है, आयुष्यकर्म शेष है तथा कुछ कर्मों का भोगना बाकी है, तब तक शरीर से सम्बन्धित इन चारों भवोपग्राही अघातिकर्मों की सत्ता बनी रहती है। मोहकर्म के क्षय हो जाने से ये चारों जली हुई रस्सी के बट की तरह निष्फल हो जाते हैं। इनका कार्य सिर्फ शरीर, आयु और पूर्वबद्ध कर्मफल के भोग को बनाये रखना है।

चारों अघातिकर्मों का सर्वथा क्षय होते ही वह जीवन्मुक्त सदेह अर्हन्त वीतराग परमात्मा आठों ही कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, जन्म-मरणादि से सर्वथा रहित विदेह परमात्मा बन जाते हैं। अतः मुमुक्षु आत्मा को घाति-अघाति कर्मों का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है।

कर्म का त्रिकालकृत रूप और स्वरूप

कर्म के इतने रूप और स्वरूप के निरूपण करने के बाद भी कई लोग इस भ्रम में रहते हैं कि "हम अभी तो धन, वैभव, सुख-सुविधा, ऐश्वर्य और सुख-सामग्री से सम्पन्न हैं। हमारे पीछे कोई भी कर्म नहीं है। अब कोई भी कर्म हमारा पीछा करने वाला नहीं है। अब हम सब प्रकार से स्वस्थ, शान्त, सुखी और स्वतंत्र हैं। सांसारिक पदार्थों का मनचाहा उपभोग कर सकते हैं।" वे यह भूल जाते हैं कि हमारी आत्मा के जन्म-जन्मान्तर से संचित तथा इस जन्म में भी पूर्वबद्ध कर्म, जो अभी संचित और सुषुप्त पड़े हैं, वे कभी भी उदय में आकर दुःख, संकट ,व्याधि, विपत्ति, उपद्रव आदि के रूप में व्यक्त-से होकर फल देने के लिए उद्यत हो सकते हैं तथा वर्तमान में भी जो अविवेकपूर्वक शुभ या अशुभ कर्म बाँध रहे हैं, उनका फल भी भविष्य में भोगना ही पड़ेगा। अतः कर्म को केवल वर्तमानकालिक दृष्टि से न देखकर उसके त्रैकालिक रूप का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। इसी दृष्टि से कर्म के पूर्वोक्त विविध रूप बताते हुए कर्मविज्ञान ने कर्म के सम्बन्ध में वर्तमानकालिकता की भ्रान्ति को तोड़ने के लिए त्रिकालकृत त्रिविधरूप का सांगोपांग निरूपण किया है।

वैदिक-कर्मविज्ञान की दृष्टि से जिन्हें क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कहा जाता है, उसे ही जैन-कर्मविज्ञान में बध्यमान, सत्तास्थित और उदयागत कहा जाता है। अन्तर इतना ही है कि वैदिक-कर्मवाद में प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या चेष्टा को क्रियमाण कर्म माना जाता है, परन्तु जैन-कर्मवाद प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या चेष्टा को समागत कर्म मानता है, किन्तु बध्यमान कर्म नहीं। बध्यमान कर्म उसी को मानता है, जिस प्रवृत्ति या क्रिया के साथ कषाय या राग, द्वेष, मोहादि विभाव हो। दूसरा अन्तर यह है कि वैदिक-कर्मवाद का सिद्धान्त है कि जो कर्म संचितरूप में पड़ा है, उसे प्रारब्धरूप में आने पर उसी रूप में फल भोगना पड़ता है। जैन-कर्मविज्ञान का इसमें मतभेद है–यदि संचित कर्म गाढ़, चिक्कण और निकाचितरूप में बँधा है तो उसको उदय में आने पर उसका फल उसी रूप में भोगना पड़ेगा, किन्तु यदि

वह फल समभाव, शान्ति और धैर्य से भोगा जाता है तो उन पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो जाता है, नये कर्म नहीं बँधते। यदि सत्ता में पड़े हुए (संचित) कर्म निकाचित बद्ध नहीं हैं तो उनको अशुभ से शुभ में अथवा शुभ से अशुभ में तथा अल्पकालिक को दीर्घकालिक में और दीर्घकालिक को अल्पकालिक में परिवर्तित किया जा सकता है। तथैव विविध बाह्याभ्यन्तर तप, व्रताचरण, संयम, गुप्ति-समिति, धर्माचरण, परीषह-उपसर्गविजय, कषायादिविजय, रत्नत्रयाराधना आदि से उनकी उदीरणा करके उदय में (प्रारब्ध में) आने से पहले ही भोगकर क्षय किया जा सकता है। जैन-कर्मविज्ञान ने कर्म के इस त्रिकालकृत रूप को विविध उदाहरणों, रूपकों एवं युक्तियों से स्पष्ट किया है। कर्म के इस त्रैकालिक स्वरूप को भलीभाँति समझ लेने पर अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमानकाल का संवर और भविष्यकाल का प्रत्याख्यान (त्याग) करके व्यक्ति आत्म-शुद्धि कर सकता है।

कर्म का परिष्कृत और सर्वांगीण स्वरूप

और इस खण्ड के अन्त में जैन-कर्मविज्ञानमान्य 'कर्म' का सर्वांगीण और परिष्कृत स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस निबन्ध में कर्म के चार लक्षण प्रस्तुत किये गए हैं—(१) कर्मग्रन्थसम्मत—राग-द्वेषादि से युक्त संसारी जीव में प्रति समय मन-वचन-काया से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच कारणों (निमित्तों) से तथा प्रत्येक कर्म के विशिष्ट कारणों से होने वाली परिस्पन्दनरूप क्रिया से आत्मा के प्रति आकृष्ट होकर कार्मणवर्गणा (कर्म) के पुद्गल आते हैं और राग-द्वेष या कषाय का निमित्त पाकर आत्म-प्रदेशों से श्लिष्ट = बद्ध हो जाते हैं, समय पाकर सुख-दुःखरूप फल देने लगते हैं, वे ही कर्मसंज्ञा पाते हैं। 'समयसार' में कहा है—जीव अपने रागादि या कषायादि परिणामों के आधार पर जिन कर्म-परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है, वे भावकर्म और जो कर्म-परमाणु खिंचकर आत्मा (आत्म-प्रदेशों) के साथ चिपट जाते हैं, वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। 'परमात्मप्रकाश' के अनुसार—इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेषों या कषायों से रंजित व मोहित आत्मा की क्रिया से आकाश-प्रदेशों में विद्यमान कर्मवर्गणा के अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु-पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों के साथ संलग्न = संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। 'राजवार्तिक' में निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से कर्म का लक्षण दिया गया है—वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणीयादि कर्म के क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा रहने वाले आत्मा के द्वारा निश्चयनय से आत्म-परिणाम तथा व्यवहारनय से पुद्गल-परिणाम तथा इसके विपरीत व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गल-परिणाम (परिणमन) तथा कर्म-पुद्गल के द्वारा आत्म-परिणाम (आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि परिणाम) जो भी किये जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। 'गोम्मटसार' के अनुसार—कर्म-पुद्गलों का पिण्ड है—द्रव्यकर्म और उस पिण्डस्थित शक्ति से उत्पन्न अज्ञानादि भावकर्म है। कर्म का यह परिष्कृत स्वरूप कर्म के पूर्व निबन्धों में बताये हुए सभी रूपों को अपने में विधि-निषेधरूप से समेटे हुए है।

● ●

कर्मविज्ञान : भाग २ का सारांश

कर्म की उपयोगिता, महत्ता और विशेषता

कर्म के अस्तित्व और वस्तुत्व (यथार्थ स्वरूप) का प्रतिपादन करने के पश्चात् जब तक उसका यथार्थ मूल्य निर्णय नहीं किया जाता, यानी जब तक उसकी विशेषता, महत्ता का मूल्यांकन विविध दृष्टियों से नहीं किया जाता, तब तक उसकी उपयोगिता में सन्देह रह जाता है। इसलिए द्वितीय भाग के चतुर्थ खण्ड में कर्मविज्ञान की विशेषता, महत्ता और उपयोगिताओं की सर्वांगीण और सर्वक्षेत्रीय दृष्टिकोण से चर्चा-विचारणा प्रस्तुत की गई है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मविज्ञान की उपयोगिता

सर्वप्रथम आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मविज्ञान की उपयोगिता पर विचार करते हुए कहा गया—प्रत्येक प्राणी के जन्म-जन्मान्तर की संसार-यात्रा, जीवन-यात्रा और शरीर-यात्रा के साथ कर्म लगा हुआ है, वह मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व तक लगा रहेगा। अतः यह कहकर इसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा कि कर्म-परमाणु तो स्वभाव को विकृत करने वाले, आत्म-शक्ति के प्रतिबन्धक, अवरोधक और आवारक परभाव हैं। इसलिए मुमुक्षु आत्मार्थी को इन्हें सर्वथा त्याज्य समझने चाहिए, न ही इनसे कोई वास्ता रखना चाहिए। किन्तु कर्मविज्ञान यह भी समझाता है कि प्राणी जब तक संसारस्थ है, तब तक गृहस्थों को ही नहीं, साधु-साध्वियों, केवलज्ञानियों और तीर्थंकरों तक को तन, मन, वाणी, बुद्धि, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि निर्जीव; तथा संघ, परिवार, गण, कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र, अन्य मानवों तथा जीवों आदि सजीव पर-पदार्थों से; तथा आहार, उपकरण, मकान, वस्त्र आदि पर-पदार्थों, पुद्गलों आदि से जीवन-यात्रा के लिए एक या दूसरे प्रकार से वास्ता पड़ेगा, सम्बन्ध रखना पड़ेगा। सम्बन्ध रखते हुए भी कर्मविज्ञान यह प्रेरणा देता है, अगर उन पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष, मोह-द्रोह, आसक्ति-घृणा या क्रोधादि कषाय के रूप में विकारभाव-विभाव आया तो वहाँ कर्मबन्ध अवश्यम्भावी है। अगर उनके प्रति राग-द्वेष आदि विभाव नहीं आने दिया तो सजीव-निर्जीव परभावों के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होंगे, आत्मा का ऊर्ध्वमुखी विकास होगा। इस प्रकार कर्मविज्ञान की दृष्टि से कर्म संसारी अवस्था में सर्वथा त्याज्य नहीं, अन्त तक उपादेय है, किन्तु परभावों के प्रति रागादि विभावों के त्यागपूर्वक या शुभ भावों के साथ सम्बन्ध रखने में। फिर कर्मविज्ञान सर्वज्ञोक्त होने से सर्वाधिक उपयोगी एवं प्रेरक है। क्योंकि इसमें कर्मों की राशि को आत्मा से पृथक् करके अपनी अनन्त चतुष्टयी अमर्यादित तथा अपनी आत्म-शक्तियों से सुशोभित एवं जाग्रत करने की विधा की प्रेरणा है। कर्मविज्ञान भौतिक शक्ति के चमत्कारों की अपेक्षा कर्मक्षय और कर्मनिरोध करने की आत्म-चातुरी तथा आत्म-स्वरूपोपलब्धि के तथा आध्यात्मिक शक्ति के चमत्कारों को बढ़कर बताता है। मुमुक्षु आत्मा के लिए कर्मविज्ञान दर्पण के समान आत्मा का स्पष्ट दर्शन कराता है। कर्मविज्ञान के अभ्यास से आत्मा में निराकुलता और शान्ति का अनुभव होता है। साथ ही कर्मविज्ञान वैभाविक और स्वाभाविक दोनों अवस्थाओं का ज्ञान कराता है। वह आत्म-शक्ति को कर्म-शक्ति से प्रबल बनाता है। कर्मविज्ञान अध्यात्म हिसाब को प्रगट करने की कुंजी है। वह आत्म-शक्तियों के प्रकटीकरण में तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने में प्रबल सहायक है। इसमें आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए यथाप्रवृत्तिकरणादि तीन सोपानों से साधक आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण कर सकता है।

व्यावहारिक जीवन कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता

कर्म-सिद्धान्त की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता तो सर्वविदित है। कर्म-सिद्धान्त यह स्पष्ट प्रतिपादित करता है कि 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है, बुरे कर्मों का बुरा' यह सोचकर व्यक्ति को

दैनन्दिन व्यवहार में अच्छे कर्म करने चाहिए। भारत का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इस सिद्धान्त को जानता हुआ भी व्यवहार में लोभ, स्वार्थ, अहंकार और प्रमाद के कारण अपने जीवन को पापकर्म के दलदल में डालता है।

दैनन्दिन व्यवहार में कर्मविज्ञान की प्रेरणा

पापकर्मों से बचने के लिए कर्मविज्ञान साधु-साध्वियों को ही नहीं, गृहस्थवर्ग को भी यही प्रेरणा देता है कि जीवन की मन-वचन-काया से होने वाली दैनन्दिन प्रत्येक क्रिया, चर्या का प्रवृत्ति यातनापूर्वक, विवेकपूर्वक करो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर, नीचे और तिरछी दिशाओं में सर्वत्र पापकर्म का प्रवाह (स्रोत) चल रहा है, उनको रोकने-उनसे बचने का पराक्रम करोगे, तो एक दिन अकर्मा (अबन्धक कर्मकर्त्ता) बन सकोगे। यह व्यावहारिक जीवन में कर्मबन्ध से अपनी आत्मा को बचाने के लिए यह परामर्श देता है कि तुम एक ओर से कर्मों की आस्रवरूपी बाढ़ को संवर से रोको, दूसरी ओर से पूर्वबद्ध पापकर्मों की बाह्य-आभ्यन्तर तप, त्याग, प्रत्याख्यान, धर्माचरण, व्रताचरण ,परीषह-सहन आदि द्वारा बिना किसी कामना-वासना के विकल्प के निर्जरा (अंशतः कर्मक्षय) करते जाओ। अगर तुम्हारे जीवन में कोई दुःख, पीड़ा, रोग, संकट, विपत्ति या उपद्रव आ पड़ा हो, उस समय भी तुम उसे अपने किसी पूर्वबद्ध अशुभ कर्म का फल मानकर उसे समभाव, धैर्य, एवं शान्ति के साथ सहन करो, उसकी अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया मत करो, न ही काल, देव, भगवान या निमित्तों पर दोषारोपण करो, तो तुम्हारा जीवन संवर-निर्जरा धर्ममय हो सकेगा। कर्मविज्ञान कहता है कि "हे मानव ! तू ही अपना भाग्यविधाता, त्राता, अपने सुख-दुःख का निर्माता, पाप-पुण्य का कर्ता-धर्ता है। दुःख और विपत्ति के समय कर्म-सिद्धान्त मार्गदर्शक या निर्देशक बनकर कहता है, इस समय आकुल-व्याकुल न होकर अपना उपादान देखो, आत्म-निरीक्षण करो, किंकर्त्तव्यविमूढ़ मत बनो, धैर्यपूर्वक उसे सहन करो, आशा रखो कि दुःख आया है तो वह चला भी जाएगा, और अधिकाधिक सावधान होकर सत्कर्त्तव्य कर्म करो, या शुद्ध धर्म का आचरण करो। दुःख का कारण स्वयं में ढूँढकर अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों में सम रहो। न तो दीनता-हीनता लाओ और न ही गौरवगान करके अहंकार-ममकार करो। इस प्रकार कर्मविज्ञान दैनन्दिन व्यवहारों की व्याख्या भी कर्म-सिद्धान्त के साथ संगति बिठाकर करता है।

नैतिकता के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान की उपयोगिता

हिंसा, असत्य, चोरी आदि अनैतिकताओं (पापकर्मों) का दुःखद फल नरक-तिर्यंचगति तथा मनुष्यगति में भी अंग-विकलता बताकर एवं मोह-मूढ़तावश बोधिरहित, तथा दुर्दशाग्रस्त स्थिति का चित्रण करके नैतिकतायुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देकर कर्मविज्ञान ने नैतिकता के सन्दर्भ में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। अनैतिकता से युक्त दुष्कर्मों का दुष्परिणाम बताकर नैतिकतापूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा या उपदेश देने के अनेक उदाहरण शास्त्रों में यत्र-तत्र मिलते हैं। साथ ही शुभाशुभ कर्म की दृष्टि से ही चारों प्रकार की गति का आयुष्यबन्ध होने के कारण बताये गए हैं। कतिपय धर्म-सम्प्रदायों में इस भ्रान्ति के शिकार होकर लोग बेधड़क होकर पापकर्म तथा अनैतिक आचरण करते रहते हैं कि कयामत के दिन, या मृत्यु के अवसर पर हम खुदा, गॉड या परमात्मा से क्षमा माँग लेंगे और हमारे पापकर्मों के फल से छुटकारा मिल जाएगा। परन्तु केवल क्षमा माँग लेने मात्र से और जानबूझकर पापकर्म या अनैतिक आचरण या व्यवहार करते रहने से कदापि पापकर्मों के फल से छुटकारा नहीं मिल सकता। पापकर्मों से छुटकारा तभी मिल सकता है कि वे व्यक्ति स्वयं पापकर्मों का त्याग करें, जानबूझकर कोई भी अनैतिक आचरण या पापकर्म न करें, यदि अनजान में कोई पापकर्म हो गया है तो उसे वीतराग प्रभु की साक्षी से निःस्पृह सद्गुरु के समक्ष आलोचना, आत्म-निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण एवं क्षमापना करके आत्म-शुद्धि कर लें। पापकर्म के फल का प्रदाता, उससे त्राता या क्षमा प्रदाता कोई ईश्वर, गॉड, खुदा या कोई अन्य शक्ति नहीं, उसके वे कर्म ही उसे फल-प्रदान करते हैं; किन्तु फल-प्रदान करने में निमित्त कोई भी हो सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव आदि नोकर्म फल-प्रदान में सहायक हो सकते हैं। इस्लाम और ईसाईधर्म में और वैदिकधर्म में नैतिक आचरण करने की आज्ञाएँ हैं, परन्तु पूर्वोक्त भ्रान्तियों के कारण प्रायः अनेक लोग उस

पर अमल नहीं करते। जड़ कर्म कोई फल देने वाला नहीं, न ही ईश्वरादि कोई इस समय फल देते हैं, अतः वे इस भ्रान्तिपूर्ण विचार से निःसंकोच होकर अनैतिक कर्म करते रहते हैं। अतः कर्मविज्ञान नैतिकतारिहीन तथा आस्थाहीन व्यक्तियों के पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की विशृंखलता का चित्रण विभिन्न युक्ति-प्रयुक्तियों और प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर किया गया है। अतः कर्म-सिद्धान्त परिवार, राष्ट्र या समाज आदि में सुख-शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा के लिए नैतिकता से युक्त धार्मिकता (सप्त कुव्यसन-त्याग, परिवारादि में परस्पर वात्सल्य, सहयोग, सहिष्णुता की आधार भूमि पर अहिंसा, संयम, तप आदि) के आचरण की बात कहता है। नैतिकता के इस आचरण के फलस्वरूप पूर्वकृत कर्म नष्ट होंगे; क्रूरता, निर्दयता, अमानवता के कारण होने वाले अशुभ कर्मों का निरोध होगा, प्रशस्त शुभ योगों में प्रवृत्ति से शुभ योग-संवर सहज में होता जाएगा।

सामाजिक सन्दर्भ में उपयोगिता कितनी और कैसी ?

इसके पश्चात् जो कर्मविज्ञान का सिद्धान्त विश्वव्यापी और सार्वजनीन है, तथा जो अतिसूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों, नारकों, देवों और मनुष्यों तक के प्रत्येक भव की जीवन-यात्रा को प्रारम्भ से लेकर अन्त तक स्पर्श करता है; उसकी सामाजिक क्षेत्र (मानव-समाज के सभी घटकों) में क्या उपयोगिता है ? इस प्रश्न को लेकर कतिपय पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के आक्षेप-प्रत्याक्षेप हैं, जिनका समाधान जैन-कर्मविज्ञान ने जीव द्वारा मानव के प्रति किये जाने वाले नौ प्रकार के पुण्यों तथा विविध प्रकार के सम्यक् दान, शील, तप एवं भाव से निष्पन्न होने वाले, तथा तीर्थंकरों द्वारा दीक्षित होने से पूर्व दिये जाने वाले वर्षीदान, धर्मोपदेश, संघ-स्थापना आदि तथा उनके अनुगामी साधु-साध्वियों द्वारा दिये जाने वाले नैतिक-धार्मिक उपदेश, प्रवचन, धर्म और मोक्ष की तथा नौ तत्त्वों की आध्यात्मिक प्रेरणा, किसी भी समस्या के विषय में श्रुत-चारित्रधर्म या संवर-निर्जरारूप धर्म की दृष्टि से समाधान, मार्गदर्शन आदि सब मानव-जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर सामाजिक सन्दर्भ में कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्ररूपणा करता है, इससे इस क्षेत्र में कर्मविज्ञान की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। साथ ही व्यक्ति, समाज और समष्टि की दृष्टि से कर्म कब बन्धकारक होता है, कब शुभ कर्मबन्धक (पापकर्मबन्धरहित) होता है और कब अबन्धक होता है? इसका शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों सहित निरूपण किया है।

कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता

कर्म-सिद्धान्त केवल जीव के वर्तमान पर ही नहीं, अतीत और अनागत जीवन पर भी प्रकाश डालता है। परन्तु कतिपय दार्शनिकों के प्रतिपादित भ्रान्त एवं एकान्त मान्यता का खण्डन करता है कि जीव का जैसा अतीत था, वैसा ही उसका वर्तमान होगा, और वर्तमान के आधार पर ही भविष्य का जीवन होगा। किन्तु त्रिकालज्ञाता-द्रष्टा वीतराग महर्षि कहते हैं-यद्यपि जीव का भूत, भविष्य या वर्तमान कर्मों के अनुसार होता है, किन्तु ऐसी एकान्त प्ररूपणा यथार्थ नहीं है कि अतीत के अनुसार ही जीव का वर्तमान और भविष्य होगा। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार अतीत में निकाचनारहित बँधे हुए कर्म यदि सत्ता में (संचित) पड़े हैं तो वर्तमान में जीव अपने पुरुषार्थ से शुभ कर्म को अशुभ में, अशुभ कर्म को शुभ में परिवर्तित कर सकता है, तदनुसार उसका भविष्य भी सुदूर अतीत के अनुसार न होकर वर्तमान के अतीत के अनुसार घटित होगा। इसलिए कर्म-सिद्धान्त के पुरस्कर्ताओं की प्रेरणा है कि अतीत को जानो, वर्तमान में सत्पुरुषार्थ करके कर्मनिरोध या कर्मक्षय द्वारा बाजी सुधार लो, ताकि भविष्य भी उज्ज्वल बने। इसके लिए भविष्य का भी विचार करो। इसके ज्वलन्त उदाहरण-हरिकेशबल मुनि, अर्जुन मुनि, मेघकुमार मुनि, मृगापुत्र मुनि आदि हैं। अतीत में किये हुए अशुभ कर्म के फलस्वरूप वर्तमान में प्राप्त अनिष्ट-संयोग-इष्ट-वियोग को जानकर हीनता-दीनता-अकर्मण्यता की भावना न लाओ, उस भूतकालीन जीवन से प्रेरणा लेकर तप, संयम, धर्म में विवेकपूर्वक पुरुषार्थ करो। यदि अतीत के शुभ कर्मवश तुम्हें वर्तमान में सुख-सुविधा-सम्पन्न जीवन मिला है तो उसे गर्व, मद, अहंकार, कषाय एवं प्रमाद की भावना से न खोकर वर्तमान में शुद्ध धर्म में पुरुषार्थ करो तथा पूर्वोक्त विपन्न-सम्पन्न अवस्थाओं में संवर-निर्जरारूप धर्म में पुरुषार्थ करो ताकि भविष्य

में या तो वह सर्वकर्मों से मुक्त हो सके, या वह महर्द्धिक उच्चतर देव बन सके। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता सिद्ध होती है। कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालस्पर्शी उपयोगिता बताने के लिए आगमों में स्पष्ट कहा गया—अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमानकाल में संवर-निर्जरायुक्त पुरुषार्थ और भविष्य में कर्मों से मुक्त होने के लिए प्रत्याख्यान (व्रत, नियम, तप, संयम, त्याग) करो।

जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता का मूल्यांकन

जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता का मूल्यांकन इसी से किया जा सकता है कि उसने केवल मानव-जाति के ही कर्मों के आस्रव और संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष का विचार नहीं किया अपितु नारक, तिर्यंच और देव आदि पंचेन्द्रियों तथा तीन विकलेन्द्रियों एवं एकेन्द्रिय आत्माओं का भी कर्म-सम्बन्धी उपर्युक्त विचार व्यक्त किया है। कतिपय धर्मों और दर्शनों ने जहाँ केवल मनुष्यगति तथा मनुष्य-जाति का, उसमें भी उसके कामनामूलक या सामाजिक कर्मों तक का ही तथा केवल स्वर्ग-नरक तक का ही विचार किया है, वहाँ जैन-कर्मविज्ञान ने मनुष्यादि चारों गतियों का, मनुष्यों के भी बन्धक-अबन्धक कर्मों का, शुभ-अशुभ कर्मों और उनके परिणामों का, तथा कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप मोक्षगति तक का विचार किया है। साथ ही जैन-कर्मविज्ञान ने संसार की समस्त आत्माओं को निश्चयदृष्टि से परमात्म सदृश बताया है। इतना ही नहीं, बहिरात्मा से परमात्मा बनने के उपाय भी बताये हैं। इतना ही नहीं, आत्मा की वर्तमान में अशुद्ध दशा एवं उनके कारणों का वर्णन भी सांगोपांग किया है। साथ ही जैन-कर्मविज्ञान ने सांसारिक जीवों के भेद-प्रभेद का तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं का, जीवों की अनन्त भिन्नता का शरीर, इन्द्रिय, भोग, वेद, कषाय आदि कारणों की दशा से गुणस्थानों में, आत्म-विशुद्धि में तारतम्य का, १४ मार्गणाओं द्वारा भलीभाँति सर्वेक्षण भी किया है, जोकि अन्य दर्शनों और धर्मशास्त्रों में दुर्लभ है। कर्मों के स्वरूप, स्रोत, बन्ध तथा उनके भेद-प्रभेद बताकर ही जैन-कर्मविज्ञान ने छुट्टी नहीं पा ली, किन्तु आते हुए नये कर्मों को रोकने, पूर्वबद्ध कर्मों से छूटने तथा कर्मों से पूर्णतया मुक्त होने का उपाय भी संवर, निर्जरा और मोक्ष के रूप में बताया है। शरीरादि परभावों के साथ रहते हुए भी इनसे भिन्नता का तथा स्वभाव-रमणता का विज्ञान भी इसने बताया है। इसने प्रत्येक जीव के जन्म से लेकर मृत्यु तक ही नहीं, अनन्त-अनन्त जन्मों में साथ-साथ रहने वाले कर्म से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध चिन्तन प्रस्तुत किया है। साथ ही विभिन्न कर्मों के बन्ध, जीव के परिणाम आदि को लेकर उनके फल का भी वैज्ञानिक दृष्टि से व्यापक विश्लेषण भी किया है। जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता के ये सर्वतोभद्र मापदण्ड हैं।

जैन-कर्मविज्ञान की विशेषता

जैन-कर्मविज्ञान समग्र जीवन के स्थूल-सूक्ष्म कार्यकलापों, जन्म से लेकर मृत्यु तक की विविध अवस्थाओं तथा उनके कारण और निवारणोपाय पर विशद प्रकाश डालने वाला सर्वांगीण जीवनविज्ञान है। इतना ही नहीं, यह जीव की कर्मावृत दशा के साथ-साथ कर्ममुक्त दशा का, एकेश्वरवाद के बदले अनन्त परमात्मवाद का, आत्मा से परमात्मा बनने की कला का, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय-प्राप्ति के उपाय का, अन्तिम ध्येय-प्राप्ति के विवेक का, मानव-जाति से भी आगे प्राणिमात्र के प्रति समभाव और आत्मौपम्यभाव रखने का, पूर्वबद्ध संचित कर्मों की स्थिति, अनुभाग तथा दशा में परिवर्तन का, कर्मफल की स्वतः संचालित व्यवस्था का प्ररूपक, प्रशिक्षक, नियामक एवं सजातीय कर्मप्रकृति में परिवर्तन का प्रेरक है। जैन-कर्मविज्ञान की विशेषता इन पर से आँकी जा सकती है।

जैन-कर्मविज्ञान : जीवन-परिवर्तन का विज्ञान

जैन-कर्मविज्ञान जीवन-परिवर्तन का विज्ञान है, क्योंकि यह जीवन के साथ जुड़ी हुई अच्छी-बुरी आदतें, रुचियाँ, स्वभाव, दृष्टि, चिन्तन या विचार, परिणाम, मन-वचन-कायजनित प्रवृत्तियाँ, लेश्याएँ, कषाय, कामवासना, बौद्धिक मन्दता-तीव्रता, विभिन्न गति, योनि, पर्याप्ति, प्राण, शरीर आदि सभी को आत्म-बाह्य कर्मोपाधिक बताकर इनमें तथा जीवन की गतिविधि में परिवर्तन भी पूर्ण संभावना का निरूपण करता है। कर्मविज्ञान के रहस्य को सुनने तथा उस पर चिन्तन-मनन करने से अनेक व्यक्तियों का जीवन-परिवर्तन हुआ है, हो सकता है। विशुद्धप्रज्ञ कपिलकेवली द्वारा ५०० चोरों को कर्मफलात्मक उपदेश

से, चारण द्वारा शिकारी को उपदेश से, शालिभद्र को अपनी माता द्वारा श्रेणिक नृप का सिरताज के रूप में परिचय देने से, समुद्रपाल के अशुभ कर्मफल भोगते हुए वध्य चोर को देखकर चण्डकौशिक को अपने पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म के फलस्वरूप सर्पयोनि पाने का रहस्य समझने से सहसा जीवन-परिवर्तन हो जाने के कर्मविज्ञान की विशेषता के ज्वलन्त उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यादि चारों गतियों को पाने के कर्म-मूलक कारणों का प्रतिपादन भी जीवन-परिवर्तन का अचूक सन्देशवाहक है। विभिन्न कथाओं में ज्ञानी मुनिवरों से अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों का फल जानकर भी अनेक व्यक्तियों के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन भी इसकी जीवन-परिवर्तन-विज्ञानता को सिद्ध करते हैं।

कर्मवाद : पुरुषार्थयुक्त आशावाद का प्रेरक

कुछ लोग कर्म का फल तत्काल या इस जन्म में न मिलने की, तथा कतिपय लोग सत्कर्म करने वाले लोगों को अभाव-पीड़ित, फटेहाल व दुःखी और दुष्कर्म करने वालों को सुखपूर्वक मस्ती से जीवन जीते देखकर कर्म-सिद्धान्त से निराश-हताश होकर क्षणिक और कृत्रिम सुख-सम्पन्नता के लिए जैसे-तैसे धन कमाने, मौज-शौक करने लगे, अन्याय-अनीति एवं पापकर्म के रास्ते पर चलकर भी पूर्वकृत पुण्यराशि तथा इस जन्म में शुभ कर्मोपार्जन के अभाव में निराशा ही उनके हाथ लगी। ऐसी और इसी प्रकार की भ्रान्तियों के शिकार लोगों से कर्मवाद कहता है—संवर-निर्जरारूप धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म ही सुख-शान्ति और समृद्धि का निरापद मार्ग है। कुछ लोग इस भ्रम के शिकार होकर हाथ पर हाथ धरकर अकर्मण्य-पुरुषार्थहीन होकर बैठ जाते हैं कि कर्म सर्वशक्तिमान् है, वह जैसा चाहेगा, सुख या दुःख देगा, हमारे किये से क्या होगा? फलतः वे न्याय, नीति, धर्म के आचरण करने को अत्यन्त कष्ट, दुःख और पीड़ाकारी समझते हैं। परन्तु कर्मवाद इस प्रकार की भ्रान्ति, निराशा और अकर्मण्यता का निराकरण करके यह आशा और विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का बुरा मिलता है, इस जन्म में अच्छे कर्म का फल दीनता-हीनता, अभाव-पीड़ितता इस जन्म में किये जाने वाले अच्छे कर्म का फल नहीं, वह किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल है। दूसरी बात—कर्मवाद पूर्वजन्म में या इस जन्म में किये गये किसी दुष्कर्म से निराश और अकर्मण्य बनकर बैठे हुए लोगों में भी आशा का संचार करता है—घबराओ मत। जब तक संचित कर्म उदय में नहीं आता है, तब तक तुम इसे सत्कर्म करके शुभ में बदल सकते हो, उक्त कर्म की दीर्घकालिक स्थिति को अल्पकालिक और अशुभ रस को शुभ रस में बदल सकते हो। तप, त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान से उसकी उदीरणा करके फल देने से पहले ही फल भोगकर उसे क्षीण कर सकते हो। इतने पर भी यदि वह कर्म उदय में आ जाए तो समभाव, शान्ति और धैर्य से उसे भोग (सह) कर उस कर्म को नष्ट कर सकते हो। अतः कर्मवाद का कर्मनिर्जरा का सिद्धान्त स्वयं धर्म में सत्पुरुषार्थ का द्योतक है। अनादिकाल से लगा हुआ कर्मचक्र छूटना या नष्ट होना सम्भव नहीं, इस भ्रान्ति को नष्ट करके भाग्य-परिवर्तन से सम्बद्ध बन्ध से लेकर निकाचन तक दस कारणों के अकाट्य सिद्धान्त का निरूपण करता है। कर्मवाद आत्म-शक्तियों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करने की प्रेरणा देता है। आत्मा की शक्ति कर्म की शक्ति से बढ़कर है। इसलिए कर्मवाद आत्मा की शक्तियों को न छिपाकर प्रकट करने के लिए प्रोत्साहन देता है।

कर्मवाद और समाजवाद में विसंगति है या संगति ?

भारत में प्राचीनकाल से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि समाज के विविध घटकों के साथ 'धर्म' शब्द जोड़ा गया था, ताकि व्यक्ति स्वेच्छा से न्याय, नीति और अहिंसा, दया, क्षमा, सेवा, सहयोग आदि धर्म के अंगों का स्वेच्छा से पालन करके अपना जीवन सुख-शान्ति और सन्तोष के साथ बिता सके। भारतीय समाजधर्म के सूत्रधार थे—आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव, जिन्होंने नीति, न्याय, धर्म तथा अध्यात्म की व्यासपीठ पर समाज, राष्ट्र और धर्मसंघ की स्थापना की। इस प्रकार के समाजधर्म की नींव आत्मवाद है, जो कर्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद को साथ लेकर चलता है। इसके विपरीत वर्तमान में विदेश से आयातित समाजवाद अर्थ और काम-पुरुषार्थ पर आधारित है, अर्थसमानता का, राज्यविहीन राज्य बनाने का, केवल मानव-समाज को क्षणिक राहत दिलाने का एवं सत्ता द्वारा समाज-परिवर्तन का उसका

दावा है, परन्तु आत्मवाद और कर्मवाद को तथा स्वैच्छिक तप, संयम, संवर-निर्जरारूप धर्म को न मानने के कारण वह सफल नहीं हुआ। कर्मवाद और आत्मवाद के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने धर्म-प्रधान समाज-व्यवस्था के लिए अर्थ और काम-पुरुषार्थ को नियंत्रित, मर्यादित करने वाले गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों तथा उन सब के अतिचारों (दोषों) से दूर रहने का विधान किया। साधुवर्ग के लिए अध्यात्म-प्रधान संघ (संघधर्म) की व्यवस्था के अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, पंचविध आचार तथा रत्नत्रय के सम्यक्-पालन का विधान किया। समाजवादमान्य आर्थिक समानता धर्म-प्रधान तथा स्वेच्छा से स्वीकृत हो तो भारतीय कर्मवाद-आत्मवादयुक्त समाज-व्यवस्था को कोई आपत्ति नहीं। नीति-धर्मयुक्त स्वैच्छिक समाजवाद होने पर राज्यविहीन राज्य-रचना तथा कर्मक्षय या कर्मनिरोध से परिस्थिति में परिवर्तन स्वतः हो जाएगा। इस प्रकार से कर्मवाद के साथ समाजवाद की कथंचित् संगति हो सकती है। कर्मवाद व्यवस्था-परिवर्तन को रोकता नहीं, आर्थिक व्यवस्था, चिकित्सा-सुविधा तथा जीवनयापन की अन्य सुविधाओं के पुरुषार्थ करने से यथेष्ट फल-प्राप्ति नोकर्म का कार्य है। यह कर्म से सीधा सम्बन्धित नहीं है।

कर्मफल के विविध आयाम

कर्म का कर्त्ता कौन, भोक्ता कौन ?

कर्मविज्ञान द्वारा इतना सब समाधान कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में किया जाने पर भी यह प्रश्न उठता है कि अजीव (जड़) कर्म-पुद्गल के साथ चैतन्यस्वरूप जीव (आत्मा) का कर्तृत्व-सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जैन-कर्मविज्ञान इसका समाधान निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से करता है। शुद्ध निश्चयदृष्टि से तो आत्मा (जीव) कर्म का कर्त्ता और फलभोक्ता नहीं, वह अपने अनन्त ज्ञानादि निजी गुणों का कर्त्ता और भोक्ता है। परन्तु जैनदर्शन को यह भी मान्य नहीं है कि कर्म ही कर्म का कर्त्ता-भोक्ता है, सचेतन आत्मा नहीं। इस प्रकार से सर्वथा कर्मों का अकर्त्ता होने से आत्मा कर्मबद्ध न होने से मोक्ष का पुरुषार्थ भी क्यों और कैसे करेगा? इसलिए व्यवहारदृष्टि से जैन-कर्मविज्ञान राग-द्वेषादि युक्त अशुद्ध जीव (आत्मा) कथंचित् द्रव्य-भावकर्मों का कर्त्ता और फलभोक्ता भी मानता है। वह नैयायिक आदि दर्शनों की तरह आत्मा को न तो एकान्तकर्त्ता मानता है, न ही सांख्यदर्शन की तरह सर्वथा अकर्त्ता मानता है, और किसी ईश्वर को जीव के द्वारा कर्म करने में तथा फल भुगवाने में प्रेरक मानता है। वस्तुतः आत्मा के द्वारा परभावों में शुभ-अशुभ परिणामों (राग-द्वेषादि वैभाविक भावों) का परिणमन होने से वह राग-द्वेषादि या मिथ्यात्व आदि पंचविध भावकर्मों का कर्त्ता माना जाता है, तथा कर्मबन्ध में निमित्त होने के कारण औपचारिक (व्यावहारिक) दृष्टि से ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता माना जाता है। तथापि जैसे स्वर्णकार आभूषण आदि का निर्माणकर्त्ता होने पर भी स्वयं आभूषणरूप नहीं हो जाता, वैसे ही आत्मा कर्म का (बन्ध) कर्त्ता होते हुए भी कर्मरूप नहीं हो जाता है। जो कर्म करता है, वही उसके सुख-दुःखरूप फल को भोगता है, दूसरा नहीं। जैन-कर्मविज्ञान ने ईश्वर-कर्तृत्ववाद का निराकरण करके आत्म-कर्तृत्ववाद की स्थापना की है।

कर्मों का फलदाता

जैन-कर्मविज्ञान ने कर्मों का फलदाता भी ईश्वर आदि किसी अन्य शक्ति को न मानकर युक्ति, प्रमाण एवं अनुभवसहित यह सिद्ध किया है कि कर्मों का फलदाता स्वयं जड़ (अचेतन) होते हुए भी कर्म स्वयं ही है। ईश्वर कर्मफलदाता मानने से अनेक दोषापत्तियाँ खड़ी होती हैं, सर्वकर्ममुक्त ईश्वर भी संसारी जीव की तरह कर्मयुक्त बन जाता है। संसार में क्वचित् धर्मात्मा सुखी और पापात्मा दुःखी दिखाई देते हैं, इसका कारण भी पापानुबन्धी पुण्य तथा पुण्यानुबन्धी पाप को बताकर समाधान किया है। अतः जीव जैसे कर्म करने में स्वतंत्र है, वैसे फल भोगने में भी स्वतंत्र है। जीव स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही फल पाता है। उसका कृतकर्म ही फलदाता है।

कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?

कर्म-पुद्गल, जड़, अजीव, चेतनारहित एवं ज्ञानशून्य हैं, वे अपना फल कैसे दे सकते हैं ? इस प्रश्न का जैन-कर्मविज्ञान ने विविध प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर समाधान देते हुए कहा–कर्म ज्ञानशून्य अवश्य हैं, शक्तिशून्य नहीं। आहार ग्रहण करने के बाद उसकी समस्त पाचनादि प्रक्रिया की तरह, अथवा शरीर में जहाँ कोई रोग है, वहाँ उसकी दवा स्वतः पहुँचकर रोग को नष्ट करने की तरह जड़ कर्मपुद्गल चेतन के द्वारा कृतकर्म से आकृष्ट और श्लिष्ट होने के पश्चात् स्वयं फलदान का कार्य करते हैं। मद्य और दूध की तरह ज्ञानशून्य होने पर भी शरीर पर पृथक्-पृथक् प्रभाव डालते हैं, वैसे ही विविध शुभ-अशुभ, तीव्र, मध्यम मन्दरूप से बद्ध कर्म भी अपना प्रभाव आत्मा (जीव) पर डालता है। ज्ञानशून्य मिर्च जीव से सम्पर्क होने पर मुँह जला देती है, चीनी मीठा कर देती है; वैसे ही विविध कर्म-परमाणुओं का चेतन के साथ सम्पर्क होने पर एक विशिष्ट कर्मफल-प्रदान शक्ति प्रगट होती है। वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत रेडियो, टी. वी., टेलीप्रिंटर, बैरोमीटर, थर्मामीटर, कम्प्युटर आदि हजारों पदार्थों में जड़-परमाणुओं की विलक्षण-शक्ति का चमत्कार देखा जाता है, वैसे ही कर्म-परमाणुओं में जीव में कृत कर्मानुसार फल देने की शक्ति है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है। परन्तु इन जड़-पदार्थों या कर्म-परमाणुओं की शक्ति का प्रकटीकरण आत्म-चेतना का सम्पर्क होने पर ही होता है। अतः कर्म अपने आप ही जीव को अपने परिणामों द्वारा बद्ध कर्म का फल यथासमय दे देता है। उसके लिए अन्य नियामक की आवश्यकता नहीं है। कर्म में कर्मफलदात्री शक्ति का आधार है–कार्मणशरीर। इसलिए आत्मा के योगत्रय तथा राग-द्वेषादि कषायिक भावों के निमित्त से जब कर्मवर्गणा के परमाणु-पुद्गल कर्मरूप में परिणत होकर आत्मा से सम्बद्ध होते हैं, तब प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग और स्थिति के रूप में चार प्रकार की बन्ध-शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, फिर उन बद्ध कर्म-परमाणुओं में फल देने की शक्ति निर्मित होती है, वही शक्ति कालपरिपाक होने पर (उदय में आकर) आत्मा को सुख-दुःख के रूप में उन कर्मों का फल स्वतः दे देती है। फल देने (भुगवाने) के पश्चात् वह शक्तिविहीन कर्म स्वतः आत्मा से पृथक् हो जाता है।

कर्मफल : वैयक्तिक या सामूहिक ?

जैन-कर्मविज्ञान की यह मान्यता है–एक व्यक्ति के शुभ या अशुभ कर्म का फल कभी-कभी उस व्यक्ति के साथ-साथ समग्र परिवार, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, संस्था या राष्ट्र को भी भोगना पड़ता है। समवायांगसूत्र में २५ क्रियाओं में एक सामुदानिक (सामुदायिक) क्रिया बताई है, जिसका अर्थ है–समूहरूप में पापबन्धक अशुभ या पुण्यबन्धक शुभ क्रिया करना। किसी घटना, व्यक्ति या परिस्थिति को देखकर कई व्यक्ति व्यक्तिगत या समूहगत राग-द्वेष-कषायाविष्ट होकर प्रतिक्रिया करते हैं। वे बद्ध कर्म व्यक्तिगत या समूहगत होने से उनका फल भी व्यक्ति या समूह को भोगना पड़ता है। एक साथ कर्मबन्ध बाँधने वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से भी कर्मफल भोगते हैं। यह तथ्य कतिपय उदाहरण द्वारा समझाया गया है। निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शन में कारण दो प्रकार के बताए गये हैं–उपादानकारण और निमित्तकारण। उपादान की दृष्टि से कर्मकर्ता व्यक्ति स्वयं उपादान होता है, वह स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही उसका फल भोगता है; किन्तु निमित्तकारण वैयक्तिक नहीं होता है, वह सामूहिक या सामाजिक होता है। अतः एक व्यक्ति के द्वारा किये गये इष्ट-अनिष्ट किसी कर्म के कारण आया हुआ सुख-दुःखरूप परिणाम सामूहिक होता है, किन्तु उक्त समूह में संवेदना सबकी व्यक्तिगत और पृथक्-पृथक् होती है। इसे ही व्यवहार की भाषा में कह सकते हैं–आचरण व्यक्तिनिष्ठ, व्यवहार समूहनिष्ठ; तथैव क्रिया वैयक्तिक एक, प्रतिक्रिया सामूहिक अनेक। वैयक्तिक कर्म में कर्मफल का संक्रमण नहीं, सामूहिक कर्मों में ही कर्मफल का संक्रमण होता है।

क्या कर्मफल-भोग में विनिमय या संविभाग है ?

जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने द्वारा पठित विद्या (ज्ञान) का लाभ दूसरे व्यक्ति को नहीं दे सकता, न ही बिना मेहनत किये एक को प्राप्त ज्ञान दूसरे को मिल सकता है, इसी प्रकार अपने द्वारा कृतकर्म का फल न तो व्यक्ति दूसरे को दे सकता है और न ही दूसरे के कर्म का फल स्वयं ले सकता है। स्वकृत कर्म के लिए व्यक्ति या समूह स्वयं ही जिम्मेवार है। वही व्यक्ति या समूह स्वयं ही स्वकृत शुभाशुभ कर्म का फल

भोगता है, उसके बदले ईश्वर या अन्य कोई शक्ति या व्यक्ति किसी दूसरे को पुण्य या पाप का फल न तो दे-ले सकता है, न ही दूसरे के कर्मफल को दूसरा भोग सकता है, और न उसमें भाग बँटा सकता है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, आचारांग आदि शास्त्रों के प्रमाण द्वारा यह सिद्ध होता है कि जो व्यक्ति जैसा भी अच्छा या बुरा कर्म करता है, वही उस कर्म का फल भोगता है। यदि कर्म और उसके फल का विनिमय हो सकता, तब तो रोगी, दुःखी, पीड़ित आदि के रोग, दुःख या पीड़ा को उसके स्व-जन अवश्य बाँट लेते और उसे सुखी कर देते, पर ऐसा संभव नहीं। अज्ञानी मानव इस तथ्य को न समझकर तथाकथित अपनों के लिए विभिन्न कर्म करता है, परन्तु उस कर्म का फल भोगने वे हिस्सेदार नहीं होते। यह बात जरूर है कि कर्मफल मिलना एक बात है, मगर कर्मफल का वेदन (संवेदन) पृथक्-पृथक् होता है। अनाथी मुनि का जीवन-वृत्त इस सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

कर्मफल : यहाँ या वहाँ ? अभी या बाद में ?

जैन-कर्मविज्ञान से तथा वैदिक स्मृतियों से, महाभारत आदि पुराणों से, जैनशास्त्रों से एवं विविध महापुरुषों के वचनों एवं सर्वसाधारण व्यक्तियों के अनुभव से यह तो स्वतः सिद्ध हो जाता है, जो जैसा कर्म करता है, उसे उस कर्म का फल देर-सबेर से मिले बिना नहीं रहता। परन्तु जैनदर्शन इस विषय में थोड़ा-सा संशोधन प्रस्तुत करता है—यदि शुभ या अशुभ कर्म निकाचित रूप से न बँधा हो तो उसके उदय में आने से पूर्व जब तक वह कर्म सत्ता में पड़ा रहता है, तब तक कर्मकर्ता के अध्यवसायों से तथा तदनुसार आचरण से उद्वर्तना और अपवर्तना के रूप में उक्त बद्ध शुभ कर्म का अशुभ में और अशुभ कर्म का शुभ में परिवर्तन भी हो सकता है, तथा अपने सजातीय कर्म के रूप में (कुछ अपवादों के सिवाय) संक्रमण भी हो सकता है, उस कर्म की प्रकृति और स्थिति में भी न्यूनाधिकता या तीव्रता-मन्दता हो सकती है। इसके सिवाय भी उन अनिकाचित रूप से बद्ध कर्मों के उदय में आने से पूर्व ही उदीरणा करके भी फल भोगा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कतिपय सुचीर्ण या दुश्चीर्ण इहलोक में बद्ध कर्मों का फल इहलोक में भी भोगा जाता है, कई इहलोक में बद्ध कर्मों का फल परलोक में भोगा जाता है, कतिपय परलोक में बद्ध शुभाशुभ कर्मों का फल इहलोक में भोगा जाता है और कई परलोक में बद्ध शुभाशुभ कर्मों का फल परलोक में भी भोगा जाता है। इसी तथ्य को कतिपय आधुनिक तथा ऐतिहासिक और शास्त्रीय घटनाओं से भी सिद्ध करके बताया है। निष्कर्ष यह है कि चाहे देव हों, मनुष्य हों, नारक हों या तिर्यञ्च; सबको सदैव ज्ञानावरणीयादि शुभाशुभ कर्मों का विपाक (फल) इस लोक में या परलोक में (उसी भव में या अगले भव या भवों में), एक बार या सैकड़ों बार, उसी रूप में या अन्य रूप में वेदन करते (भोगते) हैं, संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव आगे-से-आगे सुकृत और दुष्कृत कर्म का बन्ध और वेदन करते रहते हैं। वैसे देखा जाए तो कर्म का मुख्य (अनन्तर) फल तो कर्मास्रव एवं कर्मबन्ध के रूप में तत्काल मिलता है, किन्तु परम्परागत फल यानी कर्मफल का वेदन (भोगना) इस जन्म या अगले जन्म या जन्मों में मिलता है। कर्म, कर्मफल और कर्मफलभोग, इन तीनों का अन्तर समझ लेना जरूरी है, इससे एकान्त तत्काल-फलवादियों या कर्मफल-निषेधकों के मत का निराकरण हो जाता है।

कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल

जैसे एक विशाल वृक्ष की अनेक शाखा-उपशाखाएँ तथा असंख्य पत्र-पुष्प होते हैं तथा उसके फल भी अगणित होते हैं। कर्मविज्ञान के अनुसार—जीव के तीव्र-मन्दादि कषायों और विविध योगों (मन-वचन-कायाजनित प्रवृत्तियों) से विविध स्पन्दन, कम्पन, हलचल, क्रिया, प्रतिक्रिया आदि की अपेक्षा से कर्म-महावृक्ष की अगणित शाखाएँ हो जाती हैं। फिर उनकी मुख्य ८ मूलप्रकृतियों तथा १४८ या १५८ उत्तरप्रकृतियों की दृष्टि से अनेक प्रकार हो जाते हैं। तदनन्तर उनके एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव और पंचेन्द्रिय में भी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन कुल ५६३ प्रकार के जीवों की अपेक्षा से तथा उनके भी चतुर्दश गुणस्थानों की अपेक्षा से और फिर उनके भी गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय, ज्ञान-अज्ञान, भव्य-अभव्य, संज्ञी-असंज्ञी, आहार, संयम, दर्शन, लेश्या आदि १४ मार्गणाद्वारों की अपेक्षा से कर्म के हजारों प्रकार हो जाते हैं। तत्पश्चात् उन हजारों कर्म-प्रकारों के भी प्रत्येक जीव की प्रतिसमय की बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति और निकाचना, इन दस अवस्थाओं

के तीव्र, मन्द अध्यवसायों (भावों = परिणामों) की दृष्टि से कर्म-पर्यायों की गणना करने लगे तो एक-एक कर्म की उत्तरप्रकृतियों के असंख्य पर्याय हो जाते हैं।

कर्मविज्ञान-पुरस्कर्ता अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय-निधान वीतराग आप्त परम आत्माओं ने कर्म के उन असंख्य पर्यायों के फलों का दिग्दर्शन जैनागमों में यत्र-तत्र किया है। उन-उन कर्म-पर्यायों के फलों का निर्देशन करने के साथ ही प्रत्येक कर्म की मूलप्रकृति के अनुसार फल-विपाकों की तथा उनके विशिष्ट अनुभावों की चर्चा भी आगमों में की है।

कर्म-महावृक्ष के इस सामान्य फलों की चर्चा करने के बाद भगवान महावीर और गणधर गौतम स्वामी के विभिन्न पाप-पुण्यकर्मों के विशिष्ट फलों की गौतमपृच्छा के रूप में प्रसिद्ध चर्चा भी कर्मविज्ञान ने की है। जिज्ञासु और मुमुक्षु व्यक्ति यदि उन कर्मफल सूत्रों पर चिन्तन-मनन (विपाक-विचय) करें तो अनुमान है कि उनके अन्तःकरण में कर्मों के आस्रव और बन्ध के प्रति विरक्ति, विरति, जागृति हो सकती है।

विभिन्न कर्मफल : विशेष नियमों से बँधे हुए

जैसे वनस्पति जगत् में पेड़-पौधों और बेलों की पृथक्-पृथक् जाति एवं प्रकृति (द्रव्य) तथा विभिन्न क्षेत्र (भूमि या प्रदेश) और काल (विभिन्न ऋतुओं) के अनुसार एवं बीजारोपण या वृक्षारोपणकर्ता के भाव, कौशल, संरक्षण-संवर्धन के विवेक के नियमों के अनुसार परिपाक (परिपक्व) होने पर उनमें विचित्र-विचित्र प्रकार के फल लगते हैं या फसल होती है; इसी प्रकार कर्मफलों की विविधता एवं विचित्रता भी कर्ता के क्रोधादि या राग-द्वेषादि तीव्र-मन्दभावों, विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों, विभिन्न प्रकार के काल या बन्ध स्थिति (कालावधि) तथा विभिन्न प्रकार के कर्मों की मूल-उत्तरप्रकृति के नियमों के अनुसार होती है। जैन-कर्मविज्ञान ने जैनदर्शन, आगम, मनोविज्ञान, अध्यात्मविज्ञान, योगदर्शन आदि समस्त अध्यात्म विद्याओं के परिप्रेक्ष्य में गहराई से चिन्तन-मनन करके कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि के नियमों के अनुसार विभिन्न प्रकार के कर्मों के पृथक्-पृथक् विचित्र फलों (कर्मविपाकों) का निर्देश किया है।

अन्य धर्म और दर्शन जहाँ ईश्वर के हाथों में कर्मफल सौंपकर निश्चिंत हो जाते हैं, वहाँ जैनदर्शन ने नियम के हाथों में कर्मफल-व्यवस्था सौंपी है। कर्मफल-विषयक ये सब नियम अकाट्य, स्वयंकृत, प्राकृतिक और सार्वभौम हैं। अतः कर्मफल के नियमन में बाहर से कृत, आरोपित व्यवस्था या किसी नियंता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कर्मफल-विषयक इन नियमों की छानबीन करने वाले के मन में फल को समभाव से भोगने का बल, आश्वासन एवं सन्तोष मिलता है।

जैनदर्शन ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार दृष्टियों के आधार पर नियमों का अन्वेषण किया है। कर्मविज्ञान-विशेषज्ञों ने बन्ध आदि दशविध कारणों के आधार पर कतिपय नियमसूत्रों का निर्माण किया।

द्रव्यदृष्टि से शुभ-अशुभ कर्मफल वही भोगता है, जिसने उक्त कर्मबन्ध किया है, क्योंकि कर्मबन्ध करने वाला ही उक्त कर्म का फल भोगने तथा उसका क्षय, क्षयोपशम, उपशम या संवर करने का अधिकारी है। द्रव्यदृष्टि से कर्मफल का एक फलितार्थ यह भी है कि एक कर्म का फल दूसरा कर्म नहीं दे सकता। एक नियम यह भी है कि सजातीय कर्मप्रकृति का (कुछेक अपवादों के सिवाय) सजातीय उत्तरकर्मप्रकृति में ही संक्रमण, रूपान्तरण, मार्गान्तरीकरण या उदात्तीकरण हो सकता है। 'प्रज्ञापनासूत्र' में प्रत्येक कर्म के फल (विपाक) का विचार करते समय विपाक-योग्य होने के सोलह उपनियम बताये गए हैं–

(१) बद्ध, (२) स्पृष्ट, (३) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट, (४) संचित, (५) चित, (६) उपचित, (७) आपाक-प्राप्त, (८) विपाक-प्राप्त, (९) फल-प्राप्त, (१०) उदय-प्राप्त, (११-१२-१३) (कर्म-बन्धन-बद्ध) जीव के द्वारा कृत, निष्पादित और परिणत, तथा (१४-१५-१६) स्वयं उदीर्ण, पर के द्वारा उदीरित, या स्व-पर दोनों द्वारा उदीयमाण। इसके अतिरिक्त कर्मों के उदय (उदीर्ण) होने के पाँच आलम्बन इसी शास्त्र में बताए हैं–(१) गति को प्राप्त करके, (२) स्थिति को प्राप्त करके, (३) भेद को प्राप्त करके, (४) पुद्गल को प्राप्त करके, एवं (५) पुद्गल-परिणामों को प्राप्त करके।

इस प्रकार प्रत्येक कर्म के विपाक (अनुभाव) के नियमों का ज्ञाता भी विपाक को जान-समझकर उसे परिवर्तित या निरुद्ध कर सकता है। इस तथ्य को कतिपय शास्त्रीय उदाहरण देकर समझाया गया है।

पुण्य-पापकर्म का फल : एक अनुचिन्तन

योगवाशिष्ठ, वाल्मीकि रामायण, सूत्रकृतांग आदि आगम, योगदर्शन, छान्दोग्य उपनिषद, उत्तराध्ययन, धवला, महापुराण, महाभारत, आगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों में एकमत से कहा गया है–इहलोक और परलोक में पुण्य का फल सुख-प्राप्ति और पाप का फल दुःख-प्राप्ति है। पापकर्म इस लोक में भी भयंकर दुःखद है और परलोक में भी, जबकि पुण्यकर्मशाली व्यक्ति जो भी, जैसी भी साधन-सामग्री, सम्पदा या समृद्धि, अथवा शरीर, परिवार आदि मिलता है, उसी में सुख, शान्ति और सन्तोष मानता है। उसका चित्त प्रसन्न रहता है। दरिद्रता, विपन्नता, रोग, दुःख, बन्धन और विपत्तियाँ, ये सब आत्मापराधरूपी वृक्ष के फल हैं। पापकर्म के फलस्वरूप मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, कई जन्मों तक उसे सद्बोधि लाभ नहीं मिलता। कई बार तो जन्म-जन्मान्तर तक वैर-विरोध चलता रहता है। 'आचारांगसूत्र' में बताया गया है कि मोहमूढ़ लोग पापकर्मबन्ध करके उनका दुष्फल भोगने के लिए वैसे ही दुःखी कुलों में जन्म लेकर कोढ़, राजयक्ष्मा (टी. बी.) आदि जैसे भयंकर सोलह दुःसाध्य रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं। पुण्यकर्म भी स्वार्थ, लोभ, कामभोग-सुख वांछा, कृतपापों को छिपाने, प्रशंसा-प्रतिष्ठा पाने आदि कामना-वासना से प्रेरित हों तो उक्त पुण्यों का फल सात्त्विक नहीं होता, व्यक्ति सम्यग्दृष्टि न हो तो पूर्वोपार्जित पुण्यों से प्राप्त साधनों से शोषण, उत्पीड़न, संहार, विनाश, भ्रष्टाचार, कुव्यसन-सेवन, पापाचार आदि करके अपने लिए नरक का निर्माण भी कर सकता है। ये और ऐसी ही अनिष्ट कामनाएँ होने से पूर्वोपार्जित या इहलोक उपार्जित पुण्य-लाभ के साथ-साथ इस जीवन में आचारित पापकर्म बन्द करके अपना जीवन नैतिकता, धार्मिकता, सदाचार-सम्पन्नता से युक्त नहीं बनायेगा, तब तक वह उक्त पुण्य का यथार्थ फल प्राप्त न करके अपने पुण्य को पापानुबन्धी बना सकता है।

पुण्यकर्म और पापकर्म के बन्ध का लक्षण

वस्तुतः भगवतीसूत्र आदि आगमों में सुखफलदायक पुण्यकर्म का लक्षण है–दान, भक्ति-अर्चा, मन्दकषाय, साधुवर्ग की सेवा (वैयावृत्य), दया, परोपकार कर्मठता, अनुकम्पा, अलोभवृत्ति, परगुण-प्रशंसा, सत्संगति, अतिथि-सेवा, सत्कार्यों में सहयोग आदि शुभ कार्यों का करना तथा तदनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति होना। इसके विपरीत दुःखफलदायक पापकर्म का लक्षण है–सप्त कुव्यसनों में अहर्निश रति, हिंसादि अठारह पापस्थानों में तीव्र अनुरक्ति, दुर्जन-संगति, परदोष (परछिद्र) दर्शन, कषाय की तीव्रता, लोभाधिकता, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना, परनिन्दा–चुगली करना, सद्गुणियों के प्रति आदरभाव न होना आदि।

पुण्य-पापकर्म के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ और उनका समाधान

परन्तु पुण्य और पाप के सम्बन्ध में जैन-जैनेतर समाज में काफी भ्रान्तियाँ पनप रही हैं। पापकर्म-परायण व्यक्ति भी यदि धनाढ्य है तो उसे पुण्यकर्म का फल और धर्म-परायण या शुद्ध पुण्य-परायण व्यक्ति यदि निर्धन है तो उसे पापकर्म का फल मान लेते हैं। इसी भ्रान्ति के कारण धर्म और पुण्य से अर्थ और काम की प्राप्ति का नारा लगाने से आम समाज में कामनामय पुण्योपार्जन मुख्य और धर्म-पुरुषार्थ गौण बन गया। यह भी भ्रान्ति है कि धर्म एवं पुण्य से सुख के साधन मिलते हैं। अतः धन और साधनों की प्रचुरता से व्यक्ति को सुखी और धनाभाव, साधना की अल्पता आदि के धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक व्यक्तियों को दुःखी मान लेना भी सरासर भ्रान्ति है। यदि धन, साधन आदि की प्रचुरता का पुण्य या धर्म के साथ सम्बन्ध होता तो धर्म-धुरन्धर, साधुवर्ग, तीर्थंकर, अनगार, ऋषि-मुनि-त्यागी आदि चल-अचल सम्पत्ति, घर-बार, सम्पत्ति या जमीन-जायदाद आदि का क्यों त्याग करते और क्यों दूसरों को अथवा श्रावकवर्ग को त्याग, तप, संयम या मर्यादा का उपदेश देते? वस्तुतः धन या भोगोपभोग के साधन स्वयं न तो सुखकर हैं, न ही दुःखकर; मनुष्य स्वयं उसके साथ प्रियता-अप्रियता की छाप लगाकर उनके साथ सुख-दुःख की कल्पना को जोड़ लेता है। सिद्धान्तानुसार परिग्रह-संज्ञा या परिग्रह-मूर्च्छा मोहकर्मरूप पाप के उदय से होती है। अतः भोगादि के साधन अधिक होने से तथा इष्ट संयोग प्राप्त होने से पुण्य का और इनके विपरीत होने से पाप का फल मानना ठीक नहीं। वस्तुतः ये पुण्य-पापजन्य नहीं, स्वकीय-कषायजन्य है, व्यक्ति के वेदन पर ही पुण्य-पाप या सातावेदनीय-असातावेदनीय का दारोमदार है। परिग्रहादि की न्यूनता या अधिकता पाप-पुण्य का

कारण नहीं, वह आध्यात्मिक दृष्टि से तीव्र-मन्द कषाय पर या सुख-दुःख के संवेदन पर निर्भर है। जगत् में दो प्रकार की व्यवस्था है–एक है शाश्वतिक और दूसरी है–प्रयत्नसाध्य। देवलोक, नरक और भोगभूमि में शाश्वतिक व्यवस्था होती है, जबकि कर्मभूमिक मनुष्यलोक में प्रयत्नसाध्य व्यवस्था है। इसी कारण कर्मभूमि के आदिकाल से लेकर अब तक मानव-जाति के विविध प्रयत्नों से भौतिक विकास हुआ। अतएव बाह्य साधन तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव आदि अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त मिलने पर भी सुख-दुःख का संवेदन मनुष्य के अपने अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन पर निर्भर है। पुण्य-पापकर्म का फल केवल परलोक में ही नहीं, इहलोक में भी मिलता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि और व्रती साधक को पुण्य-पाप के फल मिलने पर हर्षित या शोकग्रस्त, अथवा अहंकारी या दीनहीन नहीं बनना चाहिए। उसे दोनों ही परिस्थितियों में समभाव रखकर कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

कर्मविज्ञान ने आगमों तथा अरिहन्तों व सिद्धों के जीवन-वृत्तों के आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि पुण्यकर्म का फल केवल भौतिक लाभ ही नहीं, आत्मिक लाभ भी है। पुण्योदय से उत्तम साधन मिलने पर रत्नत्रयरूप धर्म, क्षमादि दशविध उत्तम धर्म, अध्यात्म एवं कर्मास्रवों के निरोध एवं कर्मक्षय की साधना में गति-प्रगति हो सकती है।

पुण्य और पाप का फल भी केवल परलोक में ही मिलता है, इस लोक में नहीं, ऐसी गलत धारणा का भी निराकरण कर्मविज्ञान ने किया है और इस एकान्तिक धारणा का भी निराकरण किया है कि पापकर्मी सभी सुखी होते हैं, पुण्यकर्मी दुःखी; अपितु पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों के कारण ही प्राणी सुखी या दुःखी होते हैं, हुए हैं और होंगे।

पुण्य और पाप का फल पाने पर भी विजयी कौन, पराजित कौन ?

पुण्य-पापकर्म-विज्ञाता कुशल खिलाड़ी पूर्वकृत पापकर्मवश बुरे संयोग, अनिष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव और परिस्थिति के रूप में दुष्कर्मफल मिलने पर भी अपने सत्पुरुषार्थ, सद्व्यवसाय, सत्कर्म-कौशल एवं विवेक से उसे पुण्यकर्म में परिवर्तित एवं संक्रमित कर लेता है; अथवा रत्नत्रयरूप धर्म एवं सम्यक्तप में पुरुषार्थ करके उन कर्मों का क्षय करके आराधक बनकर या तो उच्च देवलोक को प्राप्त कर लेता है या सिद्ध-बुद्ध-सर्वकर्ममुक्त परमात्मा बनकर बाजी जीत जाता है।

इसके विपरीत पुण्यकर्म के रहस्य से अनभिज्ञ अकुशल खिलाड़ी पूर्वकृत पुण्यवश अच्छे संयोग तथा शुभ द्रव्य-क्षेत्रादि मिलने पर भी विषयासक्त, कषायोन्मत एवं अहंकारग्रस्त होकर संवर-निर्जरारूप धर्म, दशविध श्रमणधर्म, पुण्य या उनके फल को अर्जित करने का अवसर खोकर बाजी हार जाता है, पापकर्मों में फँसकर अन्त तक बाजी हारता ही हारता जाता है। पुण्य और पाप के शुभ और अशुभ फल की दृष्टि से स्थानांगसूत्र-प्रस्थापित एक चौभंगी देकर भी इस तथ्य को सिद्ध किया गया है विविधशास्त्रीय उदाहरणों के सहित। चौभंगी और उसका फलितार्थ इस प्रकार है–

प्रथम भंग है–शुभ और शुभ। अर्थात्–कोई पुण्यकर्म शुभ प्रकृतियुक्त होता है और शुभानुबन्ध भी, इसे कर्मविज्ञान की भाषा में पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा गया है। जो पुण्यकर्म वर्तमान में भी उत्तम फल देता है और भविष्य में शुभानुबन्धी होने से पुण्यफलस्वरूप सुख देने वाला होता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार यह वर्तमान और भविष्य की पुण्य-सम्पन्न दशा जीव को शुभ से शुभतर की ओर ले जाती है, तथैव ऐसी उभय पुण्य-सम्पन्नता सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त एवं निदानरहित शुद्ध धर्म का आचरण करने से प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में भरत चक्रवर्ती आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

दूसरा भंग है–शुभ और अशुभ पापानुबन्धी पुण्य। अर्थात्–कोई पुण्यकर्म शुभ प्रकृतिदाता होता है, किन्तु होता है अशुभानुबन्धी। पुण्यकर्म का वर्तमान में तो सुखरूप फल मिलता है, किन्तु पापानुबन्धी होने से भविष्य में दुःखरूप फल देने वाला हो, वह पापानुबन्धी पुण्य है। जो व्यक्ति पूर्वकृत पुण्य का सुखरूप फल प्राप्त करके भी वर्तमान में पापकर्मरत रहकर भविष्य के लिए दुःख के बीज बोते रहते हैं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। हिटलर, मुसोलिनी, नादिरशाह, औरंगजेब आदि भी इस पापानुबन्धी पुण्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसे व्यक्ति पुण्य-पाप के खेल में हार जाते हैं।

तृतीय भंग है–अशुभ और शुभ। अर्थात्–कोई कर्म अशुभ प्रकृति वाला होता है, किन्तु होता है शुभानुबन्धी। जिस व्यक्ति को पूर्वजन्मकृत पाप के कारण यानी जो पूर्वजन्म में पुण्य-पाप के खेल में बाजी हार गया था, किन्तु वर्तमान में जो कुशल खिलाड़ी बनकर पापमयी परिस्थिति में रहकर भी पुण्योपार्जन करके अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लेता है, वह पुण्यानुबन्धी पाप का अधिकारी है। इसके उदाहरण के रूप में हम हरिकेशबल मुनि, गोपालपुत्र संगम, चण्डकौशिक सर्प, प्रदेशी राजा आदि को प्रस्तुत कर सकते हैं।

चतुर्थ भंग है–अशुभ और अशुभ। अर्थात्–कोई पूर्व-पापकर्मवश अशुभ प्रकृति वाला होता है और वर्तमान में भी अशुभानुबन्धी होता है। इसे कहते हैं–पापानुबन्धी पाप। जो जीव पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप वर्तमान में भी दुःख पाते हैं और भविष्य के लिए भी पापकर्म का संचय करके दुःख के बीज बोते रहते हैं। ऐसे जीव पूर्वजन्म में भी पुण्य-पाप के खेल में बाजी हार गए थे और वर्तमान में भी बाजी हारते जा रहे हैं।

इस भंग के उदाहरण के रूप में हम कालसौकारिक कसाई, धीवर, मच्छीमार, वेश्या आदि को प्रस्तुत कर सकते हैं। महाभारत, मार्कण्डेयपुराण आदि में भी इसी प्रकार की चौभंगी पाई जाती है। सारांश यह है कि पुण्य और पाप की क्रिया भावों पर आधारित है। भावों का परिवर्तन एक ही जन्म में हो सकता है और पूर्वकृत पुण्य या पाप के फलस्वरूप सुखद या दुःखद परिस्थिति पाने पर भी वर्तमान जन्म में परिवर्तन हो सकता है। भावों का परिवर्तन होते ही पुण्यबन्ध का फल पापफल के रूप में और पापबन्ध का फल पुण्यफल के रूप में परिवर्तित हो सकता है। जैसे किसी ने तीव्रभाव से पापमय कृत्यों के कारण अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध किया, किन्तु बाद में उसके भावों में परिवर्तन हुआ। वह अपने कृत पापकर्मों की आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि करके आत्म-शुद्धि कर लेता है, तो उसे पापकर्म का फल मिलने के बदले पुण्यकर्म का फल मिलता है। इसके विपरीत किसी ने शुभ भावों से पुण्यकर्म किया, उससे पुण्यबन्ध हुआ, किन्तु उस कर्म के उदय में आने से पहले ही उसकी भावना पाप या अधर्म की (अशुभ) हो गई तो उसे पुण्यकर्म के फल के बदले पापकर्म का अशुभ फल मिलता है। इन दोनों विकल्पों के लिए क्रमशः पुण्डरीक और कण्डरीक का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

पुण्य और पाप के फल : धर्मशास्त्रों के आलोक में

इस लोक या परलोक में किये गए पुण्य और पाप का फल इसी लोक में या कभी-कभी अगले जन्म या जन्मों में देर-सवेर से मिलता ही है, इस सत्य-तथ्य की प्रामाणिकता और सच्चाई को उजागर करने हेतु कर्मविज्ञान ने कतिपय शास्त्रीय फल प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

'दशवैकालिकसूत्र' में चतुर्विध चौर्यकर्म का फल मूकता और बोधिदुर्लभता के रूप में, सुविनीतता और अविनीतता का फल क्रमशः सुखानुभूति और दुःखानुभूति के रूप में तथा पुण्य-पापकर्मों से युक्त मानवों को सुफल-दुष्फल-प्राप्ति के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। इसी प्रकार 'उत्तराध्ययनसूत्र' में विविध शुद्ध शीलों के पालनरूप पुण्यकर्म के फल, पापकर्मों से धनोपार्जन का दुष्फल, अकाममरण से मृत लोगों के लक्षण और उसका फल, सकाममरण से मृत पुण्यशाली लोगों के पुण्य का सुफल, कामभोगों से अनिवृत्ति और निवृत्ति का फल, अधर्मिष्ठ और धर्मिष्ठ द्वारा आचरित अधर्म और धर्म का फल, शरीरासक्त एवं पापासक्त व्यक्ति दुःखद नरक, पापमयी परस्पर विरोधी दृष्टियों का दुष्फल, असुरों और रौद्र तिर्यंचों में उत्पत्ति : कामभोगों में आसक्ति का फल, नरक-प्राप्ति : निदान से प्राप्त भोगों में आसक्ति का दुष्परिणाम; पापकर्मियों को नरक और आर्यधर्मियों को दिव्यगति, अशुभ कर्मों का परिणाम : चोर को मृत्युदण्ड, पशुवध-प्रेरक वेद और यज्ञ पापकर्मों से रक्षा करने में असमर्थ; वन्दना, स्तुति, प्रवचन-प्रभावना, वैयावृत्य आदि का सुफल बताया गया है। 'आचारांगसूत्र' में भी पापकर्म के प्रबल कारणभूत प्रमाद का तथा स्त्रियों में कामासक्ति का दुष्फल, गुरुकर्मा व्यक्तियों की करुणदशा का निरूपण, स्वयंकृत दुःखद पापकर्मों का कटुफल, शरीरसुख तथा रोगोपचार के लिये नाना प्राणियों के वध का कुफल, दूसरों को जिस रूप में पीड़ित करता है, वह उसी रूप में पीड़ा भोगता है, दूसरों को पीड़ित करने वाला उसी रूप में पीड़ा पाता है; आधाकर्मी आहार-सेवन का दुष्फल का वर्णन है। इसी प्रकार 'भगवतीसूत्र' में बताया गया है कि

समाधिकारक सुख प्रदान करने वाला व्यक्ति उसी प्रकार की समाधि प्राप्त करता है; अज्ञानी जीव स्वकर्मानुसार विविध गतियों-योनियों में भटकते हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में गुरु साधर्मिक शुश्रूषा से उपार्जित पुण्य का, तथा दोषों की आलोचनारूप पुण्य का फल तथा पंचेन्द्रियों एवं मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष के प्रतिफल का तथा कामासक्ति के इहलौकिक-पारलौकिक दुष्फल तथा कान्दर्पी आदि पापभावनाओं से अर्जित पापकर्म का फल भी वर्णित है। इसी प्रकार 'सूत्रकृतांगसूत्र' में पौण्डरिक का रूपक देकर चार प्रकार के पुरुषों को उसे प्राप्त होने वाले कुफल का, धर्म-अधर्म-मिश्रपक्षीय स्थान वालों का अपने-अपने कर्मों के अनुसार इहलौकिक-पारलौकिक फल, तथा पृथ्वीकायिक से लेकर वैमानिक देवों तक के आहार, उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदि कर्मानुसार होते हैं एवं पशु-वध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने से होने वाले पापकर्म का फल बताया है। आर्द्रककुमार द्वारा बौद्धभिक्षु निरूपित आपसी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इस प्रकार पुण्य-पापकर्म के फल के सन्दर्भ में आए हुए विविध शास्त्रपाठ प्रस्तुत करके कर्मविज्ञान ने सिद्ध किया है कि पुण्य या पाप का फल देर-सवेर से अवश्य मिलता है।

कर्मों के विपाक : यहाँ भी और आगे भी

शास्त्रीय प्रमाणों के बावजूद भी पुण्यकर्म और पापकर्मों के फल किन-किन को किस-किस रूप में मिले, इतना ही नहीं, अनेक जन्मों तक जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने के बाद पुण्य और पाप दोनों कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-परमात्मा भी बन सकता है या नहीं? इसका समाधान करने हेतु कर्मविज्ञान ने विपाकसूत्र में उल्लिखित दुःखरूप विपाक और सुखरूप विपाक के क्रमशः पापकर्म और पुण्यकर्म के सुखदायक और दुःखदायक फलों की प्राप्ति का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है।

दुःखविपाक विपाकसूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध है। इसमें पापकर्मा व्यक्तियों के नाम से दस अध्ययन हैं। सभी अध्ययनों में व्यक्तियों द्वारा पूर्वभव में आचरित पापकर्मों के बन्ध और संचय का तथा आगामी जन्मों में उनके द्वारा उत्तरोत्तर कृत पापकर्मों के कटु और त्रासदायक फलों की प्राप्ति का रोमांचक वर्णन है।

इन कथानकों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पापकर्मों का दुःखद फल देर-सवेर से मिलता ही है।

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक का संक्षिप्त परिचय

इसका प्रथम अध्ययन है-सुबाहुकुमार, जिसने पूर्वभव में हस्तिनापुर में सुमुख गाथापति के रूप में जन्म लेकर सुदत्त नामक अनगार को विविध-त्रिकरण शुद्धपूर्वक आहारदान दिया और उसके फलस्वरूप अदीनशत्रु राजा के पुत्र सुबाहुकुमार ने जन्म लिया। सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर का उपदेश सुनकर श्रावकव्रत ग्रहण किये। यहाँ से वह अनेक बार देवभव में उत्पन्न होकर मनुष्य-जन्म लेगा। अन्त में भगवान महावीर के पास दीक्षित होगा। आराधनापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके अनेक बार देवलोक तथा मनुष्यभव में उत्पन्न होगा। वहाँ से मरकर अन्त में महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। यहाँ सर्वविरति संयम अंगीकार और आराधन करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

शेष नौ अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं-(२) भद्रनन्दी, (३) सुजातकुमार, (४) सुवासवकुमार, (५) जिनदास, (६) धनपतिकुमार, (७) महाबल, (८) भद्रनन्दी, (९) महच्चन्द्र, और (१०) वरदत्त। इनका सब वर्णन पुण्यशाली सुबाहुकुमार की तरह है। केवल स्व-नाम, माता, पिता, नगरी आदि के नाम में अन्तर है। तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है।

पुण्य-पाप के निमित्त से आत्मा का उत्थान-पतन

निश्चयनय की दृष्टि से परमात्म-स्वरूप शुद्ध आत्मा जब तक शुभ या अशुभ कर्मों से घिरा रहता है, तब तक उसका परमात्मरूप विकृत, आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त रहता है। ऐसी स्थिति में यदि वह पुण्यकर्मों से मुक्त रहेगा तो उसका सुखद फल, सुगति, सुयोनि, सद्धर्म-प्राप्ति, मनुष्यभव, धर्मश्रमण, सद्गुरु-सत्संग आदि आत्मोत्थान के संयोग मिलने संभव हैं। साथ ही यदि वह पुण्यशाली व्यक्ति यदि सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके साधना करता है तो उसके द्वारा गृहीत व्रत, नियम, तप, त्याग, संयम, परीषह-सहन, उपसर्ग-समभाव, क्षमा, दया आदि संवर और निर्जरा के कारणभूत गुण आध्यात्मिक

उत्क्रान्ति के कारण बनते हैं। उक्त आराधक साधक का पुण्य इतना है कि एक देवभव को प्राप्त करके फिर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध, सर्वकर्मों तथा जन्म-मरणादि सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जब आत्मा पापकर्मों से लिप्त रहता है, तब उसे दुर्गति, दुर्योनि, दुर्बुद्धि, नरक-तिर्यंचगति, नरक-तिर्यंचभव में विविध दुःखों से परिपूर्ण जिन्दगी, अबोधि, अज्ञान, धर्मान्धता, जात्यन्धता, कदाग्रह-दुराग्रह, अतिस्वार्थ, क्रोधादि कषायों-नोकषायों की तीव्रता, विषयभोगों में अत्यासक्ति आदि संयोग और परिणाम तथा कुसंग आदि दुःखद फलरूप संयोग मिलने संभव हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के कारण वह पद-पद पर संवर के बदले आस्रव और सकामनिर्जरा के बदले बन्ध का उपार्जन करता रहता है। वह मिथ्यात्वी होकर भी तप, त्याग, संयम, नियम, अहिंसादि व्रतों का आचरण कर ले, परीषह-उपसर्ग सहन कर ले, और उससे कदाचित् देवलोक भी प्राप्त करके, किन्तु विराधक होने से आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाता, फलतः जन्म-मरणादि तथा कर्मों के चक्कर में ही पड़ा रहता है, सर्वकर्मों से मुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता।

इसके लिए जैन-कर्मविज्ञान ने पिछले निबन्ध में पाप और पुण्य की प्रबलता के कारण दुःखद और सुखद फल की मुँह बोलती शास्त्रीय कथाएँ प्रस्तुत की हैं।

निरयावलिकादि पाँच शास्त्रों में पतन-उत्थान की कथाएँ

इस निबन्ध में निरयावलिकासूत्र में काल-सुकाल आदि दस श्रेणिकपुत्रों का वर्णन है, जिन्हें धर्मात्मा माता-पिता का संयोग मिलने पर भी न तो पुण्योपार्जन की सुबोधि, रुचि, श्रद्धा और दृष्टि प्राप्त हुई, न ही साधु-श्रावकधर्म की आराधना को अपनाया। अतः मिथ्यात्वादि प्रेरित होकर श्रेणिक द्वारा अन्यायपूर्वक महाशिलाकण्टक नामक संग्राम में सहयोगी बनकर निर्दोष नर-संहार किया। स्वयं भी इस संग्राम में काल-कवलित होकर नरक के मेहमान बने।

कल्पावतंसिका में पद्म, सुपद्म नामक दस अध्ययन में वर्णित कथानायकों ने पुण्यप्रकर्ष के उपार्जन से सौधर्मादि देवलोकों की प्राप्ति की। पुष्पिकासूत्र में भी चन्द्र, सूर्य आदि नाम के दस अध्ययन हैं। इन्होंने असंयम का परित्याग करके संयमभावना पुष्पित = विकसित की। फलतः इन सभी ने पुण्योपार्जन के फलस्वरूप मनुष्यलोक से देवलोकरूप सुखद फल की प्राप्ति की। पुष्पचूलिकासूत्र में भी श्रीदेवी, ह्रीदेवी आदि दस देवियों का दस अध्ययनों में वर्णन है; जिन्होंने मनुष्यभव में पुष्पचूला आर्या के पास दीक्षित होकर किसी न किसी रूप में संयम के उत्तरगुणों की विराधिका हुईं। किन्तु मूलगुणों की सुरक्षा के कारण ये सभी सुधर्म देवलोक में विभिन्न नाम की देवियाँ बनीं।

वृष्णिदशासूत्र में अन्धकवृष्णि कुलोत्पन्न निषध आदि दस साधकों का वर्णन है, जिन्होंने सर्वविरतिरूप सम्यक्चारित्र का पालन किया और अन्तिम समय में संलेखना-संथारा करके आत्म-शुद्धिपूर्वक सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से ये सभी महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में जन्म लेकर संयमाराधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

इन सब में पाप से आत्मा के पतन और पुण्य से उत्थान की रोचक मर्मस्पर्शी कथाएँ हैं।

अनुत्तरौपपातिकसूत्र वर्णित कथाओं से आत्मा के सर्वोच्च विकास की प्रेरणा

इसके पश्चात् अनुत्तरौपपातिकसूत्र में तीन वर्ग के क्रमशः १०, १३ और १०; यों कुल ३३ अध्ययनों में उन पुण्यशालियों का वर्णन है, जो विविध भोगों में पले हुए थे। पाँचों इन्द्रियों को पर्याप्त विषय-सुखसामग्री उनके पास थी, फिर भी वे भोगों के कीचड़ में नहीं फँसे। उन्होंने कर्मक्षय करने हेतु श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की साधना की, किन्तु सरागसंयम होने से संचित प्रचुर पुण्यराशि के फलस्वरूप वे आयुष्य पूर्ण करके अनुत्तरविमानवासी देवों में उत्पन्न हुए। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर वे महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के प्रचुर पुण्यराशि के फलस्वरूप आत्मा के सर्वोच्च विकास = शुद्ध आत्म-स्वरूप में अवस्थान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ●●

कर्मविज्ञान : भाग ३ का सारांश

कर्मों का आस्रव और संवर

कर्मों का आस्रव : स्वरूप और भेद

कर्मविज्ञान द्वारा कर्म के अस्तित्व, वस्तुत्व, मूल्यांकन एवं कर्मफल के विविध आयामों के वर्णन के बाद सहसा जिज्ञासा होती है कि कर्मों का आस्रव क्या है? वह किन-किन कारणों से होता है? उसे रोकने का उपाय क्या है? किन-किन माध्यमों से आस्रवों का निरोधरूप संवर कैसे-कैसे किया जा सकता है? इन सब का समाधान कर्मविज्ञान के तीसरे भाग के खण्ड ६ में किया है।

वैसे देखा जाए तो कर्म-प्रायोग्य पुद्गल-परमाणु सारे आकाश-प्रदेश में ठसाठस भरे हैं, जीव के आसपास फैले हुए हैं, वे घूमते रहते हैं। प्रवेश उसी जीव में, वहीं करते हैं, जहाँ उनके साथी पहले से बैठे हों, या जहाँ राग-द्वेष या कषाय की स्निग्धता हो, अथवा जहाँ मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय या योग आदि पाँचों आस्रवद्वारों (प्रवेशद्वारों) में से कोई द्वार खुला हो। इसीलिए आस्रव का सामान्यतया अर्थ किया गया है, जिससे कर्म आएँ, कर्मों का आगमन हो, वह आस्रव है।

जैसे समुद्र चारों ओर से खुला रहता है, उसके कोई बाँध या तट नहीं बना होता। इसलिए जल-परिपूर्ण नदियाँ चारों ओर से आकर उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार संसारी आत्मारूपी समुद्र के चारों ओर से कर्मरूपी जल आने के छोर (द्वार) खुले हों तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि स्रोतों (नालों) से कर्मों का आगमन (आस्रव) निश्चित है। भले ही कोई संसारी जीव चाहे या न चाहे, परन्तु अगर वह कर्मों के आगमन (प्रवेश) के उक्त पाँच द्वारों में से कोई द्वार खुले रखेगा तो कर्म अवश्य ही प्रविष्ट हो जाएँगे। इसीलिए भगवान महावीर ने समस्त संसारी जीवों को सावधान करते हुए कहा है–तीनों लोकों में, सभी दिशाओं में कर्मों के स्रोत (आगमनद्वार) हैं, राग-द्वेषादि या आसक्ति-घृणा आदि रूप भावकर्मों को देखो, ये भँवरजालरूप हैं। इन्हें सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करके आगमज्ञ साधक इन (पंचविध) भावकर्मास्रवों से विरत हो जाए।

कर्मास्रवों के स्रोतों को बंद करने के कतिपय उपाय

इन कर्मास्रवों के स्रोतों को बन्द करना ही अकर्मा बनने का उपाय है। इन स्रोतों का बन्द करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है–प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या घटना के समय मन-वचन-काया में राग-द्वेषात्मक या आसक्ति-घृणात्मक प्रतिक्रिया न होने दी जाए, उस समय ज्ञाता-द्रष्टा रहा जाए। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में कहा है–प्रत्येक चर्या करते समय यतना (सावधानी, जागृति, विवेक, अप्रमाद) रखी जाए। प्रत्येक कर्म करते समय कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव भी न लाया जाए। कदाचित् इतनी उच्च भूमिका पर न रहा जाए तो कम-से-कम अशुभ योग से निवृत्त होकर मात्र शुभ योग में, वह भी प्रशस्त शुभ योग में रहा जाए तो भी व्यवहारदृष्टि से शुभ योग-संवर का लाभ होगा। आत्म-बाह्य पर-पदार्थों का, इन्द्रियविषयों का उपभोग करते हुए भी मन में प्रियता-अप्रियता, आसक्ति-घृणा या राग-द्वेष का भाव न लाया जाए। अगर व्यक्ति अवांछनीय अशुभ कर्मों, निन्द्य या निरर्थक प्रवृत्तियों, व्यर्थ की विकथाओं, समताभाव विघातक मन के दस दोषों से अपना मुख मोड़ ले, मन में विषय-वासनाओं, मोहक सुख-साधनों एवं अन्यान्य पर-पदार्थों की ललक न उठाए, प्राप्त होने या प्राप्ति का चांस होने पर भी उनसे मुख मोड़ ले, उनकी ओर पीठ कर ले, उन पर प्रियता-अप्रियता की छाप न लगाए तो कर्मों के आस्रव को रोका जा सकता है। अपने व्यक्तित्व को डिलमिल बनाकर दृढ़तापूर्वक अशुभ कार्यों का अस्वीकार और आवश्यक शुभ कार्यों के साथ तालमेल बिठाया जाए तो अशुभ कर्मों या बन्धक कर्मों को वापस लौटाया जा सकता है।

आस्रव के दो रूप : ईर्यापथिक और साम्परायिक

राग-द्वेषरहित केवलज्ञानी वीतराग या तीर्थंकर भी शरीरधारी होने के नाते अपनी आवश्यक क्रियाएँ करते हैं, करते क्या हैं, वे क्रियाएँ सहजभाव से होती रहती हैं, वे केवल तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहते हैं। इसी प्रकार वीतरागता-प्रेमी मुमुक्षुसाधक भी यत्नाचारपूर्वक समस्त दैनिक आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है, उनमें कथंचित् प्रशस्त रागभाव होते हुए भी वे प्रवृत्तियाँ पापकर्मबन्धक नहीं होतीं, व्यवहारदृष्टि से शुभ योग-संवर साधक होती हैं। तीसरा सामान्य व्यक्ति है, जो मन-तन-वचन से मनचाही प्रवृत्तियाँ करता है। इन तीनों में से प्रथम वीतराग केवली या तीर्थंकर के केवल सातावेदनीयरूप शुभ कर्म का आस्रव है, किन्तु वह भी कषाय न होने से प्रथम समय में केवल स्पर्श होता है, दूसरे समय में झड़ जाता है। कर्मों के इस प्रकार के आगमन को ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं। शेष दो कोटि के व्यक्ति साम्परायिक आस्रव की कोटि में आते हैं। किन्तु इनमें से साधक कोटि के व्यक्ति में कषाय या राग-द्वेष होते हुए भी मन्द है, मन्दतर हो सकता है। उसके साम्परायिक आस्रव आने पर भी शुभ कर्मों का आगमन होता है, जबकि जो व्यक्ति कषाय और राग-द्वेष में आकण्ठ डूबा हुआ है, आत्म-स्वरूप का कुछ भी भान नहीं है, अवांछनीय कर्मों को वापस लौटाने या अस्वीकृत करने जितना वियोग का आत्मबल भी नहीं है, उसके साम्परायिक आस्रव होते हुए भी अशुभ कर्मों का आगमन स्वाभाविक है। यों साम्परायिक आस्रव के दो भेद हुए-शुभास्रव और अशुभास्रव।

आस्रव के दो विभाग : भावास्रव और द्रव्यास्रव

उपर्युक्त दोनों प्रकार के आस्रव भावास्रव की दो शाखाएँ हैं। इस अपेक्षा से आस्रव के दो विभाग हैं-भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा की रागादि या कषायादि विकारयुक्त मनोदशा या आत्मा के राग-द्वेषादि परिणामवश पुद्गल द्रव्यकर्म बनकर आत्मा में आता है, उस परिणाम को भावास्रव कहते हैं। उक्त परिणामानुसार कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आगमन की प्रक्रिया का उक्त परिणाम के निमित्त से उक्त प्रकार की कर्मपुद्गल वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करती हैं, वह कर्मों का आगमन द्रव्यास्रव है।

ईर्यापथिक और साम्परायिक आस्रव के ४२ आधार

ईर्यापथिक आस्रव का आधार मन-वचन-काया का योग है। इसलिए ईर्यापथिक आस्रव के तीन भेद हैं-मनयोग, वचनयोग और काययोग। साम्परायिक आस्रव के ३९ आधार हैं-हिंसादि ५ अव्रत, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय (विषय) और कायिकी, आधिकरणिकी आदि २५ (ईर्यापथिक क्रिया को छोड़कर २४ ही) यों कुल ३९ भेद हुए, यों आस्रव के कुल ४२ भेद नवतत्त्व में बताए गए हैं, इनका निरोध करने से ४२ प्रकार के संवर होते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में अर्थक्रिया आदि १३ क्रियाओं का वर्णन है, वे भी आस्रव की कारण हैं। इन सब के प्रकार और स्वरूप का विस्तार से यहाँ वर्णन किया गया है।

आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक : कौन और क्यों ?

वस्तुतः आस्रव एक ऐसी आग है, जो आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन के प्रवाह को झुलसा डालती है, असीम आनन्द की अनुभूति को विकृत कर डालती है। अनन्त शक्ति के स्रोतों को विमूढ़ और स्थापित कर देती है। प्रश्न होता है-आत्मा के गुणों, शक्तियों और विशेषताओं को क्षति पहुँचाने वाले इस आस्रव अग्नि के उत्पादक और उत्तेजक कौन-कौन हैं ? इसका समाधान इस निबन्ध में विशेष रूप से दिया गया है कि मूल आग है-राग-द्वेषरूप भावास्रव (आस्रव हेतु)। इस आस्रवाग्नि का प्रथम उत्पादक व सहायक है-मिथ्यात्व, द्वितीय है-अविरति या अव्रत, तृतीय है-प्रमाद, चतुर्थ सर्वाधिक प्रबल उत्पादक व सहायक है-कषाय और योग (मन-वचन-काय प्रवृत्तिरूप)। इन चारों आस्रवाग्नियों के उत्पादकों को प्रज्वलित रखने और उत्तेजित करने वाला वायु है। आस्रवाग्नि के उत्पादकों और उत्तेजकों के प्रत्येक के स्वरूप, अंग और प्रकार का तथा ये उत्पादक और उत्तेजक क्यों हैं ? इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है।

कर्मों के आस्रव के मुख्य द्वार

इसके पश्चात् स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा में कर्मों के आकर्षण, आगमन, प्रवेश या संश्लेषणरूप पूर्वोक्त आस्रव के मुख्य द्वार कितने हैं ? तथा ये मुख्य द्वार क्यों हैं ? इनके उपद्वार भी हैं या

नहीं? हैं तो कितने हैं? इनका एक दूसरे द्वार से क्या सम्बन्ध है? इन पाँचों द्वारों के कितने-कितने प्रकार हैं? इन शंकाओं का युक्तिसंगत समाधान करने हेतु प्रस्तुत निबन्ध में चर्चा की गई है।

आत्मारूपी भवन का मालिक सांसारिक जीव भी संसार की क्षणिक सुखदायिनी वायु के स्पर्श तथा सांसारिक वासनाओं की हवाएँ लेने के लिए भवन के मिथ्यात्वादि पाँचों द्वार खोलकर बैठे तो कषाय, प्रमाद, मिथ्यात्व, अव्रत और योग की आँधियाँ आए बिना और आत्म-भवन दूषित, गंदा और तमसाच्छन्न हुए बिना कैसे रह सकता है? वैसे तो कर्मों के आकर्षण के लिए सर्वप्रमुख दो ही द्वार हैं–योग और कषाय। योग आस्रव चंचलता और चपलता का और कषाय आस्रव गंदगी, अन्धेरा और मलिनता का प्रतीक है। त्रिविध योगों की चंचलता का प्रेरक है–अविरति आस्रव। मन, वचन और काया की चंचलता के पीछे प्रेरणा अविरति की ही होती है। अविरति की प्रबलता-मंदता क्रमशः त्रियोग की बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी प्रवृत्ति पर निर्भर है। बाह्य-त्याग करने पर भी अन्तर में आकांक्षाओं की घटा से चंचलता कम नहीं होती। आकांक्षाएँ शान्त न होने के पीछे मूल कारण मिथ्यात्व है। अविरति और मिथ्यात्व आस्रव के रहते प्रमाद भी इनका सहयोगी बन जाता है। परन्तु योगों की चंचलता को बढ़ाने में कषाय सभी आस्रवों से प्रबल है, क्योंकि योगों की चपलता से कर्म-परमाणु आकृष्ट होते हैं और कषायों के कारण वे टिके रहते हैं। योगों में चंचलता पैदा होती है पूर्वोक्त चार भावास्रवों से, अतः उसे रोकने के लिए इन चारों आस्रवों से सावधान रहना और इनके प्रतिपक्षी को अपनाना आवश्यक है।

योग आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य

आस्रव के मिथ्यात्वादि पाँच कारणों में योग अन्तिम कारण है। फिर भी इसे प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि प्रथम क्षण में कर्म-स्कन्धों का आगमन (आस्रव) योग के माध्यम से ही होता है, बन्ध उत्तर क्षण में ही होता है। सिद्धान्त की दृष्टि से भी आस्रव में योग की और बन्ध में कषाय की प्रधानता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में योग को ही आस्रव कहा गया है। मिथ्यात्वादि अन्य कारणों को प्रधानता न देकर आस्रव में योग को प्रधानता इसलिए दी गई है कि मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों में से प्रारम्भ के चार कारण तो उत्तरोत्तर गुणस्थान क्रम से आरोहण करते समय छूट जाते हैं, कषाय दशम गुणस्थान तक रहता है, ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से पूर्व तक योग रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो संसारी जीव के साथ प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में भी कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के पूर्व क्षण तक योग रहता है। इस प्रकार योग आस्रव का दायरा अतिव्यापक होने से इसको प्रमुखता दी गई है। इसका एक कारण यह भी है कि कषायादि चारों कारण भावास्रव हैं, वे कर्मों का ग्रहण एवं आकर्षण करने में सीधे कारण नहीं हैं, ये चारों भावास्रव जब योगों के साथ मिलते हैं, यानी योग से मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति और कषाययुक्त होते हैं तब योग ही कर्म-पुद्गलों को आकर्षित-गृहीत करके लाता है और आत्मा से जोड़ता है। जलाशय में जल को प्रवाहित (आस्रवित) और प्रविष्ट करने में नाला ही मुख्य निमित्त होता है, वैसे ही आत्मा (आत्म-प्रदेशों) में कर्मजल के प्रवाह (आस्रव) को प्रवाहित और प्रविष्ट करने में योग ही प्रमुख निमित्त होने से योग को आस्रव कहा गया है। आत्मा को स्वभाव की स्थिति से हटाकर बाह्य पदार्थों (विभावों या परभावों) के साथ जोड़ने वाला यानी कर्म-पुद्गल परमाणुओं को बाहर से आकर्षित करके आत्मा के साथ जोड़ने वाला योग आस्रव है। मन-वचन-काया से होने वाली क्रियाओं से आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन, हलचल या चांचल्य होना योग है। इसके दो रूप हैं–द्रव्ययोग और भावयोग। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्यलब्धि यानी जीव के सर्वप्रदेशों में रहने वाली कर्मग्रहण करने में कारणभूत शक्ति भावयोग है, और उस सामर्थ्य वाले आत्मा का मन-वचन-काय के अवलम्बन से आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दन द्रव्ययोग है। वस्तुतः योग आस्रव का हेतु कर्मजनित चैतन्य-परिस्पन्दन या कम्पन है। इसलिए आत्मा की क्रिया का कर्म-परमाणुओं से संयोग को ही योग कहना चाहिए, अन्य संयोगों या गति को नहीं।

योग के शुभत्व या अशुभत्व का आधार भावों की शुभाशुभता है। यही कारण है कि त्रिविधयोग अपने आप में सुख-दुःख के कारण नहीं होते, जब ये त्रिविधयोग मिथ्यात्वादि चार आस्रवों के साथ मिलते हैं, उनसे चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है, तभी ये सुख-दुःख के हेतु बनते हैं। आलम्बन के भेद से योग के तीन

प्रकार हैं—मनोयोग और काययोग। आगे कर्मविज्ञान ने इन सबके लक्षण और प्रकार बताकर स्वरूप का विश्लेषण किया है। मनोयोग के चार, वचनयोग के चार एवं काययोग के सात प्रकार बताकर उनका विशद विवेचन किया गया है। वैसे अध्यवसाय स्थान असंख्यात और अनन्त तक होने से तीनों योग अनन्त प्रकार तक के हो सकते हैं। इसलिए मुमुक्षु जीव को कर्मों के आस्रव से बचने के लिए योगों के निरोध करने का अनवरत अप्रमत्त रहकर पुरुषार्थ करना चाहिए।

पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में

पूर्व निबन्ध में आस्रव के दो रूप बताये गये थे—शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। इसे जैनधर्म ने ही नहीं, सभी आस्तिक दर्शनों और धर्मों ने पुण्य और पाप के रूप में अभिहित किया है। परन्तु पुण्य और पाप के लक्षण फल और उसके उपायों, प्रकारों के विषय में जितना जैन-कर्मविज्ञान ने स्पष्ट किया है, उतना अन्य दर्शनों और धर्मों ने नहीं। संक्षेप में, शुभ परिणामों से युक्त त्रिविधयोग पुण्य है, अशुभ परिणामों से युक्त पाप। पुण्यास्रव पापास्रव के विविध कारणों का उल्लेख भी विविध आध्यात्मिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। वस्तुतः पुण्य-पाप वस्तु या क्रिया के आधार पर नहीं, कर्ता के शुभ या अशुभ परिणामों के आधार पर मुख्यतया होता है। जैनदर्शन पुण्य-पापकर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय निश्चयदृष्टि से तो कर्ता के आशय, परिणाम या भावों के आधार पर करता है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से कहीं कर्म के अच्छे-बुरे या मंगल-अमंगल के रूप में तथा कहीं राग की प्रशस्तता-अप्रशस्तता के आधार पर भी करता है। प्रशस्तराग के कारण परार्थ प्रवृत्ति या परोपकारवृत्ति का उदय होने से लोकमंगलकारी या समाजकल्याणकारी अन्नदानादि नवविध शुभ प्रवृत्तियों के रूप में कृतकारित और अनुमोदित रूप में पुण्य (शुभ) कर्म का उपार्जन किया जाता है। व्यक्ति को पुण्यास्रव का फल मुख्यरूप और पापास्रव का फल दुःखरूप मिलता है, फलतः पुण्य के फलस्वरूप उसका उत्थान के मार्ग पर और पाप के फलस्वरूप पतन के मार्ग पर चढ़ जाना सम्भव है। किन्तु एक बात निश्चित है कि हिंसा, असत्य आदि पापकर्मों से जुटाए हुए सुख-साधनों से तब तक पुण्यलाभ नहीं मिल सकता, जब तक व्यक्ति अपनी भूमिका में हिंसादि पापों को छोड़े नहीं। कई लोग धन-प्राप्ति, सुखोपभोग साधनों की प्रचुरता आदि को भ्रान्तिवश पुण्यफल तथा उसकी इतिश्री मानकर वास्तविक पुण्यकर्म से विरत हो जाते हैं, कई तो बेधड़क पापकर्म में रत हो जाते हैं। किन्तु पुण्य और पाप दोनों के स्वरूप, कार्य और फल में महान् अन्तर है। दोनों में से एक का चुनाव करना पड़े तो पुण्य का ही चुनाव करना चाहिए। फिर भी मुमुक्षु को यह ध्यान रखना है कि वह संसार-यात्रा में भले ही पुण्य का आश्रय ले, मोक्ष-यात्रा में दोनों का त्याग करने का पराक्रम करे।

पुण्य कब और कहाँ तक उपादेय या हेय ?

पुण्य की हेयता और उपादेयता का निरूपण करते हुए कर्मविज्ञान ने बताया कि इस संसाररूपी महारण्य में चार प्रकार के महायात्री हैं। पापमय-पुण्यमय आस्रवों के भयंकर वन में भयंकरता और रमणीयता दोनों ही प्रकार के दृश्यों और संयोगों का स्पर्श करता हुआ भी जो इनमें आसक्त, आकर्षित या लिप्त न होकर शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरूढ़ रहता है, ऐसे वीतराग परमात्मा पुण्य और पाप दोनों को हेय समझकर छोड़ देते हैं या स्वतः छूट जाते हैं।

दूसरे प्रकार का संसार महायात्री कषाय और राग-द्वेषादि का पूर्णतः त्याग करने में समर्थ नहीं है, वह भयंकर पापपूर्ण दृश्यों-संयोगों को तो सर्वथा हेय समझकर छोड़ देता है, किन्तु संसार महारण्य के पार करने में उसे सहायक (मानव-साधक) के लिए महामानव पूर्वोक्त प्रकार के रमणीयतापूर्ण पुण्यपथ के दृश्यों और संयोगों में भी वह लिप्त व आसक्त नहीं होता। वह पुण्यपथ को हेय समझता हुआ भी संसार-महारण्य को पार करने में सहायक मानकर कथंचित् उपादेय मानता है, किन्तु अंतिम मंजिल आ जाने पर उक्त पुण्यपथ को भी सदा के लिए छोड़ देता है। ऐसा महायात्री है—सविकल्प मन्दकषायी मुनि।

तीसरे प्रकार का महायात्री है—श्रावकधर्मी गृहस्थ। वह अशुभ योग को सर्वथा छोड़कर अपनी आत्मिक दुर्बलता, प्रमाद एवं मोहाधिक्य के कारण पुण्यपथ को हेय समझता हुआ भी छोड़ नहीं पाता। इसलिए इस तीसरे श्रावकव्रती यात्री के लिए व्रताचरणादि सविकल्प पुण्यपथ तथा पुण्य के दृश्य और कार्य शुद्धोपयोग को लक्ष्य में रखते हुए अभी उपादेय और सहायक तथा श्रेयस्कर भी हैं।

किन्तु चौथे प्रकार का संसार-महारण्य का महायात्री, जो अभी व्यवहारधर्म (नैतिकता) की भूमिका पर भी नहीं आ पाया है, जो अभी हिंसादि भयंकर पापाचरण में रत है, उसी पापपथ को श्रेष्ठ समझकर चल रहा है, जिसे पुण्यपथ का बोध तक नहीं है, उसे सर्वप्रथम सर्वथा हेय पापपथ को यथाशक्ति त्याग कराकर, पुण्यपथ के लाभ और अल्प कठिनाइयाँ बताकर पुण्यपथ पर लाना अत्यावश्यक है। अतः उसके लिए फिलहाल पुण्य उपादेय है। इसलिए पुण्य और पाप की हेयता और उपादेयता को अनेकान्तदृष्टि से समझकर चले तो व्यक्ति एक दिन संवर और निर्जरा के मार्ग को अपनाकर सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

आम्रवमार्ग संसारलक्ष्यी और संवरमार्ग मोक्षलक्ष्यी

मनुष्य के समक्ष प्रेय और श्रेय दोनों मार्ग खुले हैं, प्रेयमार्ग का प्रारम्भ प्रलोभन, स्वार्थ, लोभ, मोह एवं क्षणिक इन्द्रिय मनोविषय सुख-प्राप्ति की लिप्सा से होता है और अन्त होता है–पतन, विनाश और पश्चात्ताप में। यह अदूरदर्शिता और असावधानता का संसारलक्ष्यी आम्रवमार्ग है। दूसरा है श्रेयमार्ग–जिसमें व्यक्ति अपनी मन-वचन-काया की शक्तियों को उपर्युक्त सभी तात्कालिक भयों, प्रलोभनों, स्वार्थों एवं विषयसुखलिप्सा से बचाकर स्वकीय विवेक-बुद्धि एवं स्थिरप्रज्ञा से अन्तर्मुखी बना लेता है, फिर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति और आत्मा की अनन्त चतुष्टयात्मक उपलब्धि एवं मुक्ति की अक्षयनिधि प्राप्त करने में लगाता है। यह निःश्रेयस्कर श्रेयमार्ग सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षलक्ष्यी संवरमार्ग है। विविध युक्तियों और आगमिक उदाहरणों एवं अनुभूतियों से कर्मविज्ञान ने इसे विश्लेषण करके प्रतिपादित किया है। अन्त में प्रेरणा दी है कि लुभावने आम्रवमार्ग से बचकर मोक्ष प्रापक संवरमार्ग पर चलने का तथा संवरनिष्ठ बनने का प्रयत्न करो।

आम्रव की बाढ़ और संवर की बाँध

आत्मारूपी नदी में मन, वचन और काया के योगों के साथ मिथ्यात्वादि चार पर्वतीय निर्झर मिलकर कर्मजलों के आम्रव का प्रवाह तीव्र गति से प्रविष्ट होकर बाढ़ का रूप धारण कर लेते हैं। कर्मास्रवों की इस बाढ़ का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है–पंच स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों पर, फिर उत्तरोत्तर कम प्रभाव होता है पंचेन्द्रियों पर, उनमें भी मनुष्यों पर सबसे कम। इस बाढ़ के मिथ्यात्व, अविरति (अव्रत), प्रमाद, कषाय और योग पाँच स्रोत हैं। इन पाँचों आम्रवों की बाढ़ को रोकने के लिए आध्यात्मिक विकास क्रमानुसार क्रमशः सम्यक्त्वसंवर, विरतिसंवर, अप्रमादसंवर, अकषायसंवर और अयोगसंवर की बाँध बाँधने का पराक्रम करना अनिवार्य है। संक्षेप में, इन पाँचों द्रव्य-भावसंवरों को एक ही संवरतत्त्व में समाविष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं–जीव के राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि आन्तरिक वैभाविक परिणामों का निरोध करना भावसंवर है, और उसके निमित्त से योगद्वारों से आत्मा में प्रविष्ट होने वाले कर्म-पुद्गलों के परिणामों का निरोध करना द्रव्यसंवर है। कर्मविज्ञान ने निरूपण किया है कि संवर की दृढ़ साधना से नैतिक साहसपूर्वक आम्रवों को दृढ़तापूर्वक रोकने, आत्म-गुणों को आवृत और विकृत करने वाले आन्तरिक शत्रुओं को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करना है, उनसे जूझकर खदेड़ना है, तभी संवर की पक्की बाँध बन सकेगी। साथ ही आम्रवों की जो जड़ें हैं उन्हें भी काटनी होंगी।

कायसंवर का स्वरूप और मार्ग

कायसंवर के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने सर्वप्रथम काया के गलत और सही मूल्यांकन की समीक्षा की है। काया के सम्बन्ध में अतिभोगवादी, हीनताग्रस्त लोगों का गलत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए जैन-कर्मविज्ञान ने अनेकान्त दृष्टिकोण से उसकी नश्वरता, क्षणभंगुरता, घृणितता व साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि से काया से धर्मपालन, संवर-निर्जरा, तप, संयम, अहिंसादि व्रताचरण की साधना में उपयोगिता भी बताई है। शरीर तथा शरीर से सम्बद्ध मन, वचन, इन्द्रिय, अंगोपांग आदि से विवेकपूर्णक प्रवृत्ति-निवृत्ति, उपयोगिता-अनुपयोगिता का अनुप्रेक्षण-प्रेक्षण करते हुए कायसंवर की साधना करने का विधान किया है। शरीर के प्रति ममता, आसक्ति, मूर्च्छा आदि का निवारण करने हेतु अशुचित्व, अनित्यत्व, एकत्व, अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं तथा कायोत्सर्ग, कायगुप्ति, भेदविज्ञान, कायक्लेश, बाह्य तप आदि से शरीर को

भलीभाँति साधने का अभ्यास करना चाहिए, ताकि वह परीषहों, उपसर्गों को सहने तथा कायोत्सर्ग करने में सक्षम हो सके और आस्रवों का निरोध और पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा कर सके। कायसंवर साधक को भगवान महावीर आदि की भाँति साधना के समय काया को सर्वथा विस्मृत करके एकमात्र आत्मानन्द, आत्म-समाधि और आत्म-रमणता में लीन हो जाना चाहिए।

वचनसंवर की महावीथी

वचनसंवर के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने सर्वप्रथम वाणी के स्वरूप, माहात्म्य, प्रभाव और विविध क्षेत्रों में उसके प्रयोग को विभिन्न प्रमाणों और युक्तियों द्वारा उजागर किया है। तदनन्तर वाणी के समुचित प्रयोग से होने वाले लाभों और अनुचित या अत्यधिक तीव्र प्रयोग से होने वाली हानियों का जिक्र किया है। वाक्संवर करने के लिए वाणी के स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम प्रयोग का क्रमशः अभ्यास करना तथा जहाँ तक हो सके निरर्थक वाणी-प्रयोग में वचना, वाग्गुप्ति करना और मौनाभ्यास करना आवश्यक है। जब मन अत्यधिक सशक्त एवं एकाग्र हो जाता है, तब भाषा के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत प्रयोग से क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते साधक शुक्लध्यान के स्तर पर पहुँचकर वाक्संवर की परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है। संवर और निर्जरा का लाभ प्राप्त करना ही वाक्संवर का उद्देश्य है, जिसकी निष्पत्ति निर्विचारता, निर्विकल्पता, निर्वचनता तथा शब्दातीत अवस्था की प्राप्ति में होती है। साथ ही वाणी में भी स्थिरता और शान्ति उत्पन्न होती है।

इन्द्रियसंवर का राजमार्ग

अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य-सम्पन्न आत्मा मतिज्ञानावरणीय कर्मों से आवृत होने के कारण पाँचों इन्द्रियों और नोइन्द्रिय (मन) के माध्यम से पदार्थों का ज्ञान करता है। इसलिए इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व का बोध कराने में भी कारण हैं। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के रूप से इन पाँचों इन्द्रियों के दो-दो प्रकार हैं। द्रव्येन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्पर्क करके भावेन्द्रियों को और वे भावेन्द्रियाँ जीवात्मा की लब्धि (शक्ति) विशेष होने के कारण चेतना (आत्मा) को प्रभावित करती हैं। कर्मविज्ञान ने बताया है कि इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने से अनेक प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इन्द्रियसंवर या इन्द्रियनिग्रह करने के लिए इन्द्रियों का दुरुपयोग या अत्यधिक व मर्यादाविरुद्ध स्वच्छन्द उपयोग को रोकना अनिवार्य है। बल्कि जब इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण और सेवन करने के साथ-साथ राग या द्वेष, आसक्ति या घृणा या अनुकूल-प्रतिकूल विषयों के प्रति आकर्षण-विकर्षण अथवा सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, तब आध्यात्मिक विकास के बदले ह्रास और आत्म-शक्तियों का विनाश होता है, उसका निरोध (कर्मास्रव निरोध) करना ही इन्द्रियसंवर का राजमार्ग है। इन्द्रियों का अत्यावश्यक विषयों में प्रवृत्त होना बुरा नहीं है, और ऐसा करना शक्य भी नहीं है, बुरा है–विषयों में प्रवृत होने के साथ-साथ राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, प्रियता-अप्रियता का वेदन, अनुभव या भाव करना। उसी का निरोध, वशीकरण या निग्रह करने का अभ्यास करना इन्द्रियसंवर है। एक दृष्टि से देखा जाए तो कर्मास्रवों का मूल कारण इन्द्रियाँ नहीं, मन (भावमन) तथा आत्मा स्वयं ही है, किन्तु ज्ञानियों का कथन है–इन्द्रियाँ, दुर्बल और अजाग्रत (प्रमत्त) आत्मा को बलात् विषयों की ओर प्रवृत्त करके उनके प्रति आसक्ति या घृणा के चक्कर में फँसाती हैं। अतः इन्द्रियों को नष्ट या विकृत करने की अपेक्षा या उनके द्वारों को बन्द करने की अपेक्षा इन्द्रियों और मन के द्वार पर सावधान होकर पक्का पहरा देने का अभ्यास करने से तथा शुद्ध आत्मा (परम आत्मा) के स्वरूप का चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षण करने से इन्द्रियसंवर की साधना सध जाती है और सर्वप्रथम मन पर नियंत्रण करने से राग-द्वेष-मोहादि विकारों या कषायों-नोकषायों पर विजय प्राप्त हो सकती है। कषायविजय इन्द्रियविषयासक्ति पर विजय पाना आसान है। कर्मविज्ञान ने इन्द्रियों पर निरोध, निग्रह तथा मार्गान्तरीकरण–उदात्तीकरण के सभी उपायों का युक्ति, सूक्ति और अनुभूतिपूर्वक विश्लेषण करके इन्द्रियसंवर का प्रशस्त उपाय निर्दिष्ट किया है।

मनःसंवर का महत्त्व, लाभ, उद्देश्य तथा यथार्थस्वरूप और विविधरूप

सांसारिक प्राणियों की आवृत चेतना के प्रकटीकरण का सशक्त माध्यम मन है। इन्द्रियों के द्वारा वर्तमानग्राही ज्ञान होता है, जबकि मन की मानसिक चेतना में त्रैकालिक ज्ञान का सामर्थ्य है, यानी वह

वर्तमान को जानती है, भूतकालिक घटना का स्मरण करती है, भविष्य के विषय में तदनुरूप चिन्तन कर सकती है। यों तो द्रव्यमन अचेतन है, किन्तु आत्मा द्वारा मिली हुई चेतना जिसके माध्यम से प्रकट होती है, वह भावमन सचेतन है। अमनस्क प्राणियों में द्रव्यमन न होने पर भी भावमन तो है ही; मन का महत्त्व इसलिए है कि यह जैसे आस्रव और बन्ध का कारण है, वैसे संवर, निर्जरा और मोक्ष का भी कारण है। समस्त शुभ, अशुभ और शुद्ध भावों = परिणामों का मूलाधार या प्रवेश-द्वार मन है। मन की शक्तियाँ अगाध हैं, उनका अशुभ दिशा में उपयोग किया जाये तो नरक-तिर्यंच में और शुभ दिशाओं में किया जाये तो देवलोक या मनुष्यलोक में तथा आध्यात्मिक विकास की दिशा में उपयोग किया जाए तो वीतरागता की भूमिका पर पहुँचाकर वह मोक्ष के द्वार भी खोल सकता है। समस्त तीर्थंकरों, योगिजनों, महापुरुषों, मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों आदि ने मन की प्रचण्ड शक्ति का एक स्वर से स्वीकार किया है परन्तु उस प्रचण्ड मनःशक्ति का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोगकर्त्ता पर निर्भर है। जैन कर्म-सिद्धान्तानुसार मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट बन्ध काययोग से एक सागरोपम का, वचनयोग से २५ सागरोपम का हो सकता है, जबकि मनोयोग के मिलने पर उसका उत्कृष्ट बन्ध ७० कोटाकोटि सागरोपम काल तक पहुँच जाता है। तन्दुलमत्स्य जैसा पंचेन्द्रिय समनस्क प्राणी मन से हिंसा का विचार करने मात्र से मरकर सप्तम नरक का मेहमान बन जाता है। यह है बन्ध की दृष्टि से मन की अगाध शक्ति का परिचय। दूसरी ओर मोक्ष की दृष्टि से भी मन अपार शक्तिशाली है। सम्यग्दर्शन-विरति-अप्रमाद-अकषाय-अयोगसंवर तथा अहिंसादि पाँचों संवरों की साधना का सर्वप्रथम जन्म मन में होता है। अतः बन्ध और मोक्ष का आस्रव और संवर का सर्वप्रथम कारण मन ही है। मनोनिग्रहरहित तथा अनेकाग्रचित्त व्यक्ति जीवन में किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता।

मनोनिरोध, मनोनिग्रह, मनोवशीकरण, मनःसंयम, मनोगुप्ति, मनोविजय, मनोविलय, मनःशून्यता, मनोदमन, मनःसमाधारणता (एकाग्रता), मन को मारना, मनःस्थिरता आदि सब एक या दूसरे प्रकार से मनःसंवर के ही विविध रूप हैं। किन्तु मन को सर्वथा निष्क्रिय, निश्चेष्ट तथा मन में उठने वाले चिन्तन-मनन को दबा देना या सर्वथा रोक देना मनःसंवर नहीं है और न ही स्वयं निश्चेष्ट, निष्क्रिय, निढाल, निराश होकर बैठ जाना मनःसंवर है, तथा स्वयं शराब, गाँजा, भाँग, अफीम आदि नशीली या तामसिक चीजें सेवन करके मूढ़ बनकर मन को विषयों में रमण करने की खुली छूट दे देना भी संवर नहीं है।

मनरूपी अश्व को श्रुतज्ञानरूपी लगाम खींचकर रोकना मनोनिग्रह है, इसी प्रकार मनरूपी उन्मत्त हाथी को ज्ञानरूपी अंकुश से वश में करना मनोवशीकरण है। मन को विषयों से शून्य (रहित) कर देना मन का मर जाना है तथा अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का शुभोपयोग या शुद्धोपयोग में प्रवर्त्तन करना मनःसंयम है। मन के द्वारा विषयों का स्मरण, चिन्तन-मनन और विकल्प न करना मनःशून्यता है। मन को राग-द्वेषादि विकारों या मिथ्यात्वादि आस्रवों से हटाकर धर्म-शुक्लध्यान में संवर में एकाग्र करना मनःसंवर है। मन को रागादि उत्पन्न करने वाली मनोज्ञ तथा द्वेषादि उत्पन्न करने वाली अमनोज्ञवृत्तियों से हटाकर समभाव में स्थिर करना मनोनिरोध है। मनःसंवर की सिद्धि के लिए वीतरागता = समतारूप लक्ष्य के प्रति एकाग्र होकर जीवनभर वैराग्यपूर्वक अभ्यास करना अनिवार्य है। मृत्यु के भय से मुक्त साधक ही मनःसंवर को सिद्ध कर सकता है। इसके लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति, आत्म-विश्वास, धैर्य और प्रबल मनोबल आवश्यक है। समय-समय पर उठने वाली विषयसुखभोग की स्पृहा का उदासीकरण करना, विषयसुखों को आत्मिक-सुखों में लगाना, विषयसुखरति को परमात्मभावरति (भक्ति) में मोड़ देना, मन को पवित्र और निर्मल रखना तथा मनोनिग्रह में बाधक बातों—वाद-विवादों, निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि पापस्थानों में दूर रहना आवश्यक है। तथैव आशा, तृष्णा, कामना, वासना, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि से निर्लिप्त रहने का अभ्यास करना, प्रलोभनकारी आस्रवयुक्त विचारों को दृढ़तापूर्वक खदेड़ना, नामजप, बाह्याभ्यन्तर तप, सत्संग, स्वाध्याय तथा अवचेतन मन को बार-बार शुद्ध सुझाव (ऑटोसजेशन) देना आदि भी मनःसंवर में सहायक है। अन्तःकरण को हरदम तप और संयम से भावित रखना भी मनःसंवर के लिए उपयोगी है।

प्राणसंवर का स्वरूप, साधना और प्रयोग

किसी भगीरथ कार्य को सम्पन्न करने के लिए जब तक बाह्य पराक्रम के साथ आन्तरिक पराक्रम, भीतर का उत्साह, अन्तर में साहस का संचार, आत्म-विश्वासपूर्ण उमंग, इच्छा-शक्ति या संकल्प-शक्ति

आन्तरिक स्फुरणा का द्वार उत्पन्न नहीं हो तब तक मन, बुद्धि, चित्त, शरीर, इन्द्रियाँ आदि कितनी ही सक्षम और सुगठित क्यों न हों, उसमें सक्रियता एवं कार्यक्षमता पैदा नहीं होती। अन्न, जल एवं खाद्य पदार्थों को पेट में डाल देने मात्र से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐन्द्रियक एवं अवयविक शक्ति प्राप्त नहीं हो जाती, वे शक्ति-स्रोतों को धकेलने वाली, गर्मीभर उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु उनमें अपनी-अपनी क्रिया करने की क्षमता एवं शक्ति प्राप्त होती है–प्राण-शक्ति (तैजस्-शक्ति = ऊर्जा-शक्ति) से। प्राण-शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति साहस के प्रत्येक कार्य में विजयी एवं सफल होते हैं। प्रत्येक प्राणी के जीवन का मूलाधार प्राण-शक्ति है। शरीर में सभी इन्द्रियाँ आदि बाह्यकरण तथा मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण हों, किन्तु प्राण या प्राण-शक्ति (तैजस् = विद्युत्-शक्ति) न हो तो प्राणी मृत समझा जाता है। अथवा वह जीवित हो तो भी प्रत्येक कार्य में निराश, हताश, अक्षम, साहसहीन, निर्वीर्य, भयभीत, हीनभावनाग्रस्त, दुःख-दैन्य-पीड़ित रहता है, किसी भी सत्कार्य को करने में हिचकिचाता है। खतरा उठाने तथा आत्म-विश्वासपूर्वक कार्य करने की क्षमता नहीं होती।

यह प्राण एक होते हुए भी शरीर के विभिन्न कार्यकलापों के लिए उन्हें मुख्यतया ५ केन्द्रों में विभक्त किया गया है–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इन्हीं पाँच प्राण-केन्द्रों का उत्तरदायित्व सँभालने वाले पाँच उपकेन्द्र हैं–देवदत्त, वृकल, कुर्म, नाग और धनञ्जय। इन्हें उपप्राण कहते हैं। कर्मविज्ञान की दृष्टि से इन ५ + १५ = १० प्राणी–उपप्राणों द्वारा यतनाचारपूर्वक मन-वचन-काया से प्रवृत्ति की जाए तो प्राणसंवर की साधना हो सकती है। मानव-शरीर में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनः ये छह पर्याप्ति के रूप में पर्याप्त प्राण-ऊर्जा के केन्द्र हैं। ये सारे प्राण-शक्ति के स्रोत हैं। इसी प्रकार जैनागमों में दस प्रकार के विशिष्ट प्राणों का निरूपण है, जो श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण से लेकर श्वासोच्छ्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण तक हैं। ये दस बलप्राण शरीर के विभिन्न भागों को शक्ति देने में सहायक हैं। कर्मविज्ञान ने दशविध प्राण-शक्ति की विभिन्न कार्यक्षमता, सक्रियता और शक्तिमत्ता का विश्लेषण करके बताया है कि इनका क्षय, अपव्यय और अत्युपयोग रोकने पर ही प्राणसंवर की साधना हो सकती है।

दशविध बलप्राणों का संवर कैसे और कैसे नहीं ?

जो इन दसों बलप्राणों (प्राण-शक्तियों) का दुर्व्यसनों में तथा विविध विषयासक्ति में अपव्यय कर डालते हैं तथा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, अहिंसा, संयम, तप आदि संवर-निर्जरा और मोक्ष की साधना में सृजनात्मक पुरुषार्थ करने के बदले युद्ध, संघर्ष तथा हिंसात्मक कार्यों एवं मौसाहार, मद्यपान, शिकार, हत्या, दंगा, लूटपाट, व्यभिचार आदि ध्वंसात्मक कार्यों में पुरुषार्थ करते हैं, उनकी प्राण-ऊर्जा नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। इन दसों ही प्राणों की ऊर्जा-शक्ति कैसे प्रबल हो सकती है और कैसे निर्बल होती है? इसका संवर-साधना की दृष्टि से शरीरशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र, योगशास्त्र आदि के परिप्रेक्ष्य में सांगोपांग वर्णन कर्मविज्ञान ने किया है।

साथ ही अगले निबन्ध में यह बताया है कि भौतिक विद्युत् की अपेक्षा प्राणिज विद्युत् कितना प्रबल है? इसे वेदों, उपनिषदों, गीता, जैनागम आदि में ब्राह्मी-शक्ति, परमात्म-शक्ति, ब्रह्मतेज आदि के रूप में वर्णित किया गया है। प्राणसंवर से प्रसुप्त प्राणबल को जाग्रत करके अनन्त आत्म-शक्ति भी प्राप्त हो सकती है, जो अभी आवृत, सुषुप्त, विकृत एवं मूर्च्छित है। प्राणसंवर-साधना में अवरोधक सूत्र-मार्ग कल्पविरुद्ध अकरणीय-अनाचरणीय मन-वचन-काय-प्रवृत्तियों, दुर्भावनाओं, दुश्चेष्टाओं, दुर्वृत्तियों, दुश्चिन्तनों और दुर्ध्यानों आदि से जूझने की शक्ति भी इसी प्राणबल से मिलती है। फिर प्राणबल एवं श्वासोच्छ्वासबल प्राणसंवर का महत्त्व और उनसे ऊर्जा-शक्ति के संवर्धन का उपाय विविध उपनिषदों, पुराणों, आगमों आदि के प्रमाणों से कर्मविज्ञान ने प्रस्तुत किया है तथा आरोग्यविज्ञानक्षेत्रीय प्राणायाम की अपेक्षा अध्यात्मक्षेत्रीय प्राणायाम का महत्त्व अधिक बताकर उनसे संवर की उपलब्धियों का दिग्दर्शन भी कराया गया है।

अध्यात्मसंवर का स्वरूप, प्रयोजन और उसकी साधना

निश्चयदृष्टि से आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख (आनन्द) और अनन्त बलवीर्य (शक्ति) से सम्पन्न है, किन्तु वर्तमान में सांसारिक छद्मस्थ आत्माओं को ज्ञानादि आवृत, कुण्ठित, सुषुप्त या विकृत हैं। इनका कारण है–दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी मानव मोहनीय कर्मवश मिथ्या

ज्ञान, मिथ्यात्व एवं विषयसुखादि के एवं धनादि निर्जीव तथा कुटुम्बादि सजीव पर-पदार्थों और कषायादि विभावों के चक्कर में पड़कर आत्म-बाह्य कृत्यों में अपनी उक्त शक्तियों का अपव्यय करता रहता है। यही कारण है कि अनन्त ज्ञानादि शक्तियों का धनी तथा उन्हें उपलब्ध करने की योग्यता वाला होते हुए भी अपनी अध्यात्म सम्पदाओं को प्राप्त नहीं कर पाता। अतएव वह अध्यात्मसंवर के बदले आत्मा को आस्रवों और बन्धों से भारी-भरकम बनाकर ऊर्ध्वारोहण के बदले अधोगति की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक सम्पदाएँ अत्यधिक सुखशान्तिकारिणी एवं हितकारिणी होते हुए भी वह भौतिक सम्पदाओं को प्राप्त करने में अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। बल्कि भौतिक उपलब्धियाँ आकर्षक होते हुए भी उसके पीछे झंझट, उन्माद, तनाव, चिन्ता, कुण्ठा तथा अहंता-ममता आदि लगे रहते हैं, दुर्व्यसनों तथा विविध पापास्रवों में ही उनका अधिकतर उपयोग होता है, क्योंकि उनके पीछे प्रायः अध्यात्मसंवर का लक्ष्य नहीं होता। अध्यात्मसंवर के लक्ष्य से आत्म-गुणों की उपलब्धि पर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो अन्तःकरण से सन्तुष्ट, आनन्दित रहता है, स्वास्थ्य सुषमा भी अधिकाधिक बढ़ती है, भौतिक सम्पदा भी अनायास ही उपलब्ध हो जाती है, परिष्कृत विचार-वैभव, आनन्दी स्वभाव और सदाचरण के कारण अध्यात्मसंवर-साधक का व्यक्तित्व निखर जाता है।

अध्यात्मसंवर के लिए सर्वप्रथम आत्मा को बहिर्मुखी होने से बचाकर अन्तर्मुखी-आत्मलक्षी बनाना, आत्म-संप्रेक्षण करना और इस प्रकार आत्म-प्रज्ञा से-आत्मा, आत्मा के यथार्थ दर्शन करना, जानना आवश्यक है। आत्मनिष्ठालक्ष्यी ज्ञान ही सच्चा आत्म-ज्ञान है, वही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अध्यात्मसंवर संयम और तप से आत्मभावों को भावित करने पर होता है। इस विषय में कर्मविज्ञान ने मोह, राग-द्वेषादि परिणामों का निरोध करके एकमात्र ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने, 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि न रखने, सर्वत्र सभी अंगोपांगों में शुद्ध आत्मा के दर्शन करने, अर्थात् एकमात्र शुद्ध आत्मा को देखने से, आत्मा के साथ एकत्व की प्रतीति करने से, आत्मा की अमरता पर दृढ़ निष्ठा और विश्वास रखने से, एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होने से, शुद्ध आत्मा के प्रति निर्भयतापूर्वक समर्पित होने से, आत्मा में तल्लीन होने से, समाधिमरण की आराधना के समय एकमात्र आत्मा की सन्निधि में चले जाने से, अर्हत्संप्रेक्षण को आत्म-सम्प्रेक्षणरूप बना देने से यानी स्वभावरमणता से-प्रसिद्धि, सिद्धि-लब्धि, प्रशंसा आदि बाधक तत्त्वों से बचने से अध्यात्मसंवर सिद्ध हो सकता है।

अध्यात्मसंवर की सिद्धि : आत्म-शक्ति सुरक्षा और आत्म-युद्ध से

आत्म-शक्तियों के दुरुपयोग और अनुपयोग, दोनों से उनका ह्रास होता है। जब आत्मा अपने अनन्त शक्तिरूप गुण का उपयोग रत्नत्रय की, महाव्रत, समिति-गुप्ति, बाह्याभ्यन्तर तप आदि की साधना में तथा परीषह-उपसर्ग-विजय आदि में न लगाकर हिंसादि अष्टादश पापस्थानों में लगाता है, तब तथा अर्जित बहुमूल्य शक्ति का उपयोग एकान्ततः भौतिक-लौकिक कामनाओं तथा तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति तथा आचारांगसूत्र में प्रतिपादित अभिनन्दन, सम्मान, प्रशंसा, यशःकीर्ति, पूजा-प्रतिष्ठा, सन्मान आदि के जन्मोत्सव आदि निमित्त में या मृत्यु-सम्बन्धी प्रसंगों पर बन्धन विमोचन के लिये या रोग-आतंक आदि दुःखों के प्रतीकार के लिए शक्तियों का अपव्यय करता है। अथवा वह आत्मिक-शक्ति की आराधना को छोड़कर कायबल, मित्रबल, ज्ञातिबल, प्रेत्यबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, कृपणबल, श्रमणबल आदि बढ़ाने में करता है, तब आत्म-शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतः आत्म-शक्तियों का दुरुपयोग रोककर उन संचित आत्म-शक्तियों को अध्यात्मसंवर की साधना में लगाए तो निःसंदेह आत्म-सुरक्षा हो सकती है। आत्म-शक्ति की सुरक्षा और संचय के कर्मविज्ञान ने विश्लेषणपूर्वक चार आधार बताएँ हैं-दृढ़ संकल्प (व्रत-नियमबद्धता), प्रचण्ड मनोबल, दृढ़ विश्वास और सत्-श्रद्धा। अध्यात्मसंवर की साधना के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि आत्म-शक्ति-विघातक शत्रुओं-विभावरिपुओं से संघर्ष करके इन्हें प्रविष्ट होने से रोकना और खदेड़ना है; तप, संयम, चारित्र, संवर-निर्जरादि धर्माचरण से, समता, क्षमादि दशविध या रत्नत्रयरूप धर्मपालन से। आत्म-युद्ध में विजयी बनाने वाले सहायक उपायों को भी अपनाने जरूरी हैं, तभी अध्यात्मसंवर की सिद्धि हो सकती है। ● ●

कर्मविज्ञान : भाग ४ का सारांश

कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या

कर्मबन्ध का अस्तित्व

कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने सर्वप्रथम कर्मबन्ध का अस्तित्व, जिसे अव्यक्त होने के कारण प्रत्यक्षवादी नास्तिक, अश्रद्धाशील, शंका-कांक्षाग्रत नहीं मानते, विविध शास्त्रीय प्रमाणों, युक्तियों और तर्कों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कर्मबन्ध के अस्तित्व के विषय में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथासूत्र, विपाकसूत्र आदि आगमों में प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों ने यत्र-तत्र पुण्य-पापकर्मबन्ध का उल्लेख किया है। अन्य दर्शनों और धर्म-सम्प्रदायों ने भी इसे माना है। अनुमानादि प्रमाणों से भी कर्मबन्ध सिद्ध होता है। समस्त संसारी जीवों में कर्मबन्ध का अस्तित्व है, जिसका फल उदय में आने पर मिलता है। संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त हो जाने से कर्मबन्ध का कर्ता माना जाता है। यही कारण है कि संसारी जीव के साथ कर्मबन्ध प्रवाहरूप से अनादि है। संसारी जीव परतंत्र होने से तथा परभावों के प्रति राग-द्वेषाविष्ट होने से कर्मबन्धन से बद्ध है। फिर कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले चार प्रमाण भी कर्मबन्ध के अस्तित्व के साधक हैं–(१) जीव और पुद्गल का परस्पर प्रभाव, (२) प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम, (३) संसार में प्राणियों की विविधता और बहुरूपता, तथा (४) मन-वचन-काया के योगों की चंचलता।

दुःख-परम्परा का मूल : कर्मबन्ध

इस संसार में चारों गति के प्राणी किसी न किसी कारणवश दुःखी हैं। परन्तु सबको जो एक के बाद दूसरे दुःख की घटा प्राप्त होती है, उसका मूल कारण है–कर्मों का संयोग-सम्बन्ध = कर्मबन्ध। उस कर्मबन्ध को युक्तियों, शास्त्रीय प्रमाणों, आप्तपुरुषों की वाणी से तथा विविध घटित उदाहरणों द्वारा सिद्ध कर दिया है–इस अकस्मात् दुःख के आ पड़ने का क्या कारण है? मकान के खरीददार पर अचानक आते हुए दुःख का, रूपवती धनिक पुत्री पर अकस्मात् आ पड़े शारीरिक-मानसिक दुःख का, दीनता-निर्धनता के सहसा आ पड़े हुए, एक रात में करोड़पति से रोड़पति बनने का कारण पूर्वकृत कर्मबन्ध के सिवाय क्या हो सकता है? अतः सुख-दुःख-परम्परा का मूल आत्मा के साथ कर्म का संयोग (बन्ध) ही है। वैषयिक-सुख या शरीर-सम्बद्ध जन्मादि भी दुःखरूप कर्मबन्धक है। कर्मों से मुक्ति पाना ही दुःखों से मुक्ति पाना है।

कर्मबन्ध का यथार्थ और विशद् स्वरूप

बाह्य द्रव्यबन्धन भी सभी प्राणियों के लिये दुःखदायक–पीड़ाजनक है, किन्तु कर्मबन्धनरूप भावबन्धन तो उनसे भी प्रबलतर कष्टदायक है। मूल में यदि कर्मबन्ध न हो तो कोई भी बाह्य बन्धन उत्पन्न नहीं हो सकता। पूर्वोक्त सभी द्रव्यबन्ध शरीर से सम्बद्ध हैं, जबकि कर्मबन्ध मूल में आत्मा से सम्बद्ध है। कर्मबन्ध का अर्थ सामान्यतया है–आत्मा के साथ नये कर्मों का संयोग सम्बन्ध या ग्रहण करना बन्ध है। मिथ्यात्व आदि कर्मबन्ध के हेतुओं द्वारा नये ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का ग्रहण करना कर्मबन्ध का परिष्कृत लक्षण है। कर्मबन्ध आत्मा के स्वभाव तथा निजी गुणों को विकृत, कुण्ठित और आवृत करके उसे परतंत्र, अनाथ एवं विमूढ़ बना देता है। कर्मबन्ध आत्मा को कैसे पराधीन और दुःखभागी बना देता है? इसे कर्मविज्ञान ने विविध युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है। आत्मा और कर्म का स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हुए भी दोनों का संयोग केवल श्लेषरूप है, तभी तो दोनों का वियोग हो सकता है। संयोग भी दो प्रकार का होता है–भिन्नक्षेत्रवर्ती और एकक्षेत्रवर्ती। जैसे–रजकणों का संयोग भिन्नक्षेत्रवर्ती होता है, वे परस्पर जुड़ते तो हैं किन्तु

पृथक्-पृथक् प्रदेशों पर स्थित रहते हैं, ऐसा ही भिन्नक्षेत्रवर्ती संयोग कर्म और आत्मा का होता है, इसी को बन्ध कहते हैं। एकक्षेत्रवर्ती अनन्त परमाणुओं, सूक्ष्म स्कन्धों या वर्गणाओं का संयोग होता है, पर वह बन्ध नहीं कहलाता। कर्म और आत्मा का बन्ध तभी होता है, जब कर्म के योग्य सूक्ष्म और एकक्षेत्रावग्राही अनन्त कर्मपुद्गल-परमाणु कषाय (या राग-द्वेष) से भीगे हुए आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में उपश्लिष्ट हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो–"जीव कषाययुक्त होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि जीव और कर्म की बन्ध अवस्था में ही दोनों का विजातीय रूप रहता है, किन्तु दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाने पर दोनों पुनः अपने-अपने स्वभाव में आ जाते हैं। अतः दोनों का संश्लेष-सम्बन्ध होने पर भी दोनों अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। फिर कर्मबन्ध के प्रभाव से आत्मा अपने निजी अष्ट गुणों के प्रकटीकरण से वंचित रहता है। वे आवृत और कुण्ठित हो जाते हैं। अतः कर्मबन्ध से बचना चाहिए।

कर्मबन्ध : क्यों, कब और कैसे ?

आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति है, वह अपने आप में शुद्ध है, ज्ञानमय है, अनन्त अव्याबाध-सुख और शक्ति से ओतप्रोत है। प्रश्न होता है–आत्मा शुद्ध से अशुद्ध अवस्था में कैसे पहुँच जाती है? इसका समाधान कर्मविज्ञान ने दिया है–वर्तमान में सांसारिक आत्माओं की दशा अशुद्ध है, न ही वह अनन्त ज्ञानादि-सम्पन्न है। कर्मपुद्गलों के साथ जब आत्मा और कर्म दोनों का परस्पर मिलन या एक-दूसरे में अनुप्रवेश हो जाता है। विजातीय द्रव्य (कर्मपुद्गल) के साथ आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर मिल जाती है, यानी परभावों और विभावों के साथ सांसारिक आत्मा का संयोग होता है, तभी वह स्व-स्वभाव को छोड़कर विजातीय हो जाता है। आत्मा अकेला होता तो शुद्ध स्वरूपी होता, सच्चिदानन्द अवस्था में होता, किन्तु वह अकेला न रहकर विजातीय कर्मपुद्गल से सम्बद्ध होता है, तभी अशुद्ध हो जाता है। कर्मों के आगमन मात्र से वह आत्मा के साथ चिपटता या बँधता नहीं, किन्तु कषायादि विकारों की चिकनाहट लगी कि कर्मबन्ध होता है। जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से बन्ध होने पर दोनों के स्व-स्व-गुणों में विकृति आती है, यानी दोनों ही अपने-अपने गुणों से च्युत होकर अपने गुणों से विपरिणमित हो जाते हैं। वस्तुतः बन्ध जीव और कर्मपुद्गल दो से उत्पन्न होता है, एक द्रव्य का बन्ध नहीं होता। आत्मा के साथ कर्मरूप पर-पदार्थ के मिलने से राग-द्वेष की स्निग्धता के कारण उसमें बिगाड़ या विकार होता है, वह अशुद्ध हो जाती है।

एक प्रश्न उठाया गया है–अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ बन्ध (सम्बन्ध) कैसे हो सकता है? इसका समाधान विभिन्न ग्रन्थों और शास्त्रों में अनेकान्तदृष्टि से किया गया है कि शुद्ध निश्चयदृष्टि से तो आत्मा अमूर्तरूप ही है, किन्तु कर्मबन्धरूप पर्याय की अपेक्षा इन दोनों के युक्त होने से तथा उनका परस्पर सम्बन्ध होने से आत्मा कथंचित् मूर्त सिद्ध होती है, जिसके फलस्वरूप जीवों की नाना गति, योनि, जाति एवं शरीरादि विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। संसारी जीव निश्चयनय की दृष्टि से अमूर्त माना गया, यह भविष्य की अपेक्षा से है, शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने पर ही। परन्तु जब तक वह शरीरधारी है, कार्मणशरीर से युक्त है, तब तक वह मूर्त ही है। पुण्य और पापकर्म के बन्धन में पड़ा है। जो आत्मा कर्ममुक्त शुद्ध हैं, उनके कर्म नहीं चिपकते। कर्मों का ऐसा ही स्वभाव है कि जब भी चिपकेंगे, राग-द्वेष कषाययुक्त आत्मा से ही चिपकेंगे, वस्त्रादि या मृत प्राणी आदि अचेतन के नहीं। संसारी जीवों के भी कर्म का बन्ध प्रवाहरूप से अनादि है, किन्तु प्रत्येक कर्म की अपेक्षा से उसकी आदि है और यथासमय अन्त भी होता है। ऐसा न माना जाए तो संसारी जीव विभिन्न रत्नत्रयादि साधना या बाह्याभ्यन्तर तपस्याराधना के द्वारा कदापि सर्वकर्ममुक्त नहीं हो सकेगा। वस्तुतः क्रिया की प्रतिक्रिया का चक्र ही प्रवाहरूप से अनादिकालीन कर्मबन्ध का द्योतक है। इसी संस्कारवश जीव कर्म बाँधता रहता है। जैन-सिद्धान्तानुसार भी यह बात सिद्ध होती है कि वीतराग एवं सर्वकर्ममुक्त जीवों के अतिरिक्त संसारस्थ प्रत्येक जीव प्रतिक्षण ७ या ८ कर्म बाँधता रहता है और फल भोगकर क्षय भी करता रहता है। परन्तु बद्ध कर्म वे ही कहलाते हैं, जो आत्मा के द्वारा गृहीत एवं आकर्षित हैं। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से प्रतिक्षण होने वाले कर्मबन्ध और

उससे प्राप्त होने वाले फल से अभिज्ञ होते हुए भी मानव अनादिकालीन संस्कारवश अनभिज्ञ-सा बन जाता है। इस तथ्य को कर्मविज्ञान ने उदाहरणसहित प्रमाणित किया है।

कर्मबन्ध का मूल स्रोत : अध्यवसाय

कर्मबन्ध का मूल स्रोत क्या है? इस सम्बन्ध में कर्मविज्ञान ने विविध युक्तियों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि कर्मों का बन्ध किसी वस्तु से, व्यक्ति से या परिस्थिति या घटना से सम्बन्धित नहीं है, वह कर्ता के शुभ या अशुभ अध्यवसाय पर निर्भर है। अध्यवसाय का फलितार्थ है–जीव के विशिष्ट परिणाम, विचार, संकल्प, चित्त के भाव आदि।

यद्यपि परिणामों (अध्यवसायों) की धाराएँ असंख्यात हैं, उनके कारण कर्मबन्ध भी असंख्यात प्रकार के होते हैं, किन्तु उन परिणामधाराओं को कर्मविज्ञान ने तीन धाराओं में वर्गीकृत किया है–शुभ, अशुभ और शुद्ध। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आदि के कारण से होने वाले चित्त के भाव परिणाम कहलाते हैं। इन शुभ-अशुभ परिणामों की धाराओं में भी तीव्रता, मन्दता और मध्यमता आती है। शुभ परिणाम ऊर्ध्वगति का और अशुभ परिणाम अधोगति का कारण है, परन्तु शुद्ध परिणाम हो तो कर्मबन्ध न होकर कर्मक्षय (निर्जरा) होता है। अतः कर्मों से मुक्ति या क्षय के लिए आत्मा के शुद्ध अध्यवसाय अपेक्षित हैं। जीव का अध्यवसाय भी शुभ से अशुभ की ओर अथवा अशुभ से शुभ की ओर तथा कदाचित् शुभ या अशुभ से एकदम शुद्ध की ओर भी पहुँच सकता है। जैसे–प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने अशुभ से शुभ की ओर मुड़कर एकदम शुद्ध के शिखर पर पहुँच गए थे। हिंसा-अहिंसा, असत्य-सत्य, चौर्य-अचौर्य, अब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहवृत्ति-परिग्रहवृत्ति आदि के सम्बन्ध में द्रव्यभावदृष्टि से चतुर्भंगी देकर दशवैकालिक निर्युक्ति में भाव (अध्यवसाय) से ही हिंसादि होने से कर्मबन्ध के मूल स्रोत के रूप में अध्यवसाय को ही सिद्ध किया है। अध्यवसाय-परिवर्तन में मुख्यतया व्यक्ति का उपादान ही कारण है, गौणरूप से कोई वस्तु, व्यक्ति या घटना आदि निमित्त भी काम करता है। उपादान शुद्ध हो तो अशुद्ध स्थान में भी शुभ अध्यवसाय संभव है, अन्यथा उपादान अशुद्ध हो तो शुद्ध स्थान में भी अशुभ अध्यवसाय हो सकता है, इस विषय में दृष्टान्त देकर समझाया है। अध्यवसायों के आधार पर जीवन का उदय या अस्त यानी उत्थान और पतन संभव है। अतः अध्यवसाय-शुद्धि से ही सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म आराधना करके कर्मबन्ध से बचकर कर्मक्षय की दिशा में बढ़ना चाहिए।

कर्मबंध के बीज : राग और द्वेष

शुभ-अशुभ कर्मबन्ध अध्यवसाय पर निर्भर है, किन्तु वह अध्यवसाय राग-द्वेष या कषाय से युक्त हो तभी कर्मबन्ध होता है। केवल प्रवृत्ति या क्रियामात्र से या एकमात्र किसी व्यक्ति या वस्तु के निमित्तमात्र से कर्मबन्ध नहीं होता। राग अपनी ओर खींचने वाली और द्वेष दूर फेंकने वाली बिजली की तरह है। किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति पर राग या द्वेष का या कषाय का आरोपण वह व्यक्ति या वस्तु आदि नहीं करती, अपितु व्यक्ति स्वयं ही करता है, जड़-पदार्थों की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं होती; वह होती है व्यक्ति की ओर से ही, क्योंकि इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय, अच्छा-बुरा, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, आसक्ति-घृणा आदि या असद्भाव-सद्भाव आदि सब राग या द्वेष की ही संतान हैं। पंचेन्द्रिय और मन के विषय में अत्यन्त आवश्यकता होने पर प्रवृत्त होने से बचना शक्य नहीं, उनके प्रति राग व द्वेष से बचना अनिवार्य है, यही जैन-कर्मविज्ञान का कर्मबन्ध या पापकर्मबन्ध से बचने का निर्देश है।

रागान्धता तो भयंकर है ही, उससे बचना अनिवार्य है; राग होगा, वहाँ प्रायः द्वेष भी आ धमकता है। साम्प्रदायिक कट्टरता जाति-कौम, प्रान्त, राष्ट्र के प्रति अन्धता आदि अप्रशस्त रागान्धता है। इसी प्रकार कामराग, दृष्टिराग और स्नेहराग भी अप्रशस्तराग के प्रकार हैं। वैसे तो वीतरागता की प्राप्ति के लिए रागभाव सर्वथा त्याज्य है, किन्तु अगर रागभाव का सर्वथा त्याग न हो सके तो अप्रशस्तराग का तो सर्वथा त्याग करके कथंचित् प्रशस्तराग क्षम्य है। आचार्यों ने अप्रशस्तराग और प्रशस्तराग के भी दो-दो भेद बताए हैं। अशुद्ध और अशुभ, ये दोनों अप्रशस्तराग हैं। न्यून शुभ और अधिक शुभ, ये दोनों प्रशस्तराग के प्रकार हैं। परमात्म-भक्ति, गुरु-सेवा, धर्म-श्रद्धा आदि ये अधिक प्रशस्तराग के कारण हैं, जो सरागसंयमी साधुवर्ग तथा संयमासंयमी श्रावकवर्ग की भूमिका में कथंचित् उपादेय माना गया है।

कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व

संसार में प्रकाशजीवी और अन्धकारजीवी प्राणियों की तरह सांसारिक मानव समुदाय में भी प्रकाश-पुंज को भी अन्धकार मानने वाले मनुष्यों की संख्या अधिक है, प्रकाश को प्रकाश मानने वालों की संख्या बहुत कम है। स्थूलदृष्टि से देखने पर अधिकांश मानव प्रकाश-प्रेमी प्रतीत होते हैं, परन्तु वे द्रव्यप्रकाश-प्रेमी हैं, जो अध्यात्मतत्त्वज्ञों की दृष्टि में यथार्थप्रकाश–भावप्रकाश नहीं हैं। यथार्थ भावप्रकाश सम्यक्त्व सूर्य का–सम्यग्दर्शन-ज्ञान का प्रकाश होता है। अधिकांश मानवों के जीवन में इस भावप्रकाश के बदले मिथ्यात्व, अज्ञान, अविद्या या अविवेक का भावान्धकार ही व्याप्त दिखाई देता है। इसी भावान्धकार के फलस्वरूप राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, कलह, क्लेश, हिंसादि पाप, अन्ध-स्वार्थ, अन्ध-विश्वास तथा देव-गुरु-धर्म-लोकादि मूढ़ताएँ, एकान्त पूर्वाग्रह, कदाग्रह, भ्रान्तियाँ आदि अन्धकार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव मिथ्यादृष्टि हैं, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव; इन पंचेन्द्रिय जीवों में सम्यक्त्वी कम हैं, मिथ्यात्वी अधिक हैं। जहाँ तक प्राणी मिथ्यात्वग्रस्त रहता है, वहाँ तक जो भी शास्त्रीयज्ञान, चारित्र-पालन या तपश्चरण किया जाता है, वह सब मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र या मिथ्यातप ही रहता है, जो संसारवर्द्धक होता है, संसारक्षयकारक नहीं।

मिथ्यात्व घोरातिघोर अन्धकारक कूप में प्राणियों को डाले रखता है, उनका प्रायः आत्म-विकास रोक लेता है। इसके कारण आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार कषाय तथा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व–मिश्र-मोहनीय, इन ७ ज्वालाओं से युक्त होने से बन्ध और मोक्ष को जानता-समझता नहीं, न ही बन्ध से मुक्त होने के उपायों के विषय में सोचता है। यही कारण है कि मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का प्रबल और प्रथम कारण माना गया है। १८ प्रकार के पापस्थानों में सबसे बढ़कर पाप का या पापकर्मबन्ध का कारण मिथ्यात्व को माना है। आत्मा का सर्वाधिक कल्याणकारी महाशत्रु या महापाप मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वी की कोई भी प्रवृत्ति मोक्षकारक नहीं होती। मिथ्यात्व का बन्धन टूटे बिना अविरति आदि के बन्धन नहीं टूटते, वे नहीं छूटते। मिथ्यात्व के प्रभाव से व्यक्ति संशय, पूर्वाग्रह, कदाग्रह आदि से घिरा रहता है। मिथ्यात्वी की दृष्टि, बुद्धि, धारणा, ज्ञान आदि सब विपरीत एवं मिथ्या होते हैं। मिथ्यात्व के ५, १० एवं २५ भेद और उनके लक्षण आदि भी कर्मविज्ञान ने स्पष्ट निरूपित किये हैं।

कर्मबन्ध के बीज : राग और द्वेष

रोग के कारणों को जाने बिना उसकी सही चिकित्सा नहीं हो सकती, इसी प्रकार कर्मबन्ध के मुख्य कारणों को जाने बिना कर्मरोग निवारण की यथार्थ चिकित्सा नहीं हो सकती। कर्मबन्ध को जानने मात्र से उससे मुक्ति नहीं हो सकती, कर्मबन्ध के कारणों को जानकर उन्हें तोड़ना आवश्यक है। आस्रव और बन्ध के मिथ्यात्वादि पाँच कारण समान होते हुए भी उनमें अन्तर यह है कि प्रथम क्षण में कर्मस्कन्धों का आगमन = आस्रव होता है। द्वितीय आदि क्षणों में कर्मवर्गणाओं की आत्म-प्रदेशों में अवस्थिति होती है, वह बन्ध है। दूसरा अन्तर यह है कि आस्रव में योग की प्रमुखता है, बन्ध में कषाय की। जिस प्रकार राज्यसभा में अनुग्रह या निग्रह करने योग्य पुरुषों को प्रवेश कराने में राज्य-कर्मचारी मुख्य होता है, उसी प्रकार योग की प्रमुखता से कर्मों के आगमन (आस्रव) का द्वार खोल दिया जाता है, किन्तु जैसे प्रवेश होने के पश्चात् उन व्यक्तियों को सत्कृत या दण्डित करने में राजाज्ञा मुख्य होती है, वैसे ही उन समागत कर्मों को आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट करके शुभ-अशुभ रूप में न्यूनाधिक रूप में बद्ध करने में कषायादि की प्रमुखता से होता है।

कर्मबन्ध के हेतुओं के सम्बन्ध में तीन परम्पराएँ कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने प्रस्तुत की हैं–(१) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, (२) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, एवं (३) कषाय और योग। कर्मबन्ध के मुख्यतया पाँच कारणों के निर्देश के पीछे गुणस्थान क्रम के अनुसार आध्यात्मिक विकास में न्यूनाधिकता तथा कर्मप्रकृतियों के बन्ध की न्यूनाधिकता ही कारण है। यह क्रम सबसे ऊपर के गुणस्थान से सबसे नीचे के गुणस्थान तक क्रमशः समझना चाहिए। जैसे–जिस गुणस्थान में केवल 'योग' होगा, उसमें कषाय, प्रमाद, अविरति और मिथ्यात्व से जनित बन्ध नहीं होंगे, जिन गुणस्थानों में कषाय (अतिमन्द)

और योग, ये दो होंगे, उनमें मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद से जनित बन्ध नहीं होंगे तथा जिन (सर्वविरति और देशविरति) गुणस्थानों में मिथ्यात्व और अविरतिजन्य बन्ध नहीं होंगे, उनमें प्रमाद, कषाय और योगजनित बन्ध होगा। चतुर्थ सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं होगा, किन्तु अविरति आदि ४ कारण होंगे, जबकि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबन्ध के पाँचों ही कारण होंगे। इसके पश्चात् इन पाँचों ही कारणों का स्वरूप, कार्य तथा ये कर्मबन्ध के हेतु कैसे-कैसे बनते हैं? किसका दायरा कितना न्यूनाधिक है, किस कर्मबन्ध हेतु के कितने प्रकार हैं? इसका सविस्तृत निरूपण कर्मविज्ञान ने किया है।

संक्षेपदृष्टि से बन्ध के दो कारण : कषाय और योग

इसके अनन्तर संक्षेपदृष्टि से बन्ध के योग और कषाय, इन दो कारणों में समावेश कैसे होता है? इसका निरूपण करते हुए कर्मविज्ञान ने निरूपित किया है–योग के द्वारा कर्मों का आकर्षण और कषाय के द्वारा उनका बन्ध–यानी कषाययुक्त सांसारिक जीव के योग द्वारा कर्मों का ग्रहण और कषाय द्वारा आश्लेषपूर्वक बन्ध होता है। परन्तु जहाँ कषाय (राग-द्वेषादि) से युक्त वैभाविक प्रवृत्ति होगी, वहाँ चारों (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग) रूप से कर्मबन्ध अवश्य होगा, किन्तु जहाँ सिर्फ योग से युक्त प्रवृत्ति होगी, वहाँ प्रकृति और प्रदेशबन्ध भी नाममात्र का होगा, स्थिति और अनुभागबन्ध तो होगा ही नहीं। स्पष्ट शब्दों में–योगों का कार्य केवल कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करना है, किन्तु उन्हें बाँधे रखना, टिकाये रखना कषाय का कार्य है। कषायों के कारण भावबन्ध होता है, योग के कारण द्रव्यबन्ध। भावबन्ध न हो तो द्रव्यबन्ध कुछ नहीं कर सकता। कर्मरूप ईंधन लाने का काम योग का है, कषाय का काम है जलती हुई आग को भड़काने का। योग केवल द्रव्यकर्मरूप है, किन्तु कषाय या राग-द्वेषरूप भावकर्म के कारण न हो–यानी कषायाग्नि शान्त या नष्ट है तो उस कर्म का टिकना असम्भव है। इसलिए कर्मबन्ध के चारों रूपों में कषाय और योग दो का होना अनिवार्य है, शेष कारणों का अन्तर्भाव इन दो में हो जाता है।

कर्मबन्ध की मुख्य चार दशाएँ

कषायों या राग-द्वेषादि की तीव्रता-मन्दता के कारण बन्ध में तीव्रता-मन्दता होती है। जैन-कर्मविज्ञान कर्मबन्ध की तीव्रता और मन्दता को नापने के लिए चार मुख्य अवस्थाएँ निर्धारित की हैं–स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित। इन्हें क्रमशः ढीला बन्ध, उससे जरा मजबूत बन्ध, इससे भी अधिक सुदृढ़ बन्ध और इन सबसे अत्यन्त पक्का और दृढ़ता बन्द, जो कभी खुल न सके। ये चारों एक साथ एक ही कर्म का बन्ध करते हैं। लेकिन चारों की कषायिक और राग-द्वेषयुक्त परिणामधारा में बहुत ही अन्तर है। चारों की कषायिक स्निग्धता की मन्दतर, मन्द, तीव्र और तीव्रतम अवस्था के आधार पर बन्ध का दारोमदार है। इसे पिसी हुई हल्दी से लिप्त वस्त्र के तथा सुइयों के ढेर के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। इसके पश्चात् स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचितरूप से बँधे हुए शुभ और अशुभ कर्मबन्ध के कार्य और फल का विशद विवेचन किया गया है। साथ ही निकाचित रूप में बँधे हुए कर्म शुभ या अशुभ कर्मों का फल भोगते समय सावधान रहें तो पूर्वबद्ध कर्मों की सकामनिर्जरा हो सकती है और नया कर्म नहीं बँधता। कर्मविज्ञान ने साधक को सावधान करने के लिए बताया है, कर्म बाँधते समय कषायों का रंग जितना हल्का होगा, उतना ही बन्ध शिथिल या शिथिलतर होगा।

कर्मबन्ध के विविध प्रकार और स्वरूप

वस्तु को केवल सहजभाव से उठाने या स्पर्श करने मात्र से बन्ध नहीं होता, बन्ध होता है–उसके साथ राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा या प्रियता-अप्रियता का भाव होने से। मन-वचन-काया से कोई भी क्रिया करने मात्र से कर्म आते अवश्य हैं, परन्तु वे अबन्धक होते हैं, बशर्ते कि उस कर्म के साथ राग-द्वेष या कषाय न हो। कर्म का बन्ध होता है, उस क्रिया के साथ किये जाने वाले भाव, परिणाम या अध्यवसाय से। क्रिया दो प्रकार की होती है–हलन-चलनरूप क्रिया और भावरूप क्रिया। दोनों के साथ राग-द्वेष या कषायरूप परिणाम मिलने से वह कर्मबन्ध की कारण होती है। अतः बन्ध मुख्यतया दो प्रकार से होता है–द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। राग-द्वेष, मोह आदि विकारी भावों से जो कर्मबन्ध होता है, वह भावबन्ध और उनके

कारण कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। ये नौ बन्ध भी दो-दो प्रकार के होते हैं– सजातीय द्रव्यबन्ध और विजातीय द्रव्यबन्ध तथा सजातीय भावबन्ध और विजातीय भावबन्ध। पुद्गल का पुद्गल के साथ सजातीय द्रव्यबन्ध है, मगर पुद्गल का जीव के साथ विजातीय द्रव्यबन्ध है। जीव का जीव के साथ रागादि परिणामों से सजातीय भावबन्ध होता है। विजातीय (पुद्गल) के साथ जीव का विजातीय भावबन्ध होता है। आगे कर्मविज्ञान ने इन दोनों का परिष्कृत स्वरूप तथा भावबन्ध की उत्पत्ति का कारण भी बताया है। द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की प्रक्रिया भी आगे बताकर राग और द्वेष इन दोनों के स्निग्ध और रूक्ष होने से, इन दोनों के आत्म-प्रदेश के साथ मिलने से बन्ध होता है। वस्तुतः भावबन्ध का कारण साम्परायिक बन्ध है, ईर्यापथिक नहीं, क्योंकि सकषायभाव होने से साम्परायिक और अकषायभाव से ईर्यापथिक बन्ध होता है। इसी सन्दर्भ में भावबन्ध के मुख्य दो भेद बताए हैं–मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। किन्तु बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का कथन द्रव्यकर्मबन्ध की अपेक्षा से है।

कर्मबन्ध के अंगभूत चार रूप

कर्मों के ग्रहण एवं बन्ध के होने के साथ ही आत्मा के योग और कषाय के अनुसार एकीभूत परिमाण, स्वभाव, काल और फलदानरूप कर्मबन्ध की चार अंगभूत अवस्थाएँ या व्यवस्थाएँ स्वतः निष्पन्न होती हैं। ये चार अवस्थाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) प्रदेशबन्ध, (२) प्रकृतिबन्ध, (३) रसबन्ध, और (४) स्थितिबन्ध। कर्मपुद्गलों के आने और उनके ग्रहण के समय उन अविभक्त कर्म-प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत होने की अवस्था प्रदेशबन्ध है जो कर्मपरमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ बँधे हैं, उनके स्वभाव-निर्माण की व्यवस्था का नाम प्रकृतिबन्ध है। कर्मरूप से गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के कर्मफल की रस-शक्ति निर्माण की अवस्था रसबन्ध है। गृहीत कर्मपरमाणुओं के टिकने के काल (स्थिति) सीमा की व्यवस्था को स्थितिबन्ध कहा जाता है। ये चार अवस्थाएँ कर्मबन्ध के साथ स्वतः निष्पन्न होती हैं।

बन्ध के इन चार रूपों का आधार योग और कषाय है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगाश्रित हैं और स्थिति-अनुभागबन्ध कषायाश्रित हैं। चारों प्रकार के बन्ध को इन चारों अवस्थाओं को मोदकों का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। साथ ही बन्ध के इन चारों अंगों की विशेषता का दिग्दर्शन कराया गया है। कर्मबन्ध होने के साथ ही ये चार प्रकार के अंगभूत बन्ध (चतुःश्रेणी बन्ध) अवश्यम्भावी हैं।

प्रदेशबन्ध : स्वरूप, कार्य और कारण

कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कर्मवर्गणा के स्कन्धों (कर्मदलिकों) का सम्बन्ध जितनी संख्या या परिमाण के साथ होता है, वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्ध में योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) की चंचलता की न्यूनाधिकता (तीव्रता-मन्दता) के अनुसार कर्म-प्रदेशों (कर्म-पुद्गल परमाणुओं) की संख्या का बन्ध भी तीव्र-मन्द होता है। यह ध्यान रहे कि प्रदेशबन्ध में आत्म-प्रदेशों और कर्म-प्रदेशों का ही परस्पर बन्ध-सम्बन्ध होता है। जैनदर्शन आत्मा में असंख्यात प्रदेश मानता है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों का बन्ध यानी सम्बन्ध होने का नाम ही प्रदेशबन्ध है। इसे भगवतीसूत्र में भगवान महावीर और गौतम स्वामी के एक संवाद द्वारा सिद्ध किया गया है। किन्तु आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मस्कन्धों का यह बन्ध रासायनिक नहीं है, केवल विशिष्ट संयोगमात्र होता है, जिसे प्रदेशबन्ध कहा जाता है। रासायनिक मिश्रण जब भी होता है, तब नवीन कर्मवर्गणाएँ प्राचीन कर्मों में स्निग्धता होने से उनके साथ बद्ध-श्लिष्ट हो जाती हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि योगबल (योग-स्थानकबल) के अनुसार ही कर्मों के न्यूनाधिक प्रदेशों का बन्ध होता है तथा गृहीत कर्मदलों के बन्ध के अनुसार कर्मों में प्रदेशों का विभाजन स्वतः हो जाता है।

प्रकृतिबन्ध : मूलप्रकृतियाँ और स्वरूप

जैसे प्राणियों के स्वभाव पर से उनका पृथक्करण या विभाजन किया जाता है, वैसे ही कर्मों के स्वभाव पर से उनका पृथक्करण या विभाजन किया जाता है; कर्म के स्वभाव का विश्लेषण भी आत्मा के साथ कर्म का बन्ध (श्लेष) होते ही स्वतः हो जाता है। कर्मबन्ध के समय ही उस कर्म के स्वभाव का

विश्लेषण, तथा वह कर्म किस प्रकार का फल देगा? इसका निर्णय कर्म की प्रकृति (स्वभाव) से हो जाता है। विशेष धर्म, शील, प्रकृति, स्वभाव या गुण, शक्ति, लक्षण; ये सब प्रकृति के पर्यायवाची शब्द हैं। ज्ञानादि स्वभाव वाले विविध कर्मों का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पृथक्-पृथक् स्कन्धरूप में बँध जाना प्रकृतिबन्ध है। कर्मविज्ञान बताता है कि बद्ध कर्मों की प्रकृति पर से मानव के व्यक्तित्व का ज्ञान भी हो सकता है। प्रकृतिबन्ध के द्वारा कर्मप्रकृति को जानने से मनुष्य अपने कर्म की (उत्तर) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश में परिवर्तन कर सकता है। यानी कर्मप्रकृति को जानकर ही सत्ता में पड़े हुए (संचित) कर्म की निर्जरा, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम, उपशम या संक्रमण कर सकता है। आधुनिक भाषा में कहें तो जीवन की दिशा और स्वभाव में परिवर्तन हो सकता है। जो व्यक्ति कर्मों की प्रकृति, शक्ति, स्वभाव या उनके कारण को नहीं जानता, वह विविध दुःखों के बचाव के उपाय से अनभिज्ञ रहकर दोहरे व्यक्तित्व से संत्रस्त रहता है। आत्मा के मूल स्वभाव (ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति) की आवश्यक, सुषुप्तिकारक, मूर्च्छाकारक या विकारक, और शक्ति-प्रतिरोधक क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, ये चार घातिकर्म प्रकृतियाँ हैं। ये आत्मा के मूल स्वभाव को कैसे दबाती हैं, इसका विश्लेषण भी कर्मविज्ञान ने किया है। आत्मा के अव्याबाध आत्म-सुख, अक्षय स्थिति या शाश्वत, अरूपित्व और अगुरुलघुत्व, इन शेष चारों गुणों को बाधित करने का स्वभाव क्रमशः वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म का है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार आठों कर्मप्रकृतियों का नाम रखा गया है। एक ही कर्म होते हुए भी प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में आठ मूलप्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। जैसे आहाररूप में ग्रहण की हुई एक ही वस्तु रस, रक्त आदि विविध धातु के रूप में परिणत हो जाती है, वैसे कर्म एक होते हुए भी स्वभावानुरूप विविध प्रकृतियों के रूप में परिणत हो जाता है। अदृश्य कर्म के कार्य-विशेष पर से उसकी प्रकृति का अनुमान किया जा सकता है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा कर्मों की प्रकृति के अनुसार आठ ही कर्मों में विभक्त किया है तथा उनका यह क्रम भी मनोविज्ञानसंगत है।

मूलकर्मप्रकृतिबन्ध : स्वभाव, स्वरूप और कारण

जीव द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों-स्कन्धों-दलिकों या कार्मणवर्गणाओं के मिथ्यात्वादि के कारण आत्मा के साथ जुड़ते ही उनमें विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ तथा स्वभाव उत्पन्न होते हैं, उसी स्वभाव तथा शक्ति के निर्माण को प्रकृतिबन्ध कहा जाता है। उसके दो प्रकार हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्ध में ८ प्रकार की मूलकर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्मवर्गणा के स्कन्धों में विविध प्रकार के फल प्रदान करने के स्वभाव की उत्पत्ति स्वतः होती है। कर्मविज्ञान ने स्थूलदृष्टि से रूपक द्वारा कर्मवर्गणा के स्कन्धों का ८ भागों में विभाजन होने का तथा उपमाओं द्वारा ८ कर्मों की प्रकृति का निरूपण भी किया है। आगे चलकर आठों ही कर्मों के लक्षण, कार्य तथा उनके प्रत्येक के बन्ध के मुख्य कारणों का तथा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मबन्ध के दुष्परिणामों का प्राचीन-नवीन उदाहरणों सहित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सर्वकर्मों में प्रधान और प्रबल द्विविध मोहनीय कर्म तथा महामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों, स्वभाव, लक्षण आदि का विशेष रूप से निरूपण किया है। इसी प्रकार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार अघातिकर्मों का बन्ध, श्लेष, स्वभाव, कारण और निवारण आदि के विषय में स्पष्टीकरण किया गया है।

उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण

जिस प्रकार विभिन्न बादलों का जल विभिन्न पात्रों में गिरकर भिन्न-भिन्न रसों में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार अष्टमूलकर्मप्रकृतिरूपी मेघों में से ज्ञानावरणीय कर्म सामान्यतः एक होकर भी अपनी सजातीय श्रुतज्ञानावरणीय आदि विभिन्न रूपों में तथा दर्शनावरणीय भी एक होकर निद्रादि पाँच तथा चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार मिलकर नौ रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार शेष ६ मूलकर्मप्रकृतियाँ अपनी-अपनी सजातीय उत्तरप्रकृतियों में परिणत हो जाती हैं।

इसी तरह जैसे एक ही अग्नि में जलाने, पकाने, ठण्ड मिटाने, भस्म करने, पानी आदि को गर्म करने इत्यादि विभिन्न प्रकार की शक्ति होती है, वैसे ही एक प्रकार के कर्मपुद्गल में सुख-दुःखादि रूप होने, श्रुतज्ञानादि को आवृत करने तथा क्रोधादि कषाय-नोकषाय आदि के रूप में मोहमूढ़ करने की शक्ति होती

है। अतः द्रव्यदृष्टि से कर्म एक ही प्रकार का होते हुए भी पर्यायों की अपेक्षा उसके मूल और उत्तरप्रकृतियों के रूप में अनेक प्रकार के होने में कोई विरोध नहीं है। इस दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म की मतिज्ञानावरणीयादि पाँच, दर्शनावरणीय कर्म की चक्षुदर्शनावरणीयादि नौ, वेदनीय कर्म की साता-असातावेदनीय के रूप में दो, मोहनीय कर्म की दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय के रूप में दो तथा दर्शनमोह की तीन और चारित्रमोह की कषाय-नोकषाय के रूप में २५, यों कुल अट्ठाईस आयुष्यकर्म की नरकायु आदि चार, नामकर्म की शुभाशुभ नामकर्म के रूप में दो और उनकी ९३ या १०३ गोत्रकर्म की उच्च-नीच गोत्र के रूप में दो, तथा अन्तराय कर्म की दानान्तरायादि के रूप में पाँच उत्तरप्रकृतियाँ बताकर कर्मविज्ञान ने उनका पृथक्-पृथक् विशद स्वरूप, कारण एवं उनके विविध विपाक (कर्मफल) का भी विस्तार से निरूपण किया है। इतना ही नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय आदि के उत्तरभेदों और उनके स्वरूप और स्वभावों का भी निरूपण किया है। विस्तृत रूप से उत्तरप्रकृतिबन्ध को विभिन्न पहलुओं से समझाने के लिए कर्मविज्ञान के पाँच अध्यायों में इसका निरूपण किया है।

घाति और अघाति कर्मप्रकृतियों का बन्ध

आत्मा के चार निजी गुणों को क्षति पहुँचाने वाले, उन चार गुणों के अवरोधक, बाधक, विकारक, चार घातिकर्म हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इसी प्रकार आत्मा के चार निजी गुणों की घात न करके केवल उसके चार प्रतिजीवी गुणों–अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना (शाश्वत स्थिरता), अमूर्तिकत्व और अगुरुलघुत्व का घात या ह्रास करते हैं, वे चार अघातिकर्म हैं–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।

इसके अनन्तर कर्मविज्ञान ने घातिकर्मों के स्वभाव, प्रबलता, आत्म-गुणों को आवृत-कुण्ठित करने की शक्ति तथा सर्वघाती-देशघाती प्रकृतियों एवं चारों घातिकर्मों की उत्तरप्रकृतियों का विशद निरूपण किया है। अन्त में चार अघातिकर्म का लक्षण, स्वभाव, स्वरूप, कार्य और प्रभाव का निरूपण करके, घातिकर्म प्रकृतियों में शुभ-अशुभ कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण भी किया गया है।

पाप और पुण्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध

हिंसादि पापकर्मों तथा क्रोधादि चार कषायों की तीव्रता के कारण पापकर्म का बन्ध होना सर्वमान्य है। विभिन्न प्रकार के विषयों, वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं के प्रति अप्रशस्त एवं तीव्र राग-द्वेष भी तथा अठारह प्रकार के पापस्थानक भी पापकर्मबन्ध के कारण हैं, जिनका दुःखदायक एवं प्रत्यक्षवत् फल ८२ प्रकार से भोगा जाता है। पापकर्मबन्ध के विविध कटु परिणामों को जानने-अनुभव करने से उसके अस्तित्व का अनुमान हो जाता है। इसके पश्चात् पुण्यकर्मों की प्रकृतियों तथा उनके स्वरूप और बन्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। शुभ परिणामों से निष्पन्न शुभ योगरूप आस्रव के उत्तर क्षण में प्रशस्तराग से पुण्यबन्ध होता है। जीवों के प्रति अनुकम्पा, शुभ मन-वचन-काया की क्रिया, सराग संयमादि योग, क्षमा, शौच आदि के भाव सातावेदनीय पुण्यास्रव के कारण हैं। मन-वचन-काया की सरलता और अविसंवादिता, ये पुण्यास्रव हेतुक शुभ योग के कारण हैं। वस्तुतः पुण्य और पाप के बन्ध का निर्णय किसी वस्तु या क्रिया के आधार पर न होकर कर्ता के भावों के आधार पर होता है। अन्त में पुण्यबन्ध के नौ प्रमुख कारणात्मक प्रकार उनके फलस्वरूप शुभ योग से प्राप्त होने वाली सुखदायक ४२ पुण्य प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः पुण्यबन्ध रागादिकृत है, रत्नत्रयकृत नहीं है। इस तथ्य को भलीभाँति समझकर पुण्यबन्ध भी विषयेच्छा निदानमूलक न हो इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

रसबन्ध वनाम अनुभागबन्ध : स्वरूप और परिणाम

जीवन के सभी क्षेत्रों में सरसता-नीरसता प्रदान करने वाला अथवा संसारी जीवों का भाग्य-विधाता, समग्र जन्म-मरणस्वरूप संसार का संचालक कर्मरसाणु है। समग्र संसार की गतिविधि कर्मरसबन्ध पर निर्भर है। आत्मा के साथ कर्म का खास बन्ध रस (अनुभाग) बन्ध ही है। केवल योगबल निमित्तक प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध से काम नहीं चलता, संसार-वृद्धि के लिए कषाय-निमित्तक रसबन्ध और स्थितिबन्ध ही कर्मबन्ध

के मुख्य कारण हैं, एवं फलदान-शक्ति के नियामक हैं। जीव के द्वारा बाँधा हुआ शुभाशुभ कर्म रसबन्ध ही उत्तरकाल में (उदय में आने पर) उसे शुभाशुभ फल भुगवाता है। अतः बन्ध के उत्तरकाल में फलभोग कराने वाले बन्ध को अनुभागबन्ध–रसबन्ध कहते हैं। अर्थात् बन्ध को प्राप्त कर्मपुद्गलों में जिसके द्वारा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति का निश्चय होता है उसे अनुभागबन्ध, अनुभावबन्ध या रसबन्ध कहा जाता है। रसबन्ध का मूल कारण कषाय है। वह जैसा भी तीव्र, मन्द या मध्यम होता है, कर्मबन्ध के उत्तरकाल में तदनुरूप पुण्य-पाप का फलभोग (विपाक) अनुभागबन्ध पर निर्भर है। शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार की कटु और मधुर कर्मप्रकृतियों के तीव्र और मन्द इन दोनों प्रकार के रस की, प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ होती हैं–तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र तथा मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अत्यन्त मन्द; जिन्हें क्रमशः नीम और ईखरस के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यद्यपि तीव्र और मन्द रस के भी कषाययुक्त लेश्या के कारण असंख्य प्रकार हो सकते हैं, परन्तु उनका इन दोनों का चार-चार स्थानों में समावेश हो जाता है। अन्त में कर्मविज्ञान ने यह भी बताया है कि बन्धयोग्य कुल १२० प्रकृतियों में पाप की ८२ तथा पुण्य की ४२ कर्मप्रकृतियों में से किस कर्मप्रकृति में कितने प्रकार का रसबन्ध होता है और क्यों? तथा संज्ञाद्वार से स्वामित्वद्वार तक रसबन्ध का विविध पहलुओं से विश्लेषण किया गया है। पंचसंग्रह (प्रा.) आदि ग्रन्थों में सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव, जघन्य-अजघन्य, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, प्रशस्त-अप्रशस्त, देशघाति-सर्वघाति, प्रत्यय, विपाक और स्वामित्व; इन १५ द्वारों (प्रकारों) द्वारा अनुभाग (रस) बन्ध का सांगोपांग निरूपण किया गया है।

स्थितिबन्ध : स्वरूप, कार्य और परिणाम

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में अन्तर यह है कि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दोनों में कषाय प्रमुख कारण है। परन्तु स्थितिबन्ध में विवक्षित कर्म के सम्बन्ध जीव (आत्मा) के साथ कितने काल तक रहता है, इसका विचार किया जाता है, जबकि अनुभागबन्ध में विपाक (फलभोग) के समय वह कर्म जीव को कितनी तीव्र या मन्द मात्रा में फल देता है? जीव के ज्ञानादि गुणों पर उसका क्या असर होता है? वह विघटन (फलभोग) के समय कितनी मात्रा में और किस प्रकार की सुखद-दुःखद क्रिया के अनुभव (वेदन) में जीव का सहायक होता है? इसका विचार किया जाता है।

अतः कर्मविज्ञान की दृष्टि से अनुभाग (रस) बन्ध प्रधान है, वही सुख-दुःखरूप फलप्रदान (फलभोग) में निमित्त होता है, उसी के अनुसार बद्ध कर्म की स्थिति (कालसीमा) का निर्धारण होता है। इतना जरूर है कि अनुभागबन्ध के पश्चात् यदि स्थितिबन्ध न हो तो कर्मबन्ध का विपाकरूप कार्य पूर्ण नहीं होता। जैसे न्यायाधीश किसी अपराधी को उसके परिणामों के अनुसार सजा (दण्ड) तो सुना दे, किन्तु वह दण्ड क्रियान्वित न हो तो अपराध के फलस्वरूप दण्डप्रदान कार्य पूर्ण नहीं होता, इसी प्रकार अनुभागबन्ध द्वारा बद्ध कर्म का तीव्र-मंद रसानुसार दण्ड या पुरस्कार के रूप में फल नियत करने पर भी यदि स्थितिबन्ध के द्वारा उसका अमुक कालविधि-पर्यन्त दण्ड या पुरस्कार क्रियान्वित न हो तो वह दण्ड या पुरस्काररूप फल अपूर्ण माना जाता है। अतः अनुभागबन्ध के साथ स्थितिबन्ध का होना अनिवार्य माना गया है।

अतः स्थिति कहते हैं–जीव के अपने बद्ध आयुकर्म द्वारा प्राप्त आयुष्य के उदय से उस भव में अपने शरीर के साथ रहने को। स्पष्ट शब्दों में कहें तो अध्यवसाय से गृहीत कर्मदलिक की स्थिति के काल का नियमन स्थितिबन्ध है। बन्ध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ ठहरता (रहता) है, वह उसका स्थितिकाल है। बँधने वाले कर्मों में इस स्थितिकाल की मुहर पड़ने (निश्चित हो जाने) को स्थितबन्ध कहते हैं। बद्ध कर्म का जीव के साथ सम्बद्ध रहने के काल का निर्धारण करना स्थितिबन्ध का कार्य है। यानी जीव ने जैसा, जिस प्रकार से, जिस भाव से कर्म बाँधा है, उसे तदनुसार फलप्रदान करने की कालमर्यादा का निश्चय करना स्थितिबन्ध का कार्य है।

वह स्थिति दो प्रकार की बताई गई है–जघन्य (कम से कम) स्थिति और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) स्थिति। जैन-कर्मविज्ञान ने कर्म की आठों मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का स्पष्ट निरूपण किया है तथा संख्यात, असंख्यात, पल्योपम एवं सागरोपम कालमान का भी स्वरूप बताया है।

स्थितिबन्ध और अबाधाकाल

किसी भी कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के बाद जब तक वह कर्म उदय में नहीं आता, तब तक उस जीव को बाधा नहीं पहुँचाता, तब तक के काल को कर्मविज्ञान 'अबाधाकाल' कहता है। यानी जब तक कृत (बद्ध) कर्म उदय या उदीरणा को प्राप्त होकर फल न दे, तब तक का काल अबाधाकाल कहलाता है। संक्षेप में कर्म की बाधा-पीड़ा उत्पन्न न करने वाला काल अबाधाकाल है। ऐसी स्थिति में–उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के निर्धारित काल से उदयकाल तक के बीच में वह कर्म सत्ता में पड़ा रहता है। यदि कर्म निकाचितरूप से नहीं बँधा हो तो अबाधाकाल के दौरान उसमें शुभ का अशुभ रूप में, अशुभ का शुभ रूप में परिवर्तन या सजातीय में संक्रमण भी किया जा सकता है, क्योंकि शुभ-अशुभ कर्म का काल पकने पर ही वह कर्म उदय में आकर उसका फल भुगवाता है, पहले नहीं।

अबाधाकाल का मापदण्ड

कर्मविज्ञान के नियमानुसार अबाधाकाल का मापदण्ड इस प्रकार का है–यदि किसी कर्म की एक कोटाकोटि सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है तो उसमें १०० वर्ष का अबाधाकाल होता है। इस दृष्टि से ३० कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति का अबाधाकाल ३० × १०० = ३००० वर्ष होता है।

दो प्रकार की स्थिति : यहाँ कौन-सी मान्य ?

कर्मविज्ञान में कर्मों की स्थिति भी दो प्रकार की बताई है–(१) कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा स्थिति, और (२) अनुभवयोग्या स्थिति। जब तक अमुक कर्म आत्मा के साथ रहता है, उसने काल का परिमाण कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा स्थिति कहलाती है, और उस कर्म की अबाधाकालरहित स्थिति अनुभवयोग्या स्थिति कहलाती है। स्थितिबन्ध के प्रकरण में कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा स्थिति ही बताई गई है।

आयुष्यकर्म के अबाधाकाल में अबाधाकाल का पूर्वोक्त नियम लागू नहीं होता, वह सुनिश्चित नहीं होता।

जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी कौन-कौन ?

इसके पश्चात् कर्मविज्ञान ने जघन्य और उत्कृष्ट अबाधाकाल का प्रमाण भी बताया। साथ ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के तथा जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी कौन-कौन और कैसे-कैसे होते हैं? इसका विश्लेषण भी किया है। वस्तुतः स्थितिबन्ध में कषाय के साथ त्रिविधयोग का भी संयोग होता है। गौण रूप से अमुक कायादिक अध्यवसाय से युक्त मन-वचन-काया के योग से मुक्त होती है। अतः योगस्थानों के कारण स्थितिस्थानों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। इस प्रकार स्थितिबन्ध को विविध पहलुओं से समझाया गया है।

●●

कर्मविज्ञान : भाग ५ का सारांश

कर्मबन्ध की विविध दशाओं का वर्णन

कर्मबन्धों की विविधता एवं विचित्रता

कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या करने के बाद कर्मविज्ञान ने कर्मबन्ध के साथ-साथ प्रकृतिबन्ध आदि चार रूपों में उसका वर्गीकरण करके उनसे होने वाली विविध दशाओं का भी विशद निरूपण किया है। पिछले अध्याय में बन्ध के घाति-अघाति तथा पुण्य-पापरूपों का निरूपण किया जा चुका है। इस अध्याय में कर्मबन्ध की विविध दशाओं का वर्णन करने हेतु सर्वप्रथम आठ मूलकर्मप्रकृतियों तथा उत्तरकर्मप्रकृतियों के बन्धस्थानों का सांगोपांग निरूपण किया है। साथ ही भूयस्कारबन्ध, अल्पतरबन्ध, अवस्थितबन्ध और अवक्तव्यबन्ध का भी विस्तृत वर्णन किया है। इसी प्रकार पूर्व-अध्याय में वर्णित द्रव्यबन्ध और भावबन्ध के भी दो प्रकार बताएँ हैं–प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध। जीवन में प्रतिक्षण होने वाले प्रयोगबन्ध के भी दो रूप शास्त्रों में बताये हैं–शिथिलबन्धनबद्ध और गाढ़बन्धनबद्ध, जिसका विश्लेषण हम स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचितरूप से पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसी प्रकार भावबन्ध के भी मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध के भेद से दो प्रकारों का भी विशद निरूपण कर चुके हैं। इसी प्रकार विभिन्न भावों, परिणामों और लेश्याओं को लेकर भगवतीसूत्र में बन्ध के तीन प्रकार बताये गये हैं–जीवप्रयोगबन्ध, अनन्तरबन्ध और परम्परबन्ध। वैदिक मनीषियों ने जिसे ऋणानुबन्ध कहा है, उस परम्पराबन्ध का तथा रागबन्ध और द्वेषबन्ध का भी कर्मविज्ञान के इस खण्ड में विस्तार से निरूपण किया गया है।

ध्रुव-अध्रुवरूपा बन्ध-उदय-सता-सम्बद्धा प्रकृतियाँ

यह तो हुई विविध प्रकार के बन्धों की पहचान, किन्तु इन सब कर्मबन्धों के साथ-साथ उनके सहचारी सत्ता, उदय और उदीरणा का व्यापक चिन्तन भी कर्मविज्ञान ने इस खण्ड में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने यह भी बताया है कि कर्म की १४८ उत्तरप्रकृतियों में से बन्ध और उदय के योग्य क्रमशः १२० और १२२ कर्मप्रकृतियों में से कितनी-कितनी और कौन-कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं? कितनी और कौन-सी अध्रुवबन्धिनी हैं? कितनी और कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवोदया या अध्रुवोदया हैं? तथा कितनी और कौन-सी प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका या अध्रुवसत्ताका हैं? साथ ही ध्रुवबन्धिनी-अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया-अध्रुवोदया एवं ध्रुवसत्ताका-अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का स्वरूप तथा उनके कारण एवं वे प्रकृतियाँ ध्रुव-अध्रुव-बन्ध-उदय-सत्ता के रूप में उतनी-उतनी ही क्यों? इसका भी विश्लेषण किया गया है।

परावर्तमाना-अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य

इसी प्रकार जो दूसरी कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय और बन्धोदय को रोककर अपना बन्ध, उदय और बन्धोदय करती हैं, उन परावर्तमाना तथा जो प्रकृतियाँ तेजीली और तीव्ररूप से आगे बढ़ने वाली परावर्तमाना कर्मप्रकृतियों को बन्ध, उदय और बंधोदय करने में रोकती नहीं हैं उन अपरावर्तमाना कर्मप्रकृतियों के स्वरूप का तथा घाति-अघाति कर्मप्रकृतियों में से कितनी परावर्तमाना हैं, कितनी अपरावर्तमाना हैं? इनका समुचित विश्लेषण भी किया है।

गति-स्थिति-भवपुद्गल-पुद्गल-परिणमन-निमित्त से विपाकाधारित कर्मप्रकृतियाँ

इससे आगे यह भी बताया गया है कि जीव के द्वारा तीव्र-मन्द-कषाय भावों से किसी कार्य के निमित्त से पहले बाँधे हुए कर्मों का विपाक यानी कर्मफल का भोग (वेदन) विविध एवं विशिष्ट प्रकार का होता है। अर्थात् पूर्वबद्ध कर्म, रसोदय के अनुरूप जब फलभोग कराने के अभिमुख होते हैं, तब उस कर्म के उदय

अथवा उदीरणा के अनुसार अनुभव (फलभोग) को विपाक कहते हैं। प्रज्ञापनासूत्रानुसार वे पूर्वबद्ध कर्म अपना विपाक (फलानुभव) कभी गति के निमित्त से, कभी स्थिति के निमित्त से, कभी भव के निमित्त से, कभी पुद्गल के निमित्त से और कभी पुद्गलों के परिणमन-विशेष के निमित्त से कराते हैं। इन्हीं पाँचों निमित्तों को कर्मवैज्ञानिकों ने क्षेत्र, काल, भव, पुद्गल और भाव (जीव के भाव या पुद्गल परिणमन) कहा है। साथ ही अष्टकर्म के विभिन्न विपाकों का भी दिग्दर्शन किया गया है। विपाक में उपादान के साथ निमित्त का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह निमित्त भी स्वतः, परतः और उभयतः उदीर्ण होता है। इसी प्रकार परिस्थिति, वातावरण या विशिष्ट व्यक्ति आदि से भी विपाक को निमित्त मिल जाता है। कोई भी कर्म स्पृष्ट, बद्ध आदि १२ प्रकार की प्रक्रियाओं के कारण विपाकयोग्य बनता है।

विपाक के भी दो प्रकार हैं–हेतुविपाक और रसविपाक। हेतुविपाकी के ४ भेद इस प्रकार होते हैं–क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी। इन चतुर्विध हेतुविपाकी कर्मप्रकृतियों के भी क्रमशः ४, ४, ७८ और ३६; यों कुल मिलाकर १२२ भेद होते हैं। रसविपाकी कर्मप्रकृतियों के भी ४ प्रकार हैं–एकस्थानरसा, द्विस्थानरसा, त्रिस्थानरसा और चतुःस्थानरसा।

कर्मविज्ञान की महान् देन

इस प्रकार विपाकाधारित कर्मप्रकृतियों को जानकर मुमुक्षुसाधक कर्म के विपाकोन्मुख होने (उदय में आने) से पहले ही अगर सावधान होकर उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण, उपशमन, उदीरण आदि परिणामों द्वारा बदल डालता है, अथवा उदय में आने पर भी समभाव से फल भोगकर अनुभाग (रस) और स्थिति में परिवर्तन या उक्त कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम कर सकता है। कर्मविज्ञान की यह महान् देन है।

कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ

कर्मविज्ञान ने इन दो भ्रान्तियों का निराकरण कर्मबंन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ बताकर कर दिया है–(१) जैसा कर्म बाँधा है, वैसा ही भोगना पड़ेगा, और (२) संसार जीव के राग-द्वेषयुक्त भावों से कर्म और कर्म से भाव, फिर कर्मबन्ध और भाव का चक्र अनन्त काल तक चलता रहेगा, ऐसी स्थिति में समस्त कर्मों से छुटकारा पाना नितान्त कठिन है। प्रथम भ्रान्ति के समाधान के लिए ही कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाओं का विशद निरूपण किया गया है। वे दश अवस्थाएँ इस प्रकार हैं–(१) बन्ध (बन्धनकरण), (२) उद्वर्तनाकरण, (३) अपवर्तनाकरण, (४) सत्ता, (५) उदय, (६) उदीरणा, (७) संक्रमण, (८) उपशमन, (९) निर्धत्ति या निधत्त, और (१०) निकाचना। कहीं-कहीं 'क्षय' को भी ग्यारहवीं अवस्था मानी है। अगर कर्म निकाचितरूप से नहीं बँधा हो तो, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, संक्रमण, उपशमन, क्षय, क्षयोपशम आदि के कारण सत्ता में पड़े हुए कर्मों में, जीव द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। दूसरी भ्रान्ति का समाधान यह है कि यदि व्यक्ति बाह्याभ्यन्तर तप, त्याग, प्रत्याख्यान, व्रताचरण, संयम-पालन, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्माचरण, परीषहजय, कषायोपशमन, समभावपूर्वक उपसर्ग-सहन करता है तो पूर्वोक्त कर्मबन्ध की शृंखला को तोड़ सकता है और अर्जुन मुनि, दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र आदि की तरह पूर्वबद्ध शुभ-अशुभ कर्मों को सर्वथा नष्ट करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त भी हो सकता है। कर्म-सिद्धान्तानुसार भी प्रत्येक जीव समय-समय पर (आयुकर्म को छोड़कर) सात कर्मों को बाँधता है, तो सकामनिर्जरा द्वारा न सही अकामनिर्जरा द्वारा भी उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगकर क्षय करता है। अतः यदि पूर्वोक्त दस या ग्यारह अवस्थाओं को हृदयंगम करके अशुभ बन्ध से शुभ बन्ध की ओर और फिर शुभ बन्ध से कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की ओर कदम बढ़ाये तो बन्ध से मोक्ष की ओर गति-प्रगति कर सकता है।

इसके पश्चात् कर्मविज्ञान ने बन्ध की अवस्था से लेकर निकाचनाकरण तक का स्वरूप, कार्य और स्व-पुरुषार्थ के परिणाम का दो अध्यायों में सांगोपांग निरूपण किया है।

बद्ध जीवों के विविध अवस्था-सूचक स्थानत्रय

संसारी जीव अनन्त हैं। उनके तीन रूप हैं–(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, और (३) गुणस्थान। उसका प्रथम रूप है–बाह्य शारीरिक। अर्थात् वह जीव १४ प्रकार के जीवों में से शरीर, इन्द्रिय, गति, काय,

योग, वेद आदि शरीर रचना के कारण तथा इनकी न्यूनाधिक संख्या के कारण कैसी-कैसी अवस्था होती है? ये रूढ़ कर्मकृत शारीरिक अवस्थाएँ जीवस्थान के द्वारा सूचित होती हैं। इन सब जीवों का दूसरा रूप है शरीर और आत्मा के विकास का मिश्रित रूप। इससे गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि शारीरिक विकास-ह्रास की भिन्नताओं के अतिरिक्त कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक आदि की मार्गणाओं (सर्वेक्षणों) द्वारा मानसिक और आध्यात्मिक विकास-ह्रास की भिन्नतासूचक अवस्थाओं का बोध होता है। इसलिए दूसरा रूप मार्गणास्थान है। और तीसरा रूप है–गुणस्थान, जिसके द्वारा आन्तरिक भावविशुद्धि के कारण राग-द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह आदि का क्रमशः क्षय, उपशम या क्षयोपशम द्वारा आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले जीवों की उत्तरोत्तर विकाससूचक १४ अवस्थाओं का बोध होता है। जीवस्थान में जीव क्या है? किसका स्वामी है? इसे किसने बनाया है? यह कहाँ रहता है? वह कितने काल तक रहता है? तथा वह कितने भावों से युक्त होता है? ये कुछ शंकाएँ प्रस्तुत करके समाधान दिया गया है। तदैव जीवस्थान, उसके १४ प्रकार, उनका स्वरूप भी बताया गया है। अगले अध्याय में पूर्वोक्त १४ जीवस्थानों में (१) गुणस्थान, (२) उपयोग, (३) योग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, और (८) सत्ता, इन आठ विषयों की प्ररूपणा करके उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप-प्रतिपादन करने के साथ ही किस जीव में कौन-से और कितने गुणस्थान आदि पाये जाते हैं? इसका सांगोपांग वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारकत्व, इन चौदह मार्गणाद्वारों द्वारा १४ प्रकार के संसारी जीवों का सर्वेक्षण किया गया है। तदनन्तर अगले अध्याय में चौदह मार्गणाओं के ६२ उत्तरभेदों द्वारा जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व इन छह का सर्वेक्षण किया गया है।

इसके पश्चात् गुणस्थान की अपेक्षा से मार्गणाओं द्वारा बन्ध-स्वामित्व की प्ररूपणा की गई है।

मोह से मोक्ष तक की चौदह मंजिलें

तेरहवें अध्याय में मोह से मोक्ष तक की १४ मंजिलों का–१४ गुणस्थान के रूप में स्वरूप, स्वभाव, कार्य और अधिकारी तथा गुण-प्राप्ति का सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसी से सम्बन्धित–गाढ़बन्धन से पूर्ण मुक्ति तक के १४ सोपानों के उद्देश्य, नाम, क्रम, अधिकारी, आन्तरिक शुद्धि-अशुद्धि का नाप-तौल, परस्पर सम्बन्ध आदि का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है तथा अन्त में दर्शनमोह-मुक्तिपूर्वक सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीनों की प्रक्रिया, कार्य और ग्रन्थि-भेद का वर्णन किया है।

गुणस्थान का स्वरूप बताकर आत्मा के गाढ़बन्धन से लेकर ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आत्म-गुणों के सोपानों पर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का गुणस्थान क्रमारोह है। इस सोपानक्रम को जान लेने पर जिज्ञासु को यह बोध हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की उत्तरोत्तर आरोहणावस्था किन-किन कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, संक्रमण आदि से होती है? गुणस्थानक्रम को जान लेने पर उस-उस गुणस्थानवर्ती जीव की आन्तरिक शुद्धि-अशुद्धि का भी यथार्थ बोध हो जाता है। वस्तुतः स्व-भावरमणता, आत्मोन्मुखता या आत्म-स्थिरता का तारतम्य दर्शन-शक्ति और चारित्र-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर अवलम्बित है। दर्शन-शक्ति का विकास होने पर चारित्र-शक्ति का अनायास ही विकास होने लगता है। जैसे-जैसे उत्तरोत्तर चारित्र-शुद्धि होने लगती है, वैसे-वैसे आत्म-स्थिरता की मात्रा भी अधिकाधिक होने लगती है। जन्म-मरणादि दुःखों से पूर्ण मुक्ति के हेतु रत्नत्रयोपलब्धि के लिए ये १४ सोपान हैं। वस्तुतः पहले और चौदहवें गुणस्थान के बीच में जो दूसरे से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं, वे कर्म और आत्मा के द्वन्द्वयुद्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली क्रमिक उपलब्धियों के नाम हैं।

विविध दर्शनों में आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाएँ

जैनदर्शन ने तीन अवस्थाओं में आत्मा का आध्यात्मिक विकास का क्रम बताया है–बहिरात्मदशा, अन्तरात्मदशा और परमात्मदशा। पहली दशा में मोहकर्म की दोनों शक्तियों से आत्मा अतीव आच्छन्न रहता

है। दूसरी प्रकार द्वितीय दशा में आत्मा का आवरण गाढ़ न होकर उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है, तीसरी परमोत्कृष्टदशा में आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। कर्मों के घने आवरण सर्वथा विलीन हो जाते हैं।

इसके पश्चात् इन तीनों का किस-किस गुणस्थान में प्रादुर्भाव तथा उत्तरोत्तर विकास की कैसी-कैसी अवस्था होती है? इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। योगवेत्ता जैनाचार्य ने इन्हें क्रमशः पतित्व, साधक और सिद्ध अवस्था कहा है।

'योगवाशिष्ठ' में अज्ञान और ज्ञान की जो सात-सात भूमिकाओं का निरूपण किया गया है, इन्हें उन्होंने क्रमशः अविकासक्रम और विकासक्रम में गिनाया है। योगदर्शन की दृष्टि से चित्त की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं–मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। प्रथम तीन अवस्थाएँ अविकासक्रम को तथा अन्तिम दो अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकासक्रम को सूचित करती हैं।

बौद्धदर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ 'त्रिपिटक' में आध्यात्मिक विकासक्रम की ६ स्थितियाँ बताई हैं–अन्धपृथुज्जन, कल्याणपृथुज्जन, सोतापन्न, सकदागामी, औपपत्तिक या अनागामी और अरहा। 'मज्झिमनिकाय' में उक्त पाँच अवस्थाओं में से प्रथम 'धर्मानुसारी' अवस्था में अन्धपृथज्जन और कल्याणपृथुज्जन इन दोनों अवस्थाओं का समावेश कर दिया है।

आजीवक मत में आध्यात्मिक विकास के ८ सोपान बताये हैं–मंदा, खिड्डा, पदवीमंसा, उज्जुगत, सेक्ख, समण, जिन और पन्न। इन ८ भूमिकाओं पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ये न तो आत्मा से सम्बद्ध हैं और न ही कर्म के संयोग-वियोग से।

इसके पश्चात् पूर्वोक्त चतुर्दश गुणस्थानों में जीवों के आत्म-गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के क्रमशः अपकर्ष और उत्कर्ष तथा अशुद्धि के अपकर्ष और शुद्धि के उत्कर्ष के विकासक्रम की प्ररूपणा की गई है, अर्थात् गुणस्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अल्पबहुत्व, भाव और संख्यातादि संख्या, इन १२ विषयों की प्ररूपणा की गई है। आत्मिक-गुणों की शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता का मुख्य कारण मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि हैं। प्रतिरोधक कर्मों की न्यूनाधिकता के कारण ज्ञानादि गुणों की शुद्धि की न्यूनाधिकता होती है। इन बारह ही प्ररूपणीय विषयों की विशदरूप से प्ररूपणा की गई है। इसका यंत्र भी अन्त में दिया गया।

इससे अगले अध्याय में गुणस्थानों में पूर्वप्ररूपित बन्ध, सत्ता, उदय और उदीरणा की उत्तरकर्मप्रकृतियों की दृष्टि से प्ररूपणा की गई है।

इसके अन्तर आत्मा के स्व-रूप नहीं, किन्तु स्व-तत्त्वरूप पाँच भावों को गुणस्थानों की दृष्टि से सांगोपांग प्ररूपण किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिकभाव का स्वरूप क्या है? किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन-से भाव रहते हैं? तथा मुमुक्षुसाधक के लिए इन पाँच भावों में से कौन-से भाव उसकी आत्मा की स्वतंत्रता का हनन या ह्रास करते हैं, कौन-से न्यूनाधिक करते हैं, कौन-से नहीं करते? तथा कर्ममुक्ति की ओर बढ़ने के लिए मुमुक्षु को किन-किन भावों को अपनी भूमिकानुसार अपनाना या त्यागना चाहिए? इन पाँच भावों में स्वाभाविक-वैभाविक, शुद्ध-अशुद्ध तथा बन्धक-अबन्धकभाव कौन-कौन-से हैं? आगम की भाषा में जिन्हें औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव कहा जाता है, उन्हें आध्यात्मिक भाषा में शुद्धाभिमुख परिणाम कहा जाता है और क्षायिकभाव को शुद्धोपयोग। तत्पश्चात् इन पाँच भावों के कार्य तथा फल का तथा इनमें परस्पर अन्तर का निरूपण किया गया है। अन्त में औपशमिकादि पाँच भावों के प्रत्येक उत्तरभेदों का निरूपण करके यंत्र के द्वारा समझाया गया कि कौन-से गुणस्थान में कितने भाव रहते हैं और क्यों? वस्तुतः औपशमिक आदि पाँच भावों के स्वरूप, कार्य, प्रकार तथा हेयोपादेयत्व का ज्ञान होने से मुमुक्षुसाधक सर्वकर्ममुक्ति की ओर आसानी से प्रस्थान कर सकता है।

ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग : उपशम और क्षपण

मोक्ष की ओर तेजी से ऊर्ध्वारोहण करने के लिए कर्मविज्ञान ने दो श्रेणियाँ बताई हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी वाला सातवें गुणस्थान से मोहकर्म के सैनिकों का उपशमन-दमन करता हुआ चलता है। सर्वप्रथम बुद्धि, स्मृति, आत्म-ज्ञान एवं आत्म-विद्या को कुण्ठित, आवृत एवं विमूढ़ करने वाला अनन्तानुबन्धी कषाय का, तदनन्तर दर्शनमोहनीय कर्म का, फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेद का उपशम करता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का क्रमशः युगपत् उपशम करके तत्सदृश संज्वलन क्रोधादि का उपशम करता है। इस प्रकार उपशमश्रेणी वाला संसारयात्री क्रमशः आगे बढ़ता है, बीच-बीच में विश्राम लेता है, विघ्न-बाधाओं को शान्त करता हुआ आगे बढ़ता है। क्षपकश्रेणी वाला संसारयात्री मोहकर्म की चाल को सर्वथा निर्मूलन करता हुआ आगे बढ़ता है। दोनों श्रेणी के आरोहकों का मार्ग सातवें गुणस्थान से आगे फट जाता है। उपशमश्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों का सर्वथा उपशम किया जाता है जबकि क्षपकश्रेणी में उन्हीं प्रकृतियों को मूल से सर्वथा (क्षय) किया जाता है। यानी उपशमश्रेणी में केवल उन प्रकृतियों के उदय को शान्त किया जाता है, सत्ता तो बनी रहती है, जबकि क्षपकश्रेणी में उन प्रकृतियों की सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है। उपशमश्रेणी में अन्तर्मुहूर्त के बाद पतन का भय है, क्षपकश्रेणी में पतनभय बिलकुल नहीं रहता। उपशमश्रेणी में केवल मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही उपशम होता है, जबकि क्षपकश्रेणी में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के साथ-साथ नामकर्म की कुछ प्रकृतियों तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों का भी क्षय होता है। आगे उपशमश्रेणी में प्रकृतियों के उपशम के क्रम की तरह क्षपकश्रेणी में भी प्रकृतियों के क्षय का क्रम बताया है। दोनों की दौड़ मोक्ष की ओर है, पर एक सुस्ती से विश्राम लेता हुआ गति करता है, दूसरा तीव्र गति से सीधा गति करता हुआ मोक्ष के शिखर पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है।

ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण

वैदिकधर्म-प्रतिपादित ऋणानुबन्ध को जैन-कर्मविज्ञान की दृष्टि से जन्म-जन्मान्तर से बँधे हुए शुभाशुभ कर्म की परम्परा कह सकते हैं। पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मबन्ध ही एक प्रकार का ऋण है, वह जिसका, जिसके साथ, जिस जन्म में बँधा है, उसका फलभोग अगले जन्म या जन्मों में उदय में आकर उसी जीव के निमित्त से होता है। फिर वह जीव देव, मनुष्य या तिर्यंच किसी भी रूप में आकर उक्त बद्ध कर्म का ऋण उतारकर वसूल कर लेता है अथवा पारिवारिक सांसारिक सम्बन्धों से जुड़कर ऋण वसूल करता है, या उतारता है। वह ऋणानुबन्ध शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का हो सकता है। कभी-कभी एक भव में ही ऋणमुक्ति हो जाती है, और कभी कई भवों तक ऋणानुबन्ध-परम्परा चलती है। जैसे गुणसेन के जीव के साथ अग्निशर्मा के जीव की ऋणानुबन्ध-परम्परा नौ भवों तक चली थी। कभी-कभी समभाव से अशुभ ऋणानुबन्ध का फल भोगकर उसी भव में जीव मुक्त हो जाता है। मनुष्य का मनुष्य के साथ बँधा हुआ अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय अशुभ होता है, कभी-कभी ऊँट, बैल आदि बनकर भी बँधा हुआ ऋणानुबन्ध चुकाना पड़ता है। कुछ सच्ची घटनाएँ देकर इन तथ्यों को प्रमाणित किया है। ऋणानुबन्ध के नियमों को जानने से बद्ध कर्मों का निरोध और क्षय आसान हो जाता है। अन्त में, ऋणानुबन्ध के अशुभ उदय को अप्रभावी, शान्त और क्षीण करने के कतिपय अनुभवयुक्त उपाय भी बताये गये हैं। वीतराग प्रभु से प्रार्थना भी एक अचूक उपाय है, अशुभोदय से शान्ति का।

रागबन्ध और द्वेषबन्ध के विविध पैंतरे

रागभाव और द्वेषभाव दोनों संसारी जीव की छद्मस्थ अवस्था समाप्त होने तक लगे रहते हैं। ये दोनों दो प्रकार के विद्युत् (ए. सी. और डी. सी.) के समान हैं। रागभाव खींचता है और द्वेषभाव झटका देकर दूर फेंकता है। रागभाव किसी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, पद, प्रतिष्ठा या शरीरादि के प्रति आसक्ति या मोह आदि के रूप में होता है, जबकि द्वेषभाव इन्हीं में से किसी के प्रति अरुचि, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध आदि के रूप में होता है। दोनों ही अष्टविध कर्मबन्ध के कारण हैं। मिथ्यात्व आदि तो बाद में कर्मबन्ध के कारण बनते हैं, सर्वप्रथम राग और द्वेष से ही कर्म के आस्रव और बन्ध का दौर शुरू होता है। प्रायः

विषयों के निमित्त से राग-द्वेष होता है, फिर उनके कारण कर्मबन्ध और फिर उदय, यह कर्मबन्ध-परम्परा चलती रहती है। राग-द्वेष की तीव्रता ही भव-परम्परा की कारण है। तीव्र द्वेष की तरह तीव्र राग भी भव-परम्परा बढ़ाता है। राग और द्वेष विकारयुक्त सम्बन्ध जोड़ने के कारण दुःखवर्धक, चारित्रगुणनाशक और सद्गुण शत्रु होते हैं। राग के मुख्यतया तीन प्रकार हैं–कायराग, स्नेहराग और दृष्टिराग। इनमें दृष्टिराग सबसे भयंकर है। स्नेहराग में देव, गुरु और धर्म के प्रति प्रशस्तराग भी हो सकता है। बाकी तीव्र कायराग और तीव्र दृष्टिराग तो दुर्गति का कारण है ही। राग और द्वेष को विभिन्न रूपों में क्रियान्वित करने वाले क्रमशः इच्छा, मूर्च्छा आदि तथा ईर्ष्या, रोष आदि भी मानसिक अशान्ति तथा जन्म-मरणादि परम्परा के जनक हैं। कषायों के समान राग-द्वेष की भी तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से ६-६ डिग्रियाँ हो सकती हैं। वस्तुतः दोनों में आकुलता और उद्विग्नता है। दोनों ही विकार व्यक्ति की सुख-शान्ति को चौपट कर देते हैं। जहाँ राग होगा, वहाँ दूसरे पक्ष के प्रति बहुधा द्वेष भी होता है। राग और द्वेष के विविध रूपान्तर और विकल्प भी होते हैं। मुख्यतः चार विकल्प इस प्रकार हैं–राग से राग, राग से द्वेष, द्वेष से राग और द्वेष से द्वेष। इन चारों को उदाहरण देकर समझाया गया है। संसार में राग की अधिकता है या द्वेष की? ये दोनों ही निमित्ताधीन तथा व्यक्ति के परिणामों पर निर्भर हैं। किन्तु राग की अपेक्षा द्वेष को शीघ्र शान्त न किया जाये तो खतरनाक और वैर-परम्परावर्द्धक हो जाता है। साधक के जीवन में राग और द्वेष हो तो मोक्षमार्ग के सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टय की, बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण, पंचाचार एवं विविध अध्यात्म साधनाओं की यह तो क्षति है। जरा-सा भी रागभाव मोक्ष का प्रतिबन्धक है। नीचे की भूमिका में अप्रशस्तराग का तो सर्वथा त्याग होना चाहिए, प्रशस्तराग कथंचित् क्षम्य है। किन्तु प्रशस्तराग अपनाने से पहले इस चतुर्भंगी का चिन्तन करना उचित है–(१) रागी का त्याग, (२) राग का त्याग, (३) त्यागी के प्रति राग, और (४) त्याग के प्रति राग। सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म के प्रति प्रशस्तराग करने के समय भी साधकों में मुमुक्षा, विरक्ति, निःस्पृहता अहेतुकी भक्ति और आत्मार्थीपन होना जरूरी है, अन्यथा विवेकहीन मूढ़तायुक्त रागभाव मोक्ष के बदले मोह की ओर प्रेरित करेगा। फिर भी मंद बुद्धि श्रद्धालु साधकों के लिए भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग और धर्मानुराग कथंचित् उपादेय हो सकते हैं, किन्तु कर्मों के क्षय करने का लक्ष्य रखकर उन्हें भी इन अवलम्बनों का त्याग करना अभीष्ट है।

●●

कर्मविज्ञान : भाग ६ का सारांश

संवरतत्त्व के विविध रूपों का विवेचन

कर्मों के आस्रव और संवर, बन्ध और निर्जरा तथा मोक्ष के स्वरूप का एवं उनके कारणों का, आस्रव और बन्ध के विविध प्रकारों का विस्तृत रूप से विवेचन करने के बावजूद भी आस्रवों के निरोध एवं बन्ध के क्षय करने अर्थात् नये आते हुए कर्मों को रोकने और पुराने बँधे हुए कर्मों को क्षय करने अथवा उनके उदय में आने से पूर्व ही उदीरणा, उपशमना, उद्वर्तन, संक्रमण आदि के द्वारा अशुभ को शुभ में बदल देने, स्वयं तपश्चरण आदि के द्वारा उदीरणा करके क्षय कर देने, दबा देने तथा उस पूर्वबद्ध कर्म के रस (अनुभाग) और स्थिति को कम कर देने के विविध सिद्धान्त बता देने पर भी विविध रूपों में निर्दिष्ट संवर, निर्जरा और मोक्ष को जीवन में क्रियान्वित करने के सक्रिय उपाय, आचार तथा आधार क्या-क्या हैं? उन्हें जीवन में आचारित करने में किन-किन बाधक, प्रतिबन्धक एवं विपरीत तत्त्वों से आत्म-रक्षा करनी पड़ती है? कर्मनिरोध एवं कर्मक्षय के उपायों एवं साधक तत्त्वों को अपनाते समय भी कर्मबन्धकारक, संसारवर्द्धक किन-किन दोषों से बचना आवश्यक है ताकि सम्यक्रूप से संवर, निर्जरा और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष का आचरण हो सके? इन्हीं प्रबल जिज्ञासाओं को शान्त और समाहित करने हेतु जैन आगमों, शास्त्रों, ग्रन्थों, दर्शनशास्त्रों, तत्त्वार्थसूत्र, कर्मग्रन्थ, कम्मपयडी, गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह, पंचसंग्रह आदि विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर कर्मविज्ञान में विशद रूप से अगले भागों में निरूपण किया गया है।

कर्मविज्ञान के प्रस्तुत छठे भाग में कर्मों के संवर के सक्रिय उपायों, आधारों तथा आचारों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

कर्ममुक्ति के लिए चार तत्त्वों का ज्ञान और तदनुरूप उपाय

जिस प्रकार निष्णात चिकित्सक रोगी के रोग, रोग के हेतु, रोगमुक्ति के हेतु और रोगमुक्ति (आरोग्य-प्राप्ति), इन चारों का सम्यक् परिज्ञान करके उसकी व्याधि की चिकित्सा करता है, इसी प्रकार कर्मविज्ञान-निपुण संसारी साधक भी (कर्म के आस्रव और बन्ध) कर्म, कर्म के हेतु, कर्ममुक्ति और कर्ममुक्ति के हेतु को जानकर ही कर्मरोग से सर्वथा मुक्ति के लिए पुरुषार्थ कर सकता है।

जैनागमों में एक सिद्धान्त बताया गया है कि ज्ञपरिज्ञा से हेय तत्त्व को तथा इससे सम्बद्ध तथ्यों को जानो और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्यागो। इस दृष्टि से मुमुक्षु को सर्वप्रथम ज्ञपरिज्ञा से आस्रव और बन्ध को भलीभाँति जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनका त्याग करके उनके स्थान में कर्ममुक्ति के उपायरूप संवर और निर्जरा के कर्मविज्ञान में बताये उपायानुसार अभ्यास एवं पुरुषार्थ करना चाहिए। कायिक रोगों की तरह मनोकायिक रोगों–भावरोगों की चिकित्सा के लिए तथा आत्मिक स्वस्थता के लिए भी चार तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है। यह तथ्य उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। विभावों से बचकर स्व-भाव में रमण करने हेतु इसी तरह मनोकायिक कर्मरोगों की चिकित्सा आलोचनादि द्वारा की जानी आवश्यक है। ऐसी अध्यात्म-चिकित्सा संवर और निर्जरा के सक्रिय आचरण द्वारा ही हो सकती है। इन और ऐसे ही उपायों से कर्मपुद्गल आत्मा से पृथक् हो सकते हैं। पातंजल योगदर्शन, सांख्यदर्शन तथा बौद्धदर्शन आदि में भी कर्मों को दुःखरूप मानकर पूर्वोक्त प्रकार से चार तथ्यों का ज्ञान और हेय तत्त्वों से मुक्ति का उपाय बताया गया है।

धर्म और कर्म का कार्य, स्वभाव और प्रभाव

धर्म और कर्म दोनों एक आत्मा में रहते हैं, फिर भी दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है, दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप है, स्वभाव भी पृथक्-पृथक् है और दोनों का कार्य भी पृथक्-पृथक् है। जीवन में धर्म आत्मा का निजी

गुण है, स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप है। इन्हीं का समन्वितरूप कर्ममुक्ति का मार्ग है, ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध-सुख (आनन्द) और शक्ति, ये आत्म-स्वभाव धर्म हैं। कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं है, न ही आत्मा का निजी गुण है। भावकर्मबन्ध के स्रोत कषाय या राग-द्वेष आदि हैं, जो आत्मा को परतंत्रता में, परभावों में जकड़ने-बाँधने वाले हैं। पुण्य और पाप के रूप में शुभ और अशुभ कर्म संसार के मार्ग हैं, वे धर्म की तरह मोक्षमार्ग नहीं हैं। परन्तु बहुधा इस तत्त्व-तथ्य से अनभिज्ञ लोग धर्म और शुभ कर्म (पुण्य) को भ्रान्ति, मिथ्यात्व एवं अज्ञानवश एक समझ लेते हैं। धर्म से सांसारिक सुख, सुख के साधन और धनादि की प्राप्ति होना मानते हैं, जोकि प्रायः पुण्य का कार्य है। पुण्य न तो कर्मों को रोकता है और न ही क्षय करता है। शुद्ध धर्म ही कर्मों का निरोध और क्षय कर सकता है। धर्म और पुण्य को एक मानने से शुद्ध धर्म के मूल्यों की हानि हुई है, अधिकांश लोगों का रुझान तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, व्रत आदि के आचरण से हटकर प्रायः शुभ कार्य करने अथवा पूर्व पुण्योदयवश धनादि या सुख-साधनादि की प्राप्ति में लग गया है। शुद्ध धर्म के प्रति उन लोगों की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं पुरुषार्थ शिथिल और मन्द हो गये हैं। एक सच्ची घटना द्वारा इस तथ्य को समझाया गया है। साथ ही धर्माचरण करने और न करने वाले दोनों के जीवन में पूर्वकृत कर्मवश कष्ट आना सम्भव है, किन्तु धार्मिक और अधार्मिक दोनों के कष्ट भोगने में अन्तर से तथा शुद्ध धर्म के कार्य की शुभ कर्म के कार्य से भिन्नता तथा आन्तरिक चेतना में परिवर्तन-अपरिवर्तन से भी इन दोनों के पृथक्-पृथक् कार्य एवं परिणाम का अनुमान किया जा सकता है।

धर्म और कर्म की विरोधी दिशाएँ : एक विश्लेषण

धर्म केन्द्र-बिन्दु है-जागृति का और कर्म का है-मूर्छा या मूढ़ता। जागृति संवर और निर्जरा है, जबकि मूर्छा या मूढ़ता आस्रव और बन्ध है। आठ कर्मों में सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है, जो आत्मा की शुद्ध दृष्टि (दर्शन) और चारित्र दोनों को सुषुप्त, मूर्च्छित, आवृत और कुण्ठित करता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की शक्ति को आवृत करते हैं। अन्तराय कर्म आत्मा की दान-लाभ-भोगोपभोग एवं वीर्य की शक्तियों को प्रकट और आचरित नहीं होने देता, वह उन्हें कुण्ठित और विकृत कर डालता है।

शुद्ध धर्म और कर्म के आचरण करने वालों की वृत्ति-प्रवृत्ति में अन्तर

संवर और निर्जारूप शुद्ध धर्म के आचरण एवं पुरुषार्थ से ही पूर्वोक्त चारों आत्म-गुणों-अध्यात्म-शक्तियों को जाग्रत, अनावृत किया जा सकता है। किन्तु मिथ्यात्व आदि पंचविध कर्महेतुओं से बचकर ही पूर्वोक्त शुद्ध धर्म का आचरण किया जा सकता है। शुद्ध धर्माचरणी पुरुष कष्ट, विपत्ति या दुःख आ पड़ने पर समभाव से सहन करता है, निमित्तों को दोष नहीं देता, किन्तु मोह आदि कर्मों से ग्रस्त व्यक्ति कर्मोदयवश दुःख आ पड़ने पर शान्ति, समभाव और धैर्य छोड़ देता है, निमित्तों को कोसने लगता है, समभाव से दुःखों को नहीं सहता। हम देखते हैं कि विश्व के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी बहुधा उपासनात्मक धर्म को अपनाकर ही धर्माचरण की इति समाप्ति मान लेते हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का आचरण नहीं कर पाते। धर्म को केवल परलोक में सुख-प्राप्ति का साधन मानते हैं। अथवा भय एवं प्रलोभन के आधार पर धर्म के बाह्यरूप-क्रियाकाण्ड का आचरण करते हैं। यही कारण है, तथाकथित उपासनात्मक या ज्ञानशून्य क्रियाकाण्डपरक धर्माचरण से उनके जीवन में शान्ति, समता, सहिष्णुता, संयम, त्याग, आभ्यन्तर तपःपरायणता के रूप में परिवर्तन नहीं आता, जबकि वास्तविक अहिंसा-संयम-तपरूप धर्म के आचरण से जीवन में उपर्युक्त गुणों का साकाररूप दिखाई देता है।

इसके पश्चात् धार्मिक और अधार्मिक व्यक्ति की दृष्टि, रुचि और विशेषताओं का अन्तर भी कर्मविज्ञान ने स्पष्ट किया है। धार्मिक व्यक्ति कर्मजनित और धर्मजनित सुख का विश्लेषण करके कर्मजनित सुख में आसक्त नहीं होता, दुःख में घबराता नहीं, दोनों को समभाव से भोगता है, जबकि अधार्मिक या केवल उपासनात्मक या क्रियाकाण्डपरक धर्म के आचरण को ही वास्तविक धर्माचरण मानने वालों की वृत्ति-प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती। धार्मिक व्यक्ति चार घातिकर्मों के साथ ही चार अघातिकर्मों का भी क्षय एवं निरोध करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह संवर और निर्जरा के अवसर को नहीं चूकता, साथ ही

सहजभाव से प्राप्त पुण्य के अवसर को यानी सातावेदनीय, उच्चगोत्र, शुभ नामकर्म तथा शुभायुष्य के बन्ध को भी नहीं चूकता। अघातिकर्म के आस्रव और बन्ध के कारणों से भी यथाशक्ति बचता है।

जीवन में शुद्ध धर्म की पहचान के लिए तीन लक्षण

आठों ही कर्मों के स्वभाव, कार्य और उनके क्षय का उपाय संक्षेप में बताकर अन्त में, कर्मविज्ञान ने जीवन में शुद्ध धर्म की पहचान के लिए तीन लक्षण बताये हैं–

(१) जीवन में तीव्र राग-द्वेषरहित या तीव्र कषायरहित अहिंसा का यथाशक्ति पालन,

(२) संयम अर्थात् पंचेन्द्रियों और मन पर तथा कषायों पर नियंत्रण, समभाव में रहना, तथा

(३) तप अर्थात् कष्टों को समभाव से व शमभाव से सहने की क्षमता, तितिक्षा।

संवर और निर्जरा किनमें और किनमें नहीं ?

इस जगत् में दो प्रकार की वृत्ति वाले मनुष्य पाये जाते हैं–श्वानवृत्ति वाले और सिंहवृत्ति वाले। श्वान पत्थर में फेंकने वाले को नहीं, माध्यमरूप पत्थर को पकड़ता है, इसी प्रकार अशुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप संकट या कष्ट आने पर श्वानवृत्ति वाले व्यक्ति निमित्तों को पकड़ते हैं, अपने उपादान को नहीं। फलतः कर्मों के संवर या सकामनिर्जरा के अवसर को चूककर नये कर्म और बाँध लेते हैं, जबकि सिंहवृत्ति वाले व्यक्ति निमित्तों को कोई दोष न देकर अपने उपादान को पकड़ते हैं। वे अशुभ कर्मोदयवश संकट या कष्ट आने पर सोचते हैं–मेरे ही किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल है, मैंने ही अज्ञानतावश कर्म बाँधा है, अतः मुझे ही इन कर्मों को वीरतापूर्वक समभाव से भोगकर क्षय करना है। आगे सिंहवृत्ति और श्वानवृत्ति के तुल्य मानवों की वृत्ति-प्रवृत्ति का और कर्म-सरकार की नीति का विविध युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। निमित्तों के प्रति प्रतिक्रिया करने वाला व्यक्ति स्वतः दुःखी होता है, कदाचित् आर्त्त-रौद्रध्यानवश घोर कर्मबन्ध भी कर लेता है। कभी-कभी दुर्भावना, दुश्चेष्टा या दुर्वचन के रूप में प्रतिक्रिया करने वाले व्यक्ति के प्रति सामने से वापस प्रतिक्रिया होती है। उससे वैर-परम्परा बँध जाती है। इसके विपरीत यह सोचे कि यह निमित्त तो कर्मसत्ता के आदेश का पालन करने वाला है। अगर ऐसा विचार करके अर्जुन मुनि की तरह तथा सीता वनवास के समय महासती सीता की तरह सिंहवृत्तिमूलक चिन्तन हो तो प्रतिक्रियाविरति होने से संवर का और समभावपूर्वक कष्ट भोगने से निर्जरा का अनायास लाभ मिल सकता है। अग्निशर्मा के जीव द्वारा हिंसक प्रतिकार करने पर भी जैसे गुणसेन के जीव ने सिंहवृत्तिपूर्वक समभाव से सहन किया तो वह केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वकर्ममुक्त परमात्मा बन गया। अतः सिंहवृत्ति धारण करके प्रतिक्रियाविरति और समभावपूर्वक कष्ट-सहन करने से संवर और निर्जरा दोनों का अनायास ही लाभ मिल जाता है।

समस्या के स्रोत आस्रव और समाधान के स्रोत संवर

संसारी जीव के जीवन में विविध क्षेत्रों की अगणित समस्याएँ पैदा होती हैं। परन्तु जो व्यक्ति समस्याओं के स्रोत को जानकर उनके समाधान के स्रोत को अपना लेता है, वह समस्याओं में उलझकर आर्त्त-रौद्रध्यानवश अशुभ कर्मबन्ध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों को भी उदय में आने से पहले संवर-निर्जरा के उपायों को अपनाकर क्षय कर डालता है, तथैव समस्याओं के स्रोतरूप कर्मों के आस्रव और उनके कारणों पर भी ब्रेक लगा देता है। कर्मविज्ञान की दृष्टि से समस्याओं की जननी पाँच हैं–(१) मिथ्यादृष्टि, (२) अविरति, (३) प्रमादग्रस्तता, (४) कषायवशता, और (५) योगों की चंचलता। आगे बताया गया है कि इन पाँचों के क्या-क्या स्वरूप हैं? कितने-कितने प्रकार हैं? तथा ये किस-किस प्रकार की समस्याएँ पैदा करते हैं? साथ ही इनके विपरीत समाधान के स्रोत भी पाँच हैं–(१) सम्यग्दृष्टि, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय, और (५) योगत्रय की चंचलता का अभाव। इसके पश्चात् कर्मविज्ञान ने यह भी स्पष्टतः बताया है–इन पाँचों संवरों से किन-किन समस्याओं का कैसे-कैसे समाधान होता है? आस्रव के स्थान या कारण को संवर में परिणत करने की कुंजी भी कर्मविज्ञान ने बताई है। मूल में तो प्रत्येक प्रवृत्ति, व्यक्ति या घटना के साथ ज्ञाता-द्रष्टाभाव रखने से सहज ही संवर-साधना हो जाती है, उससे सम्बन्धित कर्मों का आस्रव टल जाता है।

पहले संवर को अपनाएँ या निर्जरा को ?

चारों ओर से जीवन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग की आँधी तीव्र गति से आ रही हो, उसे बेधड़क आने दिया जाये, यह सोचकर कि बाद में इसे निकाल देंगे या पहले जमी हुई कर्मरूपी धूल, कचरा आदि को साफ करके बाहर निकालने का उद्यम किया जाये ? अनुभवियों का कहना है कि पहले मिथ्यात्वादि से परिपूर्ण आँधी को आने से रोका जाना चाहिए, बाद में अन्दर जमी हुई कर्मरूपी धूल, कचरे आदि को बाद में निकाला जाना चाहिए। यही बात विविध युक्तियों, तर्कों, शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर कर्मवैज्ञानिकों ने कही कि पहले नये आते हुए कर्मों को संवर द्वारा रोका जाय, तत्पश्चात् पूर्वबद्ध संचित कर्मों को सकामनिर्जरा द्वारा क्षय करके निकाला जाये। जैसे किसी रोगी की चिकित्सा प्रारम्भ करते समय पहले चिकित्सक रोग को बढ़ने से रोकने का प्रयास करता है, तदनन्तर शरीर में पहले से प्रविष्ट रोग के कीटाणुओं को हटाने या बाहर निकालने की चिकित्सा करता है। इसी प्रकार कर्ममुक्ति के द्विविध उपायों में से साधक सर्वप्रथम मन-वचन-काय-गुप्ति द्वारा सर्वप्रथम पापप्रवाह को रोकता है, तदनन्तर वह बाह्याभ्यन्तर तप द्वारा आत्मा में प्रविष्ट कर्ममल को निकालकर बाहर फेंकता है। इसलिए चिकित्सा-क्षेत्र में, कामरोग से पीड़ित के लिए तथा अन्य अनेकों खतरनाक वृत्तियों, आदतों और कुव्यसनों के निवारण के लिए सर्वप्रथम संवरोपाय भी अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। किन्तु साधकदशा में संवर के साथ-साथ साधक की प्रज्ञा और दृष्टि निर्जरा पर भी टिकी रहनी चाहिए, साथ ही उन्हें कुव्यसनियों, कामरोग-पीड़ितों तथा कायिक-मानसिक रोगियों को भी निर्जरा की दृष्टि समझनी चाहिए।

संवर और निर्जरा के लिए सात प्रबल साधन

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने नये आते हुए कर्मों के निरोध (संवर) और पूर्वबद्ध कर्मों के अंशतः क्षय (निर्जरा) के लिए निम्नोक्त प्रबल साधनों या आलम्बनों का निर्देश किया है-(१) गुप्तित्रय, (२) पंचसमिति, (३) दशविध श्रमण (उत्तम) धर्म, (४) द्वादशानुप्रेक्षा, (५) (बाईस) परीषहजय, (६) पंचविध चारित्र, तथा (७) द्वादशविध बाह्याभ्यन्तर तप। इनमें १२ प्रकार तप को छोड़कर शेष ६ साधनों के कुल मिलाकर ५७ भेद होते हैं, जिन्हें आगमकारों ने संवर के ५७ भेद गिनाए हैं। इसके पश्चात् संवर के द्रव्य और भावरूप से लक्षण और स्वरूप का निर्देश करके इन सातों उपायों (साधनों) से संवर कैसे-कैसे हो सकता है ? इसका निरूपण किया है। सबके साथ में दृष्टि सम्यक् होने की अनिवार्यता है। सम्यग्दृष्टि होने पर ही द्रव्य-भावसंवर संभव है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दृष्टि होने पर ही सकामनिर्जरा सम्भव है। सर्वकर्ममुक्ति के साधक के लिए आत्म-लक्षीदृष्टि होने पर शीघ्र ही इन साधनों से संवर और सकामनिर्जरा का लाभ प्राप्त हो सकता है।

संवर और निर्जरा का प्रथम साधन : गुप्तित्रय

सर्वप्रथम संवर-साधन है-गुप्तित्रय। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। रागादि विकल्पों से मन-वचन-काया का निवृत्त होना, निरोध करना, आत्मा की रक्षा परभावों-विभावों से करना गुप्तित्रय का स्वरूप है। किन-किन विकल्पों या विकारों से इन तीनों की रक्षा किस-किस ध्यानादि उपायों से करनी चाहिए ? इसका भी स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों गुप्तियों के पालन से क्या-क्या आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होते हैं तथा आत्म-रक्षा में कैसे सफलता मिलती है ? इसका निरूपण भी किया गया है। गुप्ति के पालन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का यथायोग्य समन्वय आवश्यक बताया है।

द्वितीय साधन : पाँच समितियाँ

समिति का अर्थ है-सम्यक् प्रवृत्ति। किसी भी प्राणी को पीड़ा न हो, परभावों के प्रति राग-द्वेष-कषायादि विभावों से बचकर निरवद्ययोगपूर्वक, यतनापूर्वक प्रवृत्ति अथवा स्व-स्वरूप में सम्यक् प्रकार से परिणति समिति है। सावद्ययोग से निवृत्ति और निरवद्ययोग में प्रवृत्ति-मन-वचन-काय द्वारा ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेप और परिष्ठापनरूप प्रवृत्तियों में सम्यक् विवेकपूर्वक प्रवृत्ति से शुभ योग-संवर होता है, बशर्ते कि प्रवृत्ति आत्मलक्षी सम्यग्दृष्टिपूर्वक हो, विशुद्ध हो, तभी द्रव्य-भावसंवररूप होने से वह मुक्ति-यात्रा में सहायक बनती है। पाँचों ही समितियों का सम्यक् प्रयोजन मिथ्यात्वादि

पंचकर्मबन्ध कारणों से बचना है, यत्नाचारपूर्वक प्रमादरहित होकर प्राणिपीड़ा न हो, इस भाव से युक्त होकर प्रवृत्ति करना है। आगे कर्मविज्ञान ने पाँचों ही समितियों के स्वरूप, प्रकार, विधि और शुद्धि एवं अतिचार से बचकर यत्नाचार का ध्यान रखने का विशद निर्देश दिया है।

संवर और निर्जरा का स्रोत : उत्तम (श्रमण) धर्म

उत्तम धर्म का अर्थ है–शुद्ध आत्म-धर्म, जो कर्मों का निरोध और क्षय के द्वारा विनाशक हो, आत्मिक सुख को धारण कराने वाला हो, वही संवर और सकामनिर्जरा का कारण हो सकता है। ऐसे आत्म-धर्म से जगत् को क्या लाभ है और इसके न अपनाने से कितनी हानि है? कर्मविज्ञान ने विशद रूप से इसका वर्णन दो अध्यायों में किया है। साथ ही इस उत्तम धर्म (श्रमणधर्म) के दस प्रकार हैं, वे ये हैं– (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच (पवित्रता), (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) आकिंचन्य, और (१०) ब्रह्मचर्य। इन दस ही धर्मों के पूर्व उत्तम शब्द लगाने का कारण है–स्वरूप (आत्म-लक्ष्य) के भावसहित क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायों से रहित क्षमादि ही उत्तम क्षमा आदि धर्म हैं। ये क्षमा आदि उत्तम धर्म सिर्फ श्रमणों के लिए ही नहीं, सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासकवर्ग के लिए अपनी-अपनी भूमिकानुसार पालनीय हैं। हाँ, अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावकवर्ग, महाव्रती साधुवर्ग तथा वीतराग में उत्तम क्षमा आदि परिमाणात्मक (Quantity) भेद है, गुणात्मक (Quality) में भेद नहीं। उत्तम क्षमा आदि तो एक ही प्रकार के हैं, उन्हें जीवन में उतारने के स्तर दो-तीन से अधिक हो सकते हैं। तदनन्तर उत्तम क्षमा आदि दसों ही धर्मों के स्वरूप, कसौटियाँ, लाभ, उपाय, अधिकारी आदि का विस्तार से विवेचन किया है, ताकि प्रत्येक मुमुक्षु उसके द्रव्य और भाव से स्पष्ट स्वरूप और उपाय आदि को हृदयंगम करके संवर-निर्जरारूप धर्म का उपार्जन करे और मोक्ष के निकट पहुँच सके।

संवर और निर्जरा की जननी, कर्ममुक्ति और आत्म-रमण में सहायिका : द्वादश अनुप्रेक्षाएँ, भावनाएँ

आते हुए कर्मों के निरोध और पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय के लिए आगमों या धर्मग्रन्थों में पढ़ी हुई, जानी हुई, सुनी हुई आत्म-लक्षी किसी बात पर बार-बार तदनुकूल चिन्तन अत्यावश्यक है। इसी का नाम अनुप्रेक्षा। जैनजगत् में १२ भावनाओं के नाम से यह प्रसिद्ध है। इसे जप, धारणा, संस्कार या अर्थ-चिन्ता भी कहा जाता है। साधक जब सम्यग्दृष्टिपूर्वक आत्म-लक्षी चिन्तन एकाग्र और तन्मय होकर करता है, तो उसके अज्ञात अन्तर्मन में वह बात स्थिर हो जाती है और अज्ञात मन तदनुसार कार्य भी करने लग जाता है। विविध युक्तियों द्वारा कर्मविज्ञान ने अनुप्रेक्षा का स्वरूप, उपाय, महत्त्व और फल का निरूपण किया है। वे बारह अनुप्रेक्षाएँ तथा भावनाएँ इस प्रकार हैं–(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचित्व, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) लोक, (११) बोधिदुर्लभ, और (१२) धर्म-भावना (या धर्मानुप्रेक्षा)। इन बारह अनुप्रेक्षाओं का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करने से आयुष्यकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की गाढ़बन्धन से बद्ध कर्मप्रकृतियों को शिथिल बन्ध वाली कर लेता है। उनके तीव्र अनुभाव (प्रगाढ़ रस) को मन्द कर लेता है। उनकी दीर्घकालिक स्थिति को अल्पकालिक कर लेता है तथा उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। तथा अनन्त दीर्घ-पथ वाले चातुर्गतिक संसारारण्य को शीघ्र पार कर जाता है। वर्तमान मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान की मान्यता की तरह कर्मविज्ञान भी मानता है कि पूर्वोक्त अध्यात्मलक्षी अनुप्रेक्षा-पद्धति से रासायनिक परिवर्तन भी हो जाता है तथा ग्रन्थियों का रसस्राव रुक जाने से वासनात्मक आवेग और कषायात्मक आवेश शान्त हो जाते हैं। जैसे तप और संयम से आत्मा को भावित करने के दृढ़ अभ्यास से साधक भावितात्मा बन जाता है, वैसे ही अनुप्रेक्षा द्वारा मानस-चिन्तन बार-बार करने से अवचेतन मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। फलतः जैसी अनुप्रेक्षा या भावना एकाग्र मन से की जाती है, वैसा घटित होने लगता है। इस भावधारा के चमत्कार को कर्मविज्ञान ने विविध घटनाओं, युक्तियों, उदाहरणों द्वारा प्रमाणित कर बताया है। इस सजेस्टोलॉजी से अपना और दूसरे का ब्रेन-वाशिंग, हृदय-परिवर्तन, वृत्ति-प्रवृत्ति-परिवर्तन भी घटित हो जाता है। इस भावनायोग का लक्ष्य सर्वकर्ममुक्ति का हो, उद्देश्य आत्म-शुद्धि हो तथा संवेग, वैराग्य, भावशुद्धि, चित्तैकाग्रता से वह अनुप्राणित हो।

(१) अनित्यानुप्रेक्षा में अनित्यता की अनुप्रेक्षण विधि जानने-मानने के साथ सदुपायपूर्वक निर्लिप्ततापूर्वक उसे क्रियान्वित करने से भरत चक्रवर्ती की तरह उससे केवलज्ञान और सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष तक हो सकता है।

(२) संसार का कोई भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ शरणरूप नहीं है। केवलज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिरूप शुद्ध आत्मा ही अथवा अरिहन्त, सिद्ध-साधु-आत्म-धर्म ही एकमात्र शरणभूत है। इस प्रकार बाह्य पदार्थों की शरण ग्रहण करने की एवं बात-बात में परमुखापेक्षी वृत्ति-प्रवृत्ति से विरक्ति, निःस्पृहता एवं निष्कांक्षता जीवन में आने से संवर और निर्जरा का अनायास लाभ मिलेगा। यही अशरणानुप्रेक्षा का उद्देश्य, लाभ और महत्त्व है। अनाथी मुनि ने अशरणानुप्रेक्षा से संवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

(३) संसारानुप्रेक्षा में संसाररूपी नाट्यगृह में विविध प्रकार के जीव जन्म-मरणादि भाँति-भाँति के अभिनय करते हैं। सबकी गति, स्थिति, मति, क्षमता आदि सरीखी नहीं होती। इन विचित्रताओं से भी संसार को परिवर्तनशील मानकर संसारानुप्रेक्षक न तो इस संसार में आसक्त होता है, न ही इससे घृणा, द्वेष करता है। वह सांसारिक सुख-दुःख का वेदन न करके, उनका ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचविध संसार का अनुप्रेक्षण करने वाले व्यक्ति का परिणाम संसारवृद्धि के कारणभूत मिथ्यात्वादि पंच विभावों में नहीं जाता। संसारभाव से उद्विग्न रहता है, संसार से निर्विण्ण होकर थावच्चापुत्र की तरह संसारानुप्रेक्षा करके महाश्रमण बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(४) मेरी आत्मा अकेली है, शाश्वत है, पवित्र (शुद्ध) है, ज्ञानस्वरूप है, इसके सिवाय सभी सजीव-निर्जीव बाह्य पदार्थ उपाधिमात्र हैं, कर्मोपाधिक हैं, वे उपादेय नहीं, आत्मा के अपने नहीं हैं, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है। इस प्रकार एकत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन करने से मनुष्य भेदविज्ञान में पारंगत हो जाता है, एकाकी निःस्पृह, निर्भय, दुःख में भी समभावी रहता है। व्यवहारदृष्टि से परिवारादि समूह में रहता हुआ भी अपने आपको परभावों और विभावों से भिन्न समझकर कर्त्तव्य-पालन करे, दायित्व निभाये, पर प्रवाह में न बहे, न ही गतानुगतिक हो, न ही स्थिति-स्थापक हो, अकेला और अप्रमत्त होकर रहे। यही एकत्वानुप्रेक्षा का सक्रिय रूप है।

(५) 'मैं कौन हूँ?' ऐसा विचार बार-बार करके शरीरादि तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुएँ आत्मा और आत्म-गुणों से बिलकुल भिन्न हैं, इस अन्यत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन करता हुआ भी साधक नौका और नाविक या रथ और रथी अथवा अश्व और अश्वारोही की तरह शरीर आदि अंगोपांगों को माने, ऐसा न मानने पर शरीरादि के प्रति आसक्तिवश कर्मबन्ध करता है, संघर्ष, युद्ध, कलह, ईर्ष्या आदि करता है। भिन्न मानने पर रोगादि कष्टों का अनुभव बहुत ही कम होता है, दुःख में से सुख निकालने की कला आ जाती है। मृगापुत्र की तरह अन्यत्वानुप्रेक्षा से व्यक्ति आत्म-भावों से भावित होकर संयम, निर्जरा और अन्त में मोक्ष को उपलब्ध कर सकता है।

(६) जगत् और शरीर के अशुचिमय स्वभाव का चिन्तन करने से इनके प्रति संवेग और वैराग्य की प्राप्ति होती है, यही 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' का प्रयोजन है। इसके विपरीत शरीर पर आसक्ति करके उसकी सुन्दरता पर मोहित होना और अहंकार करना आस्रव और बन्ध का कारण है। अतः अपने और दूसरे के शरीर के प्रति अशुचित्व का प्रेक्षण करके इसके ममत्व से मुक्त होकर परम शुद्ध आत्मा के दर्शन करने से व्यक्ति अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, वह संवर और निर्जरा करके सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह अशुचित्वानुप्रेक्षा को सफल कर लेता है।

(७) आस्रव कर्ममुक्ति की यात्रा में बाधक है, संसार से मुक्त कराने की अपेक्षा संसार-वृद्धि कराता है। अतः आस्रवों से–विशेषतः आत्म-गुणों की भयंकर क्षति करने वाले साम्परायिक आस्रवों से मुक्त होने तथा निराकुलतारूप आत्मिक-सुख प्राप्त करने के लिए आस्रवानुप्रेक्षा करना आवश्यक है। आगे आस्रवों के भेद-प्रभेदों का निरूपण करके समुद्रपाल मुनि की तरह आस्रवानुप्रेक्षा करने से संवर, सकामनिर्जरा और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बताया गया है।

(८) संवरानुप्रेक्षा आत्मार्थी साधक के लिए मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली है। संवरानुप्रेक्षा संयम से तथा भेदविज्ञान सिद्ध होने से शुद्ध आत्मानुभूति होने पर ही हो सकती है। इसको अन्त में, अयोग संवर भी सिद्ध हो सकता है। हरिकेशबल मुनि की तरह इसकी साधना करने से संवर, सकामनिर्जरा और अन्त में सर्वकर्ममुक्ति का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है।

(९) आत्मा की सर्वतोमुखी शुद्धि के लिए संवरानुप्रेक्षा के साथ-साथ निर्जरानुप्रेक्षा भी आवश्यक है। अवचेतन मन में संचित रागादि या कषायादि संस्कारों का रेचन निर्जरा द्वारा ही सम्भव है। अतः निर्जरा के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करके उसके सकाम-अकाम का भेद समझकर सकाम-निर्भय के विविध बाह्याभ्यन्तर तप आदि उपायों का बार-बार चिन्तन-मनन तथा क्रियान्वयन करने से निर्जरानुप्रेक्षा अर्जुन मुनि की तरह तीव्र गति से मोक्ष-प्राप्ति में सहायिका होती है। निष्कामभाव से की हुई सकामनिर्जरा से मुख्यतया तीन उपलब्धियाँ होती हैं–(१) आलोचनादि द्वारा आत्म-शुद्धिकरण, (२) आत्मा की मूल स्वरूप में अवस्थिति, तथा (३) व्याधि, आधि, उपाधि से हटकर उत्कृष्ट समतामयी समाधि-प्राप्ति, जिससे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा का साधक लोक के तीनों भागों को, तथा उनमें रहने वाले सभी प्राणियों को तथा उनकी आकृति, प्रकृति, क्षेत्रवसति, गति, जाति, पर्याप्ति, शरीर आदि को एकाग्रचित होकर जानता है, तथा समग्र लोक की विविधताओं और विचित्रताओं के दर्शन कर उनके कारणों और परिणामों पर विचार करता है। लोक में यह विविधता और विचित्रता राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि के कारण है। अतः साधक प्राकृतिक अवस्थाओं, पौद्गलिक वस्तुओं एवं प्राणियों पर समत्व की अनुभूति करे। इससे लाभ यह है कि संवेग, वैराग्य एवं समभावपूर्वक शान्तभाव के उद्दीपन करने हेतु द्रव्य से तीनों लोकों का चिन्तन करना चाहिए कि मेरे जीव ने इन तीनों लोकों में असंख्य बार जन्म-मरण किया है, किन्तु अब मुझे तीनों लोकों के जन्म-मरण से छुटकारा पाकर लोक के अग्रभाग में मुक्त होकर अवस्थित होने का प्रयत्न करना चाहिए। भाव से शरीर के ऊर्ध्व, अधम और अधोभाग के रूप में त्रिलोक की विपश्यना करनी चाहिए। शिवराजर्षि की तरह यथार्थरूप से लोकस्वरूप की अनुप्रेक्षा करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए अथवा निश्चयदृष्टि से एकमात्र शुद्ध-बुद्ध स्वभाव वाला निज आत्मा ही लोक है, पर-वस्तु अलोक है। लोकरूप शुद्ध आत्मा या परमात्मा में जो अनन्त चतुष्टयादि गुणों का या आत्म-स्वरूप का एकाग्रतापूर्वक पुनः-पुनः अवलोकन करना लोकानुप्रेक्षा है। पर-वस्तु में लिप्त या प्रभावित न होने से तथा आत्म-लोक में स्थिर होने से केवलज्ञान और अन्त में सर्वकर्ममुक्त हो जाता है।

(११) इस जगत् में विभिन्न भौतिक नाशवान् पदार्थ दुर्लभ नहीं, एकमात्र बोधिमहादुर्लभ है। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीवों को बोधि मिलना असंभव है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये पंचेन्द्रिय होते हुए भी बोधि मिलना परम दुष्कर है। मनुष्य-जन्म पाकर तथा दशविध उत्तम साधन पाकर भी यह मिथ्यात्व संगवशात् बोधि नहीं प्राप्त कर पाता। बोधि का सर्वांगीण एवं सर्वतोमुखी अर्थ है–आत्मा के अस्तित्व-वस्तुत्व तथा सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुणों के प्रति सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति। वस्तुतः शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्म-शुक्लध्यानरूप परम समाधि की प्राप्ति की निरन्तर भावना करना बोधिदुर्लभभावना है। यह अतिदुर्लभ बहुमूल्य, अनुपम और दुर्लभतमभाव है। भगवान ऋषभदेव के ९८ पुत्र बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा करके सर्वस्व त्यागी एवं साधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

(१२) 'पर' के प्रति शुभ या अशुभ परिणाम न करके संवर-निर्जरारूप शुद्ध परिणाम धर्म है। अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मोह आदि में नित्य संसरण करने वाले भावसंसार से प्राणियों को त्रिकाल कर निर्विकार शुद्ध चैतन्य (आत्मा) में धारण करे (धरे), वह धर्म है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को जान-समझकर ऐसा धर्म के कितने प्रकार हैं? धर्म-साधना कैसे-कैसे की जाती है? उसमें साधक-बाधक तत्त्व कौन-कौन-से हैं? इस प्रकार की धर्मानुप्रेक्षा अर्हन्नक श्रावक, धर्मरुचि अनगार आदि की तरह जीवन में अपनाने से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो सकती है।

मैत्री आदि चार भावनाएँ भी शुद्ध धर्मोपलब्धि में सहायिका

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा, इन चार कोटि के व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय चित्त की प्रसन्नता, समता और अशुभ कर्मबन्ध को रोकने अथवा पूर्वबद्ध कर्म को समभाव से भोगकर क्षय करने हेतु मैत्री, प्रमोद (मुदिता), कारुण्य और माध्यस्थ (उपेक्षा) भावना का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से परम आवश्यक है। इन्हीं चार भावनाओं को पुनः-पुनः भावित करने से, सभी जीवों के प्रति आत्मौपम्यभाव का, मैत्री आदि भावों का तथा निमित्तों को दोष न देकर अपने उपादानरूप आत्मा का चिन्तन करने से संवर और निर्जरा का अनायास ही लाभ प्राप्त हो सकता है। शुद्ध धर्म की प्राप्ति के लिए, अहिंसादि व्रतों की सुरक्षा के लिए तथा आध्यात्मिक और सामाजिक लाभ के लिए मैत्री आदि चारों भावनाओं का पुनः-पुनः चिन्तन करना चाहिए। आगे चारों भावनाओं को क्रियान्वित करने के उपाय, उससे होने वाले आध्यात्मिक लाभ का तथा इन चारों भावनाओं की सार्थकता का विशद निरूपण किया गया है।

संवर और निर्जरा द्वारा कर्ममुक्ति के लिए आत्म-मैत्री सर्वोत्तम उपाय

मनुष्य की जीवनदृष्टि सम्यक् और व्यापक रूप से विकसित हो तो भगवान महावीर के निर्देशानुसार आत्मा को अपना शत्रु बनाने के बदले मित्र बना सकता है–निमित्तों के प्रति कषाय-नोकषाय आदि करके दुर्मार्ग की ओर प्रस्थान न करके अपने उपादानरूप आत्मा को सन्मार्ग की ओर प्रस्थान कराकर।

जगत् में व्यावहारिक मैत्री के लिए छह सूत्र प्रचलित हैं, किन्तु ऐसी मैत्री में दो की आवश्यकता अनिवार्य होने से वह प्रायः विश्वसनीय और चिरस्थायी नहीं रहती। छह कारणों से वह टूट सकता है, जबकि आत्म-मैत्री में दूसरे की कोई आवश्यकता या अपेक्षा न होने से वह व्यक्ति को कर्ममुक्ति की दिशा में आगे बढ़ाता है, संवर-निर्जरा के अवसरों का लाभ लेने की प्रेरणा देती है तथा आत्म-मैत्री से व्यवहार-मैत्री भी परिपुष्ट और स्थायी बन सकता है। आत्म-मैत्री में अवैर (क्षमा) से वैर-विरोध की उपशान्ति को कर्मविज्ञान ने सोदाहरण प्रस्तुत किया है। आत्म-मैत्री को आध्यात्मिक दृष्टि से सफल करने के अतिरिक्त नैतिकदृष्टि से सफल करने के लिए विवेक, क्षमता, धैर्य, गाम्भीर्य और दाक्षिण्य, इन पाँच चिन्तनसूत्रों का विस्तृत निर्देश किया गया है। आध्यात्मिकदृष्टि से आत्म-मैत्री के लिए भी उपाय, रहस्य, चिन्तनसूत्र तथा जैनागमों में वर्णित उदाहरण भी कर्मविज्ञान ने प्रस्तुत किया है।

विविध दुःखों के साथ मैत्री भी आत्म-मैत्री है

संसार में जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, संकट, विपत्ति आदि मुख्य दुःख हैं। इनके आ पड़ने पर सामान्य व्यक्ति प्रायः शान्ति और समता में नहीं रह पाता। दुःखों को उत्पन्न करने के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेवार है, इसका भान भूलकर व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति को दुःख का कारण मान लेता है, तब आत्मा ही अपने लिये शत्रु का काम कर लेता है। इसके बदले स्वयं ज्ञानबल से तप, त्याग, सहिष्णुता, शान्ति से, समभाव से उस दुःख को भोगकर संवर-निर्जरा का अर्जन कर सकता है, सदा के लिए उस दुःख को मिटाकर आत्म-मैत्री कर सकता है, उस दुःख को सुखरूप में परिणत कर सकता है। दुःख के समय आर्तध्यान-रौद्रध्यान करने से आत्मा अपने आपको–अपने ही कृतकर्मों को मानकर उपादान को नहीं सुधारता, वह आत्मा को मित्र बनाने के बदले शत्रु बना लेता है। पूर्वोक्त दुःखों के आ पड़ने पर संवर-निर्जरारूप धर्म की अनुप्रेक्षा करने तथा आत्म-मैत्री करने के विविध उपायों का निर्देश भी कर्मविज्ञान ने विशद रूप से किया है।

परीषह-विजय : उपयोगिता, स्वरूप और उपाय

प्रत्येक प्राणी के जीवन में पूर्वबद्ध कर्मों के कारण अनुकूल-प्रतिकूल कष्ट, दुःख या संकट आते हैं, उस समय उन्हें समभाव से न सहकर, न भोगकर नहीं भोगता, या तो सुख-सुविधाओं का चिन्तन करता है, या फिर वह विषमभाव से भोगता है, तो संवर और सकामनिर्जरा के अवसरों को चूक जाता है। साथ ही, शास्त्रोक्त २२ परीषहों को वह संवर-निर्जरा के साधक न समझकर अपने स्वीकृत मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है या विविध आरम्भजनित सुख-सुविधाओं को अपना लेता है या उनमें आसक्त हो जाता है तो 'परीषह-विजय

के द्वारा संवर-निर्जरा धर्म के पालन से कर्ममुक्त होने के बजाय नये-नये कर्म बाँध लेता है, आर्तध्यान करते हुए भोगने से कथंचित् अकामनिर्जरा कर ले, किन्तु उन प्राचीन कर्मों को समूल नष्ट नहीं कर पाता है।' इसलिए शास्त्रों में मुमुक्षुसाधक के लिए २२ प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों के आ पड़ने पर स्वीकृत धर्मपथ से च्युत न होने और कर्मनिर्जरा करने के हेतु उन्हें समभावपूर्वक सहने-भोगने का निर्देश किया है। कर्मविज्ञान ने आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा या सहनशीलता को कर्ममुक्ति का स्रोत बताया है। परीषह-सहन से कष्ट-सहिष्णुता, आत्म-क्षमता, कर्मनिर्जरा, सम्यक्संवर, शारीरिक-मानसिक स्वस्थता, समता की क्षमता आदि गुण प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है।

संवर, निर्जरा और मोक्ष का असाधारण कारण : चारित्र

सम्यक्चारित्र सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लिए असाधारण कारण है। सम्यक्चारित्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप, तीनों का समावेश हो सकता है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना हो या आते हुए कर्मों का निरोध करना हो, दोनों के लिए सम्यक्चारित्र अनिवार्य है। पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति का पालन-आचरण करना व्यवहारचारित्र है, जिसमें अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति दोनों है। निश्चयचारित्र का लक्षण है-स्वरूप में रमण। ऐसा चारित्र भी दो प्रकार का है-सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। जिस प्रकार निश्चयचारित्र साध्य है, व्यवहारचारित्र साधन है, उसी प्रकार वीतरागता-समतारूपी या ज्ञाता-द्रष्टाभाव में स्थिरतारूपी वीतरागचारित्र साध्य है; तथा प्रधानरूप से वही उपादेय है। जबकि नीचे की भूमिका में सरागचारित्र कथंचित् उपादेय होता है। अर्थात् सम्यक्चारित्र की साधना के समय प्रत्येक प्रवृत्ति, व्यक्ति या परिस्थिति के समय राग-द्वेष-कषाय-मोहादि विकारों के प्रवाह में न बहे, केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे, यानी आत्म-भावों में ही स्थित रहे तो बहुत शीघ्र कर्मों की निर्जरा कर सकता है। इसी दृष्टि से 'नयचक्रवृत्ति' में समता, वीतरागता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, स्वभाव की आराधना और धर्म, ये चारित्र के पर्यायवाची कहे गए हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार सम्यग्दृष्टि से लेकर तेरहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग (जिन) के परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धता के कारण प्रति समय असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, बशर्ते कि उनकी दृष्टि में आत्म-स्वरूप का लक्ष्य हो तथा निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र परस्पर सापेक्ष हों। मोहनीय कर्म की २८ ही प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से चारित्र क्षायिक, इनके उपशम से औपशमिक तथा अनन्तानुबन्धी आदि १२ प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होने से, इन्हीं के उपशम से तथा संज्वलन के कषायचतुष्क के यथासम्भव उदय में आने पर आत्मा का निवृत्तिरूप परिणाम क्षायोपशमिकचारित्र है। इसी चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात, ये पाँच भेद मुख्य हैं। कर्मविज्ञान ने इन सबके स्वरूप और विधि का सम्यक् निरूपण किया है।

सम्यक्त्व-संवर का माहात्म्य और सक्रिय आधार

जन्मान्ध व्यक्ति पूर्वकृत शुभ कर्मोदयवश अकस्मात् दिखने के आनन्द की तरह किसी कुष्ट रोगी को शीतोपचार से रोगोपशमन हो जाने से जैसी प्रसन्नता होती है, वैसे ही अनादि-मिथ्यात्व-रोग से पीड़ित जीव को करणत्रयरूप महौषध से मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने से सम्यक्त्व-प्राप्ति का पारमार्थिक परम आनन्द प्राप्त होता है। वस्तुतः सम्यक्त्व-प्राप्ति से मोक्ष-प्राप्ति की गारंटी तथा भवसंख्या की निश्चिति हो जाती है। अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति से मोक्ष-यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। अतः सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार, आधार और अणुव्रत आदि का मूल है। सम्यक्त्व के बिना कोई भी व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। सम्यक्त्व-संवर के साधक के लिए सर्वप्रथम निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से सम्यक्त्व के स्वरूप, सम्यग्दर्शन की सुरक्षा, स्थिरता, शुद्धि, स्थिति और वृद्धि तथा सुख-दुःख में समभाव और सन्तुलन रखने का कर्मविज्ञान ने भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है। निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही व्यवहार सम्यग्दर्शन सफल होता है। अन्त में, निश्चय सम्यक्त्व-संवर की तथा व्यवहार-सम्यक्त्व की साधना में क्या-क्या

सावधानी रखनी चाहिए? सम्यक्त्व-संवर में स्थिरता और सुरक्षा के लिए क्रमशः पाँच और आठ अंगों का पालन करना अनिवार्य है; इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

विरति-संवर : स्वरूप, लाभ, उपयोगिता, महत्त्व

भौतिकता की चकाचौंध में वर्तमान युग का मानव सुविधावादी तथा अधिकाधिक पदार्थोपभोगवादी होता जा रहा है। परन्तु इस सुविधावाद के भयंकर दुष्परिणामों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि ऐसे लोग अज्ञान, अन्ध-विश्वास, भ्रान्ति, मिथ्यादृष्टि, स्वच्छन्दाचार एवं पदार्थ प्रतिबद्धता के शिकार हो रहे हैं। फिर विरति (व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि) से रहित जीवन स्वेच्छाचारी, निरंकुश, प्रकृतिविरुद्ध, स्वच्छन्दभोगवादी हो जाता है। 'स्थानांगसूत्र' में कहा है–ऐसा जीवन इहलोक-परलोक और आगामी भवों में गर्हित-निन्दित हो जाता है। अविरतियुक्त जीवन की अपेक्षा विरतियुक्त जीवन की विशेषताएँ बताते हुए निर्देश किया है कि जीवन को विरतियुक्त बनाने पर ही संवर-निर्जरा उपार्जित करना शक्य है। इसके विपरीत असंयत, अविरत जीव भले ही हर समय पापकर्म में प्रवृत न होता हो, तो भी त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम आदि अंगीकार न करने के कारण उसे अठारह ही पापों का भागी तथा षट्जीवनिकाय का शत्रु बताया है। व्रतबद्ध या प्रतिज्ञाबद्ध न होना निरंकुश तथा ध्येय-विचलित करने वाला है और अविश्वास की स्थिति में जीना है। अतः प्रत्येक मुमुक्षुसाधक के लिए सम्यक्त्वपूर्वक विरति-संवर की साधना अनिवार्य है।

अविरति से पतन और विरति से उत्थान

विरति-संवर के सन्दर्भ में कर्मविज्ञान ने बताया है कि कोई भी जीव प्राणातिपात, मृषावाद से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों के सेवन से भारी और पापस्थानों से विरत होने से हल्के होते हैं। पापकर्मों से भारी होने से जीव नीचे (दुर्गति में) गिरता है, उसका संसार बढ़ता है, संसार में वह दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत पापस्थानों से विरत होने वाले हल्के होकर ऊपर उठते (सुगति में जाते) हैं, उनका संसार घटता है, संक्षिप्त होता है और ऐसा जीव संसार-समुद्र को पार कर लेता है। इन दोनों (पापस्थानों से अविरत और विरत होने की) प्रक्रियाओं तुम्बे पर लेप के बढ़ने और घटने के रूपक से भलीभाँति समझाया गया है कि पापस्थानों से युक्त जीव अधोगमन करता है और इनसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। अतः जब तक व्यक्ति पापस्थानों को स्वेच्छा से, किसी के दबाव के बिना, भय और प्रलोभन या स्वार्थ-कामना से रहित होकर न छोड़े तब तक पापकर्म छूट नहीं सकते। पापस्थानों से विरत होने का उपाय है–व्यक्ति अपने आप (शुद्ध आत्मा) को देखे, अपनी आत्मा को परभावों के प्रति राग-द्वेषादि विभावों से दूर रखे, साथ ही अपनी भावदृष्टि विषय-कषायादि में संलग्न निम्न न रखे, उन्नत रखे, उच्चदर्शी बने। सतत पर-पदार्थों को देखने वाला प्रमादी मानव राग, द्वेष, कषाय, मोह, ईर्ष्या, आवेश, उन्माद, पद आदि से प्रायः घिरा रहता है, अपने विषय में वह प्रायः उदास, असहिष्णु, असन्तुष्ट, भ्रान्त, दीनता-हीनता से ग्रस्त बना रहता है, फलतः पापस्थानों से विरत नहीं हो पाता। जबकि आत्मा को आत्मा से सम्प्रेक्षण करने वाला हिंसादि पापस्थानों को परभाव-विभाव समझकर उनसे बचकर प्रवृत्ति करने का अथवा उनसे विरत होने का पुरुषार्थ करता है। पर-पदार्थों की ओर नहीं झाँकने वाला आत्म-सम्प्रेक्षी उत्साहपूर्वक अपना आध्यात्मिक विकास यथाशीघ्र कर लेता है। वह पर-पदार्थों के साथ राग-द्वेष आदि का सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य; ये अठारह ही पापस्थान (पापकर्मबन्ध के कारण) सजीव या निर्जीव पर-पदार्थों (आत्म-बाह्य पदार्थों) को देखने से होते हैं, पर-पदार्थों को लेकर ही हिंसादि पापकर्म होते हैं। अतः कर्मविज्ञान ने क्रमशः प्रत्येक पापस्थान में प्रवृत्ति पर-पदार्थों की ओर देखने से, इसके विपरीत प्रत्येक पापस्थान से निवृत्ति मात्र शुद्ध आत्मा को अपनी आत्मा के समान दूसरी आत्माओं को देखने तथा अनुप्रेक्षण करने से होती है। पर-पदार्थों की ओर देखने से राग-द्वेष मूलक हिंसादि के भाव मन में उत्पन्न होते हैं और तुरन्त अपनी शुद्ध आत्मा तथा आत्म-गुणों तथा स्वभाव का विचार करने से समभाव या उन पापकर्मों के प्रेरक पापस्थानों से विरति के भाव उत्पन्न होते हैं। इसे विभिन्न उदाहरणों द्वारा विस्तार से दो अध्यायों में निरूपित किया है। वस्तुतः संवर और निर्जरा के लिए अठारह ही पापस्थानों से अंशतः या सर्वतः विरत होना आवश्यक है। विरति-संवर का यही सक्रिय उपाय और रहस्य है। ●●

कर्मविज्ञान : भाग ७ का सारांश

संवर और निर्जरातत्त्व का स्वरूप-विवेचन

अप्रमाद-संवर का सक्रिय आधार और आचार

अप्रमाद कर्मों को आते हुए रोकने वाला सबसे सच्चा प्रहरी है। यह न हो तो साधक बात-बात में, पद-पद पर गलती या भूल कर सकता है, साधना को दूषित कर सकता है। साधु-जीवन में ही क्यों, गृहस्थ-जीवन में भी प्रमाद की उपयोगिता है। भगवान महावीर ने तो गौतम गणधार जैसे उच्च साधक को यही उपदेश दिया था–"गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत करो।" जो जान-बूझकर अपनी पूजा-प्रतिष्ठा-यश-कीर्ति के लिए प्रमाद करता है, यानी छलकपट, दम्भ-दिखावा या प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि के लिए दानादि का आचरण करता है। वह शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं के साथ रहते हुए प्रमादाचरण करता है, जबकि अप्रमत्त साधक इनके साथ रहते हुए भी अनासक्त, निर्लिप्त, निःस्पृह तथा मन्द-कषायी एवं यतनाचारपूर्वक रहकर प्रमादाचरण से दूर रहता है। अप्रमादी साधक अपनी प्रत्येक चर्या और प्रवृत्ति में प्रमादाचरण के विविध प्रकारों से बचकर चलता है। प्रमाद के मद्य, विषय, कषाय, निद्रा (द्रव्य-भाव निद्रा) और विकथा; इन पाँच मोर्चों पर अप्रमादी साधक सदा जागरूक रहकर चर्या करता है। उक्त यतनाशील अप्रमत्त साधक स्व-पर-हिंसा से दूर अनारम्भी रहता है, जिससे अपवादिक स्थिति में द्रव्य-हिंसा होने पर भी अन्तरंग (भाव) विशुद्धि के कारण निर्जरा का उपार्जन कर लेता है। अप्रमाद-संवर के साधक की द्रव्य-भावचर्या का भी विधान कर्मविज्ञान ने किया है। अप्रमाद-संवर का साधक परिचार, तप, पर्याय, क्षय (या अवस्था), श्रुत लाभ, पूजा सत्कार; इन छह बातों में आत्मवान् बनकर संवर-निर्जरा का लाभ उठाता है। अन्त में अप्रमाद-संवर का प्रेक्टिकल पाठ एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। साथ ही स्थानांगसूत्रोक्त आठ बातों में अप्रमत्त रहकर पराक्रम करने का विधान भी शुभ योग-संवर के लिए उपयोगी और सरल चर्या का प्रेरक बताया गया है।

अकषाय-संवर का सक्रिय आचार

कषाय कितना बाधक और घातक है–कर्ममुक्ति के अभिलाषी साधक के लिए? यह सर्वविदित है। कर्मों का स्थितिबन्ध और रसबन्ध कषायों की तीव्रता-मन्दता पर आधारित है। संसार-परिभ्रमण भी मुख्य रूप से कषाय पर निर्भर है। अतः संसाररूपी कारागार से मुक्त होने के लिए अकषाय-संवर की साधना अनिवार्य है। कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है, उससे आत्म-गुणों की क्षति ही है, आत्म-गुणों में वृद्धि कदापि नहीं। अतः सम्यग्दृष्टिपूर्वक कषायों का निरोध, उदात्तीकरण, मार्गान्तरीकरण अथवा स्वेच्छा से कषायों का उपशमन, दमन या नियंत्रण करने से कषाय छूट सकते हैं, अकषाय-संवर हो सकता है तथा पूर्वकृत कषायजनित कर्मबन्ध के फलभोग के समय समभाव, धैर्य और शान्ति से उनका फल भोग लेने से कषायजनित कर्मों की निर्जरा हो सकती है।

कषाय-सेवन के दुष्परिणाम बताते हुए कहा गया है–कषाय से इहलोक और परलोक कहीं भी, किसी भी स्थिति में सुख-शान्ति नहीं है। क्रोधादि तीव्र कषाय करने से सामने वाले में असद्भाव, अप्रीति और सेवाभाव में कमी आ जाती है। तीव्र कषायों के कुचक्र में फँसा हुआ मानव अपने संसार को अधिकाधिक बढ़ाता जाता है, वह अपनी आदतों से लाचार होकर नाना अनर्थ कर बैठता है, अनेक प्राणियों के साथ

वैरभाव और शत्रुता बाँध लेता है। अतः आत्मार्थी और मुमुक्षुसाधक को जहाँ तक हो सके कषायों से दूर रहने का अपना स्वभाव बना लेना चाहिए। इहलौकिक-पारलौकिक पापकर्मजनित दुःखों से बचने का सर्वोत्तम उपाय भी यही है कि दीर्घदर्शी बनकर प्रत्येक कार्य के भावी परिणाम का तथा पापकर्म के फल का विचार करे और कषाय के प्रत्येक पहलू को जानकर उस पर विजय पाने का प्रयत्न करे। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन एवं निर्लिप्त भरतचक्री की तरह ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहने से अनायास ही अकषाय-संवर का अभ्यास हो सकता है। फिर भी कषाय-विजय के साधक को अन्तर में उदित कषाय को तुरन्त सावधान होकर निष्फल करना, सफल न होने देना तथा भविष्य में कोई कषाय उदय में भी न आए, ऐसा मानस बनाना चाहिए। व्यवहार में क्रोध को क्षमादि-उपशमभाव से, अहंकार को नम्रता और मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को सन्तोषवृत्ति से जीतने का अभ्यास करना चाहिए। मैत्री आदि चार भावनाओं तथा बारह अनुप्रेक्षाओं से भी कषाओं का निरोध हो सकता है। पुण्य बेचकर कषायों को खरीदने से अकषाय-संवर-साधना को सावधान रहना चाहिए।

कषायों और नोकषायों का प्रभाव और निरोध

कषाय और नोकषाय, ये दोनों ही जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, आधि और उपाधिरूप दुःखों में बार-बार भटकाते हैं, इसलिए अकषाय-संवर के साधक इन दोनों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करना हितावह है। जिस साधक में उत्कट क्रोधादि हों, उसका तप बालतप है, निरर्थक है, संसारवर्द्धक है, आत्म-शुद्धिकारक नहीं। इसके पश्चात् क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्रता से होने वाली आत्म-गुणों की क्षतियों, सामाजिक जीवन में उसके प्रति होने वाली अप्रतीति, अनादर, अपकीर्ति आदि का विशद वर्णन किया गया है। तीव्र क्रोध से उपार्जित आत्म-शक्तियाँ कैसे नष्ट होकर दुर्गति का कारण बन जाती हैं, इसे उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया। क्रोध आदि के निमित्त मिलने पर भी जो साधक इन पर तुरन्त नियंत्रण कर लेता है, उसकी आत्मा शुद्ध स्वभाव में रमण करती हुई किसी प्रकार केवलज्ञान प्राप्त कर लेती है, यह भी उदाहरणों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। मानकषाय के वश मानव किस प्रकार उच्च तपःसाधना करने पर भी केवलज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता? आठ प्रकार के मद तथा माया के वश होकर मानव अपना कितना अधःपतन कर लेता है? ये तथ्य भी उदाहरण सहित प्रस्तुत किये गए हैं। मान और मायाकषाय से आत्म-गुणों की हानि होती है, फलतः अप्रमत्त होकर इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। लोभ तो समस्त पापों का बाप है। इसे भी सोदाहरण प्रस्तुत करके इससे तथा इसके विभिन्न बाह्याभ्यन्तर रूपों से बचने का उपाय भी बताया गया है। आत्म-शक्ति, आत्म-गुणवृद्धि, स्वरूपावस्थिति, संसार एवं कर्म के शीघ्र क्षय के लिए इन चारों कषायों से आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

नोकषाय भी कषाय को उत्तेजित करने वाले उपजीवी दुर्गुण हैं। ये नौ हैं–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा; ये छह और तीन वेद (काम) स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। हास्यादि से कैसे-कैसे मनुष्य घोर कर्म बाँध लेता है और इनसे बचने के उपाय क्या-क्या हैं? इन सबका वर्णन भी विस्तार से कर्मविज्ञान ने किया है। अन्त में, वेदत्रय (कामवासना) क्या है? ये क्यों उत्पन्न होती हैं? इनसे बचने के क्या-क्या उपाय हैं? इनका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस प्रकार कषायों और नोकषायों से विरत होने से संवर और निर्जरा का लाभ मिल सकता है।

कामवृत्ति से विरति की मीमांसा

कर्मविज्ञान की भाषा में वेद नोकषाय मोहनीय को ही 'कामवृत्ति' कहा जाता है। यह तो सर्वविदित है कि काम-शक्ति का दुरुपयोग किया जाए तो जीवन का सर्वनाश है और उसी काम-शक्ति का उदात्तीकरण करके सदुपयोग किया जाए अथवा उसकी सुरक्षा करके आत्म-विकास में पुरुषार्थ किया जाए, आत्मा के तप, संयम आदि गुणों में शक्ति लगाई जाए तो उससे कर्मों का संवर और निर्जरा हो सकती है।

उच्छृंखल कामभोगों पर तो नियंत्रण अत्यावश्यक है ही, परन्तु मुमुक्षु को तो कामवृत्ति से विरत होकर ब्रह्मचर्य का सर्वात्मना पालन में अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

कामवृत्ति को जगाने में मूल कारण तो वेदमोहनीय कर्म है, जो आन्तरिक है, उपादानकारण है, परन्तु बाह्यकारण या निमित्तकारण हैं–कुछ शारीरिक कारण और कतिपय नैमित्तिक वातावरण। कामवासना को उत्तेजित करने में अशुभ संस्कार भी कारण हैं; जो निमित्त मिलते ही भड़क उठते हैं। अतः कामसंवर या कामनिर्जरा के साधक को आत्मा में निहित कुसंस्कारों के उन्मूलन करने के लिए बाह्याभ्यन्तर तप, स्वाध्याय एवं जप आदि करने चाहिए अथवा अशुभ निमित्तों से सदैव सर्वत्र बहुत दूर रहा जाए, ताकि वे कुसंस्कार निमित्त न मिलने से स्वतः शान्त हो जायेंगे। कामवासना (वेदमोहनीय) के अन्तर्मन में पड़े हुए कुसंस्कार निमित्त मिलते ही बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी साधक-साधिकाओं को पछाड़ डालते हैं। यह तथ्य जैमिनी, सिंहगुफावासी मुनि, संभूति मुनि, रथनेमि, लक्ष्मणा साध्वी, सुकुमालिका साध्वी आदि का उदाहरण देकर सिद्ध किया है। इसलिए काम-संवर (ब्रह्मचर्य) साधक के लिए नौ ब्रह्मचर्यगुप्तियाँ और दसवीं कोट, यों दशविध ब्रह्मचर्य समाधि का मन-वचन-काया से आचरण करना आवश्यक है। निमित्तों से बचने के पूर्वोक्त दस उपायों के अतिरिक्त कामोत्तेजक दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, खाद्य वैषयिक निमित्तों से भी बचना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण, बार-बार उनका बखान, कामक्रीड़ा, सहशिक्षण, विकारपूर्वक प्रेक्षण, एकान्त में भाषण, तथाविध काम-वासना संकल्प, बार-बार काम-वासना पूर्ति का अध्यवसाय करना तथा काम-वासना-सेवन करना, ये कामोत्तेजना के अष्टविध विकल्प भी त्याज्य हैं। वस्तुतः अपरिपक्व साधक के लिए अशुभ निमित्तों से बचना अत्यावश्यक है। साधक को काम के निमित्त कहाँ भी, किसी भी दैनिकचर्या करते समय मिल सकते हैं, उसे प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए।

काम-संवर-साधक को अपना उपादान शुद्ध एवं सुदृढ़ बनाने हेतु मोक्ष लक्ष्य एवं संवर-निर्जरारूप धर्मपक्ष पर स्थिर रहना अनिवार्य है। संवेग और वैराग्य के लिए अनित्य, अशरण, अशुचि, एकत्व आदि अनुप्रेक्षाओं–भावनाओं का प्रयोग करना चाहिए। उपादान-शुद्धि के लिए लक्ष्य विराट् होना चाहिए, साथ ही एक ओर से संवर और दूसरी ओर से निर्जरा–यानी निरोध और शोधन दोनों आवश्यक हैं। अज्ञात मन (अन्तर्मन) में पड़े हुए काम-वासना के कुसंस्कारों के संचय को क्षय करने के लिए तप, कषाय-विजय, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग, परीषह-विजय, समभाव, धर्मध्यान, प्रतिसंलीनता, काम-क्लेशादि तप आदि का सतत अभ्यास अपेक्षित है। साथ ही काम-वासना का निमित्त मिलते ही उससे तत्काल पीठ फेर लेना, ज्ञाता-द्रष्टाभाव रखने से काम-निरोधरूप संवर हो सकेगा। परलोकदृष्टि और पापभीरुता भी काम-संवर का एक उपाय है। पंचपरमेष्ठी भगवन्तों की शरण, दुष्कृतगर्हा, आलोचना, निन्दना (उत्कट पश्चात्ताप), प्रायश्चित्त एवं सुकृतानुमोदना भी उपादान-शुद्धि के उपाय हैं। कायराग से निवृत्ति के लिए परमात्म-भक्ति तथा गुरुकृपा भी सरस, सरल और प्रबल कारण है। अन्त में, कर्मविज्ञान ने काम-वासना शान्त करने के कतिपय प्रयोग सूत्र भी दिये हैं।

योग का मार्ग : अयोग-संवर की मंजिल

सांसारिक जीवों की प्रत्येक प्रवृत्ति मन-वचन-काया से संयोग होने पर होती है, इसलिए इन तीनों की प्रवृत्ति को जैनदर्शन में योग कहा है। यह भी निश्चित है कि अकेली आत्मा या आत्म-विहीन अकेला तन, अकेला मन या अकेला वचन कोई भी प्रवृत्ति या क्रिया नहीं कर सकता, जब आत्मा के साथ मन, वचन या तन में से किसी एक, दो या तीनों का संयोग होता है, तभी योग होता है, इसी योग के शुभ और अशुभ दो मार्ग हैं। शुभ योग से शुभास्रव और अशुभ योग से अशुभास्रव होता है, यही चतुर्गतिकरूप संसार का कारण है। इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों का आस्रव चक्र क्रिया, कर्म और लोक के साथ संयोग के रूप में चलता है, उनका सुख-दुःखादि रूप में अनुभव करने वाला (संसारी) आत्मा है। ये तीनों योग आत्मा के लिए तीन करण हैं। पुद्गल अपने आप में न तो अच्छा है, न बुरा, आत्मा इसका उपयोग कैसे करती है? इस पर सारा दारोमदार है।

वस्तुतः ये तीनों योगों (करणों) का अपना-अपना कार्य है। ये तीनों कर्मबन्ध कराने में भी कारण हैं और कर्मनिरोध या कर्मक्षय कराने में भी। उपयोगरहित के लिए ये दोष के हेतु हैं, उपयोगयुक्त के लिए गुण के हेतु। जीव जब तक चौदहवें गुणस्थान तक नहीं पहुँच जाता, तब तक योग तो रहेंगे ही। शुभ योग से शुभ (पुण्य) बन्ध होता है और अशुभ योग से अशुभ (पाप) बन्ध। जहाँ तक साम्परायिक या ईरियावही क्रिया है, वहाँ तक तीनों योग उस व्यक्ति में होते हैं। और योग है, वहाँ तक आस्रव है और आस्रव से कर्मबन्ध होता है। परन्तु तेरहवें गुणस्थानवर्ती ईर्यापथिक क्रिया वाले में आस्रव होते हुए भी कषाय न होने से सिर्फ प्रदेशबन्ध होता है, स्थिति-अनुभागबन्ध नहीं। प्रदेशबन्ध भी मात्र दो समय का सातावेदनीय का नाममात्र का बन्ध है और चौदहवें गुणस्थान में दोनों ही प्रकार की क्रिया न होने से तीनों योग भी नहीं हैं। वहाँ अयोग की स्थिति होने से न तो आस्रव है, न ही बन्ध। वहाँ पूर्ण संवर है।

यों तो मिथ्यादृष्टि के भी मन-वचन-काय-योग (प्रवृत्ति) शुभ हो तो शुभास्रवरूप पुण्यबन्ध होता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि के शुभ योग को उत्तराध्ययन, भगवतीसूत्र एवं स्थानांगसूत्र आदि आगमों में प्रशस्त (उत्तम) एवं अशुभ योग से निवृत्त होने के कारण संवर भी कहा गया है। आगमों में यत्र-तत्र शुभ योगसंवर का उल्लेख मिलता है। निष्कर्ष यह है कि शुभ योग में भी प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार हैं। मिथ्यादृष्टि-परायण व्यक्ति का शुभ योग प्रशस्त नहीं है; जबकि सम्यग्दृष्टि का शुभ योग प्रशस्त माना जाता है। प्रशस्त शुभ योगसंवर की भावधारा के फलस्वरूप देव-गुरु-धर्म के प्रति मूढ़तारहित, किन्तु प्रशस्त रागात्मक होती है। पर्युपासनायुक्त समर्पणवृत्ति होने से उत्कृष्ट रसायण आने से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन भी संभव है। कदाचित् प्रशस्त शुभ योगसंवर की भूमिका पर आरूढ़ होकर शुद्धोपयोग के मार्ग पर बढ़ता-बढ़ता एक दिन अयोगसंवर की भूमिका को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने कर्म (प्रवृत्ति या योग) को अंतिम मंजिल न कहकर प्रशस्त शुभ योगरूप या शुद्धोपयोगरूप योग (कर्म) को मार्ग और कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप लक्ष्य–अंतिम मंजिल–अकर्म (अयोग) को कहा है। उन्होंने यह भी कहा कि आत्म-स्थिरता होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति अयोगसंवर का रूप ले सकता है और आत्म-स्थिरता के लिए मुख्य तीन उपाय हैं–(१) कर्ममुक्ति के लक्ष्य के प्रति जागृति, (२) प्रतिक्रियाविरति का प्रबल अभ्यास, और (३) विधेयात्मक चिन्तन। इन तीनों उपायों के अवलम्बन से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी अनायास हो जाती है।

वचन-संवर की सक्रिय साधना

मन पर ब्रेक लगाने की अपेक्षा कभी वचन पर ब्रेक लगाना बहुत जरूरी होता है। वचन-संवर क्रियान्वित न होने से निरर्थक बकवास, गालीगलौज, कलह, वितण्डावाद, निन्दा, चुगली, पापवर्द्धक उपदेश आदि कारणों से आस्रव और बन्ध होते रहते हैं। मुमुक्षु के लिए वचन-संवर को क्रियान्वित करना आवश्यक है। अन्यथा प्रतिक्रिया और आत्म-गुणों की क्षति होती है। अहंकारवश मानव दूसरों की भूल देखने का आदी होने से स्वयं की भूल को नहीं देखता, बल्कि उसे दबा देता है तथा दूसरों की गलती के प्रति असहिष्णु बन जाता है। फलतः वचन-संवर का अवसर चूक जाता है। अनिवार्य परिस्थिति में भूल देखने और कहने के लिए भी अधिकारी बने, उसमें यह विवेक होना चाहिए कि अनिवार्य परिस्थिति में भी दूसरे की भूल को किसे व कब कहे, किन शब्दों में और कैसे-कैसे कहे? भगवान महावीर ने गौतम स्वामी, महाशतक श्रावक तथा मेघ मुनि को जिज्ञासु देखकर उनकी भूल सुझाई और उन्होंने अपनी भूल सुधारी, किन्तु गोशालक, कोणिक आदि को उनकी विपरीत वृत्ति देखकर भूल बताने से वे विरत रहे, मौन भी रहे। वचन-संवर का साधक जिज्ञासु, सुलभबोधि और मुमुक्षु को यदि वह धर्म से डिग रहा हो तो उसके प्रति वात्सल्यभाव रखकर, उसकी निन्दा, बदनामी, ताड़ना-तर्जना न करते हुए सौम्यभाव से सत्य-अहिंसादि धर्म में स्थिर करने का प्रयत्न करे। बार-बार टोकने, जाहिर में उसकी निन्दा करने, झिड़कने, टक-टक करने या तुरन्त कहने के बजाय यथावसर, यथापात्र तथा यथायोग्य सौम्य शब्दों में एकान्त में वात्सल्यभावपूर्वक कहना भी शुभ योगरूप वचन-संवर है; साथ ही मनःसंवर का भी लाभ हो सकता है। अभ्याख्यान, पैशुन्य और पर-परिवाद आदि भी वचन-संवर में अत्यन्त बाधक हैं।

योग्य क्षेत्र में पुण्य का बीजारोपण कैसे और क्यों करें ?

'जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है' इस न्याय के अनुसार जैसे किसान बीज बोने से पहले बहुत ही विवेक और सावधानी रखता है, वैसे योग्य क्षेत्र में, बीज बोने से पहले और पीछे मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि साधक को बहुत ही विवेक और सावधानी रखना आवश्यक है। जीवन-क्षेत्र में आत्म-भूमि पर शुभ कर्म (पुण्य) का बीज बोना–अशुभ योग से निवृत्त होकर एक दृष्टि से शुभ योगसंवर कहा गया है, किन्तु इसमें विधि, द्रव्य, पात्र और दाता की योग्यता का विचार करना अनिवार्य है। दान से केवल पुण्य ही नहीं होता, सम्यग्दृष्टि एवं शुद्धोपलक्षी दाता व्युत्सर्गतप, निःस्वार्थ-निष्कामभाव एवं सुपात्रात्मलक्षी सम्यग्दृष्टि से विसर्जन के रूप में भावपूर्वक दान करता है तो संवर और निर्जरा का लाभ भी प्राप्त कर सकता है। अन्ध-विश्वास, परम्परा, स्वार्थ-लालसा, प्राणिवधपूर्वक किया गया तामसदान या पुण्य सच्चे अर्थों में दान-पुण्य नहीं, वह अशुभ कर्म (पाप) बन्धक कार्य है। चिकित्सक और वधक दोनों की क्रिया सरीखी होने पर भी भावों के आधार पर पुण्य और पाप होता है। भगवतीसूत्र में कहा है–असंयत-अविरत को दिये गए दान से एकान्त पाप तभी होता है; जब वह दान मोक्षार्थ या देव-गुरु-धर्मबुद्धि से दिया गया हो, किन्तु उसी को पीड़ित और अनुकम्पापात्र समझकर दिये गए दान से पापकर्म नहीं होता; न ही निषिद्ध बताया गया है। संसार के समस्त अनुकम्पनीय प्राणियों पर अनुकम्पा करने से पुण्यबन्ध और सातावेदनीयरूप फल प्राप्त होता है। निर्जरा और पुण्य के पृथक्-पृथक् स्वरूप को विविध युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। पुण्य के भी लौकिक और पारमार्थिक दो भेद बताए गए हैं। कर्मविज्ञान ने यह भी सिद्ध किया है कि पापकर्मों के आचरण से आनन्द की अपेक्षा पुण्यकर्मों के आचरण में अधिक आनन्द है। पुण्याचरण के नौ भेदों का विस्तृत स्वरूप, सक्रिय आचरण का उपाय तथा उनसे उभयलोक में होने वाली भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों की भी चर्चा की है।

निर्जरा : अनेक रूप और स्वरूप

कर्मों से संयुक्त होना बन्ध और वियुक्त होना निर्जरा है। निर्जरा और मोक्ष में अन्तर यह है कि निर्जरा में एक साथ, एक ही समय में सभी कर्मों का क्षय नहीं होता; जबकि मोक्ष में समस्त कर्मों का क्षय एक साथ ही हो जाता है। पूर्वबद्ध कर्मों में से जो कर्म उदय में आ जाते हैं, सुख-दुःखरूप फल देने के अभिमुख हो जाते हैं, उन्हीं का फल भोगने पर वे कर्म झड़ जाते हैं, इसी का नाम निर्जरा है। कर्मों की निर्जरा न हो तो आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती और आत्म-शुद्धि न हो तो आत्मा में सोये हुए निजी गुण अभिव्यक्त व जाग्रत नहीं हो सकते। निर्जरा से पूर्व सर्वप्रथम जीव द्वारा पूर्वबद्ध कर्म उदय में आते हैं, फिर जीव उनके सुखरूप या दुःखरूप फल का अनुभव करता है, भोगता है, फल भोगने के पश्चात् उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है, यानी वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते (झड़ जाते) हैं। निर्जरा प्रक्रिया में जो अनुभाव (फलभोग) होता है, वह कर्म के नाम या स्वभाव के अनुसार होता है।

वेदना और निर्जरा भी एक नहीं है, क्योंकि कर्मों का वेदन (अनुभव) किया जाता है और निर्जीर्ण किया जाता है नोकर्मों का–कर्मरहितता का। यानी पहले कर्मों का वेदन (अनुभव) होता है, तत्पश्चात् जब उन कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, तब निर्जरा होती है। अतः वेदना कर्म है, निर्जरा नोकर्म है।

महावेदना और महानिर्जरा के विषय में शंका-समाधान

इसी प्रकार जो जीव महावेदना वाले हैं, वे सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते। नरक के नैरयिक महावेदना वाले होने पर भी महानिर्जरा वाले नहीं होते जबकि श्रमण निर्ग्रन्थ चाहे महावेदना वाले हों या अल्पवेदना वाले फिर भी महानिर्जरा वाले होते हैं, क्योंकि वे उसे समभाव से शान्ति से सहन करते हैं; जबकि अनुत्तरौपपातिक विमानवासी देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं। शैलेशी अवस्था को प्राप्त अनगार अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले होते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदना की अधिकता या अल्पता निर्जरा की अधिकता-न्यूनता का कारण नहीं है। निर्जरा का मुख्य कारण है–सुख-दुःख को सहने की पद्धति और दृष्टि। नैरयिकों में जो मायी मिथ्यादृष्टि हैं, वे महाकर्म, महाआस्रव, महाक्रिया और महावेदना वाले होते हैं

और जो अमायी सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे अल्पकर्म, अल्पआस्रव, अल्पक्रिया और अल्पवेदना वाले होते हैं। वस्तुतः मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय या सभी पंचेन्द्रिय अकामनिर्जरा कर पाते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि अल्पकर्म यावत् अल्पास्रव-अल्पवेदन होते हैं, इसलिए सकामनिर्जरा = विशिष्ट श्रेयस्करी निर्जरा कर पाते हैं। जिसकी निर्जरा प्रशस्त है, वही श्रेयस्कर है, चाहे वह अल्पवेदन वाला हो, चाहे महावेदन वाला। ईश्वर न तो किसी के कर्म लगाता है, न ही छुड़ाता है। जीव स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही उसके उदय में आने पर फल भोगकर निर्जरा करता है। अकामनिर्जरा से कष्ट-सहन अधिक, वेदन अधिक, कर्मक्षय कम होता है। इसीलिए अब तक की गई निर्जरा से कर्मों का क्षय अल्प मात्रा में हुआ, किन्तु नये कर्म और बँधते गए, जबकि सकामनिर्जरा लगातार होती रहे तो कर्मों का क्षय शीघ्र होता रहता है, नये कर्म बहुत ही अल्प बँधते हैं। यही अन्तर है–अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मक्षय (निर्जरा) करने में। अज्ञानी जिन कर्मों का क्षय बहुत-से करोड़ों वर्षों में कर पाता है, उन्हीं कर्मों को त्रिगुप्तियुक्त ज्ञानी पुरुष एक श्वासोच्छ्वास मात्र में क्षय कर डालता है। आगे कर्मविज्ञान में औपपातिकसूत्रोक्त विविध अकामनिर्जरा वाले बालतपस्वियों आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है, जो अनाराधक (विराधक) होते हैं। इसी प्रकार सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष साधक के लिए सकामनिर्जरा ही अभीष्ट है। उसका स्वरूप तथा वह कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे हो सकती है? इसका विशद विवेचन किया गया है। तथैव गुणस्थान क्रम से पात्रों की स्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्यातगुणी सकामनिर्जरा होती है, इसका भी स्पष्टीकरण किया गया है। सविपाक और अविपाकनिर्जरा, इन द्विविध निर्जराओं में अविपाकनिर्जरा ही शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति की कारण है। जिसका विस्तृत विवेचन इसी भाग के १६वें निबन्ध में किया गया है। अन्त में, सराग-सम्यग्दृष्टि या सराग-संयमी के अशुभ कर्मों की किन-किन कारणों से महानिर्जरा और महापर्यवसानता होती है? इसका विशद निरूपण है। तथैव सकामनिर्जरा के विविध स्रोतों तथा अवसरों का विविध शास्त्रीय उदाहरणों सहित प्रतिपादन किया गया है।

सकामनिर्जरा का एक प्रबल कारण : सम्यक्तप

मनुष्य की जड़ता, कठोरता एवं क्रोधादि कषाय तथा नोकषायों की विकारता को सुकोमलता, सद्बौद्धिकता और निर्विकारता में बदलने और उसे कष्ट-सहिष्णुता एवं नम्रता के साँचे में ढालने के लिए विविध बाह्याभ्यन्तर तप का ताप आवश्यक है। इस दृष्टि से मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा, श्रद्धा, धृति, सेवा आदि के रूप में तप की आवश्यकता है। मानसिक चंचलता, नास्तिकता, स्वच्छन्दतापूर्ण मर्यादाहीनता, आरामतलबी, शारीरिक सुख-सुविधा आदि में कटौती तपश्चर्या के माध्यम से ही हो सकती है। समस्त दुर्बलताओं, दुश्चिन्ताओं एवं उद्विग्नताओं से उबरने, सच्ची आत्मिक सुख-शान्ति पाने तथा शारीरिक-मानसिक-आत्मिक समाधि एवं क्षमताएँ बढ़ाने का एकमात्र उपाय है–तपःसाधना। भगवती आराधना के अनुसार–"संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त न होता हो।" साथ ही कर्मविज्ञान ने उनके आक्षेपों का भी समाधान किया है, जो यह कहते हैं कि तप दुःखात्मक है, असातावेदनीय कर्मोदयरूप है, संवर-निर्जरोत्पादक मोक्षांग नहीं है। सम्यक्तप ऐसा नहीं है, उससे योगों और इन्द्रियों को हानि नहीं होती, बल्कि तन-मन-वचन-बुद्धि और इन्द्रियाँ तप से परीषहोपसर्ग-सहन, सक्षम, परिपुष्ट, एकाग्र, सुदृढ़, स्वस्थ एवं सक्रिय होते हैं, संवर-निर्जरा योग्य बन जाते हैं। स्थूलशरीर को तपाने से तैजस् कार्मणशरीर पर अचूक प्रभाव सम्यक् बाह्यतप से होता है। वस्तुतः दुःख-दर्द उत्पन्न होता है–कर्मशरीर में, परन्तु प्रकट होता है स्थूलशरीर में। स्थूलशरीर के माध्यम से कर्मशरीर को तपाया जाता है। अज्ञानतप और सम्यक्तप के स्वरूप और उद्देश्य के अन्तर को समझने पर ही यह तथ्य समझ में आ सकता है कि सम्यक्तप तन-मन को तपाकर आत्म-शुद्धि करता है, जिससे कर्ममल दूर हो जाते हैं। सम्यक्तप से आत्मा के ज्ञानादि गुण निर्मलतर होते जाते हैं, बशर्ते कि उससे संवर और निर्जरा होती रहे और तन, मन, इन्द्रियाँ स्वस्थ एवं समाधिस्थ रहें, दुर्ध्यान न हो तथा कषाय-नोकषायादियुक्त या रागादियुक्त निदान किसी भी प्रकार का न किया जाए। सम्यक्तप का उद्देश्य सिद्धियों, लब्धियों और इह-पारलौकिक निदानों के चक्कर में फँसना नहीं है; अपितु आत्म-शुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति है; जबकि नौ प्रकार के निदान से

आत्म-शुद्धि की साधना नष्ट, विकृत और अध्यात्म लाभ से वंचित हो जाती है। अन्त में, कर्मविज्ञान ने सम्यक्तप और बाल (अज्ञानपूर्वक) तप का अन्तर बहुत ही विशद रूप से शास्त्रीय प्रमाणों सहित समझाया है। बाह्य और आभ्यन्तर तप का अन्तर, उनसे होने वाली समाधि-असमाधि, लाभ-अलाभ का चित्रण तथा तप के ३५ प्रकारों में कौन-सा तप भगवदाज्ञा में है, कौन-सा नहीं ? इसका भी निर्णय किया गया है; अशुद्ध तप और शुद्ध तप का विवेक भी बताया गया है। बाह्यतप के स्वरूप और प्रकारों का भी विवेचन किया गया है। वस्तुतः परीषह-विजय, उपसर्ग-सहन, कष्टों को समभाव से सहने एवं संलेखना-संथारे के अभ्यास के लिए भी अनशनादि ६ बाह्यतपों का अभ्यास करना आवश्यक है।

छह आभ्यन्तर तप : कर्मनिर्जरा में कैसे-कैसे सहायक ?

इसी सप्तम भाग के ११वें से १५वें निबन्ध तक आभ्यन्तर तप के स्वरूप एवं उद्देश्य तथा इनके छह प्रकारों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है।

बाह्याभ्यन्तर तप : लक्षण, योग्यता, लक्ष्य–तप बाह्य हो, चाहे आभ्यन्तर दोनों का उद्देश्य और लक्ष्य आत्म-शुद्धि और समाधि है। सम्यक्तपःसमाधि अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न समझने पर तथा शक्ति को न छिपाकर सम्यक् प्रकार से उनमें प्रवृत्त होने पर ही होती है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप का प्रवेशद्वार है। बाह्य तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रहती है, जबकि आभ्यन्तर तप में चार अन्तःकरण के अतिरिक्त अपनी रुचि, योग्यता और क्षमता की अपेक्षा रहती है। दोनों प्रकार के तप एक-दूसरे के पूरक हैं। बाह्य तप का महत्त्व आभ्यन्तर तप से कथमपि कम नहीं है। ये दोनों सापेक्ष और अन्योन्याश्रित हैं। आभ्यन्तर तप का उद्देश्य अन्तःकरण की दुष्प्रवृत्तियों को सुप्रवृत्तियों में बदलना है। वस्तुतः मन की दुष्परिणति को सम्यग्ज्ञानपूर्वक सुपरिणति या शुद्ध परिणति में बदल देना ही आभ्यन्तर तप है। पदार्थाधीन पर-पदार्थाश्रित भोगसुखों का मन से भी परित्याग करके मन को स्वाधीन प्रशमसुखों में लीन करना बाह्याभ्यन्तर सम्यक्तप का उद्देश्य है। मुमुक्षु को सकामनिर्जरा या अविपाकनिर्जरा के लिए इन्हीं द्विविध तप की साधना करनी चाहिए। षड्विध आभ्यन्तर तप से मन का सर्वांगीण परिवर्तन हो जाता है। जीवन में इनके परिनिष्ठित हो जाने पर कर्मों की अनायास निर्जरा और महानिर्जरा तक हो सकती है। छह आभ्यन्तर तप ये हैं– (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त : स्वरूप, उद्देश्य, अन्तःकरण शुद्धि रूप लक्ष्य–प्रायश्चित्त की मुख्य तीन परिभाषाएँ हैं– (१) अतिचारों (दोषों) की शुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न, (२) पापों का छेदन, और (३) अपराधों का शोधन। अन्तःकरण की शुद्धि के बिना आत्म-साधना में सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए आत्म-विकास की अभिवृद्धि से पहले अन्तःकरण की परिशुद्धि के लिए आभ्यन्तर तप में सर्वप्रथम प्रायश्चित्त तप का विधान है।

पापशोधनरूप प्रायश्चित्त न करने पर जन्म-मरणादि के भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। प्रायश्चित्त कर लेने पर व्यक्ति विराधक न रहकर आराधक हो जाता है, जिससे भविष्य में अत्यल्प जन्म-मरण रह जाते हैं, उत्कृष्टतः सात या आठ भवों में मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पापनाश से आत्म-शुद्धि के लिए चार मुख्य प्रक्रियाएँ बताई गई हैं–(१) आलोचना, (२) निन्दना (पश्चात्ताप), (३) गर्हणा, और (४) प्रतिक्रमण। इसके अनन्तर इन चारों का विस्तृत स्वरूप, उद्देश्य, प्रकार एवं इनसे होने वाली उपलब्धियों का उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आगे आध्यात्मिक तथा मनोकायिक रोगचिकित्सा का निरूपण, आलोचना करने और आलोचना सुनकर प्रायश्चित देने वालों की अर्हताओं का तथा प्रायश्चित्त तप के दस प्रकारों का विवेचन किया गया है।

विनय और वैयावृत्य तप : अन्तःकरण को नम्र, सरल, निरहंकार और निःस्पृह बनाने हेतु–विनय तप का उद्देश्य है–अहंकारादि जनित कर्ममलों को नष्ट करना। ज्ञानादि रत्नत्रय तथा ज्ञानादिविषय तप के विषय में सुविशुद्ध परिणाम होना तथा इन आत्म-गुणों में आगे बढ़े हुए महान् पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति रखना अथवा सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग के दोषों को दूर करना तथा इनके दोषों को दूर करने के लिए जो

मुमुक्षुजन पुरुषार्थ करते हैं, उनके प्रति विनम्रता प्रकट करना तथा शक्ति को न छिपाकर स्वयं समर्पित होकर इन गुणों के प्रति यथाशक्ति पुरुषार्थ करना, विनय = विनयाचार है। विनय के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और लोकोपचार यों सात भेद हैं। कर्मविज्ञान ने पूर्वोक्त सात भेदों का तथा प्रकारान्तर से लोकोपचार विनय के तेरह तथा इन तेरह के प्रति अनाशातना, भक्ति, बहुमान और गुणगान के कारण ५२ भेदों का स्वरूप और इनका विशद निरूपण भी किया है। विनय के इन सात मुख्य भेदों के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाना, इनका स्वरूप भलीभाँति समझकर सक्रिय रूप से आचरण करना ही संवर, निर्जरा और पुण्य के अर्जन करने का उपाय है। वैसे गहराई से देखें तो विनय तप समस्त गुणों का, गुणों को उपार्जित करने का, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का, संवर-निर्जरारूप धर्मवृक्ष के मोक्षफल प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है।

इसके पश्चात् आत्मा की, आत्म-गुणों की अधिकाधिक शुद्धि, अहंत्व-ममत्व के विसर्जन, इच्छाओं-महत्त्वाकांक्षाओं का निरोध करने तथा आत्मौपम्यभाव से स्वकीय आत्महित की भावना से सम्यग्दृष्टिपूर्वक सेवा-साधना करने के लिए वैयावृत्य तप अत्यन्त उपयोगी एवं मुमुक्षुजनों के संवर-निर्जरारूप धर्मोपार्जन के लिए आवश्यक है। तदनन्तर कर्मविज्ञान ने समाज के विविध घटकों में परस्पर उपकारदृष्टि से की जाने वाली सेवाओं और वैयावृत्य का अन्तर स्पष्ट किया है। ये सब समाज-राष्ट्रादि की सेवाएँ पुण्यबन्ध की कारण हैं, जबकि वैयावृत्य तप पूर्वोक्त उद्देश्य की दृष्टि से सम्यग्दृष्टि एवं मोक्षलक्षी भावना से किये जाने के कारण निर्जरा (आत्म-शुद्धि) का कारण है; क्योंकि द्रव्य और भाव से अपना (अपनी आत्मा का) और दूसरों (आचार्य आदि दशविध उत्तम पात्रों) का उपकार करना, धर्मदृष्टि से उपग्रह करना, गुणानुरागवश सेवा-शुश्रूषा, श्रम-अपनयन, खेद-अपनयन, शान्तिकारण और समाधिकारण; इन पाँच प्रक्रियाओं से अम्लानभाव से भक्तिभावपूर्वक आचरण करना वैयावृत्य तप है, जो मुख्यतया निर्जरा का तथा गौणरूप से पुण्य का कारण है। तत्पश्चात् वैयावृत्यकर्ता की हार्दिक भावना तथा वैयावृत्यकर्ता की पाँच विशेषताओं (पंचविध गुणरूप अर्हताओं) का विवेचन किया है। 'भगवती आराधना' के अनुसार वैयावृत्य से १८ गुणों की प्राप्ति तथा शास्त्रोक्त त्रिविध वैयावृत्य की आत्म-वैयावृत्य में गतार्थता हो जाती है। निश्चयदृष्टि से वैयावृत्य तप तब होता है, जब मुमुक्षुसाधक लोकैषणादि से विरक्त होकर शुद्धोपयोगपूर्वक शम-दम-समरूप आत्म-स्वभाव में प्रवृत्त होता है। तभी पूर्वोक्त दशविध उत्तम पात्रों की वैयावृत्य से साधक महानिर्जरा और महापर्यवसानता से युक्त होता है। जब मुमुक्षु वैयावृत्यकर्ता काया से उत्तम पात्रों की निष्काम निःस्वार्थभाव से सेवा करता है; वचन से सेव्य गुणीजनों के आत्म-गुणों की प्रशंसा-अनुमोदना करता है तथा अन्तर्मन को आत्म-गुणों के प्रति जोड़ता रहता है, इस प्रकार उसके तीनों योग एकरूप होकर आत्म-गुणों को वृद्धिंगत करने का वीर्योल्लास (पराक्रम) प्रगट करते हैं, तब वह वैयावृत्य आभ्यन्तर तपरूप में परिणत होता है। वैयावृत्य में पर-उपकार करने का विकल्प न होकर सहजभाव से उपकार होता रहता है। वैयावृत्य का अवसर मिलने पर वैयावृत्यकर्ता के अन्तर्मन में आह्लाद की अनुभूति, सेव्य के प्रति कृतज्ञताभाव, आत्मलक्ष्यी दृष्टि, समर्पित वृत्ति तथा इच्छाओं के निरोध से प्रसन्नता होती है और ऐसी मनःस्थिति में वैयावृत्य करता है, तो वह वैयावृत्य तप अतिदुष्कर होने से कर्मों की निर्जरा, महानिर्जरा तथा सर्वकर्ममुक्ति का कारण बनता है। वास्तव में वैयावृत्य करने से तीर्थंकर पद या मुक्ति और अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। अतः वह अपनी आत्मा का ही कर्त्तव्य-दायित्व या कार्य है। अन्त में व्यवहार में आत्म-वैयावृत्य और पर-वैयावृत्य से सम्बद्ध शास्त्रोक्त आठ शिक्षाओं का निरूपण किया गया है।

कर्मों से शीघ्र मुक्ति : स्वाध्याय और ध्यान तप की साधना से

प्रायश्चित्त, विनय एवं वैयावृत्य तप से अहंत्व-ममत्व का विसर्जन करने पर आत्म-शुद्धि कितनी मात्रा में हुई है, उसका निरीक्षण-परीक्षण करने तथा अन्तःकरण का आत्म-शुद्धि में तथा शुद्ध आत्म-स्वभाव में

स्थिर करने हेतु स्वाध्याय और ध्यान तप का निर्देश किया गया है। स्वाध्यायरूपी दर्पण में सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु अपने गुण-दोषों, अच्छाइयों-बुराइयों एवं कमजोरियों-मजबूरियों को निहारकर उन्हें दूर करने हेतु चिन्तन-मनन करता है। फिर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा द्वारा चिन्तन, मनन, स्मरण करता है फिर अनुप्रेक्षा द्वारा अन्तर की गहराई में डूबकर सत्य के तट तक पहुँच जाता है। वस्तुतः स्वाध्याय अन्धकारपूर्ण जीवनपथ को आलोकित करने हेतु दीपक के समान है। इसके प्रकाश में व्यक्ति हेय, ज्ञेय और उपादेय को जान लेता है। मुमुक्षु एवं आत्मार्थी के लिए स्वाध्याय आधि, व्याधि और उपाधि को दूर करके समाधि में पहुँचाने वाला नन्दनवन है। जहाँ सभी समस्याओं और चिन्ताओं से दूर रहकर मनुष्य सच्चा आनन्द प्राप्त करता है। स्वाध्याय अज्ञानजनित दुःखों के निवारण का यथार्थ उपाय बताता है, कर्मों के निरोध और क्षय का उपाय बताकर सच्चे मार्गदर्शक का काम करता है। स्वाध्याय से क्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध होने से सहज ही योग-साधना हो जाती है। अतः स्वाध्याय से वर्षों के संचित कर्मों को शुद्ध भावों से क्षणभर में मिटा सकना सम्भव है। स्वाध्याय से चतुर्विध श्रुतसमाधि प्राप्त होने से सुध्यान के साथ आत्मा जुड़ जाता है। निःसन्देह स्वाध्याय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्धि और पुष्टि होने से आत्मा परमात्मा बन सकता है। अहर्निश स्वाध्याय करने से नित नये अर्थों की स्फुरणा, पदानुसारिणी लब्धि तथा प्रत्येक शंका का मनःसमाधान हो जाता है तथा असंख्यातगुणित श्रेणीरूप कर्म-निर्जरा भी हो जाती है। नियमित स्वाध्याय से श्रुतदेवता द्वारा पंचविध वरदान भी प्राप्त होते हैं–(१) बोधि, (२) समाधि, (३) परिणाम-विशुद्धि, (४) स्वात्मोपलब्धि, और (५) शिव-सौख्यसिद्धि। अतः आत्मिक-विकास के लिए स्वाध्याय तप में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वस्तुतः स्वाध्याय अपना (आत्मा का) ही अध्ययन है, सम्यग्ज्ञान की आराधना है। मृगापुत्र, मुनि हरिकेशबल, समुद्रपाल मुनि आदि महाभाग श्रमणों ने अन्तःस्वाध्याय से अध्यात्मज्ञानरूपी चन्द्र की चाँदनी प्रगट कर ली थी। स्वाध्याय तप के पाँच प्रकार शास्त्रों में बताये हैं–वाचना, पृच्छा, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। कर्मविज्ञान ने इन पाँचों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

सुध्यान का महत्त्व, लक्षण, विधि आदि का विश्लेषण

स्वाध्याय और ध्यान परस्पर पूरक हैं। स्वाध्याय से प्रायः मन-वचन-काया की एकाग्रता कदाचित् होती है, परन्तु वह घनीभूत नहीं होती, जबकि ध्यान से इनकी एकाग्रता घनीभूत, स्थायी और सुदृढ़ होती है। इसलिए स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान = सुध्यान का अधिक महत्त्व है। कर्मावरणों को द्रुतगति से क्षीण करने के लिए धर्म-शुक्लध्यान ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। वस्तुतः ध्यानरूप अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मरूप काष्ठ को भस्म करके अपना शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध-निरंजन स्वरूप प्राप्त कर सकता है। मुमुक्षु आत्मा को परोक्ष सत्ता (शुद्ध आत्मा) तक पहुँचने के लिए मन की प्रत्यक्ष सत्ता से ऊपर उठकर राग-द्वेषरहित चेतनाधारा से जोड़ने वाला एकमात्र सुध्यान ही है। ध्यान-साधना के मुख्य पाँच हेतु हैं–(१) वैराग्य, (२) तत्त्वज्ञान, (३) निर्ग्रन्थता, (४) समचित्तता, और (५) बाह्याभ्यन्तर परिग्रह-जय। आत्म-धर्म को सुध्यान से कथमपि पृथक् नहीं किया जा सकता, अन्यथा धर्म प्राणविहीन, चेतनाशून्य हो जायेगा। कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है, कर्मक्षय होता है–आत्म-ज्ञान से, और आत्मा का शुद्ध और स्थायी ज्ञान होता है–सुध्यान से। इस दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति के लिए ध्यान का सर्वाधिक महत्त्व कर्मविज्ञान ने बताया है, बशर्ते कि वह ध्यान अशुभ और शुभ कोटि (पुण्यजनक) न होकर शुद्ध कोटि का हो, शुद्धोपयोगरूप हो, क्योंकि अपने लक्ष्य में एकाग्र, तन्मय और स्थिर हो जाना ही सुध्यान का लक्षण है। अन्त में, अशुभ ध्यानद्वय के लक्षण और प्रकार बताकर धर्म-शुक्लध्यान के लक्षण, विधि, आलम्बन/निरालम्बनता, प्रकार, अनुप्रेक्षाएँ तथा इनके लौकिक और लोकोत्तर फलों का भी वर्णन कर्मविज्ञान ने विशद रूप से किया है।

व्युत्सर्ग तप : महत्त्व, लक्षण, प्रकार, विधि और शीघ्र कर्मक्षय का हेतु

व्युत्सर्ग तप का लक्षण है–आत्म-लक्ष्यी विशिष्ट दृष्टि से तन, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और कषाय का विसर्जन करना, उत्सर्ग करना, उन्मार्ग में जाने से रोकना, स्वेच्छा से इनके प्रति ममत्व-बुद्धि का त्याग

करना, इनकी साधना के लिए विविध त्याग, नियम, व्रत-प्रत्याख्यान करना। स्पष्ट है–व्युत्सर्ग तप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप का संगम है। भय, प्रलोभन, दबाव या किसी इहलौकिक-पारलौकिक कामना-वासना, स्वार्थलिप्सा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा आदि के वश त्याग करना व्युत्सर्ग तप की कोटि में नहीं आता; क्योंकि ऐसे त्याग से शरीर और सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति आसक्ति, लालसा, वासना, मूर्छा, कामना या उत्सुकता नहीं मिटती। व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप तभी कहलाता है, जब आत्म-शुद्धि, आत्म-समर्पण और स्वेच्छा से, बिना किसी स्वार्थ के बलिदान (उत्सर्ग) की दृष्टि से संसार के सभी सजीव और निर्जीव पर-पदार्थों के तथा प्राणों के प्रति भी आसक्ति, ममता, मूर्च्छा, अहंता, वासना, लालसा, गृद्धि, उत्सुकता और आशा का, यहाँ तक कि कषायों, कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) तथा संसार आदि के प्रति भी केवल कर्ममुक्ति का लक्ष्य रखकर त्याग किया जाता है। व्युसर्ग तप का उद्देश्य ही है–निःसंगता, निर्भयता तथा जीवन की आशा-तृष्णा आदि का त्याग। यही व्युत्सर्ग का विशद स्वरूप है। कायोत्सर्ग का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। व्युत्सर्ग तप सिद्ध हो जाने पर व्यक्ति में प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है, आत्मा में समता और सहज श्रद्धा परिनिष्ठित हो जाती है, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में तथा इष्ट-वियोग–अनिष्ट-संयोग की परिस्थिति में व्युत्सर्ग-साधक समत्व में स्थित रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, ज्ञाता-द्रष्टाभाव जाग जाता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कैसा भी हो, वह उसमें प्रतिबद्ध न होकर आत्म-स्वभाव में स्थिर रहता है। उसके तन, मन, वचन, बुद्धि आदि शान्त और निश्चल हो जाते हैं। उसकी पुरानी आदतों, भौतिक रुचियों, संकीर्ण दृष्टिकोणों, कुस्वभाव, निकृष्ट प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है। उसमें तितिक्षा, सहिष्णुता तथा सहनशीलता बढ़ जाती है। उसके अन्तःकरण की धारा शुद्ध आत्मा, परमात्मा या वीतरागता की ओर प्रवाहित होती है। प्राण-शक्ति की ऊर्जा तथा मनोबल बढ़ जाने से शुद्ध आत्म-तत्त्व को उपलब्ध करने में कोई रुकावट नहीं रहती। व्युत्सर्ग तप का साधक शरीर और शरीर से सम्बद्ध परभावों तथा कषायादि विभावों से स्वभाव की तथा आत्मा और आत्म-गुणों की भिन्नता का साक्षात्कार कर लेता है।

वर्तमान युग में तन, मन, वचन तथा बुद्धि आदि अन्तःकरण बहुत ही भाग-दौड़ करता है, प्रायः भौतिक साधनों को जुटाने में, उसके कारण चित्त विविध पापकर्मों में प्रवृत्त होता है, फिर उनसे कर्मबन्ध होता है, फलतः जन्म-मरणादिरूप संसार परिभ्रमण करना पड़ता है, नाना दुःखद फल भी भोगने पड़ते हैं, इन सबसे छुटकारे का सर्वोत्तम और सफल उपाय है–कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग। इनके अपनाने पर व्यक्ति की व्यर्थ में नष्ट होती हुई प्राण-शक्ति, जीवनी-शक्ति एवं ऊर्जा-शक्ति बच सकती है, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य की रक्षा हो सकती है।

अन्त में, व्युत्सर्ग तप के दो मुख्य प्रकार बताये हैं–द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग। द्रव्यव्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं–(१) कायव्युत्सर्ग, (२) गणव्युत्सर्ग, (३) उपधिव्युत्सर्ग, और (४) भक्तपानव्युत्सर्ग। भावव्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं–(१) कषायव्युत्सर्ग, (२) संसारव्युत्सर्ग, और (३) कर्मव्युत्सर्ग। ध्यान की पूर्वभूमिका के लिए तथा गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में किंचित् दोष लगने पर कायोत्सर्ग का विधान है। कायिक और मानसिक कायोत्सर्ग की विधि तथा द्रव्य-भाव कायोत्सर्ग के चतुर्विध भंग करके रहस्य भी समझाया गया है। संलेखना-संथारा के लिये कायोत्सर्ग अनिवार्य है। शरीर को कायोत्सर्ग में सक्षम बनाने हेतु शरीर और आत्मा की पृथक्ता का, देहादि पर ममत्व या अध्यास के त्याग का अभ्यास करना आवश्यक है। अन्त में, कर्मविज्ञान ने शुद्ध कायोत्सर्ग और उसके मापदण्ड तथा विविध कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग साधकों का उदाहरण देकर इसका विशद ज्ञान करा दिया है।

भेदविज्ञान की विराट् साधना

कायोत्सर्ग या व्युत्सर्गतप की सिद्धि के लिए भेदविज्ञान की परिपक्व साधना अनिवार्य है। भेदविज्ञान के साधक को अपने अन्तर से मन-वचन-काया से प्रत्येक प्रवृत्ति करने से पूर्व सोचना चाहिए कि यह प्रवृत्ति आत्म-लक्षी है या शरीरादि-लक्षी, अथवा यह प्रवृत्ति आत्म-हितकारी है? परिणाम में आत्मा के लिए इष्ट है

या आत्मा के लिए अहितकारी या अनिष्टकारिणी? भेदविज्ञान का साधक शरीर की आहार-पानी आदि से सुरक्षा करते हुए भी आत्म-देवता की उपेक्षा नहीं करेगा। वह विनश्वर शरीरादि की सार-सँभाल में ही अहर्निश जुटा रहकर अविनाशी आत्मा की उपेक्षा नहीं करेगा। भेदविज्ञान के अभाव में आत्मा की कितनी और किस-किस प्रकार से अधोगति होती है, उसे कर्मग्रन्थ के विकार कैसे-कैसे घेर लेते हैं? इसका स्पष्ट चित्रण कर्मविज्ञान ने किया है। भेदविज्ञान का फलितार्थ है–शरीर को 'मैं' और शरीर-सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं को 'मेरी' न समझकर इनसे अलिप्त, निःसंग रहना, इनकी भिन्नता का अभ्यास करके सुसंस्कारों में दृढ़ करना कि न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न ही इनका कारण हूँ। मैं इनका कर्ता नहीं, कराने वाला नहीं, और न ही कर्ता का अनुमोदक हूँ। भेदविज्ञान से रहित जीव शरीरलक्षी, बहिरात्मा, कर्मलिप्त, मिथ्यादृष्टि एवं परम्परा से दुर्लभबोधि बन जाते हैं। भेदविज्ञान से रहित और युक्त के आचरण में कितना अन्तर होता है? इसे पौराणिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट समझाया गया है। ऐसे शरीरासक्त मानव का सारा जीवन प्रायः शरीर-चिन्तन में, उसकी मनोवृत्ति भौतिकता के चिन्तन में और तदनुरूप कर्तृत्व में लगा रहता है। जबकि भेदविज्ञानी साधक मन से भी परभावों से आत्म-द्रव्य का सम्बन्ध तोड़ता रहता है, फलतः वह परभावों से या परभावों के प्रति राग-द्वेषादि से बचकर अयोगसंवर का या कदाचित् शुभ योगसंवर का तथा कषायमन्दता का लाभ उठा लेता है। वह बड़े से बड़े संकट में समभाव रखकर निर्जरा भी कर सकता है। जब भी देहभाव आने लगे तब वह तुरंत सावधान होकर देहादि से भिन्नता का चिन्तन करता है। आत्म-भावों में निमग्न हो जाने से व्यक्ति देहभाव से ऊपर उठ सकता है, शरीर की आवश्यकताओं से भी मन को हटा सकता है। रोग, आतंक या पीड़ा की स्थिति में वह इनसे न घबराकर या निमित्तों पर दोषारोपण न करके अपने उपादान को सँभालता है, आत्म-भावों या आत्म-गुणों का चिन्तन करता है। जिन-जिन महान् आत्माओं ने सर्वकर्ममुक्ति या सिद्धि प्राप्त की है, उन्होंने भेदविज्ञान के बल पर ही की है। समाधिमरण भी भेदविज्ञान करने पर यथार्थ रूप में हो सकता है। अतः भेदविज्ञान के अभ्यास से संवर-निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होने में कोई संदेह नहीं है।

●●

कर्मविज्ञान : भाग ८ का सारांश

मोक्षतत्त्व का स्वरूप-विवेचन

मोक्ष का अन्यतम कारण : सुख-दुःख में समभाव

जीवन में न तो कभी एकान्त सुख ही आता है और न ही एकान्त दुःख। ये दोनों ही जीव के पूर्वकृत सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के फल हैं। अतः सुख का फल भोगते समय सुखोन्मत्त न होना और दुःखफल भोगते समय दुःखमग्न दीन न होना, दोनों अवस्थाओं में समभाव रखना ही कर्म के मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। अर्थात् सुख और दुःख का वेदन न करे, इन्हें विषमतापूर्वक भोगे नहीं, तभी आंशिक मुक्ति पा सकता है। समताधर्म की कला सीख ले तो मनुष्य इस जीवन में ही अव्याबाध सुख का अनुभव कर सकता है। भरत चक्रवर्ती भौतिक सुखों के सभी साधन होते हुए भी निर्लिप्त, अनासक्त और समतामग्न रहे। अतः सुखरूप फल भोगते समय सुखासक्त होना दुःख के बीज बोना है, दुःख को आमंत्रित करना है। जैसे–ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सुखरूप फल पाकर सुख में गाढ़ आसक्त हो गया, फलतः शुद्ध धर्म से, बोधिलाभ से भ्रष्ट होकर नरकगति का मेहमान बना। वर्तमान युग के सुख-सुविधावादी लोगों का कुतर्क उन्हें पर-पदार्थों के गुलाम, असातावेदनीय कर्मबन्धकर्त्ता तथा दुःख के गर्त्त में पतित बनाता है। सनत्कुमार चक्रवर्तीरूप सुखमग्नता दुःसाध्य रोगों की कारण बनी। किन्तु जब उन्होंने रोगमय दुःख को समभाव से सहने का दृढ़ निश्चय कर लिया, तब कर्मनिर्जरा उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी बढ़ती गई। मन के अनुकूल-प्रतिकूलों में सुख-दुःख की कल्पना करना या किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु या शक्ति को सुख-दुःखदाता मानना महाभ्रान्ति है। दुःख के वातावरण में भी समभाव रखे तो व्यक्ति संवर-निर्जरा कर सकता है। और यह भी सत्य है कि गजसुकुमाल जैसे समतायोगी महामुनि को दुःख के इतने साधन सोमिल ब्राह्मण द्वारा जुटाये जाने पर भी दुःखित नहीं कर सका, न ही कर सकता है। और सुख के साधन जुटाये जाने पर भी पर-पदार्थ या व्यक्ति किसी को सुखी नहीं बना सकता, यदि उसका उपादान शुद्ध न होता। सुख-दुःख में समभावी साधक ही कर्ममुक्ति का अलभ्य लाभ प्राप्त कर सकता है। ऐसा साधक दुःखकर प्रसंग को विधायक चिन्तन के बल पर सुखरूप बना सकता, यह कतिपय उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया गया है। अतः समभावी का लक्षण है– दुःख में दीनता न हो, सुख में गर्व न हो। दुःखद कर्मफल को स्वेच्छा से या अनिच्छा से भोगना तो पड़ता है, फिर क्यों न सम्यग्दृष्टिपूर्वक स्वेच्छा से समभाव रखकर उसे भोग ले, ताकि सकामनिर्जरा हो, उक्त कर्म से मुक्ति मिल जाए, नया कर्मबन्ध न हो।

समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल

सच्चे यात्री की तरह अध्यात्म-यात्री भी सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में नहीं उलझता। वह काम, क्रोध आदि लुटेरों या ठगों से सावधान रहता है। संयोग या परिस्थितियाँ भयानक या प्रलोभक हों तो भी वह हर्ष-शोक में ग्रस्त होकर अपनी अध्यात्म-यात्रा को ठप्प नहीं करता। उसके शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, धनादि भौतिक उपकरण भी कषायों या राग-द्वेषादि विकारों से वह दूर रहता है। वह आत्मबल, प्राणबल, मनोबल, साहस और पूरे आत्म-विश्वास के साथ समभावपूर्वक उनका सामना करता हुआ समतायोग के सहारे से एक दिन मोक्ष की मंजिल तक पहुँच जाता है, क्योंकि समतायोग में विनाशी के साथ नहीं, अविनाशी के साथ योग है, यानी वह आत्मा को परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के साथ जोड़ता है। समतायोग से जीवन के सभी क्षेत्रों में शान्ति, विरक्ति, धृति, सहिष्णुता और अन्त में सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके अभाव में दुःख, पीड़ा, अशान्ति और असन्तोष की पल्ले पड़ता है। समतायोग को जीवन में अपनाने पर

समाधि, सुगति या मुक्ति का आनन्द अनायास ही प्राप्त होता है। इसीलिए विभिन्न अनुभवी मनीषियों का कथन है—जो भी साधक अतीत में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं, भविष्य में जायेंगे, वे सब समतायोग (सामायिक) के प्रभाव से ही गए हैं, जाते हैं, जायेंगे। इहलौकिक और पारलौकिक जीवन में भी समतायोग के बिना कोई भी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं होता। समता के बिना जप, तप, क्रियाकाण्ड या व्यावहारिक चारित्र का पालन भी अकिंचित्कर है, मोक्ष में विघ्नकारक है। श्रमण संस्कृति सभी प्रकार के साधकों के लिए समता की प्रेरणा देती है। वस्तुतः आत्मा का मोह और क्षोभ से रहित विशुद्ध परिणाम ही समता है। आत्मा में ऐसी स्थिरता तभी आती है, जब जीवन का प्रत्येक क्षेत्र समतायोग से ओतप्रोत हो। समतायोग का उद्देश्य ही है—साधक को समभावों से ओतप्रोत कर देना, उसके जीवन में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की समता को लाना। समतायोगी समभाव से भावित रहता है। उसके क्रोधादि कषाय-नोकषाय शान्त या मन्द हो जाते हैं। वह प्रत्येक जीव के प्रति आत्मौपम्यभाव रखता है। चित्त या बुद्धि की स्थिति समतामय होने पर ही विषमता मिट सकती है। फिर वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, प्रियता-अप्रियता आदि द्वन्द्वों में समभाव में स्थित रहता है, क्योंकि वह जानता है कि द्वन्द्वयुक्त जीवन संसार-जीवन है, और द्वन्द्वमुक्त—समतायुक्त जीवन अध्यात्म-जीवन है। अतः मनीषी पुरुषों ने समतायोग के मार्ग से मोक्ष की मंजिल पाने के निम्नोक्त पाँच उपाय बताये हैं—(१) प्रतिक्रिया-विरति, (२) सर्वभूतमैत्री, (३) समस्त क्रियाएँ उपयोगयुक्त हों, (४) धर्म-शुक्लध्यान में स्थिरता का अभ्यास, और (५) ज्ञाता-द्रष्टाभाव। कर्मविज्ञान ने इन पाँचों पर सम्यक्प्रकाश डाला है।

समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल

समतायोग के पौधे को अगर आत्म-भूमि में ठीक तरह बोया और सींचा जाए, उसकी पद-पद पर सुरक्षा की जाए, उसे काम-क्रोधादि विकारों से बचाया जाए, अपनी दृष्टि, बुद्धि, प्रज्ञा और अन्तःकरण को विधेयात्मक भावपूर्वक समभाव में स्थिर रखा जाय तो शीघ्र ही वह साधक मोक्षरूपी फल प्राप्त कर सकता है। समतायोगरूपी वृक्ष की चार रूपों में सतत आराधना-साधना श्रद्धा-भक्तिपूर्वक की जाये तो सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष फल को वह साधक अवश्य ही प्राप्त कर सकता है। वे चार रूप इस प्रकार हैं—(१) भावनात्मक, (२) दृष्टिपरक, (३) साधनात्मक, और (४) व्यावहारिक जीवन में क्रियात्मक। इन सब में भावनात्मक समभाव मुख्य है। विषमता की परिस्थिति, घटना, प्रतिकूल व्यक्ति या वस्तु का संयोग उपस्थित होने पर भी समभाव से विचलित न होना इसका स्वरूप है। भावनात्मक समभाव में सर्वप्राणियों के प्रति समभाव, मैत्री आदि भावनामूलक समभाव, पारिस्थितिक समभाव, भेदविज्ञानरूप समभाव और आत्म-भावरमणरूप समभाव का समावेश हो जाता है। इन सब पहलुओं पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। समतायोग के द्वितीय रूप दृष्टिपरक समभाव का अर्थ है—समतायोग के प्रति श्रद्धा, निष्ठा, रुचि, भक्ति और तत्त्वज्ञान-प्रतीति तथा समता-प्राप्ति के प्रति निःशंकता, निष्कांक्षता, निर्विचिकित्सा एवं अमूढदृष्टि को जानना, मानना और विश्वास करना। एकांगी व एकान्त, हठाग्रहयुक्त दृष्टिकोण समतामय नहीं होता। समतायोग का तृतीय रूप है—साधनात्मक समभाव, जिसे साधुवर्ग यावज्जीवन के लिए गृहस्थवर्ग अमुककाल के लिए अंगीकार करता है। दोनों वर्गों की द्रव्यसामायिक साधना भले ही कालसापेक्ष हो, किन्तु भावसामायिक साधना कालनिरपेक्ष है। उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप पर पड़ना चाहिए, साथ ही परिवार, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र, जाति, कौम आदि घटकों में भी समभाव का प्रयोग होना चाहिए। वस्तुतः साधनात्मक समभाव आत्म-साधनापरक है। उक्त समतायोग का प्रयोजन है—आत्मा में निहित कषायों, नोकषायों, काम, मोह, कामनाओं, वासनाओं पर विवेकपूर्वक विजय प्राप्त करके आत्मा को संवर और निर्जरा से परिष्कृत, शुद्ध एवं निर्मल करना। व्यावहारिकदृष्टि से सावद्ययोग का परिहार करके निरवद्ययोगरूप जीव का परिणाम साधनात्मक सामायिक का फलितार्थ है। आत्मा को समता और वीतरागता प्राप्त करने के लिए सक्षम बनाना ही समतायोग के इस रूप का उद्देश्य है। तभी प्रज्ञा का जागरण और समत्वयोग के पूर्ण आदर्श की प्राप्ति होगी। समतायोग का चतुर्थ रूप है—क्रियात्मक व्यावहारिक समभाव। परिवार से लेकर राष्ट्र और विश्व तक समाज और समष्टि के प्रत्येक घटक के साथ भेदभावरहित, निष्पक्ष और उदार व्यवहार करना, जिसकी पृष्ठभूमि में आत्मौपम्यभाव, मैत्री आदि के रूप में आध्यात्मिक होनी चाहिए।

मोक्ष से जोड़ने वाले पंचविध योग

भारतीय धर्मों की सभी धाराओं में योग को मोक्षप्रापक और भवरोगनाशक माना गया है। आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता, आत्म-स्वरूप में अवस्थिति, आत्मा के साथ लगे हुए कर्मबन्धनों से मुक्ति एवं अव्याबाध-सुख की प्राप्ति के जितने भी उपाय विविध धर्मों और दर्शनों ने बताये हैं, उनमें अन्यतम विशिष्ट उपाय 'योग' है। जैन-मनीषियों ने योग का अर्थ किया है–मोक्ष के साथ संयोजन कराने वाला, अथवा जिससे आत्मा केवलज्ञान आदि से या मोक्ष से जोड़ा जाता है। इसीलिए इसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न से उपमा देकर आत्मा का परम धर्म तथा मोक्ष का सुदृढ़ सोपान बताया गया है।

'योगबिन्दु' ग्रन्थ में इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं–(१) अध्यात्मयोग, (२) भावनायोग, (३) ध्यानयोग, (४) समतायोग, तथा (५) वृत्तिसंक्षययोग। आत्मा को लक्ष्य में रखकर प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया की जाए, वहाँ अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग का अधिकारी चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान का स्वामी है। जिसकी मिथ्यात्व की शक्ति नष्ट हो चुकी है, जो सम्यग्दृष्टि है, जिसकी भोगाकांक्षा, कषाय-नोकषाय, आसक्ति, स्पृहा आदि मोहजनित निरंकुश प्रवृत्ति उत्तरोत्तर शान्त, मन्द या क्षीण होती जा रही हो। आत्म-शुद्धि के लक्ष्यपूर्वक जो संवर-निर्जराधर्म के अनुसार मैत्री आदि भावनापूर्वक व्रत, नियम, तप, त्याग, प्रत्याख्यान, सामायिक, दान, शील, जप आदि क्रिया करता हो। जिसके सक्रियारूप सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्ध परिणाम हों, वह अध्यात्मयोग-साधक है।

अध्यात्मयोग को क्रियान्वित करने के लिए नौ तत्त्वों, अनुभवात्मक ज्ञान, सम्यक्बोधि, दृढ़ आत्म-प्रतीति, आत्मा में ही प्रीति, उसी में तृप्ति, संतुष्टि होना आवश्यक है। साथ ही निर्मलज्ञान के प्रकाश में ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहना भी अध्यात्मयोग के लिए आवश्यक है। प्रारम्भिक भूमिका में अध्यात्मयोग का अभ्यास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के आचरण से करना चाहिए। तथैव आत्मा है, आत्मा सुख-दुःख (कर्मों) का कर्ता है, सुखद-दुःखद कर्मों का भोक्ता है, आत्मा परिणामी नित्य होने से नित्य भी है, अनित्य भी। जड़कर्मों के बन्धनों से मुक्त होने के उपाय भी हैं और कर्मबन्धों से वह सर्वथा मुक्त हो सकता है, मोक्ष भी प्राप्त करता है, इन छह तथ्यों का सम्यग्ज्ञान होना भी इस योग में अनिवार्य है। अध्यात्मयोग की फलश्रुति है–मोह से मोक्ष की ओर गति-प्रगति। दूसरा है–भावनायोग। अध्यात्मतत्त्व को चित्त में स्थिर करने के लिए पहले बताई हुई बारह अनुप्रेक्षाओं तथा मैत्री आदि चार भावनाओं का बार-बार चिन्तन करना, अभ्यास करना, उसके दृढ़ संस्कार चित्त में जमाना आवश्यक है। यही भावनायोग का स्वरूप है। भावनायोग भवनाशी और संसार-समुद्र का अन्त कराने वाला है। प्रत्येक श्रमण के दीक्षा लेते ही संयम और तप की भावना से अहर्निश आत्मा को भावित रखना होता है। पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ भी भावनायोग में सहायक हैं। भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्ता (चिन्तन) ध्यानावस्था की प्राप्ति में सहायिका हैं। तीन विशिष्ट भावनाएँ भी भावनायोग की सिद्धि के लिए आवश्यक हैं–(१) समभावना, (२) संवेगभावना, और (३) निर्वेदभावना। तीसरा है–ध्यानयोग। चित्तनिरोध द्वारा मन, वचन और काया का निरीक्षण और स्थिरीकरण का नाम ध्यान है। ध्यानयोग से वस्तुतः आत्म-निरीक्षण या आत्म-साक्षात्कार करने से, आत्म-भक्ति में प्रवृत्ति करने से, धर्मध्यान आदि में मन-वचन-काया को प्रवृत्त करना ध्यानयोग है। ध्यानयोग के द्वारा ध्यानाग्नि प्रज्वलित हो जाने से पूर्वकृत कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। आत्म-स्वातंत्र्य, परिणामों की निश्चलता, जन्मान्तर के कर्मों का विच्छेद, ये ध्यानयोग के मुख्य सुफल हैं। ध्यानयोगी को लब्धियों और सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उसका पुरुषार्थ सर्वकर्ममुक्ति की दिशा में होना चाहिए। आगे धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप, अधिकारी और ध्याता के प्रकारों का वर्णन किया गया है। चौथा है–समतायोग। जिसके विषय में पूर्वपृष्ठों में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। समतायोग से आत्मा में परमात्म-स्वरूप प्रकट होता है। समतायोग की साधना से पूर्व उसका सम्यग्ज्ञान एवं उसके प्रति सुश्रद्धा होनी आवश्यक है। समतायोग का दृढ़तापूर्वक अवलम्बन लेकर त्रिगुप्तियुक्त ज्ञानी अर्द्ध-क्षण में पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट कर डालते हैं। जिन्हें तीव्र तप से भी नष्ट नहीं किया जा सकता है। समता ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है, इसके बिना सब क्रियाएँ निरर्थक हैं। समतायोग की तीन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं–(१) लब्धियों में अप्रवृत्ति, (२) ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतिबन्धक तीन घातिकर्मों का क्षय, तथा (३) अपेक्षातन्तु का

विच्छेद। पाँचवाँ है—वृत्तिसंक्षययोग। अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता; इन चार योगों से आध्यात्मिक उत्क्रान्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक होकर वृत्तिसंक्षययोग में पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। पूर्वसेवा से अध्यात्म, फिर उससे भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता और समता से वृत्तिसंक्षय, इन पाँचों के योग से मोक्ष-प्राप्ति होती है, वृत्तिसंक्षय इनमें मुख्य योग है। समस्त वृत्तियों का क्षय असम्प्रज्ञात समाधि में होता है। इसलिए वृत्तिसंक्षय यानी असंप्रज्ञातसमाधि ही मोक्ष के प्रति साक्षात् अव्यवहित कारण प्रतीत होता है। इससे पूर्व के चार योगों से सम्प्रज्ञातसमाधि प्राप्त होती है। सम्प्रज्ञातसमाधि में तामस और राजसवृत्तियों का तो सर्वथा निरोध हो जाता है, मगर सत्त्वप्रधान प्रज्ञाप्रकर्षरूप वृत्ति का उदय रहता है, जबकि असम्प्रज्ञातसमाधि में सभी वृत्तियों का क्षय होकर शुद्ध समाधि का अनुभव होता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो पंचविधयोग का अन्तर्भाव आगमसम्मत पंचविध संवरयोग में अथवा मनःसमिति और मनोगुप्ति में हो जाता है। वृत्तिसंक्षययोग से ही वर्तमान में तरंगित बनी हुई आत्मा अपने शुद्ध निस्तरंग महासमुद्रसम निश्चल स्वभाव में अवस्थित हो सकती है।

बत्तीस योगसंग्रह : मोक्ष के प्रति योग, उपयोग और ध्यान के रूप में

मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति, व्यापार या क्रिया अथवा स्पन्दन का नाम योग है। इन त्रिविध योगों का अनुपयोग और दुरुपयोग दोनों ठीक नहीं, किन्तु सदुपयोग कथंचित् ठीक हो सकता है। जो योग राग-द्वेष से रहित और आत्म-भावों से सीधा सम्बन्धित है, उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। यद्यपि योग को सैद्धान्तिकदृष्टि से आस्रव कहा गया है, किन्तु जैनाचार्यों ने अशुभ योग से निवृत्तिरूप प्रशस्तयोग को शुभ योगसंवर (अशुभ कर्मनिरोधरूप) माना है। शुभ योग में प्रवृत्ति को संयम में भी परिगणित किया है। आचार्य अभयदेवसूरि ने इसी सन्दर्भ में कहा है—जो (मन-वचन-कायारूप) साधन मोक्षरूप साध्य से जोड़े जाते हैं, वे योग = मन-वचन-काया के व्यापार हैं, वे यहाँ प्रशस्त या शुद्ध ही विवक्षित हैं। वे मोक्षरूप साध्य की या संवर-निर्जारूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपादेय हैं। जीव (साधकात्मा) को प्राप्त हुए पूर्वोक्त त्रिविधयोगरूप साधनों द्वारा शुभ या शुद्ध रूप में अध्यात्म-साधना में स्वयं पुरुषार्थ करने से ही मोक्षरूप साध्य परम्परा से प्राप्त हो सकता है। अर्जुन मालाकार आदि ने विपरीत दिशा में हिंसारत बने हुए त्रिविध साधनों को मुनि बनकर त्रिविध साधनों का सदुपयोग तथा शुद्धोपयोग किया तो उन्हीं साधनों से मोक्षरूप साध्य प्राप्त किया। इस दृष्टि से यहाँ मोक्षरूप साध्य की प्राप्ति के लिए समवायांगसूत्र में उक्त ३२ योगों का संग्रह किया है, जो सभी अशुभ योग निवृत्तिरूप संवर की साधना रूप हैं, अथवा प्रशस्तयोग की साधना में निमित्तकारण हैं। साथ ही मोक्ष से जोड़ने वाली शुद्धोपयोगरूप साधना द्वारा निर्जरा के भी कारण हैं। कर्मविज्ञान ने इन बत्तीस योगों का उल्लेख किया है। इस योगसंग्रह के अर्थ और फलितार्थ पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें से कई योग तो आस्रव-निरोधरूप या अशुभ योग निरोधरूप संवर से सम्बन्धित हैं। कई आंशिकरूप से कर्मक्षय के कारणभूत होने से सकामनिर्जरा से सम्बन्धित हैं। जैसे—आपत्ति आने पर समभावपूर्वक धर्म में दृढ़ रहना, तितिक्षा, विनय, व्युत्सर्ग तप, प्रायश्चित्तकरण, आलोचना द्वारा आत्म-शुद्धि, संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण की आराधना आदि सकामनिर्जरा और उत्कृष्ट भावसाधन आवे तो सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के हेतु हैं।

सुध्यानद्वय के रूप में बत्तीस प्रकार का योगसंग्रह

योग शब्द 'समाधि' और 'संयोग' दोनों अर्थों का द्योतक होने से यह मोक्ष-प्राप्ति का सीधा साधन भी है। सर्वसंकल्प-विकल्पों से रहित समत्व स्थिति को 'समाधि' और आत्मा और परमात्मा के अविभक्त 'संयोग' को संयोगरूप परम योग कहा गया है। जो केवलज्ञानादि से आत्मा का योग (संयोग) करा देता (जोड़ देता) है, उसे भी योग कहते हैं। जैनागमों में तथा बाद के आचार्यों ने (विशेषतः परिपक्वदशापन्न) ध्यान को ही 'समाधि' कहा है। इस दृष्टि से धर्मध्यान के १६ भेद तथा शुक्लध्यान के १६ भेद, यों ध्यान के ३२ भेदों को समाधिरूप योगसंग्रह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ध्यानरूप योगसंग्रह में योग के वे समस्त साधन निर्दिष्ट हैं तथा उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यातगुणी सकामनिर्जरा करने के लिए ध्यान (विशेषतः शुक्लध्यान) मोक्ष का बहुत बड़ा साधन है। आगे इसी निबन्ध में धर्म-शुक्लध्यान का स्वरूप

चार-चार पाद, लक्षण, आलम्बन, प्रकार तथा अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख करके उन पर विश्लेषण किया गया है। अन्त में शुक्लध्यान के चार भेदों से उत्तरोत्तर योगनिरोध होते-होते अयोगसंवर प्राप्त होता है, फिर मोक्ष और निर्वाण-पद की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

जैनदृष्टि से–मोक्ष : क्यों, क्या, कैसे, कब और कहाँ ?

संसार भी एक प्रकार का भाव-बन्धन है, उससे छूटना मोक्ष है। भौगोलिक संसार यहाँ संसार नहीं है, किन्तु कामनाओं का हृदय में निवास संसार है, जिनसे कर्मबन्ध होकर जन्म-मरणादि करने पड़ते हैं। जब तक कर्म रहेंगे, तब तक संसार है और कर्मों का सर्वथा अभाव मोक्ष है। कर्मों से आत्मा स्वयं ही बँधा है, इसलिए स्वयं ही उन बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो सकता है। अतः बन्ध और मोक्ष स्वयं जीव (आत्मा) के हाथ में है। दूसरा कोई न तो बाँधता या बाँध सकता है और न ही मुक्त करता या कर सकता है।

बुद्धिजीवी, अज्ञानी एवं शरीरवादी लोगों की मोक्ष के विषय में ऊटपटांग कल्पनाओं का तथा स्वर्गवादी लोगों के कुतर्कों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके उनका अकाट्य युक्तियों और प्रमाणों से खण्डन किया है। वस्तुतः मोक्ष अशरीरी अवस्था है। शरीरादि से, कर्मों से तथा जन्म-मरणादि दुःखों से सर्वथा मुक्त व संसार में पुनः आवागमन से बिलकुल रहित दशा का नाम मोक्ष है। उसमें शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों से कोई लेना-देना नहीं है। मुक्त आत्माओं का अव्याबाध-सुख (परमानन्द) तो वास्तविक, आत्मिक, शाश्वत और स्वाधीन सुख है। मोक्ष के पर्यायवाची निर्वाण शब्द के बौद्धदर्शनमान्य अर्थ का निराकरण करके जैनदर्शनमान्य निर्वाण का अर्थ और फलितार्थ किया है, आत्मा द्वारा अपने समग्र अस्तित्व को अव्याबाधरूप से प्रकट कर लेना, आत्मा को परमात्मा (परम शुद्ध आत्मा) बना लेना। फलितार्थ है–आत्मा को ही समग्र रूप से जानना-देखना और आत्मा में ही सर्वतोभावेन रमण करना–रहना। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में मोक्ष के लिए निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध इत्यादि पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख किया है। सकल कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा को कभी नष्ट न होने वाली आत्यन्तिक सुख-शान्ति या शाश्वत स्वस्थता प्राप्त होना निर्वाण है। साधना की पूर्णाहुति हो जाने के कारण इसे सिद्धि कहा जाता है। लोक के अग्रभाग में है, जहाँ क्षेम कुशल, शिव और अनाबाधता है तथा वह स्थान भी दुष्प्राप्य है। भयादि बाधाओं से सर्वथा रहित है। मोक्ष के इस लक्षण पर से सांख्य, नैयायिक-वैशेषिक दर्शन-मान्य मोक्ष के लक्षण का निराकरण हो जाता है, जो नौ आत्म-गुणों का तथा सुख व ज्ञानादि का मोक्ष में सर्वथा उच्छेद मानते हैं। योगवाशिष्ठ कर्मबन्ध के ५ कारणों में सिर्फ वासनाओं (इच्छाओं) के नाशरूप एक कारण को ही मानता है, अद्वैत वेदान्त में कहा गया है कि आत्मा न तो कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष प्राप्त करता है। ज्ञान ही स्वयं मोक्ष है। ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म है। अविद्या ही एकमात्र बन्ध का कारण है। वल्लभाचार्य, रामानुज तथा निम्बार्क आदि भक्तिमार्गीय आचार्य मोक्ष के लिए ईश्वर-कृपा, दास्य-भक्ति और ब्रह्म के ज्ञानमात्र को मोक्ष-प्राप्ति के कारण मानते हैं। अरविन्दयोगी व्यक्तिगत मोक्ष को मोक्ष नहीं, समष्टिगत मोक्ष को ही मोक्ष मानते हैं। कर्मविज्ञान ने जैनदृष्टि से इन सब का युक्तियों और प्रमाणों सहित निराकरण किया है। निष्कर्ष यह है कि जैनदृष्टि से आत्मा का स्वरूप में अवस्थान भावमोक्ष है और कर्मों से सर्वथा पृथक्त्व द्रव्यमोक्ष है। वह कोई स्थान-विशेष नहीं, मुक्तात्मा की परम पवित्र शुद्ध अवस्था या स्थिति के कारण उसे सिद्धालय या मोक्ष कह दिया गया है।

मोक्षमार्ग का महत्त्व और यथार्थ स्वरूप

मोक्ष के अध्यात्म-यात्री को यात्रा प्रारम्भ करने से पहले उसके मार्ग और मंजिल का भलीभाँति निर्णय करना आवश्यक है। पिछले निबन्ध में मंजिल (मोक्षरूप) का तो निर्णय हो गया, इस निबन्ध में मोक्षमार्ग के निर्णय से सम्बन्धित चिन्तन प्रस्तुत किया है। सूत्रकृतांगसूत्र में मोक्ष को प्रशस्तभावमार्ग कहकर 'मार्ग' नामक अध्ययन में उसका सांगोपांग विश्लेषण किया गया है। जिससे आत्मा को समाधि और शान्ति प्राप्त हो, वही यथार्थ भावमार्ग है, जोकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, इन चारों के समायोग से युक्त है, वही मोक्षमार्ग है। इस प्रशस्त भावमार्ग की पहचान के लिए निर्युक्तिकार ने इसके १३ पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया है। तीर्थंकरदेव इस निर्वाणमार्ग को ही परम (श्रेष्ठ) पद, आश्वासनदायक एवं विश्रामभूत द्वीप, मोक्ष-प्राप्ति का

आधार (प्रतिष्ठान) कहते हैं। आत्मार्थी मनस्वी साधकों को अन्य सब भौतिक पदों को त्याज्य समझकर निर्वाणपद के साथ ही सन्धान करने तथा त्रिविधयोग से होने वाली समस्त प्रवृत्ति निर्वाण को लक्ष्य में रखकर करे। निर्वाणपद की विशेषता बताने हेतु इसे सत्य, अनुत्तर, कैवलिक, प्रतिपूर्ण, न्यायिक या नैयायिक, संशुद्ध, शल्यकर्तन, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्याणमार्ग, निर्वाणमार्ग, अवितथ, असंदिग्ध तथा सर्वदुःखहीनमार्ग कहा गया है। अतः मुमुक्षुसाधकों को श्रद्धा-निष्ठापूर्वक इस मोक्षमार्ग पर गति-प्रगति करना अनिवार्य बताकर मोक्षमार्गी साधक के लिए १३ साधनासूत्र भी इस अध्ययन में बताये गए हैं। साथ ही यह भी चेतावनी दी गई है कि मोक्षयात्री को साधन और साध्य दोनों की शुद्धि तथा दोनों का द्रव्य और भाव तथा निश्चय और व्यवहारदृष्टि से सम्यग्ज्ञान तथा विचार होना अनिवार्य है। जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की यथार्थता का तथा निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग को अपनाना मुमुक्षु के लिए इसलिए आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा मोक्ष आत्मा (जीव) के लिए है। जीव को ही स्वयं को पर-पदार्थों से या परभावों या विभावों से पृथक् जानना-मानना है, परभावों या विभावों पर श्रद्धा न करके जीव (आत्मा) पर ही श्रद्धा न करना है तथा आत्मा के ही शुद्ध स्वरूप-शुद्ध गुणों में रमण करना है, परभावों-विभावों में नहीं। इन बातों को किसे जानना है? जीव (आत्मा) को ही। अतः जो अपने आत्म-तत्त्व पर विश्वास नहीं करता, उसके स्वरूप का भी बोध (ज्ञान) नहीं करता और न ही उसके स्वरूप में अवस्थान करता है, वह मुमुक्षुसाधक केवल व्यावहारिक मोक्षमार्ग को पकड़कर कैसे मोक्षरूप साध्य को प्राप्त कर सकेगा? निश्चयदृष्टि से आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में रत्नत्रय नहीं रहता।

दूसरी बात–रत्नत्रय मिलकर मोक्ष का मार्ग है। अतः मोक्ष प्राप्त होता है आत्मा को। अतः आत्मा से ये तीनों भिन्न नहीं हैं, आत्मरूप ही हैं। निश्चयदृष्टि से साध्य भी आत्मा है साधन भी आत्मा है। किन्तु हाँ दोनों ही शुद्ध रूप में, तभी मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है।

समग्र विश्व में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व तथा विश्व के सभी ज्ञात-अज्ञात तत्त्वों या पदार्थों का अधिष्ठाता, मूलाधार, चक्रवर्ती या समग्र आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न यदि कोई है तो आत्मा ही। शुद्ध आत्म (जीव) तत्त्व में ही यह शक्ति है कि वह चाहे तो अपने पुरुषार्थ से सर्वकर्ममुक्त, त्रिलोकीनाथ, त्रिलोकपूज्य बन सकता है। धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य जीवरूपी राजा को उसकी इच्छा के विरुद्ध बाध्य नहीं कर सकते। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि उस आत्मा की इच्छा से ही अच्छे-बुरे कार्य करते हैं। उसके अस्तित्व पर ही ये सभी कार्य करते हैं, उसके न रहने पर ये सब ठप्प हो जाते हैं। अतः आध्यात्मिक ऐश्वर्य का सम्राट् आत्मा (जीव) ही सामान्य (अशुद्ध) आत्मा से स्वयं परम विशुद्ध परमात्मा बनने की क्षमता रखता है, बशर्ते कि वह अपने विकल्पों, विकारों और कर्मों को सर्वथा नष्ट करके निश्चयतः सम्यग्दर्शन आदि चतुष्टय के माध्यम से अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थान कर ले।

तीसरी बात–आत्म-स्वरूप कहीं बाहर में नहीं है, मुमुक्षुसाधक को जो कुछ पाना है, वह अपने अन्दर से ही पाना है। बन्ध और मोक्ष अपने अंदर ही हैं। मोक्ष कार्य है और उसका मार्ग यानी साधन–उपाय कारण है। कार्य और कारण दोनों एक ही जगह रहते हैं। इसलिए जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मोक्ष तथा जहाँ आत्मा है, वहीं मोक्षमार्ग होना चाहिए! मुमुक्षुसाधक को मोक्ष पाने के लिए करना यह है कि आत्मा का जो शुद्ध-निर्मल स्वरूप कर्ममल से आवृत, सुषुप्त और मूर्च्छित है, उसे रत्नत्रय से हटाकर शुद्ध स्वरूप को प्रकट (प्रादुर्भूत) कर देना है।

अतः निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग को लक्ष्य में रखकर तदनुरूप व्यावहारिक मोक्षमार्ग पर चलना चाहिए। केवल व्यवहारदृष्टि से रत्नत्रय पर चलने से, तत्त्वभूत पदार्थों का ज्ञान श्रद्धान् करने मात्र से एकान्तवाद, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं मिथ्यात्व के चक्कर में भी मनुष्य पड़ सकता है। इसी को लेकर कर्मविज्ञान ने एकान्त क्रियावाद, एकान्त विनयवाद, एकान्त अज्ञानवाद, एकान्त तत्त्ववाद व एकान्त अक्रियावाद से मोक्ष की कल्पना करने वाले विविध मतों का खण्डन किया है।

भक्ति से सर्वकर्ममुक्ति : कैसे और कैसे नहीं ?

परमात्म-तत्त्व से, वीतरागता से तथा अपने स्वरूप से विमुख बने हुए मनुष्य परभावों, विभावों में स्वयं को भूलकर कर्मवश नाना दुःखों को भोगते रहते हैं और व्यवहारदृष्टि से उनके अर्थी, स्वस्थार्थी और

फलितार्थों का सम्यग्ज्ञान और बोध नहीं है, वे मोक्षयात्रा के अयोग्य हैं, वे भावनिर्वाणरूप समाधि से दूर हैं। कतिपय दार्शनिक धर्म और मोक्ष के वास्तविक बोध से रहित हैं, वे कच्चे (सचित्त) पानी, सचित्त बीज और औद्देशिक आहार-सेवन, जो हिंसादियुक्त होने से कर्मबन्ध के कारण हैं, उन्हें कर्ममुक्तिरूप मोक्ष के कारण बताते हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इसके अन्तर्गत सम्यक्तप) इन सबके एक-एक से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वह होता है, इन तीनों या चारों के समायोग से ही। इनमें से एकान्ततः एक-एक से मोक्ष क्यों नहीं होता? इसका निराकरण विविध युक्तियों द्वारा कर्मविज्ञान ने किया है। तीनों या चारों का समन्वय तथा इनकी सम्यक्ता (यथार्थता) ही मोक्ष का सन्मार्ग है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए चारित्र-शुद्धि आवश्यक है। सम्यक्चारित्र में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का समावेश हो ही जाता है और सम्यक्चारित्र के बिना कोरे ज्ञान या दर्शन से मोक्ष नहीं हो सकता। अतः चारित्र-शुद्धि के लिए सूत्रकृतांग में दस विवेकसूत्र दिये गए हैं। कर्मबन्ध और उससे युक्त होने का जिन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं है, ऐसे मोक्षमार्ग से भ्रष्ट या विचलित करने वाले तथा मोक्ष के सस्ते नुस्खे बताने वाले कतिपय मतवादियों का भी पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके उनका सयुक्तिक खण्डन किया गया है।

निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : क्या, क्यों और कैसे ?

'तत्त्वार्थसार' में मोक्षमार्ग के दो रूप बताये गये हैं—व्यवहारदृष्टि से मोक्षमार्ग और निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग। मुमुक्षुसाधक केवल व्यवहारदृष्टि में ही अटककर न रह जाये, व्यवहार के साथ वह मौलिक निश्चयदृष्टि को साध्य मानकर चले, तभी मोक्षपथ पर यथार्थरूप से चलकर पूर्वोक्त मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान्, उन पदार्थों का सम्यग्ज्ञान और इनके साथ-साथ उनमें से हेय तत्त्वों को छोड़कर उपादेय तत्त्वों का—यानी संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों का और इन तीनों के कारणभूत सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप आदि का आचरण करना व्यवहारदृष्टि से मोक्षमार्ग है। इस लक्षण पर सहसा प्रश्न उठता है कि विश्वास या श्रद्धान्, ज्ञान या विचार अथवा आचरण या आचार भूल में किसका और किसके लिए होना चाहिए? अध्यात्मशास्त्र का समाधान है, ये सब आत्मा के लिए ही हैं, जीवादि नौ तत्त्वों में आत्मा (जीव) ही प्रधान तत्त्व है, द्रव्यों में वही प्रधान द्रव्य है और पदार्थों में वही प्रमुख पदार्थ है। उसी को मोक्ष प्राप्त करना है—बन्ध और आस्रव से वियुक्त (रहित) होना है, संवर और निर्जरा तत्त्व भी उसी के लिए है। अतः निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग है—अपनी आत्मा पर ही विश्वास करना, उसी को—उसी के वास्तविक स्वभाव-विभाव को, स्वरूप और विरूप को जानना-समझना और उसी आत्मा के स्वरूप, स्वभाव और स्व-गुणों में रमण करना—उसी के स्वभाव में अवस्थित होना। वर्तमान में अशुद्ध बनी हुई आत्मा को शुद्ध-निर्मल-कर्मकलंकरहित बनाने का पुरुषार्थ करना। निश्चयदृष्टि से यही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप मोक्षमार्ग है। अर्थात् आत्मा का ही ज्ञान, श्रद्धान् और स्वरूपानुकूल आचरण करना निश्चयदृष्टि—परमार्थदृष्टि से मोक्षमार्ग है। इसी लक्षण का समर्थन विभिन्न जैनग्रन्थों ने किया है। आत्मा को सर्वथा विस्मृत और उपेक्षित करके केवल दूसरे तत्त्वों, सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों या विभावों को जानने-मानने या सुधारने का प्रयत्न मोक्षमार्ग नहीं है। उन्हें परमात्मा का, उनके गुणों का, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का स्मरण, ज्ञान और भान कराने हेतु सरस, सरल उपाय परमात्म-भक्ति है। परमात्म-भक्ति में तन्मय होकर मनुष्य अपने दुःखों को भूल सकता है, कदाचित् पूर्वकृत कर्मोदयवश दुःख या कष्ट भोगना भी पड़े तो उनके समता—वीतरागता गुणों को याद करके समभाव से भोग सकता है, उसके स्वभाव में भी परिवर्तन हो सकता है। भक्ति से परमात्म-विमुख व्यक्ति परमात्म-सम्मुख हो सकता है। अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को भूले हुए मानव को प्रभु-भक्ति से शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान हो जाता है। विनाशी को छोड़कर अविनाशी परमात्मा के प्रति प्रीति—भक्ति से भय, दुःख या क्लेश भी दूर हो जाते हैं। परमात्म-भक्ति के अमृत में मस्त व्यक्ति मीराबाई, आनन्दघन जी आदि की तरह अपनी आकांक्षाओं को भी भूल जाता है। वस्तुतः परमात्म-भक्ति में तन्मय होने वाले भक्त को आत्मबल, मनोबल तथा दशविध प्राणबल भी प्राप्त हो जाता है। उसमें निर्भयता, सहिष्णुता, आनन्द और अन्तःकरण में उल्लास भर जाता है। परमात्म-भक्त में सर्वस्व न्योछावर करने की तथा कष्टों को हँसते-हँसते सहन करने की शक्ति आ जाती है। उसमें सघन-आशावादिता और मुस्कानभरी प्रसन्नता आ जाती है। वस्तुतः भक्ति में जीवन-परिवर्तन का अपूर्व

सामर्थ्य है। जो लोग यह कहते हैं कि वीतराग परमात्मा तो जगत् से विमुख, उदासीन, विरक्त हैं, वे भक्ति करने पर कुछ देते-लेते नहीं, न ही संसार के नाना दुःखों से मुक्त करते हैं, ऐसे परमात्मा की भक्ति क्यों की जाए? वे परमात्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। सभी जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों से सुख-दुःख पाते हैं, अतः परमात्मा या दूसरा कोई किसी को सुख-दुःखादि या कोई वस्तु दे-ले नहीं सकता, उसे प्राप्त करना जीव के अपने हाथ में है। इसलिए परमात्मा की भक्ति तो उनके गुणों का स्मरण करके अपने में उन सद्गुणों को लाने और कर्मों से मुक्त होने के लिए है। भक्ति के वास्तविक स्वरूप का कर्मविज्ञान ने विविध भक्तिमार्गी आचार्यों के मत देकर विश्लेषण किया है। साथ ही परमात्मा की अनन्य भक्ति और नकली भक्ति का अन्तर भी स्पष्ट रूप से समझाया है। परमात्मा की स्तुति, स्तव, उपासना आदि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का बोधिलाभ होता है, जिससे वह जन्म-मरणादि का अन्त करके या तो सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है, या आराधक बनकर वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। आज्ञाराधनारूपा अनन्य भक्ति के रूप में गौतम स्वामी तथा वीतरागता के प्रति श्रद्धारूपा अनन्य भक्ति के रूप में सुलसा श्राविका ज्वलन्त उदाहरण हैं। परवर्ती आचार्यों ने प्रशस्तरागरूपा भेद-भक्ति को इसलिए स्थान दिया है कि अशुद्ध या अशुभ राग की ओर बढ़ती हुई जनता उससे हटकर कम से कम देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखकर प्रशस्त (शुभ) राग में रहे, कदाचित् शुभ योगसंवर प्राप्त करके आराधक बन सके। अन्त में भेद-भक्ति और अभेद-भक्ति का रहस्य, महत्त्व और उपादेयत्व बताकर सर्वकर्ममुक्ति के लिए भेद-भक्ति से ऊपर उठकर अभेद-भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण बताया गया है।

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता

भारतीय संस्कृति में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताए गए हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थ और काम-पुरुषार्थ भी अपने-अपने आत्म-धर्म की मर्यादा में करने का विधान किया गया है। धर्म भी साम्प्रदायिक, पांथिक या लौकिक नहीं, पर लोकोत्तर संवर-निर्जरारूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अभीष्ट है जोकि आत्म-धर्म से सम्बद्ध है। अतः साधुवर्ग और श्रावकवर्ग के लिए संयमी जीवन-यात्रा के लिए वस्त्र-पात्र-आहार-शास्त्रादि अर्थ और पंचेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःकरण के विभिन्न विषयों का उपभोग (काम) या उपयोग प्रत्येक चर्या में करना पड़ता है, परन्तु करते हैं वे संवर-निर्जरारूप धर्म की सीमा में ही। तभी वे मोक्ष-पुरुषार्थ में अग्रसर हो सकते हैं। क्योंकि दोनों वर्गों का अन्तिम लक्ष्य सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त करने का है। धर्मादि तीनों पुरुषार्थ भी मोक्षलक्ष्यी–शुद्ध आत्म-लक्ष्यी होंगे, तभी वे मोक्ष-पुरुष साध्य को प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि शुद्ध धर्म का पुरुषार्थ सर्वपुरुषार्थों का मूल कारण है। अतः मोक्ष-पुरुषार्थी को शीघ्र सफलता प्राप्त करने के लिए विशुद्ध ज्ञान-दर्शनलक्षण आत्मा (जीव) का स्वभाव में अवस्थान करना ही निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करना है। इस दृष्टि से अपने मन, बुद्धि, चित्त और हृदय में प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति करते समय मोक्ष को स्मृति-पटल पर रखता है, मोक्ष के भावों से निरन्तर उसकी आत्मा भावित रहती है। जैसे कि मुमुक्षु साधुवर्ग संयम और तप से जो संवर, निर्जरा और मोक्ष के अंग हैं, सतत अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विहरण करता है। साथ ही आत्म-भावों और विभावों का सम्यक् विवेक करके परभावों का केवल ज्ञाता-द्रष्टा रहने तथा विभावों से बचने का भी संवररूप पुरुषार्थ करता रहता है। उसके लिए सतत अप्रमत्त, जागरूक और विवेकी रहना परम आवश्यक है। मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता के लिए मोक्ष-पुरुषार्थी को निम्नोक्त १५ दुर्लभ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–(१) त्रसत्व, (२) पंचेन्द्रियत्व, (३) मनुष्यत्व, (४) आर्यदेश, (५) उत्तम कुल, (६) उत्तम जाति, (७) पंचेन्द्रिय-समृद्धि, (८) बल (दशविध प्राणबल या पराक्रम), (९) जीवित (दीर्घायुष्य), (१०) विज्ञान (नौ तत्त्वों का ज्ञान), (११) सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन), (१२) शील-सम्प्राप्ति (सम्यक्चारित्र-प्राप्ति), (१३) क्षायिकभाव, (१४) केवलज्ञान, और (१५) सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के लिए अष्टविध कर्मक्षय। शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ के लिए सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानपूर्वक मोक्षानुरूप आचरण होना जरूरी है। मोक्ष हेतु पुरुषार्थ करने में दो बाधक तत्त्व हैं–मानसिक द्वन्द्व और पर-पदार्थों में आसक्ति। इनके निराकरणार्थ चार साधक-तत्त्व हैं–दृढ़ निश्चय, लक्ष्य में स्थिरता, पर-पदार्थों से विरक्ति और धैर्यपूर्वक अभ्यास।

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट सूत्र

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए आत्मार्थी और मुमुक्षुसाधकों के ज्ञानी महापुरुषों ने मुख्यतया १९ बोलों का चयन किया है, जिन्हें कर्मविज्ञान ने 'मोक्षमार्ग' के चार अंगों में वर्गीकृत करके उनका विश्लेषण किया है। सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में एक बोल है–मोक्ष की इच्छा रखना। 'सम्यग्ज्ञान' से सम्बन्धित तीन बोल हैं–(१) गुरुमुख से सूत्र-सिद्धान्त सुनना-पढ़ना, (२) (मोक्ष से सम्बद्ध) सम्यग्ज्ञान सीखना-सिखाना तथा स्वयं स्वाध्याय में लीन होना, दूसरों को पढ़ाना, और (३) पिछली रात्रि में आत्म-सम्प्रेक्षणपूर्वक धर्मजागरण करना। 'सम्यक्चारित्र' से सम्बन्धित आठ बोल हैं–(१) सिद्धान्तानुसार सम्यक् प्रवृत्ति करना, (२) गृहीत व्रतों का शुद्ध (निरतिचार) पालन करना, (३) संयम का दृढ़ता से पालन करना, (४) शुद्ध मन से शील (ब्रह्मचर्य) का पालन करना, (५) शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, (६) कषायों पर विजय प्राप्त करना, (७) षड्जीवनिकाय की रक्षा करना, और (८) सुपात्रदान तथा अभयदान देना। सम्यक्तप से सम्बन्धित सात बोल हैं–(१) बाह्य-आभ्यन्तर उग्रतप (इह-पारलौकिक फलाकांक्षा और निदान से रहित होकर) करना, (२) इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके वश में (प्रतिसंलीनता तप) करना, (३) निष्काम निःस्वार्थभाव से आत्म-वैयावृत्य समझकर) वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करना, (४) उत्तम ध्यान (तप) करना, (५) यथासमय सामायिक (प्रतिक्रमण) आदि आवश्यक करना, (६) लगे हुए दोषों की शीघ्र आलोचनादि (प्रायश्चित्ततप) करके शुद्ध होना, और (७) अन्तिम समय में संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करना।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इच्छा लोभकषाय और राग का कारण होने से त्याज्य है, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के सन्दर्भ में यहाँ लौकिक या भौतिक इच्छाएँ या लौकेषणाएँ न होकर मोक्ष की इच्छा लोकोत्तर है, जो संवेग के अन्तर्गत है। इसलिए निश्चयदृष्टि से त्याज्य होते हुए भी नीचे के गुणस्थानों की भूमिका में व्यवहारदृष्टि से कथंचित् उपादेय है। दूसरी बात–मोक्ष की इच्छा अन्य सांसारिक इच्छाओं का निरोध या शमनरूप होने से शुभ योगसंवर में भी समाविष्ट हो जाती है। फिर सांसारिक इच्छाएँ बहिर्मुखी होती हैं, जबकि मोक्ष की इच्छा अन्तर्मुखी होती है। मोक्ष की इच्छा की आभ्यन्तर हेतु हैं–संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और शरीरानुप्रेक्षा तथा षट्स्थान-चिन्तन आदि। आगे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के बोल कैसे शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में कर्मविज्ञान ने विस्तार से विश्लेषण किया है।

मोक्ष अवश्यम्भावी : किसको, कब और कैसे-कैसे ?

निश्चयनय की दृष्टि से समस्त जीवों की शुद्ध आत्माओं में परमात्म-शक्ति–मोक्षगमन-शक्ति विद्यमान है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सबमें नहीं हो पाती। जैसे–एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मिथ्यात्वी होने से उनकी कर्मक्षय की शक्ति सुषुप्त, अनभिव्यक्त, कुण्ठित और अनावृत रहती है। पंचेन्द्रियों में भी नारक, तिर्यंच और देव की चेतना अधिक विकसित हुए भी वे कर्मों को सर्वथा अनावृत नहीं कर पाते। सर्वाधिक बुद्धिमान् और विकसित चेतना वाला होते हुए भी सभी मानव मोक्ष-प्राप्ति के योग्य नहीं हो पाते; तीव्र मिथ्यात्वी, अभव्य आदि को मोहग्रस्त होने के कारण मोक्ष के प्रति जरा भी रुचि, श्रद्धा या उत्साह नहीं है तथा मोक्ष का सस्ता नुस्खा खोजने वाले मनुष्यों को सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं हो पाता। जैनागमों और जैनग्रन्थों में किन-किन मनुष्यों को कितने भवों में अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है? इसका यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है तथा अनेकान्त दृष्टि से विभिन्न पहलुओं और दृष्टियों से मोक्ष की अवश्यम्भाविता के तथ्य कर्मविज्ञान ने प्रस्तुत किये हैं–(१) मुक्ति पाने के योग्य सभी भवसिद्धिक एक न एक दिन अवश्य ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। (२) सम्यक्त्व आदि के द्वारा जिन्होंने संसार परित्त (परिमित) कर लिया है, वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल में और उत्कृष्ट अनन्त काल–कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल के बाद अवश्य मोक्ष प्राप्त करेंगे। (३) श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान आदि क्रम से अक्रिया आदि का अन्त में निर्वाण फल बताया है। या श्रवणादि क्रिया करने वाले को परम्परा से अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होता है। (४) अठारह पापस्थानों से विरत हुए जीव कर्मों से हल्के होकर संसार परिणित करके एक दिन अवश्य ही संसाराटवी को पार कर लेते हैं, यानी मोक्ष पा लेते हैं। (५) आराधक सरागसंयमी अनुत्तरौपपातिक देवलोक के भव के बाद अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं। (६) औपपातिकसूत्र वर्णित आराधक संयमासंयमी श्रमणोपासक वर्ग में

(I) कई तो उत्कृष्ट अच्युतकल्प देवलोक में उत्पन्न होकर, (II) श्रावकव्रती अम्बड़ परिव्राजक जैसे कई ब्रह्मलोक देवलोक में उत्पन्न होकर अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सर्वविरति चारित्र-पालन करके मोक्ष प्राप्त करेंगे, (III) उपासकदशांग वर्णित संयमासंयमी श्रमणोपासक सौधर्म देवलोक में उत्पन्न अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर उत्तम करणी करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे, (IV) श्रमणोपासक जीर्ण सेठ दान की उत्कृष्ट भावना से १२वें देवलोक में जाकर, (V) तथा आहार-शरीरादि में दृढ़ संयमी ब्रह्मचर्यनिष्ठ जुड्डल श्रावक ईशान देवलोक में उत्पन्न होकर अगले भव में महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष जायेंगे, (VI) प्रदेशी राजा भी समाधिमरण प्राप्त करके सौधर्म देवलोक में जन्म लेकर अगले भव में महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। (७) संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियों में (I) नन्दन मणिहार का जीव बावड़ी में आसक्त होकर मेंढक बना, किन्तु जातिस्मरणज्ञानबल से पूर्वजन्म जानकर श्रावक व्रत अंगीकार करके समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर प्रथम देवलोक में दर्दुर देव बना, वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेगा, (II) इसी प्रकार भूतानन्द और उदायी गजराज दोनों असुरकुमार देवभव से च्यवकर कोणिक के पट्टहस्ती बने। वहाँ से मरकर प्रथम नरक में और वहाँ से अन्तररहित निकलकर दोनों महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। (८) बाहुबली मुनि को मानकषाय छूटते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर उनका निश्चित ही मोक्ष होना था। (९) सात लव कम आयु वाले शालिभद्र मुनि आदि को विशुद्ध अध्यवसायवश अनुत्तरविमानवासी देव बनना पड़ा, वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। (१०) तीन मनोरथों द्वारा मन-वचन-काया को भावित करने वाले श्रमणनिर्ग्रन्थ और श्रमणोपासक तथा अम्लानभाव से आचार्य आदि दशविध उत्तम पात्रों की वैयावृत्य करता हुआ श्रमणवर्ग महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है, यानी या तो असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करके उत्तम देवलोक में जाता है या जन्म-मरण का अन्त करके मोक्ष में जाता है। (११) इसी प्रकार अग्लायक श्रमणनिर्ग्रन्थ, प्रासुकभोजी (मृताषी) श्रमणनिर्ग्रन्थ, एषणीय आहारादिभोजी श्रमणनिर्ग्रन्थ भी संसार-सागर पारगामी हो जाते हैं। (१२) जिनका कांक्षामोहनीय कर्म दोष क्षीण हो जाता है, वे श्रमणनिर्ग्रन्थ भी अन्तकृत् या अन्तिमशरीरी हो जाते हैं। (१३) ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करने वाले श्रमणनिर्ग्रन्थ जघन्य तीसरे भव में, मध्यम दूसरे भव में और उत्कृष्टतः उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। सात या आठ भवों का अतिक्रमण तो कथमपि नहीं करते। (१४) कर्तृत्व एवं दायित्व वहन करने वाले कतिपय आचार्य और उपाध्याय उसी भव में और कई देवलोक में जाकर दूसरे भव में मोक्ष जाते हैं, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते। (१५) उत्तराध्ययनसूत्र संवेग-निर्वेदादि ७३ बोलों में से ४९ बोलों द्वारा (यानी ४९ गुणों द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके आयुष्य पूर्ण होने पर निश्चित ही मोक्ष में जाते हैं। (१६) औपपातिकसूत्रोक्त अनारम्भी, अपरिग्रही यावत् अठारह पापस्थानों से पूर्णतः विरत श्रमणनिर्ग्रन्थ, जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है वे आयुष्य पूर्ण होने के बाद सर्वकर्ममुक्त हो जाते हैं, जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, वे अन्तिम समय में भक्त-प्रत्याख्यानरूप अनशन करके अपने लक्ष्य को सिद्ध करते हैं, केवली होकर सिद्ध-परमात्मा बन जाते हैं। (१७) अनिदानता, दृष्टि-सम्पन्नता और योगवाहिता (अथवा समाधिस्थायिता) इन तीन गुणों से सम्पन्न अनगार संसारारण्य से पार हो जाते हैं। (१८) एकरात्रिक भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार को अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान इन तीनों में से केवलज्ञान प्राप्त हो जाए तो उसका मोक्ष निश्चित है। (१९) (I) कापोतलेश्यी कतिपय पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव मरकर मनुष्य-भव पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, (II) इसी प्रकार कुछ विशिष्टगुणयुक्त शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका भी भविष्य में मानव-भव पाकर मोक्षगामी होंगी। (२०) भगवतीसूत्रोक्त दस प्रशस्त एवं अन्तकर बातों के सतत अभ्यास से श्रमणनिर्ग्रन्थ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है। इस प्रकार कर्मविज्ञान ने विविध पहलुओं से अवश्य मोक्ष प्राप्त करने वाले महान् आत्माओं का निरूपण किया है।

मोक्षसिद्धि के साधन : पंचविध आचार

जैन-कर्मविज्ञान में मोक्ष-प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधन पंचविध आचार को माना गया है, जो मुमुक्षु के आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करते हैं। वीतरागता की भूमिका में स्थिर करते हैं। वे हैं–ज्ञानाचार,

दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। ज्ञान आदि प्रत्येक के साथ लगा हुआ 'आचार' शब्द ही यह सूचित करता है कि ज्ञान आदि पाँचों केवल शास्त्रों द्वारा जान लेने, घोंट लेने, इन पर भाषण कर देने, लेख लिख देने, इनका केवल प्रचार-प्रसार करके प्रसिद्धि पा लेने की वस्तु नहीं, अपितु आचरण की वस्तु है। ज्ञान आदि पाँचों जीवन में सम्यक् रूप से विधिपूर्वक आचरित होने पर ही वे मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र या तप तभी कृतकार्य हो सकते हैं, मोक्ष-प्राप्ति शीघ्र करा सकते हैं, जब ये वीर्याचार के अंगभूत उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ-पराक्रम से युक्त हों। तभी आत्मा के अधिकांशरूप में सुषुप्त, कुण्ठित और आवृत अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध-सुख (आनन्द) और अनन्त आत्मिक-शक्ति (बलवीर्य), निजी गुण जाग्रत, सक्रिय और अनावृत हो सकेंगे। यदि इन आचारों का पालन करते समय मुमुक्षुसाधक सतर्क, जाग्रत, सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष लक्ष्य के प्रति सचेष्ट तथा संवर-निर्जरारूप आत्म-धर्म के प्रति अप्रमत्त नहीं रहेगा तो ज्ञानाचार के साथ अज्ञान, संशय, विपर्याय, भ्रान्ति, अनध्यवसाय, अविवेक प्रविष्ट हो सकते हैं, दर्शनाचार के साथ मिथ्यात्व, अन्ध-विश्वास, हठाग्रह, पूर्वाग्रह, कुरूढ़ि, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, मूढ़दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि घुस सकते हैं, चारित्राचार के साथ कषाय, नोकषाय, राग, द्वेष, मोह आदि के कालुष्य प्रविष्ट हो सकते हैं, तपाचार के साथ इह-पारलौकिक फलाकांक्षा, निदान, भौतिक या सांसारिक इच्छाओं, वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, पद-प्रतिष्ठा-प्रशंसा-लिप्सा आदि मलिनताएँ घुस सकती हैं और वीर्याचार के साथ आत्म-विश्वास, उत्साह और साहस में कमी, दुर्बलता, बहम आदि दोषों का प्रवेश हो सकता है। ऐसी स्थिति में ये पाँचों आचार दोषदूषित होकर अनाचार में परिणत हो सकते हैं। फिर वे स्व-स्वरूप में अवस्थान के बदले विभावों अथवा रागादियुक्त परभावों में ही, क्रियाकाण्डों में, या अहंकारादि कषायों में ही चक्कर काटते रहेंगे। यानी फिर ये मोक्षलाभ के बदले मोहलाभ ही प्राप्त कर पायेंगे। कर्मविज्ञान ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। पंच-आचार को विपरीत रूप में, अविधिपूर्वक क्रियान्वित करने पर भी आचार के नाम पर वह पुरुषार्थ अनाचार में ही फलित होगा। अतः दशवैकालिकसूत्र में चेतावनी दी है कि पंचविध आचार का पालन केवल आर्हत्पद-प्राप्ति यानी वीतरागता के हेतु से करना चाहिए। अतः सम्यक् आदर्श आचार में यथाशक्ति पराक्रम करना चाहिए, ताकि जिन सम्यग्ज्ञानादि को जीवन में आचरित (क्रियान्वित) करने से पूर्वबद्ध कर्मपरम्पराएँ नष्ट हों, नये आते हुए कर्मों का निरोध हो; क्योंकि आचारहीन धर्ममर्यादारहित व्यक्ति इस लोक में भी निन्दित होता है, परलोक में भी दुर्गति-दुःस्थिति होती है। जो विचार या ज्ञान, जो सम्यग्दृष्टि या श्रद्धा, जो चारित्र या बाह्याभ्यन्तर तप आचरण में नहीं है, वह बाँझ है, तोतारटन है। इसलिए आचार ही प्रथम धर्म है। केवल ज्ञानाचार या दर्शनाचार के नाम पर, केवल भक्तिवाद अथवा चारित्राचार के नाम पर, केवल सम्प्रदाय परम्परागत क्रियाकाण्ड ही पर्याप्त नहीं। पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति के लिए ये पाँचों ही आचार जीवन में क्रियान्वित होने अनिवार्य हैं। कर्मविज्ञान ने पाँचों आचारों को क्रियान्वित करने हेतु उनके प्रयोजन तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्राचार के क्रमशः ८, ८, १२ और ८ प्रकार तथा निश्चय-व्यवहार दोनों दृष्टियों से इनके लक्षण तथा कार्य का विशद निरूपण भी किया है।

मोक्ष के निकट पहुँचाने वाला उपकारी : समाधिमरण

जीवन और मरण दोनों प्रत्येक संसारी जीव के साथ लगे हुए हैं। जीवन के साथ-साथ मृत्यु भी = प्रतिक्षण आवीचिमरण भी चल रही है, परन्तु अधिकांश जीव जीवन को जितना चाहते हैं, जितनी गहराई से जीवन-दर्शन को समझते हैं, उतना क्या, उससे शतांश भी वे मृत्यु को नहीं चाहते, न ही मृत्यु के दर्शन को समझते हैं। भगवान महावीर ने जीवन के साथ-साथ मृत्यु की कला भी सिखाई है। उन्होंने समाधिमरण और सकाममरण (पण्डितमरण) का अनुभूत तथ्यों से परिपूर्ण दर्शन जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु आज के अधिकांश मनुष्यों का, कतिपय साधकों का भी, जितना ध्यान जीवन को सुखद और सुविधापूर्ण बनाने का है, उसका शतांश भी मृत्यु का नहीं, जीवन ही उन्हें प्रिय लगता है, मरण अप्रिय और दुःखद। परन्तु मृत्यु की बात को टालने या भूलने से मृत्यु टल नहीं सकती। उसका आगमन निश्चित है। जीवन के प्रति आसक्ति, मोह और भ्रान्ति ही मृत्यु के प्रति भय का कारण है। यथार्थ में देखा जाए तो मृत्यु शान्तिदात्री, दयालु, नव जीवनदायिनी और महानिद्रा है। उससे डर कैसा? जिसे शरीर और शरीर से

सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों की अनित्यता, क्षणभंगुरता और नाशवता का ज्ञान-भान हृदयंगम हो जाता है और जो प्रतिक्षण जागरूक रहकर अपने जीवन को तथा अपने योगों को कषायों से बचाकर सत्प्रवृत्तियों में लगाए, अप्रमत्त रहकर सम्यग्ज्ञानादि-चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करे, संवर-निर्जरा धर्म को अर्जित करने का प्रयत्न करे तो उसे मृत्यु का कोई भय नहीं होता। मृत्यु को वह हँसते-हँसते आलिंगन करता है। मृत्यु की अनिश्चितता है, इसीलिए जीवन में जागृति, सावधानी, कर्ममल क्षय करके शुद्ध बनाने की तीव्रता और आराधक बनने हेतु समाधि-संलेखना-आलोचनादि करने की उत्सुकता बनी रहेगी। समाधिपूर्वक मरण होने से आराधक बनकर साधक जन्म-मरणों को अत्यन्त कम कर सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि एवं मुमुक्षुसाधक के लिए शरीर और कषाय की संलेखना करके समाधिमरण प्राप्त करना दुःखदायक, भयोत्पादक या हानिकारक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक विकास एवं आत्म-शुद्धि या आत्म-स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष की दृष्टि से लाभदायक ही है। वैसे भी समाधिपूर्वक मरण से व्यक्ति कर्म के कारावास से मुक्त होता है, अतः ऐसी सफल मृत्यु से डर कैसा?

मरण दो प्रकार के हैं—सकाममरण और अकाममरण। स्वेच्छा से समाधि और शान्तिपूर्वक मरण सकाममरण, और अकाममरण है—अनिच्छा से आर्त-रौद्रध्यान करते हुए, चिन्ता, उद्विग्नता और असमाधिपूर्वक मरण। इसलिए इन्हें ही क्रमशः समाधिमरण और असमाधिमरण या पण्डितमरण और बालमरण कहा जाता है। जो व्यक्ति नास्तिक हैं, क्रूर हैं, हिंसादि पापकर्मरत हैं, कामसुखों में ग्रस्त एवं मोहमूढ़ हैं, अन्तिम समय में भी जो शोकाकुल और आर्तध्यानरत होकर शरीर छोड़ते हैं, उनकी अविवेक और असमाधिपूर्वक मृत्यु बालमरण है। वे अपने दोनों लोक बिगाड़ लेते हैं, भविष्य में उन्हें कई जन्मों तक बोधि प्राप्त नहीं होती। वलय, वशार्त, अन्तःशल्य, तद्भव, गिरिपतन, तरुपतन, जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, शस्त्राघात, वैहानस और गृद्धपृष्ठ, ये १२ प्रकार के बालमरण हैं। जो धर्माचरण करता है, सुव्रती है, संयम और सत्कर्म का आचरण करता है, उसका वह मरण सकाम या पण्डितमरण है। वह देहासक्ति से रहित होकर मृत्युभय से भयभीत नहीं होता। अन्तिम समय में अन्तर में जाग्रत रहकर आत्मा को कर्मनिर्जरा द्वारा अनन्त गुनी शुद्धि कर लेता है। वस्तुतः समाधिमरण का साधक मरण को सुधार लेता है, बशर्ते कि उसका जीवन व्रतनियमादि धर्माचरण या तपश्चरण से युक्त रहा हो; और यह भी निश्चित है कि एक भव का मरण सुधारता है तो अनेक भव सुधर जाते हैं, बोधिलाभ और साधना में सहायक संयोग मिल जाते हैं और एक भव बिगड़ गया तो अनन्त नहीं तो अनेकानेक भव बिगड़ जाते हैं। पण्डितमरण मरण सुधारने की कला है। संलेखनापूर्वक मरण को मानव-जीवन का सार कहा है। पण्डितमरण का सच्चा आराधक वह है, जिसकी श्रद्धा-प्रतीति, रुचि और आत्मा, परमात्मा और आत्म-गुणों के विकास में हो। सम्यग्ज्ञान, संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि का प्राणप्रण से पालन करके कर्मक्षय या कर्मसंवर करता हो, केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना अप्रमत्तभाव से करता हो, भावसत्य, करणसत्य और योगसत्य से ओतप्रोत हो। त्रिविधशल्य, नवविध निदान से रहित हो, मृत्यु आने पर उसका सहर्ष स्वागत करता हो तथा शान्ति, धैर्य, समता और समाधिपूर्वक देहत्याग करता हो। समाधिमरण की सफलता के लिए कर्मविज्ञान ने तीस भावनाएँ—अनुप्रेक्षाएँ भी दी हैं तथा मृत्यु के समय समाधि रखने हेतु तथा समाधिभाव का चिन्तन, मनन एवं भावना हेतु मृत्यु-महोत्सव से सम्बन्धित १८ भावनाएँ भी अंकित की हैं। समाधिमरण प्राप्त होने में तीन बड़ी बाधाएँ हैं—मूर्च्छा, अजागृति और कुसंस्कार। समाधिमरण-साधक की प्रबल कसौटी मृत्यु है, उस समय शरीर के प्रति आत्म-बुद्धि जरा भी न रहे, समता और शान्ति तथा आत्म-जागृति सुरक्षित रहे तो वह परीक्षा में सफल है। वस्तुतः आराधना और विराधना की प्रबल कसौटी भी समाधि-असमाधिमरण है। कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में व्रत-नियम-तप-संयम आदि धर्माचरण में संलग्न रहते हैं, समाधिमरण की भावना भी रखते हैं, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में वे ही लोग मृत्यु के निकट आने पर धर्माचरण को तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति एवं आत्मा के प्रति श्रद्धा बिलकुल छोड़कर समाधिमरण की बाजी हार जाते हैं, इसके विपरीत कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में अज्ञ, पामर एवं धर्माचरण में पिछड़े दिखाई देते हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध में वे सँभलकर आलोचनादि द्वारा आत्म-शुद्धि कर लेते हैं तथा कषाय तथा शरीरमोह को दूर कर समभावपूर्वक शरीर को संलेखना-संथारा की तपाग्नि में झोंककर समाधिमरण प्राप्त करके बाजी सुधार लेते

है। मृत्यु पहले पर विराधक की और दूसरे पर आराधक की छाप लगाकर चली जाती है। अतः व्याधि, दुर्घटना तथा देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत उपसर्ग के समय समाधिभाव कैसे रखा जाए? इसे विविध शास्त्रीय उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया गया है; ताकि आकस्मिक या संलेखनापूर्वक, उभय-समाधिमरण साधक इन सब तथ्यों पर चिन्तन-मनन करके समाधिमरण को मानव-जीवन का अलभ्य लाभ और विजय समझकर अपना सके, मरण से बिलकुल डरे नहीं, हिचकिचाए नहीं।

संलेखना-संथारा : मोक्षयात्रा में प्रबल सहायक

जीवनकला के समान मृत्युकला भी महत्त्वपूर्ण है। जीवन जीना यदि अध्ययनकाल है तो मृत्यु परीक्षाकाल है। जिस श्रमण या श्रमणोपासक ने अपने जीवन में श्रमणव्रत या श्रमणोपासकव्रत की साधना की है, तीन मनोरथों का चिन्तन-मनन-रटन करके उन्हें आत्मसात् किया है, वे मृत्युकाल में समाधिमरण के अंगभूत संलेखनाव्रत और तदुत्तर संथारा (भक्त-प्रत्याख्यान) की साधना से कभी घबराते नहीं। अवसर आने पर वे स्वेच्छा से, उद्देश्य और विधिपूर्वक इस समाधिमरण-साधना को स्वीकार करते हैं।

यद्यपि आत्महत्या आदि से होने वाला मरण भी स्वेच्छामरण है; परन्तु संलेखना-संथारा से स्वेच्छापूर्वक होने वाले समाधिमरण में और आत्महत्यादि से होने वाले स्वेच्छामरण में दिन और रात का अन्तर है। आत्महत्या आदि से स्वेच्छामरण व्यक्ति स्वीकारता है–सांसारिक दुःखों, रोगादि की अतिपीड़ा के अतित्रास से घबराकर, असहिष्णुता, मानसिक दुर्बलता, अपकीर्तिभय, उद्विग्नता आदि आवेशयुक्त भाव से या किसी आघात से घबराकर। ऐसी दुःसह परिस्थिति में वह कषायभाव के अतिरेक से, चित्त की उन्माद दशा में विविध प्रकार से जीवन का अन्त लाता है, किन्तु स्वेच्छापूर्वक पूर्वोक्त समाधिमरण के स्वीकार में पूर्वोक्त किसी प्रकार का आवेशयुक्तभाव या कषायभाव तथा अविवेकपूर्ण कृत्य नहीं होता। वहाँ अपने सभी स्वजन-परिजन या गुरुजनों की साक्षी से, बहुत ही शान्तभाव से, सबसे क्षमायाचना करके विधियुक्त संलेखना करके या कभी सागारी या अनागारी संथारा स्वीकार करके, संवेग, त्याग, वैराग्य की उत्कट आत्मभावना से समाधिपूर्वक पंचविध अतिचारों से विरत होकर किया जाता है। आत्महत्या द्वारा मरण से जन्म-मरण के दुःखों का अन्त नहीं आता, जबकि संलेखना-संथारा द्वारा मृत्यु का समाधिपूर्वक वरण करने से कषायों और शरीर को कृश किया जाता है, शरीर और शरीर-सम्बद्ध पर-पदार्थों के प्रति मोह दूर किया जाता है, एकमात्र शुद्ध आत्मा-परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होने का अभ्यास किया जाता है, अठारह प्रकार के पापस्थानों का, चतुर्विध आहार का त्याग करके समस्त जीवों से क्षमापना की जाती है। फलतः इस प्रकार के पण्डितमरण से जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, जन्म-मरणरूप संसार अत्यन्त कम हो जाता है अथवा उसका अन्त आ जाता है।

संथारे की पूर्व तैयारी के लिए पहले काया और कषाय दोनों की संलेखना की जाती है, जो शरीर और सम्बद्ध पदार्थों से अहंत्व-ममत्व दूर करने, कषायभावों पर विजय प्राप्त करने की दीर्घकालिक साधना है, तत्पश्चात् अपनी योग्यता, क्षमता, मनःस्थिति, उत्साह आदि को जाँच-परखकर आमरणान्त संथारा (भक्त-प्रत्याख्यानरूप अनशनव्रत) ग्रहण किया जाता है। अतः संलेखना कारण है, संथारा उसका कार्य है। आचारांगसूत्र में इस यावज्जीव समाधिमरण की तैयारी के रूप में आहारविमोक्ष, कषायविमोक्ष, वैयावृत्य-प्रकल्प, शरीरविमोक्ष, अनाचरणीयविमोक्ष, आरम्भ-समारम्भविमोक्ष, असम्यक्आचारविमोक्ष, वाणीविमोक्ष, वस्त्रविमोक्ष, अग्निसेवनविमोक्ष, आस्वादविमोक्ष, इन्द्रिय-विषयविमोक्ष, समूहविमोक्ष, भयादिविमोक्ष इत्यादि विमोक्षों (प्रत्याख्यानों) का स्पष्ट प्रतिपादन है। संलेखना भी कालावधि की अपेक्षा जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा तीन प्रकार की है, उनकी विधि का भी यहाँ प्रतिपादन किया गया है। संथारा संलेखनापूर्वक या संलेखनारहित दोनों प्रकार से होता है, किन्तु इन दोनों को कब, कैसी शारीरिक-परिस्थिति-मनःस्थिति में ग्रहण करना चाहिए, जैनागमों में इसका विशद निरूपण है। संलेखना-संथारा के तीन प्रकार हैं–भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और पादपोपगमन, ये तीनों ही यावज्जीव अनशन हैं। इनकी विधि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। कभी-कभी संलेखना किये बिना ही तत्काल सागारी संथारे का सुदर्शन श्रमणोपासक की तरह निर्णय लेना पड़ता है और रात्रि को लिये जाने वाला सागारी संथारा

शास्त्रीय भाषा में संथारा पौरुषी है। वस्तुतः संलेखना-संथारा जीवन की अन्तिम आवश्यक अध्यात्म-साधना है। यह बहुत ही भावना और विचार के पश्चात् किया जाता है; जबकि आत्महत्या या समाधि के नाम से किये जाने वाले विविध प्राणोत्सर्ग इनमें कोई अभीष्ट धर्माराधना, चारित्ररक्षा, कषायादि विकारों पर विजय की साधना या समाधिमरण की भावना नहीं है। इनमें और संलेखना-संथारे में आध्यात्मिक और व्यावहारिक–दोनों दृष्टियों से बहुत अन्तर है। संलेखना-संथारे में पाँच अतिचारों से बचने का तथा समस्त सांसारिक और भौतिक परभावों से सम्बन्ध-विच्छेद का तथा सब जीवों से क्षमायाचना का तथा आत्म-शुद्धि का आवश्यक निर्देश है, जबकि आत्महत्या या पूर्वोक्त प्राणोत्सर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है। संलेखना-संथारा करने से पूर्व जीवन-मरण की अविध जानना आवश्यक है। अन्त में संलेखना-संथारा आदि की विधि का भी संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

मोक्ष-प्रापक विविध अन्तःक्रियाएँ : स्वरूप, योग्यता, अधिकारी

आध्यात्मिक जगत् में अपनी-अपनी भूमिका में स्थित रहते हुए मोक्षाभिमुख साधकों द्वारा उसी मनुष्य-भव में तत्काल समस्त कर्मों, भवों और जन्म-मरणादिरूप संसार का सदा के लिए अन्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाना लोकोत्तर अन्तःक्रिया कहलाती है। यद्यपि अन्तःक्रिया के लौकिक दृष्टि से दो अर्थ भी शास्त्रों में बताये हैं–(१) मृत्यु के बाद निर्जीव मानव-शरीर का दहन या दफन करके अन्तिम संस्कार करना, तथा (२) मरण के बाद एक भव के शरीरादि छूटना–कालधर्म को प्राप्त होना लौकिक अन्तःक्रिया है, जो यहाँ विवक्षित नहीं है। लोकोत्तर अन्तःक्रिया का अधिकारी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों में से मनुष्य ही है, देव, नारक या तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय नहीं। मनुष्य को भी किसी परमात्मा, ईश्वर, तीर्थंकर, अवतार, देवी-देव या आचार्य, गुरु आदि के द्वारा लोकोत्तर अन्तःक्रिया प्राप्त नहीं होती। वह स्वयं के प्रबल पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है। हाँ, अरिहंत, केवली, वीतराग, परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय या साधु-साध्वीगण आदि प्रेरणा, मार्गदर्शन या समाधान आदि प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यपर्याय में तथारूप केवलज्ञान-दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व तथा यथाख्यात चारित्ररूप परिपूर्ण सामग्री-प्राप्त एवं सर्वकर्मक्षयकर्त्ता मनुष्य ही मोक्ष-प्राप्तिरूप लोकोत्तर अन्तःक्रिया कर सकता है। अन्तःक्रिया करने के बाद पुनः जन्म-मरणादिरूप संसार में लौटकर नहीं आता। क्योंकि जैसे बीज जल जाने पर उसमें से अंकुर नहीं फूटता, वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जो मुमुक्षुसाधक मोक्ष का ही ध्यान, चिन्तन, रटन करता है, मोक्ष के ही अनुष्ठानों और उसी की क्रियाओं में रुचि रखता है, मोक्ष की ही भावना और अनुप्रेक्षा से भावित रहता है, मोक्ष का ही उपदेश देता है, संवर-निर्जरारूप धर्म का आचरण करता है, मोक्ष की ही आराधना में तत्पर रहता है, देह-गेह-जीवन-पूजा-प्रतिष्ठा-प्रशंसा से निरपेक्ष होकर अहर्निश मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, वही लोकोत्तर अन्तःक्रिया करने में सफल होता है। अन्तकृद्दशांगसूत्र में विविध प्रकार से विभिन्न अवस्था के अन्तःक्रिया करने वाले ९० अन्तकृत् महापुरुषों का वर्णन है। स्थानांगसूत्र में मुख्यतया अन्तःक्रिया चार प्रकार की बताई गई है-प्रथम अन्तःक्रिया–जो (पूर्व-भव की साधना के फलस्वरूप) अल्पकर्मा होता है। मनुष्य-भव प्राप्त करके विरक्त होकर (या निर्लिप्त रहकर) वह संयम-संवर-समाधिबहुल शीघ्र ही संसार-समुद्र को पार कर लेता है। उसके न तो उस प्रकार का दीर्घकालिक घोर तप होता है और न ही तथाप्रकार की तीव्र वेदना। यथा–भरत चक्रवर्ती। द्वितीय अन्तःक्रिया–इसमें कोई पुरुष बहुत भारी कर्मों के साथ मनुष्य-भव को प्राप्त करके द्रव्यभाव से मुण्डित अनगार होकर वह संयम-संवर-समाधिबहुल साधक अल्पकालिक दीक्षापर्याय में उग्र तपश्चरण या घोर उपसर्ग एवं परीषह की तीव्र वेदना समभावपूर्वक सहन करके निर्मल शुक्लध्यान से अत्यल्प समय में सर्वकर्मबन्धनों का अन्त कर देता है। जैसे–गजसुकुमार मुनि। तृतीय अन्तःक्रिया–कोई पुरुष अत्यधिक सघन कर्मों सहित मानव-भव प्राप्त करके मुण्डित होकर अनगारधर्म में प्रव्रजित होता है। कर्मों की सघनता होने से दीर्घकालिक संयम-साधना में घोर तप भी करता है, तीव्र वेदना भी समभावपूर्वक भोगता है, यानी समभावपूर्वक परीषह, उपसर्ग सहन करता है और अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। यथा–सनत्कुमार चक्रवर्ती। चतुर्थ अन्तःक्रिया–कोई मानव अत्यल्प कर्मों सहित मानव-भव प्राप्त करके अनगार बनकर या भावसंयम ग्रहण कर, संयमादिबहुल होकर अत्यल्पकालिक संयमपर्याय (भावसंवर) से ही

सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और अन्तकृत् हो जाता है। उसमें न तो अधिक तपस्या होती है और न ही किसी प्रकार की वेदना भोगनी पड़ती है। जैसे–मरुदेवी माता। मनुष्य के सिवाय आदि की चार नरकों के नारक अनन्तरागत अन्तःक्रिया करते हैं, शेष तीन नारकों के जीव केवल परम्परागत अन्तःक्रिया करते हैं। तीन विकलेन्द्रिय तथा तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों के सिवाय तीन प्रकार के एकेन्द्रिय जीव, दस प्रकार के भवनपति देव, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव तथा वैमानिक देवों में से जिसकी पूर्वोक्त योग्यता होती है, वे अनन्तरागत और योग्यता नहीं होती, वे परम्परागत अन्तःक्रिया करते हैं।

मुक्ति के आध्यात्मिक सोपान

संसार और मोक्ष, इन दोनों स्थितियों के बीच में आत्मा की मुख्यतः तीन दशाएँ होती हैं– बहिरात्मदशा, अन्तरात्मदशा और परमात्मदशा। मोहनिद्रा में सोये हुए जीव द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को भूलने से भ्रान्तिवश शरीर आदि को आत्मा मानने से होने वाली प्रवृत्ति बहिरात्मदशा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान या विवेक द्वारा भ्रम हटने से अपने आत्म-स्वभाव के प्रति रुचि होकर शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव आदि पर-पदार्थ या वैभाविकभाव अपनी आत्मा से भिन्न हैं, इस प्रकार का भेदविज्ञान का प्रकाश जिस दशा में हो जाय, वह अन्तरात्मदशा है। इससे ऊपर उठकर वीतरागभाव की पराकाष्ठा वाली निष्कलंक, निर्मल, घातिकर्मों या सर्वकर्मों से मुक्त परम शुद्ध दशा परमात्मदशा है। इनमें से अन्तरात्मदशा से लेकर परमात्मदशा तक की उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर चढ़ने के सोपानों अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के कर्ममुक्ति के या मोहमुक्ति के सोपानों की प्रक्रियाओं का चार निबन्धों (अध्यायों) में आर्ष दर्शन है। इन सोपानों पर क्रमशः आरोहण करने की प्रक्रिया को ध्यान में लेकर क्रमशः गति-प्रगति, सम्प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा करते रहने से मुमुक्षुसाधक एक दिन अवश्य ही परमात्मदशा प्राप्त कर सकता है।

प्रथम सोपान–सर्वसम्बन्धों के बन्धन की उच्छेदिनी : बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता–संसार के सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों तथा शरीर-मन-इन्द्रियादि पर-भावों के साथ एक या दूसरे प्रकार से सम्बन्ध तो आयेंगे ही, परन्तु उन सम्बन्धों के प्रति प्रियता-अप्रियता, आसक्ति-घृणा, राग-द्वेष आदि विभावों अथवा दस प्रकार के बाह्यग्रन्थों के प्रति मिथ्यात्व तथा कषायचतुष्टय, काम, हास्यादि नौ नोकषाय आदि के कारण बँध जाने वाले तीक्ष्ण कर्मबन्धनों के उच्छेद के प्रति निर्ग्रन्थता (बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थों से मुक्तिरूप निर्ग्रन्थता) का अभ्यास करना चाहिए। बाह्यग्रन्थों की अपेक्षा आभ्यन्तर ग्रन्थ बहुत ही भयंकर एवं दुस्त्याज्य हैं। कई बार साधक अपने माने हुए परिवार, धर्म-सम्प्रदाय, समाज, जाति, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा, परम्परा, रीति-रिवाज, रूढ़ि, प्रथा, शिष्य-शिष्या या पुत्र-पुत्री आदि के साथ अपने स्वार्थ के लिए राग, मोह, मद, पक्षपात, आसक्ति आदि से ऐसे गाढ़ बँध जाते हैं कि अन्य परिवार, धर्म-सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, ईर्ष्या, मात्सर्य, द्रोह आदि करने लग जाता है; इस प्रकार दोनों पक्षों में पवित्र सम्बन्ध रखने की अपेक्षा राग-द्वेषादिवश तीक्ष्ण कर्मबन्धक सम्बन्ध बन जाते हैं। कई उच्चकोटि के साधक भी प्रतिष्ठा, पद, सत्ता, प्रशंसा, स्वार्थसिद्धि आदि के लिए उक्त सम्बन्धों से निर्लिप्त न रहकर गाढ़बन्धों से लेपायमान हो जाते हैं। कर्मबन्ध की गाँठों को अधिकाधिक मजबूत बनाते रहते हैं। अतः बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरूप ग्रन्थों से मुक्त होने का सतत जागरण, यतनापूर्वक अभ्यास, विवेक और पुरुषार्थ करना चाहिए। या तो अनावश्यक वस्तुओं का त्याग या आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा करने, यतना व संयमपूर्वक उनका उपयोग करे। दूसरों के पास मनोज्ञ, किन्तु स्वेच्छा से व्यक्त वस्तुओं को देखकर मन में जरा भी उन्हें पाने की इच्छा या कामना न करे, वह सोचे कि "वह सजीव या निर्जीव वस्तु मेरी नहीं है, न ही मैं उनका हूँ।" यानी मन से भी उन व्यक्त पदार्थों को पाने की कामना न करे।

द्वितीय सोपान : सर्वभावों के प्रति उदासीनता, विरक्ति और निर्लिप्तता–संवर-निर्जरारूप धर्म या सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टयरूप धर्म के पालन में सहायक धर्माचरणकर्ता के लिए शास्त्रोक्त पाँच आलम्बनों (षट्कायिक जीव, गण (संघ), शासक, गृहस्थ और शरीर) को आवश्यकतानुसार ग्रहण करता हुआ भी इनके प्रति अन्तर से निर्लिप्त, विरक्त रहेगा, मनोवृत्तियों में भी इनके प्रति विरक्ति व उदासीनता रहेगी। इनसे एक ओर से सम्बन्ध रहेगा, दूसरी ओर से इन सम्बन्धों में तनिक भी कषायभाव व राग-द्वेष-मोह न

आने पाए, इसकी प्रतिक्षण जागृति रहेगी। तथैव सजीव पदार्थों को अपने निमित्त से किसी प्रकार का कष्ट न हो, हिंसादि रूप से उसकी विराधना न हो, इसकी अनुकम्पा तथा सम, शम, श्रम की वृत्ति, संवेगवृत्ति, निर्वेदवृत्ति और आस्तिक्यवृत्ति तो सम्यग्दृष्टि की पहचान के रूप में रहेगी ही। कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा मोक्ष के कारणों और परिणामों के प्रति तथा नौ तत्त्वों एवं देव-गुरु-धर्म-शास्त्र के प्रति पूर्ण आस्था रहेगी।

निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिए वृत्तियों का ऊर्ध्वमुखीकरण–निर्ग्रन्थता के अभ्यासी साधक की वृत्तियों में जब उदासीनता होने से ऊर्ध्वमुखीकरण हो जायेगा, तब पहले जो वृत्तियाँ अधोमुखी रुख के कारण अनावश्यक एवं मोहक–आकर्षक विषयों, पर-पदार्थों एवं भावों के प्रति या उनके सेवन के लिए लालायित–प्रेरित होती थीं, अब उस ओर उसकी वृत्ति जायेगी ही नहीं, यानी पर-पदार्थों को ग्रहण करने के लिए उसकी वृत्ति लालायित होकर नहीं दौड़ेगी। संयम-यात्रा में सहायक व्यक्तियों, समूहों तथा आवश्यक उपकरणों के प्रति सम्बन्ध रखते हुए भी वह उनसे निःस्पृष्ट, निर्लिप्त, अनासक्त एवं निष्कांक्ष रहेगा। इस प्रकार आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित रह सकने के कारण उसकी निर्ग्रन्थता सिद्ध हो सकेगी।

तृतीय सोपान : शरीर के प्रति किंचित् भी मूर्च्छा : निर्ग्रन्थता में बाधक–शरीर को अतिनिकटवर्ती साथी, धर्मपालन व संयमपालन में सहायक समझकर कई बार इसके बहाने मोहवश शरीर को धर्मविरुद्ध आचरण करके भी या त्रस-हिंसाजनित पदार्थों का सेवन करके सुरक्षित, पुष्ट और तन्दुरुस्त रखने का उपाय करना निर्ग्रन्थता में बाधक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए संयममय, यत्नाचारपूर्वक प्रयत्न करना जायज बात है, किन्तु स्वस्थता की ओट में शरीर को मोटा, तगड़ा व पुष्ट बनाने की चिन्ता करना यथावश्यक शरीर-श्रम भी न करना, आलसी बनना, रसायन आदि का सेवन करना दूसरी बात है। शरीर को संयमपालन हेतु यथावश्यक आहार-पानी देना, तप और सेवा के लिए तत्पर रखना, अपनी चर्या निर्दोष रखने के लिए शरीर को प्रवृत्त करना, उसका लाड़-प्यार, मोह-ममत्व न रखना जायज बात है। शरीर के प्रति मूर्च्छा-ममता, अश्रद्धायुक्त चिन्ता रखना, उसे सुकुमार, सुख-सुविधावादी एवं भौतिक सुखलोलुप बनाने, यानी आत्म-चिन्ता छोड़कर शरीर के ही लालन-पालन में रत रहने से निर्ग्रन्थता और स्वरूप-स्थिरता दोनों का टिकना अतिकठिन हो जायेगा। इसीलिए चेतावनी दी गई है–"देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।" आशय यह है कि साधक का शरीर केवल संयम का साधन बनकर रहे। संयम-साधना के निमित्तकारण के सिवाय जिह्वा, स्वादासक्ति, मोहकता आदि अन्य किसी भी कारण से कोई वस्तु इच्छनीय या उपादेय न रहे। ऐसी स्थिति में संयमयात्रार्थ थोड़े-से पदार्थों की आवश्यकता होने पर भी उन पदार्थों के प्रति भी मूर्च्छा या लिप्सा नहीं रहे तो सहजभाव से परिग्रहवृत्ति से निवृत्तिरूप संवर तथा आत्मा के शुद्ध भावों में प्रवृत्तिरूप निर्जरा होगी।

चतुर्थ सोपान : दर्शनमोह का सागर पार होने पर ही केवल चैतन्य का बोध संभव–कई बार ज्ञात मन में उठे हुए क्षणिक वैराग्य और त्याग के प्रवाह में बहकर साधक समझ बैठता है कि मुझे संसार के समस्त निर्जीव-सजीव पदार्थों के प्रति विरक्ति हो चुकी है, शरीर पर भी मूर्च्छा नहीं रही है; परन्तु उसके अवचेतन मन में दीर्घकाल से दबे हुए, शान्त पड़े हुए राग, द्वेष, मोह, कषाय और विषयासक्ति के संस्कार निमित्त मिलते ही, राख के ढेर में दबी हुई शान्त आग को हवा का निमित्त मिलने पर भड़क उठने के समान उत्तेजित हो जाते हैं। निर्विकारी प्रतीत होने वाला मन साधक को विकारों के दलदल में उसी या उससे भी नीची विकारी दशा में धकेल देता है। अतएव दर्शनमोह का सागर पार न हो जाए तब तक पर-पदार्थों तथा शरीरादि के प्रति ममता-मूर्च्छा का त्याग, उनके प्रति उदासीनता या ऊर्ध्वमुखी वृत्ति या विरक्ति हो ही गई है, ऐसा निश्चित नहीं समझना चाहिए।

दर्शनमोह तभी दूर होगा, जब साधक को शरीर से भिन्न केवल चैतन्य का अनुभवात्मक बोध होगा। समग्र अचेतन शरीर में आत्मा व्याप्त होते हुए भी चैतन्य-शक्ति अपने स्वभाव (स्वधर्म) में अचलरूप से स्थिर है, शरीर, कर्म आदि पुद्गलों का धर्म (पर-भाव) इससे पृथक् है। साथ रहते हुए भी चेतन (आत्मा) इस पर-भाव में मिल नहीं जाता। ऐसे यथार्थ आत्म-स्वरूप का अनुभवात्मक ज्ञान दर्शनमोह दूर होने पर ही

जाता है। देह से भिन्न केवल चैतन्य (आत्मा) के द्वार तक पहुँचने के लिए बीच में अनेक अन्तःकरण तथा बाह्यकरण हैं, उनके प्रलोभनों और मोहजाल में न फँस जाए, यह भी ध्यान रखना अनिवार्य है। अन्यथा, देह ही या मन आदि अन्तःकरण ही चैतन्य है, इस प्रकार आभास अवचेतन मन में हो तो रहने से मोहक पदार्थ, शृंगारिक चित्र, स्वादिष्ट खान-पान, झूठी प्रशंसा आदि का श्रवण आदि इन्द्रियों और मन के विषय उसे आकर्षित करते रहेंगे और भ्रान्तिवश वह उनमें सुखानुभूति करता रहेगा।

भवसागर से पार उतरने में बाधक कारण दो हैं—दृष्टिमोह और चारित्रमोह। दृष्टिमोह में भ्रान्ति, असद्भावना, कुविचार, अधम-अध्यवसाय, कुविकल्प, दुष्ट परिणति, मिथ्यादृष्टि, पूर्वाग्रह, कदाग्रह, पंचविध मूढ़ताएँ तथा शास्त्रोक्त दशविध मिथ्यात्व आदि का समावेश है। चार कषायों और नौकषायों का मूल भी दृष्टिमोह ही है। दर्शनमोह का सागर पार करने पर शुद्ध चैतन्य का ज्ञान अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाये तो आध्यात्मिक विकास-निरोधक काम-क्रोधादि वैभाविक प्रवृत्तिरूप चारित्रमोह का जोर ठंडा पड़ जायेगा। परन्तु चारित्रमोह की क्षीणता क्षणिक न होकर स्थायी होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में देहभिन्न केवल चैतन्य का अनुभवात्मक ज्ञान का फल आत्मा के शुद्ध स्वरूप का एकाग्रतापूर्वक ध्यान होगा। तभी साधक के रग-रग में शुद्ध आत्म-स्वरूप का भाव ओतप्रोत होगा। फिर उसे कोई पर-पदार्थ आकृष्ट नहीं कर सकेंगे।

पंचम सोपान : योगत्रय में आत्म-स्थिरता—दर्शनमोह नष्ट होते ही सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है, तब मन आदि तीनों योगों में सतत आत्म-स्मृति और आत्म-जागृति रहनी चाहिए। इसी का नाम आत्म-स्थिरता है। उसके विचार, वाणी और व्यवहार के साथ जब आत्मा जुड़ती है, तब उसके जीवन में सत्यलक्षी परिवर्तन होता है। आत्मा का संयोग सत्यलक्षी और स्थायी होता है, तब उन तीनों योगों में आजीवन आत्म-स्थिरता बनी रहती है। ऐसा साधक मन से अपने और दूसरों के लिए बुरा चिन्तन नहीं करता, वाणी और आचरण में असत्य को स्थान नहीं दे सकता। कर्म या काया में आत्म-स्थिरता होने पर वह कोई भी व्यवहार आत्म-विरुद्ध या लोक-विरुद्ध नहीं कर सकता। आत्म-स्थिरताशील साधक का कोई शत्रु नहीं रहता। आत्मौपम्यभाव स्वाभाविक होता है। उसकी दृष्टि में विकार या पापवासना का स्पर्श नहीं होता। आत्म-स्थिरता होने पर उसकी प्रत्येक कार्य-प्रवृत्ति यतनामय, संयममय, सत्य से ओतप्रोत होगी। उसकी योगत्रय की प्रत्येक प्रवृत्ति में आत्म-स्थिरता होने पर यानी शुद्ध आत्मा की स्मृति जुड़ जाने पर संयम-यात्रापथ में घोरातिघोर उपसर्ग, परीषह, विपत्ति, वेदना या विघ्न-बाधा आने पर भी उसकी आत्म-स्थिरता अडोल, अविचल रहती है, कार्य-समाप्ति तक आत्म-स्मृति सतत बनी रहती है। सचमुच, आत्म-स्थिरता की कसौटी परीषह और उपसर्ग है।

मुमुक्षु जीवन में आत्म-स्थिरता अनिवार्य क्यों ?

वीतरागता या सर्वकर्ममुक्ति के पथिक के लिए पद-पद पर आत्म-स्थिरता आवश्यक है। प्रमादी और अज्ञानी व्यक्ति की तरह बहुत से साधनाशील व्यक्ति भी व्यक्तिगत स्वार्थ, मोह या लोभ के आते ही आत्म-स्थिरता खो बैठते हैं। जीवन के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में जितनी भी भूलें, गलतियाँ होती हैं, वे सब आत्म-स्थिरता के अभाव में होती हैं। मिथ्याभिमानी, अष्टविध मदग्रस्त लोगों में आत्म-स्थिरता प्रायः न होने से बाह्यरूप से गृहीत व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान आदि में बार-बार भूलें, अतिचार (दोष), विस्मृति आदि होते रहते हैं। बाहर से विचार, वाणी और व्यवहार में स्नेह-प्रदर्शन होते हुए अन्तर छल-कपट हो तो वहाँ आत्म-स्थिरता नहीं है। आत्म-स्थिरता वाला साधक अपने साथ गलत व्यवहार करने वाले के प्रति भी रोष-द्वेष न करके या निमित्त को न कोसकर अपने ही उपादान (आत्मा) को टटोलता है। वह भय और प्रलोभन के आगे भी आत्म-स्थिरता नहीं लाता, वृत्तियों में विचलता भी नहीं लाता। उत्तेजना, आवेश, वासना-कामना, फलाकांक्षा आदि आत्म-स्थिरता वाले साधक में नहीं होते।

छठा सोपान : निजस्वरूप-लीनता—के लिए संयम के हेतु से योग प्रवृत्ति तथा स्वरूपलक्षी जिनाज्ञाधीनता—आत्म-स्थिरता से आगे की भूमिका में उक्त छठे गुणस्थानवर्ती मुमुक्षुसाधक के मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति सत्रह प्रकार के संयम के हेतु से होगी; वह इसलिए आवश्यक है कि साधक के पूर्वबद्ध कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होकर उसे पूर्णतया विरक्तिभाव या समभाव में नहीं रहने देते। ऐसी स्थिति में संयम

की साधारण स्फुरणा प्रमाद और कषायरूप प्रच्छन्न चोरों के आक्रमण को रोक नहीं पाती। उस समय 'संयम के हेतु से त्रिविध योगों की प्रवृत्ति' का सूत्र अहर्निश स्मृतिपथ पर रहना आवश्यक है। इस सूत्रानुसार साधना एक ओर से विचार, भावना और क्रियमाण कर्म में प्रबल शुद्धि लाती है तो दूसरी ओर से स्वरूपलक्षी जिनाज्ञाधीनता होने से परभावों और विभावों से अनायास विरक्ति या विरति कर्मसंस्कारों के पूर्वकालिक अध्यासों के जोर को ठंडा करके विरक्तिमुखी रुचि को परिपुष्ट करती है।

आत्म-स्थिरता के अभ्यास की परिपक्वता कब ?—पंचम गुणस्थानवर्ती श्रमणोपासक में तथा छठे गुणस्थानवर्ती सर्वविरति सरागसंयमी साधुवर्ग में औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक तीनों भाव संभव हैं। परन्तु यहाँ तो गुणस्थान-द्वयवर्ती साधकवर्ग से क्षायिकभाव में स्थिर रहने की अपेक्षा है। ये दोनों प्रकार के साधक आनन्द, कामदेव आदि श्रमणोपासकों की तरह तथा उदायी राजर्षि, अर्जुन मुनि, गजसुकुमार मुनि की तरह उपसर्ग आने पर अधिकांशरूप से स्व-धर्म में दृढ़ रहे। अन्यथा, क्षायिकभाव के लक्ष्य के अभाव में परीषहों और उपसर्गों के आने पर फिसलने का भय बना रहता है। परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक मुकाबला करके अन्त में उन पर पूर्णतया विजय पाने का लक्ष्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब आत्मार्थी मुमुक्षुसाधक आधि, व्याधि, उपाधि के आने पर अपना संयम खोये बिना अपने धर्म (आत्म-धर्म) पर डटा रहे। ऐसी अनुप्रेक्षा-सम्प्रेक्षा करे कि उपसर्ग, परीषह या उपद्रव मात्र मेरी आत्म-स्थिरता, मुमुक्षा या उच्चदशा की परीक्षा करने के लिए आये हैं या आते हैं। उस समय चित्त को शान्त और प्रसन्न रखकर सोचे कि ये संकट, कष्ट, उपद्रव या उपसर्ग मेरे द्वारा पहले या वर्तमान में किये गये अपराध और उनसे होने वाले अशुभ कर्मबन्ध के परिणाम हैं। अतः आत्म-स्थिरता वाले साधक सत्य, शील, अहिंसा, संयम और बाह्याभ्यन्तर तप को अपने जीवन में रमा-पचा लेते हैं। भयंकर दुःसाध्य बीमारी के समय भी जाग्रत रहकर शान्ति और समभाव से वह उस दुःख को सहेगा, सेवा करने वालों पर कुढ़ेगा नहीं, सात्त्विक उपचार करेगा, परन्तु आत्म-स्थिरता और संयम खोकर दूसरे जीवों को जरा भी कष्ट न देगा, न ही उनके प्राणों को संकट में डालेगा। मन, वाणी और शरीर से जो भी क्रिया करेगा, वह संयम की सीमा में करेगा। सागारी (गृहस्थ) और अनगारी (साधु) दोनों के जीवन में पूर्वोक्त सर्वांगीण संयम के साथ सम्यग्ज्ञान वैराग्ययुक्त विवेक का होना अत्यावश्यक है। प्रतिक्षण ऐसे संयमी (गृहस्थ या साधु) को आत्मभान रहेगा। फलतः वह जीवन की आवश्यकताओं को सीमित कर लेगा। आवश्यक उपकरणों या साधनों पर भी ममता-मूर्छा नहीं रखेगा। विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति वह आत्मौपम्यभाव रखेगा, तब पानी की एक बूँद का भी, भोजन के एक कौर का भी या वस्त्रखण्ड का भी बिना जरूरत के स्वाद या आडम्बर के लिए, शोभा या विभूषा के लिए भी उपयोग नहीं करेगा। अपने वचन का व्यय भी बिना मतलब के, निरर्थक या असत्प्रवृत्ति में व्यय नहीं करेगा, एक भी आत्मघातक विचार दिमाग में संचित करके नहीं रखेगा। स्वयं के पास जो अमूल्य बौद्धिक निधि है, उसका भी जाग्रत रहकर जनसेवा में या संयम कार्यों में उपयोग करेगा। अपने शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों और अंगोपांगों का उपयोग निरर्थक कार्यों एवं कषायों-नोकषायों में नहीं करेगा। स्वप्न में भी कोई कुविचार हमला न कर सके, इसलिए अन्तर में जाग्रत रहेगा। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम का हेतु सुरक्षित रखने के लिए उसका संयम स्वरूपलक्षी हो तथा जिनाज्ञाधीन हो। अर्थात् इस मोक्षलक्ष्यी साधना में साध्य स्वरूपदशा है, उसका साधन संयम है।

स्वरूपलक्षी संयम कैसा होता है ?—स्वरूपलक्षी साधक जगत् के सर्वजीवों को आत्मवत् मानकर विश्वमैत्री, करुणा, प्रमोद गुण का आराधक या षट्कायिक जीवों का पीहर, खेदज्ञ, समदर्शी बनेगा सर्वभूतात्मभूत विश्वमैत्री का यह सूत्र जब उसके जीवन में ओतप्रोत हो जायेगा, तब उसके लिए अहिंसादि संयम के अंगों का पालन सहज हो जायेगा; क्योंकि सर्वभूतात्मभूत हो जाने पर सबको आत्मवत् मानने पर किसी की हिंसा, असत्य, चौर्य आदि में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। अतः आत्मार्थी संयमी साधक की स्वरूपलक्षिता अपनी संयम-साधना में अद्वैतता = अखण्डता सिद्ध करने के अभ्यासमय होगी। ऐसी स्थिति में स्वरूपलक्षी साधक अपने आसपास होने वाली विषम परिस्थितियों (अनिष्टों, बुराइयों) को अपनी अशुद्धि या उपादान-शुद्धि की कमी का परिणाम समझकर अपनी आत्म-शुद्धि (उपादान-शुद्धि) के लिए अधिकाधिक

पुरुषार्थ करेगा। वह अपनी भूलों या अशुद्धियों का होकर निमित्तों (दूसरों) के सिर पर डालकर, वृत्तिवश होकर उससे भागना पसंद नहीं करेगा।

छठे सोपान का उत्तरार्द्ध : स्वरूपलक्षी संयम भी जिनाज्ञाधीन हो–साधक के जीवन में इस प्रकार का स्वरूपलक्षी संयम सिद्ध होने पर उसके अध्यात्मज्ञान का, शास्त्रज्ञान का या स्वरूपलक्षी होने के अहंकार का एवं जाति, कुल, बल आदि अष्टविध मद का, प्रशंसा, प्रसिद्धि, अहंता-ममता से मन में होने वाले अभिमान के तूफान का पचाना बहुत कठिन है। अतः स्वरूपलक्षी संयम के साथ जिनाज्ञाधीनतारूपी सुरक्षाकवच न हो तो अहंता-ममता, निंदा-प्रशंसा, स्वच्छन्दता, पूजा-प्रतिष्ठारूपी मगरमच्छ उसे संसार-समुद्र से पार होने में बहुत रुकावट डालेंगे। प्रसिद्धि, सिद्धि, उपलब्धि आदि पतन होने के खतरों से बचने के लिए जिनाज्ञाधीनतारूपी ढाल अवश्य होनी चाहिए। जिन यानी वीतराग, उनकी आज्ञा यानी वीतरागतामार्ग उसमें विचरण करना और अधीनता का अर्थ है–उसके लिए सर्वस्व समर्पण करना। अर्थात् एक ओर से संयम के साथ वीतरागता होनी चाहिए, उसका फलितार्थ है–एक ओर से, सिद्धि, उपलब्धि, प्रसिद्धि आदि की प्राप्ति के प्रति निःस्पृहता, निर्लेपता, निष्कांक्षता हो; दूसरी ओर से, जो कुछ भी सिद्धि-प्रसिद्धि आदि प्राप्त हो उसे वीतराग चरणों में समर्पित कर दे, भगवान के चरणों में चढ़ा दे। ऐसा संयमी साधक अकिंचन बनकर उक्त भावग्रन्थों (भावपरिग्रहों) से मुक्त हो जावेगा।

भेदभक्ति से अभेदभक्ति की ओर प्रस्थान निजस्वरूपलीनता की सिद्धि–साधक वीतरागभक्ति (भेदभक्ति) का अवलम्बन (वीतराग प्रभु के वचनरूप, शरीररूप या निराकारपदरूप) इसलिए बताया गया था कि आत्म-स्वरूपलीनता में रुकावटें डालने वाले पूर्वोक्त प्रतिबन्ध एवं स्वच्छन्दता को रोकने के लिए वीतराग वचनों पर श्रद्धा रखकर उनके अनुसरणरूप समर्पणता (जिनाज्ञाधीनता) आवश्यक बताई। परन्तु इस समर्पणभक्ति में भेदभावना की प्रतीति होती है, उसी अवलम्बन में ही अटक जाने की प्रतिबन्धता को रोकने के लिए अभेदभक्ति आवश्यक है। अभेदभक्ति से जिनस्वरूप ही मेरा स्वरूप है, मैं ही अर्हत्स्वरूप हूँ, सिद्ध-स्वरूप हूँ, इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति हो जावेगी। फिर स्वरूप दृष्टया एकता होने से 'मैं तू' की भेददृष्टि नहीं रहेगी। जो कुछ पाना है, वह मेरे में ही है, जहाँ पहुँचना है, वहाँ मुझे ही और मेरे ही स्थान में पहुँचना है, इस प्रकार की पूर्ण अभेदभक्तिभावना से सर्वपुरुषार्थ–आत्म-स्वरूप में अवस्थितिरूप होगा, निजस्वरूपलीनता की यह पूर्णता होगी; यही निजस्वरूपलीनता की शुद्ध प्रक्रिया होगी। यह छठे गुणस्थान तक के निर्ग्रन्थता का क्रमारोहण है।

मुक्ति के अप्रमत्तताभ्यास के सोपान

सप्तम सोपान : अप्रमत्तता तथा अप्रतिबद्धता का अभ्यास–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इन पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग और द्वेष–आसक्ति और घृणा–अरुचि, इन दोनों का अभाव रहे, यानी मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनों ही परिस्थितियों पर समभाव–माध्यस्थ्यभाव रहे तथा पंचविध प्रमाद से मनःस्थिति क्षुब्ध, विचलित या कषाय-नोकषायलिप्त न हो, त्रिविधयोगप्रवृत्ति सिर्फ उदयभाव के अधीन होकर हो, उसमें किसी प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव का प्रतिबन्ध (बन्धनबद्धता) न हो, न ही किसी प्रकार की फलाकांक्षा हो। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में निर्लोभता, समता, आशा-स्पृहा-रहितता हो। अप्रमत्तभाव से ऐसी सुदृढ़ परिपक्व साधना हो, भेदभक्ति से अभेदभक्ति की ओर बढ़ने पर साधक की अप्रमत्ताभ्यास की ऐसी ही स्वरूपदशा होती है। छठे गुणस्थानवर्ती साधक ने सर्व प्रकार से सब पदार्थों से मूर्च्छावृत्ति हटाकर सर्वसंपत्करी भिक्षावृत्ति से प्राप्त साधन में आत्मभाव खोये बिना यथालाभ सन्तोष माना। किन्तु अत्यावश्यक साधन मनोज्ञ-अमनोज्ञ, जैसे भी प्राप्त हुए हों, उनमें उसका समभाव–माध्यस्थ्यभाव या ज्ञाता-द्रष्टाभाव टिका रहना चाहिए। उन प्राप्त साधनों या प्राप्त शरीरादि के प्रति राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, मोह-द्रोह अथवा गौरवभावना या हीनभावना (गर्व या दैन्य) न हो। यहीं से सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्ताभ्यासी की साधना शुरू हो जाती है। आगे विश्लेषण करके बताया गया है कि पाँचों इन्द्रियों के अच्छे-बुरे, मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर कैसे-कैसे अहंकारवृत्ति या ईर्ष्या-द्वेषवृत्ति आ जाती है; मध्यस्थता या समता कैसे-कैसे चौपट हो जाती है? अतः इस प्रकार राग-द्वेष-विरहितता, समता या

मध्यस्थता के लिए सप्तम गुणस्थानवर्ती स्थितप्रज्ञ एवं अप्रमतताभ्यासी साधक के जीवन में अत्यावश्यक पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करते समय विषयों के प्रति राग-द्वेष-विरहिततारूप विरक्तवृत्ति तथा वैराग्यभाव की जागृति हो; क्योंकि विषयों से विरक्त सप्तम गुणस्थानवर्ती साधक ही अपनी आत्म-शक्ति बढ़ा सकते हैं, स्व-पर-कल्याण के लिए आत्मवीर्य का उपयोग कर सकते हैं। तभी उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति स्वयं के और जगत् के लिए कल्याणकारिणी और प्रेरणादायिनी होगी।

प्रमाद के पाँच मुख्य अंग हैं–मद (मद्य), विषय, कषाय, निन्दा या निद्रा और विकथा। ये पाँचों प्रमाद साधक को कैसे-कैसे अपने स्वरूप से स्खलित कर देते हैं? कैसे-कैसे कषायों और नोकषायों का दौर लाकर उसकी उच्च साधना को चौपट कर देते हैं? इसका युक्तिसंगत विश्लेषण करने के साथ-साथ उनके निवारण के लिए भी विवेकसूत्र बताए हैं। प्रमाद के ये पाँचों ही अंग आत्मारूपी सूर्य के प्रकाश और तेज को ढक देते हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति (वीर्य) को धूल में मिलाकर उसे कायर, मूढ़ और पामर बना देते हैं।

चारों प्रकार के प्रतिबन्ध भी वीतरागता-प्राप्ति में बाधक–व्यापक वीतरागता-प्राप्ति में प्रतिबन्ध–चतुष्टय भी बाधक है, आत्म-शान्तिभंगकर्त्ता हैं। प्रतिबन्ध मुख्यतया चार प्रकार का है–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रतिबन्ध। अमुक वस्तु, व्यक्ति, संस्था, सम्प्रदाय, जाति आदि में ही आसक्तिपूर्वक बँध जाना, अन्य वस्तु आदि के प्रति घृणा, द्वेष करना आदि द्रव्य प्रतिबन्ध है। अमुक कार्य-क्षेत्र, विचरण-क्षेत्र, नगर, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र आदि या मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में से अमुक क्षेत्र में ही काम कर सकता हूँ, अन्य क्षेत्र में नहीं अथवा अमुक क्षेत्र के प्रति अन्धभक्ति रखना क्षेत्र प्रतिबन्ध है। अमुक अवस्था, उम्र, समय, परिस्थिति में ही अमुक कार्य कर सकता हूँ, दूसरे समय आदि में नहीं, यह कालप्रतिबन्ध है और अमुक भावों, संयोगों, परिणामों में ही यह सत्यादि की साधना कर सकूँगा, दूसरे भावों आदि में नहीं, यह भावप्रतिबन्ध है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध चतुष्टय समत्वसाधना, वीतरागता-प्राप्ति, आध्यात्मिक अभ्युदय, स्वतंत्र आत्म-विकास में बाधक, विघ्नकारक एवं कर्मबन्धकारक हैं। कदाचित् प्राथमिक उदीयमान अवस्था में साधक को द्रव्यादि चतुष्टय का अवलम्बन लेकर चलना पड़े, फिर भी इनसे भिन्न द्रव्यादि के प्रति द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, ईर्ष्या आदि भाव न रखे। उच्च गुणस्थान में अवरोहण किये हुए या करने के इच्छुक साधक को इन्हें हेय या उपेक्षणीय समझने चाहिए।

अप्रतिबद्ध दशा की प्राप्ति के लिए उदयाधीन विचरण–अप्रतिबद्ध दशा का आचरण और विचरण उदयाधीन होना चाहिए। उदयाधीन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–उत् + अय् + अ = उदय = ऊँचा ले जाने वाला। इसका तात्पर्यार्थ है–सहज-स्फुरित, यानी अन्तःस्फुरित = अन्तर्ध्वनि। परन्तु वह सत्य है या मिथ्या? इसकी जाँच-पड़ताल का गुर ऊपर दिया गया है। साथ ही जिनाज्ञा और गहन आत्म-चिन्तन के बाद यह लगे कि यह कार्य स्व-पर के विशेष उत्कर्ष का है या स्व-परोदयकारी–ऊँचा ले जाने वाला है तो उसे बिना किसी भावबन्धन के कार्यरूप में परिणत करना उदयाधीन विचरण एवं आचरण है। परन्तु निर्ग्रन्थता के उपासक उच्च साधक या गृहस्थ साधक को प्रतिक्षण सावधान भी रहना चाहिए कि अन्तर (अवचेतन) मन के किसी कोने में प्रतिष्ठा, प्रशंसा, यशःकीर्ति, सुख-सुविधा, शिष्य-शिष्या-प्राप्ति, भक्तवर्ग-वृद्धि, खान-पान-प्राप्ति या आदराधिक्य आदि किसी प्रकार का लोभ (लिप्सा) सूक्ष्म रूप से न घुस जाय, इसलिए उदयाधीन विचरण के साथ वीतलोभ विशेषण प्रयुक्त किया है, जिसका फलितार्थ है कि उदयाधीनता किसी भी कामना, नामना, स्पृहा, लालसा आदि से रहित होनी चाहिए। वीतराग चरणों में समर्पित साधक की यही सहजदशा होनी चाहिए।

अष्टम सोपान : कषायों और नोकषायों पर विजय की तैयारी–सातवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मन की विविध परिणामधाराएँ होती हैं, जिनकी उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त से भी कम बताई गई है। इसलिए बारहवें गुणस्थान पहुँचने तक साधना जीवन में कई उतार-चढ़ाव आते हैं। राग और द्वेष के क्रोधादि चार सेनानियों (युद्ध-विशारदों) के साथ आत्मा को अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक बार तो इनसे भिड़ जाना ही पड़ता है। उस समय क्रोध हावी होने को आये तो सावधान होकर सहज रूप से क्रोध हो, यानी क्रोध के प्रति होश के साथ अक्रोधता का जोश स्वाभाविक बना रहे। मान आने के लिए उद्यत हो, तब

अत्यन्त दीनता (नम्रता) के प्रति मान (स्वाभाविक आदर) हो। माया (छल-कपट) आने को तत्पर हो, तब माया के प्रति प्रीति खोकर साक्षीभाव के प्रति माया (प्रीति) उत्पन्न हो जाए तथा लोभ के प्रति लोभ के जैसा न बने अर्थात् लोभ जैसे दूसरों को लुभाकर अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही उस समय आत्मा, शुभ या अशुभ किसी भी सांसारिकभाव को लुब्ध होकर न खींचे। यदि पूर्वाभ्यास के कारण शुभाशुभभाव खिंचे चले आएँ तो भी स्वयं निर्लेप (अलुब्ध) भाव में स्थित रहे। जो आत्माएँ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकी होती हैं, उनके पक्ष में आठवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक क्रोध, मान और मायाभाव तथा नोकषायभाव पर तथा दशम गुणस्थान में संज्वलन के लोभ पर भी इसी दृष्टि से विजय प्राप्त होने की सम्भावना है। यानी अगर उस साधक ने क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करने के दौरान पूर्ण संयम, आत्म-स्थिरता और अप्रमत्तता के शस्त्रों से इस अवशिष्ट सूक्ष्म (संज्वलनीय) क्रोध को भी पूर्ववत् जीत लिया तो फिर वह क्रमशः शेष सभी शत्रुओं (मानादि कषायों तथा नौ नोकषायों) पर विजय प्राप्त करके ही दम लेता है। अर्थात् जो साधक आठवें गुणस्थान से क्षपकश्रेणी पर चढ़ गया, वह अवश्यमेव (कर्मबन्ध तथा मोह के मुख्य कारणभूत) समस्त कषायों-नोकषायों पर विजय प्राप्त कर लेगा, यह अध्यात्मदृष्टि से कर्मविज्ञानवेत्ताओं की भविष्यवाणी है। लोभ इन सब कषायों में प्रबल है। वह इतना सूक्ष्म है कि सहसा पहचाना नहीं जाता, न ही पकड़ में आता है। इसलिए लोभ को सर्वांग रूप से जीत लिया तो समझ लो, सर्वस्व जीत लिया। एक अच्छी बात को भी दूसरे के दिमाग में ठसाने का लोभ अथवा किसी मोहक पदार्थ को पाने का आकर्षण (लोभ) अप्रमत्त साधनाशील के मानस में जागने पर कैसे वह शेष तीनों कषायों को साथ में ले आता है? इसे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

उपशमश्रेणी वाला साधक कितनी सावधानी रखे ?—जहाँ तक घातिकर्ममुक्ति की भूमिका पर न पहुँच जाए, वहाँ तक कदम-कदम पर साधक के फिसलने का भय रहा हुआ है। उपशमश्रेणी वाले साधक में कदाचित् संज्वलन के क्रोध, मान, माया बाह्यरूप से उपशान्त दिखाई देते हों, परन्तु संज्वलन का लोभ सर्वथा क्षय नहीं हो पाता। दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में न पहुँचकर वह ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है, जहाँ उसका मोह सर्वथा क्षीण नहीं हो पाता, उपशान्त रहता है। जरा-सा निमित्त मिलते ही साधक का पतन हो जाता है। अतः इस सोपान में सूक्ष्मकषायों पर भी पूर्ण विजय करने की साधना और सावधानी बताई गई है।

चारों सूक्ष्म कषायों पर विजय कैसे पाए ?

क्रोध का बीज नहीं जल जाता है, तब तक वह बाहर से क्षमा करता हुआ भी अन्तर से सूक्ष्म क्रोध को एक या दूसरे निमित्त को लेकर पाले रहता है, उसका कारण है स्वभाव की स्मृति (जागृति) का स्थिर नहीं होना। क्रोध विभाव है, उसको हटाकर स्वभाव उसका स्थान ले ले तो समझना चाहिए क्रोध को जीत लिया। इसी तरह साधक की प्रशंसा और महिमा के सुन्दर गीत गाये जा रहे हों, उस समय जरा-सा भी गर्व आया, प्रसन्नता हुई कि नम्रता, विनीतता, मृदुता, कोमलता विदा हो गई। अतः स्वयं को अणु से भी अणु मानने वाला ही महान् (दीन-नाथ) बनता है। जैसे—अनाथी मुनि ने स्वयं को अनाथ बताकर श्रेणिक नृप को सनाथ-अनाथ का स्वरूप बताया तो उसकी दृष्टि में महापूज्य बन गये। महिमागान तो नाथ का होता है, मैं तो वीतरागनाथ का चरणकिंकर हूँ, समर्पित हूँ; इस प्रकार की विनयशीलता प्रदर्शित करने वाला सहज ही मानकषाय पर विजयी बन सकता है। नम्रातिनम्र बन जाने पर अपनी छोटी-से-छोटी भूल, गलती या दोष को छिपाने की या सात्त्विकता को भी छिपाने या न कहने की वृत्ति नहीं होती। सारा विश्व ही जब मेरा कुटुम्ब है, तब किससे और क्या छिपाऊँ? इस प्रकार साक्षीभाव के प्रति माया (प्रीति) होने से साधक यथाशीघ्र जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। साधक में समस्त शक्तियाँ विकसित होने से जगत् उसे तारक, अवतार, भगवान या प्रभु के रूप में निहारने लगता है। वैसी स्थिति में यदि वह विचलित होकर अपनी अपूर्णता को पूर्णता मानकर अटक गया तो ठेठ पेंदे में जाकर बैठने का अवसर आ जाता है। वह स्वयं भी डूबता है, उसकी शक्तियाँ भी डूबती हैं। किन्तु क्षपकश्रेणी वाला साधक जरा भी रागाविष्ट न होकर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर तटस्थभाव से लोभ के इस नाटक पर विजय पा लेता है।

नवम् सोपान : भावसंयम और द्रव्यसंयम से पूर्ण निर्ग्रन्थता की सिद्धि–आत्मा के पूर्ण आध्यात्मिक रूप = सत्-चित्-आनन्दरूप–मौलिक धर्म (स्वभाव) आत्मा से पृथक् शरीर आदि में कभी स्वाभाविक रूप से प्रादुर्भूत हो नहीं सकते, परन्तु जनसमाज में अच्छा, सच्चा और सुन्दर कैसे कहलाऊँ या दीखूँ? इस प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर तन, मन, प्राण से उक्त भावनाओं को औपचारिक रूप से क्रियान्वित करने की चेष्टा करता है, इस प्रकार के संकल्प-विकल्पों में डूबता-उतराता रहकर जो आत्मा के धर्म नहीं हों, उन्हें औपधारिकता से लेकर कृत्रिमता का पोषण करता है। यह एक सार्वभौम नियम है कि किसी भी वस्तु के स्वाभाविक गुणों को विकसित करने के लिए बाह्य व्यक्ति, वस्तु या साधन-सामग्री की बहुत कम अपेक्षा रहती है, जबकि वैभाविक गुणों को प्रकट करने के लिए बाह्य सामग्री की अधिक जरूरत पड़ती है। स्वाभाविक गुणों को विकसित करने के लिए बाह्य सामग्री की जितनी सहायता ली जाती है, उतनी ही मात्रा में आत्म-शक्तियाँ कुण्ठित, पराधीन और परमुखापेक्षी बनती हैं। निष्कर्ष यह है कि निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिए भावसंयम में स्वयं अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। केवल भावसंयम ही नहीं, उसके साथ द्रव्यसंयम की भी प्रतीत होनी चाहिए। इसीलिए नौवें पद्य में कहा गया है कि वह साधक शरीर के परिकर्म (साजसज्जा आदि) से निरपेक्ष होकर द्रव्यसंवर भी सिद्ध करे। शरीर से ही नहीं, मन से भी नग्नभाव (अहं-ममत्व-शून्यता का भाव), कषायादि से मुण्डितभाव, स्नानभाव से निरपेक्ष, दतौन का एक टुकड़ा भी न रखने वाले (प्रसाधन-सामग्री का त्याग करने वाले) (पूर्वोक्त) भाव से तथा (प्रस्तुत) द्रव्य से संयमी साधक ही पूर्ण निर्ग्रन्थ होते हैं। निष्कर्ष यह है निर्ग्रन्थता की सिद्धि हेतु ऐसे द्रव्यसंयम के लिए साधक शरीर-सुकुमारता और देहविभूषा के हेतु किसी प्रकार की प्रवृत्ति न करे। परन्तु ये सब उत्कृष्टता के या क्रियापात्रता के अहंकार के साधन न बन जाएँ, न ही दूसरों को नीचा दिखाने के साधन बनें। साथ ही कोरे नंगधड़ंग रहने वाले पशु, आदिवासी, अज्ञानी, गँवार जीवों को या मैले-कुचैले, आलसी, अकर्मण्य लोगों को एवं वेषधारी कुव्यसनियों को मात्र उतने से द्रव्यसंयमी नहीं कहा जा सकता। साथ में सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञान, लक्ष्य या ध्येय का भान न हो तो इन्हें द्रव्यसंयमी कौन कहेगा? भावसंयमी होना तो बहुत दूर की बात है। द्रव्यसंयम के साथ भी शृंगारजन्य तथा प्रतिष्ठा-प्रशंसा-प्रसिद्धि की वृत्ति एवं विवेकधृति का होना अनिवार्य है। वह केश, नख की साजसज्जा या अंग-शृंगार द्वारा कामोत्तेजन होने के खतरों से भी दूर रहता है। भावमूल वस्तु है, उसकी शुद्धि या उस पर आई हुई विकृति के निवारण के लिए द्रव्य से भी संयम रखना आवश्यक है। अर्थात् निश्चय से संयम की भावना और व्यवहार से संयम का व्यवहार = ज्ञान और क्रिया, दोनों मिलकर निर्ग्रन्थता सिद्ध करके मोक्ष-साध्य को प्राप्त कराने के लिए साधन हैं। दोनों का सन्तुलन आवश्यक है।

●●

कर्मविज्ञान : भाग ९ का सारांश

सर्वकर्ममुक्त परमात्मपद : स्वरूप और प्राप्त्युपाय

मोक्ष के निकटवर्ती परमात्मपद के सोपान

दशम सोपान : उच्चकोटि की विशुद्ध एवं पूर्ण समता की प्रतीति के चार चिह्न–संज्वलन के कषाय-चतुष्टय पर पूर्ण विजय की पूरी प्रतीति क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में हो जाने के पश्चात् उसके प्रत्यक्ष परिणाम की पहचान के लिए चार लक्षण साधक में होने आवश्यक हैं–(१) शत्रु और मित्र इन दोनों विरोधात्मक व्यक्तियों के प्रति समदृष्टि (एक-सी अमृतदृष्टि) हो, (२) सम्मान और अपमान दोनों स्थितियों में सहजरूप से समता टिकी रहे, (३) जीवन रहे या मरण हो, इन दोनों दशाओं पर न्यूनाधिक भाव न आए–समभाव रहे, और (४) संसार और मोक्ष इन दोनों दशाओं के प्रति क्रमशः व्याकुलता और मोह पैदा न हो, शुद्ध स्वभाव रहे। संसारदशा में रहते हुए भी निर्लिप्तता से मोक्ष का आनन्द लूटने का अभ्यास हो।

इस भूमिका का संसारदशापन्न साधक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, संयोगों, व्यक्तियों, क्षेत्रों आदि से वास्ता पड़ने पर सर्वत्र समभाव का दृढ़तापूर्वक परिचय दे, तभी समता की पराकाष्ठा वाली सीढ़ियों (वीतरागता के सोपानों) पर आसानी से आरोहण कर सकता है। ऐसे समतायोगी साधक की साधना नौका मोहसागर का किनारा देखती हुई शुद्धि, सिद्धि और मुक्ति; इन तीनों भूमिकाओं में से होकर सिद्धि के तट पर आ पहुँचती है। ऐसे साधक की दशा का दिग्दर्शन पूर्वोक्त पूर्ण समदर्शिता–समता के चार सूत्रों में दिया गया है। ऐसी उच्चदशा प्राप्त होने से पूर्व जो उसका शत्रु या विरोधी बना होता है, उसके प्रति भी उच्च साधक के अन्तर्हृदय में स्थित निःशत्रुभावना की प्रभावशाली किरणें शत्रु या विरोधी के हृदय को देर-सबेर अवश्य ही स्पर्श करती हैं; तथापि यदि विरोधी माने जाने वाले व्यक्ति का व्यवहार विश्वबन्धु साधक के प्रति शत्रुतापूर्ण रहे, तब भी सहज-समता का उसका आसन डोले नहीं, विश्वास पक्का रहे। समग्र शत्रुबल को लेकर आए उसके प्रति भी मित्रवत् अकृत्रिम व्यवहार रहे। तभी समझा जायेगा कि इसकी समभाव की दशा की पराकाष्ठा की यह भूमिका है।

आचारांगसूत्र में भगवान महावीर की समदर्शिता की पराकाष्ठा पर पहुँचने की झाँकी दी है। गोशालक, जमाली या अन्य कई साधकों ने भगवान महावीर के प्रति अनिष्ट कदम उठाए फिर भी वीतरागभाव से उन्होंने मैत्री का हाथ बढ़ाया। अपनी अनन्त उदारता और अहेतु की करुणा का परिचय दिया। इसी प्रकार वीतरागतालक्षी साधक के रग-रग में शत्रु और मित्र पर, सम्मान और अपमान में, जीवन और मरण में तथा संसार और मोक्ष के प्रति निष्कम्प, अविचल, सघन और स्वाभाविक समता कूट-कूटकर भरी होनी चाहिए। इन चारों समतासूचक तथा समत्व-परीक्षक द्वन्द्वों की उपस्थिति में साधक की विविध रूप से होने वाली अग्नि-परीक्षा में वह कैसे समत्व के अविचल ध्यान में टिका रहे? इन तथ्यों का युक्ति-प्रयुक्तिपूर्वक समताविज्ञान के नियमों के माध्यम से प्रतिपादन किया है। इन चारों ही अवस्थाओं में साधक अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहे, ऐसी पूर्ण आत्म-स्थिरता उसमें होनी चाहिए। सिद्धि के तट पर पहुँची हुई साधक की जीवन-नौका जरा-सी गफलत, चूक या असावधानी से डूब सकती है। अतः ऐसे समय में पहले से ज्यादा सावधान रहने की आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि भवसागर में तैरते हुए, जब किनारा दिखाई देने लगे, तब न तो किनारे जल्दी पहुँचने का मोह पैदा हो और न ही तैरने में शिथिलता, अरुचि या अनुत्साह हो। ऐसे समय में अनासक्तिमय आत्म-भावों में तल्लीन रहना ही अभीष्ट है।

ग्यारहवाँ सोपान : समता की सिद्धि के लिए पूर्ण निर्भयता का अभ्यास आवश्यक–विविध भयानक परिस्थितियों, प्राणियों, संयोगों आदि से वास्ता पड़ने पर साधक के तन-मन-प्राण में निष्कम्प और अविचल समता कैसे रहे? ऐसी कठोर और भयावह परिस्थिति में उसमें कितनी और कैसी निर्भयता, नैतिक हिम्मत, बलवत्ता, समभावनिष्ठा और आत्मतुल्यता होनी चाहिए? इसके लिए कहा गया है–अकेले और वह भी श्मशान जैसे भयंकर सुनसान स्थान में विचरण करना, जहाँ बाघ, सिंह, सर्प, चीते आदि क्रूर माने जाने वाले जानवरों के समागम की बार-बार सम्भावना हो, वैसे पर्वत, गुफा आदि भयजनक स्थानों में रहकर साधना करना। उस दौरान ऐसे भयंकर जानवर पास में आएँ, तो भी अडोल आसन से बैठे रहना, इतना ही नहीं, ऐसे भयावह प्रसंगों में मन में जरा-सा भी क्षोभ न आने देना और मानो परम स्नेही मित्र (कर्मनिर्जरा में सहायक होने से मित्र) का मिलाप हुआ हो, ऐसी वात्सल्यभरी अपूर्व स्थिति का अनुभव करना; इस (क्षीणमोह) गुणस्थान की भूमिका में अनिवार्य है।

संसार के आत्म-बाह्य सजीव-निर्जीव परभावों के प्रति राग, द्वेष, कषायादि सम्बन्धों से रहित भेदविज्ञानयुक्त होकर विचरण करना एकाकी विचरण का फलितार्थ है। आत्म-बाह्य समस्त परभावों तथा कषायादि विभावों के प्रति अहंत्व-ममत्व का त्याग करना किन्तु धर्मसंघ के साथ सम्बद्ध होते हुए भी अन्तर से स्वयं का पृथक् समझना भी एकाकी विचरण है। उदात्त ध्येय की वफादारी के लिए एक बार लोकारूढ़ वातावरण से और स्थूल संग-मात्र से अलग, एकान्त और विविक्त स्थान में रहे बिना, मौलिक विचार की जागृति, विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव तथा वीतरागभाव की सुदृढ़ स्थिति प्राप्त करना दुष्कर है। फिर सहचारियों के संग का सूक्ष्म ममत्व और मिलने वाला अवलम्बन उच्च साधक को सर्वांगी असंगतता और स्वावलम्बी साधना में रुकावट डालने वाला भी है। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में सहाय-प्रत्याख्यान और एकाकी विचरण को महानिर्जरा तथा महापर्यवसान तक का कारण बताया है; बशर्ते एकाकी विचरणकर्त्ता समस्त पापों से विरत रहे तथा कामभोगों के प्रति अनासक्त रहे। एकाकी विचरणकाल में वीतरागता, पूर्ण समता में निश्चलता और निर्भयता सिद्ध करने के लिए श्मशान, वन्यप्रदेश, पर्वत, गुफा आदि शून्य, भयावह स्थानों में, भयानक जन्तुओं के बीच रहने का अभ्यास करे; ताकि वहाँ रहने से उच्च कोटि की दया, वात्सल्य और निर्भयता का विकास परिपक्व हो जाए। इन तीनों बातों की प्रतीति तभी हो सकती है, जब साधक ध्यानस्थ हो या यों ही बैठा हो, तब ये वन्य क्रूर पशु अपने प्राण बचाने या मनुष्य को अपना शत्रु मानकर उसे हैरान करें, डरावें, झपटें, गुर्राएँ, प्रहार करें या काटने का प्रयत्न करें, उस समय साधक अपने आसन पर डटा रहे, जरा भी विचलित या भयभीत न हो, न ही उनके प्रति मन में दुर्भावना लाए, न ही पलायन का प्रतीकार करे। न ही छाती धड़के या हृदय में भय का संचार हो, न ही जोर से आक्रन्दन करे या कँपकपी छूटे; यही अडोल आसन और मन में क्षोभरहितता का तात्पर्य है। बल्कि उस समय उन खूँख्वार और क्रूर वन्य प्राणियों या प्राकृतिक प्रकोप का संयोग होने पर उच्चकोटि की साधक की सर्वभूतात्मभूतभरी आत्मनिष्ठा, आत्म-विश्वास तथा विश्ववात्सल्यपूर्ण हृदय मित्रभाव के अमृतरस से आप्लावित हो जाना चाहिए, यानी वात्सल्यपूर्ण हृदय-विकास की विधेयात्मक दिशा खुल जानी चाहिए। इस प्रकार का सुदृढ़ एवं परिपक्व अभ्यास हो जाने पर सभी प्रकार के शंका, कांक्षा, भय, विचिकित्सा और अनास्था के पूर्वाभ्यास निर्मूल होकर साधक की आत्मा इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है, तब वीतरागता और सर्वकर्ममुक्ति की निकटता में कोई संदेह नहीं रह जाता।

बारहवाँ सोपान : घोर तप, सरस अन्न, रजकण-वैमानिक देव ऋद्धि : इन द्वन्द्वों में मन की समता–जिस साधक की स्वभाव में दृढ़तम स्थिरता हो चुकी है, वह यथाख्यातचारित्र की भूमिका प्राप्त करने हेतु प्रमाद-विषय-कषायादि आस्रवों का प्रवेश-द्वार बंद करके पूर्ण संयमनिष्ठ होकर विचरण करता है, किन्तु ऐसी स्थिति में बाह्याभ्यन्तर तपश्चर्या करते हुए भी उसे ऋद्धि, रस एवं साता सम्बन्धी उपलब्धियाँ तथा ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होने पर भी उसे उनके प्रति समभाव, संयम और ज्ञाता-द्रष्टाभाव रखना जरूरी है। इसी तथ्य को द्योतित करने हेतु इस सोपान में कहा गया है–विविध मूढ़ताओं, अन्ध-विश्वासों, स्वार्थलिप्सा, अहंकार पद-प्रतिष्ठा-प्रशंसा, लिप्सा, मद, मत्सर, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रलोभन, दबाव, विवशता, उद्देश्यहीनता, निद्रा-मूर्च्छाधीनता, अनिच्छा, बलाभियोग तथा कामना-वासना से रहित होकर किये जाने वाले

कर्मक्षयकारक तथा मोक्षमार्ग-सम्मत सकामनिर्जराकारक बाह्य और आभ्यन्तर तप की कठोरता से मन को सन्ताप न हो, न ही प्रचार, प्रसार, आडम्बर, प्रदर्शन आदि की ललक हो, यानी चुपचाप तपस्या करते हुए मन में लेशमात्र भी घबराहट न हो। इसके विपरीत अत्यन्त मधुर, सरस, स्वादिष्ट खान-पान मिलने पर जीभ की स्वादलालसा तीव्र न हो, मन पर खुशी के विषयसंस्कार तथा गर्व के उफान न आने पाएँ। क्योंकि यह भूमिका भी ऐसी है कि जहाँ रजकण और वैमानिक देव या इन्द्र की अक्षय समृद्धि दोनों मूल में एक ही स्वभाव के, एक ही प्रकार के पुद्गल हैं, ऐसी दृढ़ प्रतीति, तीव्र-समभाव की दृढ़ता हो जाती है, तो समझना चाहिए कि अब समत्व के शिखर पर पहुँचने में कोई रुकावट नहीं है। यद्यपि इतने उच्च आदर्श में लीन साधक में पंचेन्द्रिय विषयों का आकर्षण, रसलिप्सा, भावावेश, रागादि विकारों का सूक्ष्म प्रभाव भी नहीं होता, तथापि जब तक पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो, तब तक साधक को पूर्ण सावधान, जागरूक और अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है, ताकि अज्ञान मन में पड़े हुए पूर्व संस्कार उसे बलात् अपनी ओर खींच न लें। आहार जैसी सामान्य वस्तु पर से साधक के अध्यात्मविकास-अविकास का नाप-तौल करने की बात इसलिए कही गई है कि जननेन्द्रिय के स्थूल विकारों तथा कामवासना एवं कामना की गहरी जड़ें राजसिक एवं तामसिक आहार में हैं। अतः अप्सरा-सी सौन्दर्य मूर्ति ललना का संयोग और कामोत्तेजक भोग-विलास के प्रसंग में यौवनवय में काम पर विजय पाने वाले योगी भी कदाचित् इसे वासनाविजय का महत्त्वपूर्ण अंग न समझकर अणिमा आदि चमत्कारपूर्ण सिद्धियों, उपलब्धियों और लब्धियों के प्रलोभन और गर्व में मत्त होकर हार खा जाते हैं। इसलिए उच्च आदर्शलीन साधक को सम्यग्ज्ञान में ज्ञाता-द्रष्टारूप में अवस्थिति को तथा सतत निश्चल होकर एकाग्रतापूर्वक स्वभाव में संलग्न रहने को आन्तरिक तप मानकर बाह्यदृष्टि से स्वाद पर पूर्ण विजय और कामना-वासना-ममता-मूर्च्छा पर पूर्ण विजय को व्युत्सर्गतप मानकर उसकी साधना से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा का अवसर नहीं चूकना चाहिए। ऐसे बाह्याभ्यन्तरतप के बिना वात्सल्यसिद्धि, शान्तरससिद्धि, अनासक्तिभावसिद्धि और स्वभावसिद्धि नहीं हो सकती।

तेरहवाँ सोपान : क्षपकश्रेणी पर आरोहण, चारित्रमोह पर विजय, अपूर्वकरण और शुद्ध स्वभावरमण–निश्चयदृष्टि से चारित्र का अर्थ है–परभाव से लौटकर, स्व-शुद्ध आत्मा का ही अनन्य चिन्तन अथवा शुद्ध स्वभाव में स्थिति, मति और गति (रमण) करना। इसे ही यथाख्यातचारित्र कहते हैं। इस चारित्र की भूमिका तक पहुँचने के लिए साधक को दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के साथ घनघोर तथा अविराम आन्तरिक धर्म-युद्ध (राग-द्वेषादि वैषम्य से रहित होकर) करना पड़ता है। बीच में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, विषयासक्ति एवं कषायादि को जीतने के लिए भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ता है। इस पुरुषार्थ-महायात्रा में वीतरागत्व या परमात्मपदरूप ध्येय को ध्रुव तारे की तरह सतत सावधानीपूर्वक दृष्टिगत रखना पड़ता है। इसी साधनात्मक तथ्य का दिग्दर्शन तीसरे से बारहवें सोपान तक वर्णित है। ऐसे आन्तरिक युद्ध में 'सूली ऊपर सेज हमारी, सोना किस विध होय ?' के अनुसार विराम, विश्राम, आराम या बाह्य आमोद-प्रमोद की तो बात ही कैसे सूझ सकती है ?

इस प्रकार सतत अविराम आन्तरिक धर्म-युद्ध में चारित्रमोह को पराजित करने के बाद विजय के स्थायी फल का वर्णन तेरहवें पद्य में किया गया है–पूर्वोक्त प्रकार के आन्तरिक धर्म-युद्ध में चारित्रमोह को पूर्णतया पराजित करने के बाद अपूर्वकरणभाव की भूमिका सहज प्राप्त हो जाने पर वहाँ से क्षपकश्रेणी की परिणामधारा पर क्रमशः चढ़ते-चढ़ते आत्मा को अपने अनन्त चतुष्टयरूप शुद्ध स्वभाव के एकनिष्ठ चिन्तन की लोकोत्तर शान्ति मिलती है।

आशय यह है–मिथ्यात्व से लेकर कषाय तक से उत्तरोत्तर सर्वथा निवृत्त हुए बिना आत्मा से कर्मों के आत्यन्तिक वियोग की सम्भावना नहीं है और कर्मों के आत्यन्तिक वियोग के बिना स्वरूप (स्वभाव) स्थिति का चन्द्र सोलह कलाओं से खिल नहीं सकता। अपूर्वकरण की सिद्धि चारित्रमोह को पूर्णतया पराजित करने के बाद मिलती है। अपूर्वकरण का सीधा अर्थ तो होता है–जिसे पहले कभी न देखा हो, साक्षात्कार न किया हो, ऐसे मूर्त्तरूप सक्रियभाव का दिखाई देना। कर्मविज्ञान की भाषा में इसका गूढ़ फलितार्थ है–स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अन्य स्थितिबन्ध; इन पाँचों की पहली बात निष्पत्ति (प्राप्ति) वाली जीव

की दशा। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से वह शुक्लध्यान के द्वितीय पाद-पृथक्त्व-विचाररहित यानी एकत्ववितर्कविचार में पहुँच जाता है।

वस्तुतः आठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान में पहुँचने से पहले तक की सभी भूमिकाएँ आशा-निराशा के झूले-जैसी हैं, इसीलिए तो इन गुणस्थानों का स्पर्श एक ही जन्म (भवशरीर) में एक मुहूर्त्त के अंदर-अंदर (अन्तर्मुहूर्त्त में) अनेक बार हो जाता है। इस दौरान एक ओर से उच्चता का आकर्षण आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से कारणों से एकदम जोरों से खींचता है, तो दूसरी ओर से अध्यासों का प्रभाव उसे अपनी ओर जकड़कर रखता है। जिस (क्षपकश्रेणी) साधक ने आमूलाग्र-शुद्धि हस्तगत कर ली है, वह अवश्य ही इन अध्यासों के जाल से अपनी तीव्र शक्ति के बल पर बचकर उत्तरोत्तर ऊर्ध्वारोहण कर चार घातिकर्मों को समूल नष्ट करने की परिपाटी के पथ पर पहुँच जाता है और अनन्त शुद्ध स्वभाव के अविच्छिन्न धाराप्रवाही चिन्तन का आनन्द लूटता है। परन्तु जिस (उपशमश्रेणी के) साधक की चारित्र-शुद्धि के मूल में ही भूल होती है, उसकी मौलिक अशुद्धि पर भावनाओं का महल एक बार खड़ा होता दिखता है, साधक इस भ्रम में रहता है कि मेरा मोह बिलकुल निर्बल और क्षीणप्राय हो गया है, किन्तु वह शुद्ध स्वभाव का महल स्थायी नहीं रह पाता। मौलिक अशुद्धि रहने का कारण है-प्रबल सत्ता, प्रबल सामर्थ्य, प्रबल कालस्थिति और प्रबल रस-संवेदन वाला मोहराज। वह अभी उपशान्त है, क्षीण नहीं हुआ है। अप्रमत्तता का दौर खोई हुई इस उपशान्तमोही आत्मा का एक बार तो अवश्य ही पतन होता है।

दर्शनमोह का सागर पार करने के बाद चारित्रमोहरूपी स्वयम्भूरमण समुद्र भी क्षीणमोही साधक ने पार कर लिया। इसके मंथन से वीतरागता (समता की पराकाष्ठा) सुधा प्राप्त हो गई। यानी अन्तिम समय (अन्तर्मुहूर्त्त परिमित समय) में वीतरागता की पराकाष्ठा पाकर केवलज्ञान (आत्मा के पूर्ण ज्ञान) के खजाने का साक्षात्कार करके, ऐसी तीव्र भावना और तदनुरूप उपलब्धि इस गुणस्थान में होती है।

जैसे मूल के सूख जाने पर वृक्ष के पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती, वैसे ही मोहकर्म के जड़मूल से नष्ट हो जाने पर भविष्य में भववृक्ष के उगने की सम्भावना नहीं रहती, यानी आत्म-प्रभुता के गाढ़ आलिंगन से वंचित रखने वाले, आत्म-गुणों के आवारक या घातक चार घनघातिकर्मों से छुटकारा इस गुणस्थान में मिल जाता है तथा जन्म-मरणादिरूप संसार का बीज सदा के लिए विनष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में सर्वभावों का ज्ञाता-द्रष्टा बनकर पूर्ण शुद्धि के साथ अविच्छिन्नरूप में रहता है। वीतरागता की पराकाष्ठा सिद्ध होते ही आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तराय दूर हो जाता है। आवृत परम प्रकाशनिधि अनावृत हो जाती है। फलतः अनन्त प्रकाश और अनन्त वीर्य से देदीप्यमान प्रभुता इस भूमिका में प्राप्त हो जाती है।

चौदहवाँ सोपान : आत्म-विशुद्धिपूर्वक अनन्त ज्ञान-दर्शन तथा आयुष्यपूर्ण तक चार अघातिकर्म–आत्मा पूर्णरूप से विशुद्ध हुए बिना पूर्ण आत्म-विज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा त्रिकालदर्शी परम आत्मा एक साथ विश्व का विराट् ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसका जानना-देखना और अनुभव करना ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एकरूप हैं। इनकी वे क्रियाएँ इन्द्रियजन्य नहीं हैं, इसलिए क्षेत्र और काल का व्यवहार भी उनके त्रिकालज्ञ के लिए बाधक नहीं है। ऐसे जीवन्मुक्त वीतराग अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न पुरुष को कृतकृत्यता, प्रभुता, अनन्त वीर्यता और अनन्त (ज्ञान-दर्शन) प्रकाश उपलब्ध हो जाते हैं। साधक को पूर्णता प्राप्त हो जाने पर कुछ करना-धरना नहीं होता, क्योंकि उनके करने का कुछ भी विकल्प शेष नहीं रहता। इस भूमिका में पूर्ण परमात्मस्वरूप प्रभु के साथ एकत्व का अनुभव हो जाता है। यह तेरहवें गुणस्थान की भूमिका है।

इस भूमिका में चार घातिकर्म नष्ट हो जाने पर शेष चार अघातिकर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) शेष रहते हैं। जैसे हाथ पर बँधा रस्सा खुल जाने पर उसकी कोई पीड़ा नहीं होती है, वैसे ही मोहनीयादि चार घातिकर्म का बन्धन छूटने के बाद शेष रहे चार अघातिकर्मों से आत्मा पीड़ित नहीं होती। अर्थात् ये वेदनीयादि चार कर्म भी, जैसे रस्सी जलकर खाक हो जाने पर भी उसकी आकृति बनी रहती है, वैसे ही आकृति रूप में रहते हैं और उस भवशरीर का जितना आयुष्य होता है, उतना पूर्ण करने के लिए

उतने काल तक टिका रहता है। आयुष्यकर्म का सर्वथा क्षय होते ही पुनः शरीर प्राप्त करने की योग्यता सदा के लिए मिट जाती है। अर्थात् अपुनर्जन्म-स्थिति स्वतः सिद्ध हो जाती है।

शेष रहे चार अघातिकर्मों का सम्बन्ध मुख्यतया देह के साथ और परम्परा से जीव के साथ है। चार अघातिकर्मों के टिके रहने से जीवन्मुक्त वीतराग प्रभु को कुछ विशिष्ट लाभ भी है–(१) आत्मा को मुक्ति या सिद्धि के शिखर पर रज्जुवत् जलकर भस्म हुए उक्त चारों अघातिकर्म ही पहुँचाते हैं। आत्मा को जो ऊर्ध्वगति की रफ्तार प्राप्त होती है, वह अपने पूर्व शरीर-गत प्रवाह में से ही प्राप्त होती है। (२) रस्सी जल जाने पर उसकी राख बन्धन में कदापि नहीं बाँध सकती; वैसे ही केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् साधक को ये अवशिष्ट चार कर्म बन्धन में नहीं बाँध सकते। (३) पहले जो आयुकर्म देह-मूर्छाकारक था, वही अब जगत् पावनकारी, कल्याणकारी, शुद्ध धर्ममार्गदर्शक तथा लोकोपकारकता में निमित्त बनता है। नामकर्म और गोत्रकर्म, जो केवलज्ञान से पूर्व देहभान, देहाध्यास और देहाभिमान का पोषण करने में निमित्त थे, वे अब आत्मभानकारक और प्रभुतादर्शक बनते हैं, लोकोपकारी कार्य में निमित्त बनते हैं। वेदनीय कर्म में पहले जहाँ निजानन्दस्वरूप आत्मा को सांसारिक सुख-दुःख का भावावेशपूर्वक बार-बार वेदन होता था, जिससे भेदविज्ञान परिपक्व न होने से कष्टों की अनुभूति व देहासक्ति के कारण अशान्ति महसूस होती थी। अब वहाँ सिर्फ समभाव का वेदन होता है, जो बन्धकारक नहीं है। कर्मबन्ध के आपेक्षिक कारण न रहने पर इन चार अघातिकर्मों के बन्धन भी एक तरह से मुक्ति के कारण (साधन) बन जाते हैं। ये चारों भवोपग्राही अघातिकर्मावरण बाधक के बदले साधक और सहायक बन जाते हैं।

पन्द्रहवाँ सोपान : सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध होने की स्थिति, गति और प्रक्रिया–तेरहवें गुणस्थान में साधक की स्थिति 'देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत' जैसी हो जाती है। आयुष्य पूर्ण हो जाने पर पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता। ऐसी फिर १४वें गुणस्थान में परम संसिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त महान् आत्माओं को परमात्म-पद प्राप्त हो जाने पर पुनः विनश्वर और दुःखों के धामरूप संसार के जन्म-मरण के चक्र में फिर जुड़ना नहीं पड़ता। फिर तो (१४वें गुणस्थान में) सकल कर्मों का सर्वथा विच्छेद होने पर फिर बन्ध बिलकुल नहीं होता और भवभ्रमण का अन्त होकर मोक्ष का पथ खुल जाता है। यानी आयुष्य पूर्ण होते ही आयुष्य कर्म के साथ शेष तीनों अघातिकर्म (वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म) तथा वह शरीर भी सिर्फ अन्तर्मुहूर्तभर समय में सदा के लिए छूट जाता है। वह अयोगीकेवली नामक १४वें गुणस्थान की भूमिका में आ जाता है। उस समय उन महापुरुषों का उपयोग शुक्लध्यान के तृतीय पाद पर केन्द्रित होता है। उस समय (सिद्धधाम जाने की बेला) में मन, वचन, काया और कर्म की छोटी-बड़ी तमाम सजातीय सामग्री (वर्गणा) छूट जाने से पुद्गल स्कन्धों के साथ लगाव सर्वथा छूट जाता है। यानी जड़ (पुद्गल) और चेतन दोनों अपने-अपने असली रूप में आ जाते हैं। अतः १४वें गुणस्थान की स्थिति बिलकुल स्वतंत्र, शुद्ध चैतन्यात्मक, जड़-चेतन-संयोग से सर्वथा रहित लोकोत्तर महाभाग्योदययुक्त अव्याबाध-सुखदायिनी तथा पूर्णतया अबन्धक हो जाती है। वह अयोगीकेवली आत्मा शैलेशी अवस्था में पहुँच जाती है। अब तो इस गुणस्थानवर्ती महापुरुष (परमात्मा) के पुद्गल के एक भी परमाणु का स्पर्श करना बाकी नहीं रहता। यानी आत्मा किसी मिलावट या दाग से रहित पूर्ण शुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, बेजोड़, अगुरुलघु–अमूर्तस्वरूप एवं अपने सहज परमात्म-पद पर अचल स्थिरता प्राप्त कर लेता है। अब आत्मा अपने शुद्ध आत्मत्व की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है। अतः वह आत्मा 'अ इ उ ऋ लृ' इन ५ ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में निष्कम्प हो जाती है। संसार और सिद्धिस्थान; इन दोनों दशाओं के बीच की इस स्थिति में शुक्लध्यान का 'समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति' नामक चतुर्थ पाद होता है। इसमें आत्मा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार की शाश्वत स्वभावदशा प्राप्त होने पर स्वधाम में जाने के लिए आत्मा का प्रस्थान समश्रेणीपूर्वक होता है। इस भूमिका में आत्मा अक्रिय और निष्कम्प बनकर, कर्मों से सर्वथा छुटकारा हो जाने के बाद, उनके द्वारा आये हुए पूर्व वेग के कारण शरीर छूटते ही फौरन धनुष में से छूटे हुए तीर की तरह अपने स्वाभाविक रूप के अनुसार सीधा अपने शाश्वत धाम की ओर ऊँचा उड़कर है और वहाँ पहुँच जाता है। यानी सिद्धिस्थान को प्राप्त कर लेता है, जहाँ अनन्त समाधिसुख में अनन्त ज्ञानदर्शन सहित

आत्मा सदा सर्वदा सर्वथा स्थिर हो जाती है। जिसकी आदि तो है, अन्त नहीं है। यानी सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त आत्मा यहाँ से शरीर छूटते ही लोकाग्रस्थित सिद्धशिला में जाकर स्थिर हो जाती है। उसके स्वरूप तथा विशेषताओं का सारा वर्णन आगे किया जायेगा।

मोक्ष की अवश्यम्भाविता का मूल : केवलज्ञान : क्या और कैसे-कैसे ?

मोक्ष-प्राप्ति का मूल : क्या और क्यों ? : यह विचार करना जरूरी

संसार में जितने भी आत्मार्थी और आध्यात्मिक साधक हैं, सभी का चरम लक्ष्य मोक्ष है। जितनी भी आध्यात्मिक साधनाएँ हैं, सभी का अभीष्ट प्रयोजन सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त करना है। उन आध्यात्मिक साधकों ने विभिन्न प्रकार से, विभिन्न उपायों से मोक्ष के उपाय भी बताये हैं। मूल प्रश्न यह है कि जैन-कर्मविज्ञान मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसको अवश्यम्भावी मूलाधार मानता है ? इसी सम्बन्ध में शास्त्रों और ग्रन्थों के आधार पर इस निबन्ध में विवेचन किया गया है, उस पर प्रत्येक मुमुक्षु को विचार करना आवश्यक है।

केवलज्ञान न होने पर मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं है

भगवतीसूत्र के आधार पर इसका समाधान यह है कि जब भी किसी जीव को मोक्ष प्राप्त होगा, तब केवलज्ञान-केवलदर्शन होने पर ही होगा, पहले नहीं। जो भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-परिनिर्वाण प्राप्त हुए हैं या जिन-जिन ने समस्त दुःखों, कर्मों या जन्म-मरणों का अन्त किया है या करेंगे अथवा करते हैं, वे सब केवलज्ञान-केवलदर्शनधारी, जिन, अर्हन्त या (मोहनीय प्रमुख चार घातिकर्मों का क्षय करके) केवली होने के पश्चात् ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आदि हुए हैं, होते हैं, होंगे। कोई भी छद्मस्थ मानव अनन्त अतीत में केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से या केवल अष्ट-प्रवचन-माता के पालन से ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त तथा कर्मों का, जन्म-मरण का, या दुःखों का अन्त नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही उच्च या दीर्घकालिक संयमी हो, परिमित या परम अवधिज्ञानी हो, ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचा हुआ हो, चाहे उसी भव में मोक्ष जाने वाला हो, चरमशरीरी भी हो, किन्तु मोक्ष पाता है केवलज्ञान-दर्शन पाकर ही।

छद्मस्थ और केवली में अन्तर

छद्मस्थ (जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है) और केवली में दस बातों का अन्तर बताते हुए कहा गया है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, शरीरमुक्त जीव, परमाणु-पुद्गल, शब्द, गन्ध, वायु तथा यह 'जिन' होगा या नहीं? एवं यह सभी दुःखों का अन्त करेगा या नहीं? इन दस पदार्थों को छद्मस्थ समग्ररूप से नहीं जान-देख पाता, जबकि केवलज्ञानी इन्हें समग्ररूप से जान-देख पाते हैं। यह भी बताया गया है—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानी इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते, क्योंकि उनका ज्ञान, दर्शन पूर्णतया निरावरण, निराबाध, अप्रतिहत और आत्म-प्रत्यक्ष होता है।

केवली में दस अनुत्तरगत विशेषताएँ

स्थानांगसूत्र में केवलज्ञानी परमात्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, क्षान्ति (क्षमा), मुक्ति (निर्लोभता), आर्जव, मार्दव और लाघव; ये दस बातें अनुत्तर होती हैं, उनकी समानता संसार का कोई भी छद्मस्थ नहीं कर सकता।

केवली का पाँच कारणों से केवलज्ञान-दर्शन नहीं रुकता तथा अन्य पाँच विशेषताएँ

इसी प्रकार स्थानांगसूत्र में यह भी बताया है कि पाँच कारणों से केवली को उत्पन्न होता हुआ केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राथमिक क्षणों में स्तम्भित नहीं होता; जबकि छद्मस्थ साधक इन कारणों के उपस्थित होने पर विस्मित, विचलित और (लक्ष्य से) विस्मृत हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाँच कारणों से केवली उदयागत परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचलभाव से सहते हैं, क्षान्ति रखते हैं, तितिक्षा रखते हैं, उनसे प्रभावित नहीं होते।

छद्मस्थ और केवली के चारित्रमोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, इन चार घातिकर्मों के उदय-अनुदय (क्षय) को लेकर अन्य कुछ लक्षणों में अन्तर है।

केवली और छद्मस्थ के जानने-देखने में विशेष अन्तर

इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्रानुसार अन्तकर, अन्तिम शरीरी, चरमकर्म तथा चरमनिर्जरा को केवली पारमार्थिक (अतीन्द्रिय) प्रत्यक्ष से जान-देख पाते हैं, जबकि छद्मस्थ मानव केवली की तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से इन्हें नहीं जान-देख पाता, किन्तु किसी केवली या केवली के श्रावक-श्राविका या उपासक-उपासिका से अथवा केवलीपाक्षिक (स्वयंबुद्ध) से, या उनके श्रावक-श्राविका या उपासक-उपासिका आदि में से किसी भी एक से सुनकर अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों द्वारा जान-देख सकता है। आगमों और ग्रन्थों में केवलज्ञानी होने के विविध प्रकार पाये जाते हैं। उन पर से हम केवली के निम्नोक्त १८ प्रकार निश्चित कर सकते हैं-(१) सयोगीकेवली, (२) अयोगीकेवली, (३) अन्तकृत्केवली, (४) प्रथमसमयकेवली, (५) अप्रथमसमयकेवली, (६) स्वयंबुद्धकेवली, (७) प्रत्येकबुद्धकेवली, (८) बुद्धबोधितकेवली, (९) चरमशरीरीकेवली, (१०) स्नातकनिर्ग्रन्थकेवली, (११) केवली-समुद्घातकर्त्ताकेवली, (१२) केवली-समुद्घातअकर्त्ताकेवली, (१३) क्षीणमोहीकेवली, (१४) गृहस्थावस्था में हुए केवली, (१५) क्षीणभोगीकेवली, (१६) तीर्थंकरकेवली, (१७) भवस्थकेवली, और (१८) सिद्धकेवली।

भवस्थकेवली और सिद्धकेवली में अन्तर

भवस्थकेवली को हम सामान्यकेवली कह सकते हैं, जो अभी चार अघातिकर्मों से युक्त हैं, जबकि सिद्धकेवली ने घाति-अघाति आठों ही कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है। इन दोनों में कुछ अन्य बातों में समानता और कुछ बातों में असमानता भी है। जैसे कि भवस्थकेवली और सिद्धकेवली दोनों ही छद्मस्थ को तथा अवधिज्ञानी, परम अवधिज्ञानी, समस्त केवलज्ञानियों को तथा समस्त केवलीसिद्धों को जानते-देखते हैं तथा क्या वे बोलते हैं? आँखें खोलते-मूँदते हैं? शरीर का आकुंचन-प्रसारण करते हैं? तथा खड़े होते, स्थिर रहते, बैठते, निवास करते या अल्पकालिक निवास करते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है-सिद्धकेवली ये सब क्रियाएँ अशरीरी होने तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार-पराक्रम से रहित होने से नहीं करते; जबकि भवस्थकेवली सशरीरी होने से ये सब क्रियाएँ करते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्यकेवली या प्रथमसमयकेवली चार घातिकर्मों का तो क्षय कर चुके हैं, किन्तु उनके चार अघातिकर्म अभी क्षीण नहीं हुए, उनका पूर्णतया वेदन करना (भोगना) नहीं हुआ; जबकि सिद्धकेवली आठों ही कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुके हैं। सामान्यकेवली अनन्त ज्ञानादि से परिपूर्ण तथा कृतकृत्य होते हुए भी कई केवली वेदनीयादि तीन अघातिकर्मों को बन्धन और स्थिति दोनों से आयुकर्म के बराबर करने हेतु केवलीसमुद्घात करते हैं और जिनके ये चार कर्म आयुष्यकर्म के बराबर होते हैं, उन्हें केवलीसमुद्घात करने की जरूरत नहीं पड़ती और सिद्धों को तो समुद्घात करने की कतई जरूरत नहीं पड़ती; क्योंकि उन्होंने आठों ही कर्मों को भोगकर क्षय कर दिये हैं। सिद्ध अशरीरी, सघन आत्म-प्रदेशों वाले, कृतार्थ, नीरज, निष्कल्प, पूर्ण विशुद्ध आदि होते हैं, जबकि सामान्यकेवली या तीर्थंकरकेवली तक में ये विशेषण घटित नहीं होते।

अन्तकृत्केवली और सामान्यकेवली में अन्तर

अन्तकृत्केवली और सामान्यकेवली दोनों ही उसी भव में जन्म-मरण का, कर्मों का तथा समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं, दोनों उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं। किन्तु सामान्यकेवली और अन्तकृत्केवली में अन्तर यह है कि सामान्यकेवली केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उनका आयुष्य लम्बा हो तो तुरन्त जन्म-मरण का, सर्वकर्मों का या सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर पाते, जबकि अन्तकृत्केवली केवलज्ञान के बाद तुरन्त ही इन सब का अन्त कर डालते हैं। अन्तकृद्दशासूत्र में जिन ९० महान् आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने केवलज्ञान होने के बाद तुरन्त ही इन सब का अन्त कर डाला था।

क्षीणभोगी होने पर ही केवलज्ञानादि की उपलब्धि 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में चरमशरीरी की पहचान के लिए उसे प्राप्त १७ बातों का वर्णन है। कोई भी साधक उत्कट तप से या रोगादि से शरीर क्षीण और अशक्त

होने पर भी मन और वचन से भोगों को भोगने में समर्थ होने से तब तक क्षीणभोगी नहीं कहा जा सकता, जब तक मन, वचन, काया से स्वाधीन या अस्वाधीन समस्त भोगों का परित्याग न कर दे। अतः भगवतीसूत्रानुसार अधोऽवधिक एवं परमावधिज्ञानी चरमशरीरी या केवली चरमशरीरी को केवलज्ञानादि की उपलब्धि पूर्वोक्त प्रकार से क्षीणभोगी होने पर ही हो सकती है।

प्रत्येकबुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधितकेवली का स्वरूप

प्रत्येकबुद्धकेवली किसी एक वस्तु को देखकर उस पर अनुप्रेक्षण करते-करते प्रतिबुद्ध होते हैं और दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। नमिराजर्षि, द्विमुखराय, नग्गति राजा, करकण्डू आदि प्रत्येकबुद्धकेवली हुए हैं। स्वयंबुद्धकेवली हुए हैं–अनाथी मुनि, समुद्रपालित तथा कपिलकेवली आदि। बुद्धबोधितकेवली वे होते हैं, जो किसी ज्ञानी आचार्य का स्वयंबुद्ध आदि द्वारा प्रतिबुद्ध होकर रत्नत्रय की साधना करके केवली होते हैं। हरिकेशबल मुनि इसके उदाहरण हैं। ये तीनों ही केवली महासत्त्वशाली होते हैं। वे प्रायः एकाकी विचरण करते हैं। बड़े-से-बड़े परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहते हैं।

तीर्थंकरकेवली की कुछ विशेषताएँ

तीर्थंकरकेवली या प्रत्येकबुद्धकेवली, सामान्यकेवली आदि में केवलज्ञान की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है। किन्तु तीर्थंकरकेवली की यह विशेषता है कि पहले उनके तीर्थंकर नामगोत्र कर्म बँध जाता है। अगर उनके द्वारा पहले ही नारकों या देवों में उत्पन्न होने का निकाचित बन्ध हो गया हो तो उन्हें उस गति में अवश्य जाना पड़ता है। तीर्थंकरकेवली में अन्य विशेषताएँ भी होती हैं। तीर्थंकर नामगोत्र कर्म बाँधने के २० बोल (या दिगम्बर-परम्परानुसार १६ कारण भावनाएँ) हैं, उनमें से एक, अनेक या सभी बोलों की विशुद्धभावपूर्वक आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म बाँधते हैं। यह कर्म बाँधते ही उदय में नहीं आता। किन्तु यह निश्चित हो जाता है कि तीर्थंकरभव में वे अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करके बाद में उस भव की आयु पूर्ण करके ४ अघातिकर्मों का क्षय करके पूर्ण विदेहमुक्त सिद्ध होंगे। तीर्थंकरभव में केवलज्ञान प्राप्त होने पर उनको ३४ अतिशय तथा वाणी के ३५ अतिशय प्राप्त होते हैं। वे चतुर्विध धर्मसंघ (तीर्थ) की स्थापना करते हैं। अरिहन्त तीर्थंकर १८ दोषों से रहित तथा १२ गुणों से युक्त होते हैं। सामान्यकेवली में ये अर्हताएँ या विशेषताएँ नहीं होतीं।

वर्तमान में तीर्थंकर कहाँ और भविष्य में कौन तीर्थंकर होंगे ?

वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में विहरमान २० तीर्थंकर हैं। भगवान महावीर के संघ में तीर्थंकर नामगोत्र कर्म बाँधने वाले ९ व्यक्ति हुए हैं–(१) मगध-नरेश श्रेणिक राजा, (२) कोणिक-पुत्र उदायी नृप, (३) (भगवान महावीर के गृहस्थपक्षीय) सुपार्श्व, (४) पोट्टिल अनगार, (५) दृढ़ायु, (६) शंख श्रावक, (७) पोक्खली श्रावक, (८) सुलसा श्राविका, (९) रेवती गाथापत्नी, तीर्थंकरकेवली होने के बाद इनका मोक्ष निश्चित है।

स्नातक निर्ग्रन्थ क्षीणमोही होने से अवश्य केवली होता है

पुलाक से लेकर स्नातक तक ५ प्रकार के निर्ग्रन्थों में 'स्नातक' में यथाख्यातचारित्र होता है तथा पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थों तक सयोगी होते हैं, किन्तु स्नातक सयोगी भी होता है, अयोगी भी। क्षीणकषायी (क्षीणमोही) निर्ग्रन्थों तथा स्नातकों को अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवली हो जाने के बाद उनका मोक्ष भी निश्चित है ही।

गृहस्थ-वेश में भी केवली और सिद्ध-मुक्त होते हैं

गृहस्थ भी जब 'गृहलिंग सिद्धा' के अनुसार सिद्ध-मुक्त हो सकते हैं, तो गृहस्थ-वेश में केवली क्यों नहीं हो सकते? मरुदेवी माता गृहस्थ-वेश में ही मोहकर्म को क्षय करने के साथ ही शेष तीन घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हुई, शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं। भरतचक्री को शीशमहल में खड़े-खड़े गृहस्थ-वेश में मोहकर्म का सर्वथा क्षय होते ही शेष तीन घातिकर्मों का क्षय हो जाने

से केवलज्ञान हो गया था, तत्पश्चात् वे सिद्ध-मुक्त हुए। 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि राजा भरत के ८३ उत्तराधिकारी पुरुषयुग राजा गृहस्थ-वेश में ही केवली होकर सिद्ध-मुक्त हुए हैं।

अन्य वेशधारी भी केवली और सिद्ध हो सकते हैं

सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के जो १५ प्रकार बताए गए हैं, उनमें से एक है–अन्यलिंगसिद्धा। जैन-वेश के सिवाय अन्य परिव्राजक आदि के वेश में भी सिद्ध (मुक्त) हो सकते हैं, तब उनका केवली होना अनिवार्य है। शिवराजर्षि ने पहले विशाप्रोक्षक तापस दीक्षा लेकर विभंगज्ञान प्राप्त किया; किन्तु शंकाकांक्षादिवश नष्ट हो जाने से भगवान महावीर से यथार्थ समाधान पाकर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ली, साधना करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। पुद्गल परिव्राजक भी इसी प्रकार केवलज्ञानी और सिद्ध हुए।

असोच्चाकेवली और सोच्चाकेवली का वर्णन

भगवतीसूत्र में असोच्चाकेवली और सोच्चाकेवली का वर्णन है। जो केवली, केवलीपाक्षिक (स्वयंबुद्ध) तथा इन दोनों के श्रावक-श्राविका या उपासक-उपासिका, इनमें से किसी से बिना सुने ही केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक ११ प्रश्नों का 'हाँ' में उत्तर दिया है, किन्तु इन सब की प्राप्ति के पीछे एक ही विशिष्ट शर्त रखी है कि जिस-जिस को जो उपलब्धि होती है, उसके तदावरणीय (उससे सम्बन्धित कर्मावरण) का क्षयोपशम या क्षय होना अनिवार्य है।

असोच्चाकेवली वही हो सकता है, जिसने केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षय किया है। साथ ही असोच्चाकेवली में क्या-क्या अर्हताएँ होनी चाहिए? इसका भी वहाँ विस्तृत वर्णन है। आगे असोच्चाकेवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या-प्रदान, सर्वकर्ममुक्ति, निवास तथा उनकी संख्या के विषय में भी विशद वर्णन है।

सोच्चाकेवली भी केवली, केवलीपाक्षिक आदि से सुनकर धर्म-श्रवण से लेकर केवलज्ञान तक की प्राप्ति कर सकता है, शर्तें वही हैं जो असोच्चाकेवली के सम्बन्ध में बताई थीं। सोच्चाकेवली उपदेश, प्रव्रज्या-प्रदान आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का भी वहाँ समुचित समाधान दिया गया है।

केवलज्ञान : स्वरूप और उसकी प्राप्ति के मुख्य और अवान्तर कारण

केवलज्ञान पूर्ण मोक्ष का मूलाधार है, इसके बिना सर्वकर्ममुक्ति का द्वार खुल नहीं सकता। केवलज्ञान वह है, जहाँ सिर्फ निखालिस ज्ञान ही ज्ञान हो, ज्ञान के साथ किसी प्रकार के विभावों-विकारों की मिलावट न हो। जो अकेला हो, निरालम्ब हो, जिसे किसी दूसरे पदार्थ, इन्द्रिय या अन्य ज्ञान की सहायता की अपेक्षा न हो, साथ ही जो परिपूर्ण ज्ञान हो तथा जो तीनों कालों और तीनों लोकों के समस्त द्रव्यों और पर्यायों को जानता हो, जिससे कुछ भी छिपा (प्रच्छन्न) न हो, जिसके होने पर द्रव्य और भाव अन्धकार न रहे, जिस पर किसी प्रकार का आवरण न रहे, उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलदर्शन भी केवलज्ञान का निराकाररूप है। जैसे सूर्य में आतप और प्रकाश दोनों साथ-साथ रहते हैं, वैसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों साथ-साथ रहते हैं। सर्वप्रथम मोहकर्म के क्षय होने के पश्चात् शेष ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय तीनों घातिकर्मों का एक साथ क्षय हो जाना केवलज्ञान है। जिनका मोहकर्म पूर्णतया क्षीण हो चुका है, ऐसे क्षीणमोही अर्हन्त के इसके पश्चात् शेष तीनों कर्मों के अंश का एक साथ क्षय हो जाता है। उत्तराध्ययन में इसी को भेद-प्रभेद सहित बताया है–मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ और अन्तराय की पाँच; यों ४७ प्रकृतियों का समूल क्षय हो जाने पर केवलज्ञान प्रगट होता है। राग, द्वेष, कषाय और मिथ्यात्व, ये चारों मोहकर्म के बीज-स्रोत हैं। अतः राग या कषाय, चाहे प्रशस्त भी हों, उनका थोड़ा-सा भी अंश केवलज्ञान-प्राप्ति में बाधक है। गणधर गौतम स्वामी को भगवान महावीर के प्रति प्रशस्तराग भी जब तक दूर नहीं हुआ, तब तक केवलज्ञान नहीं हुआ।

दीर्घकालिक साधकों को चिरकाल से और अल्पकालिक साधकों को अल्पकाल में ही केवलज्ञान क्यों ?

रूपासक्त इलायचीकुमार, क्षुधा-असहिष्णु कूरगडूक मुनि, मन्दबुद्धि माषतुष, चारित्रभ्रष्ट अरणक मुनि, मानव हत्या से रत अर्जुन मुनि, मानव हत्यारत किन्तु विरक्त दृढ़ प्रहारी, सामायिकव्रती केसरी चोर,

चण्डरुद्राचार्य के नवदीक्षित शिष्य तथा उनके गुरु को तथा मृगावती साध्वी तथा उनके निमित्त से चंदनबाला आर्या जी को किन-किन कारणों से अल्पकालीन साधना से ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था? अर्थात् इनमें से कतिपय साधकों को, जो अपने पूर्व-जीवन में हिंसादि-परायण, विलासी, मन्द बुद्धि, चारित्रभ्रष्ट, क्रोधी या क्रोधी आदि रहे हैं, दीक्षा लेने के साथ ही या दीक्षा न लेने पर भी झटपट केवलज्ञान कैसे प्राप्त हो गया? इसके विपरीत गौतम स्वामी जैसे सर्वाक्षर-सन्निपाती, चार ज्ञान के धारक भगवान महावीर के पट्टशिष्य को केवलज्ञान-प्राप्ति में इतना दीर्घकाल कैसे लगा?

इसका एक समाधान तो पहले दिया जा चुका है। इसी से सम्बन्धित दूसरा समाधान यह है कि जिस व्यक्ति का राग-द्वेष-मोह-कषायादि सर्वथा क्षीण हो जायेगा, वह व्यक्ति पूर्व जीवन में चाहे जैसा भी रहा हो, वर्तमान में स्वभाव में रमण के कारण मोहादि चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय होते ही उसे केवलज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान जाति-पाँति, धर्म-सम्प्रदाय, वेशभूषा, भाषा, राष्ट्र, प्रान्त आदि नहीं देखता। वह देखता है–कषायों का सर्वथा क्षय तथा राग, द्वेष, मोह की सर्वथा क्षीणता। केवलज्ञान प्राप्त होने के विचित्र और विभिन्न उपाय हैं। यही कारण है कि विभिन्न साधकों ने भिन्न-भिन्न उपायों से–मार्गों से सावधानीपूर्वक चलकर उसे प्राप्त किया और प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु वह प्राप्त होता है–आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चार गुणों की इन शक्तियों को स्व-पुरुषार्थ द्वारा प्रकट करने से। सूत्रकृतांग निर्युक्ति के अनुसार–"पापी और नरकगतिगमन-सम्भावना वाला भी वीतराग के उपदेश को क्रियान्वित करके उसी भव में सिद्ध-मुक्त हो जाता है।" इसलिए मोक्ष-प्राप्ति की अवश्यम्भाविता का मूलाधार केवलज्ञान है, जिसके प्रगट हुए बिना सर्वकर्मक्षयरूप पूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता।

अरिहंत : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय

चार घातिकर्मों का क्षय करने से वीतरागता, अर्हन्तता प्राप्त होती है, यह आप्तपुरुषों से तथा उनके द्वारा रचित-कथित आगमों तथा ग्रन्थों से जानने-सुनने के पश्चात् मुमुक्षु आत्मार्थी के मन में श्रद्धा तो उत्पन्न होती है; किन्तु प्रतीति तभी होती है, जब अपने समक्ष या तो घातिकर्म चतुष्टय का क्षय किये हुए वीतराग महान् आत्माओं को आदर्श के रूप में देखता है या फिर इन उच्चकोटि के साधकों (महाव्रतियों) से सुनता है या ग्रन्थों में पढ़ता है। उनकी उपलब्धियों के विषय में पढ़कर या जान-सुनकर उसे यह प्रतीति हो जाती है कि चार घातिकर्मों का क्षय करने की बात मनगढ़ंत नहीं है। मेरे समक्ष जीते-जागते अरिहंत मौजूद हैं या उनके पथ पर चलने वाले अरिहंत-पद के आराधक विद्यमान हैं। मैं भी चाहूँ और पुरुषार्थ करूँ तो केवलज्ञानी अरिहंत बन सकता हूँ। दूसरी बात–अरिहंत की आवश्यकता इसलिए भी है कि आराधक मुमुक्षु जिस आराधक को या वीतरागता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उस आदर्श का कोई प्रतीक अपने समक्ष हो तो उसे शीघ्र ही प्रतीति हो जाती है, फिर भले ही साध्य तक पहुँचने का मार्ग कठोर हो, सुख-सुविधारहित, अनेक परीषहों, उपसर्गों की उसमें सम्भावना हो, उसकी रुचि, स्पर्शना, पालना और अनुपालना उस साध्य या आराध्य के प्रति हो जाती है। तीसरी बात–इसलिए भी अरिहंत की आवश्यकता है कि इससे उसे यह प्रेरणा मिलती है कि वह मुमुक्षु भी अपने में सोये हुए, छिपे हुए अरिहंतत्व को जगाए। निश्चयदृष्टि से आराधक में आराध्य के सभी गुण मौजूद हैं, पर हैं वे सुषुप्त, आवृत और कुण्ठित।

निश्चयदृष्टि से शुद्ध रूप से आत्मा ज्ञानादि से प्रकाशमान है, किन्तु आत्म-प्रदेशों पर विभिन्न कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है, उसे दूर करने के लिए उन घातिकर्मरहित वीतराग शुद्ध आत्माओं (अरिहंत देवों) को आदर्श मानकर उनका तीव्रतापूर्वक ध्यान, स्मरण, गुणगान, भक्ति-स्तुति या उपासना-आराधना करने से साधारण आत्मा से वह व्यक्ति अरिहंत परमात्मा बन सकता है।

अरिहंत : प्रेरणा दीप, महान् आलम्बन

अरिहंत देव की मूक प्रेरणा भी अपने आपको जानने, पहचानने, अपने अंदर सत्य (छिपे हुए शुद्ध रूप) को स्वयं ढूँढ़ने तथा आध्यात्मिक वैभव, सम्पदा और शक्ति को ढूँढ़ने, सम्प्रेक्षण करने की; तुम भी मेरी तरह अरिहंत बन सकते हो। अपने सम्बन्ध में विस्मृति को हटाकर। अतः परम आराध्य अरिहंत के स्वरूप का चिन्तन, स्मरण, ध्यान करने तथा उनकी गुणात्मक स्तुति करने से व्यक्ति अरिहंत-पद को प्राप्त कर सकता है।

मुमुक्षुसाधक सर्वकर्ममुक्ति के उपायों को खोजता है, तब मोक्ष की परिभाषा को जानने तथा अपनी आत्मा में भी मुक्तात्माओं जैसे अनन्त गुण निहित हैं, ऐसा पढ़ने-सुनने से ज्ञान तो होता है, परन्तु वह अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं। कर्ममुक्ति का सक्रिय ज्ञान = अनुभव-सम्पृक्त ज्ञान या वास्तविक पथ या उपाय तो वही बता सकता है, जिसने यथार्थ मार्ग पर चलकर वीतरागता की या मुक्ति की मंजिल पा ली हो। अतः अरिहंत द्वारा बताई गई या मूक प्रेरणा से प्रेरित मोक्ष की सीढ़ियाँ पा जाने से मुमुक्षु बिना चक्कर या इधर-उधर के भटके बिना, मोक्ष की मंजिल तक पहुँच सकता है। अरिहंत-पद की जिज्ञासा, उसकी मुमुक्षा में प्राण-शक्ति का संचार करती है, जिससे मुमुक्षु की अन्तरात्मा में ऐसी स्फुरणा, ऊर्जा, साहसिकता, पराक्रमशीलता, प्रबल श्रद्धा एवं क्षमता प्राप्त हो जाती है कि वह अपने में सुषुप्त, आवृत या अनाराधित अरिहंतत्व को जाग्रत, अनावृत एवं आराधित करने को उद्यत हो जाता है।

आराधक के द्वारा निःस्पृह, वीतराग या रोष-तोषरहित अरिहंत की स्तुति, भक्ति या आराधना की जाती है, उससे अरिहंत को कोई लाभ-हानि या तोष-रोष नहीं होता, आराधक उनकी आराधना–स्तुति के माध्यम से उनके गुणों का स्मरण करके अपनी आत्मा को जगाता है, अपने में सुषुप्त प्रच्छन्न और हन्तत्व को जाग्रत व प्रगट करता है। आराधना का फल आराधक को ही स्व-पुरुषार्थ से मिलना है।

अतः श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निःस्वार्थभाव से इह-पारलौकिक किसी भी कामना-वासना-अपेक्षा से रहित होकर एकमात्र आत्मिक-विकास की दृष्टि से वीतराग प्रभु की स्तुति, भक्ति, कीर्त्तन, भजन, पुण्य-स्मरण, आराधन, गुणानुवाद या स्वरूप-चिन्तन आदि करने से आराधक के कर्मों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, निर्जरा होती है, अथवा पापकर्मों का नाश तथा आत्म-विशुद्धि भी होती है। आराधक को आत्मिक प्रसन्नता भी प्राप्त होती है।

अरिहंत की आराधना : अपनी ही आत्मा की आराधना है

अरिहंत की आराधना का फलितार्थ है–अपनी ही पूर्ण शुद्ध आत्मा की विशिष्ट आराधना; क्योंकि अरिहंतत्व आराधक की अपनी स्थिति, प्रकृति या अवस्था है, वह अभी अशुद्ध है, अपूर्ण है, कर्मावृत है, प्रसुप्त या प्रच्छन्न है, उसे शुद्ध, पूर्ण जाग्रत, अनावृत या व्यक्त करना है। अपने ही (शुद्ध) स्वरूप में स्वयं को अवस्थित होना है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की न्यूनता एक अपूर्णता है, आत्मिक-शक्ति की हीनता-न्यूनता तथा सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति या आत्मिक-सुख की विस्मृति भी अपूर्णता है। ये अपूर्णताएँ जब तक हैं, तब तक अपने में अरिहंतत्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। इन अपूर्णताओं को दूर करने के लिए अरिहंत के शुद्ध स्वरूप का चार चरणों में ध्यान करना आवश्यक है–मैं स्वयं अरिहंत हूँ, मुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक-शक्ति और अनन्त आत्मिक-सुख विद्यमान है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति की पूर्णता का चार चरणों में ध्यान करने से अपने में अरिहंतस्वरूप प्रगट होने लगता है।

जैसे बाह्य सजीव पदार्थ को उसके प्रति राग, द्वेष, मोह या कषाय का तीव्र भाव आने पर उसमें तल्लीनता आ जाने पर वह उस व्यक्ति के अन्तर में स्थापित हो जाती है, तब चेतना उसका मूर्तरूप या आकार धारण कर लेती है, उसी प्रकार अरिहंत परोक्ष या बाह्य पदार्थ के होते हुए भी उनकी विधिवत् ध्यान-प्रक्रिया से, उनमें तल्लीनता से अरिहंत को आन्तरिक बनाया जा सकता है। अरिहंत के विशुद्धरूप के ध्यानपूर्वक एकाग्रता-तल्लीनता, आत्मरूपता के साथ सतत अभ्यास से स्वयं के अरिहंत होने की तथा अरिहंतत्व की भावना व अनुभूति साकार-सी होने लगती है।

वास्तव में, अरिहंतदर्शन आत्म-दर्शन है, यह जानने के लिए ही भगवान ने कहा–"आत्मा को आत्मा से देखो, अपनी आत्मा से सत्य-तथ्य को ढूँढो। एकमात्र आत्मा को सम्यक् प्रकार से देखो।" आत्म-दर्शनाकांक्षी को अरिहंत के स्वरूपदर्शन में अपना आत्म-दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार आत्म-दर्शन करने से साधक का मोह नष्ट हो जाता है। अरिहंत का ध्यान कैसे करना चाहिए? इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रक्रिया बताई है। वस्तुतः भक्ति और अनुभूति ही अरिहंत की आराधना के दो सिरे हैं। भक्ति में मानना (Believing) है, अनुभूति में जानना (Feeling) है। मानने में जीवन की नियमितता श्रद्धायुक्त होती है, जानने में आराधक अपने स्वभाव (प्रकृति) से जुड़ता है। "यद् ध्यायति, तद् भवति।"–जो जिसका जैसा

ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है, इस सिद्धान्त के अनुसार वीतराग अरिहंत का ध्यान करने से वीतरागता का भाव धारण करने लगता है, राग-द्वेषादिजनित कर्मवर्गणाएँ भी आत्मा से पृथक् होने लगती हैं, आत्मा से क्रोधादि कषायों के परमाणु हट जाते हैं। उनके स्थान पर समत्वभाव प्रस्फुटित होने लगता है। वह भी योगशास्त्रानुसार एक दिन वीतराग होकर घातिकर्मों से मुक्त हो जाता है। अरिहंतता तथा उसका ध्यान कारण बनता है और वीतरागता उसका कार्य।

अरिहंत : अनेक रूप, स्वरूप और प्रकार तथा महत्त्व

वैसे तो 'अरिहंत' शब्द से जुड़े 'अरि' का अर्थ शत्रु है। परन्तु यहाँ वह बाह्य शत्रु के अर्थ में नहीं, आन्तरिक शत्रु के अर्थ में विवक्षित है। वे भावशत्रु अष्टकर्म, राग, द्वेष, कषाय, मोह; पाँचों इन्द्रियाँ (इन्द्रियविषयों के प्रति आसक्ति), परीषह-उपसर्ग आदि हैं अथवा इन्द्रियविषय, कषाय, वेदना और उपसर्ग ये साधना में बाधकभाव भी आन्तरिक शत्रु हैं। उनका हनन = नाश करने वाला अरिहंत है। अरिहंत के बदले अरहंत, अर्हन्त, अरुहंत, अरहोन्तर, अरथान्त; ये विभिन्न रूप और उनके विभिन्न अर्थ भी मिलते हैं। अरिहंत को 'भगवान' भी कहते हैं, जिनका जैनदर्शन में विशद लक्षण भी मिलता है। भक्तामर स्तोत्र, महादेवाष्टक आदि में अरिहंत को गुणवाचक शब्द बताकर उसके ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, बुद्ध, पुरुषोत्तम, महादेव आदि विभिन्न सार्थक नाम भी प्रयुक्त किये गए हैं। जैनागमों में अरिहंत के लिए 'जिन', वीतराग, सयोगीकेवली, अरहा आदि अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। यों अरिहंत के अनेक रूप होते हुए उसका स्वरूप एक ही है, जिसका पहले निरूपण कर दिया गया है। इनके लिए केवली शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु अरिहंत सयोगीकेवली होते हैं; सर्वप्रथम मोहकर्म का क्षय करके, शेष ज्ञानावरणीयादि तीन घातिकर्मों को भी जो एक साथ सर्वथा निर्मूल कर देते हैं, वे लोकालोक प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभास्कर सयोगी (त्रियोगयुक्त) केवली होते हैं। उन्होंने केवललब्धि प्राप्त करके परमात्मसंज्ञा प्राप्त की है। जो निज शुद्ध आत्मा में एकीभावेन ठहरते हैं, वे केवली हैं। ऐसे केवली कई प्रकार के होते हैं–सामान्यकेवली, मूककेवली, अन्तकृत्केवली, उपसर्गकेवली और श्रुतकेवली; तथा तीर्थंकरकेवली और अयोगी (सिद्ध) केवली। सिद्ध-परमात्मा अयोगी-केवली होते हैं। सयोगी श्रुतकेवली के सिवाय शेष सभी सयोगी केवलज्ञानी होते हैं। जो श्रुतज्ञान द्वारा निश्चयदृष्टि से इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, वह लोक को प्रकट जानने वाला ऋषिवर श्रुतकेवली कहलाता है।

आध्यात्मिक विकास पूर्णता की अपेक्षा से सभी अरिहंत १२ गुणयुक्त एवं १८ दोषरहित होते हैं

तीर्थंकरकेवली के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के केवली केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहंत, अर्हन्, अरहन्त आदि कहलाते हैं। इनमें और तीर्थंकरकेवली में आध्यात्मिक गुणों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अरिहन्तों के आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता एवं वीतरागता की दृष्टि से जो १२ गुण बताये हैं, वे गुण सामान्यकेवली अरिहंतों में भी पाये जाते हैं। वे १२ गुण इस प्रकार हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त सुख, (४) क्षायिक सम्यक्त्व, (५) यथाख्यातचारित्र, (६) अवेदित्व, (७) अतीन्द्रियत्व, (८-१२) दानादि पाँच लब्धियाँ। तीर्थंकर अरिहंतों में पुण्यातिशय के कारण जो १२ गुण बताये गये हैं, वे इनसे कुछ भिन्न हैं। अगले निबन्ध में हम उस पर प्रकाश डालेंगे।

इसी प्रकार अरिहन्तों को जो १८ दोषों से रहित बताया गया है, वे इन दोनों में पाये जाते हैं–(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय, (६) मिथ्यात्व, (७) अज्ञान, (८) अविरति, (९) काम (भोगेच्छा = वासना), (१०) हास्य, (११) रति, (१२) अरति, (१३) शोक, (१४) भय, (१५) जुगुप्सा, (१६) राग, (१७) द्वेष, और (१८) निद्रा। ये १८ ही दोष ४ घातिकर्मों के सर्वथा क्षय न होने के कारण होते हैं, सामान्य अरिहन्तों और विशिष्ट अरिहन्तों (तीर्थंकरों) के चारों घातिकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, इसलिए दोनों प्रकार के अरिहन्तों में ये १८ दोष भी नहीं पाये जाते।

गुणवाचक अरिहंत-पद की व्यापकता और महत्ता

जैनधर्म में पंचपरमेष्ठी नमस्कार महामंत्र में पाँच कोटि के आध्यात्मिक गुणों के विकास को प्राप्त महान् आत्माओं को नमस्कार किया गया है। ये पाँच पद किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं, गुणवाचक पद हैं। जैनधर्म मोक्ष-प्राप्ति में किसी भी वेश, देश, लिंग, भाषा, सम्प्रदाय-विशेष या अमुक विभूति-विशेष की रोक नहीं लगाता। वहाँ विधान है कि स्त्री भी, पुरुष भी, तीर्थंकर भी, सामान्य साधक भी, स्वलिंगी, गृहलिंगी, गृहस्थलिंगी एवं आन्यलिंगी मानव भी मुक्त हो सकते हैं, परन्तु सबके लिए एक ही शर्त है–राग, द्वेष, मोह, कषाय पर विजय की। जिसने भी इन पर विजय पा ली, वह भगवान, अरिहंत और केवलज्ञानी हो गया। 'नमो अरिहंताणं' में अरिहंत शब्द बहुत ही व्यापक है। इसीलिए नमो अरिहंताणं कहा है, 'नमो तित्थयराणं' नहीं। अरिहंतों के नमस्कार में भूत और वर्तमान के विषय में जितने भी केवलज्ञानी वीतराग हुए हैं या हैं, उन सबको नमस्कार हो जाता है। तीर्थंकर भी अरिहंत हैं, सामान्य अन्य केवलज्ञानी भी अरिहंत हैं। सभी अरिहंत तीर्थंकर नहीं होते। इस मंत्र में तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, अर्हद्भाव ही मुख्य है। जैन-कर्मसिद्धान्त के अनुसार तीर्थंकरत्व औदयिक प्रकृति है, कर्म का फल है, जबकि अरिहंतदशा क्षायिकभाव है। वह किसी कर्म का फल नहीं, अपितु कर्मों के क्षय (निर्जरा) का ही फल है। तीर्थंकरों को नमस्कार भी अर्हद्भावमुखेन है, स्वतंत्र नहीं। सम्यक्त्व के पाठ में भी 'अरहंतो महदेवो' (अरहंत मेरे देव हैं) कहा गया है। अतः यहाँ व्यक्तिपूजा को मुख्यता नहीं, गुणपूजा को मुख्यता दी गई है।

अरिहन्त तीर्थंकर : स्वरूप, विशेषता, प्राप्ति हेतु

विशिष्ट पुण्यातिशययुक्त महापुरुष ही तीर्थंकर होते हैं

तीर्थंकर शब्द जैन संस्कृति का बहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। जैनजगत् का प्रत्येक व्यक्ति इस शब्द से परिचित है और तीर्थंकरों के उपदेश, प्रेरणा ग्रहण करने तथा भक्ति, अर्चा और स्तुति करने के लिए उत्साहित एवं तत्पर रहता है। इसीलिए सामान्य अरिहन्तों (पूर्वनिबन्ध में बताये गए) लक्षणों और पुण्यातिशयरूप विशिष्ट अरिहन्तों (तीर्थंकरों) के लक्षण में थोड़ा-सा अन्तर है। मूलाचार, धवला और द्रव्यसंग्रह आदि में इनका एक सर्वसम्मत लक्षण है–जो अतिशय पूजा, सत्कार, नमस्कार करने तथा पंचकल्याणकरूप पूजा के योग्य हैं वे अर्हन्त (अरिहन्त) तीर्थंकर है।

आध्यात्मिक गुणों में समानता होते हुए तीर्थंकर अरिहन्त में उनसे अनेक बातों में अन्तर

तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के अरिहन्त केवलीतीर्थंकर नहीं होते, अपितु कुछ विशिष्ट पुण्यातिशय वाले अरिहन्त या विशिष्ट केवली ही तीर्थंकर होते हैं, किन्तु जितने आध्यात्मिक गुण, अनन्त चतुष्टयरूप आत्मिक निजी गुण, घातिकर्मक्षय एवं अष्टादश दोषरहितता के गुण सामान्य अरिहन्त केवलियों में होते हैं, वे सब-के-सब गुण विशिष्ट अरिहन्तरूप तीर्थंकरों में होते ही हैं। उनके अतिरिक्त उनमें कुछ विशिष्ट लक्षण तथा गुण, अतिशय, अतिशय पुण्यराशि का उत्कर्ष, तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के लिए कतिपय विशिष्ट कारण इत्यादि भी होते हैं। जैन-कर्मविज्ञान ने तीर्थंकर अरिहन्त और सामान्य अरिहन्त केवली में ३५ बातों का अन्तर स्पष्ट बताया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि तीर्थंकर-पद अपने आप में महत्त्वपूर्ण पद है। उसकी अपनी अलग पहचान है, कतिपय विशेषताएँ हैं।

तीर्थ और तीर्थंकर : स्वरूप और कार्य

तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ है–तीर्थ का कर्ता, निर्माता, स्थापनाकर्ता अथवा तीर्थ का जीवन निर्माणकर्ता। तीर्थ का शब्दशः अर्थ होता है–जिसके द्वारा तैरा जा सके। तैरने की क्रिया दो प्रकार की होती है। एक तो जलाशय में रहे हुए पानी के तैरने की अथवा जहाँ महापुरुषों का जन्मादि पंचकल्याणक में से कोई कल्याणक हुआ हो, वहाँ यात्रादि करने की क्रिया। दूसरी–संसाररूप समुद्र को तैरने–पार करने की। इन दोनों में से प्रथम क्रिया जिस स्थान में या जिसके अवलम्बन से होती है, उसे लौकिक तीर्थ कहते हैं। आजकल यह 'तीर्थ' शब्द लोक-व्यवहार में सिद्धक्षेत्र, पवित्र भूमि, सरोवर नदी के तट पर या पर्वतीय

स्थल पर बने हुए, पवित्र यात्रा-स्थल के अर्थ में प्रचलित है। लोकोत्तर तीर्थ प्रस्तुत प्रसंग में विवक्षित है। जिसका फलितार्थ है–जिसके आश्रय से अथवा जिससे या जिसके द्वारा समुद्र को तैर या पार किया जा सके। आगमानुसार तीर्थ का अर्थ है–साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध श्रमण (श्रमण-प्रधान) संघ, अथवा संसार से पार होने के कारणरूप आगम (द्वादशांगी श्रुत) को भी तीर्थ कहते हैं। भावतीर्थ है–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म या श्रुत-चारित्ररूप धर्म, जोकि संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला है। अतएव तीर्थंकर का स्पष्ट अर्थ होता है–धर्मरूप तीर्थ के कर्ता (स्थापक) जिन। तीर्थंकर सम्यग्दर्शनादि धर्मरूपी भावतीर्थ की स्थापना, अपने-अपने समय में करते हैं, जोकि भव्य जीवों को तथा चतुर्विध धर्म-संघ को संसार-समुद्र से पार करता है। विश्ववत्सल तीर्थंकर देव अपने-अपने युग में सर्वसाधारण सुलभबोधि जीवों को आसानी से संसार-समुद्र पार करने हेतु धर्म-साधनारूपी पुल बनाते हैं, अथवा धर्मरूपी घाट (तीर्थ) बनाते हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के विधि-विधानों की एक निश्चित आचार-संहिता तैयार करते हैं।

तीर्थंकर निःस्वार्थ, निष्काम, निःस्पृहभाव से फलाकांक्षारहित होकर तीर्थ-स्थापना द्वारा लोकोत्तर, विरलातिविरल सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का दान करके जगत् के जीवों पर इस बहुमूल्य, अतिदुर्लभ आध्यात्मिक उपकार की वर्षा करते हैं। वे स्वयं पहले संसार की मोहमाया और वासना का परित्याग करते हैं, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की तथा त्याग-वैराग्य अखण्ड, निर्दोष-साधना में रत रहते हैं, अनेकानेक भयंकर उपसर्गों और परीषहों को समभाव से सहते हैं, फिर पहले चार घातिकर्म क्षय करके स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए प्रवचन करते हैं, धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों को अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार संवर-निर्जरारूप आत्म-धर्म के पथ पर लगाते हैं। संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं। तीर्थंकर नामकर्म के उदयवश तीर्थंकर भगवान संसार को सद्धर्म का उपदेश देते हैं, जो आध्यात्मिक नैतिक पतन की ओर ले जाने वाले पापाचारों से बचाता है। संसार को वे भौतिक सुख-लालसा से हटाकर अध्यात्म-सुखों का रसिक बनाते हैं।

लोकोपकारक तीर्थंकर भगवन्तों की अन्य विशेषताएँ

तीर्थंकर भगवन्तों की असाधारण विशेषताओं को प्रकट करने वाले अनेक विशेषण शक्रस्तव (नमोत्थुणं) के पाठ में प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे–धर्म के आदिकर, तीर्थंकर, अरिहन्त, भगवन्त, स्वयंसम्बुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक, पुरुषवरगन्धहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहृदय, लोकप्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, धर्मदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोहिदाता, धर्मदेशक, धर्मनायक, धर्मवरचातुरन्त चक्रवर्ती, द्वीपोत्तम, शरणागति प्रतिष्ठान, अप्रतिहतप्रवरज्ञान-दर्शनधारक, विवृतछद्म, जिन-जायक, तीर्ण-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा शिव, अचल, अरुज (अरूप), अनन्त, अक्षय, अव्याबाध-अपुनरावृत्तिरूप सिद्धिगति-नामक स्थान को प्राप्त या प्राप्तुकाम, जिन (राग-द्वेष विजेता) और भयविजेता तीर्थंकरों और सिद्धों को नमस्कार हो। वे अपने आन्तरिक आत्मिक-शत्रुओं के साथ युद्ध करके उस पर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए जिन या जिनेन्द्र के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आध्यात्मिकदृष्टि से सिद्ध-परमात्मा उच्चकोटि के होते हुए भी 'नमो अरिहंताणं' में अर्हन्त को प्रथम स्थान देने का कारण यह है कि तीर्थंकर (अरिहन्त) होने के नाते उनके जीवन में आत्मोद्धार और विश्वोद्धार का साहचर्य है तथा उनका जीवन सर्वांगी, स्व-पर-हितैषी, परम पूर्ण और विश्व के प्राणियों के निकट उपकारक है। विश्व-मुक्ति में आत्म-मुक्ति उनकी सर्वोत्कृष्ट पुण्यचर्या का नमूना है। तीर्थंकर देवाधिदेव (देवों के भी अधिष्ठाता, आराध्य, उपास्य या पूज्य) इसलिए कहलाते हैं कि वे राग-द्वेषादि विकारों के विजेता समुत्पन्न अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन के धारक होते हैं तथा अतीत, अनागत और वर्तमान को वे हस्तामलकवत् जानते-देखते हैं। वे अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं, जबकि स्वर्ग के देवों में अधिक से अधिक अवधिज्ञान तक होता है। वे राग-द्वेषादि विकारों के विजेता नहीं होते, बल्कि वे काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों से न्यूनाधिक रूप से अभिभूत होते हैं। वे जगद्वन्द्य, त्रिलोकपूज्य नहीं होते, जबकि देवाधिदेव अर्हन्त तीर्थंकर पूर्वोक्त सभी विशेषताओं से युक्त होते हैं। इसलिए तीर्थंकर अरिहंत भूदेव,

नरदेव, इन्द्रदेव या स्वर्ग के देव तथा धर्मदेव से भी बढ़कर होने से देवाधिदेव कहलाते हैं। इसीलिए तीर्थंकर के लिए जीवन्मुक्त, सदेहमुक्त, सयोगीकेवली, अर्हन्त परमात्मा, यथावस्थित-पदार्थवादी आप्तपुरुष, ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, अनन्त एवं सच्चिदानन्द आदि विशेषण भी प्रयुक्त किये गये हैं।

तीर्थंकर अरिहंतों के चार विशिष्ट अतिशय

अरिहन्त तीर्थंकर देव, दानव और मानव इन तीनों द्वारा पूजित तथा बारह गुणसहित तथा अठारह दोषरहित तथा पूर्वोक्त विशेषताओं तथा अर्हताओं से युक्त होने से त्रिलोकपूज्य कहलाते हैं। इन सब विशेषताओं और अर्हताओं को अभिव्यक्त करने वाले पुण्य प्रकृति के उत्कर्ष-अतिशयस्वरूप चार विशिष्ट अतिशय उनमें होते हैं-(१) पूजातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) वचनातिशय, और (४) अपायापगमातिशय। अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देवदुन्दुभि और आतपत्र (छत्र); ये आठ महाप्रातिहार्य पूजातिशय के प्रतीकरूप में तथा ६४ इन्द्रों द्वारा पूजनीय होने से उनका पूजातिशय उपलक्षित होता है। अरिहन्त तीर्थंकर अनन्त ज्ञान-दर्शन के धारक, सम्पूर्ण ज्ञानी, त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होने से उनका अप्रकट ज्ञानातिशय समग्र लोक के अज्ञान तथा मिथ्यात्व के अन्धकार को दूर करने से लोक तथा अलोक के प्रकाशक के रूप में प्रकट होता है। केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् संघ-स्थापना से लेकर आयु के अन्तिम क्षण तक पूर्वकृत विशिष्ट पुण्यातिशयवश समवायांग सूत्रोक्त ३५ वचनातिशय सहजरूप में धर्म-प्रचार में, संघ-सेवा में, जन-कल्याण में, अनेक लोगों को बोधिलाभ देने में तथा धर्मोपदेश देने में सूर्य की तरह तटस्थ निमित्त बनकर अभिव्यक्त हुआ है। उनके तीर्थंकर नामकर्मजनित कतिपय विशिष्ट पुण्य-प्रकृतियों के उदयवश शरीरगत, वचनगत, प्रकृतिगत, पदार्थगत, प्राणिगत एवं व्यवहारगत अपाय (विघ्न-बाधाएँ, अड़चनें, विपदाएँ, उपद्रव आदि) स्वतः दूर हो जाते हैं, उनके निवारण की अभिव्यक्ति कराने हेतु समवायांगसूत्रोक्त ३४ अपायापगमातिशय प्रकट होते हैं। यथा-उनका शरीर रोगरहित होता है, केश रोमश्मश्रु नहीं बढ़ते, इति महामारी रोगादि उनके विहरण क्षेत्र में नहीं होते इत्यादि। सभी धर्मों और दर्शनों के अनुगामी भक्तों ने अपने-अपने आराध्यपुरुषों के साथ कतिपय चमत्कार, आडम्बर आदि जोड़ दिये। अतः तीर्थंकरों की सही पहचान के लिए उनको पूर्वनिबन्ध में बताये गए आध्यात्मिक दृष्टि से १८ दोषों से रहित तथा १२ गुणों से सहित बताया गया है। तथैव सामान्य केवलियों से तीर्थंकरों की अलग पहचान के लिए निम्नोक्त १२ गुणों का प्रतिपादन किया गया-(१-४) अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप, (५) अनन्त बलवीर्य, (६) अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व, ये छह गुण आत्मिक विभूतियाँ हैं, और (७) वज्रऋषभनाराच-संहनन, (८) समचतुरस्र-संस्थान, (९) चौंतीस अतिशय, (१०) पैंतीस वाणी के अतिशय (गुण), (११) एक हजार आठ लक्षण, और (१२) चौंसठ इन्द्रों के पूज्य; ये छह गुण भौतिक विभूतियाँ हैं। अतएव तीर्थंकर की यथार्थ परीक्षा द्वादश गुणसहितता और अष्टादश दोषरहितता से ही होती है। जब तक मनुष्य इन १८ दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि और सिद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। 'आप्तपरीक्षा' के अनुसार तीर्थंकरों की वास्तविक परीक्षा और पहचान पूर्वोक्त १२ आध्यात्मिक गुणों की युक्तता तथा १८ दोषरहितता से ही की जानी चाहिए। मात्र अतिशयों के आधार पर नहीं।

जैनमान्य तीर्थंकर अवतारवाद का नहीं, उत्तारवाद का प्रतीक

अन्य धर्म-परम्पराओं में जहाँ ईश्वर कर्तृत्ववाद तथा ईश्वर के प्रतिनिधित्व के लिए अवतारवाद को स्थान दिया गया है, वहाँ जैनधर्म में इन दोनों के बदले आत्म-कर्तृत्ववाद तथा उत्तारवाद की युक्तिसंगत, प्रमाणसम्मत एवं अकाट्य प्ररूपणा की गई है। ईश्वर कर्तृत्ववाद में परम आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व में कई आक्षेप-विक्षेप आते हैं, जिसका कर्मविज्ञान के पूर्व भागों में युक्ति प्रमाणसंगत समाधान किया है। जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा को निश्चयनय की पारमार्थिक) दृष्टि से अनन्त ज्ञानादि परम ऐश्वर्य-सम्पन्न होने के कारण ईश्वर माना जाता है, किन्तु वर्तमान में संसारी आत्माएँ आठ कर्मों के आवरण से आवृत हैं, उनका ईश्वरत्व अनभिव्यक्त एवं सुषुप्त है। प्रत्येक संसारी आत्मा अपने शुभ = अशुभ कर्मों का कर्ता, फलभोक्ता है, अतएव आत्मा ही अपनी सृष्टि का कर्ता ईश्वर है, यह सिद्ध होता है।

अवतारवाद में मनुष्य से भिन्न वराह, नृसिंह, मत्स्य, कच्छप आदि प्राणियों को भी अवतार माना गया है, किन्तु मनुष्य से बढ़कर कोई प्राणी महान् और मोक्ष का या परमात्म-पद का अधिकारी नहीं हो सकता, इसलिए असीम और अनन्त शक्तियों को प्रगट करने में सक्षम, मनुष्य ही सामान्य आत्मा से परमात्मा बन सकता है। वह जन्म से ही ईश्वर, परमात्मा, अवतार या भगवान नहीं बन जाता। अपने पूर्व-जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण के पश्चात् अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग चतुष्टय की निर्दोष साधना के फलस्वरूप आराधक बनकर अन्य गतियों से आकर मनुष्यशरीर (औदारिकशरीर) धारण करता है, मनुष्य-जन्म पाकर पूर्ण चारित्र ग्रहण करके तप, संयम आदि की आराधना करके, चार घातिकर्मों का क्षय करके, वीतरागता तथा केवलज्ञान प्राप्त करके या तो सामान्य अरिहन्तकेवली बनता है, या फिर पूर्व-जन्मों के अतिशय पुण्योत्कर्ष के कारण तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के २० स्थानकों में से किसी एक, दो या सभी स्थानकों (कारणों) की आराधना के फलस्वरूप निकाचितरूप से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करता है। वह जब उदय में आता है, उस भव में द्रव्य और भाव दोनों रूपों में तीर्थंकर बनता है। इस दृष्टि से तीर्थंकर ऊपर से (किसी ईश्वर द्वारा प्रतिनिधिरूप में) भेजा गया अवतार नहीं, अपितु सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के बल पर नीचे से सम्यग्दर्शन के गुणस्थान से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान में पहुँचता है और फिर वीतरागता तथा तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है। तत्पश्चात् तीर्थ स्थापना आदि सुकृत्य करता हुआ, शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-परमात्मा बन जाता है। मोक्ष में शाश्वत स्थान प्राप्त कर लेता है। फिर पुनः संसार में वे अवतरण नहीं करते। यही उत्तारवाद का स्वरूप है। तीर्थंकर उत्तारवाद का प्रतीक है। वह स्वयं अध्यात्म-साधना के बल पर नीचे से ऊपर उठकर स्वयं अपने बलबूते पर तीर्थंकर बनता है, सिद्ध-परमात्मा बनता है।

तीर्थंकर-पद प्राप्त करने के बीस कारण

यही कारण है कि तीर्थंकर-पद प्राप्त करने के लिए निम्नोक्त बीस स्थानकों (या दिगम्बर-परम्परानुसार १६ कारण भावनाओं) में से एक या अनेक की आराधना करनी अनिवार्य बताई है।

निकाचितरूप से तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के बीस कारण (स्थानक)

निकाचितरूप से तीर्थंकरत्व-उपार्जन के समय निर्मल सम्यक्त्व, श्रावकत्व या साधुत्व अनिवार्य है। तीर्थंकर बनने योग्य आत्माएँ विश्व के समस्त जीव मोक्षमार्ग के पथिक तथा जिनशासन के रसिक बनें, धर्मभावना से ओतप्रोत हों, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हों, इन और ऐसी उत्कृष्ट सद्भावनारूप भावदया से युक्त होकर निम्नोक्त २० उपायों (स्थानकों या कारणों) में से किसी एक, अनेक या सभी कारणों का अवलम्बन लेकर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करती हैं–(१) अरिहन्त-वत्सलता (अरिहन्त-भक्ति), (२) सिद्ध-वत्सलता (सिद्ध-भक्ति), (३) प्रवचन-वत्सलता (प्रवचन-भक्ति), (४) गुरु या आचार्य-वत्सलता (गुरु या आचार्य की भक्ति), (५) स्थविर-वात्सल्य (भक्ति), (६) बहुश्रुत-वात्सल्य (भक्ति), (७) तपस्वी-वात्सल्य (भक्ति), (८) अभीक्ष्ण (बार-बार) ज्ञानोपयोग, (९) दर्शन-विशुद्धि, (१०) विनय-सम्पन्नता, (११) (षड्) आवश्यक क्रिया का अपरित्याग, (१२) निरतिचाररूप से शील और व्रतों का पालन, (१३) क्षणलव (अभीक्ष्ण संवेगभाव) की साधना, (१४) यथाशक्ति तपश्चरण, (१५) यथाशक्ति त्याग, (१६) वैयावृत्यकरण, (१७) समाधि (उत्कृष्ट आत्म-समाधि) प्राप्त करना, (१८) अपूर्व ज्ञानग्रहण, (१९) श्रुत-भक्ति, (२०) प्रवचन-प्रभावना।

निकाचितरूप तीर्थंकर नामकर्म बँध जाने पर तीसरे भव में अवश्य ही तीर्थंकरत्व-प्राप्ति

तीर्थंकर भगवान महावीर के २७ भवों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर भी भावतीर्थंकर बनने से पूर्व के भवों में शुभाशुभ गतियों–योनियों में जन्म-मरण के अनेक चढ़ाव-उतार से गुजरते हैं। इसलिए अनिकाचितरूप से तीर्थंकर नाम के अनेक बार बँध जाने पर भी सफलता नहीं मिलती।

तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध भी दो प्रकार का होता है–अनिकाचनारूप और निकाचनारूप। अनिकाचनारूप बन्ध तीसरे भव से पहले (तीर्थंकररूप में जन्म लेने से दो भव पूर्व) भी हो सकता है, क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध जघन्यतः अन्तःकोटाकोटि सागरोपम का बताया गया है। जबकि निकाचनारूप बन्ध तीर्थंकर के भव से पूर्व तीसरे भव में अवश्य हो जाता है। अर्थात् निकाचितरूप से बँधा हुआ कर्म तीसरे भव पूर्व से लेकर तीर्थंकरभव में पूर्णतया (उदय में आकर उत्कृष्ट पुण्यराशि के रूप में) फलप्रदान करता (भुगवाता) है। दूसरे शब्दों में–नियमतः तीर्थंकर नामकर्म का निकाचनरूप से बन्ध तभी होता है, जब वह आत्मा तीसरे भव में तीर्थंकर (भावतीर्थंकर) होने वाला हो। निकाचना के फलस्वरूप एक तो वही मनुष्यभव, जिसमें तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, दूसरा देव या नरक का भव और तीसरा तीर्थंकर का भव। निकाचित बन्ध जो मनुष्यगति में ही होता है।

नरक में भी अशान्ति नहीं, देवलोक में भी आसक्ति नहीं

देवलोक में जाने वाले भावी तीर्थंकर वहाँ के भोग-विलास के अपार साधन तथा सुख-सुविधामय वातावरण मिलने पर भी उनमें आसक्त नहीं होते, आनन्द नहीं मानते। नरक में जाने वाले भावी तीर्थंकर भी एक ओर से नरक की अपार दुःसह वेदना में भी आत्म-जागृति, अपूर्व समाधिभाव रखते हैं तथा दूसरी ओर से परमाधामी देवों द्वारा अपार संताप दिये जाने पर उन पर अमैत्रीभाव या कषायभाव न लाकर सब प्रकार की दुर्भावना से रहित रहते हैं। सब कष्टों को स्वकृत कर्म का फल समझकर शान्तभाव से सहते हैं।

किस-किस ने किस-किस अवलम्बन द्वारा निकाचित तीर्थंकर नामकर्मबंध किया ?

मगध-सम्राट् श्रेणिक नृप ने क्षायिकसम्यक्त्व का स्पर्श करके, सुलसा श्राविका ने श्रावकधर्म का विशुद्ध पालन करके तथा भगवान ऋषभदेव एवं भगवान पार्श्वनाथ ने राज्य-ऋद्धि और सुखशीलता का त्याग करके सर्वविरतिरूप चारित्र एवं पवित्र साधुत्व की साधना द्वारा एवं भगवान महावीर ने नन्दन नृप के भव में राज्य त्यागकर मुनित्व अंगीकार करके एक-एक लाख वर्ष तक लगातार मासक्षपण तप करके तीर्थंकर नामकर्म का निकाचनबन्ध किया था।

जैनदृष्टि से सर्वकर्ममुक्त मोक्ष-प्राप्त

विदेहमुक्त सिद्ध-परमात्मा : स्वरूप, प्राप्ति, उपाय

दोनों में मौलिक अन्तर

अनन्त ज्ञानादि चार आत्म-गुणों की परिपूर्णता में तथा घातिकर्मों के अभाव में अरिहन्त और सिद्ध-परमात्मा दोनों की समानता होने से दोनों को देवाधिदेव कोटि में गिना गया है। दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि अरिहन्त शरीरधारी होते हैं, जबकि सिद्ध-परमात्मा अशरीरी। अरिहन्त देव चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) और केवलदर्शी (सर्वदर्शी) होते हैं, किन्तु शरीरधारी होने से चार अघातिकर्मों से युक्त होते हैं, जबकि सिद्ध-परमात्मा घाति-अघाति सभी कर्मों से, जन्म-मरण से, शरीरादि से, सर्वदुःखों से सदा के लिए सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। इसलिए अरिहन्त को जीवन्मुक्त (सदेहमुक्त) और सिद्ध को विदेहमुक्त (पूर्णमुक्त) कहा जाता है।

सर्वकर्मों से मुक्त होने की प्रक्रिया

कर्मबन्ध के मुख्य कारण दो हैं–योग और कषाय। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु भी आत्मा के साथ तीव्ररूप में अधिक काल तक चिपके रहते हैं, और तीव्र फल देते हैं, परन्तु कषाय के मन्द होते ही कर्मों की स्थिति भी कम औ फलदान-शक्ति भी मन्द हो जाती है। जैसे-जैसे कषाय मन्द, वैसे-वैसे कर्मनिर्जरा भी अधिक तथा पुण्यबन्ध भी शिथिल होता जाता है। फलतः चार घातिकर्म-परमाणुओं के क्षय के साथ-साथ अघातिकर्म-परमाणु का आकर्षण और तीव्र बन्ध भी बंद हो जाता है। जो कर्म पूर्वबद्ध थे, वे प्रदेशरूप में

उदय में आते हैं। वीतरागक्षीणमोही हो जाने के बाद तेरहवें गुणस्थान में, कषाय के अभाव में अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध नहीं होता, त्रियोग के कारण केवल नाममात्र का सातावेदनीय प्रकृति का दो समय का प्रदेशबन्ध होता है, तीसरे समय में वह निर्जीर्ण होकर चौथे समय में अकर्म बन जाता है। दूसरी ओर केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वह केवली अरिहन्त अनगार शेष आयु को भोगता हुआ, जब अन्तर्मुहूर्त्त परिमित आयु शेष रहती है, तब वह योगनिरोध में प्रवृत्त होता है। पहले मनोयोग का, फिर वचनयोग का, तदनन्तर श्वासोच्छ्वास का निरोध करके पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल जितने समय में समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान में लीन होकर वे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चारों अघातिकर्मों का एक साथ क्षय कर देते हैं। तत्पश्चात् औदारिक, तैजस, कार्मणशरीर का भी सदा के लिए त्याग करके शरीररहित न होकर ऋजुश्रेणी से एक समय अस्पृशद्गतिरूप ऊर्ध्वगति से अविग्रहरूप से (बिना मोड़ लिये) सीधे लोकाग्र प्रदेश में स्थित हो जाते हैं, वहाँ वे साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) युक्त अवस्था में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं। जन्म-मरण के कारणरूप समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय कर देने के कारण वे पुनः जन्म-मरण नहीं करते, न ही मोक्ष से लौटकर पुनः संसार में आते हैं।

सिद्ध-परमात्मा : कैसे हैं, कैसे नहीं ?

सिद्ध-परमात्मा राग-द्वेष को जीतकर अरिहन्त बनकर चौदहवें गुणस्थान की भूमिका को भी पार करके सदा के लिये जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं। शरीर और शरीरसम्बद्ध सभी दुःखों से मुक्त होकर एकरस अनन्त अव्याबाध निराकुल आत्म-सुख (निजानन्द) में लीन रहते हैं, क्योंकि ये द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से रहित–अलिप्त हो गए हैं। औपपातिकसूत्र में उनके लिए निम्नोक्त विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं–वे सिद्ध, बुद्ध, पारंगत, परंपरागत, कर्मकवच से उन्मुक्त, अजर, अमर, असंग, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं और परिपूर्ण शुद्ध-मुक्त आत्म-दशा में रहते हैं। सिद्ध-परमात्मा आत्म-विकास की चरम सीमा पर हैं।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही सिद्ध-परमात्मा का स्वरूप है

आचारांगसूत्र में शुद्ध आत्मा का स्वरूप इस प्रकार दिया है–वह (शुद्ध आत्मा) न तो दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चौकोर है, और न ही परिमण्डलाकार है। वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ-स्पर्श से रहित है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक भी नहीं है। वह निराकार, निरंजन है, केवल परिज्ञानरूप (ज्ञानमय) है। वह अनुपमेय है, अरूपी और अलक्ष्य है। उसके लिए किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय, तर्क द्वारा अग्राह्य, मति द्वारा अनवगाह्य है। वह सत्-चिदानन्दमय शुद्ध आत्मरूप है। औपपातिकसूत्रानुसार–सिद्ध-परमात्मा लोक के अग्रभाग में है वे मुक्तात्मा सादि-अनन्त हैं, अशरीरी हैं, जीवघन (सघन अवगाढ़ आत्म-प्रदेशों से युक्त) हैं, साकार-अनाकार-उपयोगयुक्त, निष्ठितार्थ (कृतकृत्य), निरंजन (निष्कम्प = निश्चल), नीरज, निर्मल, वितिमिर, विशुद्ध सिद्ध भगवान शाश्वतकाल-पर्यन्त अपने स्वरूप में संस्थित रहते हैं।

"सिद्ध भगवान अलोक से लगकर रुकते हैं, लोक के अग्रभाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वहाँ मनुष्यलोक में शरीर का त्याग करके वहाँ (लोक के अग्रभाग में) जाकर शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।"

"सिद्ध भगवान जिस सिद्धगति को प्राप्त हैं, वह शिव (सर्व उपद्रवरहित), अचल, अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्त ज्ञेय पदार्थों से ज्ञायमान होने से), अक्षय (अक्षत), अव्याबाध और अपुनरावृत्तियुक्त है।"

सिद्धगति में सर्वकर्ममुक्त आत्मा कैसे और क्यों जाती है ?

जीव की यह सर्वकर्मविमुक्त दशा सिद्धदशा या सिद्धगति कहलाती है। सर्वकर्मबन्ध से मुक्त होते ही ४ बातें निष्पन्न होती हैं–(१) औपशमिक आदि भावों का व्युच्छेद (नष्ट) होना, (२) (मन-वचन-कायायुक्त) शरीर का छूट जाना, (३) मुक्त होते ही एकसमय मात्र में ऊर्ध्वगति से गमन करना, और (४) लोकान्त में

अवस्थित होना। सर्वकर्ममुक्त अमूर्त आत्मा शरीरादि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के ऊर्ध्वगमन करने के पीछे यानी अकर्मक (कर्ममुक्त) जीवों की ऊर्ध्वगति के निम्नोक्त छह कारण हैं-(१) कर्मों का संग छूट जाने से, (२) मोह के दूर होने से, (रागरहित होने से), (३) गति परिणाम (स्वभाव) से, (४) कर्मबन्ध के छेदने से, (५) कर्मरूपी ईंधन के अभाव से, और (६) पूर्वप्रयोग से। इन सब पर कर्मविज्ञान ने विस्तार से विवेचन किया है।

सिद्ध-परमात्मा लोक के अग्रभाग में जाकर ही क्यों स्थिर हो जाते हैं? इसका समाधान यह है कि आगे अलोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दोनों ही क्रमशः गति और स्थिति में सहायता देने वाले न होने से अलोकाकाश में सिद्धों का गमन नहीं होता।

सिद्धशिला : पहचान, अन्य नाम, सिद्धों का अवस्थान

सिद्ध-परमात्मा जहाँ जाकर शाश्वतरूप से अवस्थित हो जाते हैं, उसका नाम सिद्धशिला है। इसके आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई इस प्रकार हैं-सर्वार्थसिद्धविमान (२६वें देवलोक) से १२ योजन ऊपर, ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी गोलाकार एवं छत्राकार है-सिद्धशिला। वह मध्य में ८ योजन मोटी और चारों ओर से क्रमशः घटती-घटती किनारे पर मक्खी की पाँख से भी अधिक पतली है। वह पृथ्वी अर्जुन (श्वेत स्वर्ण) मयी है, स्वभावतः निर्मल है और उत्तान (उलटे रखे हुए छाते = छत्र) के आकार की है अथवा तेल से परिपूर्ण दीपक के आकार की है। वह शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुभ्र है। उसकी परिधि लम्बाई-चौड़ाई से तिगुनी अर्थात् १,४२,३०,२४९ योजन की है। इस सीता नामक ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी से १ योजन ऊपर लोक का अन्त (सिरा) है। इस सिद्धशिला के १ योजन ऊपर अग्रभाग में ४५ लाख योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष ३२ अंगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्त-अनन्त सिद्ध-परमात्मा विराजमान हैं। इस सिद्धशिला के १२ नाम इस प्रकार हैं-(१) ईषत् (२) ईषत्प्राग्भारा, (३) तनु, (४) तनुतर, (५) सिद्धि, (६) सिद्धालय, (७) मुक्ति, (८) मुक्तालय, (९) लोकाग्र, (१०) लोकाग्र-स्तूपिका, (११) लोकाग्र-बुध्यमान, (१२) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा। सिद्ध-परमात्मा इसी सिद्धलोक के एक देश में स्थित हैं। जिस प्रकार एक कमरे में रखे हुए अनेक दीपों या बल्बों का प्रकाश परस्पर टकराता नहीं, मिल जाता है, एकरूप दृष्टिगोचर होने लगता है, इसी प्रकार अनेक सिद्धों के ज्योतिरूप आत्म-प्रदेश के अमूर्त होने के कारण परस्पर अवगाढ़ होकर एक-दूसरे में समाने में किसी प्रकार की बाधा या टकराहट उत्पन्न नहीं होती। इसलिए जहाँ एक सिद्ध हैं, वहाँ भव-क्षय हो जाने से अनन्त सिद्ध हैं, वे परस्पर अवगाढ़ हैं। उनसे भी असंख्यातगुणे सिद्ध ऐसे हैं, जो देशों और प्रदेशों से एक-दूसरे में अवगाढ़ एवं स्पृष्ट होकर लोकान्त का स्पर्श किये हुए हैं। अनेक सिद्धों की अपेक्षा सिद्ध अनादि अनन्त हैं, किन्तु किसी एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध-परमात्मा सादि अनन्त हैं।

मुक्त (सिद्ध) आत्माओं के केवलज्ञान में अनन्त ज्ञेय कैसे प्रतिबिम्बित होते हैं ?

मुक्तात्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से पदार्थों को न जानकर अतीन्द्रिय केवलज्ञान से पदार्थों को कैसे जानते हैं? इसका समाधान यह है कि जैसे दर्पण के सामने पदार्थ अपने-आप प्रतिबिम्बित होने-झलकने लगते हैं, दर्पण को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता; वैसे ही दर्पण-सम केवलज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। केवलज्ञानी मुक्तात्मा को पदार्थों को जानने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रवचनसार के अनुसार--आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय है-समस्त लोक और अलोक। अतः उनका अनन्त ज्ञान सर्वव्यापक है। भगवती आराधना के अनुसार-सर्वज्ञ का अनन्त ज्ञान एक साथ समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थों को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा उन्हें अव्याबाध-सुख की उपलब्धि हो जाती है। बाह्य पदार्थ भी उनके अतीन्द्रिय ज्ञान में झलकते हैं।

सिद्धत्व-प्राप्ति बाद सिद्धों की अवगाहना, स्थिति, संहनन, संस्थान

सभी सिद्ध भगवान वज्रऋषभनाराच-संहनन में सिद्ध होते हैं, किन्तु छह संस्थानों (दैहिक आकार) में से किसी भी संस्थान से सिद्ध हो सकते हैं। देह का सर्वथा त्याग करके मोक्ष जाते समय अन्तिम समय में

उनकी जितनी दीर्घ या ह्रस्व अवगाहना होती है, उससे १/३ (एक-तिहाई) भाग कम में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति या व्याप्ति) होती है। जिनकी देह ५०० धनुष की होती है, उन सिद्धों की अवगाहना उत्कृष्ट ३३३ धनुष ३२ अंगुल की होती है। सिद्धत्व-प्राप्ति पूर्व जिनकी अवगाहना ७ हाथ की होती है, उनकी अवगाहना ४ हाथ १६ अंगुल की होती है। जिन मनुष्यों की अवगाहना सिर्फ २ हाथ की होती है, उनकी न्यूनतम अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल की होती है। तथैव सिद्धत्व-प्राप्ति के समय जो कम से कम ८ वर्ष से कुछ अधिक आयु वाले तथा अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व की आयु वाले मानव ही सिद्ध हो सकते हैं।

मुक्त आत्मा न तो पुनः कर्मबद्ध होता है और न पुनः संसार में आता है

जैसे बीज के जल जाने पर उसमें पुनः अंकुरित (उत्पन्न) होने की शक्ति नहीं रहती, वैसे ही जिनके कर्म (सर्वकर्मरूपी) बीज सर्वथा जल जाते हैं, उनके पुनः संसाररूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। यानी मोक्षगमन के बाद पुनः संसार में लौटकर सिद्ध-परमात्मा कभी नहीं आते, क्योंकि संसार में जन्म-मरण का कारण है-कर्मचक्र, वह उनके सर्वथा नष्ट हो जाता है। अन्य दर्शनों ने भी इस तथ्य को स्वीकृत किया है।

सर्वकर्ममुक्त सिद्धों की चार श्रेणियाँ

प्रथम श्रेणी के मुक्तात्मा-जिनका कर्मभार अल्प, किन्तु साधनाकाल दीर्घ हो सकता है। न तो असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं, न ही कठोर तप करना पड़ता है, यथा-भरत चक्रवर्ती।

द्वितीय श्रेणी के मुक्तात्मा-कर्मभार भी अल्प, साधनाकाल भी अल्प। अल्प तप और अल्प कष्टानुभव करते हुए सहजभाव से मुक्त-सिद्ध होते हैं। जैसे-मरुदेवी माता।

तृतीय श्रेणी के मुक्तात्मा-कर्मभार अधिक, किन्तु साधनाकाल अल्प। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव करके मुक्त होते हैं। यथा-गजसुकुमार मुनि।

चतुर्थ श्रेणी के मुक्तात्मा-कर्मभार अत्यधिक, साधनाकाल भी दीर्घतर। दीर्घ तप, अधिक कष्ट। जैसे-सनत्कुमार चक्रवर्ती।

मुक्तात्मा के परिपूर्ण आत्मिक-विकास का क्रम

निर्ग्रन्थ प्रवचनोक्त मार्ग द्वारा ज्ञानादि रत्नत्रय की प्राणप्रण से रत्नत्रय की साधना करने वाले साधकों के आत्म-गुणों का परिपूर्ण विकास तभी होता है, जब ज्ञानादि आत्म-गुण अनन्तत्व को प्राप्त हो जाएँ। जैनदर्शन अपूर्ण अवस्था को संसार ही कहता है, मोक्ष या सिद्धत्व नहीं अर्थात् जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य (शक्ति), सत्य और सुख आदि आत्मा के प्रत्येक निजी गुण अनन्त, परिपूर्ण और अनावृत न हों, तब तक उस साधक की मुक्ति या सिद्धि जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार की अनन्तता या आत्म-गुणों की परिपूर्णता या अनावरणता साधक की अपनी साधना द्वारा ही प्राप्त होती है, किसी दूसरे के देने से नहीं। सिद्धि या मुक्ति की परिपूर्णता का क्रम शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार है-"सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।" अर्थात् सिद्धि, मुक्ति पाने वाली आत्माएँ, सिद्ध (परिनिष्ठितार्थ = कृतकृत्य) हो जाती हैं, बुद्ध (अनन्त ज्ञानी हो जाती हैं, (सर्वकर्मों से) मुक्त हो जाती हैं, परिनिर्वाणयुक्त (परम सुख-सम्पन्न) हो जाती हैं तथा समस्त दुःखों का अन्त कर देती हैं। कर्मविज्ञान ने इन पदों का यही क्रम क्यों? इसका भी युक्ति-तर्क-प्रमाण-पुरःसर समाधान किया है।

सिद्धों के आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता के सूचक : आठ आत्मिक गुण

सिद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व सिद्ध-परमात्मा ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों का समूल नाश करके कर्म, जन्म-मरण, शरीरादि से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। कर्मों के कारण दबी हुई आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों के मुक्त दशा में पूर्णतया अनावृत, जाग्रत एवं प्रगट हो जाने से मुक्तात्माओं के आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता के सूचक ८ आध्यात्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं-(१) अनन्त ज्ञान-पंचविध ज्ञानावरणीय कर्म का समूल क्षय हो जाने से केवलज्ञानरूपी अनन्त ज्ञान प्रगट हो जाता है, (२) अनन्त दर्शन-नौ प्रकार के

दर्शनावरणीय कर्म क्षय हो जाने से आत्मा का दर्शनगुण पूर्णतया प्रगट हो जाने से केवलदर्शनरूप अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, (३) अनन्त अव्याबाध-सुख–दो प्रकार के वेदनीय कर्म के क्षय से उन्हें अनन्त अव्याबाध-सुख प्राप्त हो जाते हैं। (४) क्षायिक सम्यक्त्व–दो प्रकार के मोहनीय (दर्शनमोहनीय = चारित्रमोहनीय) कर्म के क्षय हो जाने के क्षायिक सम्यक्त्व तथा पूर्ण समता तथा पूर्ण निराकुलतारूप स्वरूपरमणरूप चारित्र गुण प्राप्त होता है। (५) अव्ययत्व (अक्षयस्थिति)–चारों प्रकार के आयुष्यकर्म का क्षय हो जाने के सिद्ध-परमात्मा को अव्ययत्व (अजर-अमरत्व) गुण प्राप्त होता है। (६) अमूर्तिक (अरूपित्व)–दो प्रकार के नामकर्म (शुभ नाम, अशुभ नामकर्म) का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान में अमूर्तिक–अरूपित्व गुण प्रगट हुआ। (७) अगुरु-लघुत्व–दो प्रकार के गोत्रकर्म (उच्चगोत्र-नीचगोत्र) का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान अगुरु-लघुत्वगुण से युक्त हो गए। (८) अनन्त बलवीर्यत्व (अनन्त शक्ति)–पाँच प्रकार के अन्तरायकर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध-प्रभु में अनन्त बलवीर्यत्व गुण प्रगट हुआ।

इन्हीं आठ कर्मों से भेदों की दृष्टि से क्रमशः आठ कर्मों के ५ + ९ + २ + २ + ४ + २ + २ + ५ = ३१ आवरणों के दूर हो जाने से सिद्धों में कुल ३१ गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। सिद्धों के ये ८ या ३१ गुण पूर्ण आध्यात्मिक विकास के प्रतीक हैं। इन ८ विशिष्ट गुणों से सिद्ध-मुक्त आत्माओं की पहचान होती है तथा इन्हीं आठ विशिष्ट गुणों से सिद्ध-परमात्मा को सम्यक् रूप से जाँचा–परखा जा सकता है।

सिद्ध-मुक्त आत्माओं का गुणस्थान-क्रमारोह

सिद्ध-मुक्त आत्माओं का गुणस्थान-क्रमारोह इस प्रकार है–चतुर्थ गुणस्थान से उनके आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। सम्यक्त्व-प्राप्ति आत्म-जागृति का प्रथम सोपान है। तदनन्तर पाँचवें-छठे गुणस्थान के माध्यम से आत्मा अपनी कर्ममुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सहारे सम्यक्चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों सम्यक्चारित्र के साथ अप्रमादपूर्वक सम्यक्तप की शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों कर्मों का निरोध होने से द्रव्यभावात्मक पंचविध संवर से नई आती हुई और सकामनिर्जरा से पुरानी बँधी हुई कर्मवर्गणाएँ शिथिल या क्षीण होती जाती हैं। सातवें से आगे बारहवें गुणस्थान के सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते विशुद्धि में वृद्धि होने से आत्मा शरीरदशा में रहती हुई भी ४ घातिकर्मों के आवरण से सर्वथा रहित हो जाती है। तत्फलस्वरूप अनन्त ज्ञानादि चार आत्मिक गुण तो पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं, बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में। जो भव या आयुष्य को टिकाये रखने वाली ४ भवोपग्राही अघातिकर्मवर्गणाएँ बाकी रही थीं, वे भी अन्त में १४वें गुणस्थान में छूट जाती हैं। कर्मों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त वह आत्मा सिद्ध-बुद्ध, जन्म-मरणरहित, सर्वदुःखों से रहित पूर्ण शुद्ध परमात्मा बन जाती है।

सर्वकर्ममुक्तिरूप सिद्धि-प्राप्ति के विषय में जैनधर्म की उदारता

जैनधर्म मोक्ष-प्राप्ति या परमात्मपद-प्राप्ति में किसी भी प्रकार के देश, वेश, जाति, धर्म-सम्प्रदाय, संघ, लिंग, वर्ण, रंग, परम्परा, क्रियाकाण्ड, दार्शनिक मान्यताओं आदि की रोक नहीं लगाता। जैनागमों में गुणपूजा और वीतरागता, पूर्णसमता (समभावभावितात्मा), कषायों से सर्वथा मुक्ति, राग-द्वेष-मोह, मिथ्यात्व आदि पर विजय को ही वह सर्वकर्ममुक्त मोक्ष-प्राप्ति, सिद्धत्व-प्राप्ति या परमात्मपद-प्राप्ति में मुख्य कारण है। जैन-कर्मविज्ञान की दृष्टि में देश, वेश, भाषा, लिंग, वर्ण, रंग, वय, स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद, धर्म-सम्प्रदायों के भेद, परम्पराएँ, मान्यताएँ गौण हैं। जैनधर्म के इस अनेकान्त, उदार गुणपूजा-प्रधान दृष्टिकोण के अनुसार १५ प्रकार में से किसी भी एक प्रकार से कोई भी भव्य मानव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो सकता है–(१) तीर्थसिद्धा, (२) अतीर्थसिद्धा, (३) तीर्थंकरसिद्धा, (४) अतीर्थंकरसिद्धा, (५) स्वयंबुद्धसिद्धा, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्धा, (७) बुद्धबोधितसिद्धा, (८) स्त्रीलिंगसिद्धा, (९) पुरुषलिंगसिद्धा, (१०) नपुंसकलिंगसिद्धा, (११) स्वलिंगसिद्धा, (१२) अन्यलिंगसिद्धा, (१३) गृहीलिंगसिद्धा, (१४) एकसिद्धा, (१५) अनेकसिद्धा।

विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना

१४ प्रकार की अपेक्षा से सिद्ध संख्या–प्रज्ञापनासूत्रानुसार पूर्वोक्त १५ प्रकार के सिद्धों में से १४ प्रकार के सिद्धों की एक समय में गणना इस प्रकार है–तीर्थ की विद्यमानता में एक समय में १०८ तक,

तीर्थ का विच्छेद होने पर एक समय में १०, तीर्थंकर एक साथ २०, अतीर्थंकर (सामान्यकेवली) १०८ तक, स्वयंबुद्ध १०८ तक, प्रत्येकबुद्ध ६, बुद्धबोधित १०८ तक, स्वलिंगी १०८, अन्यलिंगी १०, गृहलिंगी ४, स्त्रीलिंगी २०, पुरुषलिंगी १०८, नपुंसकलिंगी एक समय में १०, और अनेकसिद्ध एक समय में अधिक से अधिक १०८ तक सिद्ध-मुक्त हो सकते हैं।

पूर्वभवाश्रित सिद्ध एक समय में उत्कृष्टतः कितने ?–पहली, दूसरी और तीसरी नरकभूमि से निकलकर आने वाले जीव एक समय में १०, चौथी नरकभूमि से निकले हुए ४, पृथ्वीकाय और अप्काय से निकले हुए ४, पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच और तिर्यंची की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकलकर मनुष्य बने हुए जीव १०, मनुष्यनी की पर्याय से निकलकर मनुष्य बने हुए १० सिद्ध होते हैं, भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिष्कदेवों से आए हुए २० मनुष्य सिद्ध होते हैं और वैमानिक देवों से आए हुए १०८ सिद्ध होते हैं।

क्षेत्राश्रित तथा कालाश्रित सिद्धों की एक समय में उत्कृष्ट संख्या–ऊर्ध्वलोक में ४, अधोलोक में २० और मध्यलोक में १०८ सिद्ध होते हैं। यद्यपि समुद्र में २, सरोवरों में ३ तथा प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध होते हैं तथापि इनमें एक समय में अधिक से अधिक १०८ तक सिद्ध होते हैं, इससे अधिक नहीं। मेरुपर्वत के भद्रशालवन, नन्दनवन और सौमनसवन में ४, पाण्डुकवन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्रों में १०, कर्मभूमि के क्षेत्रों में १०८, प्रथम, द्वितीय, पंचम और छठे आरे में १० और तीसरे, चौथे आरे में १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

अवगाहनाश्रित सिद्धों की एक समय में उत्कृष्ट संख्या–जघन्य २ हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४, मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं।

समयाश्रित जघन्यतः और उत्कृष्टतः सिद्धों की संख्या–प्रज्ञापनासूत्रानुसार जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से एक समय से आठ समय तक ३२ मनुष्य सिद्ध-मुक्त हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्टतः ३२ जीव सिद्ध हो सकते हैं, इसी तरह दूसरे, तीसरे से लेकर यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट ३२ जीव सिद्ध हो सकते हैं। आठ समयों के पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। अन्तरा का प्रमाण इस प्रकार है–३३ से लेकर ४८ तक निरन्तर ७ समय तक, ४९ से लेकर ६० तक निरन्तर ६ समय तक, ६१ से लेकर ७२ तक निरन्तर ५ समय तक, ७३ से लेकर ८४ तक निरन्तर ४ समय तक, ८५ से लेकर ९६ तक निरन्तर ३ समय तक, ९७ से लेकर १०२ तक निरन्तर २ समय तक जीव मोक्ष में जा सकते हैं। इसके पश्चात् अवश्य अन्तरा पड़ता है। १०३ से लेकर १०८ तक जीव निरन्तर १ समय में मोक्ष जा सकते हैं = सिद्ध हो सकते हैं। फलितार्थ यह है कि दो, तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्टतः सिद्ध नहीं हो सकते।

जैनधर्म ईश्वरवादी है, किन्तु ईश्वरकर्तृत्ववादी या एकेश्वरवादी नहीं

जैनधर्म ईश्वरवादी अवश्य है, किन्तु वह ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं मानता। अगर जैनधर्म ईश्वरवादी न होता तो सर्वकर्ममुक्त, विदेहमुक्त, मोक्ष-प्राप्त, सिद्ध, बुद्ध, सर्वदुःखरहित, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप आत्मिक ऐश्वर्य से पूर्ण सम्पन्न ईश्वर का इतना तात्त्विक और युक्तिपूर्ण विवेचन न करता। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण आध्यात्मिक विकास (चरम लक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है, आत्मा की पूर्ण शुद्धतारूप स्व-धर्म का अस्वीकार, अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। ईश्वरत्व, परमात्म-पद या मोक्ष साध्य है, आत्मा साधक है, धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म) साधना है।

सभी आत्माओं में ईश्वरत्व : किन्तु पूर्ण प्रकट, अर्धप्रकट, यत्किंचित् प्रकट

'अप्पा सो परमप्पा' इस जैन-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा (निश्चयदृष्टि से) परमात्मा है। जो गुण शुद्ध आत्मा (परमात्मा या ईश्वर) में हैं, वे ही गुण सामान्य आत्मा में निश्चय (परमार्थ) दृष्टि से विद्यमान हैं, किन्तु उन पर कर्मों का आवरण न्यूनाधिकरूप में होने से, व्यवहारदृष्टि से कर्मबद्ध होने से वह

अभी पूर्ण ईश्वर नहीं बन सकता है। इसलिए आचार्यों ने ईश्वर (आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा) को तीन भागों में वर्गीकृत कर दिया है–(१) सिद्ध (अष्टकर्मों से मुक्त) ईश्वर, मुक्त (चार घातिकर्मों से मुक्त) ईश्वर और बद्ध ईश्वर वे हैं, जो अभी आठों ही कर्मों से न्यूनाधिक रूप में बद्ध हैं, वे संसारस्थ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका या अन्य संसारस्थ सभी जीव हैं।

सिद्ध ईश्वर में ईश्वरत्व (आत्मिक ऐश्वर्य) पूर्णतया प्रगट है, मुक्त ईश्वर में सदेहमुक्त, अरिहन्त, सामान्यकेवली या तीर्थंकर हैं, जिनमें ईश्वरत्व पूर्णतया प्रकट नहीं है, किन्तु देहयुक्त होने से अर्ध-ईश्वरत्व प्रकट है। और बद्ध ईश्वर में दो कोटि के जीव हैं–अल्पबद्ध और अधिककर्मबद्ध। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, जो कर्ममुक्ति के लिए पुरुषार्थ करते हैं–संवर-निर्जरा द्वारा, वे अल्पकर्मबद्ध हैं, और जो मिथ्यात्वादि कारणों से अधिकांश रूप से कर्मों से बद्ध हैं, वे अधिक कर्मबद्ध हैं, ये सब बद्ध ईश्वर की कोटि में आते हैं।

जैनदृष्टि से ईश्वर एक नहीं, अनन्त हैं

जैनधर्म की दृष्टि में पूर्वोक्त सिद्ध-मुक्त ईश्वर एक नहीं, अनन्त हैं। जिन्होंने भी आठ कर्मों से, जन्म-मरणादि संसार से, सर्वदुःखों से मुक्ति पा ली, राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि विकारों पर पूर्णतया विजय पा ली, वे सब भूतकाल में भी सिद्ध-मुक्त हुए हैं, भविष्य में भी होंगे, और वर्तमान में भी महाविदेह क्षेत्र से होते हैं। वर्तमान में जो भी अर्हद्दशा-प्राप्त सामान्यकेवली या तीर्थंकर कोटि के सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) ईश्वर हैं, वे भविष्य में सिद्ध कोटि के विदेहमुक्त ईश्वर अवश्य बनेंगे। और जो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के बद्ध कोटि के ईश्वर हैं, वे भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करके एक दिन वीतराग अर्हद्दशा-प्राप्त केवलज्ञानी तथा सिद्ध-मुक्त कोटि के ईश्वर हो सकेंगे। अगर एक ही ईश्वर माना जाए तो ईश्वरत्व-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति (परमात्मपद-प्राप्ति) के लिये किया गया पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा। इसीलिए पहले कहा गया है–जो भी मानव सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की विधिवत् साधना-आराधना करता है, वह संसार से, जन्म-मरणादि दुःखों से–सर्व कर्मों से सर्वथा मुक्त सिद्ध-बुद्ध परमात्मा (ईश्वर) बन सकता है। भगवद्गीता भी इस तथ्य का समर्थन करती है।

जैनमान्य और वैदिकमान्य ईश्वर जन्म से ही अजन्मा नहीं, पुरुषार्थ से है

जैनधर्ममान्य सिद्ध-परमात्मा कोटि के ईश्वर और वैदिकधर्म के गीतामान्य ईश्वर के स्वरूप में कोई खास अन्तर नहीं है, परन्तु जैनधर्म इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि तथाकथित ईश्वर सदा से ही अजन्मा है, उसे माँ के उदर से जन्म लेना नहीं पड़ता, वह तो जन्म से ईश्वर है, उसे ईश्वरत्व-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की किसी प्रकार की साधना या कर्मक्षय के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं होती; इस अयुक्तिसंगत तर्क का गीता और जैनागम दोनों द्वारा खण्डन हो जाता है। जो भी पूर्वोक्त प्रकार सर्वकर्ममुक्त ईश्वर बनता है, वह एक जन्म या अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से ही बनता है। हाँ, ईश्वर बनने के बाद वह अजन्मा (जन्म-मरण से रहित) हो जाता है, पहले नहीं। इसलिए ईश्वर 'स्वयम्भू' (स्वयं जन्म ले लेता है या स्वयं हो जाता है, यह कथन भी किसी तरह युक्तिसंगत नहीं। हाँ, उसे ईश्वरत्व स्वयं पुरुषार्थ से मिलता है, इस दृष्टि से स्वयम्भू है।

कतिपय दार्शनिक जीवात्मा का एकमात्र एक परमात्मा (ईश्वर) में विलीन होना मानते हैं या उसे परब्रह्म परमात्मा का अंशरूप मानते हैं, ये दोनों तथ्य जैनदर्शनमान्य नहीं करता। जो भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, वह स्वतंत्र हो जाता है, जितने भी मुक्त आत्माएँ हैं, वे सब अपने आप में आध्यात्मिक विकास में परिपूर्ण हैं, शुद्ध हैं, उन्हें दूसरे किसी मुक्त आत्मा का आश्रय लेने या विलीन होने की आवश्यकता नहीं रहती। जितने भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माएँ हैं उनमें आत्मिकदृष्टि से कोई भी भेद करना सम्भव ही नहीं है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अल्पबहुत्व, अन्तर, अवगाहना आदि की अपेक्षा मुक्तात्माओं में जो भेद (अन्तर) की कल्पना की गई है, वह सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से तथा मुक्त होने से पूर्व की अवस्था-विशेष की दृष्टि से की गई है।

ईश्वर को जगत्-कर्तृत्व के पचड़े में न डालो

ऐसा सर्वकर्ममुक्त ईश्वर जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता माना जाए तो उसमें अनेक आपेक्ष और दोषों के आने की सम्भावना है, जिसका विश्लेषण व निराकरण हम कर्मविज्ञान के द्वितीय भाग में कर आए हैं। वैसे देखा जाए तो आत्मा जब तक सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि से युक्त) होती है, तभी तक उसमें परभाव कर्तृत्व होता है। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा ईश्वर निरुपाधिक (शरीर-कर्मादि से मुक्त) हैं, उसमें परभावकर्तृत्व नहीं होता, केवल स्वभावरमणता होती है। इसीलिए सिद्ध ईश्वर में परभाव (सृष्टि) कर्तृत्व का आरोप करना युक्ति-विरुद्ध एवं निराधार है। अतः पूर्ण शुद्ध, निरंजन, निराकार सर्वकर्ममुक्त ईश्वर भला पुनः कर्ममल से लिपटकर संसार के जन्म-मरणादि चक्र में फँसने के लिए मोक्ष से लौटकर क्यों आएँगे? यह दृश्यमान चेतन-अचेतनरूप जगत् प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त है, प्रकृति के नियम से संचालित है। सभी प्राणी स्व-स्व-कर्मानुसार सुख-दुःख पाते हैं, कर्मों को बाँधते भी स्वयं हैं, तोड़ते भी स्वयं हैं। अतः जगत् के कर्तृत्व का भार किसी परमात्म-सत्ता (ईश्वर) पर डालने की जरूरत नहीं। प्रत्येक आशा अपने-अपने कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं है, वही अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न ईश्वर है। अपनी सृष्टि का कर्त्ता स्वयं ही है। जैनदर्शन ने प्रत्येक आत्मा में निरूपित कर्तृत्ववाद प्ररूपित किया है।

परमात्म-भक्ति से आध्यात्मिक लाभ

जो व्यक्ति कर्मबद्ध हैं, वे इन कर्ममुक्त परमात्मद्वय का ध्यान, स्मरण, कीर्तन, स्तवन, स्तुति, गुणगान, अर्चन, वन्दन-नमन करते हैं, अथवा उनके स्वरूप का अन्तःकरण में चिन्तन-मनन करते हैं, मानसिकरूप से उनका सान्निध्य, सामीप्य या सन्निकटभाव प्राप्त करते हैं, उनको दर्शनविशुद्धि, आत्म-शक्ति, समता एवं वीतरागता की प्रेरणा आदि महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ मिलते हैं।

अरिहन्त और सिद्ध-परमात्मा अपने में सोये हुए परमात्मतत्त्व को जगाने, प्राप्त कराने के लिए प्रेरक हैं, प्रकाशस्तम्भ हैं, आदर्श हैं। सिद्ध या अरिहन्त प्रभु के प्रति भक्तिभाव, उनके सद्गुणों में बना रहे तो व्यक्ति के पास दुर्गुण, दुर्भाव, विभाव भी पास नहीं फटकेंगे। अतः सिद्ध-परमात्मा का अवलम्बन भव्य जीवों के लिए संसार-सागर, तारक, भवचक्र से रक्षक तथा परभावों में होने वाले राग-द्वेष से बचाने वाला है।

परमात्म-प्राप्ति का मूलाधार : आत्म-स्वभाव में स्थिरता

निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा का स्वभाव समान

निश्चयदृष्टि से सामान्य आत्मा और परमात्मा का मूल स्वभाव एक-सा है। 'अप्पा सो परमप्पा' यह उक्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। 'प्रवचनसार' में भी इसी तथ्य को उजागर किया गया है– "सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं अणंत-णाणादि-गुण-समिद्धोऽहं।"–मैं सिद्ध-परमात्मा हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध हूँ। शुद्ध, इस माने में हूँ कि निर्विकार, निर्विकल्प, परभावों-विभावों से रहित कर्ममलरहित आत्मा हूँ। आशय यह है कि व्यवहारदृष्टि से वर्तमान में कर्मलिप्त आत्मा का और सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-परमात्मा का मूल स्वभाव और गुणधर्म एक समान है। दोनों का स्वभाव, गुणधर्म या स्वरूप सदृश होने के कारण ही कहा जाता है–आत्मा ही परमात्मा है अथवा आत्मा परमात्मा हो सकता है अथवा आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। सिद्ध-परमात्मा का जो स्वभाव है, वही स्वभाव प्रगट करने की योग्यता साधक में है। मिट्टी और घड़े के स्वभाव में सदृशता है, इसीलिए तो मिट्टी से घड़ा बनता है।

शक्ति (लब्धि) तो है, अभिव्यक्ति नहीं है

परन्तु देखा जाए तो सिद्ध-परमात्मा बनने की सर्वाधिक योग्यता मनुष्य में है। उसमें यह पूर्ण विवेक हो सकता है कि परभाव और विभाव मेरे अपने नहीं हैं। अपूर्णता या विभिन्नता आत्मा का शुद्ध मूल स्वभाव नहीं है। उसकी आत्मा में भी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध-सुख (आनन्द) और अनन्त बलवीर्य (शक्ति) लब्धिरूप में है; परन्तु उनकी अभिव्यक्ति नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मानव इस तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम कर लेता है कि शक्तिरूप से आत्मा परमात्मा है, परन्तु वर्तमान में जो विसदृशता है,

उसे दूर करने के लिए परमात्मदशा को अभिव्यक्त (प्रकट) करने का सुअवसर इस मनुष्य-जन्म में, मनुष्य-शरीर में ही है। फिर वह आत्मा के प्रति तीव्र रुचिपूर्वक सत्पुरुषों के समागम से, सुशास्त्रों के स्वाध्याय से, आत्मध्यान-चिन्तन से आत्मा के परमात्म-सम शुद्ध स्वभाव की पूर्वोक्त रूप से भलीभाँति पहचान कर लेता है। फिर उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा, दृढ़ प्रतीति, तीव्र रुचि और तड़फन से भावितात्मा हो जाता है कि मैं अनन्त चतुष्टय गुणों से सम्पन्न स्वाभाविक तत्त्व (आत्मद्रव्य) हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध-परमात्मा की जाति का हूँ। सिद्ध-परमात्मा में कर्मोपाधि नहीं है, वैसे मैं भी कर्मोपाधि से रहित हूँ। निश्चयदृष्टि से तो मैं भी संकल्प-विकल्प रागादि उपाधियों से रहित हूँ। सिद्ध-परमात्मा की आत्मा जितनी महान् है, उतनी ही महान् मेरी आत्मा है। मेरी अन्तरंगदशा भी परमात्मा के समान है। इस प्रकार जो पूर्णता की प्रतीति करके अन्तरात्मा में भाव से सिद्ध-परमात्मा को स्थापित कर लेता है; उसमें राग-द्वेषादि विभाव और स्वभाव-रमण की अस्थिरता बहुत कम रह जाती है। 'परमानन्द पंचविंशति' के अनुसार उसका सहजानन्द ज्ञानघन चैतन्य परमात्मा के समान महान् रूप में प्रकाशित (प्रकट) हो जाता है। साधक जब यह दृढ़-निश्चय कर लेता है कि (मानव) आत्मा में से ही परमात्म-शक्ति प्रकट होती है। आत्मा में परमात्मा बनने की यह शक्ति कहीं बाहर से, पर-पदार्थों से या किसी शक्ति या भगवान के देने से नहीं प्रकट होती, वह तो उसके भीतर ही भरी है, उसके स्व-पुरुषार्थ से ही अभिव्यक्त हो सकती है। जैसे पिप्पल में ६४ पहर तक घोंटने से, उसी में से ही तीक्ष्णता-शक्ति प्रकट होती है, वैसे ही परिपूर्ण परमात्म-शक्ति से भरी आत्मा भी उसी के प्रति श्रद्धा, ज्ञान की एकाग्रता तथा शुद्ध (निश्चय) रत्नत्रय के सतत अभ्यास से अपने में परमात्म-शक्ति प्रकट कर सकती है। उसे यह दृढ़ प्रतीति अभेद ध्रुवदृष्टि के रूप परमार्थदृष्टि (अभेद ध्रुवदृष्टि) होने से अन्यान्य शंका-कुशंका या विकल्प जाल उसके मन में उठते ही नहीं। उसे यह पक्का विश्वास हो जाता है कि मेरी आत्मा में वर्तमान में अनन्त चतुष्टय शक्तिरूप में विद्यमान हैं, उनकी अभिव्यक्ति एक न एक दिन अवश्य होगी। जैसे–अर्जुन मुनि, गजसुकुमार मुनि आदि मुमुक्षुसाधकों ने आत्मा और परमात्मा के स्वभाव-सादृश्य की अभेद ध्रुवदृष्टि रखी, फिर उन्होंने तीर्थंकर, गुरु आदि से मार्गदर्शन पाकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव में सतत रत और स्थिर रहने तथा परभावों के ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का अभ्यास किया। फलतः वे शीघ्र ही स्व-स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष या परमात्मपद प्राप्त कर सके। वैसे मैं भी इस प्रकार का स्वभाव में स्थिर रहने का निरन्तर अभ्यास करूँ तो मैं भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन सकता हूँ।

अतः जो साधक आत्मा की विभिन्न पर्यायों पर दृष्टि न रखकर एकमात्र आत्म-द्रव्य पर अखण्ड ध्रुवदृष्टि रखता है। वह पर्यायों को जानता-देखता अवश्य है; परन्तु न तो उनका आलम्बन लेता है, न ही स्वभाव में रमण करने में सहायक होने की उनसे आशा-आकांक्षा रखता है। वह पूर्वोक्त विभावों (कषायादि विकारों) को अपने में आरोपित समझकर उन्हें नहीं अपनाता। कर्म प्राप्त शरीरादि परभावों पर राग-द्वेषादि से दूर रहता है, सिर्फ उनका ज्ञाता-द्रष्टा तथा साक्षी रहता है। फलतः वह आत्मा के शुद्ध स्वभाव एवं सच्चिदानन्दमय स्वरूप का ही सतत भान रखता है।

वास्तव में आत्मा के स्वभाव की या स्वरूप की या निजी गुणों की निश्चित प्रतीति होना ही परमात्मभाव की साधना का श्रीगणेश है। उसका सीधा और सरल उपाय है–उष्ण हो जाने पर भी पानी के मूल शीतल स्वभाव के अनुभव-ज्ञान की तरह विभावों से आत्मा के युक्त होने पर भी आत्मा के मूल स्वभाव, यथार्थ स्वरूप और निजी स्व-गुणों का त्रैकालिक अनुभव-ज्ञान होना निश्चित दृढ़ प्रतीति है। ऐसे मुमुक्षुसाधक की दृष्टि आत्मा पर लगी हुई अशुद्धता या औपाधिक अशुद्ध पर्यायों की ओर नहीं जाती, अपितु उसकी दृष्टि अशुद्धिरहित शुद्ध आत्मभाव को ही देखती है। अर्थात् ऊपर-ऊपर से होने वाले शुभाशुभ भावों के कारण शुद्ध स्वभावात्मक आत्मा को विकार भावात्मक न मानकर आन्तरिक मूल स्वरूप को वह देखता है। स्वभावमय आत्मा किसी कारणवश यदि परभावमय बन जाता है, उस समय मुमुक्षुसाधक सावधान होकर स्व-स्वभाव में लीन हो जाता है, स्वतः ही परभावों से मुक्त हो जाता है। कदाचित् परभाव में चले जाने पर भी अन्तर में उदासीनता हो, या तुरन्त सावधान होकर स्व-स्वभाव में लीन हो जाए तो वह द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों के बन्ध से छूट जाता है। जैसे स्फटिक मूर्ति पर पड़ी हुई धूल, ऊपर ही रहती

है, उसके अन्दर नहीं प्रविष्ट हो सकती, वैसे ही स्फटिक सम निर्मल चैतन्य मूर्ति आत्मा पर भी कर्मरूपी धूल (रज) पड़ी होने पर भी वह शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकती। यों जानकर दृढ़ निश्चय के साथ प्रतीति करे तो ज्ञानानन्द स्वभावरूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है। इसी प्रकार आत्मा को रागादि विभावों (विकारों), विकल्पों और परभावों से निर्लिप्त जानकर, अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शनरूपी नेत्रों से (इन्द्रियों द्वारा नहीं) उसे शुद्ध रूप में जानने-देखने का सतत अभ्यास करे तो शुद्ध स्वभावनिष्ठा सुदृढ़ हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है-परभावों और विभावों के प्रति सतत उदासीनता, उपेक्षा और विरक्ति की। यह अनुप्रेक्षण करे कि मैंने पूर्व-भवों तथा इस भव में भी शरीरादि निमित्तों को खूब जाने, अपने माने, परन्तु उपादानरूप आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना, न ही अपना माना। अब परभावों-विभावों से प्रति सतत उदासीनता रखने से स्वभाव में निष्ठा होगी। निरन्तर उदासीनता का क्रम रखे बिना स्वभावनिष्ठा की भूमिका सुदृढ़ नहीं होगी। बीच में जरा-सा प्रमाद का झोंका आया कि आत्मा परभावों और विभावों की ओर लुढ़क जायेगी, विरक्ति और उदासीनता का क्रम टूट जायेगा।

देहधारी मानव खाना-पीना आदि शारीरिक क्रियाएँ करते समय, इन्द्रिय-विषयों का यथावश्यक सेवन तथा पर-पदार्थों का भी यथावश्यक उपयोग करते समय उनके प्रति प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, शुभ-अशुभ या राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, हीनता-दीनता या उच्चता-नीचता के भाव न रखकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा, उदासीन, विरक्त एवं तटस्थ बनकर समभाव में रहता है तो अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव में आत्मा को स्थिर रख सकता है। पास में पर-पदार्थों के रहते हुए तथा उनका यथोचित मर्यादा में उपभोग करते हुए भी यदि उपभोग के क्षणों में राग-द्वेषात्मक परिणाम या भाव नहीं है, मन में आसक्ति, स्वादलिप्सा, तृष्णा या पाने की लालसा नहीं है तो वह साधक उदासीन एवं विरक्त रह सकता है। इस प्रकार आत्म-भावों में स्थिर रहने वाला साधक संसार में रहता हुआ भी संसार के बंधनों में नहीं फँसता। शरीर में रहकर भी शरीर की ममता-मूर्छा के कारागार में नहीं बँधता; परिवार, समाज और राष्ट्र में रहता हुआ भी अपने मूल आत्मारूपी घर को नहीं भूलता। भरत चक्रवर्ती, जनकविदेही आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जिस साधक की आत्मदृष्टि स्थिर हो जाती है, वह न बाह्य पदार्थ के प्रलोभन में फँसता है, न ही रागादि विभाव उस पर हावी हो सकते हैं और न उस जागरूक और अप्रमत्त को किसी प्रकार का मोह, काम, क्रोधादि घेर सकते हैं। वह इसी नीति पर चलता है-संसार में तुम भले ही रहो, परन्तु संसार तुम्हारे में न रहे। जल में नाव भले ही चले, नाव में जल नहीं आना चाहिए। वह कुटुम्ब, परिवार, घर-बार, धन-सम्पत्ति आदि के बीच रहता हुआ भी संसार को अपना घर नहीं समझता तथा सभी सजीव-निर्जीव परभावों से अनासक्त और अलिप्त रहता है। इन सबको वह क्षणिक कर्मजनित सम्पर्क मानता है।

ऐसा मुमुक्षु सिद्ध-परमात्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध जुड़ जाने पर इस तथ्य को हृदयंगम कर लेता है कि मेरा घर तो शाश्वत मोक्ष है, सिद्धालय है। सिद्ध-प्रभु का जो अनन्त ज्ञानादि चतुष्टययुक्त स्वभाव है, यही मेरा स्वभाव है। सिद्ध भगवान का अनन्त ज्ञानादि गुणरूप धन ही मेरा धन है। इस प्रकार उसकी दृष्टि, रुचि, मान्यता और लक्ष्य बदल जाती है कि संसार के पुण्य-पाप, शरीरादि पर-भाव या रागादि विभाव मेरे नहीं, मैं तो शुद्ध सच्चिदानन्दघनरूप सिद्ध-परमात्म-स्वभावमय आत्मा हूँ। इसके पश्चात् वह आत्मा तीन या चार अथवा सात या आठ भव तक रहती है, तो भी वह संसार से निर्लिप्त, विरक्त-सा रहता है। सूर्य का प्रकाश होते ही जैसे सघन से सघन अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही स्वभाव में स्थिरता के सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते ही अज्ञान, मिथ्यात्वादिरूप सघन अन्धकार मिट जाता है। अज्ञानी जीव पहले संसाररूपी कारागृह में रहने में तथा जन्म-मरणादि के भयंकर कष्ट सहने में मोह-ममत्ववश आनन्द मानता था, अब सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्त्व का प्रकाश होते ही स्वभावरूपी घर में लौटने तथा स्वभाव में स्थिरता करने में परभाव-बन्धन से मुक्ति और परमात्मभाव-प्राप्ति में आनन्द मानता है। जैसे-काफी लम्बे समय तक अर्धनिद्रित अवस्था में चलने वाला स्वप्न मनुष्य के जाग्रत होते ही गायब हो जाता है, वैसे ही अनादिकाल से विभाव में रमण करने के संस्कार भी सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते ही क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। फिर वह सम्यग्ज्ञान दृष्टिमान् आत्मा स्व-स्वभाव में परिणत होने लगती है, फिर धीरे-धीरे स्वभाव में दृढ़ता से स्थिर होते ही वह परमात्मपद को प्राप्त कर लेती है।

स्वभाव में स्थिर होने का अर्थ : अपने ज्ञान में ही स्थिर होना

आत्मा और ज्ञान केवल कहने के लिए भिन्न है, निश्चयदृष्टि से ये भिन्न नहीं हैं। अतः किसी पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति या भाव से सम्पर्क चाहे इन्द्रियों से हो, मन से हो या वचन से; उनको जानने-देखने तक ही सीमित रखना ज्ञानमय स्वभाव में स्थित रहना है और ज्ञानमय स्वभाव में स्थिर रहना ही स्वभाव में स्थिर रहना है। परन्तु जब वह व्यक्ति ज्ञानात्मक स्वभाव से हटकर या उसे भूलकर, विभावात्मक परभाव में बह जाता है। ज्ञान की निर्मल धारा में राग, द्वेष, अहंत्व, ममत्व या कषायों का संवेदनात्मक कीचड़ मिला, मिथ्यात्व और अज्ञान का कालुष्य भी मिला। फलतः ज्ञान की वह शुद्ध धारा न रहकर संवेदन की धारा बन जाती है।

निखालिस ज्ञान की भूमिका में किसी प्रकार के संवेदन का स्वीकार नहीं होता। अतः किसी भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ को सिर्फ जानना-देखना, किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का प्रिय-अप्रिय आदि का संवेदन न करना अस्वीकार की स्थिति है। कोरा ज्ञान या कोरा दर्शन अस्वीकार की स्थिति है, वही शुद्ध आत्मा का स्वभाव है, जब स्वभावनिष्ट आत्मा परभाव का अस्वीकार कर देता है, तब उसमें परभाव का प्रभाव, संवेदन, संक्रमण या प्रवेश नहीं हो सकता, संवेदन करना स्वीकार की स्थिति है।

स्वभावनिष्ठ की स्वभाव में स्थिरता क्रमशः तीन धाराओं में

सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी की निवृत्ति के क्षणों में स्वभाव में स्थिरता अनुभवधारा के रूप में रहती है, प्रवृत्ति के क्षणों में लक्ष्यधारा के रूप में और सुषुप्त अवस्था के दौरान आत्मा की प्रतीतिधारा के रूप में रहती है। इसका समग्ररूप से विश्लेषण कर्मविज्ञान ने किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु आत्मा किसी भी अवस्था में हो, उसे आत्म-विस्मृति नहीं होती। उसके अन्तःकरण में आत्म-स्मृति अथवा आत्म-स्वभाव में स्थिरता की जागृति अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति की धारा के रूप में बहती रहती है। इस प्रकार की आत्म-स्वभाव में सतत दृढ़ स्थिरता ही परमात्मभाव या परमात्मपद-प्राप्ति का मूलाधार है।

चतुर्गुणात्मक स्वभाव स्थितिरूप परमात्मपद-प्राप्ति कैसे हो ?

मोक्ष-प्राप्ति के लिए या आत्मा से परमात्मा बनने के लिए आत्मा के स्वभाव, स्वरूप या ज्ञानादि चार निजी गुण पूर्णरूप से विकसित, अनावृत और अभिव्यक्त होने आवश्यक हैं। आत्मा के मौलिक गुणात्मक स्वभाव के चार प्रकार ये हैं-(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त आनन्द (अव्याबाध-सुख), और (४) अनन्त आत्म-शक्ति (बलवीर्य)। मोक्ष-प्राप्त परमात्मा में इन चारों गुणात्मक स्वभावों की शक्ति और अभिव्यक्ति दोनों होती है, जबकि सांसारिक आत्मा में इस चतुर्गुणात्मक शुद्ध स्वभाव की शक्ति तो होती है, किन्तु अभिव्यक्ति पूर्ण रूप में नहीं होती।

सिद्ध-परमात्मा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) पाठ में कहा गया है- "वे चन्द्रमाओं से भी अधिक निर्मलतर, सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान (तेजस्वी) और श्रेष्ठ समुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं।" इन तीनों विशेषताओं का फलितार्थ सिद्ध-परमात्मा में निहित पूर्वोक्त चार अनन्त ज्ञानादिरूप चार आत्म-गुणों की विद्यमानता है। निश्चयदृष्टि से तो विशुद्ध आत्मा में भी ये चारों गुण विद्यमान हैं। परन्तु वर्तमान में ये मौलिक आत्म-गुण कर्मों से आवृत हैं, कुण्ठित हैं, सुषुप्त हैं एवं मूर्छित हैं।

जिस प्रकार प्रखर प्रकाशमान सूर्य बादलों से आच्छादित होने पर उसका असीम प्रकाश और आतप धुंधला और शीतल हो जाता है, बादलों के हटते ही वह सूर्य पुनः जाज्वल्यमान प्रकाश और आतप के साथ तेजस्वी, प्रखर प्रकाशमान और सर्वांगरूप से विकसित हो उठता है, तथैव सामान्य आत्मा पर भी परभावों, विभावों और कर्म-मेघों का आवरण आ जाने से उसकी तेजस्विता, शक्तिमत्ता तथा अनन्त ज्ञानादि गुणात्मक स्वभाव आवृत, कुण्ठित और मन्द हो जाता है। ज्यों ही कोई स्वभावनिष्ठ साधक ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की तथा स्वभाव-रमणता की शुद्ध साधना से इन आवरणों को हटा देता है, त्यों ही वह अपने अनन्त चतुष्टय गुणों को अनावृत, जाग्रत एवं प्रकट कर सकता है।

आज जो अधिकांश मानवों के अनन्त ज्ञान-दर्शन आवृत, अनन्त आत्मानन्द विकृत एवं अनन्त आत्म-शक्ति कुण्ठित, स्खलित, मूर्च्छित हो रही है, आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचने, सर्वकर्ममुक्तिरूप परमात्मपद या स्वभाव में अवस्थितिरूप मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मा के चतुर्गुणात्मक स्वभाव में स्थिरता के उपायों तथा साधक-बाधक कारणों पर विचार करना अत्यावश्यक है।

दीर्घदृष्टि से विचार किया जाए तो परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का सर्वप्रथम मौलिक गुण, मूल स्वभाव है–अनन्त ज्ञान। वही आत्मा का मूल गुण है। आत्मा के साथ ज्ञान का अभिन्न और तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यार्थिकनय की या अभेददृष्टि से सोचा जाए तो ज्ञानगुण में शेष तीनों (दर्शन, सुख और बलवीर्य) गुणों का समावेश हो जाता है। पाश्चात्य विचारकों ने एकमात्र ज्ञानगुण में चारों आत्म-गुणों को समाविष्ट कर दिया है–ज्ञान ही श्रद्धारूप है, ज्ञान ही आनन्दमय है, ज्ञान ही चारित्रात्मक गुण है और ज्ञान ही शक्ति (बलवीर्य) है। आत्मा के अजर-अमरत्व-अविनाशित्व गुण के ज्ञान पर दृढ़ श्रद्धा या स्पष्ट दर्शन होने पर बड़े-से-बड़े संकट-दुःख आने पर व्यक्ति आत्म-श्रद्धा–परमात्म-श्रद्धा से डगमगाता नहीं। त्रिकाल स्थायी, शाश्वत, अविकृत आत्मा का तत्त्वज्ञान तथा शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान जिसके रोम-रोम में रम गया हो, वह किसी भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के अनुकूल-प्रतिकूल होने पर ज्ञाता-द्रष्टाभाव से जरा भी विचलित नहीं होता। ज्ञान की तीव्र दशा ही चारित्रगुण है। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान सुदृढ़ हो जाने पर व्यक्ति को चाहे कितने भूख-प्यास-निद्रा-पीड़ा आदि के दुःख उठाने पड़ें, वह आत्मा के ज्ञानभाव में मस्त होकर जाता है, उसे कोई भी दुःख महसूस नहीं होता। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर व्यक्ति अन्धा, बहरा, मूक या अपंग अथवा षेडौल होने पर भी दीन-हीनभावना न लाकर अत्यन्त आनन्दित, आह्लादित एवं प्रसन्न रहता है। वह मृत्यु तक को हँसते-हँसते वरण कर लेता है। अध्यात्मज्ञान-पारंगत महर्षि आत्म-ज्ञान को महाशक्ति कहते हैं। ज्ञानबल से ही व्यक्ति अपने आपको कैसी भी परिस्थिति में अडोल, अडिग, दृढ़ तथा शान्त, संयमी, धैर्यधारक, सन्तुलित, मृदु एवं तटस्थ, स्व-पर भेदविज्ञान में रत रख सकता है।

ज्ञान-स्वभाव से साधारण आत्मा तभी स्खलित होती या डिग जाती है, जब कोई सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ, व्यक्ति या परिस्थिति के आने पर दर्पण की तटस्थ, ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी न रहकर मन में राग-द्वेषादिभाव को या प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व का संवेदन कर लेता है; ज्ञान-स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाता। राग-द्वेषादि या कषाय-नोकषाय में से किसी का विकल्प न उठाए। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के रूप में तथा आचारांगसूत्र में स्थितात्मा के रूप में ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने वाले साधक के विशद लक्षण दिये गए हैं। ऐसा स्थितात्मा या स्थितप्रज्ञ इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग में समभाव से जरा भी विचलित नहीं होता। कदाचित् कोई साधक अपनी भूमिका के अनुसार रागादि या कषायादि पर पूर्ण विजय प्राप्त न होने के कारण स्वभाव में या ज्ञाता-द्रष्टाभाव में स्थिर नहीं रह पाता हो, फिर भी वह उनके प्रति उदासीनभाव, वैराग्यभाव या निःस्पृहता रखता है, प्रतिकूल परिस्थिति में भी वह निमित्त को दोष नहीं देता, न ही तीव्र आर्तध्यान करता है, अपने उपादान (आत्मा) को टटोलता है और ज्ञानबल से समभाव में स्थिर हो जाता है।

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर होने के कतिपय मूलाधार

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर होने के कतिपय मूलाधार ये हैं–(१) सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति में बाधक प्रत्येक कारण से बचता है, साधक कारण को अपनाता है। (२) प्रत्येक अवश्य ज्ञातव्य वस्तु को जानता-देखता है, किन्तु उसके प्रति राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञ-अमनोज्ञ या अनुकूल-प्रतिकूल भावों का संवेदन नहीं करता। (३) जिस ज्ञान से शान्ति, समता, समाधि और विरक्ति हो तथा जो ज्ञान रागादि विकारों तथा अज्ञान-मिथ्यात्व के अन्धकारों को दूर करने में सहायक हो, उसी सम्यग्ज्ञान को अपनाता है, इसके विपरीत मिथ्याज्ञान, मिथ्यात्वयुक्तज्ञान, कषायादि के उत्तेजक या वर्द्धक ज्ञान को वह नहीं अपनाता। भरत चक्री सम्यग्ज्ञान के बल पर ही ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहकर देह-गेह, राज्य-वैभव आदि से निर्लिप्त रहते थे।

अपने में ज्ञानादि स्वभाव का दृढ़ निश्चय करके एकाग्र हो जाओ

जैसे नदी एक बार अपने उद्गम से सुसज्ज होकर बहने लगती है तो वह नाना मैदानों को पार करती हुई अन्त में समुद्र में मिल जाती है; वैसे ही यदि एक बार भी सम्यग्दृष्टि की ज्ञान-ज्योति भलीभाँति

सुश्रद्धापूर्वक सुस्थिर सुज्ज्ञ होकर निकल पड़ती है तो उत्तरोत्तर अनेक गुणस्थानों को पार करती हुई अन्त में केवलज्ञान (अनन्त ज्ञान) रूपी समुद्र में मिल जाती है। ज्ञान-ज्योति के सुसज्ज होने का अर्थ है–मेरी आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा, वीतरागी एवं ज्ञानादि स्वभाव से युक्त है। इस प्रकार अपने में ज्ञानमयता की दृढ़ प्रतीति करना। जिसकी ज्ञान-ज्योति सुसज्ज होकर जगी कि फिर उसे रोकने, बहकाने, भटकाने और बुझाने में जगत् का कोई भी पर-पदार्थ समर्थ नहीं है। न ही कोई उसे आवृत या बाधित, कुण्ठित या सुषुप्त कर सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु को अपने में ज्ञानादि स्वभाव का दृढ़ निश्चय करके उसमें एकाग्र हो जाना चाहिए। वह निश्चय कर ले कि मेरी आत्मा विशुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ; रागादि या कषायादि मेरे नहीं हैं। पर्याय में रागादि रहते, वे मेरे (शुद्ध) स्वरूप में नहीं हैं। मेरा ज्ञान रागादि के साथ एकमेक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों के संयोग से आच्छादित रागादि मलिन आत्मा को रागादि और ज्ञान की भिन्नता की भेदज्ञानरूपी फिटकरी या निर्मली से पृथक् करके ज्ञान-स्वभाव में स्थिर हो जाए तो पूर्वबद्ध कर्मों के टूटते, मोहादि के छूटते तथा रागादि के आवरण हटते देर नहीं लगती।

जगत् के चेतन-अचेतन पदार्थों के वस्तुस्वरूप को सिर्फ जानने-देखने के साथ यदि वह जानकारी अहंकार, क्रोधादि कषाय, मद, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता आदि विभावदशा की ओर या स्वभाव से दूर घसीट ले जाती हो, भले ही वह जानकारी स्वमान्य आगमों की हो या परमात्म शास्त्रों की हो, यदि दृष्टि सम्यक् या अनेकान्तवादी सापेक्ष नहीं है तो वह ज्ञान उसके लिए सम्यक् न रहकर मिथ्याज्ञान हो सकता है।

ज्ञान के साथ संवेदन को दूर करने हेतु ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव और बन्ध के छह कारणों से दूर रहना चाहिए–(१) प्रदोष देखना, (२) निह्नव (छिपाना), (३) मात्सर्य, (४) अन्तराय, (५) आशातना, और (६) उपघात। इनका विश्लेषण आगे किया गया है।

अतः ज्ञान-स्वभाव का साधक सम्यग्ज्ञान और रागादि संवेदन का पृथक्करण करके तथा संवेदन से प्रतिक्षण दूर रहकर एकमात्र ज्ञाता-द्रष्टा बनकर एकमात्र ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रह सकता है। शास्त्रों या अध्यात्म-गुणों का स्वाध्याय भी कोरा श्रवण-वाचन कर लेना नहीं, किन्तु वह स्वाध्याय ज्ञानादि गुणात्मक आत्म-स्वभाव के प्रति रुचि और श्रद्धा को दृढ़ करने वाला तथा परभावों–विभावों से विरक्ति में वृद्धि करने वाला हो, तो वह साधक तथाविध स्वाध्याय से निम्नोक्त चार प्रकार की ज्ञानसमाधि (श्रुतसमाधि) प्राप्त कर लेता है–(१) विशुद्ध ज्ञान (श्रुतज्ञान) होना। अर्थात् ज्ञान के साथ रागादि विभावों की मिलावट न हो, चंचलता समाप्त करके विशुद्ध (कोरे) ज्ञान में स्थिर होना। (२) एकाग्रचित्त होना। अर्थात् ज्ञान में तन्मय व दत्तचित्त होना। (३) स्वयं सत्य (ज्ञानभाव) में प्रतिष्ठित (स्थिर) होना। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से दृढ़ निश्चयपूर्वक ज्ञान-स्वभाव में स्थित हो जाना। (४) दूसरों को ज्ञानभाव में स्थिर करना। यही ज्ञानसमाधि है। इससे साधक का उपयोग सतत आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहता है। ऐसी स्थिति में जब परभावों, विभावों या कर्मोपाधिकजन्य परिस्थितियों को ममत्ववश अपने मानकर अपनाने की कामना, स्पृहा, वासना या लालसा नहीं रहती, तब वह आत्म-तृप्त, आत्म-सन्तुष्ट और आत्मरति बन जाता है। आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में सतत स्थित रहने की यही कुंजी है।

परमात्मभाव का द्वितीय गुणात्मक स्वभाव : अनन्त दर्शन

निराकार सामान्य ज्ञान दर्शन है। यानी दर्शन होता है–अभेदात्मक चेतना से और ज्ञान होता है–भेदात्मक चेतना से। दर्शन का फलितार्थ है–सामान्य बोध। सामान्य बोध भी दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त हो जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान की तरह अनन्त दर्शन की शक्ति प्राप्त है, किन्तु उक्त दर्शन-स्वभाव पर आवरण आ जाने से सामान्य अवबोध भी नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव और बन्ध के भी छह कारण हैं–(१) दर्शन-प्रत्यनीकता से, (२) दर्शन का निह्नव करने (छिपाने) से, (३) दर्शन-प्राप्ति में अन्तराय डालने से, (४) सम्यग्दर्शन में दोष निकालने से, (५) सम्यग्दर्शन या दर्शनी की अविनय-आशातना करने से, और (६) सद्दर्शन में व्यर्थ का वाद-विवाद करने से। इन कारणों से अनन्त सद्दर्शन की शक्ति होते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। तत्त्वार्थसूत्रानुसार इनका विशेष स्पष्टीकरण भी कर्मविज्ञान ने किया है।

स्पष्ट है कि दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आत्मा में केवलदर्शन तक की शक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती; इतना ही नहीं नेत्र से, नेत्र के अलावा अन्य इन्द्रियों से, तथा इन्द्रिय और मन से रहित एक सीमा में आत्मा से सीधा जो दर्शन होना चाहिए वह नहीं हो पाता, तब आत्मा से सीधा त्रिकाल-त्रिलोक का दर्शन कैसे हो सकता है। इसीलिए जैनदर्शन ने चार कोटि के सामान्य बोध वाले दर्शनावरणीय कर्म बताए हैं- चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय। ये कर्म कैसे-कैसे, किन-किन कारणों से बँध जाते हैं? जिनके कारण इनसे सामान्य बोध (दर्शन) भी जीव को नहीं हो पाता, इसका कर्मविज्ञान ने विशद विश्लेषण किया है।

अवधिदर्शन की अभिव्यक्ति धर्म-शुक्लध्यान से, कायोत्सर्ग से, प्रतिसंलीनता से, संवर और निर्जरा के आचरण से तथा भेदविज्ञान से हो सकती है। यानी इन उपायों से वस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादायुक्त सामान्य बोध अवधिदर्शन में हो जाता है।

वैसे तो प्रत्येक आत्मा को केवलदर्शन की शक्ति प्राप्त है, वह जानता-देखता भी है, यानी ज्ञाता-द्रष्टा भी है, परन्तु उसे वास्तव में देखना चाहिए शुद्ध आत्मा को, परमात्म-तत्त्व को, आत्म-स्वभाव को या आत्म-गुणों को, उसकी अपेक्षा चलाकर अनावश्यक रूप से, राग-द्वेषादि विकारों से मिश्रित करके देखता है, सामान्य बोध करता है विविध ज्ञानेन्द्रियों से; तब भला यथार्थ दर्शन-शुद्ध आत्म-दर्शन कैसे हो सकता है? वह बिना प्रयोजन के ही पर-भावों, निर्जीव-सजीव पर-पदार्थों को तथा अन्य व्यक्तियों या प्राणियों को देखने (सामान्य बोध करने) में अथवा पर-भावों का रागादि विकारयुक्त सामान्य बोध करने में अपनी शक्ति लगा देता है। फलतः स्वभाव के दर्शन की शक्ति पर-भावदर्शन में लग जाती है। आत्म-दर्शन के बाधक कारणों में पूर्वोक्त छह कारणों के अतिरिक्त दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय भी माने जाएँ तो अनुचित नहीं। अतः आत्म-दर्शनरूप स्वभाव की निष्ठा ही मुमुक्षुसाधक को अनन्त (केवल) दर्शन तक पहुँचा सकती है। परमात्मा के स्वरूपदर्शन में स्थिरता समतायोग की निष्ठापूर्वक साधना से ही हो सकती है। इस तथ्य का कर्मविज्ञान ने स्पष्टीकरण किया है।

परमात्मा का तृतीय स्वभाव : अनन्त अव्याबाध-सुख (परमानन्द)

सिद्ध-परमात्मा का जो तृतीय आत्मगुणात्मक स्वभाव है-अनन्त अव्याबाध-सुख (परम आनन्द) वही सामान्य आत्मा का स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा में, विशेषतः प्रत्येक मनुष्य में अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख की शक्ति पड़ी हुई है, परन्तु वेदनीय, मोहनीय आदि अमुक कर्मों के आवरण के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वह बाह्य इन्द्रिय-विषयों, मनोविषयों तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों, इन्द्रिय-विषयों, परिस्थितियों एवं व्यक्तियों के प्रति रागादिवश सुख-दुःखों की प्राप्ति की कल्पना छोड़कर एकमात्र आत्मिक आनन्द (सुखों) मग्न-तन्मय होता जाए तो अवश्य ही परमात्मा के अनन्त सुख-स्वभाव की ओर बढ़ सकता है। शक्तिरूप में स्वात्मा में निहित अनभिव्यक्त अनन्त आत्मसुख-स्वभाव को अभिव्यक्त कर सकता है। वह आत्मिक अव्याबाध (अव्याबाध आत्म-सुख) किसी भी देश, काल, वस्तु और व्यक्ति (पर-पदार्थ) के प्रतिबन्ध से रहित हो, पर-पदार्थनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ क्षणिक सुखाभास को सुख मानकर व्यक्ति इस आत्मनिष्ठ सुख-स्वभाव से वंचित हो जाता है। वस्तुतः बाह्य-सुख पराधीन है, दुःख बीज है, जबकि आत्मिक-सुख स्वाधीन है, शाश्वत है; देशकालपात्रादि से प्रतिबद्ध नहीं है, निराबाध है। उसे कहीं बाहर से नहीं लाना है, वह तो आत्मा में ही पड़ा है। ऐसा आत्मिक सुख अतीन्द्रिय, अव्याबाध, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है, वही परमात्मा का तथा सामान्य (शुद्ध) आत्मा का स्वभाव है। पौद्गलिक कर्मोपाधिक सुख क्षणिक है, सुखाभास है, अनेक बाधाओं से युक्त है, कालान्तर में वही सुख-दुःखरूप हो जाता है। भगवान महावीर के शब्दों में मोक्ष (परमात्मपद) रूप एकान्त सुख वही प्राप्त कर पाता है, जिसकी आत्मा में अनन्त समग्र ज्ञान प्रकाशित हो उठे, अज्ञान और मोह जिसके जीवन से सदा के लिए विदा हो जाएँ और राग एवं द्वेष आदि विकारों का सम्यक् प्रकार से क्षय हो जाए। वास्तव में, सच्चा सुख आत्मा में, अपने ही अन्दर है, किसी पदार्थ, व्यक्ति, घटना या परिस्थिति में नहीं। परनिमित्तक या पुण्यकर्मजनित सुख भी क्षणिक है, सुखाभास है, उसमें आसक्ति रखने से घोर कर्मबन्ध होता है। मोह-ममत्व आदि के कारण आकुलता, बेचैनी,

उद्विग्नता चिन्ता आदि बढ़ती है। अतः मुमुक्षु आत्मार्थी मोक्ष-सुख को छोड़कर पर-पदार्थों से सुख की वांछा नहीं करता, न ही वह इष्ट-वियोग-अनिष्ट-संयोग में दुःखी होता है। वह आत्मानन्द में ही मग्न रहता है।

परमात्मभाव का मूलाधार : अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति

परमात्मा की तरह सामान्य मानवात्मा में भी अनन्त आत्मिक-शक्ति

प्राणियों में सबसे अधिक विकसित चेतना-शक्ति तथा अध्यात्म की मंजिल तक पहुँचने की क्षमता मनुष्य में है। परमात्मा या शुद्ध आत्मा के स्वभाव का चतुर्थ रूप है-अनन्त आत्मिक-शक्ति (बलवीर्य)। अतः परमात्मा की तरह मानवात्मा में भी अनन्त शक्तियों का सागर लहरा रहा है, किन्तु परमात्मा में वे अनन्त शक्तियाँ जाग्रत हैं, अभिव्यक्त हैं, जबकि मानवात्मा में वे अभी सुषुप्त हैं, अनभिव्यक्त हैं, दबी हुई हैं, कुण्ठित या मूर्च्छित हैं, प्रस्फुटित नहीं हैं।

मानवात्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र अथवा अनन्त आत्मिक अव्याबाध-सुख एवं अनन्त आत्मिक वीरता (वीर्य) की शक्ति है। ये चारों शक्तियाँ समस्त आध्यात्मिक शक्तियों की जड़ हैं। इनका मूल स्रोत-मूल उद्गम-स्थल या पावर हाउस आत्मा है। इन आध्यात्मिक शक्तियों की ही अनेक धाराएँ जीव के शरीर के दशविध प्राणों में विद्युत्धाराओं के समान पहुँचती हैं।

आत्म-शक्तियों के तीन प्रकार के प्रतिनिधि मानव : कार्य और परिणाम

मनुष्य के पास इन आध्यात्मिक शक्तियों का होना एक बात है, उनका सदुपयोग करना, उन्हें जाग्रत, अभिव्यक्त या विकसित करना दूसरी बात है। भौतिक शक्तियों में विश्वास करने वाले बहुत-से लोगों को यह पता भी नहीं है कि इन शक्तियों का मूल स्रोत ये आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं, पूर्वबद्ध शुभ कर्मों के फलस्वरूप कतिपय लोगों को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या भौतिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु वे हत्या, संहार, ठगी, लूटपाट, डकैती, चोरी, बलात्कार, अपहरण, आतंक, भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार, शोषण, परदमन आदि में उन शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं। अथवा कई लोग पूर्व पुण्य-फलस्वरूप उपर्युक्त भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होने के बावजूद भी दान, शील, तप और भाव में अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप में उनका उपयोग ही नहीं करते, वे संवर, निर्जरा और तप; संयम का अवसर आने पर भी अपनी शक्तियों का उपयोग करने से कतराते हैं। कई लोगों को अपनी पूर्वोक्त मुख्य आध्यात्मिक शक्तियों का ज्ञान या बोध भी नहीं है, अनभिज्ञ होने के बावजूद वे जानने की रुचि भी नहीं रखते। प्रबल मोहकर्मवश वे अपने पारिवारिक जनों को भी इन आध्यात्मिक शक्तियों का सदुपयोग करने में विघ्न-बाधा उपस्थित करते हैं। बहुत-से लोगों को अपने में इन आध्यात्मिक शक्तियों का अखूट खजाना ज्ञात न होने से अथवा ज्ञात होने पर भी या तो वे बाहर ही बाहर इन्हें खोजते हैं, या फिर वे अपनी शक्तियों को पर-पदार्थों को बटोरने में, भौतिक कार्यों में, येन-केन-प्रकारेण सत्ता और सम्पत्ति प्राप्त करने अथवा लड़ाई-झगड़ों में, शारीरिक बल बढ़ाने में अथवा इन्द्रियों की शक्तियों को विकसित करने मात्र में अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का दुर्व्यय व दुरुपयोग करते हैं।

इस प्रकार आत्म-शक्तियों के प्रतिनिधि मानव तीन प्रकार के होते हैं-(१) शक्तियों का उपयोग ही न करने वाले, (२) शक्तियों का दुरुपयोग करने वाले, और (३) शक्तियों का सदुपयोग करने वाले। इनमें प्रथम और द्वितीय प्रकार के व्यक्ति आत्म-शक्तियों की उपलब्धियों से वंचित रहते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति "आत्म-शक्तियों का धड़ल्ले से उपयोग करने से वे शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगी।" इस विवेकमूढ़ता और अदूरदर्शिता के कारण शक्तियों के अनुपयोग का दुष्परिणाम यह होता है कि शक्तियों के स्रोत शीघ्र ही बंद हो जाते हैं वे अवयव भी काम करना बंद कर देते हैं। अकड़ जाते हैं, शिथिल होकर दर्द करने लगते हैं। शरीर के अंगोपांगों से जितना अधिक काम लिया जाता है, उतनी ही तीव्र गति से उनमें रक्तसंचार, अधिकाधिक सशक्त, स्फूर्तिमान् और पराक्रमी बनते हैं, इसी प्रकार आत्म-शक्तियों का भी उचित उपयोग न किया जाए तो वे सूखती व समाप्त होती चली जाती हैं। इस तथ्य को विविध उदाहरणों और युक्तियों द्वारा समझाया गया है। इसलिए बुढ़ापे में आत्म-शक्तियों के विकास में पराक्रम करेंगे अथवा आत्म-शक्तियों की

जागृति और क्रियान्विति से लाभ की बात को जानते-मानते हुए भी उन्हें जाग्रत और क्रियान्वित करने टालमटूल करते रहते हैं। वे भी इससे होने वाली उपलब्धियों से वंचित रह जाते हैं। कई लोग पूर्वोक्त प्रकार से आत्म-शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं, वे भी अपनी शक्तियों का अपव्यय दुर्ध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंसा या हिंसाजनक वस्तुओं का प्रदान, पापकर्मोपदेश, कामोत्तेजक चेष्टाओं, वासनावर्द्धक अश्लील दृश्य, श्रव्य, अभक्ष्य खाद्य-पेय तथा स्पृश्य वस्तुओं का उपयोग करके शक्ति को बर्बाद कर देते हैं। कई लोग अधिकार, पद, सत्ता एवं प्रतिष्ठा के नशे में या हिंसादि पापकृत्य करके अमूल्य शक्तियों का सर्वनाश कर डालते हैं। कई साम्प्रदायिक नशे में विवेक खोकर परनिन्दा, बदनामी, चुगली आदि पापों में वृद्धि करते हैं, वे अपनी आत्मा और आत्म-शक्तियों की सुरक्षा नहीं कर पाते। परन्तु सच्चे आत्मार्थी मुमुक्षुसाधक आत्मवान् बनकर विविध परीषहों और उपसर्गों पर विजय पाने में, बाह्याभ्यन्तर द्वादशविध तपश्चरण में, आस्रवों के निरोध तथा संवर के हर मौके को न चूकने में, सत्रह प्रकार के संयम में, निरर्थक एवं अनुपयोगी अनावश्यक उपयोग करने पर अपने अंगोपांगों तथा इन्द्रियों पर ब्रेक लगाने में, उनकी चंचलता को रोकने में, अपनी आत्म-शक्तियों का सदुपयोग करते हैं। साथ ही अपनी आत्म-शक्तियों को क्षति पहुँचाने वाले ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों से जूझते हैं। दर्शनमोह और चारित्रमोह, जो आत्म-शक्तियों के विकास में बाधक बनते हैं, उन्हें भी पूर्वोक्त उपायों क्षय, क्षयोपशम और उपशम करके अप्रमत्त होकर संवर-निर्जरा करके हटाते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, राग, द्वेष, मोह आदि के आक्रमणों से स्वयं की आत्मा को जाग्रत रहकर बचाते हैं।

अधिकांश मानव अपनी आत्मा में निहित ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति का सदुपयोग न करके, विपरीत मार्ग में लगाकर दुरुपयोग कर रहे हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय, जो आत्म-शक्तियों के प्रबल शत्रु हैं, उन्हें निम्नोक्त कारणों से और बढ़ावा दे रहे हैं—(१) केवलज्ञानी अर्हन्त का, केवलिप्ररूपित (रत्नत्रयरूप) धर्म का, आचार्य और उपाध्याय का, चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ का, परिपक्व तप तथा ब्रह्मचर्य के पालन करने से जो जीव देव हुए हैं, उनका अवर्णवाद (निन्दा) करके दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं। (२) तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ करके तथा तीव्र दर्शनमोह-चारित्रमोह से चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध करते हैं। इसी प्रकार अन्तराय कर्म की दानादि पाँच लब्धियों (शक्तियों) का उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों को आत्मिक दुःख-निवारण का उपदेश प्रदान न करके, अनन्त ज्ञानादि आत्म-गुणों का लाभ प्राप्त न करके, आत्म-गुणों तथा स्वभाव में एक बार तथा रमण करने की—स्थित रहने की शक्ति का भोग व उपभोग न करके तथा पूर्वबद्ध कर्मों को तप, त्याग, प्रत्याख्यान, संयम, नियम, परीषह-उपसर्ग विजय, महाव्रत, व्रत आदि से निर्जरा (एक देश से क्षय) न करके एवं नये आते हुए कर्मों का निरोध (संवर) न करके अपनी उन पूर्वोक्त पंचविध आत्म-शक्तियों का उपयोग काम, क्रोध, लोभ आदि कषाय एवं विषयासक्ति बढ़ाने में दान देकर तथा भौतिक सुख-सुविधाओं, साधनों आदि की प्राप्ति में रात-दिन एक करके, पंचेन्द्रिय विषयों का आसक्तिपूर्वक भोग-उपभोग करके तथा खानपान, ऐशआराम, भोगविलास आमोद-प्रमोद आदि में अपनी इन्द्रियों तथा मन की शक्तियों को बर्बाद करके अपनी आत्म-शक्तियों के विकास के मार्ग में अन्तराय कर्मबन्ध करके स्वयं रोड़ा अटकाते हैं। अपनी आत्म-शक्तियों को खण्डित एवं क्षत-विक्षत कर देते हैं। इस प्रकार अपनी बहुमूल्य आत्म-शक्तियों को जहाँ लगनी चाहिए थीं, वहाँ न लगाकर नये कर्मों के आस्रव तथा बन्ध को न्यौता देने में।

कई महाव्रती या उच्चकोटि के साधक भी सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना-आराधना से आत्म-शक्तियाँ उपलब्ध करके भी मोहमूढ़ होकर जाति आदि का मद (अहंकार) करके गर्वस्फीत होकर या तो भरतपुत्र त्रिदण्डी मरीचि की तरह नीचगोत्र कर्मबन्ध कर लेते हैं या अर्जित की हुई महामूल्य आत्म-शक्ति को विश्वभूति मुनि की तरह आसुरी-शक्ति में बदल देते हैं या सम्भूति मुनि की तरह चक्रवर्ती पद एवं रानी की प्राप्ति का निदान करके अर्जित आत्म-शक्ति को कौड़ियों के मूल्य में बेच देते हैं। आराधक बनने के बदले विराधक बन जाते हैं। जन्म-मरण का अन्त करने के बदले अनेक बार पुनः-पुनः जन्म-मरण करके जीवन को घोर दुःख में डाल देते हैं; दुर्लभबोधि बन जाते हैं, भविष्य में आत्म-शक्तियाँ प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

आत्म-शक्तियों का सदुपयोग न कर पाने के सात कारण

निम्नोक्त सात कारणों से कई लोग अपनी आत्म-शक्तियों का सदुपयोग नहीं कर पाते–(१) आत्मा में शक्ति तो पड़ी ही है, फिर उसका उपयोग या उसके विकास की साधना क्यों की जाए? इस भयंकर भ्रान्ति के कारण; (२) कुछ लोग कष्टों, कठिनाइयों, उपसर्गों, विघ्न-बाधाओं, परीषहों आदि से घबराकर या कतराकर; (३) या तामसिक प्रकृति के कारण आत्म-शक्तियों को प्रगट करने में आलस्य, टालमटूल, अनेकाग्र-व्यग्र आदि के वश पुरुषार्थ ही न करके, (४) कई लोग शक्तियों में अवरोध उत्पन्न करने वाले परभावों के प्रति आसक्ति तथा कषायादि, रागादि विभावों के प्रवाहों में बहकर या समय, अशक्ति या दुष्परिस्थिति का बहाना बनाकर, (५) कई लोग अपने जीवन में तीव्र हिंसादि पापाचरणों में विदुर्व्यसनों में रत रहने के कारण सोचते हैं कि उन विकृत, दुष्कर्मबन्धकृत शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा में कैसे लगा सकते हैं, इस हीनभावना के शिकार होकर, (६) अपने जीवन में अपमान, उद्विग्नता, तनाव, आघात, तीव्र भय आदि से दंश से प्रेरित होकर आत्महत्या द्वारा अपनी शक्ति को नष्ट करके, (७) कई धर्म-सम्प्रदाय के लोग इस भ्रान्त मान्यता के कारण कि कितना ही पापकर्म करें, कुछ भी करें, कयामत के दिन खुदाताला से माफी माँग लेंगे, अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं, सदुपयोग नहीं कर पाते।

कर्मविज्ञान ने आत्म-शक्तियों का सदुपयोग न करने या न कर सकने वाले अथवा शक्तियों का अनुपयोग या दुरुपयोग करने वालों को विविध युक्तियों तथा अर्जुन मुनि, हरिकेशबल मुनि, प्रभवस्वामी, स्थूलभद्र मुनि आदि का उदाहरण देकर आत्म-शक्तियों को हर हालत में प्रगट कर सकने और परमात्म-शक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थवाद का सन्देश दिया है।

आत्म-शक्तियों के जागरण के लिए पाँच सूत्र

आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने हेतु यदि निम्नोक्त सूत्रों पर ध्यान दिया जाए तो पापी से पापी व्यक्ति, हीनजातीय, तिरस्कृत, अपमानित, दुर्व्यसनयुक्त व्यक्ति भी अपनी आत्म-शक्तियों का नियोजन मोक्ष-प्राप्ति या परमात्मपद-प्राप्ति की दिशा में कर सकता है–(१) आत्म-शक्ति का महत्त्व, मूल्य, स्वरूप, उपयोग और उपयोग-विधि की भलीभाँति जानकारी, (२) सम्यग्दृष्टि, सम्यक्श्रद्धा, रुचि-प्रतीति एवं देव-गुरु-धर्म पर पूर्ण श्रद्धा एवं आत्म-विश्वास के साथ आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने की तमन्ना, (३) तदनन्तर उन शक्तियों को जाग्रत करने का पुरुषार्थ करना, विघ्न-बाधाओं, कष्टों एवं उपसर्गों से तनिक भी न घबराना, (४) तत्पश्चात् जाग्रत आत्म-शक्तियों को पचाना और सँभालना, (५) उपलब्ध आत्म-शक्तियों को मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं अशुभ योग, अशुभ निमित्तों आदि से बचाना, कर्मास्रवों, बन्धों, परभावासक्ति, विभावों में रमणता आदि बाधक कारणों से उनकी रक्षा करना, दुर्व्यय न करना।

आध्यात्मिक शक्ति के मुख्य दस प्रकार

भौतिक बलवीर्य (शक्ति) आध्यात्मिक बलवीर्य का अन्तर समझने के लिए सूत्रकृतांग निर्युक्ति आध्यात्मिक शक्ति के मुख्य दस प्रकार बताए हैं–(१) धृति (संयम और चित्त में स्थैर्य), (२) उद्यम (ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण आदि में आन्तरिक वीर्योल्लास या उत्साह), (३) धीरता (परीषहों और उपसर्गों के समय अविचलता), (४) शौण्डीर्य (त्याग की उच्चकोटि की उत्साहपूर्ण भावना), (५) क्षमाबल, (६) गाम्भीर्य (अद्भुत या साहसिक धर्मकार्य करके भी मद या गर्व न आना), (७) उपयोगबल (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार स्व-विषयक पराक्रम का निश्चय करना), (८) योगबल (मन-वचन-काया से अध्यात्म-दिशा में प्रसन्नता से प्रवृत्त होना), (९) तपोबल (बाह्याभ्यन्तर द्वादशविध तप में खेदरहित उत्साहपूर्वक पराक्रम करना), और (१०) संयम में पराक्रम (सत्रह प्रकार के संयम के पालन में तथा अपने संयम को निर्दोष रखने में पराक्रम करना। सचमुच में दस सूत्र आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने में उपयोगी हैं।

बालवीर्य और पण्डितवीर्य बनाम सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य

सूत्रकृतांगसूत्र में बालवीर्य और पण्डितवीर्य का उल्लेख है। आत्मिक-शक्तियों की अभिव्यक्ति या जागृति इन दोनों में से पण्डितवीर्य के द्वारा ही हो सकती है। यद्यपि आत्मिक-शक्तियों की अभिव्यक्ति अव्यक्त होने से

इन्द्रियग्राह्य नहीं है, न ही आत्मा इन्द्रियग्राह्य है। अतः शास्त्रकारों ने कहा—आत्म-शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वाणी, बुद्धि, चित्त तथा दशविध बलप्राण बनते हैं। इन दोनों की क्रमशः संज्ञा है—बाह्यकरण और अन्तःकरण। आत्म-शक्तियों की जागृति या अभिव्यक्ति तभी होती है, जब ये करणद्वय या दशविध प्राण आत्म-स्वभाव में या आत्म-गुणों में स्थिर होने—रमण करने में साक्षात् माध्यम बनकर (यानी अन्तर्मुखी बनकर) साधक एवं सहायक हों। ऐसी स्थिति में मोक्ष (कर्मक्षय) की ओर किये जाने वाले पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा जाता है। इसके विपरीत यदि ये करणद्वय आत्म-शक्तियों के जागरण में सहायक या साधक न बनकर बाधक बनते हैं, विपरीत दिशा में हिंसा-असत्य-चोरी आदि में या क्रोध, अहंकार, लोभ आदि कषायों आदि पापस्थानों में पराक्रम करते हैं, तब आत्मा की निखालिस शक्ति के रूप में अभिव्यक्त न होकर विकृत एवं शुभाशुभ कर्मबन्धक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तब इन्हें बालवीर्य कहा जाता है। इन्हें ही दूसरे शब्दों में क्रमशः अकर्मवीर्य और सकर्मवीर्य कहा गया है। यह ध्यान रहे कि शरीरादि या मन-बुद्धि-चित्त आदि बाह्यकरण और अन्तःकरण में या दशविध प्राणों में जो भी शक्ति (बलवीर्य) है, जिन्हें पौद्गलिक वीर्य कहा जाता है। शरीरादि में स्थित वीर्य पौद्गलिक होते हुए भी मूल में आत्मा के भाववीर्य गुण से वह अभिव्यक्त प्रगट होता है। जिस प्राणी (आत्मा) के वीर्यान्तराय कर्म का जितना क्षयोपशम होता है, उतने बल वाला ही पूर्वोक्त पौद्गलिक वीर्य प्रकट हो सकता है, अधिक नहीं। आगे इसी सूत्रानुसार कर्मविज्ञान ने बालवीर्य और पण्डितवीर्य की पहचान के कुछ संकेत भी दिये हैं। बालवीर्य कर्मबन्धकारक सकर्मवीर्य होता है, जो मुख्यतया अष्टविध या पंचविध प्रमाद द्वारा होता है, जबकि पण्डितवीर्य कर्मक्षयकारक होता है, जिसे अकर्मवीर्य कहा है, वह अप्रमादवृत्ति से होता है।

पण्डितवीर्य (अकर्मवीर्य) की साधना के लिए २९ प्रेरणासूत्र

कर्मविज्ञान ने सूत्रकृतांगसूत्रोक्त पण्डित (अकर्म) वीर्य की साधना के लिए २९ प्रेरणासूत्र भी अंकित किये हैं—(१) वह भव्य (मोक्षगमनयोग्य) हो, (२) अल्पकषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आस्रवों को हटाकर, कषायात्मक बन्धनों को काटकर शेष कर्मों को शल्यवत् काटने के लिए उद्यत हो, (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के लिए पुरुषार्थ करे, (६) स्वाध्याय, ध्यान आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानों के लिए पुरुषार्थ करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए बालवीर्य की दुःखदायकता, अशुभ कर्मबन्ध-कारणता तथा सुगतियों में उच्च स्थानों एवं परिजनों के साथ संवास की अनित्यता की अनुप्रेक्षा करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सब के प्रति अपनी आसक्ति और ममत्व-बुद्धि हटा दे, (९) इस सर्वमान्य आर्य मार्ग (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम (अन्तकाल) किसी प्रकार जान जाए तो यथाशीघ्र संलेखनारूप या पण्डितमरणरूप अनशन (संथारे) का अभ्यास करे, (१३) कछुए द्वारा अंग-संकोच की तरह पण्डितसाधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से संकुचित कर ले, (१४) अनशनकाल में मानसिक, वाचिक, कायिक समस्त प्रवृत्तियों को, अपने हाथ-पैरों को तथा अकुशल संकल्पों से मन को रोक लें एवं अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष का त्याग करके इन्द्रियों को संकुचित कर ले, (१५-१६) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का तथा भाषादोष का त्याग करे, (१७) अभिमान (अहंकार या मद) और माया लेशमात्र भी न करे, (१८) इनके (शल्यों के) अनिष्ट फलों को जानकर सुख-प्राप्ति के गौरव में उद्यम न हो, (१९) उपशान्त, निःस्पृह और मायारहित (सरल) होकर विचरण करे, (२०) प्राणिहिंसा से दूर रहे, (२१) अदत्तग्रहण (चौर्यकर्म) न करे, (२२) मायायुक्त असत्य न बोले, (२३) प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न केवल काया से ही नहीं, मन और वचन से भी न करे, (२४) बाहर और भीतर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, (२५) इन्द्रिय-दमन करे, (२६) मोक्षदायक संयम (सम्यग्दर्शनादिरूप) की आराधना करे, (२७) जितेन्द्रिय रहे, (२८) पाप से आत्मा को बचाए, और (२९) किसी के द्वारा अतीत में किये गये, वर्तमान में किये जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का मन, वचन, काया से भी अनुमोदन न करे। सचमुच, आत्म-शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए उद्यत साधक के लिए ये प्रेरणासूत्र जीवन में क्रियान्वित करने योग्य हैं।

दशविध प्राणबलों से भी आत्म-शक्तियों को कैसे जगाया जा सकता है, इसका विश्लेषण भी कर्मविज्ञान ने किया है। इसी प्रकार बालवीर्य (सकर्मवीर्य) और पण्डित (अकर्म) वीर्य की पहचान कर्मविज्ञान ने सूत्रकृतांग में उक्त अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम द्वारा कराई है। स्थूलदृष्टि में कोई कितने ही भाग्यशाली, लोकदृष्टि में पूज्य, शूरवीर या वाणीवीर हों, किन्तु धर्म और मोक्ष के वास्तविक तत्त्वों से अनभिज्ञ हों, असम्यग्दृष्टि (मिथ्यादृष्टि) हों, उनका पराक्रम अशुद्ध है, क्योंकि उनका सब पराक्रम कर्मबन्धयुक्त होने से कर्मफलयुक्त होता है। इसके विपरीत जो महाभाग्यशाली, महापूज्य परमार्थ के यथार्थ तत्त्वज्ञ हैं, कर्मविदारण करने में वीर (सहिष्णु, तितिक्षु) हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, उनका तप, त्याग, व्रत, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यानादि में किया गया पराक्रम शुद्ध है, कर्मफलरहित है; क्योंकि वह कर्मबन्धकारक नहीं है।

शुद्ध आत्म-शक्ति = परमात्म-शक्ति को अभिव्यक्त करने की सरल प्रक्रिया

असंख्यप्रदेशी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त वीर्य-अविभाग होते हैं। किन्तु प्रत्येक आत्मा के ये सारे के सारे वीर्यांश खुले नहीं रहते। यानी प्रत्येक आत्मा की सारी शक्तियाँ विकसित, जाग्रत या प्रकट नहीं होतीं। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव तक में न्यूनाधिक रूप में वीर्यांश खुले रहते हैं। मनुष्यों में भी अनन्त वीर्यांश प्रकट होने में तारतम्य रहता है। वीर्यान्तराय कर्म का जितना-जितना क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है, उतना-उतना वीर्य (शक्ति या पराक्रम) प्रकट होता है। बाकी का कर्मों से आवृत रहता है। मन-वचन-काया की चंचलता जितनी अधिक, उतना ही प्रकम्पन अधिक। अधिक प्रकम्पन वीर्य की स्थिरता में बाधक है। अतः त्रियोगों और इन्द्रियों का जितना निरोध होगा, उतनी ही वीर्य (शक्ति) में स्थिरता होगी। शरीरादि की प्रवृत्तियों को जितना अधिक रोका जायेगा, एक भी अनावश्यक, निरर्थक या सावद्य प्रवृत्ति त्रियोगों से नहीं की जायेगी तथा ध्यान, धारणा, समाधि आदि से एवं ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहने से प्रवृत्तियों का जितना निरोध किया जायेगा, उतनी ही शीघ्रता से आत्म-शक्तियाँ जाग्रत एवं संवर्द्धित होती जायेंगी। वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय १३वें गुणस्थान में करके पूर्णतः उत्कृष्ट आत्म-वीर्य प्रकट कर सकता है तथा १४वें गुणस्थान में तो अनन्त वीर्य से परिपूर्ण अयोगी, अलेश्यी पूर्ण परमात्मा बन जाता है। यही आत्म-शक्तियों के प्रकटीकरण की सरल प्रक्रिया है।

●●

पाठकों से एक नम्र निवेदन

आपने कर्मविज्ञान के प्रारम्भ से अब तक के भाग पढ़े। पाँचवें भाग के पढ़ने के बाद आपको ऐसा प्रतीत होता होगा कि जिन कर्मों का आत्मा के साथ पद-पद पर लगाव है, गठबन्धन है, जिनकी पकड़, आकर्षण और बन्धन से व्यक्ति का जीवन चतुर्गतिक रूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, चिन्ता, दुःख-दैन्य आदि नाना कष्ट पाता रहता है, पाता आ रहा है और प्राणी के न चेतने पर यानी बन्धन से मुक्त न होने तथा बन्धन के लिए आते हुए कर्मों को न रोकने पर भविष्य में भी नाना दुःख पाता रहेगा। उन कर्मों के निरोध, क्षय और परिवर्तन तथैव उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण के लिए जिन-जिन सिद्धान्तों, परिभाषाओं, स्वरूपों और उपायों का अब तक के भागों में वर्णन किया गया है, उनको सक्रिय रूप जीवन में आचरित करने के कौन-कौन-से सक्रिय उपाय हैं?

जिस प्रकार रोग से मुक्त होने या रोग को रोकने की बात कहने से रोगी को अपने अमुक रोग से छुटकारा पाने या उसको रोकने की बात समझ में नहीं आती, क्योंकि रोग के असंख्य प्रकार हैं, इतना ही नहीं, एक-एक रोग के भी तीव्र, मन्द आदि की दृष्टि से कई प्रकार हैं। इसलिए रोगी को तभी सन्तोष, शान्ति और आनन्द मिलता है, जब वह अपने विशिष्ट रोग को पहचानकर या उसका निदान करके उसका सक्रिय उपाय करता है। कर्मरोग के भी असंख्य प्रकार हैं, उनमें भी मोहनीय आदि में से किसी विशिष्ट रोग की भी कई किस्में हैं, उसको पहचानकर या उसका निदान करके फिर उसका सक्रिय उपाय करने पर भी कहाँ-कहाँ सावधानी रखनी है? किन-किन पथ्य-परहेजों का पालन करना है? इत्यादि तथ्यों का सम्यक् विवेक करने हेतु उसे बार-बार मार्गदर्शन चाहिए; तभी वह सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की मंजिल को पाने के लिए आस्रव के बदले संवर, बन्ध के बदले निर्जरा और मोक्ष के महामार्ग पर चल सकेगा। इसी प्रमुख उद्देश्य से कर्मविज्ञान के छठे भाग में मुख्य रूप से संवर-तत्त्व और गौण रूप से निर्जरा-तत्त्व की साधना के विविध पहलुओं पर २४ निबन्धों में प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् इसी के सातवें भाग में संवर-साधना के अवशिष्ट पहलुओं और निर्जरा से सम्बन्धित सक्रिय-साधना के कतिपय पहलुओं पर १६ निबन्धों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की सक्रिय-साधना में सफलता के लिए १८ निबन्धों में प्रकाश डाला गया है। किन्तु मोक्ष-पुरुषार्थ की यात्रा के लिए आठवें और नौवें भाग के निबन्धों के क्रम में कुछ गड़बड़ हो गई है। अतः पाठकों से हमारा अनुरोध है कि आठवें और नौवें भाग के निबन्धों को पढ़ते समय निम्नलिखित क्रम से पढ़ेंगे तो उन्हें मोक्ष का स्वरूप, उसकी प्राप्ति की योग्यता, अवश्यम्भाविता, उसके सोपान, उसके लिए अनिवार्य साधना और मोक्ष-प्राप्ति के सक्रिय उपाय तथा मोक्ष-प्राप्त परम आत्माओं के जीवन की समग्र स्थिति का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा :-

पठनीय क्रम	आठवें भाग के निबन्धों का पठनीय क्रम	आठवें भाग में छपी हुई क्रम संख्या
१.	मोक्ष : क्यों, क्या, कैसे, कब और कहाँ?	क्रम ६, पृ. १२४-१५०
२.	शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता	क्रम १०, पृ. २५२-२६९
३.	शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट सूत्र	क्रम ११, पृ. २७०-३०९
४.	मोक्ष की अवश्यम्भाविता का मूल : केवलज्ञान : क्या और कैसे-कैसे?	(भाग ९) क्रम ८, पृ. २३७-२७४
५.	मोक्ष अवश्यम्भावी : किनको और कब?	क्रम १२, पृ. ३१०-३३१
६.	मुक्ति के आध्यात्मिक सोपान	क्रम १७, पृ. ४६१-४८५
७.	मुक्ति के अप्रमत्तताभ्यास के सोपान	क्रम १८, पृ. ४८६-५११
८.	मोक्ष के निकटवर्ती सोपान	(भाग ९) क्रम १, पृ. १-३५
९.	मोक्षमार्ग का महत्त्व और यथार्थस्वरूप	क्रम ७, पृ. १५१-१८८
१०.	निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : क्या, क्यों और कैसे?	क्रम ८, पृ. १८९-२२०
११.	समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल	क्रम २, पृ. १७-३९
१२.	समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल	क्रम ३, पृ. ४०-६६
१३.	निर्जरा का मुख्य कारण : सुख-दुःख में समभाव	क्रम १, पृ. १-१६
१४.	मोक्ष-सिद्धि के लिए साधन : पंचविध आचार	क्रम १३, पृ. ३३२-३५५
१५.	मोक्ष से जोड़ने वाले : पंचविध योग	क्रम ४, पृ. ६७-१०२
१६.	बत्तीस योग-संग्रह : मोक्ष के प्रति योग, उपयोग और ध्यान के रूप में	क्रम ५, पृ. १०३-१२३
१७.	मोक्षप्रापक विविध अन्तःक्रियाएँ : स्वरूप, अधिकारी, योग्यता	क्रम १६, पृ. ४३०-४६०
१८.	मोक्ष के निकट पहुँचाने वाला : उपकारी समाधिमरण	क्रम १४, पृ. ३५६-३९३
१९.	संलेखना-संथारा : मोक्षयात्रा में प्रबल सहायक	क्रम १५, पृ. ३९४-४२९
२०.	भक्ति से सर्वकर्ममुक्ति : कैसे और कैसे नहीं?	क्रम ९, पृ. २२१-२५१
	नौवें भाग के निबन्धों का पठनीय क्रम	
१.	परमात्मपद-प्राप्ति का मूलाधार : आत्म-स्वभाव में स्थिरता	क्रम ५, पृ. १४४-१६८
२.	चतुर्गुणात्मक स्वभाव-स्थितिरूप परमात्मपद-प्राप्ति	क्रम ६, पृ. १६९-१९९
३.	परमात्मभाव का मूलाधार : अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति	क्रम ७, पृ. २००-२३६
४.	विदेह-मुक्त सिद्ध-परमात्मा : स्वरूप, प्राप्ति, उपाय	क्रम ४, पृ. १०४-१४३
५.	अरिहन्त : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय	क्रम २, पृ. ३६-६०
६.	विशिष्ट अरिहन्त तीर्थंकर : स्वरूप, विशेषता प्राप्ति-हेतु	क्रम ३, पृ. ६१-१०३

श्मशान में निवास : निर्भयता की सिद्धि के लिए आवश्यक

ऐसे प्रशस्ततर शुद्ध वात्सल्य (प्रेम) में प्रबल बाधक कारण है–भय। भय की जड़ों को उखाड़ने और निर्भयता के पथ पर सरपट गति करते हुए सिद्धि के अन्तिम शिखर तक पहुँचने के लिए कहा गया है–

"वली श्मशानमां, वली पर्वतमां वाघ-सिंह-संयोग जो।"

श्मशान को मुर्दा जलाने का स्थान या मरघट कहते हैं, जिसके साथ भूत, प्रेत, व्यन्तर, जिन्द आदि के भय की मान्यता वर्षों से जुड़ी हुई है। ऐसी मान्यता आबाल-वृद्ध लोगों के दिमाग में वर्षों से चिपकी हुई है। इन प्रेतात्माओं के प्रति पहले से दिमाग में घुसे हुए भय के संस्कार जब तक निर्मूल न हों तथा सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के मनों (अज्ञातमन, ज्ञातमन) में निर्भयता व्याप्त न हो एवं दोनों प्रकार के सूक्ष्म-स्थूल शरीरों में स्थित चैतन्यों (आत्माओं) के साथ मेरी आत्मीयता है, ऐसा दृढ़ भान न हो, वहाँ तक विश्वव्यापी शुद्ध वात्सल्य (प्रेम) का विकास नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्वोक्त भय आदि के विकल्प बार-बार आकर उसकी साधना में विक्षेप करते रहेंगे। इसलिए ऐसे मुमुक्षु साधक को श्मशान आदि जैसे सूने स्थानों में निवास और चिर सहवास करके इन और ऐसी समस्त विभीषिकाओं के भय से चित्त को विमुक्त करने का सुदृढ़ अभ्यास करना चाहिए।

निर्जन पर्वतीय प्रदेश में वन्य क्रूर प्राणियों के सम्पर्क में दया और निर्भयता रहे

इसके अतिरिक्त भय के अन्यान्य स्थलों और प्राणियों के प्रति भी दिमाग में जमे हुए भय के संस्कारों को निर्मूल करने के लिए कहा गया है–

"वली पर्वतमां वाघ-सिंह-संयोग जो।"

वर्तमान में दृश्यमान स्थूल सृष्टि में सर्वाधिक निर्जन प्रदेश पर्वत होता है, जहाँ क्रूर वन्य प्राणी उसके आसपास विचरण करते हैं और गुफाओं में निवास करते हैं। पर्वत जैसे निर्जन प्रदेश है, वैसे अधिक भयंकर भी है। मनुष्य जिनसे डरता है और जो मनुष्य से डरते हैं, ऐसे परस्पर-भयाक्रान्त वन्य पशु भी वहाँ विशाल संख्या में होते हैं। बाघ, चीता, सिंह, सर्प, भालू, अजगर आदि सब क्रूर प्राणियों ने मनुष्य के दिमाग में केवल भयंकरता का स्थान ही नहीं जमाया है, अपितु मनुष्य इन्हें अपने कट्टर शत्रु मानकर, इन निर्दोष प्राणियों का केवल अपने शौक और वीरता प्रगट करने हेतु वध भी करता है। फलस्वरूप मानव-जाति में निर्दयता और भीति, ये दोनों दुर्गुण एक साथ विकसित हुए हैं। यह तो अनुभव-सिद्ध बात है कि ऐसे क्रूर मनुष्यों का मनोबल कमजोर, डरपोक एवं शिथिल होता है। इसीलिए कहा गया है कि ऐसा उच्चकोटि का महासाधक ऐसे

स्थलों में निवास करना खासतौर से पसन्द करे, जहाँ रहने से दया और निर्भयता का अभ्यास और विकास हो सके।[1]

निर्भयता की सिद्धि के लिए : अडोल आसन और मन में अक्षोभ आवश्यक

ऐसी निर्भयता और दया सिर्फ बोलने मात्र से नहीं आ जाती, अथवा पर्वतों पर पर्यटन या निवास करने मात्र से नहीं आ जाती। पर्वत-निवासी भी डरपोक हो सकते हैं और सिंहादि का संयोग बार-बार मिले तो वे बाहर से भले ही निडर होने की डींग मारें, अन्तर से भय नहीं जाता, बल्कि ऐसे घोर जंगल या पर्वत पर रहने वाले जंगली लोग तीरकमान लेकर उन प्राणियों को निर्दयतापूर्वक मार भी डालते हैं। अतः घोर वन में या पर्वत पर रहने मात्र से निर्भयता और दया नहीं आ सकती। अतः उक्त महासाधक के लिए जिस सर्वांगी निर्भयता और दया की जरूरत है, वह कैसे आ सकती है? इसके लिए कहा गया है–

"अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता।"

–अडोल आसन और मन में अक्षोभता, ये दोनों निर्भयता और दया के अभ्यास के लिए उक्त साधक में होने जरूरी हैं। 'अडोल आसन' यहाँ दो प्रकार से विहित है। एक तो यह कि वह साधक आसन मारकर ध्यानस्थ दशा में बैठा हो, वहाँ कोई बाघ, चीता या सिंह आदि आयें, इतना ही नहीं, जैसे मनुष्य अपने पूर्व-अध्यास (भय के पूर्व संस्कार) के कारण इन वन्य क्रूर प्राणियों को अपने शत्रु मानता है, वैसे ही ये भी मनुष्य से अपनी मौत का डर होने से या प्राण बचाने हेतु ध्यानस्थ साधक को अपना शत्रु मानकर हैरान करने, उस पर झपटने, प्रहार करने या काटने का प्रयत्न करें अथवा यों ही बैठा हुआ हो तो भी सामने आकर या पास में आकर गर्जना करें, उछल-कूद मचायें, पंजा उठायें, या काटने को तैयार हों, तो भी ऐसा उच्च साधक जरा भी विचलित या भयभीत न होकर अपने आसन पर डटा रहे, घबराकर या डरकर वहाँ से भागकर अन्यत्र न जाये, दूसरा आश्रय न

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ८४-८५

(ख) तुलना करें–

सुसाणे सुन्नागारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं॥ –*उत्तराध्ययन* २/२०

(ग) से भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, सुसाणंसि वा। सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा॥

–*आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. २, सू. ७११*

(घ) सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले वि एगदा वासो। –*वही, श्रु. १, अ. ९, उ. २, गा. ३*

ले, निर्भयतापूर्वक वहाँ अडोल रहे, तथैव ऐसी स्थिति में न तो उनका प्रतीकार करे और न उन्हें हटाने के लिए दूसरों की सहायता चाहे, उस समय उसके मन में यह पक्का विश्वास होना चाहिए कि मैं जिसे मारना, सताना या हैरान करना नहीं चाहता, वह मुझे मारने, सताने या हैरान करने का प्रयत्न प्रायः नहीं करता। इसके लिए वर्तमान युग का ज्वलन्त उदाहरण है–रमण महर्षि का; जिन्होंने एक ऐसी ही गुफा में चिरकाल तक ऐसे क्रूर विषैले रेंगने वाले सर्प आदि प्राणियों के साथ निवास करके यह सिद्ध कर दिया था कि अपने मन में उन प्राणियों के प्रति आत्मीयता, वत्सलता, दयाभाव एवं निर्भयता हो तो वे प्राणी जरा भी हानि नहीं पहुँचाते।" भगवान महावीर और चण्डकौशिक सर्प के दृश्य पर भी चिन्तन किया जा सकता है। मतलब यह है, ऐसे क्रूर प्राणियों की हरकतों से, फुँकार से, दहाड़ से या पास आने से छाती न धड़के, हृदय में जरा भी भय का संचार न हो या जोर से आक्रन्दन न करे, तो समझ लो, साधक अडोल आसन पर है। अन्यथा, ऐसे क्रूर प्राणियों की आवाजभर से छाती झड़कने लगे, भय से कँपकँपी छूटने लगे तो समझो कि अभी तक आसन अडोल नहीं हुआ।[1]

पद्यकार कहते हैं–सिर्फ आसन अडोल रहे या प्रतीकारात्मक व्यवहार न हो, इतना ही बस नहीं है, बल्कि ऐसे साधक के मन में इस निमित्त से जरा-सा क्षोभ तक नहीं आना चाहिए। अर्थात् विरोधात्मक विचार तक उसके मन में स्फुरित नहीं होना चाहिए। आत्म-सामर्थ्य के उच्च मार्ग या सोपान पर बढ़ते या चढ़ते हुए उक्त महासाधक के चित्त की विचारधारा (जोकि आत्मीयता या वत्सलता से परिपूर्ण है) का प्रवाह कहीं न रुककर अस्खलित रूप से बहता रहना चाहिए।

निर्भयता की सिद्धि के लिए : उन वन्य प्राणियों का समागम परम मित्र का समागम जानो

ऐसी विकट परिस्थिति में आसन जरा भी चलायमान न हो, मन में जरा भी क्षोभ पैदा न हो और सामर्थ्य अन्त तक निर्भयतापूर्वक टिका रहे, यह तो परम क्षमता या उत्कृष्ट सहनशीलता अथवा क्षमा का स्वरूप हुआ। इसका दूसरा पहलू यह है कि ऐसे वन्य खूँख्वार और क्रूर प्राणियों का या प्रकृति की क्रूरता का सम्पर्क या संस्पर्श होने पर साधक की आत्म-निष्ठा, नैतिक हिम्मत और निर्भयता के साथ विधेयात्मक रूप में खुलकर प्रगट होनी चाहिए। अर्थात् उस समय साधक

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ८६-८७

(ख) तुलना करें–

संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठिता अग्गमासणं। –उत्तरा., अ. २, गा. २१

(ग) विकराल बाघ या क्रूर प्राणी दिखाई दे तो घबराकर या डरकर दूसरा आश्रय न लेना, किन्तु निर्भयता से वहीं विहरण करना। –आचारांग २/१२/३/१३

के हृदय-विकास की विधेयात्मक दिशा खुल जानी चाहिए, उसे ऐसी प्रतीति या उसकी सर्वभूतात्म भावभरी आत्म-निष्ठा ऐसी प्रबल हो जानी चाहिए कि आज मुझे क्रूर प्राणी के रूप में या क्रूर प्रकृति के रूप में नहीं, किन्तु मेरे आत्म-विकास या सर्वभूतात्मभूत भाव के विकास में सहायक परम मित्र का मिलाप या संयोग प्राप्त हुआ है। उसका शुद्ध प्रेमभरा (वात्सल्यपूर्ण) हृदय मित्रभाव के अमृतरस से नाच उठना चाहिए।[1] इसीलिए यहाँ पद्य में सूचित किया गया है–

"परममित्रनो जाणे पाम्या योग जो।"

'परम मित्र' शब्द का प्रयोग तो जान-बूझकर प्रयुक्त किया गया है। उसका फलितार्थ यह है कि भयंकर और जहरीले समझे जाने वाले सृष्टि के वे प्राणी कल्याणमित्र के रूप में उसकी निर्भयता और क्षमा की साधना के उत्कर्ष में निमित्त बनने का जो पार्ट अदा कर सकते हैं, वह निकट के कहलाने वाले मानव-मित्रों द्वारा अदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ मित्रता का अमृतपान करते समय उस मित्रता की ओट में दूसरे अनेक प्रच्छन्न तीव्र घातक विष के प्याले निकल पड़ते हैं, जबकि वर्षों से दूर रहे इन वन्य मित्रों में तो ऊपर के विष का एक भी प्याला पच गया तो अन्दर से अमृत का अक्षय रसनिधान प्राप्त हो जाता है। जैसे कि स्वामी रामतीर्थ की हृदय-ध्वनि प्रस्फुटित हुई है–

"In reality there is nothing to be feared of, all round in all future, in all distance there is oneself supreme existent and that is my ownself of whom I shall be afraid."[2]

अर्थात् वास्तव में, मुझे किसी से कुछ भी डरने की गुंजाइश ही नहीं। क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड में आज, भविष्य में, सभी अन्तरों में जब मेरा अपना जीवात्मा सर्वोपरि है और वह एकमात्र ममस्वरूप ही है (मेरा अपना ही रूप है), तब फिर मैं किससे डरूँगा?

निष्कर्ष यह है कि निर्भयता की सिद्धि के लिए विशुद्ध प्रेम, मैत्री और वात्सल्य का दृढ़ अभ्यास होना चाहिए, उसके लिए एकाकी व एकान्त सेवन का अभ्यास ऐसा सुदृढ़ हो, ताकि पूर्वाध्यास निर्मूल हो जायें। श्मशान इसके लिए योग्य स्थल है, वह केवल मृतकों का ही विश्राम-स्थल नहीं है, अपितु गोचर-अगोचर देहधारियों की अनुसन्धान भूमि है, वैराग्य-स्थली है, इहजीवन और पुनर्जीवन का केन्द्र-विन्दु है। श्मशान में अनुसंधानकर्त्ताओं को, शोधकर्त्ताओं को अनेक सत्य-तथ्य प्राप्त होते हैं। पर्वतीय प्रदेशों या वन्य प्रदेशों में सिंह, वाघ, सर्प आदि प्राणी भी

---

१. Man is charitable, he shall not harm, but help others.
इस सूक्ति में मनुष्य का वास्तविक उदारता धर्म बताया गया है।

२. 'Heart of Rama' से भाव ग्रहण

प्रेम का तत्त्वज्ञान भलीभाँति जानते-समझते हैं। वहाँ न किसी को डराओ और न किसी से डरो, विशुद्ध प्रेम का पान करो-कराओ तो अनायास ही समता और निर्भयता की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जब साधक की आत्मा इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाती है, तब वीतरागता और सर्वकर्ममुक्ति की निकटता में कोई संदेह नहीं रह जाता।

बारहवाँ सोपान : घोर तप-सरस अन्न, रजकण-वैमानिक देव-ऋद्धि : इन द्वन्द्वों में मन की समता

जिस साधक की स्वभाव में दृढ़तम स्थिरता हो चुकी है, वह यथाख्यातचारित्र की भूमिका प्राप्त करने हेतु प्रमाद, विषय, कषायादि आस्रवों का प्रवेश-द्वार बंद करके संयमनिष्ठ होकर विचरण करता है, किन्तु वह घोर तपश्चर्या करता हुआ भी अथवा सहजभाव से सरस अन्न प्राप्त होने का उपभोग करता हुआ भी संयम (समभाव) नहीं रख पाता है तो उसका संयमविहीन तप तेजस्वी नहीं हो पाता। ऐसा तप कदाचित् कामनाविजय में भी साधक नहीं हो पाता। अतः जैसे अस्खलित बहती हुई नदी, खाड़ी के बाद समुद्र में प्रवेश करती है, वैसे ही पद्यकर्त्ता की वाणी संयम की खाड़ी को पार करके अब तप के समुद्र में प्रविष्ट होती है। अर्थात् दो-दो (संयम और तप की) कसौटियों से पार उतरा हुआ कुन्दन अब धधकती हुई समता की गोद में स्वयं को समर्पित कर देता है। देखिये वह पद्य-

"घोर तपश्चर्यामां (पण) मन ने ताप नहि।
सरस अन्ने नहि मन ने प्रसन्नभाव जो॥
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी।
सर्वे मान्यां पुद्गल एक-स्वभाव जो॥१२॥"

अर्थात् महाकठिन तपश्चर्या हो रही हो, फिर भी मन में लेशमात्र भी घबराहट न हो, अत्यन्त मधुर और रुचिकर (स्वादिष्ट) खान-पान मिलने पर भी जीभ की स्वाद-लालसा तीव्र न हो तथा मन पर खुशी के विषय-संस्कार भी न पड़ें, क्योंकि यह भूमिका भी ऐसी है, जहाँ रजकण और इन्द्र की अक्षय समृद्धि, दोनों के प्रति मूल स्वभाव से एक ही प्रकार के पुद्गल हैं, ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है। ऐसी धन्य घड़ी जब आये तो समझना चाहिए कि अब समता (वीतरागता) के शिखर पर पहुँचने में रुकावट नहीं है।

घोर तपस्या इसे कहें या उसे ?

पद्य में तप के पूर्व घोर विशेषण का अर्थ भयावह या कठिन होता है, परन्तु यहाँ यह कठिन तपस्या दीर्घकाल तक उपवास करने के अर्थ में नहीं है। अगर इस

अर्थ में तप को लिया जाये तो कुम्भकर्ण को घोर तपस्वी कहा जाना चाहिए, क्योंकि वह छह महीने तक आहार किये बिना निद्रा के नशे में पड़ा रहता था। यह बात परोक्ष भूतकाल की होने से कदाचित् अविश्वसनीय हो तो साप्ताहिक 'मुम्बई समाचार' के ता. १८/१०/१९३६ के अंक प्रकाशित चिकागो की ३० वर्षीया युवती 'मेग्वीर प्रोटेशिया' की प्रत्यक्ष घटना लीजिये, जो चार मास तक निद्रामग्न रही। अतः ऐसी बाह्य तपस्या जो लेटे-लेटे या नींद लेकर की जाती हो अथवा जिस तप के पीछे अहंकार, मद, मत्सर, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, उद्देश्यहीनता, दबाव, विवशता, अनिच्छा या बलाभियोग हो, ऐसा तप सम्यक् तप नहीं है, मोक्षमार्गसम्मत या कर्मक्षयकारक सकामनिर्जराकारक नहीं है। किसी बाह्याभ्यन्तर तपःकर्त्ता को ऐसा लगे कि मैं तप कर रहा हूँ या मैंने तपस्या की है, तो समझ लो उसको मन तप्त (संतप्त) हुआ बिना नहीं रहता। थोड़ा-सा निमित्त मिलते ही आवेश आ सकता है। किसी को कहे बिना या किसी भी प्रकार का प्रचार किये बिना भी मूक या मौन रहकर व्रत या उपवासों की तपस्या भी यदि विविधमूढ़ता, अन्ध-विश्वास या स्वार्थसिद्धि अथवा इहलोक-परलोक कीर्ति, यश, प्रशंसा, प्रतिष्ठा आदि[1] के लिए की गई तपस्या भी केवल लंघन या भूखे रहने के दोषों में परिगणित हो सकती है। तथ्य यह है कि किसी भी प्रकार की तपस्या के साथ कामनाजन्य संस्कार हों तो उनके क्षुब्ध होने पर मानसिक संक्लेश भी हो सकता है। अतः मन में जरा भी ताप न आने देना या ताप आये तो जड़मूल से उसका शमन कर देना, त्रिविध शल्यों में से कोई भी शल्य गहरा गड़ा हो तो उसे तुरन्त निकाल देना ही सम्यक् तप है। 'भगवद्गीता' के अनुसार–"मन की प्रसन्नता, चित्त में सौम्यता, शुद्ध भाव, आत्म-संयम, मौन और भाव-संशुद्धि, यह मानस (आभ्यन्तर) तप सर्वोत्कृष्ट तप कहलाता है।"[2] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी कहा गया है–"तप से परिशुद्धि होती है।"[3] ऐसी तपोवृत्ति सहसा बलात् लाने से नहीं आती। यह तो मुमुक्षु साधक के जीवन में धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से आती है। परन्तु ऐसी स्वाभाविकता लाने के लिए कायिक और वाचिक संयम का अभ्यास करना जरूरी है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

सरस अन्न मिलने पर संयम रखना अतिकठिन

ऐसे पूर्वोक्त संयम का जीवन में क्या परिणाम आता है? इसके लिए कहा गया है–

---

१. न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
–दशवैकालिक, अ. ९, उ. ४, सू. ४

२. मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
–भगवद्गीता, अ. १७, श्लो. १६

३. तवसा परिसुज्झइ।
–उत्तराध्ययन

"सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो।"

अर्थात् मनोज्ञ (मनपसंद) भोजन देखते ही जीभ में पानी छूटने लगे और उसे झटपट ग्रहण करने की आतुरता बढ़े, ऐसी सर्वसामान्य घटना सब पर, कम से कम समतायोगी साधक पर लागू होना सम्भव नहीं है। किसी भव्य आदर्श में तल्लीन चित्त को तथा इन्द्रियों को होने वाले स्थूल स्पर्श या स्वादपटुता के भावावेश का स्पर्श नहीं भी होता।[9] फिर भी इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त आदि से पूर्ण वीतरागता-प्राप्त न हो, तब तक साधक को पूर्ण सावधान, जागरूक और अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है। इन्द्रियाँ अपनी प्रचलित आदतों के कारण मन पर गहन कुसंस्कार डाले बिना नहीं रहतीं। इसलिए ऐसे में या तो मन साधक की आत्मा को बलात् उसमें खींच ले जाता है या फिर अज्ञात मन में पड़े हुए पूर्व संस्कारवश 'अहा ! आज तो मजा आ गया !' इस प्रकार के अव्यक्त कुसंस्कार उस साधक पर छोड़ जाता है।

स्वादविजय : कामविजय और कामनाविजय का महत्त्वपूर्ण अंग

'भगवद्गीता' में बताया गया है कि निराहारी शरीरधारी के विषय छूट जाते हैं, किन्तु उन विषयों का रस (आस्वाद) रह जाता है। स्वाद पर पूर्ण विजय प्राप्त न की जाय, वहाँ तक वासनाविजय की सिद्धि मृगतृष्णा-सी ही रहती है। जैसे मानसिक विकार इन्द्रियविकारों को बढ़ाते हैं, वैसे इन्द्रियविकार भी मनोविकार में वृद्धि करते हैं। इसीलिए स्वादिष्ट अन्न (भोजन) मिलने पर भी चित्त की समता नष्ट न होने देना सर्वसामान्य भूमिका नहीं, अपितु असाधारण भूमिका है। इस भूमिका में प्रसन्नता का भाव सहज होता है, किन्तु वह प्रसन्नभाव स्वादिष्ट आहार मिलने से हुआ, ऐसा नहीं माना जाता। स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने की लालसा न होते हुए भी सहजभाव से साधक को मिले तो वह स्वादिष्ट भोजन साधक को मोहित न कर सके, यही सहज प्रसन्नभाव का आशय है। क्योंकि आज जिसे सरस भोजन मुग्ध कर सकता है, कल उसे नीरस भोजन नाराज भी कर सकता है। यहाँ प्रश्न होता है कि आहार जैसी मामूली वस्तु पर से विकास-अविकास का नाम निकालने का यहाँ क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि जननेन्द्रिय के स्थूल विकारों की गहरी जड़ें राजसिक-तामसिक आहार में ही हैं। रक्षण, पोषण और संवर्द्धन में आहार का स्थान पहला है। जब तक साधक इन्द्रियगम्य या बुद्धिगम्य जगत् में विचरण करता है, तब तक वही (पूर्वोक्त) आहार उसे अपने स्वाद से लुब्ध कर सकता है। किन्तु जब साधक वैराग्ययुक्त अभ्यास में इन्द्रियगम्य और बुद्धिगम्य जगत् से ऊपर उठकर भावनामय जगत् में विचरण करता है, तभी रस और स्वाद की वास्तविकता का ख्याल आता है।

---

१. जितं सर्वं रसे जिते। —*श्रीमद्भागवत*

जीने के लिए आहार लेना औषधरूप है, वह भोजन नहीं है। ऐसी स्वाभाविक दशा प्राप्त होने के लिए स्थूल और सूक्ष्म, आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के तप का मेल अनायास हो जाता है। कायिक उपवास से शरीर खूब हलका और स्फूर्तिमान हो जाता है और वाणी के उपवास से मन को प्रोत्साहन मिलता है। भगवान महावीर की समौन बाह्याभ्यन्तर तपस्या इस तथ्य का जीता-जागता उदाहरण है।

जैसे कलाकार की आत्मा अपनी ललितकला में तन्मयता के गाढ़ क्षणों में देहाध्यास भूल जाती है, वैसे ही मुक्ति के अभ्यास में ओतप्रोत साधक की आत्मा कई दिवसों तक स्वाभाविक रूप से आहार लेना भूल जाय, यह समझ में न आने जैसी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त साधक के लिए आहार औषधरूप होने से, वह स्वाद के लिए नहीं, किन्तु सिर्फ जीवनी-शक्ति को टिकाने के लिए ही ले, तो भी उसकी गणना दीर्घ तपस्वी में हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।[1] यहाँ तक कामनाविजय की बात हुई।

सिद्धियों के प्रलोभन पर विजय : वासनाविजय का महत्त्वपूर्ण अंग

अप्सरा-सी सौन्दर्यमूर्ति ललना का संयोग और कामोत्तेजक भोगविलास के प्रसंग में यौवनवय में कामविजेता योगी भी अणिमा आदि सिद्धियों के प्रलोभन में हार खा जाता है।

समतायोगी रजकण और वैमानिक देव की ऋद्धि दोनों को समान पुद्गल माने

इसी दृष्टि से इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए साधक के लिए कहा गया–

"रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी।
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो॥"

अर्थात् चाहे रजकण हो अथवा वैमानिक देव की ऋद्धि हो, परन्तु इस प्रकार के महानिर्ग्रन्थ के लिए तो दोनों एक सरीखे पुद्गल हैं और सभी पुद्गलों का स्वभाव भी एक सरीखा है।

---

१. (क) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ –*भगवद्गीता*

(ख) मनुष्य जब तक जीभ के रसों को जीते नहीं, वहीं तक ब्रह्मचर्य का पालन अतिकठिन है। –*ब्रतविचार (म. गांधी जी), पृ. ९१*

(ग) जरा-सा भी स्वाद का विचार आया कि शरीर भ्रष्ट हुआ और तप की आवश्यकता पड़ी। –*वही, पृ. २५*

उपर्युक्त दोनों चरणों में रजकण के साथ वैमानिक ऋद्धि का अन्तर बताने का कारण यह है कि रजकण यानी दुनिया की दृष्टि में मामूली से मामूली वस्तु और वैमानिक देव की ऋद्धि यानी अमूल्य से अमूल्य वस्तु ! परन्तु वह ऋद्धि चाहे जितनी मूल्यवान हो और धूल का छोटा कण चाहे जितना मामूली हो, तो भी दोनों क्षण-क्षण परिवर्तन होने के सम-स्वभाव वाले हैं। उनका सौन्दर्य चाहे जितना मोहक (आकर्षक) हो, फिर भी वह चेतन को तृप्त करने में असमर्थ है।

इस प्रकार से पुद्गल का मौलिक गुण जिसने भलीभाँति वस्तुवृत्या जान लिया है, उसे वह कैसे प्रसन्न या नाराज कर सकता है? उलटे, वह दुनिया के उन लोगों को, जो इसमें मोहित होकर फँसते हैं, उन्हें वह ललकारता हुआ कहता है–

"परवस्तुमां श्ये मुंझवो, एनी दया अमने रही।"

अर्थात् हम अपनी आत्मा पर इतनी तो दया करें कि परभाव (आत्म-बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थ तथा विभाव) में यह मोहित न हों।

निष्कर्ष यह है कि ग्यारहवें और बारहवें पद्य का निचोड़ देना चाहें तो भगवद्गीता के निम्नोक्त श्लोक से दिया जा सकता है–

"योगी युञ्जीत सततं, आत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीरपरिग्रहः॥"

अर्थात् उत्तम योगी एकान्त में स्थित होकर एकाकी (राग-द्वेष से रहित) आशा-स्पृहारहित, अभयवृत्ति, संयमी (संयतचित्त) एवं मूर्च्छा-ममतारहित होकर सतत अपनी आत्मा को परमात्मभाव से जोड़े रखे।

समतामयी तपःसाधना का दिग्दर्शन

आत्मा का मूल स्वभाव सच्चिदानन्दस्वरूप है। जिस सम्यग्ज्ञान के बाद अनन्त आनन्द का अंक आता है, वह ज्ञान और स्थिति (सत्ता या सत्) ही तो सहज तप है तथा बाह्यदृष्टि से स्वाद पर पूर्ण विजय और कामना-वासना-ममता-मूर्च्छा पर पूर्ण विजय यही तो तप की पराकाष्ठा है। सरल शब्दों में कहें तो ध्येय को दृष्टिगत रखते हुए अनवरत निश्चल होकर एकाग्रतापूर्वक स्वभाव में लगे रहना ही तो तप है।

भगवद्गीता और आचारांगसूत्र दोनों की दृष्टि में सतत विरक्ति रखते हुए, अनिवार्य रूप से आ पड़े हुए नियत कर्म को करते हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ फल की लेशमात्र भी आकांक्षा न करना, यही तपःसाधना है। जैनदर्शन की भाषा में इसे व्युत्सर्ग तप कह सकते हैं।

बाह्य-आभ्यन्तर तप के बिना वात्सल्य-सिद्धि, शान्तरस-ऋद्धि, अनासक्तिभाव-सिद्धि और स्वभाव-सिद्धि नहीं हो सकती।[१]

---

१. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ९७-९८

तेरहवाँ सोपान : क्षपकश्रेणी पर आरोहण, चारित्रमोहविजय

निश्चयदृष्टि से चारित्र का अर्थ है–परभाव से लौटकर स्वभाव की ओर गति करना, स्वभाव में रमण करना। अनवरत शुद्ध आत्मा का ही अनन्य चिन्तन अथवा शुद्ध स्वभाव में स्थिति या गतिमति यथाख्यातचारित्र का स्वरूप है।

इस चारित्र की भूमिका तक पहुँचने के लिए दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के साथ साधक को घनघोर युद्ध करना पड़ता है। बीच में मिथ्यात्व और अविरति की कितनी जबर्दस्त खाइयाँ लाँघनी पड़ती हैं? प्रमाद, विषयासक्ति, कषायादि महाशत्रुओं को जीतने के लिये कितना भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ता है और इस पुरुषार्थ की महायात्रा में प्रतिक्षण वीतरागत्व या परमात्मपदरूप ध्येय के ध्रुव तारे की ओर कितनी सावधानीपूर्वक देखते रहना पड़ता है? यह वर्णन तीसरे पद्य से लेकर बारहवें पद्य तक में हम देख आए। यहाँ तक तो अविराम आन्तरिक युद्ध की ही बात थी। ऐसे युद्ध में विराम या विश्राम-आराम की अथवा आमोद-प्रमोद की तो बात ही नहीं थी। भक्तिरस में मग्न मीरां की भाषा में–'सूली ऊपर सेज हमारी, सोना किस विध होय?' वाली बात यहाँ पूरी-पूरी घटित होती थी। इस प्रकार क्षण में हार और क्षण में जीत के हिंडोले में बैठे हुए साधक को उतार-चढ़ाव की अनिश्चित दशा में विश्राम-आराम सूझे भी कैसे?

चारित्रमोह पर विजय का स्थायी फल : अपूर्वभावकरण सिद्धि

इस प्रकार सतत आन्तरिक युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् विजय के स्थायी फल का वर्णन करते हुए साधक का आत्म-मयूर बोल उठता है–

"एम पराजय करीने चारित्रमोहनो।
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्वभाव जो॥
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता।
अनन्यचिन्तन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो॥१३॥"

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार के आन्तरिक धर्मयुद्ध में चारित्रमोह को अन्तिम रूप से पराजित करने के बाद अपूर्वकरण भाव की भूमिका सहज प्राप्त हो जाने पर तथा वहाँ से क्षपकश्रेणी की परिणाम धारा पर क्रमशः चढ़ते-चढ़ते आत्मा को अपने अनन्त शुद्ध स्वभाव के एकनिष्ठ चिन्तन की लोकोत्तर शान्ति मिलती है।

आशय यह है कि मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना सद्विरति के प्रति रुचि नहीं होती, उसमें प्रमाद भी बीच में बाधा डालता है। अतः प्रमाद नष्ट हुए बिना तथाकथित कषायों से निवृत्त नहीं हुआ जा सकता और कषायों से सर्वथा निवृत्त हुए बिना कर्मों का (आत्मा से) सर्वथा वियोग की सम्भावना नहीं है। कर्मों के आत्यन्तिक वियोग के बिना स्वरूप (स्वभाव) का चन्द्र सोलह कला से खिल नहीं सकता।

इस प्रकार गिरते-पड़ते वह कर्मों से हलका होकर जब साधक दृढ़ अप्रमाद की भूमिका में आता है तभी चारित्रमोह पर विजय प्राप्त कर पाता है। चारित्रमोह को पराजित करने के बाद अपूर्वकरण की सिद्धि मिलती है। अपूर्वभावकरण का सीधा अर्थ यही होता है–जिसे पहले कभी न देखा हो, साक्षात्कार न किया हो, ऐसे मूर्तिमान् सक्रियभाव का दिखाई देना। इसे दार्शनिक भाषा में परम विज्ञान की भूमिका कह सकते हैं, जहाँ आत्मा सिद्धि की भूमिका पर प्रतिष्ठित होती है। जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषा के अनुसार इसका गूढ़ अर्थ यों है–स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अन्य स्थितिबन्ध, इन पाँचों की पहली बार निष्पत्ति (प्राप्ति) वाली जीव की दशा।[1]

बारहवें गुणस्थान में पहुँचने से पहले तक के खतरे और सावधानी

जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यह भूमिका आठवें अनियट्टी बादर (अनिवृत्ति बादर) नामक गुणस्थान की है। इसमें अप्रमत्तता (आत्म-जागृति) सहज होने से कर्मों का तीक्ष्ण आवरण छिन्न हो जाता है और सामान्य (शरीर मौजूद होने से रहने वाले) आवरण के उस पार रहे हुए आत्मा के ओजस्वी रूप का साक्षात्कार होता है।

परन्तु इतनी दूर जा चुकने के बाद भी एक विचित्र घटना घटित होती है। वह यह कि सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान में पहुँचने से पहले तक की सभी भूमिकाएँ आशा-निराशा के झूले जैसी हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों का स्पर्श एक ही जन्म (भवशरीर) में अनेक बार हो जाता है। ये सब भूमिकाएँ (गुणस्थानक) सिर्फ एकाग्रचित्त से उत्पन्न विचारधाराओं का ही रूप हैं। इसीलिए तो इनकी स्थिति एक मुहूर्त्त के अंदर-अंदर की (अन्तर्मुहूर्त्त की) होती है।[2]

एक ओर उच्चता का आकर्षण साधक को आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के करणों से एकदम जोरों से खींचता है, तो दूसरी ओर अध्यासों का प्रभाव उसे अपनी ओर जकड़कर रखता है। जिस साधक ने आमूलाग्र शुद्धि हस्तगत कर ली है, वह अवश्य इन अध्यासों के जाल से अपनी तीव्र शक्ति के जोर से बच निकलता है, अन्यथा ऐसे ही (पूर्ववत्) रह जाता है। इसलिए इस गुणस्थानवर्ती उच्च साधक क्षपकश्रेणी पर उत्तरोत्तर आरोहण करके कर्मों (चार घातिकर्मों) का

---

१. (क) अपूर्व अवसर, पद्य १३
(ख) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ९९-१०२

२. आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ चलती हैं–उपशम और क्षपक। उपशमश्रेणी वाला अधिक से अधिक ८वें से ११वें गुणस्थान तक आकर नीचे गिर जाता है। क्षपकश्रेणी वाला ८, ९, १० से सीधे १२वें गुणस्थान में पहुँचकर अन्तर्मुहूर्त्त तक स्थित रहकर १३वें गुणस्थान में पहुँच जाता है। –सं.

समूल नाश करने की परिपाटी के पथ पर पहुँचकर अनन्त शुद्ध स्वभाव के अविच्छिन्न धाराप्रवाही चिन्तन का आनन्द लूट सकता है।

उपशमश्रेणी में प्रविष्ट होने पर पतन अवश्यम्भावी क्यों ?

प्रश्न होता है–इतनी उच्च भूमिका तक आने के बाद भी उपशमश्रेणी में प्रविष्ट होने पर अवश्यमेव पतन क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि ऐसे साधक की चारित्र-शुद्धि के मूल में ही भूल होती है। जैसे बिना नींव की इमारत चाहे जितनी आलीशान हो, टिक नहीं सकती, वैसे ही मूल की अशुद्धि पर चाहे जितनी उच्च भावनाओं का महल खड़ा किया जाए, वह स्थायी नहीं रह सकता। मौलिक अशुद्धि रहने का कारण तो प्रबल सत्ता, प्रबल सामर्थ्य, प्रबल कालस्थिति और प्रबल रस-संवेदन वाला मोहराज है। वह साधक के समक्ष ऐसा दृश्य खड़ा कर देता है, मानो मोह बिलकुल निर्बल और क्षीणप्राय हो गया हो और साधक की भोली आत्मा उस (मोह) के दम्भ का शिकार बन जाती है तथा अप्रमत्तता (सावधानी) का दौर खो बैठती है।[1] मगर क्षपकश्रेणी के योग्य बना हुआ साधक विवेक-सम्पन्न और श्रद्धा-सम्पन्न होता है। अर्थात् ज्ञान और क्रिया का सुन्दर समन्वय उसके जीवन में होता है।[2]

अपूर्वकरण की अवस्था के बाद चैतन्य प्रकाश का अतीन्द्रिय अनुभव

अपूर्वकरण भाव की अवस्था के बाद चेतना के प्रकाश का जो अनुभव होता है, वह (आत्मानुभव) इन्द्रियगोचर नहीं होता, अतीन्द्रिय होता है।[3] इस अनुभव से पैदा होने वाली रसिकता भी अतीन्द्रिय होती है। दूसरा साक्षात्कार भी चिन्तन का यानी अनन्य चिन्तन का कारण है। उसके पीछे आर्त्त-रौद्रध्यान की कलुषितता नहीं, अपितु धर्म-शुक्लध्यान की सुन्दर पीठिका (पृष्ठभूमि) है।[4] इसलिए इस चिन्तन का विषय अनात्मभाव कदापि नहीं हो सकता, केवल अतिशय शुद्ध आत्मा की वहाँ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभूति होती है।

---

१. यद्यपि ऐसा साधक इतना नीचे गिरकर भी अमुक काल तक उसी अवस्था में रहता है, फिर भी किसी एक निमित्त को पाकर किसी एक भव में पूर्व स्मृति उद्‌बुद्ध हो उठती है और वह पुनः साधना शुरू किये बिना रह ही नहीं सकता। क्योंकि इतनी हद तक चढ़ने के बाद पथभ्रष्ट हुआ जीव सामान्य शक्ति वाला नहीं होता। –सं.

२. (क) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. १०२-१०४
(ख) देखें–विशेष विवरण के लिए गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), कर्मग्रन्थ आदि ग्रन्थ

३. आतम-अनुभवरसिक की नवली कोऊ रीत।
नाक न पकड़े बासना, कान गहे न प्रतीत॥ –योगी आनन्दघन जी

४. आर्त्त और रौद्रध्यान दोनों में से आर्त्तध्यान अधिक से अधिक छठे गुणस्थान तक, ७वें में सिर्फ धर्मध्यान तथा ८वें से १२वें गुणस्थान तक धर्म-शुक्लध्यान और १३वें गुणस्थान में सिर्फ शुक्लध्यान ही होता है। –सं.

क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने की स्थिति और उपलब्धि

जैनदृष्टि से अपूर्वकरण के अनुभव के पश्चात् साधक नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान पार करके क्षपकश्रेणी पर चढ़ने के लिए बीच में ग्यारहवाँ गुणस्थान छोड़कर सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। वहाँ की कैसी स्थिति होती है? इसका वर्णन देखिये–

"मोह-स्वयम्भूरमण-समुद्रतरी करी।
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो॥
अन्तसमय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई।
प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान निधान जो॥१४॥"

अर्थात् मोहरूपी स्वयम्भूरमण समुद्र पार करके उस पार जहाँ क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान की भूमिका है, वहाँ पहुँचकर (अन्तर्मुहूर्त समय के) अन्तिम समय में वीतरागभाव की पराकाष्ठा पाकर आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान = केवलज्ञान के खजाने का साक्षात्कार करूँ ! ऐसी तीव्र भावना एवं उपलब्धि इस गुणस्थान में होती है।

चारित्रमोह के महासागर के मंथन से समता (वीतरागता) सुधा प्राप्त हुई

दर्शनमोह का सागर पार करने के बाद अत्यन्त तूफानी, दूसरा चारित्रमोह का महासागर पार करना बाकी था, जिसे पद्यकार ने स्वयम्भूरमणरूपी महासागर की उपमा दी है। जैसे लोकसंस्थान वर्णन में स्वयम्भूरमण समुद्र को सबसे अन्तिम महासागर माना गया है, वैसे आन्तरिक मंथन में भी चारित्रमोहरूपी सागर सबसे अन्तिम महासमुद्र है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में पहुँचने वाला साधक इस पर विजय प्राप्त कर लेता है। तब समता–वीतरागता की भूमिका प्राप्त कर लेता है। चारित्रमोहरूपी महासागर (रत्नाकर) के मंथन से समता-सुधा मिली। साथ ही अनुभव के सहचार से आत्म-मंथन करने से जो मन्द-विष था उसे छोड़कर यानी उपशमभाव की श्रेणी छोड़कर क्षायिकभाव की श्रेणी पर जाने से स्वतः ही समता-सुधा प्राप्त हो गई। इस गुणस्थान में साधक के मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से वह पृथक्त्व-विचाररहित यानी एकत्ववितर्क-विचार नामक शुक्लध्यान का द्वितीय पाद पर पहुँच जाता है तथा समता की पराकाष्ठा होने से साधक इसके अन्तिम समय में पूर्ण वीतरागस्वरूप हो जाता है। अतः इस दशा में रहा हुआ साधक मुक्ति की वरमाला प्राप्त कर ही चुका, समझ लो। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होने से अन्तिम क्षण में वीतरागता की पराकाष्ठा सिद्ध हो जाती है। साथ ही उसके आन्तरिक करणों का तेज मनबुद्धि प्राण शरीर इन्द्रियाँ

आदि बाह्य करणों का जड़मूल से परिवर्तन कर डालता है। ये सभी बाह्य करण उसके अधीन हो जाते हैं।

क्षीणमोह होने के बाद केवलज्ञान का प्रकटीकरण

फिर तत्काल ही पूर्ण आत्म-ज्ञान के असीम भंडार की केवलज्ञानरूपी कुंजी उसके हाथ लग जाती है। समग्र विश्व का मौलिक विज्ञान उसके हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे गौतम स्वामी ने प्रशस्तमोह के अन्तिम आवरण को छिन्न-भिन्न कर दिया तो केवलज्ञान उनके अन्तर में तुरंत प्रगट हो गया था, वैसे ही इस साधक की अन्तरात्मा में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

मोहबीज के जल जाने पर भववृक्ष के उगने की संभावना नहीं

जैसे मूल के सूख जाने (नष्ट होने) पर वृक्ष के पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती, वैसे ही मोहकर्म के जड़मूल से नष्ट हो जाने पर भविष्य में भववृक्ष के उगने की सम्भावना नहीं रहती, यह दशाश्रुतस्कन्ध में बताया गया है।[1]

अज्ञान व मोह के आत्यन्तिक विनाश से आत्मा को अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति

अज्ञान और मोह के आत्यन्तिक अभाव के पश्चात् साधक एक ओर से समता = वीतरागता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और दूसरी ओर से उसमें अव्याबाध केवलज्ञान सर्वांगरूप से प्रकाशित हो उठता है। इसके साथ ही उसे स्वयं ज्योति-सुखधाम निजस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।[2] तभी 'निजपद-जिनपद एकता भेदभाव नहीं कांई' यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

इसीलिए अगले पद्य में कहा गया है–

"चार कर्म घनघाती जे व्यवच्छेद ज्यां।
भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो॥
सर्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता।
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो॥१५॥"

(आत्म-प्रभुता के गाढ़ आलिंगन से वंचित रखने वाले–आत्म-गुण = आवरक या घातक) चार घनघाती कर्मों से इस गुणस्थान में छुटकारा मिल जाता है तथा

---

१. सुक्कमूले जहारुक्खे सिंचमाणे न रोहइ।
एवं कम्मा न रोहंति मोहणिज्जे खयंगए। –*दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ५, गा. १२२*

२. तुलना करें–
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स उ संखएण, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥ –*उत्तराध्ययन, अ. ३२, गा. २*

संसार (जन्म-मरणादि रूप) के बीज का भी सदा के लिए विनष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर भी जहाँ सर्वभावों का ज्ञान और दर्शन शुद्धि के साथ अविच्छिन्न रूप से रहता है। ऐसी अनन्त वीर्य और अनन्त प्रकाश से देदीप्यमान प्रभुता इस भूमिका में प्राप्त हो जाती है।[1]

इस गुणस्थान में चार घातिकर्म तो एक साथ ही छूट जाते हैं

ऐसी भूमिका प्राप्त होने पर कर्म के ८ भेदों में से आत्मा के सहज आनन्दस्वरूप के विघातक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, ये चार घातिकर्म नष्ट हो जाते हैं। आशय यह है कि मोह के सर्वथा नष्ट होते ही मोहनीय कर्म छूट जाता है, वीतरागता की पराकाष्ठा सिद्ध हो जाती है, इसलिए आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तराय दूर हो जाता है, आवृत परम प्रकाश निधि अनावृत हो जाती है। यानी आठों में से चार कर्म तो एक साथ ही छूट जाते हैं।

चौदहवाँ सोपान : आत्म-विशुद्धिपूर्वक अनन्त ज्ञान-दर्शन आयुष्यपूर्ण होने तक चार अघातिकर्म की अवशिष्टता

स्थूल वैज्ञानिक नियमों की शोध तो आत्म-निर्मलतारहित एक वैज्ञानिक भी कर सकता है। मगर पूर्ण आत्म-विज्ञान तो पूर्ण आत्म-शुद्धता हुए बिना नहीं हो सकता। इसीलिए इस पद्य में 'सह-शुद्धता' शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्म-विज्ञान की प्रथम शर्त है–अन्त तक आन्तरिक विशुद्धि। इसकी दूसरी विशेषता है कि ऐसा त्रिकालदर्शी परम पुरुष विश्व-हृदय का ज्ञान और दर्शन एक साथ (युगपत्) प्राप्त करता है, क्योंकि उनके लिए जानना और अनुभव करना; ये दोनों चीजें अलग-अलग नहीं हैं, अपितु एकरूप हैं। इनकी ये दोनों क्रियाएँ इन्द्रियजन्य नहीं हैं, इसलिए काल और क्षेत्र का व्यवहार भी उनके लिये बाधित नहीं है। इनका काल और क्षेत्र भी असीम है, इसलिये यहाँ काल के भूत, भविष्य, वर्तमान जैसे भेद हैं ही नहीं। काल अविच्छिन्न धारा-प्रवाह है। मतलब यह है कि जानने-देखने का अर्थ यहाँ भावों को पहचानना है, आत्मसात् करना है–आत्मगम करना–भोगना–उपयोग करना है। इस दृष्टि से पद्य में कहा गया है–

"कृतकृत्य प्रभुवीर्य अनन्त प्रकाश जो।"

अर्थात् ऐसे जीवन्मुक्त वीतराग अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप पुरुष को कृतकृत्यता, प्रभुता, अनन्त वीर्यता, (अनन्त आत्म-शक्ति) और अनन्त प्रकाश

१. (क) अपूर्व अवसर, पद्य १५
(ख) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ११७, ११९

(ज्ञान-दर्शन) उपलब्ध हो जाते हैं। कृतकृत्य इसलिए हो जाता है कि अब साधक को कुछ करना-धरना नहीं होता, करने का कुछ भी विकल्प शेष नहीं रहता। अपने आप होता है। क्योंकि इसमें पूर्ण परमात्मस्वरूप = प्रभु के साथ एकत्व का अनुभव होता है। उनमें वीर्य और प्रकाश दोनों अनन्तता धारण कर लेते हैं। अरविन्द योगी के शब्दों में पूर्णता के मूल छहों तत्त्व प्रगट हो जाते हैं–पूर्ण समता, पूर्ण शक्ति, पूर्ण विज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण भक्ति (पूर्ण आत्म-स्वरूप में अवस्थिति) और पूर्ण भावकर्तृत्व (भावज्ञायक या स्वभावरमण)।

आशय यह है, इस भूमिका के साधक का आत्म-ज्ञान भाव को ही स्पर्श करता है। भाव-संवेदन की सृष्टि में जो सरसता होती है, उसमें कभी विरसता नहीं होती। प्रकाश में कभी तिमिर का प्रवेश नहीं होता और न वीर्य में कभी विकार का स्पर्श होता है। ये सभी स्वाभाविक होते हैं, करने-भोगने का विकल्प नहीं रहता।

कालदृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है तेरहवें गुणस्थान की भूमिका

यहाँ साधक की भूमिका तेरहवें गुणस्थान तक आ पहुँची है। काल (स्थिति) की दृष्टि से देखें तो चौदह गुणस्थानों में पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा और तेरहवाँ; ये पाँच गुणस्थान ही महत्त्वपूर्ण हैं, दीर्घ स्थिति वाले हैं, बाकी के सब अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक स्थायी नहीं हैं। परन्तु इन पाँचों में सबसे मूल्यवान् तो तेरहवाँ गुणस्थान है। इसका कारण ऊपर बताया जा चुका है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जैसे सभी कर्मों के अधिनायक मोहनीय कर्म के छूटने के बाद ज्ञानावरणीयादि शेष तीन घातिकर्म भी छूट जाते हैं, वैसे वेदनीयादि चार कर्म क्यों नहीं छूटते? इसका उत्तर यह है कि जैसे हाथ पर अत्यन्त जोर से कसकर बाँधे हुए रस्से के खोल देने पर भी रक्त भरता नहीं, वहाँ तक उसके निशान तो अवश्य बने रहते हैं, वैसे ही मूल बंधन से मोहनीय कर्म के छूट जाने पर उसके निशान बने रहें, यह स्वाभाविक है। किन्तु जैसे रस्सा खुल जाने पर पीड़ा नहीं होती, वैसे ही मोहनीय कर्म का बंधन छूटने के बाद (शेष अघातिकर्मों से) आत्मा पीड़ित नहीं होती। अन्त में तो जैसे रस्से के निशानों के वे दाग भी मिट जाते हैं, वैसे ही घातिकर्मों के दाग रह जाने पर वे दाग भी देरसबेर मिट ही जाते हैं, अर्थात् शेष रहे हुए चार अघातिकर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) भी आखिरकार जरूर विलीन (नष्ट) हो जाते हैं। इसीलिए ९६वें पद्य में कहा गया है–

"वेदनीयादि चार कर्मवर्ते जहाँ।
वली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो॥
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे।
आयुषपूर्णे मटी ए दैहिक पात्र जो॥९६॥"

अर्थात् इस भूमिका में वेदनीयादि चार कर्म भी सींदरी अर्थात् जली हुई रस्सी की तरह (जलकर खाक हो जाने पर भी उसकी आकृति बनी रहती है, उसी प्रकार) सिर्फ आकृतिरूप में रहते हैं और उसी भवशरीर का जितना आयुष्य हो, उतना पूरा करने के लिए ही उतने काल तक टिका रहता है। इसलिए आयुष्य पूर्ण होते ही शीघ्र पुनः शरीर प्राप्त करने की योग्यता मिट जाती है अर्थात् अपुनर्जन्म-स्थिति स्वयंसिद्ध हो जाती है।[1]

वेदनीयादि चार अघातिकर्म : जली हुई रस्सी के समान अकिंचित्कर

आशय यह है कि जैसे रस्सी के जलकर राख हो जाने पर भी जहाँ तक उसे हवा न लगे और वह उड़े नहीं या कोई उसका ढेर करके आकार न बदले, वहाँ तक वह मूल आकार में कायम रहती है, वैसे ये वेदनीयादि चार (अघाति) कर्म भी जहाँ तक देहयोग बिलकुल निर्मूल न हों, वहाँ तक कायम रहते हैं।

चार घातिकर्मों की तरह चार अघातिकर्म नामशेष क्यों नहीं हुए ?

यहाँ एक शंका और उपस्थित होती है कि जैसे मोहनीय कर्म के जल जाने पर शेष तीनों घातिकर्म भी नामशेष क्यों हो गए? वे वेदनीयादि चार कर्मों की तरह, जली हुई रस्सी के आकार की तरह आकाररूप में क्यों नहीं रहे? इसका समाधान यह है कि पूर्वोक्त घातिकर्मों का आत्मा के जितना सीधा सम्बन्ध है, जबकि उतना इन चार अघातिकर्मों का आत्मा के साथ नहीं है, इन चारों का सम्बन्ध मुख्यतया देह के साथ है और परम्परा से जीव के साथ है। घातिकर्मों का नामशेष हुए बिना केवलज्ञानादि प्रकट नहीं हो सके और केवलज्ञानादि के बिना वीतरागता, उत्कृष्ट समता आदि नहीं प्राप्त हो सकती।

चार अघातिकर्मों के टिके रहने से विशिष्ट लाभ

दूसरी बात–केवलज्ञान हो जाने पर आत्मा को मुक्ति या सिद्धि के शिखर पर रज्जुवत् जलकर भस्म हुए उक्त चारों अघातिकर्म नहीं पहुँचाते तो और कौन पहुँचाता है? अर्थात् आत्मा को जो ऊर्ध्व गति की रफ्तार प्राप्त होती है, वह अपने पूर्व शरीरगत प्रवाह में से ही प्राप्त होती है।

तीसरी बात–जैसे रस्सी के जल जाने पर उसकी राख कदापि बन्धन में नहीं बाँध सकती, वैसे केवलज्ञान हो जाने के बाद साधक को ये चारों कर्म बन्धन में नहीं बाँध सकते हैं; अपितु दूसरी तरह से एकाध नये ढंग से विशिष्ट उपयोगी

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १२८-१२९
(ख) अपूर्व अवसर, पद्य १६

बनते हैं। यद्यपि उक्त (भासक सिद्ध) साधक का जब तक आयुष्य कर्म बाकी है, तब तक उसे जगत् में टिकाये रखता है। किन्तु पहले जो आयुकर्म देहमूर्च्छाकारक था, वही अब जगत् को पावन करने वाले कल्याणसूत्र बरसाने, शुद्ध धर्म का मार्गदर्शन करने की कृपा तथा लोकोपकारकता में निमित्त बनता है। इसी प्रकार नामकर्म और गोत्रकर्म, जो केवलज्ञान से पूर्व देहभान, देहाध्यास और देहाभिमान का पोषण करने में निमित्त बनते थे, वे अब आत्म-भानकारक और प्रभुतादर्शक बनते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान होकर उच्च भूमिका में जब आत्मा स्थित हो जाती है, तब ये दोनों कर्म अपना स्थान (कार्य) बदलकर लोकोपकारकता में अपना भाग अदा करते हैं। वेदनीय कर्म में जहाँ पहले नित्य निजानन्द स्वरूप आत्मा को सुख या दुःख का बार-बार भावावेशपूर्वक वेदन (Feeling) होता था। वेदन करते समय भेदविज्ञान परिपक्व न होने से कष्टों की अनुभूति, देहासक्ति के कारण अशान्ति महसूस होती थी, वहाँ अब सिर्फ समभाव का वेदन होता है, जो बन्धकारक नहीं है। इस पर से यह स्पष्ट है कि सभी कर्मों का बन्धन सापेक्ष है। कर्मबन्धन के कारण (या अपेक्षा) हट जाने के पश्चात् इन चार अघातिकर्मों के बन्धन भी एक तरह से मुक्ति के कारण (साधन) बन जाते हैं। अर्थात् ये चारों भवोपग्राही अघाति कर्मावरण बाधक के बदले साधक और सहायक बन जाते हैं। देह रहने तक ये चारों कर्म रहते हैं, अर्थात् देहरूपी अन्तिम वस्त्र फट न जाय (पूरा न हो) वहाँ तक ये चारों कर्म रहते हैं। इसीलिए पद्य में कहा गया है–"ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे।" बाद में तो कबीर साहब की उक्ति के अनुसार 'ज्यों की त्यों धर दीनी चादरिया' वाली स्थिति हो जाती है और शरीर अपने आप छूट जाता है।[1]

इस उच्चतर भूमिका में साधक की देहातीत दशा

इस भूमिका के साधक की स्थिति 'देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत' जैसी हो जाती है। ऐसी दशा होने से वहाँ जो भी कुछ क्रिया होती है वह अनासक्तभाव से होती है, जैसे सूखी धूल का पिण्ड भींत पर फेंकने से वहाँ चिपकता नहीं, अपितु वापस गिर जाता है, वैसे ही उस प्रकार का कोई भी कर्म इस निर्लिप्त भूमिका वाले साधक के चिपके बिना ही खिर जाता है। इन चार कर्म-पुद्गलों की स्थिति भी भरे हुए बादलों जैसी तुरन्त बरस (खिर) जाने जैसी होने से उनके द्वारा आत्मा पर आवरण (प्रदेशोदय होने पर) दो समय से अधिक टिका नहीं रहता।

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. १३०-१३२
(ख) देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत। ते ज्ञानीना चरणमां.....
(ग) अपूर्व अवसर, पृ. १३०
(घ) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १३०-१३१

यथाख्यातचारित्र प्राप्त महापुरुष का स्वरूप और उसकी दो कोटियाँ

इस भूमिका में चारित्र भी सर्वोच्च कोटि का स्वरूपरमणरूप यथाख्यात होता है। इस यथाख्यात चारित्र वाला सयोगी केवली (जीवन्मुक्त) महापुरुष किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रतिबन्ध से रहित होकर जिस प्रकार के शुभाशुभ कर्म का उदय होता है, तदनुसार स्वरूप-स्थिति में भस्म होकर विचरता है। इसीलिए कहा गया था–"द्रव्य-क्षेत्र-प्रतिबन्ध बिन, विचरे उदय प्रयोग जो।" ऐसे महापुरुष के एक ही अमृतमय दृष्टिपात से जगत् धन्य और निहाल हो जाता है, उसकी एक ही आवाज जनता में अद्भुत चेतना फूँक देती है।

इस तेरहवें गुणस्थान में स्थित परम पुरुषों की दो कोटियाँ होती हैं–विशेष और सामान्य। तीर्थंकरों को विशेष कोटि में और तीर्थंकरेतर सामान्य केवलियों की कोटि में परिगणित किया गया है।

इस तेरहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए दोनों प्रकार के महापुरुषों (तीर्थंकरों और सामान्य केवलज्ञानियों) को अपना आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता। वे अपुनर्भवदशा प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए कहा गया है–"आयुष्यपूर्ण मटी ए दैहिक पात्र जो।" गीता भी इस तथ्य का समर्थन करती है–"ऐसी परम संसिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त महान् आत्माओं को परमात्मपद प्राप्त हो जाने पर पुनः विनश्वर और दुःखों के धामरूप संसार के जन्म-मरण के चक्र में फिर नहीं जुड़ना (फँसना) पड़ता। क्योंकि कर्मबन्ध होने के कारण रहने पर ही बन्ध का पथ खुला रहता है, सकल कर्मों का सर्वथा विच्छेद होने पर फिर बन्ध बिलकुल नहीं होता, भवभ्रमण का अन्त होकर मोक्ष का पथ खुल जाता है।"

शरीरादि के साथ स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं, नया देह धारण करने की योग्यता समाप्त

ऐसे महापुरुषों का शरीर अपने आप (आयुष्य पूरा होकर) न छूटे, वहाँ तक शरीर की सभी स्वाभाविक अनिवार्य क्रियाएँ, जैसे–आहार, विहार, निहार, विराम, वाणी-उच्चारण, मौन या निराहार आदि विभिन्न क्रियाएँ भले होती रहें, वे इस भूमिका में बिलकुल बाधक या कर्मबन्धक नहीं हैं, क्योंकि क्रियाएँ करते हुए भी ऐसी आत्माओं की रस वृत्ति आत्मा में है, पुद्गल में नहीं।[1] इसीलिए अन्त में समस्त कर्म झड़ जाते हैं और पुनः देह-पात्रता = देह धारण करने की योग्यता मिट जाती है।[2]

---

१. इस प्रकार की कर्मबन्ध के अयोग्य क्रियाएँ ऐर्यापथिकी कहलाती हैं। ऐर्यापथिकी क्रिया से निष्पन्न कर्म पहले समय में लगता है, दूसरे समय तक टिकता है और तीसरे समय में छूट जाता है। –सं.

२. (क) 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. १३१, १३४-१३५

पन्द्रहवाँ सोपान : सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध होने की स्थिति, गति और प्रक्रिया

दूसरे गाँव जाते समय प्रीतिपात्र (स्नेही) जनों से विदा लेने की स्थिति तथा परलोक जाते समय (देह छोड़कर) ली जाने वाली विदाई की स्थिति में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर आत्म-हंस परलोक जाते समय समस्त शरीरों को छोड़ता है, उस समय की स्थिति और परमधाम (मोक्ष = सिद्धालय) जाने के समय सदा के लिये समग्र शरीरों को छोड़ता है, उस समय की स्थिति में है। परमधाम-गमन की शुभ वेला की स्थिति निराली ही होती है। परन्तु वह निरालापन किस कारण से और क्यों होता है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए पद्यकार कहते हैं–

"मन-वचन-काया ने कर्मनी वर्गणा।
छूटे ज्यां सकल पुद्गल-स्कन्ध जो॥
एवुं अयोगी गुणस्थानक ज्यां वर्ततुं।
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण सम्बन्ध जो॥१७॥"

अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में रहे हुए सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के आयुष्य के पूर्ण होने के साथ, आयुष्यकर्म तथा शेष तीनों अघातिकर्म (वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म भी सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्तभर समय में वह शरीर सदा के लिये छूट जाता है, वह अयोगी केवली नाम चौदहवें गुणस्थान की भूमिका में आ जाता है। उस समय उनका उपयोग शुक्लध्यान के तृतीय पाद पर केन्द्रित होता है। उस समय (यानी सिद्धधाम जाने की वेला में) मन, वचन, काया और कर्म की छोटी-बड़ी तमाम सजातीय (तत्सम्बन्धित) सामग्री छूट जाने से पुद्गल-मित्रों के साथ लगाव सर्वथा छूट जाता है। यानी जड़ और चेतन दोनों अपने-अपने असली रूप में आ जाते हैं। ऐसी बिलकुल स्वतंत्र, शुद्ध चेतनात्मक, जड़-चेतन के संयोग से सर्वथारहित चौदहवें गुणस्थान की स्थिति महाभाग्योदययुक्त अव्याबाध सुखदायिनी और पूर्णतया अबन्धक होती है।

अयोगीकेवली महापुरुष के चार अघातिकर्म कैसे छूटते हैं ?

इस गुणस्थान में स्थित अयोगीकेवली महापुरुष के आयुष्यकर्म अधिक हों, वेदनीय आदि तीन कर्म अल्प हों तो उनके बराबर आयुष्यकर्म को करने हेतु

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) जे जे कारणं बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदकदशा, मोक्ष पंथ भव-अन्त॥ –आ. ९

(ग) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ –गीता ८/१५०

केवली समुद्घात होती है। इस समुद्घात में वह जीव जब अपने असंख्यात प्रदेशरूप अवशिष्ट सभी आत्म-प्रदेशों को विस्तृत करके एक साथ प्रबल रूप से अमुक प्रकार के पुद्गलों को एक ही झटके में उदीरणाकरण द्वारा आकर्षित करके, भोगकर झाड़ने की क्रिया करता है। केवली समुद्घात आयुष्यकर्म के सिवाय शेष तीनों अघातिकर्मों से होता है। उस दरमियान पूर्वोक्त कर्म झड़ जाते हैं, फिर वह महापुरुष अपने विस्तारित आत्म-प्रदेशों को समेट (सिकोड़) कर पुनः चालू स्थिति में आ जाता है। इस समुद्घात द्वारा सारे जगत् को स्पर्श करने का कारण यह सम्भव है कि संसार की जो कर्मरूपी पूँजी उधार ली थी, वह वापस उसी जगत् के चरणों में रखकर भरपाई कर देते हैं।

ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम वेदनीय, नाम, गोत्र इन तीनों कर्मों की पाँखों को विस्तृत करके पुद्गल-मात्र को स्पर्श करता है, फिर बादर (स्थूल) योगत्रय को क्रमपूर्वक एकदम सूक्ष्म बना डालता है तथा मनोयोग और वचनयोग पर विजय प्राप्त करता है। तथैव सूक्ष्म काययोग पर स्थिर हो जाता है।[1]

सामान्य ध्यान में ध्याता और ध्यान पृथक्-पृथक् होते हैं, परन्तु शुक्लध्यान के तृतीय पाद की यह विशेषता है कि इसमें ध्याता और ध्यान दोनों एकरूप हो जाते हैं।

अन्त में, काया और कर्म-समूह सर्वथा छूट जाते हैं। कर्म सर्वथा छूटे कि पुद्गलों से सम्बन्ध सहज ही छूटा समझो। क्योंकि कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध आत्मा के साथ था, इसी से कर्म-पुद्गलों का खिंचाव था। वह आकर्षण अब चला गया। अतः इस चौदहवें गुणस्थान में मन, वचन और काया का पूर्ण निरोध (योग-निरोध) हो जाता है। आत्मा अयोगीकेवली शैलेशी अवस्था में पहुँच जाती है। उस स्थिति में आत्मा पूर्णतया निर्बन्ध, स्वाधीन और पूर्ण अव्याबाध सुख से युक्त हो जाती है।

कर्मों से ही जन्म-मरण होता है, इस दृष्टि से कर्मों के सर्वथा छूट जाने पर जन्म-मरण भी छूट जाते हैं, यह बात चक्षुगम्य भले ही न हो, तर्कगम्य तो है ही। प्रश्न है–कर्म और आत्मा का संयोग–सम्बन्ध हो जाने पर तथा कर्म और आत्मा समुद्घातादि क्रिया में ओतप्रोत होने के कारण मिलने पर आत्मा और कर्म दोनों सदा के लिये अलग कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान यह है–चाहे जैसे संयोगों में, आत्मा चाहे जैसे संयोगों में तथा जड़ में चाहे जितनी ओतप्रोत हो जाए, तो भी उसके आठ रुचक प्रदेश तो सदा के लिए निर्बन्ध रहते हैं। आठ रुचक प्रदेशों की यह निर्बन्धता ही आत्मा को अपने स्वतंत्र स्वराज्य के मार्ग पर उड़ने की प्रेरणा देती

१. (क) अपूर्व अवसर, पद्य १७
(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १३६-१४१

रहती है, फिर भले ही वह सुने या न सुने। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैयक्तिक, पारिवारिक आदि अन्यान्य क्षेत्रों की स्वतंत्रताएँ दी जाएँ तो भी वे पर्याप्त नहीं हैं। इतना ही नहीं, 'यह नहीं, इतनी-सी नहीं', इस प्रकार कहकर वह जीव अपनी असली स्वतंत्रता की भूख प्रकट करता है। यही जीव की जीवन्मुक्ति की निशानी है और आत्म-मुक्ति की तड़फन को प्रगट कराती है। केवली समुद्घात के अलावा अन्य समुद्घातों के समय भी वे आठ रुचक प्रदेश खुले होने से कर्म को आत्मा से सर्वथा पृथक् कर दिया जाता है। अतः पुनः कर्मबद्ध होने का अवकाश ही नहीं है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए १८वें पद्य में कहा गया है–

"एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शना।
पूर्ण कलंकरहित अडोल-स्वरूप जो॥
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यपद।
अगुरुलघु अमूर्त्त सहज पद-रूप जो॥१८॥"

अर्थात् अब तो इस गुणस्थानवर्ती महापुरुष के पुद्गल के एक भी परमाणु स्पर्श करना बाकी नहीं रहा। यानी आत्मा किसी मिलावट या दाग से रहित सम्पूर्ण स्वरूप हो चुका। इस कारण से आत्मा अष्टविध कर्म से सर्वथा मुक्त हो जाने पर परम विशुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, बेजोड़, अगुरुलघु अमूर्तरूप अपने सहज आत्मपद पर अचल स्थिरता प्राप्त कर लेता है।[1]

एकमात्र आत्मा ही आत्मा होती है सर्वत्र

इस अयोगी केवली गुणस्थान में आयुष्य छूटने के अन्तिम क्षणों में श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी बंद हो गई। अतः अब एकमात्र आत्मा के सिवाय कोई वस्तु ही नहीं रही। इसलिए पद्य में कहा गया है–

"एक परमाणु-मात्रनी मले न स्पर्शना।"

यह तो स्पष्ट है कि विजातीय पौद्गलिक द्रव्य अपने सजातीय भाईबंधु कर्म के बिना एक क्षण भी टिक नहीं सकता, किन्तु जब सर्वकर्मों से आत्मा मुक्त हो गयी, तब वह पूर्ण शुद्ध हो गया। उसने शुद्ध आत्मत्व की पराकाष्ठा सिद्ध कर ली। अब आत्मा 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में निष्कम्प हो जाती है। संसार और सिद्धि स्थान, इन दोनों दशाओं के बीच की यह अचल भूमिका बार-बार चिन्तनीय एवं अवधारणीय है। आत्मा यहाँ सर्वांग-सम्पूर्णता प्राप्त कर लेती है। इसमें शुक्लध्यान का समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति नामक चतुर्थ पाद होता है।

---

१. (क) अपूर्व अवसर, पद्य १८
(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १४३-१४६

तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान की विशेषता

तेरहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा अपने अत्यन्त उदार और उज्ज्वल स्वरूप से तीनों लोक को वात्सल्यमय लोचनरूप निर्झर से नहलाए तो भी शरीर को लेकर अल्प-लांछन तो रहता ही है, जबकि इस चौदहवें गुणस्थान में तो वह भी दूर होकर आत्मा अपने सम्पूर्ण निष्कलंक, केवल चैतन्यमूर्ति, निरंजन, निराकार और अगुरुलघुत्व पद को बेधड़क प्राप्त कर लेता है।

शेष चार अघातिकर्मों का क्षय होने के पश्चात् ऊर्ध्वगमन

निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त चारों अघातिकर्मों का भी क्षय होने से इस भूमिका में स्थित आत्मा को अपना नित्य और निर्लेपस्वरूप प्राप्त हो जाता है। फिर तो पूर्ण शुद्ध स्वरूप आत्मा में एक भी परमाणु आश्रव कैसे पा सकता है? अतः इस भूमिका में आत्मा केवल क्रियारहित (अक्रिय) और अडोल (निष्कम्प) बनकर उसे मेरुपर्वत के सर्वोच्च शिखर पर फहराती हुई ध्वजा को लाँघकर धनुष में से छूटे हुए तीर की तरह सीधा अपने शाश्वत धाम की ओर उड़ता और पहुँच जाता है।

शुद्ध सिद्ध आत्मा सिद्धालय के लिए ऊर्ध्वगमन कैसे और किस प्रकार करती है ?

इस प्रकार की शाश्वत स्वभावदशा प्राप्त होने के बाद स्वधाम में जाने के लिए आत्मा का प्रस्थान समश्रेणीपूर्वक होता है। अर्थात् अन्तिम औदारिक, तैजस् और कार्मण शरीर अपने-अपने मूल पुद्गल धर्म को पा जाते हैं और आत्मा अपने मूल आत्म-धर्म को पा जाती है, तब गाढ़ क्षण तक स्थित होकर फिर तुरंत ऊर्ध्वगमन कर जाती है। वह कहाँ तक, कैसे उड़कर जाती है? इस तथ्य को पद्यकार कहते हैं–

"पूर्व-प्रयोगादि कारणना योगथी।
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो॥
सादि अनन्त-अनन्त समाधि-सुखमां।
अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित जो॥
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ? ॥१९॥"

अर्थात् कर्मों से सर्वथा छुटकारा हो जाने के बाद उनके द्वारा आये हुए पूर्व वेग के कारण शरीर छूटते ही जीव फौरन अपने स्वाभाविक रूप के अनुसार ऊँचा जाकर सिद्धि-स्थान प्राप्त कर लेता है, जिसकी आदि होते हुए भी अन्त नहीं है। ऐसे अनन्त समाधि सुख में अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन सहित आत्मा सर्वथा सर्वदा स्थिर हो जाती है।[1]

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १४४, १४७

शरीर-कर्मादि छूटने के साथ ही तीन घटनाएँ घटित होती हैं

आशय यह है कि सभी कर्म सर्वथा नष्ट हो गए, आत्मा का पुद्गलों के साथ सम्बन्ध सर्वथा छूट गया और कर्मनाश में मदद करने वाले कितने ही औपशमिकादि भाव भी नष्ट हो गए, ऐसे समय में एक साथ तीन घटनाएँ घटित हुईं–(१) शरीरों का वियोग, (२) सिद्धगति की ओर जीवन का प्रयाण, और (३) लोक की सीमा पर जाकर हुई आत्मा की स्थिरता।

शरीर छूटने के बाद मुक्त आत्मा का ऊर्ध्वगमन कैसे और क्यों होता है ?

शरीर छूट जाने के बाद शुद्ध बुद्ध-मुक्त-सिद्ध आत्मा का ऊर्ध्वगमन कैसे होता है? इसके लिए पद्य में 'पूर्व प्रयोगादि' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका आशय 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार यह है कि पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन के टूट जाने से और जीव (आत्मा) के उस प्रकार के परिणाम से, यानी इन चार कारणों से मुक्त जीव ऊपर सिद्धालय में जाता है। जैसे बाण से तीर छूटते ही उसे पूर्व वेग मिलता है, वैसे ही आत्मा का शरीर से आत्यन्तिक वियोग होते ही शरीर का पूर्व वेग आत्मा को मिलता है; यह बात तो समझ में आती है, किन्तु वेग मिलने पर भी वेग के कारण आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है, अधोगमन या तिर्यग्गमन क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि ऊर्ध्वगमन ही आत्मा का सहज स्वभाव है। वह नीचे या तिरछी जाती है, उसका कारण तो कर्म की प्रबलता है। 'भगवतीसूत्र'[1] में लेप लगे हुए तुम्बे का दृष्टान्त देकर समझाया है कि जैसे तुम्बे का स्वभाव जल की सतह पर ऊपर आकर तैरना है, किन्तु लेप के कारण तुम्बा ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने पर भी नीचे जाता है, फिर लेप के सर्वथा दूर होते ही वह तुरंत ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार कर्मसंगी आत्मा और कर्ममुक्त आत्मा के विषय में समझ लेना चाहिए।

सर्वकर्ममुक्त सिद्ध आत्मा का ऊर्ध्वगमन कहाँ तक होता है ?

सिद्ध आत्मा का ऊर्ध्वगमन कहाँ तक होता है? इसे बतलाने के लिए पद्य में कहा गया है–"ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो।"–आत्मा का ऊर्ध्वगमन सिद्धालय तक होता है, आगे नहीं। प्रश्न होता है–सिद्धालय क्या है? आत्मा की

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) अपूर्व अवसर, पद्य १९

(ग) पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च तद्गतिः।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०, सू. ६

१. भगवतीसूत्र, स्कन्ध १, सू. २८३

यहीं स्थिरता होती है, उससे ऊपर क्यों नहीं? इन सबके उत्तर में 'औपपातिकसूत्र' में कहा गया है–"यहाँ शरीर छूट जाने के बाद सम्पूर्ण सिद्धि-प्राप्त आत्मा जहाँ जाकर स्थिर हो जाती है, उसे सिद्धालय (सिद्धशिला) कहा जाता है। यह स्थान लोक के किनारे (सीमा) पर आया हुआ है। इससे ऊपर आत्मा के गमन न होने का कारण यह है कि इससे ऊपर अलोक है और अलोक में जाने के लिए गति में सहायक द्रव्य–धर्मास्तिकाय है ही नहीं।[1] इसलिए सिद्ध आत्मा वहीं जाकर अन्तिम विराम लेता है, स्थिर हो जाता है। वहाँ से लौटकर वापस संसार में आना होता ही नहीं है।

सिद्धस्थान को पाने के बाद आत्म-दशा कैसी होती है ?

उस स्थान को पाने के बाद आत्म-दशा कैसी होती है? इसे बताने के लिये पद्यकार कहते हैं–

"सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुखामां।
अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित जो॥"

वहाँ जाने पर आत्मा की पुनः-पुनः जन्म लेने की घटमाला छूट जाती है, इसके साथ ही आत्मा का सहज स्वभावरूप ज्ञान भी छूट जाता है, सुख भी छूट जाता है, इसका निराकरण करने के लिए कहा गया है–अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन जो आत्मा का सहज गुण है, वह गुणी (आत्मा) से कभी पृथक् नहीं हो सकता। इसी तरह सुख-दुःख की क्षणजीवी प्रतीतियों (Feelings) से पर जो अनन्त आत्मिक सुख है, जो सहज आनन्द है, वह भी स्थायी रहता है। इस प्रकार ममता, माया, कर्म, काया छूटी तथा शिव, अचल, अरोगी, अनन्त (शाश्वत) अव्याबाध, अपुनरावृत्ति वाला आत्मा का अपना घर मिला। आत्मा का अपने प्रदेशों सहित अस्तित्व-स्वभाव, ज्ञान-स्वभाव वेदन मिला। इस प्रकार आत्मा अन्तिम सोपान से सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धि-मुक्ति की मंजिल पर पहुँच गया।

● ●

---

१. उत्तराध्ययन, अ. ३६, गा. २

२

अरिहन्त : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय

अरिहन्त की आवश्यकता : क्यों और किसलिए ?

कर्मविज्ञान के पिछले अध्यायों में आठ प्रकार के कर्मों को दो कुलों में विभक्त करके यह बताया गया था कि चार घातिकर्म आत्मा के निजी गुणों को क्षति पहुँचाते हैं और शेष चार अघातिकर्म भवोपग्राही हैं, शरीर और आयु से सम्बद्ध हैं। घातिकर्मों का क्षय होने के बाद अघातिकर्मों का क्षय अवश्य होता है, वे आत्मा को या आत्म-गुणों को किसी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचा सकते। जब तक वर्तमान भव में, वर्तमान में प्राप्त शरीर में रहना है, जितना आयुष्य बाकी है, वहाँ तक ही वे रहते हैं। आयुष्य पूर्ण होने के साथ ही शेष तीन अघातिकर्मों का क्षय हो जाता है। वह व्यक्ति समस्त (अष्टविध) कर्मों से युक्त, सिद्ध-बुद्ध परमात्मा हो जाता है, जिसका स्वरूप हमने 'विदेह मुक्त सिद्ध परमात्मा' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से बताया है। साथ ही हमने यह भी बताया था कि चार घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का आस्रव और बन्ध किन-किन कारणों से होता है तथा उनका संवर और निर्जरण भी किन-किन कारणों-उपायों-साधनों से होता है?

इतना सब कुछ आप्तपुरुषों से एवं आप्तपुरुषों द्वारा कथित-रचित आगमों तथा ग्रन्थों से जानने-सुनने के पश्चात् मुमुक्षु आत्मार्थी के मन में सामान्य रूप से श्रद्धा तो उत्पन्न होती है, किन्तु प्रतीति तभी होती है, जब अपने समक्ष घातिकर्म चतुष्टय को क्षय किये हुए कतिपय महान् आत्माओं को आदर्श के रूप में देखता है या उच्चकोटि के साधकों (आचार्यों, उपाध्यायों और श्रमण-श्रमणियों) से सुनता है या उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में उनकी उपलब्धियों के विषय में पढ़ता है। वह जान लेता है तथा श्रद्धा-प्रतीति कर लेता है कि चार अघातिकर्मों का क्षय करने की बात मनगढ़ंत नहीं है, मेरे समक्ष जीते-जागते अरिहन्त मौजूद हैं या उनके पथ पर चलने वाले, अरिहन्तपद के आराधक विद्यमान हैं। मैं भी चाहूँ और पुरुषार्थ करूँ तो अरिहन्त केवलज्ञानी बन सकता हूँ।

तात्पर्य यह है कि चार घनघातिकर्मों को क्षय करने वाले अरिहन्त की आवश्यकता इसलिए है कि आराधक मुमुक्षु जिस आराध्य को या वीतरागता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसके आदर्श का कोई प्रतीक अपने समक्ष हो तो उसे शीघ्र ही प्रतीति हो जाती है और साध्य तक पहुँचने का मार्ग कठोर हो, सुख-सुविधा से रहित हो, उसमें अनेक परीषहों और उपसर्गों की सम्भावना हो, फिर भी उसकी रुचि, स्पर्शना, पालना और अनुपालना[1] उस साध्य, लक्ष्य अथवा आराध्य की प्राप्ति के प्रति हो जाती है।

अपनी शक्तियों से अपरिचित मनुष्यों को अरिहन्त से प्रेरणा

अरिहन्त की आवश्यकता इसलिए भी है कि इससे मुमुक्षु साधक को प्रेरणा मिलती है कि वह अपने में सोये हुए, छिपे हुए अरिहन्तत्व को जगाए। द्रव्यदृष्टि (निश्चयनय की दृष्टि) से देखा जाए तो प्रत्येक आत्मा अरिहन्त परमात्मा के समान है।[2] आराधक में आराध्य (अरिहन्त) के सभी गुण मौजूद हैं, पर हैं वे आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त। प्रत्येक आत्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से समान है, उसमें और अरिहंत में कोई भेद नहीं है।[3] सभी जीवों (आत्माओं) का मूल गुण या स्वभाव एक समान है, उनमें कोई मौलिक भिन्नता नहीं है। मूल में प्रत्येक जीव (आत्मा) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलवीर्य आदि शक्तियों से सम्पन्न है।

अरिहन्त परमात्मा की आराधनादि करने की क्या आवश्यकता ?

प्रश्न होता है- जैनदर्शन के अनुसार जब समस्त आत्माएँ परमात्मा के समान हैं और वे अनन्त ज्ञानादि से प्रकाशमान हैं, फिर उन आत्माओं को, विशेषतः मनुष्यों को अरिहन्त देव को स्मरण करने, उनका ध्यान करने, उनकी भक्ति, उपासना, आराधना करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि निश्चयनय अथवा आत्मा के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से तो सभी आत्माएँ अपने शुद्ध रूप में ज्ञानादि से प्रकाशमान हैं, किन्तु उनके आत्म-प्रदेशों पर विभिन्न कर्मों (कर्म-संस्कारों) का न्यूनाधिक रूप में आवरण पड़ा हुआ है, इस कारण उनके ज्ञान-दर्शनादि आच्छादित हो रहे हैं। अतः उन विभिन्न कर्मवर्गणाओं को दूर करने

---

१. तुलना करें-
तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि पालेमि अणुपालेमि।
—आवश्यकसूत्र में श्रमणसूत्र का पाठ

२. यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

३. अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं। —भावपाहुड १५१

के लिए उन कर्म (घातिकर्म) रहित वीतराग शुद्ध आत्माओं (अरिहन्त देवों) को आदर्श मानकर उनका स्मरण, ध्यान, गुणगान, भक्ति-स्तुति या उपासना, आराधना आदि विविध अनुष्ठान किये जाते हैं।[1]

फिर भी 'अप्पा सो परमप्पा' (आत्मा परमात्मा है) इस भगवदुक्ति के अनुसार साधारण आत्मा से मानव अरिहन्त परमात्मा बन सकता है। इस परम आश्वासन के बावजूद मनुष्य अपनी आत्मा में निहित अनन्त शक्तियों से अपरिचित है, अनजान है। मनुष्य विकसित चेतनाशील है, अपने आप में अनन्त ज्ञान का धनी है, फिर भी अपने आप को अल्पज्ञ या अज्ञानी मानता है। अनन्त दर्शन-सम्पन्न होने पर भी मनुष्य स्वयं को अदर्शनी या अल्पदर्शनी मानता है। अनन्त चारित्र, वीतरागता, समता और अनाकुलता से युक्त होते हुए भी स्वयं को कषाय-नोकषाययुक्त, रागी-द्वेषी तथा व्याकुलता से युक्त, विषमतापूर्ण मानता है। आत्मिक-शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी स्वयं को शक्तिहीन तथा कर्मशत्रुओं को परास्त करने एवं परीषहों-संकटों पर विजय प्राप्त करने में अक्षम-असमर्थ मानता है।[2]

अरिहन्त की मूक प्रेरणा : अपनी अक्षय शक्तियों को जानो

किन्तु अरिहन्त मूकभाव से पुकार-पुकारकर कह रहे हैं-अपने आप को जानो, पहचानो, देखो; अपने अंदर सत्य को स्वयं ढूँढ़ो। मेरे अन्दर जो अनन्त चतुष्टय विद्यमान है, वे ही तुम्हारे अंदर हैं। अपने में छिपे हुए आध्यात्मिक वैभव, सम्पदा और शक्ति को अपनी आत्मा से ढूँढ़ो, सम्प्रेक्षण करो। अपरिचय की स्थिति में तुम स्वयं को दरिद्र, दीन-हीन मान रहे हो। अपनी दुःस्थिति और सुस्थिति के तुम स्वयं जिम्मेवार हो। मगर अपने सामने अरिहन्त का आदर्श होते हुए भी व्यक्ति को अपनी अनन्त अखूट सम्पदा और अक्षय-शक्ति का ज्ञान नहीं, किसी को पुस्तकों और अन्य माध्यमों से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का, अरिहन्तादि का ज्ञान भी है फिर भी वह अपनी आत्मा को अज्ञानी, अशक्त और मूर्च्छाग्रस्त, पर-भावों में आसक्त समझता है। वह असीम-अनन्त होते हुए भी स्वयं को ससीम और अन्तयुक्त मानता है। उसे अनन्तता की विस्मृति हो गयी है।

संसारी आत्मा और परमात्मा में अन्तर और उसके निवारण का उपाय

माना कि व्यवहारनय की दृष्टि से संसारी आत्मा और अरिहन्त परमात्मा में बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह है कि संसारी आत्मा कर्मों से युक्त है और अरिहन्त

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०८-१०९

२. (क) 'अरिहन्त' (साध्वी डॉ. दिव्यप्रभा जी) से भाव ग्रहण, पृ. ५३
(ख) 'एसो पंच णमोक्कारो' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. २

परमात्मा और सिद्ध परमात्मा क्रमशः चार घातिकर्मों तथा आठ ही कर्मों से युक्त हैं। समस्त विकार भाव, विभाव एवं विषमभाव के कारण संसारी आत्मा कर्मों से युक्त है, जबकि अरिहन्त चार घातिकर्मों से तो मुक्त होते ही हैं, शेष चार अघातिकर्मों का भी उनकी आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे चार अघातिकर्म भी आयुकर्म का क्षय होने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। अतः मुमुक्षु साधकों के लिए अरिहन्त परम आराध्य हैं, उनके स्वरूप का चिन्तन-मनन, स्मरण करने से तथा उनके ध्यान में लीन होने से, उनके गुणों का स्तवन करने से व्यक्ति अरिहन्त पद को प्राप्त कर सकता है, उनके समान बन सकता है। अतः मुमुक्षु साधक के लिए अरिहन्त एक प्रेरणा दीप हैं, जिनके आलम्बन से वह उस पद को प्राप्त कर सकता है।[1]

सर्वकर्ममुक्ति का सक्रिय ज्ञान अरिहन्त के द्वारा पथ-प्रदर्शन से होता है

मुमुक्षु साधक जब सर्वकर्ममुक्ति के उपायों को खोजने लगता है। उस समय केवल मोक्ष की परिभाषा जानने से तथा अपनी आत्मा में भी मुक्तात्माओं जैसे अनन्त गुण सन्निहित हैं, ऐसा पढ़ने-सुनने से ज्ञान तो होता है, परन्तु वह अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता। कर्ममुक्ति का सक्रिय ज्ञान ही अनुभव-सम्पृक्त ज्ञान कहलाता है। सर्वकर्ममुक्ति या घातिकर्मों से मुक्ति का वास्तविक उपाय या पथ तो वही बता सकता है, जिसने यथार्थ मार्ग पर चलकर वीतरागता या मुक्ति की मंजिल पा ली हो।

अरिहन्त ही ऐसे साकार आराध्य हैं या मोक्ष के निकट हैं, जो वीतरागता की मंजिल प्राप्त कर चुके हैं। अरिहंत जैसे पथ-प्रदर्शक के बिना मंजिल तो अन्य माध्यमों से जान ली जा सकती है, परन्तु मंजिल की प्राप्ति अरिहंत के पथ-प्रदर्शन बिना नहीं हो सकती। शिखर को जानने-देखने मात्र से काम नहीं चलता, उस तक पहुँचने के लिए सही रास्ता बताने वाले भी चाहिए; जिन्होंने मोक्षशिखर का वीतरागतारूपी सही स्टेशन पा लिया है, जहाँ से वे सीधे मोक्षशिखर पर पहुँच सकते हैं, उनके द्वारा बताई गई या मूक प्रेरणा से प्रेरित मोक्ष की सीढ़ियाँ पाने से साधक बिना चक्कर के या इधर-उधर भटके बिना मंजिल (अन्तिम लक्ष्य) तक पहुँच सकता है।

---

१. (क) अप्पणा सच्चमेसेज्जा। —उत्तरा. ६/२
(ख) संपिक्खए अप्पगमप्पएणं। —दशवै. चूलिका २/११
(ग) अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ। —उत्तरा. २०/३७
(घ) परमानन्द संयुक्तं निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम्। —परमानन्द पंचविंशति, गा. १

अरिहन्त परमात्मा साधक को कैसे गति या प्राण-शक्ति देते हैं ?

अतः वीतरागता की सीढ़ियों पर आरूढ़ साधक को अरिहन्त भले ही हाथ पकड़कर नहीं चलाते, परन्तु उसकी जिज्ञासा, मुमुक्षा को प्राण-शक्ति, गति-प्रगति प्रदान करते हैं। प्रदान क्या करते हैं, साधक की अन्तरात्मा में ऐसी स्फुरणा, ऊर्जा, साहसिकता, पराक्रमशीलता, प्रबल श्रद्धा एवं क्षमता प्राप्त हो जाती है कि वह अपने में सोये हुए, आवृत या अनाराधित अरिहन्तत्व को जाग्रत, अनावृत या आराधित करने को उद्यत हो जाता है।

अरिहन्त कुछ देते-लेते नहीं, तब उनकी आराधना से क्या लाभ ?

जैनसिद्धान्त के अनुसार अरिहन्त परमात्मा कुछ देते-लेते नहीं। वे आराधक के सांसारिक दुःख-दुर्भाग्य को मिटाने के लिए कुछ नहीं करते, जो कुछ करना है या जो कुछ प्राप्त करना है, वह स्वयं आराधक को ही अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करना है।

प्रश्न होता है—जब अरिहन्त परमात्मा किसी को कुछ देते-लेते नहीं या उसके लिए कुछ करते नहीं, तब उनकी आराधना करने से क्या लाभ है? वस्तुतः ईश्वर को जो जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता मानते हैं या किसी अवतार, भगवान या शक्ति की आराधना उनसे किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए या कुछ पाने के लिए करते हैं या उनसे कुछ माँगते हैं, वे ऐसी शंका कर सकते हैं, परन्तु उनको भी इस विषय में कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। जैनदर्शन ईश्वर या किसी अवतार को कर्त्ता-धर्त्ता न मानकर अपनी आत्मा को ही अपने सुख-दुःख का, दुःस्थिति-सुस्थिति का कर्त्ता-धर्त्ता मानता है। ऐसी स्थिति में आराधक के द्वारा स्तुति, निन्दा, प्रशंसा, बाह्य भक्ति आदि से आराध्य को न तो कोई लाभ है, न हानि। यह सोचना गलत होगा कि हम अरिहन्त के लिए कुछ करते हैं। हम जो कुछ भी करते हैं, अरिहंत के लिए नहीं, अरिहंत की स्तुति, भक्ति के माध्यम से उनके गुणों का स्मरण करके अपनी आत्मा को जगाते हैं, अपनी आत्मा में जो आर्हन्त्य छिपा है, उसे प्रगट करते हैं। आराधना का जो भी फल है, वह आराधक को ही स्व-पुरुषार्थ से मिलता है, न कि अरिहन्त को।[1]

अरिहन्त की आराधना अपनी ही, अपने स्वरूप की ही आराधना है

अरिहन्त की आराधना अपनी ही आराधना है, अपने हृदय में प्रतिष्ठित अरिहन्तत्व की आराधना है। अपने शुद्ध स्वरूप को—वीतरागता को हृदय में प्रतिष्ठित करने से आत्मोत्कर्ष की भावना जाग्रत होती है, घातिकर्मों का स्वतः क्षय

---

१. 'अरिहन्त' से भावांश ग्रहण, पृ. ५३-५५

होता है। केवल ज्ञाता-द्रष्टा रहने से, प्रत्येक पदार्थ, प्रवृत्ति, व्यक्ति या इन्द्रिय-मनोविषय पर राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता का भाव न करने से आत्मा के साथ नये कर्म (आस्रव) नहीं चिपकते और समभाव रखने से पुराने बद्ध कर्मों का क्षय होता जाता है, आत्मा शुद्ध निर्मल होता जाता है। इस प्रकार अरिहन्त की आराधना से आत्मा का कर्ममलरहित शुद्ध स्वरूप स्वतः व्यक्त होता जाता है। भव्य भावुक मानव अरिहन्तत्व को पाने का पूर्ण अधिकारी है।

यह तो मनुष्य के सामर्थ्य पर निर्भर है कि वह मन-वचन-काय को वीतराग देवरूपी ध्येय या आदर्श के सम्मुख करे, तदनुसार अपने जीवन को ढाले। मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से अपने में वीतरागत्व या परमात्मत्व जगा सकता है। दूसरी कोई ईश्वरीय शक्ति या परमात्मा उसे हाथ पकड़कर प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा नहीं बना सकती। जैसे–सूर्य स्वयं प्रकाशित होता है, उसका प्रकाश लेना या न लेना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। उसका प्रकाश लेने वाले को लाभ है, न लेने वाले की स्वास्थ्य हानि है। इसी प्रकार वीतराग देवरूपी सूर्य अनन्त ज्ञानादि से प्रकाशमान हैं। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह वीतराग प्रभु का ज्ञानादि प्रकाश ग्रहण करे या न करे। यदि व्यक्ति वीतराग परमात्मा के सद्गुणों से प्रेरणा लेता है तो उससे उसे परमात्मपद-प्राप्ति तक का लाभ है और न लेने वाले की बहुत बड़ी आत्मिक हानि है।[1] जब मुमुक्षु साधक अरिहन्त के शुद्ध स्वरूप का स्मरण करता है तब उनका स्वरूप सामने आ जाता है और तभी उसे अपनी विस्मृत आत्म-निधि का स्मरण हो जाता है, जो अनन्त काल से कर्मों से आवृत है तथा कर्मों के आस्रव और बन्ध से प्रसुप्त, कुण्ठित और अनाराधित है।

आराधक को आराध्य से माँगने से नहीं मिलता, स्वतः मिलता है

ऐसा करने में आराधक को आराध्य से कुछ भी माँगने–याचना करने की आवश्यकता नहीं है, माँगने से कुछ भी मिलता नहीं, वे देते भी नहीं। पूर्वोक्त रीति से स्व-पुरुषार्थ से यथेष्ट सब कुछ मिलता है, उसे माँगना नहीं पड़ता। फलवान् वृक्ष का आश्रय लेने वाले को छाया और फल स्वतः मिलते हैं, वृक्ष से कुछ भी याचना करनी नहीं पड़ती।

वीतराग अरिहन्त किसी कार्य के कर्त्ता या कारण नहीं होते

अरिहन्त राग-द्वेष से रहित–वीतराग होते हैं, वे किसी कार्य के कर्त्ता या उपादान–कारण नहीं होते, इसलिए आराधक के प्रति उनकी इच्छा, बुद्धि या प्रत्यक्ष प्रेरणादि भी नहीं होती। आराधक जब अरिहन्त की उपर्युक्त प्रकार से

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ११०

आराधना करता है, तब उनके प्रभाव से, उनके प्रताप से, उनके या उनके गुणों के सान्निध्य या सम्पर्क से, उनके प्रवचनोक्त आज्ञा-पालन से, उनके आश्रय ग्रहण से, उनके तटस्थ निमित्तत्व से अनायास ही अप्राप्य की प्राप्ति, प्राप्त का संरक्षण एवं आवृत का अनावृत होना हो जाता है; क्योंकि अरिहन्त परमात्मा के मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से उनकी किसी प्रकार की कोई इच्छा या विकल्प नहीं होते। जो भी होता है, सहजभाव से स्वतः होता रहता है। वे किसी भी कार्य के लिए प्रत्यक्ष आज्ञा या प्रेरणादि नहीं देते।[1]

वीतराग परमात्मा अपनी निन्दा-प्रशंसा से रुष्ट या तुष्ट नहीं होते

वीतराग अरिहन्त परमात्मा अपनी स्तुति-भक्ति करने से यदि प्रसन्न होते हैं या तुष्ट होते हैं, तो उनकी निन्दा करने वालों के प्रति वे अवश्य ही रुष्ट होने चाहिए, परन्तु वीतराग होने से वे न किसी पर रुष्ट होते हैं, न तुष्ट, न नाराज होते हैं, न प्रसन्न और न वे किसी को श्राप देते हैं, न ही वरदान।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निःस्वार्थभाव से इहलौकिक-पारलौकिक कामना-वासना से रहित होकर केवल आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से वीरताग प्रभु की स्तुति, कीर्तन, भजन, पुण्य-स्मरण, आराधन, गुणानुवाद या स्वरूप-चिन्तन आदि करने से आराधक के कर्मों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, कर्मों की निर्जरा होती है, पापकर्मों का क्षय होता है, पुण्य-वृद्धि भी होती है और आत्म-विशुद्धि भी। इन सब आराधनाओं से आराधक को आत्मिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। जिस प्रकार ठंड से पीड़ित प्राणी अग्नि के पास बैठते हैं तो उनकी ठंड मिट जाती है, उनको शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती है, अग्नि उन प्राणियों के प्रति न तो राग करती है और न ही द्वेष और न शीत-पीड़ित लोगों को अपने पास आश्रय लेने के लिए बुलाती है। फिर भी उसके आश्रित जनों को अग्निरूप तटस्थ निमित्त से अभीष्ट फल प्राप्त हो ही जाता है। इसी प्रकार अरिहन्त परमात्मा भी अपनी उपासना, आराधना या स्तुति-भक्ति के लिए अथवा अपना आश्रय लेने के लिए किसी को बुलाते नहीं और न ही अपना आश्रय लेने वाले या स्तुति-भक्ति करने-न करने वालों पर राग या द्वेष करते हैं, न ही प्रसन्नता या नाराजी प्रगट करते हैं, तथापि उनकी पूर्वोक्त प्रकार से उपासना-आराधना करने से, उनका आश्रय लेने से आराधक को उपलब्ध अभीष्ट फल-प्राप्ति होती है, यही उनकी प्रसन्नता समझनी चाहिए।

वस्तुतः अरिहन्तत्व आराधक की अपनी स्थिति है, अपनी ही प्रकृति है, अवस्था है। वह अभी प्रसुप्त या आवृत है अथवा प्रच्छन्न है, उसे जाग्रत, अनावृत

---

१. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ५४-५५

बाह्य अरिहन्त को आन्तरिक कैसे बनाया जा सकता है ?

प्रश्न होता है–अरिहन्त तो प्रत्यक्ष नहीं है, वह बाह्य सजीव पदार्थ (External Object) है, इसे कोई साधक ध्यान द्वारा आन्तरिक (Inner) कैसे बना सकता है? क्योंकि व्यक्ति के चैतन्य के बाहर बहुत-से सजीव-निर्जीव Exteral Objects हैं, अरिहन्त के ध्यान से उन सबसे आत्मा को कैसे मुक्त किया जा सकता है?

एक उदाहरण द्वारा इसे समझें–किसी व्यक्ति या पदार्थ के प्रति किसी के मन में राग या द्वेष का भाव आया। वह व्यक्ति या पदार्थ उसके समक्ष हो या न हो, अथवा उस जड़ पदार्थ में तो उसके प्रति राग-द्वेष कुछ भी नहीं होता, किन्तु उस व्यक्ति के मन में भी उसके प्रति राग या द्वेष हो या न भी हो, फिर भी जब वह व्यक्ति उस बाह्य पदार्थ या व्यक्ति को अपने भीतर स्थापित कर लेता है, तब चेतना उसी आकार को धारण कर लेती है। आकार ग्रहण करते समय और कर लेने के बाद वह उसमें प्रायः इतनी तल्लीन या संलग्न हो जाती है कि उसे अपने अस्तित्व का भान नहीं रहता। वह सभी प्रकार से राग और द्वेष का पात्र बन जाती है। चेतना के किसी बाह्य पात्र या पदार्थ के प्रति रागात्मक या द्वेषात्मक कल्पना करना ही विकल्पजन्य भाव-स्थिति है, इसे ही भावकर्म कहते हैं। वह भावकर्म चेतनरूप है, जो पहले बाह्य संसार था, अब भीतर का संसार हो गया। भीतर का संसार बन जाने पर वह तब तक अत्यन्त विस्तार पाता रहता है, जब तक उस व्यक्ति की चेतना सँभले नहीं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का ऐसा ही तो हुआ था। व्यक्ति सामने न होने पर भी उसके प्रति उन्हें घृणा, तिरस्कार, क्रोध और द्वेषभाव पैदा हुआ। उस बाह्य काल्पनिक पात्र को उन्होंने भीतर स्थापित कर लिया और मन ही मन शस्त्रास्त्र बनाकर कल्पना से ही उस द्वेषपात्र के साथ घमासान युद्ध छेड़ बैठे। परन्तु जब राजर्षि एकदम सँभले और अपने मन में उस द्वेषभाव तथा भावहिंसा कार्य का तीव्र पश्चात्ताप हुआ। शुद्ध आत्म-द्रव्य में शक्ति-स्फुरण हुआ। उनकी चेतना ने जो पहले द्वेष के परमाणुओं को ग्रहण करके उनको सघन आकाररूप में भीतर स्थापित कर लिया था, योगों के साथ जुटकर कषाय से अनुबद्ध होकर कर्मबन्ध कर लिया था, अब उन्हीं पूर्वबद्ध कर्मों को भेदविज्ञान द्वारा तीव्रता से बाहर निकाल दिया और आत्मा के अनन्त चतुष्टयरूप शुद्ध स्वभाव में लीन हो जाने से उनमें अरिहन्तत्व प्रगट हो गया, वे केवलज्ञानी बन गए।[1]

इसी प्रकार अरिहन्त भी हमारे सामने प्रत्यक्ष न होने से External Object ही हैं, परन्तु अरिहन्त के विधिवत् ध्यान की प्रक्रिया से हम इन्हें Inner बना सकते हैं।

---

१. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ६३

रागी-द्वेषी की उपर्युक्त कल्पना की तरह, अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध-विशुद्ध राग-द्वेषरहित निर्मल वीतरागस्वरूप की कल्पना की जाय कि वे परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष अपने समक्ष विराजमान हैं। ऐसा करने से अपनी चेतना अरिहन्त का आकार ग्रहण कर लेगी। फिर उनकी स्तुति, आराधना, उपासनादि प्रारम्भ कर देने से चेतना उक्त अरिहन्ताकार में घुल-मिल जाएगी, तभी संवेदनशील निजात्मा सहसा जाग्रत हो जाए, प्रसन्न हो जाए तो अरिहन्तभाव से भिन्न कल्पनाओं को बाहर निकालकर एकमात्र आत्मा के मूल शुद्ध-विशुद्ध निर्मल निजरूप (जोकि अरिहन्तस्वरूप है) में निमग्न हो जाए तो External प्रतिभासित होने वाला वीतरागी अरिहन्त भी Inner हो सकता है। जैसे कल्पना के रागी से रागरंजित होकर जीव राग का अनुभव करता है तथा द्वेष से संयुक्त होकर द्वेष का अनुभव करता है, तो वीतराग अरिहन्त के विशुद्ध निर्मल स्वरूप का स्मरण करके वीतरागत्व का अनुभव क्यों नहीं कर सकता?

पहले कल्पना से अरिहन्त के विशुद्ध रूप से सम्बन्ध जोड़ते हुए आत्मा ज्यों ही जाग्रत होकर स्व-स्वरूप का अनुभव करती है तब अरिहन्त न तो पर-पदार्थ रहेगा, न ही वह कल्पना रहेगी। मैं स्वयं ही ज्ञानादि से परिपूर्ण अरिहन्त हूँ, इस प्रकार के पूर्वोक्त चतुश्चरणात्मक ध्यानवत् ऐसी अरिहन्तत्व की अनुभूति होगी। उसकी समग्र चेतना स्वयं से जुड़ जाएगी। उठती हुई समत्वानुप्राणित ऊर्जा कर्मबन्ध की जगह कर्मक्षय और निर्जरा का काम करेगी। विकल्प कल्पनाएँ हट जायेंगी। राग-द्वेष धीरे-धीरे मन्द होकर समाप्त होने की स्थिति भी आ सकती है। इस प्रकार अरिहन्त का ध्यान इन सब बाह्य पदार्थों से मुक्त करा सकता है, एकमात्र वीतरागभाव में लीन कर सकता है।

इसके लिए होना चाहिए–अरिहन्त का ध्यान करके उस विशुद्ध External (बाह्य) को निज (शुद्ध आत्मा) के स्वरूप के दर्शन द्वारा उसे Inner (आन्तरिक) करने का प्रबल पुरुषार्थ![1]

अरिहन्त-दर्शन ही वस्तुतः आत्म-दर्शन है : क्यों और कैसे ?

अरिहन्त-दर्शन ही वस्तुतः आत्म-दर्शन है। दर्शन कहते हैं–जिसके द्वारा देखा जाए उसे। यहाँ प्रश्न उठता है–किसके द्वारा और क्या देखा जाए? इस प्रश्न का उत्तर हमें 'दर्शन' से नहीं मिलता, इसका उत्तर मिलता है–आचारांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक आदि आगमों तथा कुन्दकुन्दाचार्य आदि आध्यात्मिक दृष्टि-परायण आचार्यों से। 'दशवैकालिक' में कहा गया–"संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।" (आत्मा का आत्मा से सम्प्रेक्षण करो।) 'उत्तराध्ययन' में कहा

१. 'अरिहन्त' से सारांश ग्रहण, पृ. ६३-६५

गया–"अप्पणा सच्चमेसेज्जा।" (अपनी आत्मा से सत्य-तथ्य को खोजो।) 'आचारांग' में स्पष्ट कहा गया–"एगमप्पाणं संपेहाए।" (एकमात्र आत्मा को देखे।) इतना संकेत करने पर भी शंका बनी रही कि आत्मा को देखना है, पर वह कैसे देखे? उसकी क्या विधि है? कौन-सा उपाय है?[1]

वस्तुतः हम (अल्पज्ञ = छद्मस्थ) अपनी आत्मा को, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को स्वयं नहीं जानते हैं। यद्यपि आत्मा निरन्तर उपयोगमय (ज्ञानमय) है, अनुभवयुक्त है, फिर भी हमारे लिए अगम्य बना हुआ है। अपना निजरूप होने पर भी हम उसे जान-देख नहीं पाते हैं। अतः उसे जानने-देखने या समझने के लिए हमें उसके पास जाना होगा, उसका सान्निध्य प्राप्त करना होगा, जो इसे सर्वांगरूप से जानता-देखता और समझता है। वह कौन है? वह अरिहन्त ही है, जो वीतराग है, केवलज्ञानी है, सर्वज्ञ है, अरिहन्त परमात्मा निजदर्शन को प्राप्त हैं। 'आचारांगसूत्र' इस तथ्य का साक्षी है–

"एगत्तिगते पिहितच्चे से अभिण्णाय दंसणे संते।"[2]

एकत्वभावना से जिनका अन्तःकरण भावित हो चुका है, राग-द्वेषरूप या कषायरूप अग्नि को जिन्होंने शान्त कर दिया है अथवा काया (अर्चा) को जिन्होंने संगोपित कर लिया है (आस्रवों से बचा लिया है), वे दर्शन को प्राप्त हो चुके हैं, वे स्वयं साक्षात् दर्शन हैं, क्योंकि वे "ओए समियदंसणे।"[3] (निजात्मा के) सम्यग्दर्शन में ओतप्रोत हैं।

निष्कर्ष यह है कि आत्म-दर्शनाकांक्षी को ऐसे अरिहन्त के दर्शन में अपना आत्म-दर्शन करना चाहिए अथवा उनकी दृष्टि से हमें अपने आप को देखना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है–

"जो जाणादि अरिहंतं, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जत्तेहिं।
सो जाणादि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥"[4]

अर्थात् जो द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत को जानता है, वह स्वयं के (आत्मा के) (शुद्ध) स्वरूप को जान लेता है। इस प्रकार आत्म-दर्शन करने वाले व्यक्ति का मोह अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

---

१. (क) दशवैकालिक द्वितीय चूलिका
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६
(ग) आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. ३, सू. १४१
२. (क) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ९, उ. १, सू. २६४
(ख) 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ६
३. आचारांग, श्रु. १, अ. ६, उ. ५, सू. १९६
४. 'प्रवचनसार' (आचार्य कुन्दकुन्द) से भाव ग्रहण

इसी तथ्य को 'आचारांगसूत्र' में उजागर किया गया है–"मेधावी पुरुष (आत्म-द्रष्टा साधक) क्रोध, मान, माया और लोभ तथा राग-द्वेषादि (विभावों–परभावों) का वमन कर देता है, यानी उनसे निवृत्त हो जाता है। यही अरिहन्त परमात्मा का दर्शन है, पथ है, मार्ग है।"[1]

समग्र अरिहन्त दर्शन (जिसमें शब्द-दर्शन, सम्बन्ध-दर्शन और स्वरूप-दर्शन भी आ जाता है) के द्वारा निजात्म-दर्शन कर लेने पर अरिहन्त का आत्म-ध्यानलक्षी ध्यान समीचीन रूप से हो सकेगा।

ध्यान से अरिहन्त की विशुद्ध चेतना में साधक की चेतना का प्रवेश

इस प्रकार के ध्यान की विधि क्या है? इसे साध्वी डॉ. श्री दिव्यप्रभा जी के शब्दों में पढ़िए–इस ध्यान-साधना में सर्वप्रथम निज काया में रहते हुए काया (के प्रति ममता-मूर्च्छा) का उत्सर्ग किया जाता है। इस कठिन प्रणाली को अपनाने की प्रक्रिया या पद्धति कठिन या विषम अवश्य है, परन्तु अनुभूतिपरक होने से जिज्ञासु उसकी उपलब्धि कर सकते हैं।

सर्वप्रथम शान्त एकान्त स्थान में बैठकर अरिहन्त के विशुद्ध रूप को अन्तश्चक्षु के सामने ले आओ। फिर यह भावना करो कि मैं संसार के समक्ष अन्य भावों से, सम्बन्धों से, विषयों से, विकल्पों से, विकारों से, विचारों और विभावों से विमुक्त हो रहा हूँ। सम्पूर्ण काया का उत्सर्ग करने से शरीर बिलकुल शिथिल हो जाएगा। देह का शिथिल हो जाना वास्तविक कायोत्सर्ग है। योग में जो शवासन की स्थिति है, उस स्थिति को सामने लाओ। 'आचारांगसूत्र' में चेतना के बत्तीस केन्द्र-स्थान बताए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

(१) पैर, (२) टखने, (३) जंघा, (४) घुटने, (५) उरु, (६) कटि, (७) नाभि, (८) उदर, (९) पार्श्व-पसाल, (१०) पीठ, (११) छाती, (१२) हृदय, (१३) स्तन, (१४) कन्धे, (१५) भुजा, (१६) हाथ, (१७) अंगुली, (१८) नख, (१९) ग्रीवा (गर्दन), (२०) ठुड्डी, (२१) होंठ, (२२) दाँत, (२३) जीभ, (२४) तालु, (२५) गला, (२६) कपोल, (२७) कान, (२८) नाक, (२९) नेत्र, (३०) भौंह, (३१) ललाट, और (३२) सिर।

"इन बत्तीस स्थानों में से प्रत्येक स्थान को क्रमशः शिथिल करके अपने प्राणों में ध्यान को केन्द्रित कर दीजिए और मन को अरिहन्त से संयुक्त कर दीजिए। यह अनुभव करते रहिये कि अरिहन्त परमात्मा की विशुद्ध चेतना में मेरा प्रवेश हो रहा है। मेरी चेतना उनकी चेतना में एकरूप हो रही है। धीरे-धीरे प्राणों के साथ

१. आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४, सू. १२८, १३०

चेतना का तादात्म्य होता जाएगा। प्राण और चेतना का सम्पर्क होने पर ध्यान उस विशुद्ध चेतना में केन्द्रित हो जाएगा, जहाँ हम आज तक नहीं पहुँच पाए।"

"इस (ध्यान) में किसी मंत्रादि की आवश्यकता नहीं। अतः शब्द, विचार, विभाव आदि समस्त पुद्गलों से मुक्त होकर प्राणों की ऊर्जा को अपने निजस्वरूप से संयुक्त कर दीजिए। फिर भी पुद्गल का स्वभाव है–कभी शीत का, कभी उष्ण का, कभी स्पन्दन का अनुभव होता रहेगा, पर आप इसे महत्त्वपूर्ण न समझकर प्राणों में ही केन्द्रित रहने का अभ्यास कीजिए।"

"इतने पर विचारों का आवागमन अपने आप समाप्त हो जाएगा। कदाचित् मोहनीय कर्म के उदय से राग-द्वेषजनित भावधारा में कोई विकल्प उठ भी जावे तो उसे अपनी ही कमजोरी का कारण समझकर–'मेरा निजस्वरूप राग-द्वेष से सर्वथा भिन्न है और मुझे निजस्वरूप में रमण करना है'; ऐसा ध्यान में लाने पर उन कर्मों की निर्जरा हो जाएगी और चेतना पुनः अपनी प्राणधारा में प्रवेश कर अरिहन्त से सम्पर्क स्थापित कर लेगी।"[1]

भक्ति और अनुभूति : अरिहन्त की आराधना के दो सिरे

अरिहन्त की आराधना, उपासना या अरिहन्त भाव की साधना का राजमार्ग दो प्रकार से प्रस्थान से लेकर गन्तव्य (प्राप्तव्य) स्थल तक जाता है–भक्ति से और अनुभूति से। भक्ति आराधना-साधना का प्रस्थान-केन्द्र है और अनुभूति है, उसकी प्राप्ति या उपलब्धि का विश्राम-केन्द्र। भक्ति की जाती है और अनुभूति हो जाती है। करने और हो जाने में अन्तर है। भक्ति में मानना (Believing) है और अनुभूति में जानना (Feeling) है। मानना कर्त्तव्य से जुड़ता है, जानना जीवन के अनुभव से। मानने में जीवन की नियमितता होती है, जबकि जानने में आराधक अपनी प्रकृति = स्वभाव से जुड़ता है।[2]

वीतराग अरिहन्त परमात्मा के ध्यान से ध्याता भी तड़प बन जाता है

आराध्यदेव अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करने से ध्याता परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि वीतराग अरिहन्त प्रभु को वन्दन-नमन करने, भक्ति-स्तुति करने तथा गुणोत्कीर्तन करने एवं ध्यान द्वारा एकमात्र उन्हीं के गुणों का या स्वरूप का चिन्तन करने वाले ध्याता को स्वर्ग, मोक्ष आदि कुछ देते नहीं, किन्तु जब वह

---

१. (क) 'अरिहन्त' (साध्वी डॉ. श्री दिव्यप्रभा जी) से साभार उद्धृत, पृ. ६५-६६
(ख) आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. १, शीलांकवृत्ति

२. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ६२

ध्यान में उनके स्वरूप और गुणों का चिन्तन-मनन करता है, गुण-स्मरण करता है, तब उनके गुणों की ओर आकृष्ट होता है; स्वयं वैसा बनने की इच्छा करता है। फलतः अपने आराध्य अरिहन्त देव के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है। मनुष्य का श्रेयस्कामी हृदय यदि परमात्मा के अभिमुख हो, उनकी भक्ति और शरण में लीन हो, उनके गुण-स्मरण से वीतरागता-सम्मुख बनता जाता हो तो एक दिन उसकी अपूर्णता पूर्णता में परिणत हो सकती है।

यह निश्चित है कि जब परम शुभ्र, राग-द्वेष-कर्ममल कलंकरहित, शुद्ध परमोज्ज्वल वीतराग अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप और गुण समूह का ध्यान प्रबल एकाग्रता के साथ ध्याता करता है तो उसका ध्यान-बल परिपक्व होकर उसके हृदयकपाटों को खोल देता है। ध्याता के हृदय पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि उसकी राग-द्वेष-मोह की ग्रन्थियाँ टूटती जाती हैं। ध्येय-तत्त्व की शुद्धता का प्रकाश ध्याता पर पड़ने लगेगा। फलतः ध्याता भी ध्येयानुसार उसी रूप में परिवर्तित हो जाएगा। यह निर्विवाद है कि ध्यान का विषय जैसा होता है, मन पर उसका वैसा ही असर पड़ने लगता है। कहा भी है–"यद् ध्यायति तद् भवति।"–जो जैसा (जिस स्वरूप का) ध्यान करता है, वह वैसा ही हो जाता है। ध्येय (आराध्य-अरिहन्त) के गुण ध्याता में प्रायः प्रकट होने लगते हैं। जैसे–किसी कामुक का ध्येय एक परोक्ष युवती होती है तो फिर वह कामातुर आत्मा अपने ध्येय के प्रभाव से उस युवती के साथ कामभोग-सेवन करने के उत्कट भावों में लीन रहने लगता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए अनेक योग्य-अयोग्य क्रियाओं में प्रवृत्त होता रहता है। इसी प्रकार जिस ध्याता का ध्येय वीतराग परमात्मा होते हैं, उस आत्मा के आत्म-प्रदेश राग-द्वेषादि विभावों से हटकर अरिहन्त परमात्मा के वीतरागता, समता आदि उच्च भावों में रमण करने लगते हैं। फिर वह ध्याता वीतरागता को प्राप्त करने का अभ्यास करने लगता है। जिस प्रकार कामुक आत्मा कामवासना की पूर्ति करने की चेष्टा में लगा रहता है, उसी प्रकार वीतराग अरिहन्त परमात्मा को ध्येय बनाकर उनकी आराधना-उपासना या तदनुसार भावना जाग्रत रखे, निष्क्रिय न बैठकर वीतरागतारूप ध्येय की प्राप्ति के लिए अहर्निश उनके स्वरूप एवं गुण-समूह का चिन्तन करे, उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा ले तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और संयम तथा उत्तम ध्यान और समाधि में चित्त, वृत्ति और प्रवृत्ति को लगाए, उसे भी परमात्मपद प्राप्त होते देर नहीं लगती। वीतरागता का भाव धारण करने से भी राग-द्वेषादिजनित पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाएँ भी आत्मा से स्वतः पृथक् हो जाती हैं। इस प्रकार समता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करने से आत्म-प्रदेशों से क्रोधादि कषायों के परमाणु हट जाते हैं और उनके स्थान पर सिर्फ समत्वभाव प्रस्फुटित होने लगता है।[1]

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १११

वीतराग अरिहन्त के ध्यान या सान्निध्य से वीतरागता के संस्कार पैदा होते हैं

निष्कर्ष यह है कि जिन्होंने चार घातिकर्म क्षय करके वीतराग अरिहन्त पद प्राप्त कर लिया है, वे चाहे हमें चर्मचक्षुओं से दिखाई न दें, फिर भी उनके स्वरूप का अपने स्वच्छ अन्तःकरण में चिन्तन किया जाए, मानसिक रूप से उनका सान्निध्य या सन्निकटत्व प्राप्त किया जाए तो मनुष्य को आत्म-बल, दृष्टि-विशुद्धि, वीतरागता, समता आदि की प्रेरणा मिलती है। ये सब उपलब्धियाँ आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जिन महान् आत्माओं ने वीतरागता प्राप्त की है, उनकी वीतरागता के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन तथा उनके आदर्शों का अनुकरण करने वाला व्यक्ति भी वीतरागता प्राप्त कर सकता है, इस प्रकार की प्रतीति एवं विश्वास उसमें पैदा हो जाता है।

आत्मा स्फटिक के समान स्वच्छ एवं पारदर्शी है। स्फटिक के पास जिस रंग का फूल रखा जाता है, वैसा ही रंग वह (स्फटिक) अपने में धारण कर लेता है। ठीक उसी प्रकार राग-द्वेष आदि के जैसे संयोग-संसर्ग आत्मा को मिलते हैं, वैसे ही संस्कार आत्मा शीघ्र ही ग्रहण कर लेती है। जिससे मनुष्य रागी या द्वेषी बनकर दुःख, अशान्ति आदि प्राप्त करता है। अतः तमाम दुःखों के उत्पादक राग-द्वेषादि को दूर करने और वीतरागता प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष से सर्वथा रहित वीतराग अरिहन्त परमात्मा का संसर्ग-सत्संग प्राप्त करना या अवलम्बन लेना तथा वैसे वातावरण में रहना परम उपयोगी और आवश्यक है। वीतराग देवों का स्वरूप परम निर्मल, शान्तिमय एवं वीतरागतायुक्त है। राग या द्वेष का, कषायों का या अन्य विकारों का तनिक-सा भी रंग या प्रभाव उनके स्वरूप में नहीं होता। ऐसे महान् आत्मा, आध्यात्मिक साधना के बल पर मन के विकारों से लड़ते हैं, वासनाओं से संघर्ष करते हैं, राग-द्वेष से टक्कर लेते हैं और अन्त में पूर्ण रूप से सदा के लिए इनका क्षय कर डालते हैं, वे वीतरागता प्राप्त अरिहन्त कहलाते हैं। ये चार घातिकर्मों का क्षय करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त शक्तिरूप, अनन्त चतुष्टय के धारक होते हैं। अखिल विश्व के वे ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं। संसार-सागर के अन्तिम तट पर पहुँचे हुए होते हैं। अरिहन्त की भूमिका समभाव की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। प्रिय, मनोज्ञ एवं सुन्दर पर रागभाव; तथा अप्रिय, अमनोज्ञ एवं असुन्दर पर द्वेषभाव, इनमें बिलकुल नहीं होता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान आदि विरोधी द्वन्द्वों पर इनकी दृष्टि एकरस (सम) रहती है। इनके तन-मन-वचन कषायभाव से अलिप्त रहते हैं।[1]

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०४-१०५
(ख) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १६३

अतएव ऐसे वीतराग अरिहन्त परमात्मा का ध्यान करने–चिन्तन-मनन करने तथा उनका अवलम्बन लेने से आत्मा में वीतरागभाव का संचार होता है। 'योगशास्त्र' में कहा गया है–

"वीतराग (राग-द्वेषरहित) का ध्यान (चिन्तन-मनन-प्रणिधान) करने से मनुष्य स्वयं वीतराग (रागादिरहित) होकर कर्मों से मुक्त हो जाता है, जबकि रागी का आलम्बन लेने वाला मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विक्षेप या विक्षोभ पैदा करने वाली सरागता को प्राप्त करता है।"[1]

यह तो सर्वविदित है कि एक रूपवती रमणी के संसर्ग से साधारण मनुष्य के मन में एक विलक्षण प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। पुत्र या मित्र को देखने और मिलने पर वात्सल्य या स्नेह जाग्रत होता है और एक समभावी साधु के दर्शन से हृदय में शान्तिपूर्ण आह्लाद का अनुभव होता है। सज्जन का सान्निध्य सुसंस्कार का और दुर्जन का संग और सान्निध्य कुसंस्कारभाव पैदा करता है। इस दृष्टि से जब वीतराग प्रभु का सान्निध्य प्राप्त किया जाता है, तब हृदय में अवश्य ही वीतरागता के भाव एवं संस्कार जाग्रत होते हैं। वीतराग देव का सान्निध्य पाने का अर्थ है–उनका भजन, स्तवन, नाम-स्मरण, गुणगान, नमन, आज्ञा-पालन, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समर्पण आदि।

अरिहन्त का विराट् रूप और स्वरूप

पहले बताया गया था कि अरिहन्त का स्वरूप दर्शन अपनी शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शन है। अतः अब हम 'अरिहंत' के स्वरूप की थोड़ी-सी झाँकी यहाँ दे देते हैं।

अरिहन्त कौन है, क्या है ? : इसे प्रथम स्थान क्यों ?

जैनधर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँच आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाले महान् आत्मा माने गए हैं। ये पाँच पद किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं हैं, परन्तु गुणवाचक पद हैं। जैनधर्म मोक्ष-प्राप्ति में किसी भी वेश की, लिंग की, सम्प्रदाय-विशेष की रोक नहीं लगाता। उसमें स्त्री भी मुक्त हो सकती है, पुरुष भी। तीर्थंकर भी मुक्त हो सकते हैं, सामान्य जन भी, स्व-लिंगी और अन्य-लिंगी भी मुक्त हो सकते हैं, साधु भी मुक्त हो सकते हैं, गृहस्थवेशी भी मुक्त हो सकते हैं। जैनधर्म में इन सब के लिये एक ही शर्त है–राग-द्वेष के विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को नष्ट कर दिया, वही जैनधर्म की दृष्टि में भगवान,

---

१. वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत्॥
–योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य), श्रु. ९, श्लो. १३

अरिहन्त, केवलज्ञानी हो गया। यही कारण है कि पंच-परमेष्ठि नमस्कारसूत्र में 'नमो अरिहंताणं' कहा गया है–'नमो तित्थयराणं' नहीं। तीर्थंकर भी अरिहन्त हैं, अन्य केवली भी अरिहन्त हैं। सभी अरिहन्त तीर्थंकर नहीं होते। अरिहन्तों के नमस्कार में तीर्थंकरों को भी नमस्कार आ ही जाता है। परन्तु व्यक्ति-विशेषरूप तीर्थंकरों के नमस्कार में अरिहन्तों को नमस्कार नहीं आ सकता। अतः तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, अर्हद्भाव ही मुख्य है। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार तीर्थंकरत्व औदयिक प्रकृति है, कर्म का फल है, किन्तु अरिहन्त दशा क्षायिकभाव है। वह किसी कर्म का फल नहीं, अपितु कर्मों के क्षय (निर्जरा) का फल है। तीर्थंकरों को नमस्कार भी अर्हद्भावमुखेन है, स्वतंत्र नहीं। यह है जैनधर्म का विराट् और उदार रूप। यहाँ व्यक्ति-पूजा को स्थान नहीं है, गुण-पूजा को ही मुख्यता दी गई है।[1] जहाँ कहीं भी व्यक्ति-पूजा को स्थान दिया भी है, वहाँ भी उक्त व्यक्ति में निहित आदरास्पद गुणों को ध्यान में रखकर ही; स्वतंत्र नहीं। यही कारण है कि पिछले पृष्ठों में हमने बताया है कि निखिल संसार का कोई भी मनुष्य फिर भले ही वह किसी भी जाति, देश, धर्मतीर्थ (धार्मिक संघ) का हो, किसी भी वेश, लिंग या जाति का हो, अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास के द्वारा राग-द्वेषादि विकारों पर विजय प्राप्त करके चार घातिकर्मों का क्षय करके वीतराग, केवली, अरिहन्त बन सकता है। सामान्य आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन सकता है। फलतः इस (पंच-परमेष्ठि) नमस्कारसूत्र में व्यक्ति-विशेष का नाम न लेकर अनन्त-अनन्त अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को उनके गुणों के अनुरूप नमस्कार किया गया है।[2]

अतः शुद्ध पवित्र दशारूप उच्च स्वरूप में (आध्यात्मिक विकास के उच्च स्वरूप में) वीतरागभावरूप समभाव में स्थित रहने वाले पंच-परमेष्ठियों[3] में सर्वप्रथम 'नमो अरिहंताणं' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। सम्यक्त्व के पाठ में भी 'अरहंतो महदेवो' (अरहन्त मेरे देव हैं) कहा गया है। जैनधर्म में वीतराग को अरिहन्त कहा गया है। अरिहन्त हुए बिना वीतरागता आ ही नहीं सकती। दोनों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। अरिहन्तता कारण है और वीतरागता कार्य है।

अरिहन्त का विभिन्न दृष्टियों से लक्षण

'अरिहन्त' शब्द 'अरि' और 'हन्त' दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है–शत्रुओं का हनन करने वाले। 'अरि' से यहाँ बाह्य शत्रुओं का ग्रहण नहीं किया

---

१. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगः न च वयः।
–गुणीजनों में गुण ही पूजा के स्थान = कारण हैं, लिंग और वय नहीं।

२. 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १६२

३. परमे (शुद्ध–पवित्रदशारूप उच्चआध्यात्मिकविकासस्वरूपे, वीतरागभावरूपे समभाव) तिष्ठतीति परमेष्ठी। –आवश्यकनिर्युक्ति

गया है, किन्तु राग-द्वेष आदि अथवा अष्टविध कर्मरूप अन्तरंग शत्रुओं को जो नष्ट कर डालते हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं। 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है– "ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही वस्तुतः संसार के सभी जीवों के लिये (भाव) शत्रुसूत्र हैं। उन कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने वाले होने से अरिहन्त, अरिहन्त कहलाते हैं।" एक आचार्य ने दूसरे प्रकार से अरिहन्त का निर्वचन किया है–"इन्द्रिय-विषय, कषाय, वेदना और उपसर्ग, ये (साधक की साधना में बाधक भाव) अरि = शत्रु हैं। इन शत्रुओं के हन्ता (हननकर्त्ता) होने से अरिहन्त कहलाते हैं।" एक आचार्य ने अरिहन्त क्यों नमस्करणीय हैं, इसे बताते हुए कहा है– "राग-द्वेष, कषाय, पाँचों इन्द्रियाँ (इन्द्रिय-विषय), परीषह और उपसर्गों को नमाने = झुकाने = परास्त करने वाले हैं, इसलिए अरिहन्त नमस्कार के योग्य (पात्र) हैं।" 'धवला' में अरिहन्त की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है–"अरि अर्थात् (भाव) शत्रुओं का नाश करने से अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से 'मोह' को अरि कहते हैं। अथवा रज अर्थात् आवरणभूत कर्मों का नाश करने से 'अरिहन्त' संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज की भाँति वस्तु-विषयक बोध और अनुभव के आवारक (प्रतिवन्धक) होने से रज कहलाते हैं। अथवा रहस्य के अभाव होने से भी अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य कहते हैं–अन्तराय कर्म को। अन्तराय कर्म का नाश, शेष तीन उपर्युक्त घातिकर्मों के नाश का अविनाभावी है। अर्थात् आत्मा के प्रबल शत्रुरूप चार घातिकर्मों को नष्ट कर देने से वे अरिहन्त कहलाते हैं। अन्तराय कर्म के नाश होने पर शेष चार अघातिकर्म भी भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं।"

'अरहन्त' के लक्षण : विभिन्न दृष्टियों से

'धवला' में अरिहन्त का जो लक्षण दिया गया है, उसी से मिलता-जुलता लक्षण 'मूलाचार' में दिया है, परन्तु मूलाचार में उसको अरिहन्त के बदले अरहन्त संज्ञा दी है। वहाँ 'अरि' के प्रथमाक्षर 'अ' को तथा रज के प्रथमाक्षर 'र' को लेकर, उसके आगे हनन का वाचक 'हन्त' शब्द जोड़कर अरहंत या अर्हत् संज्ञा दी है तथा इसी के पर्यायवाची 'जिन' शब्द का लक्षण किया है–क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चार कषायों को जीतने के कारण वे 'जिन' कहलाते हैं तथा कर्म-शत्रुओं तथा जन्म-मरणरूप संसार के नाशक होने के कारण अरहन्त कहलाते हैं।[1]

---

१. (क) अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति* ९१४
(ख) इंदिय-विसय-कसाए, परिसहे वेयणा उवसग्गे।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥
(ग) रागद्दोसकसाए इंदियाणिअ पंचवि।
परिसह-उवसग्गे नामयंता नमोऽरिहा॥

अरिहन्त के अन्य अनेक रूप और स्वरूप

'अरिहन्त' शब्द के स्थान में कतिपय प्राचीन आचार्यों ने अरहंत और अरुहंत पाठान्तर भी स्वीकार किये हैं। उनके विभिन्न संस्कृत रूपान्तर होते हैं। यथा– अर्हन्त, अरहोन्तर, अरथान्त, अरहन्त और अरुहन्त आदि। 'अरिहा' शब्द का रूपान्तर अर्हत् और अर्हम्स भी बनता है। इसके अर्थ पर हम आगे विचार करेंगे। पहले हम सर्व सामान्य अरिहन्तों या अरहन्तों के लिए प्रयुक्त शब्दों के अर्थ पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

अरहोन्तर का अर्थ है–सर्वज्ञ। 'रह' का अर्थ है–रहस्यपूर्ण (गुप्त) वस्तु। जिनसे कोई भी रहस्य छुपा हुआ नहीं है। अनन्तानन्त जड़ और चेतन पदार्थों को हस्तामलकवत् स्पष्ट रूप से जानते-देखते हैं, वे अरहोन्तर कहलाते हैं। अरथान्त का अर्थ है–परिग्रह और मृत्यु से रहित। 'रथ' शब्द उपलक्षण से परिग्रहमात्र का और 'अन्त' शब्द विनाश या मरण का वाचक है। अतः जो सब प्रकार के परिग्रह से और जन्म-मरण से अतीत हो, वह 'अरथान्त' कहलाता है।

अरहन्त का एक अर्थ तो पहले लिखा जा चुका है। दो अर्थ और हैं–'रह' धातु देने (त्याग) के अर्थ से सम्बन्धित है। प्रकृष्ट राग और द्वेष के कारणभूत क्रमशः मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों का सम्पर्क होने पर भी जो अपने वीतरागत्व स्वभाव को नहीं त्यागते, वे अरहन्त कहलाते हैं।[1] अथवा 'रह' का अर्थ है–आसक्ति। अतः जो मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देने के कारण रागभाव (आसक्ति, मोह-ममता या मूर्च्छा) से सर्वथा रहित हो गए हैं, वे अरहन्त कहलाते हैं। 'धवला' के अनुसार–जिन्होंने घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को देख लिया है, वे अरहन्त हैं।[2]

'अरुहन्त' का अर्थ है–कर्मबीज जिसने नष्ट कर दिया है, ऐसे कर्ममल से सर्वथा मुक्त मानव, अतः नष्ट किये जिनके कर्म पुनः प्रादुर्भूत नहीं होते, वे 'अरुहन्त' कहलाते हैं। 'रुह' धातु (क्रिया) प्रादुर्भाव अर्थ में है। कर्मबीज के जल

पिछले पृष्ठ का शेष–

(घ) अरिहननादरिहंता, अशेषदुःख-प्राप्ति-निमित्तत्वादरिर्मोहः। रजोहननाद्वा अरिहंता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव वस्तु-विषय-बोधा अनुभव-प्रतिबन्धकत्वाद् रजांसि। ... रहस्याभावादवा अरिहंता। रहस्यमन्तरायः। तस्य शेष घातित्रितम-विनाशाऽविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निः शक्तीकृताघातिकर्मणोहननादरिहंता।

–धवला १/१/१/१/४२/९

(ङ) मूलाचार, मू. ५०५, ५६१

१. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. १५

२. धवला ८/३, ४१/८९/२

जाने पर पुनः प्रादुर्भूत = अंकुरित न होना 'अरुह'। अरुह रूप से जिन्होंने समस्त कर्मों को नष्ट कर दिया है, वे अरुहन्त[1] कहलाते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र भाष्य'[2] में यही व्याख्या की गई है। ऐसे अरिहन्त को भगवान भी कहते हैं। 'भगवान' शब्द का भारतवर्ष के धार्मिक जगत् में उच्चकोटि का स्थान है। 'भगवान' शब्द 'भग' शब्द से निष्पन्न हुआ है। भग वाली आत्मा भगवान होती है। उसमें छह गुण निहित हैं, जिनका उल्लेख आचार्य हरिभद्रसूरि ने किया है–

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य[3] यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य[4] षण्णां भग इतीङ्गना॥"

'भग' शब्द में छह अर्थ इंगित हैं। यथा–समग्र ऐश्वर्य अर्थात् प्रताप, वीर्य यानी शक्ति या उत्साह, यशःकीर्ति, श्री = ज्ञानादि लक्ष्मी अथवा शोभा, धर्म = संवर-निर्जरारूप धर्म या सदाचार और प्रयत्न यानी कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ। जहाँ मोक्षस्य पाठ है वहाँ अर्थ होता है–मोक्ष के लिये किया जाने वाला शुद्ध पुरुषार्थ। ये छहों गुण 'भग' शब्द के अर्थ में गर्भित हैं। अतः ये छहों गुण जिनमें पूर्ण रूप से विद्यमान हों, वे भगवान कहलाते हैं। जैन-संस्कृति मानव में भगवद्स्वरूप की झाँकी देखती है। अतः जो साधक अपने मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ द्वारा वीतरागभाव के पूर्ण अध्यात्म-विकास के पथ पर पहुँच जाता है, वही मानवात्मा भगवान, परमात्मा या अनन्त ज्ञानादि परम ऐश्वर्य-सम्पन्न ईश्वर बन जाता है।[5]

तीर्थंकर अरिहन्त और सामान्य केवली अरिहन्त में समानता

अरिहन्त, अरहंत, अरुहन्त, अरथान्त आदि पूर्वोक्त जितने भी लक्षण अरिहंतों या अरहन्तों के दिये हैं, वे सामान्य केवली अरिहन्तों में भी घटित होते हैं और तीर्थंकर रूप विशिष्ट अरिहन्तों में भी। 'नमो अरिहंताणं' कहते ही अरिहन्त की भूमिका में जितने भी केवली अरिहन्त हैं वे तथा तीर्थंकर अरिहन्त भी आ जाते हैं। वस्तुतः तीर्थंकर अरिहन्त और दूसरे सामान्य (केवली) अरिहन्तों में आध्यात्मिक

---

१. असेस कम्मक्खएणं निद्दड्ढ-भवांकुरत्ताओ न पुणोहे भवति, जम्मति, उववज्जति वा अरुहंता। *–महानिशीथसूत्र*

२. दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥ *–तत्त्वार्थसूत्र भाष्य कारिका*

३. 'वीर्यस्य' के बदले कहीं-कहीं 'रूपस्य' पाठ मिलता है।

४. 'प्रयत्नस्य' के बदले कहीं-कहीं 'मोक्षस्य' पाठ मिलता है।

५. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४७-४८
(ख) दशवैकालिकसूत्र, हारिभद्रीय वृत्ति ४/१

विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। सभी अरिहन्त अन्तरंग में एक ही भूमिका, एक ही सयोगी केवली गुणस्थान (१३वें गुणस्थान) में होते हैं। सबका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य (शक्ति) समान ही होता है। सब-के-सब अरिहन्त क्षीणमोह की भूमिका पार करके पूर्ण वीतराग (सयोगी केवली) गुणस्थान में होते हैं। आध्यात्मिक पूर्णता की अपेक्षा उनमें और तीर्थंकर में रंचमात्र भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि क्षायिक भाव में जरा भी तरतमता का भेद नहीं होता। यही कारण है कि भगवान महावीर ने अपने ७०० शिष्यों को, जो केवलज्ञानी अरिहन्त हो गए थे, अपने समान बतलाया है। उन्होंने उनसे वन्दना भी नहीं कराई। प्रत्येक तीर्थंकर अरिहन्त श्रमणसंघ (धर्मतीर्थ) का प्रवर्त्तक, संस्थापक एवं नेता (धर्मनायक) होता है, परन्तु वह अर्हद्दशा-प्राप्त साधकों से वन्दन नहीं कराता। अर्हद्दशा की यह वह भूमिका है, जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बराबर की भूमिका है। इसमें न कोई ऊँचा है, न नीचा; न वरिष्ठ है, न कनिष्ठ; न उत्कृष्ट है, न निकृष्ट; न सीनियर है, न जूनियर। अतएव जब हम 'नमो अरिहंताणं' कहते हैं, तब ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी आदि सब तीर्थंकरों को, राम, हनुमान, महादेव आदि सभी अर्हद्भाव-प्राप्त वीतराग (राग-द्वेषरहित) महापुरुषों को, स्व-लिंगी अरिहन्तों को, अन्य-लिंगी अरिहन्तों को, गृह-लिंगी अरिहन्तों को, स्त्री-अरिहन्तों को, पुरुष-अरिहन्तों को, इतना ही नहीं, भूमण्डल पर के अतीत, अनागत और वर्तमान के अनन्तानन्त अरिहन्तों को नमस्कार हो जाता है। नमस्कारकर्त्ता की दृष्टि से शब्द रूप में 'नमो अरिहंताणं' नमस्कार पाठ एक है, परन्तु वह बहुवचनान्त है, इसलिए सभी नमस्करणीय अरिहन्तों को भाव-नमन की दृष्टि से अनन्त हो जाता है।[1] कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के निम्नोक्त दो श्लोक इसी तथ्य को प्रकट करते हैं–

"भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥१॥
यत्र तत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोष-कलुषः स चेद्, एक एव भगवन् ! नमोऽस्तु ते॥२॥"

–संसाररूपी बीज के अंकुर के जनक (कारणभूत) राग-द्वेषादि दोष जिसके क्षय हो चुके हों, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर (महादेव) हो या जिन हो; उसे मेरा नमस्कार है। जिस-जिस समय में जो-जो व्यक्ति, जिस किसी भी नाम से हो गया हो, यदि रागादि दोषों की कलुषता से रहित हो चुका है, तो (मेरे लिये) वह एक ही है। भगवन् ! आपको मेरा नमस्कार हो।[2]

---

१. 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण
२. 'महादेव स्तोत्र' (आचार्य हेमचन्द्र) से भाव ग्रहण

'भक्तामर स्तोत्र' में भी बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा, विष्णु और पुरुषोत्तम के भी उन-उन अर्हद् गुणों से विभूषित होने की स्थिति में अरिहन्त माना गया है।[1]

इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने 'महादेवाष्टक स्तोत्र' बनाया है, उसमें वास्तविक महादेव का लक्षण उन्होंने आठ श्लोकों द्वारा बताया है कि मनुष्य चाहे तो वास्तविक महादेव बन सकता है। उसका एक श्लोक इस प्रकार है–

"राग-द्वेषौ महामल्लौ, जितौ येन महात्मना।
महादेवः सविज्ञेयः, शेषा वै नामधारकाः॥"[2]

–जिस महान् आत्मा ने राग-द्वेषरूपी महामल्लों को जीत लिया है, उसे महादेव समझना चाहिए। इस लक्षण के अतिरिक्त शेष नामधारी हैं।

जैनागमों में अरिहन्त के लिये जिन, वीतराग, सयोगी केवली, अरहा आदि अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। 'जिन' शब्द का अर्थ है जीतने वाला। किसे जीतने वाला? वह यहाँ गुप्त एवं अध्याहृत है। आगमों और ग्रन्थों में इसका उत्तर मिलता है।[3]

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"राग-द्वेष विजेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता को मैं उनके गुणों की प्राप्ति (उपलब्धि) के लिये वन्दन करता हूँ।"[4]

केवली का स्वरूप और प्रकार

केवली तथा सयोगी केवली, ये दोनों शब्द भी अरिहन्तों के लिए प्रयुक्त होते हैं। केवली की परिभाषा 'मूलाचार' में इस प्रकार की गई है–"जो केवलज्ञान के द्वारा लोक और अलोक को जानते हैं तथा देखते हैं एवं जिनके केवलज्ञान ही आचरण है, इस कारण वे भगवान केवली (केवलज्ञानी, निरावरणज्ञानी) हैं।" 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–जिनके समस्त ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो चुका है, जिनका ज्ञान निरावरण है, वे केवली कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं–सयोगी और अयोगी केवली। जो मन-वचन-काया के योग से युक्त हैं, वे सयोगी (अरिहन्त) और इन योगों से रहित हैं, वे अयोगी केवली (सिद्ध) कहलाते हैं। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में कहा गया है–सर्वप्रथम मोहकर्म का क्षय करके शेष ज्ञानावरणीयादि तीनों

---

१. भक्तामर स्तोत्र, श्लो. २४-२५
२. महादेवाष्टकम् (आचार्य हेमचन्द्र) से भाव ग्रहण
३. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण
४. राग-द्वेष विजेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

घातिकर्मों को एक साथ जिन्होंने सर्वथा निर्मूल कर दिया है, वे लोकालोक प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर सयोगी केवली होते हैं। जिसने केवललब्धि प्राप्त कर परमात्म-संज्ञा प्राप्त की है, वे असहाय ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली, योगों से युक्त होने के कारण सयोगी और घातिकर्मों से रहित होने के कारण 'जिन' कहलाते हैं। पूर्ण आत्म-ज्ञानी हुए बिना केवली नहीं हो सकता। इसीलिए 'प्रवचनसार' में केवली का लक्षण दिया है–केवली भगवान आत्मा को, आत्मा में, आत्मा से अनुभव कारण केवली हैं। अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने के अतिरिक्त वे केवल शुद्धात्मा को जानते–अनुभव करते हैं, इसलिए केवली कहलाते हैं। 'मोक्षपाहुड' में केवली की परिभाषा दी है–जो निज शुद्ध आत्मा में केवते–सेवते = ठहरते हैं, एकीभावेन, वे केवली कहलाते हैं।

ऐसे केवली कई प्रकार के होते हैं–सामान्य केवली, मूक केवली, अन्तकृत् केवली, उपसर्ग केवली और श्रुत केवली तथा तीर्थंकर केवली और अयोगी (सिद्ध) केवली। इनमें से तीर्थंकर केवली तक सभी सयोगी केवलज्ञानी होते हैं। केवल सिद्ध-परमात्मा ही अयोगी केवली होते हैं। श्रुत केवली को छोड़कर ये सब लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञानी होते हैं। श्रुत केवली के केवलज्ञान तो नहीं होता, किन्तु निश्चय से श्रुत ज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, वह लोक को प्रगट जानने वाला ऋषिवर श्रुत केवली है।[1]

'भगवतीसूत्र' में 'सोच्चा केवली' और 'असोच्चा केवली' ऐसे दो प्रकार के केवलियों का वर्णन आता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के केवलियों में से कई नियम साधकों को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, कईयों को नहीं भी होता।[2] परन्तु तीर्थंकर केवली के अतिरिक्त भी अन्य सब प्रकार के केवली केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहन्त या अर्हत्–अरहंत कहलाते हैं।

---

१. (क) मूलाचार ५६४
(ख) सर्वार्थसिद्धि ९/३८/४५३/९
(ग) पंचसंग्रह (प्रा.) १/२७-३०
(घ) द्रव्यसंग्रह टीका १३/१५
(ङ) प्रवचनसार त. प्र. ३३
(च) केवते सेवते निजात्मानि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवली।
–मोक्षपाहुड टीका ६/३०८/११
(छ) जो हि सुएण गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलीमिसिणो भणंति लोयप्पइवयरा॥ –समयसार

२. देखें–भगवतीसूत्र में 'सोच्चा केवली' और 'असोच्चा अकेली' के विषय में विस्तृत निरूपण क्रमशः श. ५, उ. ४ तथा श. ९, उ. ३१ में

ये सामान्य केवली अरिहन्त भी भिन्न-भिन्न निमित्तों को लेकर केवलज्ञानयुक्त होते हैं। जैसे–प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को तीव्र पश्चात्ताप के निमित्त से पुनः अपने शुद्ध आत्म-गुणों में रमण से, माषतुष मुनि को सम्यग्ज्ञान की तीव्र धारा में बहते हुए उत्कृष्ट भेदविज्ञान के कारण तथा कूरगडूक मुनि को उत्कृष्ट विनयभाव क्षयभाव से–समभाव से सहन करने के कारण से, मृगावती साध्वी को सरल भाव से आत्मालोचन करते-करते, बाहुबली मुनि को अहंकार से सर्वथा निवृत्त होने से केवलज्ञान हुआ। भरत चक्रवर्ती शीशमहल में शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान के निमित्त से केवली हुए। अतः सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में केवलज्ञान तथा आध्यात्मिक परिपूर्णता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता।

तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनों में पाये जाने वाले बारह विशिष्ट गुण

अरिहन्तों के आध्यात्मिक विकास की पूर्णता एवं वीतरागता की दृष्टि से जो बारह गुण बताये गए हैं, वे गुण सामान्य केवली अरिहन्तों में भी पाये जाते हैं। वे बारह गुण इस प्रकार हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त सुख, (४) क्षायिक सम्यक्त्व, (५) यथाख्यातचारित्र, (६) अवेदित्व, (७) अतीन्द्रियत्व, और (८) से (१२) दानादि पाँच लब्धियाँ।[1]

किन्तु तीर्थंकर अरिहन्तों में जो बारह गुण बताये गए हैं, वे इनसे कुछ भिन्न हैं। उन पर अगले निबन्ध में प्रकाश डालेंगे।

अरिहन्त भगवन्तों में नहीं पाये जाने वाले अठारह दोष

इसी प्रकार अरिहन्तों को जो अठारह दोषों से रहित बताया गया है, उक्त सब दोषरहितता जैसे तीर्थंकर अरिहन्तों में पाई जाती है, वैसे सामान्य अरिहन्तों में वह घटित होती है। 'सत्तरिसय ठाणा वृत्ति' तथा 'प्रवचन सारोद्धार' में ये दोष दो प्रकार से बताये गए हैं। वे इस प्रकार हैं–(प्रथम प्रकार से) (१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय, (६) मिथ्यात्व, (७) अज्ञान, (८) अविरति, (९) काम (भोगेच्छा), (१०) हास्य, (११) रति, (१२) अरति, (१३) शोक, (१४) भय, (१५) जुगुप्सा, (१६) राग, (१७) द्वेष, और (१८) निद्रा। ये अठारह दोष जिस प्रकार तीर्थंकर अरिहन्तों में नहीं पाये जाते उसी प्रकार सामान्य अरिहन्तों (केवलियों) में भी नहीं पाये जाते, क्योंकि उनके अन्तराय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय ये चारों घातिकर्म क्षय हो चुके हैं। (दूसरे प्रकार से) अठारह दोष–(१) हिंसा,

---

१. प्रवचनसार, गा. ८०

(२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) क्रीड़ा, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) क्रोध, (११) मान, (१२) माया, (१३) लोभ, (१४) मद, (१५) मत्सर, (१६) अज्ञान, (१७) निद्रा, और (१८) प्रेम (राग)। ये अठारह दोष भी सामान्य अरिहन्तों और तीर्थंकर अरिहन्तों में नहीं पाये जाते क्योंकि ये सब दोष भी चारों घातिकर्मों के कारण पैदा होते हैं।[1]

तीर्थंकर अतिशय पुण्य राशि से युक्त होने के कारण विशिष्ट अरिहन्त (सयोगी केवली) होते हैं। उनका विशिष्ट स्वरूप, परिभाषा तथा विशिष्ट बारह गुण, अतिशय एवं तीर्थंकरपद-प्राप्ति के कारणों पर अगले निबन्ध में प्रकाश डाला जाएगा।

●●

---

१. (क) पंचेव अंतराया मिच्छत्त मन्नाणमविरह कामो।
हास-छग राग-दोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा॥
(ख) हिंसाइतिगं कीला, हासाइपंचगं च चउकसाया।
भव-मच्छर-अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा॥
(ग) अन्तराया दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगाः।
हास्यो रत्यरतीभीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥१॥
कामो मिथ्यात्वमजानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्ते षामष्टादशाऽप्ययी॥२॥
–सत्तरिसय ठाणा वृत्ति, द्वार ९६, गा. १९२-१९३;
प्रवचन सारोद्धार, द्वार ४१, गा. ४५१-४५२; जैनतत्त्व प्रकाश, पृ. १६-१८

३

विशिष्ट अरिहन्त तीर्थंकर : स्वरूप, विशेषता, प्राप्ति-हेतु

विशिष्ट पुण्यातिशययुक्त महापुरुष ही तीर्थंकर होते हैं

'तीर्थंकर' शब्द जैन संस्कृति का बहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। जैनधर्म के तत्त्वों और सिद्धान्तों को जानने वाला विद्वान् ही नहीं, सामान्य गृहस्थ-जीवन यापन करने वाला, सुख-शान्तिपूर्वक रहने वाला, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्वस्थता, बोधिलाभ और उत्तम समाधि चाहने वाला प्रत्येक जैन इस शब्द से परिचित है; परिचित ही नहीं, तीर्थंकरों के उपदेश और प्रेरणा को जीवन में आचरित करने के लिए तत्पर रहता है।

सभी प्रकार के अरिहन्त केवली तीर्थंकर नहीं होते, कुछ विशिष्ट पुण्यातिशय वाले अरिहन्त या विशिष्ट केवली ही तीर्थंकर होते हैं; किन्तु जितने आध्यात्मिक गुण, अनन्त चतुष्टयरूप आत्मिक निजी गुण, घातिकर्म क्षय एवं अष्टादश दोषरहितता के गुण सामान्य अरिहन्तों और सामान्य केवलियों में होते हैं, वे सब-के-सब गुण तथा पूर्वोक्त अरिहन्त-गुण तो विशिष्ट अरिहन्तरूप तीर्थंकरों में होते ही हैं। उनके अतिरिक्त उनके लक्षण, विशिष्ट गुण, अतिशय तथा उत्कृष्ट पुण्य-राशि का उत्कर्ष, तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के लिए कुछ विशिष्ट कारण इत्यादि भी होते हैं। अतः मुमुक्षु साधक के लिए तीर्थंकर और तीर्थंकरत्व का विशेष परिचय होना अत्यन्त आवश्यक है।

तीर्थंकर और सामान्य अरिहन्त (केवली) में अन्तर

'तीर्थंकर' शब्द का अर्थ, फलितार्थ एवं उनकी विशेषताएँ बताने से पहले हम सामान्य अरिहन्त केवली और विशिष्ट अरिहन्त केवली तीर्थंकर दोनों में किन-किन बातों का अन्तर है? इसे बताना चाहेंगे। यद्यपि तीर्थंकर अरिहन्त और सामान्य अरिहन्त की अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय-सम्पदा में कोई अन्तर नहीं होता; किन्तु तीर्थंकरपद अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। उसकी अपनी अलग पहचान है, अलग विशेषताएँ हैं। दोनों के बीच कतिपय बातों में अन्तर हैं। वह इस प्रकार है–

(१) तीर्थंकर के तीर्थंकर नामकर्म का उदय है; जबकि सामान्य केवली के नहीं।

(२) तीर्थंकर पूर्व-जन्म में दो भव से निश्चित सम्यग्दृष्टि होते हैं; सामान्य केवली के लिए ऐसा नियम नहीं है।

(३) तीर्थंकर की माता १४ स्वप्न देखती है; सामान्य केवली की माता के लिए ऐसा जरूरी नहीं।

(४) तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण से पूर्व वर्षीदान देते हैं; सामान्य केवली भी दे सकते हैं, पर ऐसा नियम नहीं है।

(५) तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले प्रवचन नहीं करते, सामान्य प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं; किन्तु सामान्य केवली छद्मस्थ अवस्था में भी उपदेश देते हैं।

(६) तीर्थंकर के पंच-कल्याणक होते हैं; सामान्य केवली के नहीं होते।

(७) तीर्थंकर को दीक्षा लेते ही मनःपर्यवज्ञान हो जाता है; सामान्य केवली को नहीं होता।

(८) तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं; सामान्य केवली के लिए ऐसा नियम नहीं।

(९) तीर्थंकर चतुर्विध धर्मतीर्थ (श्रमण-संघ) की स्थापना करते हैं; सामान्य केवली नहीं करते।

(१०) तीर्थंकर को दीक्षा लेने से पूर्व लोकान्तिक देव (अपने जीताचार के कारण) उद्‌बोधन करने आते हैं; सामान्य केवली के लिए ऐसा नियम नहीं है।

(११) तीर्थंकर का (धर्म) शासन (धर्म-संघ) चलता है; सामान्य केवली का नहीं।

(१२) तीर्थंकर के (संघ-संचालक) मुख्य शिष्य गणधर होते हैं; सामान्य केवली के शिष्य गणधर नहीं होते।

(१३) तीर्थंकर के अष्ट महाप्रातिहार्य होते हैं; सामान्य केवली के नहीं होते।

(१४) तीर्थंकर के ३४ अतिशय होते हैं; सामान्य केवली के नहीं।

(१५) तीर्थंकर की वाणी के ३५ विशिष्ट अतिशय (गुण) होते हैं; जबकि सामान्य केवली के नहीं होते।

(१६) तीर्थंकर तीर्थंकर-भव में पहले, दूसरे, तीसरे, पाँचवें और ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते; जबकि सामान्य केवली ग्यारहवें गुणस्थान को छोड़कर अन्य सभी गुणस्थानों का स्पर्श कर सकते हैं।

(१७) तीर्थंकर केवली होते हुए भी केवली समुद्घात नहीं करते; जबकि सामान्य केवली केवली समुद्घात कर सकते हैं।

(१८) तीर्थंकर का जन्म वीरत्व वृत्ति वाले कुल में होता है; जबकि सामान्य केवली का जन्म सभी कुलों में हो सकता है।

(१९) तीर्थंकर के समचतुरस्र संस्थान ही होता है; जबकि सामान्य केवली के छह संस्थानों में से कोई भी संस्थान हो सकता है।

(२०) तीर्थंकरपद की प्राप्ति आगे बताये जाने वाले २० (या दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६) कारणों में से किसी एक, दो या अधिक कारणों से हो सकती है; जबकि सामान्य अरिहन्त (केवली) पद की प्राप्ति के लिए ऐसा नियम नहीं है।

(२१) तीर्थंकर का आयुष्य जघन्य ७२ वर्ष का, उत्कृष्ट ८४ लाख पूर्व का होता है; जबकि सामान्य केवली का आयुष्य जघन्य ९ वर्ष का और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व तक का होता है।

(२२) तीर्थंकर की अवगाहना जघन्य ७ हाथ, उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की होती है; जबकि सामान्य केवली की अवगाहना जघन्य २ हाथ, उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की होती है।

(२३) तीर्थंकर सिर्फ १५ कर्मभूमिक क्षेत्रों में ही होते हैं; जबकि सामान्य केवली संहरण की अपेक्षा समग्र ढाई द्वीप में हो सकते हैं।

(२४) तीर्थंकर एक क्षेत्र में एक ही होते हैं; सामान्य केवली एक क्षेत्र में अनेक हो सकते हैं।

(२५) दो तीर्थंकर आपस में मिलते नहीं; जबकि सामान्य केवली मिलते हैं।

(२६) नरकगति या देवगति से आयुष्य पूर्ण करके मनुष्यगति में आए हुए मनुष्य ही तीर्थंकर होते हैं; जबकि सामान्य केवली चारों गति से मनुष्यगति में जन्म लेकर केवली बन सकते हैं।

(२७) तीर्थंकर जघन्य २० और उत्कृष्ट १७० तक होते हैं; जबकि सामान्य केवली जघन्य २ करोड़ और उत्कृष्ट ९ करोड़ तक होते हैं।

(२८) तीर्थंकर कालचक्र के तीसरे या चौथे आरे में होते हैं; जबकि सामान्य केवली साधान्यतया चौथे आरे में तथा चौथे आरे में जन्मे हुए पाँचवें आरे में भी केवलज्ञानी हो सकते हैं।

(२९) तीर्थंकर स्वयं ही दीक्षा लेते हैं, किसी गुरु से नहीं; जबकि सामान्य केवली स्वयं या गुरु से भी दीक्षा ले सकते हैं।

(३०) तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना होती है; जबकि सामान्य केवली के लिए समवसरण की रचना नहीं होती।

(३१) तीर्थंकर का किसी विशेष अपवाद के सिवाय प्रथम उपदेश खाली नहीं जाता; जबकि सामान्य केवली के लिए ऐसा नियम नहीं है।

(३२) तीर्थंकर के अवशिष्ट चार अघातिकर्मों में से वेदनीय कर्म का उदय शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का होता है, शेष तीन अघातिकर्म एकान्त शुभ होते हैं; जबकि सामान्य केवली के आयुष्यकर्म और गोत्रकर्म शुभ होते हैं, शेष दो अघातिकर्म शुभ-अशुभ दोनों होते हैं।

(३३) सामान्यतया अभव्य प्राणी तीर्थंकर की सभा में नहीं आता; सामान्य केवली की सभा में आ सकता है।

(३४) तीर्थंकर के अर्थरूप उपदेश से गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं; सामान्य केवली के ऐसा नहीं होता।[1]

(३५) जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार तीर्थंकरों में तीर्थंकरत्व औदयिक (कर्मोदयजनित) प्रकृति है, वह तीर्थंकर नामकर्म का फल है; जबकि अरिहन्तदशा अथवा केवलज्ञान की अवस्था क्षायिकभाव है, वह किसी कर्म का फल नहीं है, ज्ञानावरणीय आदि घाति चतुष्टय कर्म के क्षय का फल है, क्षायिक अवस्था है।

ये और ऐसे ही कतिपय चिन्तन-बिन्दु हैं, जिनसे सामान्य अरिहन्त (केवली) और विशिष्ट (उत्कृष्ट पुण्यातिशयवान्) तीर्थंकर अरिहन्त (केवली) का अन्तर समझा जा सकता है।

तीर्थंकर अरिहन्त का लक्षण

तीर्थंकर अरिहन्त के पुण्यातिशय को लेकर उनके और सामान्य अरिहन्तों (अरहंतों) के लक्षण और स्वरूप तथा विशिष्ट गुणों में भी अन्तर पाया जाता है। सामान्य अरिहन्तों (अरहंतों) के लक्षण तथा विशिष्ट गुणों का निरूपण हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। पुण्यातिशयरूप विशिष्ट अरिहन्त का लक्षण 'मूलाचार' में इस प्रकार किया गया है–"जो नमस्कार करने योग्य हैं, लोक में पूजा के योग्य हैं तथा देवों में उत्तम हैं, वे अरिहन्त (अर्हन्त तीर्थंकर) हैं। जो वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा और सत्कार के योग्य हैं, सिद्धि (मुक्ति) गमन के योग्य हैं, इस कारण से अरहन्त (अर्हन्त तीर्थंकर) कहे जाते हैं।" 'धवला' के अनुसार– "अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' में

---

१. 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' (सितम्बर-अक्टूबर ९४) से भाव ग्रहण, पृ. १३३-१३४

कहा गया है–"पंच-कल्याणकरूप पूजा के योग्य होता है, इस कारण अर्हन् कहलाता है।"[1]

तीर्थ और तीर्थंकर : स्वरूप और कार्य

अर्हन्त भगवान का ही एक विशिष्ट रूप है–तीर्थंकर। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ होता है–तीर्थ का कर्त्ता–तीर्थ-निर्माता, अर्थात् जो तीर्थ को बनाता है, तीर्थ की स्थापना करता है। तीर्थ का शब्दशः अर्थ होता है–जिसके द्वारा तैरा जा सके, वह तीर्थ है। तैरने की क्रिया दो प्रकार की होती है–एक तो जलाशय में रहे हुए पानी को तैरने की और दूसरी संसाररूपी समुद्र को तैरने की। इन दो क्रियाओं में से प्रथम क्रिया जिस स्थान में, जिससे अथवा जिसके द्वारा होती है, उसे लौकिक तीर्थ कहते हैं। आजकल लोक-व्यवहार में 'तीर्थ' शब्द पवित्र स्थान, सिद्ध क्षेत्र या पवित्र भूमि, सरोवर या नदी के तटवर्ती घाट या समुद्र में ठहरने के स्थान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थ का सम्बन्ध लोकोत्तर तीर्थ के साथ है। तैरने की द्वितीय प्रकार की क्रिया, जिसके आश्रय से अथवा जिससे, जिस साधन द्वारा होती है, उसे लोकोत्तर तीर्थ कहते हैं। अतः लोकोत्तर तीर्थ का आगमानुसार यहाँ अर्थ है–साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध श्रमण (श्रमण प्रधान) संघ अथवा 'समाधिशतक' के अनुसार–"संसार से पार होने के कारण को तीर्थ कहते हैं। उसके समान होने से आगम को भी तीर्थ कहते हैं। उस आगम के कर्त्ता को तीर्थंकर कहते हैं।" जैन परिभाषा के अनुसार भावतीर्थ है–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला एकमात्र अहिंसा-सत्यादि धर्म है अथवा रत्नत्रयरूप धर्म ही है, अतः धर्म को तीर्थ कहना उपयुक्त है। तीर्थंकर के लिए 'चतुर्विंशतिस्तव' पाठ में कहा गया–"धम्मतित्थयरे जिणे।"–धर्मरूप तीर्थ के कर्त्ता (स्थापक) जिन। तीर्थंकर अपने समय में संसार-सागर से पार करने वाले धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाते हैं। यह संसाररूपी अपार समुद्र कितना भयंकर है? इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, मत्सर, ईर्ष्या आदि हजारों विकाररूपी मगरमच्छ हैं। अनेकों योनियोंरूपी गर्त्त और चार गतियोंरूपी भँवर हैं, जिनमें फँसकर अज्ञानी संसारी जीव डूब जाते हैं। परन्तु विश्ववत्सल तीर्थंकर देवों ने सर्वसाधारण की

---

१. (क) अरिहंति णमोक्कारं, अरिहा पूजासुरुत्तमा लोए॥५०५॥
अरिहंति वंदण-नमंसणाणि, अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं, अरहंता तेण वुच्चंति॥५६२॥ –मूलाचार ५०५, ५६२

(ख) अतिशय-पूजार्हत्वाद् वाऽर्हन्तः। –धवला १, १, १/४४/६

(ग) पंचकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति, तेन कारणेन अर्हन् भण्यते।
–द्रव्यसंग्रह टीका ५०/२११/१

सुविधा के लिए धर्म का घाट (तीर्थ) बना दिया है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के विधि-विधानों की एक निश्चित योजना तैयार कर दी है; जिससे कोई भी आसानी से इस जन्म-मरणादि रूप भीषण संसार-समुद्र को पार कर सकता है। सम्यग्दर्शनादि धर्मरूपी भावतीर्थ का आचरण करने वाले साधु-साध्वी श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ को भी (गौण दृष्टि से) तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ का अर्थ पुल भी होता है। वस्तुतः तीर्थंकर चतुर्विध संघ को संसार-सागर पार करने हेतु धर्म-साधनारूपी पुल बनाते हैं। चतुर्विध धर्म-संघ अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पुल पर चढ़कर संसार-सागर के उस पार जा सकता है।

तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर उनके मुख्य शिष्य गणधर द्वादशांगी श्रुत (द्वादश अंगशास्त्रों) की रचना करते हैं। उक्त द्वादशांगी श्रुत को भी तीर्थ कहते हैं। उक्त द्वादशांगीरूप तीर्थ के प्ररूपक या प्रवचनकार होने से भी वे तीर्थंकर कहलाते हैं। 'भगवतीसूत्र' में तीर्थ, तीर्थंकर, प्रवचन और प्रावचनी का अन्तर बताया गया है।[1]

तीर्थंकर अरिहन्तों का महिमासूचक लक्षण

'नियमसार' में तीर्थंकर अरहंतों का महिमासूचक लक्षण बताया गया है–"घनघातिकर्मरहित, केवलज्ञानादि परम गुणों सहित और चौंतीस अतिशययुक्त अर्हन्त होते हैं।" इसी ग्रन्थ की 'तात्पर्य वृत्ति' में कहा गया है–"तेज (भामण्डल), केवलज्ञान, केवलदर्शन, ऋद्धि (समवसरणादि), अनन्त सौख्य (ऐश्वर्य) और त्रिभुवन-प्रधान-वल्लभता, ऐसा जिनका माहात्म्य है, वे अर्हन्त हैं।" 'धवला' में अर्हन्त का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है–"जिन्होंने मोह, अज्ञान एवं विघ्न-समूह को नष्ट कर दिया है, जो कामदेव-विजेता हैं, त्रिनेत्र द्वारा सकल

---

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. २८-२९
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. २१
(ग) तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्।
(घ) तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वातीर्थमिव तीर्थम् आगमस्सत्कृतवतः।
–समाधिशतक टीका २/२२२/२४
(ङ) तीर्यते संसार-समुद्रोऽनेनेति तीर्थम्, प्रवचनाधारश्चतुर्विधः संघः, तत्करोतीति तीर्थकरः।
(च) धम्मतित्थयरेजिणे। –आवश्यकसूत्र
(छ) तित्थं पुणचाउवण्णे समणसंघे पढमगणहरे वा। –आवश्यकनिर्युक्ति
(ज) गोयमा ! अरहा ताव नियमं तित्थगरे। तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णो समणसंघो, तं जहा–समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ। –भगवतीसूत्र, श. २०, उ. ८, सू. १४
(झ) गोयमा ! अरहा ताव नियमं पावयणी। पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे। तं जहा–आयारो जाव दिट्ठिवाओ। –वही, श. २०, उ. ८, सू. १५

पदार्थ एवं त्रिकाल के ज्ञाता हैं, मोह-राग-द्वेषरूप त्रिपुर के दाहक हैं। रत्नत्रयरूपी त्रिशूल द्वारा मोहरूपी अन्धासुर के विजेता, आत्म-स्वरूपनिष्ठ तथा दुर्नय का अन्त करने वाले हैं।" 'स्थानांगसूत्र' की टीका में अर्हन्त (अरहन्त) की माहात्म्य एवं अर्हतासूचक परिभाषा इस प्रकार की गई है–"उत्कृष्ट भक्ति-तत्पर सुरासुर-समूह द्वारा विशेष रूप से रचित, जन्मान्तररूप महान् आलवाल (क्यारी) में उपार्जित और निर्दोष वासना–भावनारूपी जल से सिंचित पुण्यरूप महावृक्ष के कल्याणफल-सदृश अशोक-वृक्षादि अष्ट महाप्रातिहार्यरूप पूजा के योग्य तथा सर्वरागादि शत्रुओं के सर्वथा क्षय से मुक्ति मन्दिर के शिखर पर आरूढ़ होने (योग्य होने) से अर्हन्त (अरहन्त) कहलाते हैं।" अरिहन्त (तीर्थंकर) परमात्मा में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विशुद्ध आध्यात्मिक तत्त्वों को घटित करते हुए डॉ. साध्वी श्री दिव्यप्रभा जी कहती हैं–"अरिहंत परमात्मा सर्जनहार हैं, पर मोक्षोपयोगी धर्म-शासन के; पालनहार हैं, पर धर्म-गुण के और अभय (दान) के द्वारा समस्त जीवराशि के; संहारक हैं, पर पापमार्ग, दुःख और दुर्गति के (जन्म-मरण के)। वे सर्वव्यापी हैं, पर ज्ञान से; मुक्त हैं, पर बद्ध-मुक्त (जीवन्मुक्त) हैं, अर्थात् सकलजन-प्रत्यक्ष बद्ध अवस्था से मुक्त हैं। अरिहन्त (तीर्थंकर) परमात्मा अवतारी, लीलाधारी या इच्छाधारी देव नहीं, पर सकल अवतार, लीला और इच्छाओं से सदा मुक्त हैं। प्रयोजन-अभाव के कारण (मोक्ष में जाने के बाद) लौटकर पुनः कभी संसार में नहीं आते हैं। इनके लिए देवदूत या देवपुत्र की कल्पना असंगत है, क्योंकि ये तो देवों के पूज्य, आराध्य और उपास्यरूप देवाधिदेव की अवस्था को प्राप्त हो चुके होते हैं।"[1]

चूँकि वीतराग तीर्थंकर देव विश्व-कल्याणकारी धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं; अतः असुर और सुर, नर और नारी आदि सभी के पूजनीय होते हैं। तीनों लोकों में सदेह मुक्त साकार जीवन्मुक्त वीतराग परमात्मा की उपासना की जाती है। इसलिए

---

१. (क) घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ-परमगुणसहिया।
चोत्तिस-अदिसय-जुत्ता अरिहंता एरिसा होंति॥ –*नियमसार, गा. ७१*

(ख) ते जो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहवण-पहाण-दइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो॥ –*नियमसार ता. वृ. ७*

(ग) धवला १/१, १, १/२३-२५/४५

(घ) अर्हन्ति अशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपर–सुरासुर-विसर-विरचितां जन्मान्तर-महालवाल-विरूढानवद्य-वासना-जलाभिषिक्त-पुण्यमहातरु-कल्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्यरूपां पूजां निखिल-प्रतिपन्थि प्रक्षयात् सिद्धि-सौध-शिखरारोहण येस्यर्हन्तः।
–*स्थानांगसूत्र वृत्ति, अ. ४, उ. १, पत्र ११६*

(ङ) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. २९, ४७

(च) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. २२

(छ) 'अरिहन्त की प्रस्तुति' (डॉ. साध्वी श्री दिव्यप्रभा जी) से साभार उद्धृत

वे त्रिलोक-पूज्य हैं। स्वर्ग के सभी (६४) इन्द्र भी प्रभु के चरण-कमलों की धूल मस्तक पर चढ़ाते हैं और अपने को धन्य-धन्य समझते हैं। तीर्थंकरत्व में अरिहंतों की विशिष्ट महत्ता और अर्हता रही हुई है।

इस जगत् में स्वोपकार, निज-स्वार्थ करने वाले तथा स्वार्थ, वासना, तृष्णा, अहंता एवं कामना-नामना से प्रेरित होकर परोपकार करने वाले फलाकांक्षी तो अनेक मिलते हैं, परन्तु स्वोपकार के साथ निःस्वार्थ, निष्काम, निःस्पृहभाव से फलाकांक्षारहित होकर परोपकार करने वाले विरले ही होते हैं। परोपकारकर्त्ताओं में भी अन्न-पानादि के दान देने वाले भी अनेक होते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के दानकर्त्ता तो विरलातिविरल होते हैं। तीर्थंकर परमात्मा तीर्थ-स्थापना द्वारा इस विरलातिविरल कार्य का सम्पादन करते हैं और जगत् के सभी जीवों पर इस बहुमूल्य अतिदुर्लभ आध्यात्मिक उपकार की वर्षा करते हैं।

वे स्वयं पहले संसार की मोह-माया और वासना का परित्याग करते हैं, त्याग और वैराग्य की अखण्ड साधना में रत रहते हैं तथा अनेकानेक भयंकर कष्ट उठाकर, पहले स्वयं सत्य की पूर्ण ज्योति के दर्शन करते हैं अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् मानव-जगत् को धर्मोपदेश देकर असत्य-प्रपंच, अधर्म और पाप के चंगुल से छुड़ाते हैं। वे नरक-स्वरूप उन्मत्त एवं विषयासक्त संसार को सत्यं शिवं सुन्दरं के सम्मुख करते हैं और सत्य के, सद्धर्म के पथ पर लगाते हैं. एवं ,संसार में पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करने का पुरुषार्थ करते हैं। वे संसार के भव्य जीवों को यही बोध देते हैं कि "स्वयं धर्मपूर्वक जीओ, दूसरों को सुखपूर्वक जीने दो और अपने भौतिक सुखों की परवाह न करके भी दूसरों को अधिकाधिक धर्मपूर्वक जीने में सहयोग दो-सहायता दो।" तीर्थंकर इस महान् सिद्धान्त को जीवन में उतार लेते हैं। संक्षेप में तीर्थंकर नामकर्म के उदयवश तीर्थंकर वह है, जो संसार को सद्धर्म का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने वाले पापाचारों से बचाता है। संसार को भौतिक सुख-लालसा से हटाकर अध्यात्म-सुखों का रसिक बनाता है।

तीर्थंकरों की परमोपकारिता-प्रकटकारिणी कतिपय विशेषताएँ

तीर्थंकरों की असाधारण विशेषताओं तथा परमोपकारिताओं को प्रगट करने वाले अनेक विशेषण शक्रस्तव (नमोत्थुणं) के पाठ में प्रयुक्त किये गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं-सर्वप्रथम 'अरिहन्त' और 'भगवन्त' विशेषण हैं, जिनकी व्याख्या हम कर चुके हैं।

आदिकर-इसके पश्चात् विशेषण है-आदिकर (धर्म की आदि करने वाले)। प्रश्न होता है-धर्म तो अनादि है, फिर उसकी आदि कैसे? उत्तर है-धर्म अवश्य

अनादि है। यह संसार है और संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है और उसका फल मोक्ष भी है। अतः यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर अरिहन्त भगवान धर्म का निर्माण नहीं करते, परन्तु अपने-अपने युग में धर्म में जो विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर मूढ़ताएँ, मिथ्या परम्पराएँ, मिथ्या आचार-विचार फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि करके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान अपने-अपने शासन (संघ) की अपेक्षा से श्रुत-चारित्र धर्म की या रत्नत्रयरूप धर्म की आदि (निर्माण) करते हैं। इसलिए भी आदिकर कहलाते हैं। कोई कह सकता है कि धर्म-तीर्थ की आदि (आद्य स्थापना) करने वाले तो ऋषभदेव हुए थे, फिर दूसरे तीर्थंकरों को (धर्म-तीर्थ के आदि) तीर्थंकर क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा, धर्म-मर्यादा में समयानुसार परिवर्तन करता है। इस दृष्टि से नये धर्म-तीर्थ यानी नये घाट का निर्माण करने के कारण उन्हें आदिकर तीर्थंकर कहा जाता है। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड रूप बाह्य चारित्र = व्यवहार चारित्र का ढाँचा और शरीर बदल देते हैं। पुराने शब्दों और पद्धतियों में भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार परिवर्तन करते हैं। इस विषय में प्रमाण है—भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का शासन भेद।[1]

बीस और एक सौ सत्तर तीर्थंकर : कहाँ-कहाँ, कब और कैसे-कैसे ?

प्रत्येक काल-चक्र में इस प्रकार के २४ तीर्थंकर होते हैं। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में अतीत में हुए, वर्तमान में विहरमान और भविष्य में होने वाले तीर्थंकरों का परिचय दिया गया है। इस काल-प्रवाह में जो २४ तीर्थंकर हुए थे, वे सर्वकर्म क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके हैं। वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी आदि २० तीर्थंकर विद्यमान हैं, जो विहरमान कहलाते हैं। जब कम से कम तीर्थंकर होने का काल होता है, तब भरत, ऐरावत क्षेत्र में तीर्थंकर होते ही नहीं तथा पाँच महाविदेह क्षेत्र में भी प्रत्येक में चार-चार तीर्थंकर होते हैं। इस प्रकार ५ × ४ = २० तीर्थंकर वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में हैं। जब अधिक होने का समय होता है, तभी प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र के ३२ विजयों में से प्रत्येक विजय में एक-एक तीर्थंकर होते हैं, यों ३२ तीर्थंकर एक महाविदेह में होते हैं, पाँचों महाविदेह क्षेत्रों में ३२ × ५ = १६० तीर्थंकर होते हैं तथा ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र में भी प्रत्येक में एक-एक तीर्थंकर होते हैं। यों अधिक से अधिक १६० + १० = कुल मिलाकर १७० की संख्या बन जाती है। प्रत्येक तीर्थंकर

---

१. नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं, तित्थयराणं····। —आवश्यकसूत्र शक्रस्तव

अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार धर्म-तीर्थ की स्थापना, धर्म-मर्यादा, धर्म-परम्परा में परिवर्तन करते हैं।[1]

स्वयं-सम्बुद्ध–तीर्थंकर भगवान स्वयं-सम्बुद्ध होते हैं। स्वयं-सम्बुद्ध का अर्थ है–अपने आप प्रबुद्ध होने = बोध पाने = जागने वाले। संसार में तीन श्रेणी के लोग होते हैं–(१) हजारों लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नहीं जागते। उनकी अज्ञान-निद्रा बहुत गहरी है। (२) कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जग सकते, किन्तु दूसरों के द्वारा जगाने पर अवश्य जाग जाते हैं। (३) तीसरी श्रेणी उन पुरुषों की है, जो समय पर स्वयमेव जाग जाते हैं, मोह-निद्रा का त्याग कर देते हैं और मोह-निद्रा में प्रसुप्त जगत् को भी अपनी आवाज से जगा देते हैं। तीर्थंकर परमात्मा भी इसी श्रेणी के हैं, वे स्वयमेव जाग जाते हैं, स्वयं अपने पथ का निर्माण करते हैं। उनका पथ-प्रदर्शक न तो कोई गुरु होता है और न ही शास्त्र। वे अपना मोक्षमार्ग स्वयं खोज निकालते हैं। स्वावलम्बन के इस आदर्श पर चलकर वे धर्मानुकूल नई परम्परा का सृजन करते हैं। स्वयं धर्म-क्रान्ति करते हैं।

पुरुषोत्तम–भगवान पुरुषों में उत्तम होते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के असाधारण और अलौकिक व्यक्तित्व एवं गुण-सम्पदा के कारण वे पुरुषोत्तम हैं। उनका रूप त्रिभुवन-मोहक होता है, उनका तेज सूर्य के तेज से भी बढ़कर होता है, उनका मुखचन्द्र सुरासुर-नयनों के मन को हरने वाला होता है। उनके दिव्य शरीर में १००८ उत्तमोत्तम लक्षण होते हैं। वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र-संस्थान उनके अनूठे सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं। उनका परम औदारिक शरीर देवों के वैक्रियशरीर को भी मात करने वाला होता है। ऐसा होता है उनका बाह्य व्यक्तित्व। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के कारण वीतरागता, समता और क्षमता (अनन्त शक्ति) के कारण उनका आन्तरिक व्यक्तित्व भी अनूठा होता है। इन गुणों की समता मनुष्य तो क्या देव भी नहीं कर सकते।

---

१. (क) देखें–चौबीस तीर्थंकरों तथा बीस विहरमान तीर्थंकरों का चरित्र परिचय विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में

(ख) चौबीस तीर्थंकरों के नाम–(१) श्री ऋषभदेव जी, (२) श्री अजितनाथ जी, (३) श्री संभवनाथ जी, (४) श्री अभिनन्दन जी, (५) श्री सुमतिनाथ जी, (६) श्री पद्मप्रभ जी, (७) श्री सुपार्श्वनाथ जी, (८) श्री चन्द्रप्रभ जी, (९) श्री सुविधिनाथ जी, (१०) श्री शीतलनाथ जी, (११) श्री श्रेयांसनाथ जी, (१२) श्री वासुपूज्य जी, (१३) श्री विमलनाथ जी, (१४) श्री अनन्तनाथ जी, (१५) श्री धर्मनाथ जी, (१६) श्री शान्तिनाथ जी, (१७) श्री कुंथुनाथ जी, (१८) श्री अरनाथ जी, (१९) श्री मल्लिनाथ जी, (२०) श्री मुनिसुव्रतस्वामी जी, (२१) श्री नमिनाथ जी, (२२) श्री अरिष्टनेमि जी, (२३) श्री पार्श्वनाथ जी, (२४) श्री महावीर स्वामी जी।

(ग) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४९, २९

(घ) 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. ७२

पुरुषसिंह–तीर्थंकर भगवान पुरुषों में सिंह के समान हैं। यहाँ सिंह से अभिप्राय उसकी क्रूरता, अज्ञानता और निर्दयता से नहीं, अपितु वीरता और पराक्रमशीलता से है। भगवान तीर्थंकर की तप-त्याग-सम्बन्धी वीरता, पराक्रमशीलता और आत्म-बलयुक्त निर्भयता की बराबरी कोई भी संसारी व्यक्ति नहीं कर सकता। सिंह का दूसरा गुण है–वह किसी के द्वारा लाठी से प्रहार किये जाने पर लाठी को नहीं पकड़ता, अपितु लाठी वाले व्यक्ति को पकड़ता है। इसी प्रकार वीतराग–तीर्थंकर भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नहीं समझते, प्रत्युत शत्रु को शत्रु बनाने वाले को, शत्रु को पैदा करने वाले मन के विकारों को शत्रु समझते हैं। उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है, उसके विकारों को वे अपने दया, क्षमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से शान्त करते हैं। शत्रु को मित्र बना लेते हैं।

पुरुषवर पुण्डरीक–तीर्थंकर भगवान पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। पुण्डरीक में मुख्य तीन गुण हैं–(१) श्वेतता (निर्मलता), (२) निर्लिप्तता, और (३) सुगन्ध। इसी प्रकार तीर्थंकर में भी पुण्डरीक कमल के तीनों गुण होते हैं। पुण्डरीक बिलकुल श्वेत होता है, निर्मल होता है, उस पर किसी भी दूसरे रंग की झाँई नहीं होती। उसी प्रकार तीर्थंकर का जीवन वीतरागभाव के कारण पूर्णतः श्वेत व निर्मल होता है, कषायों और विषयों का उन पर जरा भी रंग नहीं चढ़ता। पुण्डरीक कमल जल में रहता हुआ भी जल से ऊपर उठकर निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान संसार में रहते हुए भी संसार की विषय-वासनाओं, राग-रंगों, मोह-माया आदि से निर्लिप्त रहते हैं। पुण्डरीक कमल की सुगन्ध भी अत्यन्त मनमोहक होती है, इसी प्रकार भगवान के क्षमा, दया, समता, अहिंसादि गुणों की सुगन्ध या उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अपार होती है, वह हजारों वर्षों बाद भी भक्तजनों के हृदय को महकाती रहती है।[1]

पुरुषवर गन्धहस्ती–तीर्थंकर पुरुषों में गन्धहस्ती के समान हैं। गन्धहस्ती में दो गुण विशेष रूप से होते हैं–सुगन्ध और वीरता। उसके मद की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारों हाथी त्रस्त होकर भागने लगते हैं। साथ ही गन्धहस्ती इतना मंगलकारी होता है कि वह जिस प्रदेश में रहता है, वहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के उपद्रव नहीं होते, सदा सुभिक्ष रहता है। भगवान भी मानव-जाति में गन्धहस्ती सम इतने प्रतापी और तेजस्वी हैं कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड टिक नहीं सकता। सर्वत्र सत्य का

---

१. (क) "..... सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससिंहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं ....।"
–शक्रस्तव पाठ

(ख) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ३७-३९

साम्राज्य हो जाता है तथा भगवान भी गन्धहस्ती के समान इतने मंगलकारी हैं कि उनका जहाँ भी पदार्पण होता है, उस प्रदेश में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि का उपद्रव टिक नहीं सकता; बाह्य उपद्रव के साथ जनता के अन्तरंग उपद्रव (काम-क्रोधादि) भी शान्त हो जाते हैं।

लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहितंकर–भगवान बाह्य (अष्ट महाप्रातिहार्यादि) और आन्तरिक (अनन्त ज्ञानादि) सम्पदा के कारण समग्र लोक में समस्त जीवों में उत्तम होते हैं। कल्याणमार्ग का योग-क्षेम करने के कारण भगवान लोक के नाथ हैं। इसी प्रकार भगवान उपदेश और प्रवृत्ति से समग्र लोक के हितकर्मा होते हैं।

लोकप्रदीप, लोकप्रद्योतकर–भव्य जीवों के हृदय-मन्दिर में स्थित मिथ्यात्वान्धकार को मिटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश करने से भगवान लोकप्रदीप होते हैं। सूर्य और चन्द्र भी प्रकाश तो करते हैं, किन्तु अपने समान प्रकाशमान किसी को नहीं बना सकते, जबकि दीपक स्वयं प्रकाश भी देता है, साथ ही वह अपने सम्पर्क में आए हजारों दीपकों को प्रदीप्त कर अपने समान प्रकाशमान दीपक बना देता है। भगवान केवलज्ञान का प्रकाश फैलाकर ही विश्राम नहीं लेते, अपितु स्व-सम्पर्क में आने वाले अन्य साधकों को भी साधना का पथ-प्रदर्शित करके अन्त में अपने समान ही बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, ध्यान के द्वारा अन्त में ध्येयरूप हो जाता है। गौतम गणधर और महासती चन्दनबाला का उदाहरण प्रसिद्ध है।

अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोधिदाता, धर्मदाता–भगवान अभयदाता है। दानों में श्रेष्ठ दान अभयदान है। गोशाल जैसे प्रतिपंथी उद्दण्ड को भगवान ने वैश्यायन बाल तपस्वी द्वारा फेंकी गई तेजोलेश्या से जलने से बचाया। स्वयं घोर कष्ट सहकर ऐसे उद्दण्ड, प्रतिकूल व्यक्तियों, चण्डकौशिक जैसे प्राणियों को अभयदान दिया। तीर्थंकर भगवान सम्पर्क में आने वाले प्राणियों को, जो अज्ञानान्ध हों, उन्हें ज्ञानरूपी नेत्र प्रदान करते हैं। भगवान अनादिकाल से मार्ग भूले हुए तथा संसाराटवी में फँसे हुए प्राणी के मार्गदर्शक हैं। इसी प्रकार वे चार गतियों के दुःखों से त्राण पाने हेतु शरण में आए हुए जीवों को शरण देने वाले शरणदाता हैं। वे मोक्ष-स्थान तक पहुँचाने हेतु संयमरूप जीवन के दाता हैं। वे भव्य अबोधों को बोध देने वाले हैं। आत्मोन्नति से गिरते हुए जीवों को धारण करके रखने वाले सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म के दाता हैं।

धर्मोपदेशक, धर्मनायक, धर्मसारथी–भगवान धर्म के यथार्थ उपदेशक हैं। वे चतुर्विध श्रमण-संघ के नेता, रक्षक और प्रवर्त्तक हैं; धर्मनायक हैं। वे चतुर्विध संघ को धर्मरूपी रथ में बिठाकर सन्मार्ग से मोक्षनगर में ले जाने वाले धर्मसारथी हैं।

धर्मवर-चातुरन्त-चक्रवर्ती–वे धर्म के पूर्ण आचरण द्वारा (जन्म-मरणादिरूप) चारों गतियों का अन्त करने वाले धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं; जो चार दिशारूप चार गतियों का अन्त करते हैं।[1]

जब देश में चारों ओर अराजकता छा जाती है तथा छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होकर देश की एकता नष्ट हो जाती है, तब चक्रवर्ती का षट्खण्डात्मक चक्र ही देश में पुनः राज्य-व्यवस्था करता है। वह सारी बिखरी हुई देश की शक्ति को एक सार्वभौम शासन के नीचे लाता है। उसके बिना देश में शान्ति और सुव्यवस्था हो नहीं सकती। अतः चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र पर्यन्त तथा उत्तर में हिमवान् पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है, इस कारण चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थंकर भगवान भी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चार गतियों का (सदा के लिए जन्म-मरण का) अन्त करते हैं और विश्व में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म-प्रधान शासन (राज्य) स्थापित करते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप चतुर्विध धर्म की साधना अन्तिम कोटि तक करते हैं, इसलिए वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं। तीर्थंकर अपने धर्म-चक्र द्वारा वस्तुतः संसार में फैली हुई धार्मिक अराजकता, स्व-स्वमतजन्य दुराग्रह के कारण विविध सम्प्रदायों की आपाधापी का अन्त करके संसार में अखण्ड धर्मराज्य की स्थापना करते हैं, जिससे विश्व में भौतिक और आध्यात्मिक अखण्ड शान्ति सब प्रकार से कायम हो सकती है।

दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाए तो भौतिक जगत् के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह संसार शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। चक्रवर्ती तो प्रायः भोगवासना का दास होता है। उसके चक्र के मूल में साम्राज्य-लिप्सा का तथा अपनी स्वार्थसिद्धि का विष छिपा होता है और फिर चक्रवर्ती का शासन प्रायः निर्दोष मानव-प्रजा के रक्त से सिंचित होता है। अतः वहाँ जनता के हृदय पर नहीं, शरीर पर ही विजय पाने का प्रयत्न होता है; जबकि जैन तीर्थंकर पहले अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपःसाधना के बल से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष, मोह आदि अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करते हैं, फिर जनता के कल्याण के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना करके धर्म-चक्रवर्ती बनते हैं। अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। वे जनता के शरीर के नहीं हृदय के सम्राट् बनते हैं। वास्तविक सुख-शान्ति इन्हीं धर्म-चक्रवर्तियों के शासन की छत्रछाया में प्राप्त हो सकती है।

---

१. (क) देखें–आवश्यकसूत्र, श्रमणसूत्र में शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ और उसकी व्याख्या
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. २४-२५

तीर्थंकर तो चक्रवर्तियों को भी उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लाने वाले चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं।

अप्रतिहत-ज्ञान-दर्शन-धारक–तीर्थंकर भगवान अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शन के धारक होते हैं।

व्यावृत्तछद्म–तीर्थंकर भगवान छद्म से रहित होने के कारण व्यावृत्तछद्म कहलाते हैं। छद्म के तीन अर्थ हैं–आवरण, छल और प्रमाद। तीर्थंकर भगवान ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्मों के आवरण से पूर्णतया रहित हो गए, इसलिए वे व्यावृत्तछद्म कहलाते हैं। निरावरण होने के कारण उनकी आत्मा अज्ञान और मोह आदि से सर्वथा रहित होती है। अतः तीर्थंकर भगवान छल और प्रमाद से रहित होने के कारण भी व्यावृत्तछद्म कहलाते हैं।

तीर्थंकर भगवान का जीवन में छलप्रपंच, आडम्बर, प्रदर्शन, दिखावा, अन्तर-बाह्य भिन्नरूपता, पक्षपात, राग (आसक्ति) या द्वेष (घृणा) बिलकुल नहीं होते। उनका जीवन समभाव से ओतप्रोत, सरल, निश्छल और समरस होता है। किसी भी प्रकार की गोपनीयता उनके तन-मन-वचन में नहीं होती। अन्दर और बाहर में सर्वत्र समत्व और स्पष्टभाव रहता है। जो कुछ भी परम सत्य उन्होंने प्राप्त किया, निश्छलभाव से जनसमूह को प्रदान किया। पुण्यशाली हो या पापी, धर्मात्मा हो या दुरात्मा, चक्रवर्ती हो या साधारण जन, विद्वान् हो या अविद्वान्, बुद्धिमान् हो या मन्द-बुद्धि सबको उन्होंने समभाव से, आत्मौपम्यभाव से देखा। यही आप्त जीवन है, जो उनके कथन में प्रामाणिकता, विश्वसनीयता, यथार्थ वस्तुस्वरूप प्रकाशन, सर्वजीव-हितैषिता लाता है। आप्तपुरुष का वचन-प्रवचन अकाट्य, प्रमाणाबाधित, सर्वजीव-हितकर, तत्त्वोपदेशक तथा मिथ्यामार्ग का निराकरणकर्त्ता होता है।[1] आचार्य समन्तभद्र का आप्त लक्षण इसी तथ्य को उजागर करता है।[2]

तीर्थंकर भगवान के स्व-पर-उपकारक जीवन के विशेष गुण

तीर्थंकरों के लिये ये विशेषण, उनके उच्च जीवन, स्व-पर-कल्याणकारी, स्व-पर-उपकारी जीवन के प्रतीक हैं। राग-द्वेष को जीतना, दूसरे साधकों को अन्तरंग शत्रुओं से जिताना या जीतने की युक्ति बताना; संसार-सागर से स्वयं तैरना, अन्य प्राणियों को सन्मार्गोपदेश देकर तैराना = पार उतारना; केवलज्ञान

---

१. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं का पथ-घट्टनम्॥ –*रत्नकरण्ड श्रावकाचार*

२. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से साभार भाव ग्रहण, पृ. ४२-४३
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण

पाकर स्वयं तत्त्वों का सम्पूर्ण बोध पाना और अन्य भव्य जीवों को बोध प्राप्त कराना; राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मबन्धनों से स्वयं मुक्त होना और दूसरों को मुक्त कराना; ये सब गुण कितने महान् और मंगलमय आदर्श के प्रतीक हैं? इन गुणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, जिस विशिष्ट गुण को तीर्थंकर परमात्मा ने अपने जीवन में जीया है, स्व-पुरुषार्थ द्वारा उपलब्ध किया है, किसी ईश्वर, भगवान या शक्ति की कृपा से नहीं, किन्तु अपने पराक्रम के बल पर प्राप्त किया है, उसी गुण को प्राप्त करने के लिए वे दूसरों को प्रेरणा या मार्गदर्शन देते हैं। जो लोग एकान्त निवृत्तिवाद के गीत गाते हैं, अपनी आत्मा को ही एकमात्र तारने का स्वप्न देखते हैं, उन्हें तीर्थंकरों की इन और पूर्वोक्त विशेषताओं से सबक लेना चाहिए। भगवान को क्या लाभ-हानि है–दूसरे जीवों के मुक्त होने, न होने से; दूसरे जीवों द्वारा राग-द्वेष जीतने, न जीतने से; बोध प्राप्त करने, न करने से? वे तो कृतकृत्य हो चुके हैं। मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से उन्हें अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा, पूजा, प्रतिष्ठा या संघ चलाने, अनुयायी बढ़ाने का मोह या अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं है। किन्तु पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति के कारण सहज भाव से ऐसी वात्सल्य-प्रेरक, करुणामूलक, मैत्रीवर्द्धक प्रवृत्तियाँ उनके द्वारा मुक्ति प्राप्त होने तक होती रहती हैं। यही कारण है कि 'नन्दीसूत्र' के मंगलाचरण में जगन्नाथ, जगद्बन्धु, जगत्-पितामह, जगद्गुरु, जगदानन्द, जगज्जीवयोनि-विज्ञायक आदि विशेषणों से तीर्थंकर महावीर की स्तुति की है।[1]

सभी तीर्थंकर एक बार घातिकर्मों से सर्वथा रहित होने से सर्वथा आवरणरहित एवं सर्वज्ञ हो जाते हैं। उनकी सशरीर आत्मा को सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने के बाद वे पुनः नया जन्म, नया देह धारण नहीं करते। उसी शरीर में जितने काल पर्यन्त उनका आयुष्य है, उस आयुष्य को भोगकर (यानी उतने समय तक उस शरीर में रहकर) फिर सर्वथा भययुक्त, देहयुक्त और कर्मयुक्त होकर सिद्ध-पर्याय को प्राप्त कर लेते हैं, यानी शाश्वत शुद्ध आत्म-स्वरूप में सदा-सदा के लिए अवस्थित हो जाते हैं।[2]

ऐसे तीर्थंकर जिन या जिनेन्द्र भी कहलाते हैं : क्यों और कैसे ?

ऐसे वीतराग स्व-पर-उपकारी तीर्थंकर को जिन, जिनेन्द्र, जिनवर या जिनेश्वर भी कहते हैं। 'मूलाचार' में कहा है–अर्हन्त भगवान ने क्रोध, मान, माया

---

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४४
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण
(ग) जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरु जगाणंदो।
जगबन्धु जगणाहो जगपिया महोभयवं॥ —नन्दीसूत्र, मंगलाचरण पाठ

२. 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. ११६

और लोभ, इन चार कषायों को जीत लिया है, इस कारण वे 'जिन' हैं। 'नियमसार तात्पर्य वृत्ति' के अनुसार—नाना जन्मरूपी अटवी को प्राप्त कराने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि को जो जीत लेता है, वह 'जिन' है। 'पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति' में कहा है—अनेक भवों के गहन विषयों रूप संकटों के कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओं को जो जीत लेता है, वह 'जिन' है।[1]

तीर्थंकर के लिये प्रयुक्त 'जिन' शब्द का रहस्य

तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त होने वाले 'जिन' शब्द का रहस्य क्या है? इसे भी समझ लेना आवश्यक है। 'जिन' के उपर्युक्त लक्षणों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य शत्रुओं को जीतने वाला 'जिन' नहीं कहलाता, किन्तु जो राग, द्वेष, मोह, कषाय तथा कर्म आदि आन्तरिक शत्रुओं को जीत लेता है, वही 'जिन' कहलाता है। भगवान महावीर की अन्तिम देशनारूप 'उत्तराध्ययनसूत्र' से 'जिन' शब्द का रहस्यार्थ ज्ञात हो जाता है। वहाँ कहा गया है—"दुर्जय संग्राम में लाखों सुभटों (योद्धाओं या शत्रुओं) को जो जीत लेता है (उसे हम वास्तविक जय नहीं मानते), किन्तु एक आत्मा को जीतना ही परम जय है।" "हे पुरुष ! तू आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ है? जो आत्मा द्वारा आत्मा को जीतता है, वही सच्चा सुख प्राप्त करता है।" 'आचारांगसूत्र' में भी कहा है—"अपनी आत्मा के साथ युद्ध कर; तुझे बाह्य व्यक्तियों या शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ है?"[2]

इन प्रेरणासूत्रों से यह निश्चित होता है कि यहाँ बाह्य शत्रुओं के साथ लड़ने की और उन पर विजय पाने की बात नहीं, अपितु आन्तरिक शत्रुओं के साथ

---

१. (क) मूलाचार ५६१
   (ख) नियमसार ता. वृ. १
   (ग) पंचास्तिकाय ता. वृ. १/४/१८

२. (क) जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जए।
   एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जओ॥३४॥
   अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
   अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥३५॥ —उत्तराध्ययन ९/३४-३५
   (ख) इम्मेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। —आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ३
   (ग) अप्पामित्तमित्त च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ। —उत्तराध्ययन २०/३७
   (घ) आत्मैव आत्मनो बन्धरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥
   बन्धुरात्माऽत्मनस्तस्य येनाऽत्मैवात्मना जितः।
   अनात्मस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽत्मैव शत्रुवत्॥६॥
   जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
   शीतोष्णसुख-दुःखेसु तथा मानाऽपमानयोः॥७॥ —भगवद्गीता ६/५-७

जूझकर उन्हें परास्त करने की बात है। यह युद्ध कैसे हो? कौन करे? इसका समाधान भी यहाँ दिया गया है कि आत्मा के द्वारा (आत्म-शत्रु से लड़ना) आत्मा को जीतना। तात्पर्य यह है कि आत्मा अपना आत्म-बल, संकल्प-शक्ति और वीर्योल्लास बढ़ाकर अपने ही अन्तर में स्थित विभावों और परभावों से जूझकर उन महान् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण या दमन करे। यही जिनत्व प्राप्त करने का मार्ग है।

महतो महीयान् उपकारी तीर्थंकर अरहंत देव

नवकार महामंत्र में आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चकोटि के सिद्ध परमात्मा के होते हुए भी अर्हन्त को प्रथम स्थान और सिद्ध को दूसरा स्थान देने का कारण यह है कि तीर्थंकर होने के नाते उनके जीवन में आत्मोद्धार और विश्वोद्धार का साहचर्य है, उनका जीवन सर्वांगी, स्व-पर-हितैषी, परम पूर्ण और विश्व-प्राणियों का निकट उपकारक है। वे स्वयं अकेले आध्यात्मिक गगन में नहीं उड़ते, अपितु अपनी पाँखों में सारे जगत् को लेकर उड़ते हैं। विश्व-मुक्ति में आत्म-मुक्ति; उनकी सर्वोत्कृष्ट पुण्यचर्या का मुद्रालेख होता है। स्थगित या विकृत (बिगड़े) हुए धर्म-प्रगति रथों को वे सच्ची और ठोस गति प्रदान करते हैं। धर्म की नींव डालकर भव्य आत्माओं को शुद्धि का मार्ग बताते हैं, अधर्म की प्रबलता को कमजोर करते हैं। विश्व के समक्ष चारित्र बल में पुरुषार्थ का चमत्कारी आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनके शुभ निमित्त से अनेक श्रेयार्थियों के लिए कल्याण कर प्रत्यक्ष रूप मोक्षमार्ग का उद्घाटन हो जाता है। वे जीवन-विकास के व्यवस्थित क्रम और उस मार्ग पर जाने के साधनों और उपायों तथा अपायों से बचने का मार्गदर्शन करते हैं। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकोत्तर क्रान्ति करते हैं; इतना ही नहीं अपने पीछे उत्तराधिकार के रूप में चेतना (प्रगति) शील एवं प्रशिक्षित सिद्धि-संघ (मोक्षमार्ग पर चलने के लिए प्रयत्नशील श्रमण-प्रधान चतुर्विध संघ) तैयार करके दे जाते हैं। इसीलिए उनके महान् उपकारों से उपकृत हुए भव्य जीव कहते हैं–"अरहंतो मह देवो।"–अरहन्त मेरे देव हैं।[1]

तीर्थंकर देवाधिदेव क्यों कहलाते हैं ?

पुण्यातिशय विशिष्ट अर्हत्-परमात्मा को 'देव' के बदले देवाधिदेव (तीर्थंकर परमात्मा) कहा जाता है। 'देवाधिदेव' का शब्दशः अर्थ होता है–देवों के भी अधिष्ठाता (आराध्य, उपास्य या पूज्य) देव। किन्तु इसका विशेष स्वरूप जानने के लिए देखिये–'भगवतीसूत्र' का वह पाठ, जिसमें गणधर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा है–"भगवन् ! देवाधिदेव (अर्हन्त = तीर्थंकर) देवाधिदेव

१. 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण

क्यों कहे जाते हैं?" इसके उत्तर में भगवान महावीर ने कहा–"गौतम ! ये जो अरिहन्त भगवान हैं, वे समुत्पन्न (अनन्त) ज्ञान और (अनन्त) दर्शन के धारक होते हैं। अतीत, अनागत और वर्तमान को हस्तामलकवत् (प्रत्यक्ष) जानते हैं। वे अर्हत्, जिन (राग-द्वेष विजेता), केवली (एकमात्र आत्म-ज्ञान में निष्ठ), सर्वज्ञ (सम्पूर्ण ज्ञानी) और सर्वदर्शी होते हैं। इस कारण से उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है।"[1]

अन्य देवों से देवाधिदेव बढ़कर क्यों होते हैं ?

जो स्वर्ग के देव होते हैं, उनमें अधिक से अधिक अवधिज्ञान तक होता है; मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान उनमें नहीं होता। इस कारण वे अनन्त ज्ञान-दर्शन के धारक या त्रिकालज्ञ, केवली, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे राग-द्वेषादि विकारों के विजेता नहीं होते। बल्कि वे देव काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि विकारों से न्यूनाधिक रूप में अभिभूत होते हैं। देवों के राजा–देवेन्द्र–इन्द्र, यद्यपि देवों के द्वारा पूजनीय होते हैं, किन्तु वे जगद्वन्द्य, त्रिलोकपूज्य नहीं होते, जबकि देवाधिदेव अर्हन्त उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त होते हैं। मनुष्यों में भू-देव (विप्र) और नर-देव (राजा) तथा सामान्य साधु (आचार्य, उपाध्याय, साधु) भी धर्म-देव कहलाते हैं। वे भी छद्मस्थ, राग-द्वेष से अभिभूत एवं अल्पज्ञ होने के कारण देवाधिदेव के तुल्य नहीं होते। मनुष्यलोक के ये भू-देव, नर-देव (चक्रवर्ती) या धर्म-देव यदि विशिष्ट धर्माचरण करें तो अवधिज्ञान और चतुर्दश पूर्वधर संयमी मनुष्य को मनःपर्यायज्ञान तक हो सकता है। केवलज्ञान तो घातिकर्म-चतुष्टय का क्षय किये बिना, राग-द्वेष विजेता बने बिना नहीं होता।[2] इसीलिए इन सबसे बढ़कर तीर्थंकर देवाधिदेव कहलाते हैं।

तीर्थंकर बनने से पूर्व उनमें वीतरागता और सर्वज्ञता का होना जरूरी है

देवाधिदेवपद के कारणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार ने कहा–"जिणा केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी।" क्योंकि वे जिन (राग-द्वेषविजेता = वीतराग) केवली सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। देवाधिदेव तीर्थंकर के ये विशेषण बड़े ही गम्भीर अनुभव के आधार पर रखे हैं। जैनदर्शन में सर्वज्ञता के लिए शर्त है–राग और द्वेष का क्षय हो जाना। राग और द्वेष का पूर्णतया क्षय किये बिना यानी उत्कृष्ट (पूर्ण) वीतरागभाव प्राप्त किये बिना सर्वज्ञता कथमपि सम्भव नहीं। सर्वज्ञता प्राप्त

---

१. (प्र.) से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ देवाधिदेवा देवाधिदेवा ?
(उ.) गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंतो उप्पन्न-नाण-दंसणधरा तीय-पडुप्पन्नमणागया जाणया अरहा. जिणा केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी से तेणट्ठेणं ''' जाव देवाधिदेवा देवाधिदेवा।
–भगवतीसूत्र, श. १२, उ. ९

२. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ६

हुए बिना पूर्ण आप्तपुरुष (यथार्थ वस्तुस्वरूपवादी) नहीं हो सकता। पूर्ण आप्तपुरुष हुए बिना त्रिलोकपूज्यता, देवाधिदेवपद, देवेन्द्र-पूज्यता, विश्व-वन्द्यता प्राप्त नहीं हो सकती; दूसरे शब्दों में कहें तो–तीर्थंकरपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः तीर्थंकर के लिये प्रयुक्त 'जिन' पद ध्वनित करता है कि वही आत्मा देवाधिदेव है, जीवन्मुक्त–सदेहमुक्त, सयोगी केवली, अरिहन्त या अर्हन्त परमात्मा है, वही परमेश्वर है, ईश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, अनन्त है, जिसने चतुर्गतिरूप संसार-अटवी में परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में प्रकट किया है–

"सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥"

अर्थात् जो देवाधिदेव तीर्थंकर है, वह सर्वज्ञ है, रागादि विजेता है, त्रैलोक्यपूजित है, यथावस्थित–पदार्थवादी (आप्त) है, सुदेव है, अर्हन् है, वही परमेश्वर है।[1]

तीर्थंकर का अर्हन्त नाम क्यों सार्थक है ?

पूर्वोक्त देवाधिदेव तीर्थंकर का वर्तमान में सर्वाधिक प्रचलित नाम अरिहन्त, अरहन्त या अर्हन् है। सम्यक्त्व-ग्रहण के पाठ में भी "अरिहंतो (अरहंतो) मह देवो।" (अरिहन्त या अर्हन्त मेरे देव = देवाधिदेव हैं) कहा गया है। अर्हन् शब्द के व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से दो अर्थ होते हैं–जो सम्मान के योग्य हों अथवा पूजनीय (पूजा के योग्य) हों; क्योंकि अर्ह धातु दो अर्थों में प्रयुक्त होता है–(१) योग्य होना, और (२) पूजित होना। इसलिए संस्कृत भाषा में कोषों में 'अर्हन्' के उपर्युक्त दोनों अर्थ ही किये गये हैं। 'षड्दर्शनीय मंगलाचरण' में भी कहा है–"अर्हन् इत्यथ जैनशासनरताः।"–जैनशासन (जैनधर्म) में रत व्यक्ति अपने (उपास्य) पूज्य देव को 'अर्हन्' कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है–इस विश्व में माता-पिता, अधिकारी वर्ग, बुजुर्ग लोग, विद्या गुरु, सामाजिक या राष्ट्रीय नेता तथा राजा विविध देव आदि सम्मान के योग्य तथा पूजा के योग्य समझे जाते हैं, तो क्या उन सभी को अर्हन् कहा जा सकता है ? इसका समाधान आवश्यकसूत्र आदि धर्मशास्त्रों में, शक्रस्तव आदि में इस प्रकार किया गया है–जो देव, दानव और मानव; इन तीनों के द्वारा पूज्य हों

---

१. (क) भगवतीसूत्र, श. १२, उ. ९
(ख) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४५
(ग) 'योगशास्त्र' (आचार्य हेमचन्द्र), प्रकाश २, श्लो. ४

तथा आगे कहे जाने वाले अठारह दोषरहित और बारह गुणों सहित हों, यानी इन अर्हताओं से युक्त हों, वे ही त्रैलोक्यपूजित देवाधिदेव अर्हन्, अर्हत् या अरहन्त कहलाते हैं, अन्य नहीं।[1]

तीर्थंकर अर्हन्त परमात्मा पूजा के योग्य तथा अर्हताओं से युक्त होते हैं, इसी तथ्य को द्योतित करने के लिए उनमें चार विशिष्ट अतिशय माने जाते हैं– (१) पूजातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) वचनातिशय, और (४) अपायापगमातिशय।

अर्हन्त भगवान का पूजातिशय : क्या और किस रूप में ?

अर्हन्त तीर्थंकर भगवान पुण्य प्रकृति के उत्कर्ष एवं अतिशय के कारण अष्ट महाप्रातिहार्य आदि पूजातिशय रूप में उपलक्षित होते हैं। अष्ट महाप्रातिहार्य क्या हैं? इसे समझ लेना चाहिए। पूज्यता प्रगट करने वाली जो सामग्री प्रतिहारी (पहरेदार) की भाँति सदा साथ रहे, वह प्रातिहार्य है। अद्भुतता या दिव्यता से युक्त होने के कारण इसे 'महाप्रातिहार्य' कहा जाता है। वह पूज्यता-सामग्री आठ प्रकार की होने से उसे 'अष्ट महाप्रातिहार्य' कहते हैं। 'भगवतीसूत्र वृत्ति' में कहा गया है–श्रेष्ठ देवों द्वारा निर्मित अशोक-वृक्ष आदि महाप्रातिहार्यरूपा पूजा के योग्य होने से वे 'अर्हन्त' कहलाते हैं। अष्ट महाप्रातिहार्य इस प्रकार हैं– (१) अशोक-वृक्ष, (२) देवों द्वारा सुगन्धित अचित्त पुष्प-वृष्टि, (३) दिव्य-ध्वनि (तीर्थंकर मुख से व्यक्त होने वाली सर्ववर्णोपेत दिव्यवाणी), (४) चामर (दोनों ओर डुलाए जाने वाले श्वेत चामर), (५) आसन (भगवान जहाँ विराजमान होते हैं, वहाँ अशोक-वृक्ष के नीचे पाठ-पीठ सहित स्थापित स्वर्णमय सिंहासन), (६) भा-मण्डल (भगवान के मुख के पीछे सूर्यमण्डल सम प्रकाशमान तेजोमण्डल), (७) देव-दुन्दुभि (देवों द्वारा भगवान के आगमन की उद्घोषणा जिससे की जाती है, वह देव-दुन्दुभि), और (८) आतपत्र (छत्र) (भगवान के सिर पर देवों द्वारा रखे जाने वाले त्रैलोक-स्वामितासूचक तीन छत्र)।[2]

---

१. (क) आवश्यकसूत्र सम्यक्त्व ग्रहण पाठ
(ख) 'अर्ह योग्ये, अर्ह पूजायाम्' इति धातुपाठः
(ग) षड्दर्शनीय मंगलाचरण
(घ) देवासुर-मणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा। –आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ९२२
(ङ) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ६

२. (क) अमर-वर-निर्मिताशोकादि-महाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः।
–भगवतीसूत्र वृत्ति मंगलाचरण
(ख) अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रमष्टौमहाप्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

ये आठ महाप्रातिहार्य भगवान के विशिष्ट यशोनामकर्मजनित पुण्योदय से प्रगट होते हैं और उनके पूजातिशय के कारण उपलक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त अरहन्त तीर्थंकर ६४ इन्द्रों द्वारा पूजनीय होते हैं, यह भी उनका पूजातिशय है।

ज्ञानातिशय क्या और किस रूप में ? : उसकी अर्हता कब ?

अर्हन्त भगवान अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के धारक, सम्पूर्ण (केवल) ज्ञानी, त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उनके ज्ञान का अतिशय समग्र लोक को प्रकाशित करता है, जिससे लोक का अज्ञान और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार दूर होता है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' के केशी-गौतम संवाद में जब गौतम स्वामी ने कहा कि अब सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करने वाला निर्मल केवलज्ञानरूपी सूर्य उदित हो चुका है, वह समस्त प्राणियों के लिये प्रकाश करेगा। इस पर केशी स्वामी ने जिज्ञासावश पूछा–"ऐसा ज्ञानसूर्य कौन है?, कैसी अर्हता से ज्ञानसूर्य बना है और किस प्रकार लोक में उद्योत करेगा?" गौतम स्वामी ने कहा–"जिसका संसार क्षीण (जन्म-मरण का चक्र नष्ट) हो चुका है, जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो चुका है तथा (सर्वज्ञता के प्रतिबन्धक रागादि शत्रुओं को जीतकर) जिन-भास्कर के रूप में उदित हो गया है, वही (अज्ञान एवं मिथ्यात्व के अन्धकार से ग्रस्त) समग्र लोक के जीवों के लिए प्रकाश करेगा। यह है अर्हन्त को प्राप्त सर्वज्ञता द्वारा ज्ञानातिशय का चमत्कार।[1]

तीर्थंकर की सर्वज्ञता : पूर्वकृत उत्कृष्ट पुण्यवश आत्मौपम्याभाव की चरितार्थता

प्रश्न होता है–अर्हन्त तीर्थंकर केवलज्ञान-केवलदर्शन (सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता) पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं। अब उन्हें क्या करना शेष है? मिथ्यात्व और अज्ञान के अन्धकार में पड़े हुए जनसमूह को प्रबोध देने से या उनमें ज्ञान का प्रकाश करने से उनकी मुक्ति में क्या विशेषता आती है और जनता को प्रबोध न देने, उनमें ज्ञान की ज्योति न जगाने से उनकी कौन-सी विशेषता कम हो जाती है या उनकी मुक्ति अटक जाती है?

जैनागमों के मर्मज्ञ इन सब प्रश्नों का समाधान यही देते हैं कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाने से पूर्व ही उनके चार घातिकर्म नष्ट हो चुके होते हैं और शेष रहे चार

---

१. (क) उत्तराध्ययन, अ. २३, गा. ७५-७८
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९

अघातिकर्म भी जली हुई मूँज की रस्सी की तरह उनकी आत्मा को या आत्म-गुणों को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकते। अतएव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कृतकृत्य तीर्थंकर भगवान द्वारा अब जनता को प्रबोध देने, न देने तथा ज्ञान का प्रकाश देने, न देने से उनको व्यक्तिगत कुछ भी हानि-लाभ नहीं है। जैसे सूर्य जगत् को प्रकाश देता है। उसके मन में कोई विकल्प नहीं है कि मैं अमुक के घर में प्रकाश दूँ, अमुक के घर में नहीं। जो अपने घर का द्वार खुला रखता है या प्रकाश ग्रहण करता है, उसको लाभ है; नहीं ग्रहण करता, उसकी खुद की हानि है। परन्तु सूर्य के द्वारा किसी को प्रकाश देने या न देने से उसको स्वयं को कोई लाभ या हानि नहीं है। वह सहजभाव से समय पर उदित होता है। इसी प्रकार केवलज्ञान सूर्यरूप तीर्थंकर भगवान जगत् को सहजभाव से ज्ञान का प्रकाश देते हैं। उनके मन में कोई विकल्प नहीं है कि मैं अमुक को ज्ञान का प्रकाश दूँ, अमुक को न दूँ। और न ही उनको अपने पूर्ण ज्ञान का अहंकार है, न ही दूसरे ज्ञानी से ईर्ष्या है, न ही ज्ञान का प्रकाश देकर भीड़ जुटाने की अपने संघ या धर्म के अनुयायी बढ़ाने की या पूजा-प्रतिष्ठा या मान-सम्मान पाने की तमन्ना है। पूर्व-जन्म में उन्होंने जनता को प्रबोध देने, शासन की प्रभावना करने की, परोपकार की भावना से, लोकोपकार की तथा मन-वचन-काया से दूसरों का हित करने की प्रवृत्ति से जो उत्कृष्ट पुण्यबंध किया था, उस पुण्यबंध के संस्कार तीर्थंकर-भव में चार अघातिकर्मों में से शुभ नामकर्म के रूप में उदय में आने के कारण सहजभाव से उनके द्वारा परोपकार की, जन-हित की, लोक-कल्याण की, सद्धर्म-बोध की, सद्धर्म-प्रचार की उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति होती है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की, 'सर्वभूतात्मभूतभाव' की उदात्त सुदृष्टि ही उनकी सर्वज्ञता की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है। इसीलिए अनन्त करुणासागर, विश्ववत्सल, जगत्-पितामह, खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ आदि विशेषणों से उनके अनुगामी भक्तों ने उन्हें सम्बोधित किया है।[1]

सर्वज्ञता की सार्थकता का व्यावहारिक फलितार्थ

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उदात्त दृष्टि का सक्रिय हो जाना ही सर्वज्ञता का सरल और व्यावहारिक फलितार्थ है। पूर्वकृत पुण्य-प्रकर्ष के फलस्वरूप उनकी दृष्टि सहज ही ऐसी बन जाती है कि वे विश्व की समस्त आत्माओं की अनुभूति को, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रमोद-पीड़ा आदि की भावनाओं को अपनी भावना में

---

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४४
(ख) सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥ —दशवै., अ. ४
(ग) जगवच्छलो, जगप्पियामहो भयवं, खेयन्नए से कुसले महेसी आदि शब्द

अन्तर्भूत कर लेते हैं, तब विश्व की सभी आत्माओं को समभाव से, समान रूप से अपने तुल्य देखते हैं। विश्व की समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा में अन्तर्भूत कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में जैन-संस्कृति की दृष्टि से तीर्थंकर की व्यक्तिगत आत्मा की आवाज विश्व की आवाज बन जाती है। उसका चिन्तन विश्वात्मा का चिन्तन हो जाता है। उसकी अनुभूति विश्वात्मा की अनुभूति हो जाती है। विश्व उसमें निहित हो जाता है और वह विश्वमय हो जाता है। यही उसकी सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और तीर्थंकरत्व की निशानी है।[1]

तीर्थंकर की प्रत्येक प्रवृत्ति पुण्यफलस्वरूप सहजभाव से होती है

तीर्थंकर पूर्ण वीतराग-पुरुष होते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सहजभाव से पूर्वबद्ध अपार पुण्य के फलस्वरूप केवल करुणाभाव से, परोपकारभाव से, जन-कल्याण की भावना से, जगत् के समस्त जीवों की आत्म-रक्षारूप दया के भाव से होती रहती है। ये पवित्र पुण्यमयी मंगल भावनाएँ ही उनके प्रवृत्तिशील जीवन की आधारशिलाएँ हैं। उनके द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में अपना हानि-लाभ न देखना, प्रत्युत जनता का हानि-लाभ देखना ही तीर्थंकरत्व का गौरव है।[2]

वचनातिशय-प्राप्ति : क्यों, किस कारण से और कितने प्रकार से ?

यही कारण है कि भगवान महावीर को केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तीस वर्ष तक उनके द्वारा सहजभाव से पूर्वकृत विशिष्ट पुण्यातिशयवश विभिन्न प्रकार से निष्काम जन-सेवा होती रही। तीस वर्ष के दौरान धर्म-प्रचार में, संघ-सेवा में, जन-कल्याण में, अनेक लोगों को बोधिलाभ प्राप्त होने में तटस्थ-निमित्त बने भगवान महावीर को व्यक्तिगत रूप से कुछ भी लाभ नहीं हुआ, न ही उनको इसकी अपेक्षा थी; क्योंकि उनका जीवन आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के निकट वीतरागभाव में ओतप्रोत हो चुका था। उनके लिए कोई भी साधना शेष नहीं रही थी। फिर भी विश्व-कल्याण की भावना से सहजभाव से उनके द्वारा जीवन के अन्तिम क्षण तक धर्म के सन्मार्ग का, प्राणियों के सुख-दुःखरूप विपाक का उपदेश होता रहा। पावापुरी में निर्वाण के समय सहजभाव से उनके द्वारा दिये गए उत्तराध्ययनगत उपदेश तथा सुख-दुःख विपाक से सम्बन्धित उपदेश इस तथ्य के साक्षी हैं। 'सूत्रकृतांग वृत्ति' में आचार्य शीलांक ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा–"श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्राणियों के अनुग्रहार्थ धर्मोपदेश होता रहा,

---

१. 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४५
२. 'वही' पृ. ४४

अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या सत्कार-सम्मान के लिए नहीं।" 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में भी इसी तथ्य को दोहराया गया है–"भगवान महावीर द्वारा समग्र जगत् के जीवों की (आत्म) रक्षारूप दया के प्रयोजन से प्रवचन कहे गए।" आशय यह है कि तीर्थंकर भगवान निरपेक्ष, निष्काम और निष्कामभाव से समभाव–तटस्थभाव एवं सहजभाव से समस्त जगत् के जीवों के हित, कल्याण, आत्म-रक्षा, करुणा, अनुग्रह, मैत्री, बन्धुता और आत्मैकत्वभाव से प्रवचन देते हैं, धर्मोपदेश देते हैं, अर्थरूप में अध्यात्म-विकास प्रेरक शास्त्रकथन करते हैं, भव्य जीवों को बोध देते हैं। उनको अपने प्रवचनों, धर्मोपदेशों, शास्त्रकथन या बोध प्रदान के बदले में किसी से कुछ लेने, स्वार्थ सिद्ध करने या किसी प्रकार की पूजा-प्रतिष्ठा अथवा मान-सम्मान पाने की इच्छा नहीं होती, न ही अनुयायी वृद्धि का विकल्प होता है और न अहंकार, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा आदि विभावों से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं। सब कुछ सहजभाव से उनके द्वारा होता रहता है। यही उनको वचनातिशय की उपलब्धि का मूल कारण है।[1]

तीर्थंकरों की वचनातिशय की उपलब्धि के पैंतीस प्रकार

तीर्थंकर आप्तपुरुष (यथार्थ वक्ता अथवा यथावस्थित अर्थ-प्ररूपक) होते हैं। उनकी वाणी परिमित, यथार्थ, असंदिग्ध और सारयुक्त होती है। उसमें आत्म-कल्याण और पर-कल्याण की भावना निहित होती है। उनकी वाणी अतिशायिनी (अतिशययुक्त) इसलिए होती है कि वह अमोघ होती है। उनकी वाणी में मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्यभावना की तथा अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधिदुर्लभ, इन बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) की सारयुक्त विशिष्ट स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है। यही कारण है कि उनकी दिव्य वाणी से निःसृत एक भी प्रवचन ऐसा नहीं होता, जिसे सुनकर किसी व्यक्ति का अन्तःकरण प्रभावित न हो और वह अध्यात्म-पथ का पथिक न बनता हो।

यह पहले कहा जा चुका है कि तमाम सांसारिक बन्धनों से मुक्त, जन्म-मरण की परम्परा का अन्त कर चुके तथा पूर्णतया कृतकृत्य तीर्थंकर परमात्मा एकमात्र जन-हित की भावना से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं। उनका सहज स्वभाव ही ऐसा

---

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ४४
(ख) देखें–भगवान महावीर के द्वारा की गई अपुट्ठवागरणा के रूप में उत्तराध्ययनसूत्र तथा विपाकसूत्र की गाथाएँ तथा कथाएँ
(ग) धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न तु पूजा-सत्कारार्थम्।
–सूत्रकृतांग टीका, श्रु. १, अ. ६, उ. ४
(घ) सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। *–प्रश्नव्याकरणसूत्र २/१*

है कि उनके द्वारा सहजभाव से दिये गए उपदेश पर अमल करने वाले भक्त, श्रद्धालु या उपासक भक्त से भगवान, श्रद्धालु से श्रद्धेय और उपासक से उपास्य बन जाते हैं। उनके उपदेशों को जीवन में आचरित करने से भक्त और भगवान की, उपासक और उपासक के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। उनकी अतिशायिनी वाक्सरिता इसलिए प्रवाहित होती है, ताकि जन-जन इस सरिता में अवगाहन-स्नान करके अपने जीवन का कालुष्य धोकर उसे पवित्र दिशा की ओर मोड़ सके। तीर्थंकरों की सुधास्राविणी वाणी शाश्वत सत्यों का निरूपण करती है। वे, वे ही उद्गार निकालते हैं, जिनको उन्होंने जीवन में रमाये हैं, सत्य रूप में जीये हुए उनके वचन अतिशय-सम्पन्न इसलिए होते हैं कि उनमें सत्य के सिवाय कुछ नहीं होता। तीर्थंकरों की अतिशय-सम्पन्न मेघगम्भीर वाणी कभी निष्फल नहीं जाती। उनके वचन की ३५ विशेषताओं का वर्णन आगमों में किया है।[9] उनकी वाणी की अमोघता का एक ही प्रमाण पर्याप्त है कि असंयम के पथ पर जाने के लिए उद्यत नवदीक्षित मेघकुमार मुनि को उनके जरा-से उद्बोधन ने संयम-पथ पर चलने के लिए उद्यत कर दिया। अतः साधिकार कहा जा सकता है कि उनकी वाणी में मोहतमिस्रा में भटकते हुए मानव को यथार्थ जीवन जीने का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता है। तीर्थंकरों के ३५ वचनातिशयों का 'समवायांगसूत्र', 'अभिधान चिन्तामणि' आदि में इस प्रकार निरूपण है–

(१) संस्कारवत्वम्–तीर्थंकर वाणी संस्कारयुक्त यानी संस्कृतादि लक्षणों से युक्त होती है।

(२) उदात्तत्वम्–उच्च स्वर वाली (उदात्त) होती है, ताकि समवसरण में उपविष्ट सारी परिषद् सुन सके।

(३) उपचारोपेतत्वम्–भगवद् वाणी तुच्छतारहित सम्मानपूर्ण गुणवाचक शब्दों से युक्त ग्राम्यतारहित होती है।

(४) गम्भीरशब्दयुक्तम्–भगवद् वाणी मेघगर्जनासम सूत्र और अर्थ दोनों से गम्भीर होती है या उच्चारण और तत्त्व दोनों दृष्टियों से उनके वचन गहन होते हैं।

(५) अनुनादित्वम्–गुफा में या शिखरबद्ध प्रासाद में बोलने से उठने वाली प्रतिध्वनि की तरह भगवद् वाणी में प्रतिध्वनि उठती है।

(६) दाक्षिणत्वम्–भगवद् वचन दाक्षिण्य (निश्छलता और सरलता) से युक्त होते हैं।

---

१. (क) 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. १५३
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भावांश ग्रहण, पृ. ९

(७) उपनीतरागत्वम्–भगवद् वाणी मालकोश आदि छह रागों तथा तीस रागिनियों में परिणत होने से श्रोतागण को मंत्रमुग्ध एवं तल्लीन कर देती है।

उपर्युक्त सातों वचनातिशय शब्द-प्रधान (शब्दों से सम्बद्ध) हैं। आगे २८ वचनातिशय अर्थ-प्रधान (अर्थों से सम्बद्ध) होते हैं, उनमें महान् अर्थ गर्भित होता है।

(८) महार्थत्वम्–भगवद् वाणी सूत्ररूप होने से उसमें शब्द अल्प किन्तु महान् अर्थगर्भित होते हैं।

(९) अव्याहत-पौर्वापर्यत्वम्–भगवद् वाणी पूर्वापर-विरोधरहित, अनेकान्तवादयुक्त होती है।

(१०) शिष्टत्वम्–भगवद् वचन अभिप्रेत-सिद्धान्त की शिष्टता = योग्यता का सूचक अथवा उनका भाषण अनुशासनबद्ध होता है।

(११) असंदिग्धत्वम्–उनके वाक्य असंदिग्ध अथवा संदेहनाशक होतें हैं।

(१२) अपहृतान्योत्तरत्वम्–भगवद् वाणी में किसी के दूषणों का प्रकाश न होकर हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप से वस्तु-तत्त्व का कथन होता है।

(१३) हृदयग्राहित्वम्–भगवद् वचन श्रोताओं के हृदय को प्रिय लगते हैं।

(१४) देशकालाव्यतीतत्वम्–भगवद् वचन देशकालानुसारी एवं प्रस्तावोचित होते हैं।

(१५) तत्त्वानुरूपत्वम्–जिस तत्त्व का वर्णन हो रहा है, उसी तत्त्व के अनुरूप होते हैं–भगवद् वाक्य।

(१६) अप्रकीर्ण-प्रसृतत्वम्–अप्रस्तुत-विषय वर्णन भगवद् वाणी में नहीं होता, न ही उसमें असम्बद्ध विषय का अतिविस्तार होता है।

(१७) अन्योऽन्य-प्रगृहीतत्वम्–भगवद् वचन में परस्पर सापेक्ष शब्द होते हैं।

(१८) अभिजातत्वम्–भगवद् वचन आबाल-वृद्ध सभी प्रकार के श्रोताओं के अनुरूप शुद्ध, स्पष्ट और सरल होते हैं।

(१९) अतिस्निग्ध-मधुरत्वम्–भगवद् वचन घृतसम अतिस्निग्ध और मधुसम मधुर होते हैं। श्रोताजनों के लिए वे रुचिकर, सुखकर एवं हितकर होते हैं।

(२०) अ-पर-मर्मावेधित्वम्–भगवद् वचन किसी के मर्मवेधी या गुप्त रहस्य प्रकटनकारी नहीं होते, अपितु शान्तरसवर्द्धक होते हैं।

(२१) अर्थधर्माभ्यासानपेतत्वम्–भगवद् वचन अर्थ और धर्म से प्रतिबद्ध–अर्थ-धर्मस्वरूप-प्रतिपादक सार्थक होता है।

(२२) उदारत्वम्–भगवान द्वारा वाक्योच्चारण अभिधेय अर्थ का पूर्णतया प्रतिपादक होता है।

(२३) परनिन्दाऽऽत्मोत्कर्ष-विप्रयुक्तत्वम्–भगवद् वचन पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा से रहित वीतरागता से युक्त होता है।

(२४) उपगत-श्लाघत्वम्–भगवद् वचन तीनों लोकों में श्लाघनीय–प्रशंसनीय होते हैं।

(२५) अनपनीतत्वम्–भगवद् वाक्य कारक, वचन, काल, लिंग आदि के व्यत्ययरूप वचनदोष से रहित निर्दोष एवं सुसंस्कृत होता है।

(२६) उत्पादिताछिन्न-कौतूहलत्वम्–भगवद् वचन श्रोताओं के हृदय में अविच्छिन्नता से अहोभाव (कौतूहलभाव) उत्पन्न करता है।

(२७) अद्भूतत्वम्–भगवद् वचन श्रोताओं के हृदय में अपूर्व-अपूर्व भाव उत्पन्न करते हैं।

(२८) अनतिविलम्बितत्वम्–भगवान की उपदेश शैली न तो अत्यन्त विलम्बकारी होती है, न ही अतिशीघ्रतापूर्वक, किन्तु मध्यम रीति से प्रभावोत्पादिका होती है।

(२९) विभ्रम-विक्षेप-किलकिंचितादि-विमुक्तत्वम्–भगवद् वचन भ्रान्ति, चित्तविक्षेप, रोष, भय, आसक्ति आदि मनोगत दोषों से रहित आप्त-वाक्य होते हैं।

(३०) अनेक-जाति-संश्रयाद् विचित्रत्वम्–भगवद् वचनों में वस्तुस्वरूप का कथन नय-प्रमाणादि अनेक जाति के संश्रय के कारण विचित्रता होती है।

(३१) आहित-विशेषत्वम्–भगवद् वचन प्राणिमात्र के हित-विशेष को लिये हुए पवित्र होते हैं।

(३२) साकारत्वम्–भगवान प्रत्येक वाक्य, अर्थ, पद और वर्णन स्फुट (स्पष्ट) कहते हैं। उनके वाक्य अस्पष्ट, मिश्रित या निरर्थक नहीं होते।

(३३) सत्व-परिगृहीतत्वम्–भगवद् वचन ऐसे सात्विक या सत्वशाली होते हैं, जिनसे श्रोताओं में साहस और निर्भयता का संचार हो जाता है।

(३४) अपरिखेदित्वम्–भगवान अनन्त बली होने से १६ प्रहर तक लगातार देशना देते हुए भी खेद नहीं पाते, थकते नहीं।

(३५) अव्युच्छेदितत्वम्–जब तक विवक्षित अर्थों की सम्यक् प्रकार से सिद्धि न हो जाये, तब तक भगवान अविच्छिन्न रूप से नयों और प्रमाणों से उसकी सिद्धि करते हैं।[9]

अपायापगमातिशय : क्या, कैसे और किस प्रकार से ?

तीर्थंकर उन सशरीर (सदेहमुक्त) सर्वज्ञ आत्माओं के प्रतीक हैं, प्रतिनिधि हैं, जिनकी सर्वज्ञता के साथ तीर्थंकर नामकर्मजनित कतिपय विशिष्ट पुण्य-प्रकृतियों का उदय होता है। उन विशिष्ट पुण्यातिशय के कारण उनके शारीरिक सम्पदा में तथा व्यावहारिक जीवन में कुछ विशेषताएँ प्रकट होती हैं, उन विशेषताओं के कारण उनके पुण्य-प्रभाव से अड़चनें, विघ्न-बाधाएँ या अपाय आदि स्वतः दूर हो जाते हैं। वे उन विघ्न-बाधाओं, अड़चनों, दिक्कतों, विपदाओं, अपायों, संकटों आदि के निवारण करने के लिये कोई विकल्प या विचार भी नहीं करते, न ही किसी प्रकार का स्वयं प्रयत्न करते हैं, न उन विघ्न-बाधादि को दूर करने के लिए किसी को निर्देश-आदेश देते हैं। सहजभाव से अनायास ही उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में इन पूर्वोक्त चौंतीस अतिशयों में से कोई भी तदनुरूप अतिशय स्वतः प्रकट हो जाता है। पुण्यातिशय से प्राप्त ये शारीरिक, वाचिक या व्यावहारिक अतिशय आधिभौतिक हैं। इन अतिशयों के प्रभाव से तीर्थंकरों का बाह्य व्यक्तित्व चुम्बकवत् आकर्षणीय हो जाता है। इनसे तीर्थंकर उत्कृष्ट आधिभौतिक व्यक्तित्व के प्रतीक बनते हैं, जबकि सर्वज्ञता, वीतरागता, परम समता आदि परम आध्यात्मिक हैं, अतः दूसरी

---

१. (क) पणतीसं सच्चवयणा इसेसा पण्णत्ता ''। –समवायांगसूत्र, समवाय ३५

(ख) संस्कारवत्त्वमौदात्यमुपचार-परीतता।
मेघ-गम्भीर-घोषत्वं प्रतिनादविधायिता ॥१॥
दक्षिणत्वमुपनीतरागत्वं च महार्थता।
अव्याहतत्वं शिष्टत्वं संशयाबामसम्भवः ॥२॥
निराकृताऽन्योत्तरत्वं हृदयंगमताऽपि च।
मिथः साकांक्षता प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥३॥
अप्रकीर्ण-प्रसृतत्वमस्वश्लाघाऽन्यनिन्दिता।
आभिजात्यमतिस्निग्ध-मधुरत्वं प्रशस्यता ॥४॥
अमर्म-वेधित्वमौदार्य-धर्मार्थ-प्रतिबद्धता।
कारकाद्यविपर्यासो विभ्रमादिवियुक्तता ॥५॥
चित्रकृत्त्वमद्भुतत्वं तथाऽनतिविलम्बिता।
अनेकजाति वैचित्र्य मारोपित-विशेषता ॥६॥
सत्त्व-प्रधानता वर्ण-पद वाक्यविविक्तता।
अव्युच्छित्तिरखेदित्वं पंचत्रिंशच्च वाग्गुणाः ॥७॥

–अभिधान चिन्तामणि कोष, देवाधिदेवकाण्ड

ओर तीर्थंकर भगवान परम आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रतीक बनते हैं। इन दोनों के द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व का नाम है–तीर्थंकर। इन दोनों बाह्य और आन्तरिक विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण तीर्थंकर अरहन्त भगवान लोकवन्दनीय त्रिलोकपूजित हो जाते हैं। विश्व में तीर्थंकरों को सर्वश्रेष्ठ पुरुष के रूप में पूज्यता प्राप्त है, क्योंकि वे अध्यात्म की भूमिका पर चार घनघातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र और शक्ति से सम्पन्न होते हैं। उनके बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व में जो विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, उनमें से अधिकांश तो तीर्थंकर की सहज योग साधना से, पुण्यातिशयवश प्रकट होती हैं।[1]

चौंतीस अतिशयों के नाम और संक्षिप्त अर्थ

आगमिक भाषा में उन्हें (अपायापगम) अतिशय कहते हैं, वे संख्या में ३४ हैं–(१) उनके केश, रोम, श्मश्रु नहीं बढ़ते, (२) शरीर रोगरहित रहता है, (३) रक्त और माँस दुग्धसम श्वेत होते हैं, (४) श्वासोच्छ्वास में कमल-सी सुगन्ध रहती है, (५) आहार-नीहार विधि चर्मचक्षुओं से अगोचर होती है, (६) सिर के ऊपर आकाश में तीन छत्र होते हैं, (७) उनके आगे-आगे आकाश में धर्म-चक्र चलता है, (८) उनके दोनों ओर आकाश में श्वेत चामर होते हैं, (९) स्फटिक सिंहासन होता है, (१०) आगे-आगे इन्द्रध्वज चलता है, (११) जहाँ-जहाँ तीर्थंकर रुकते–ठहरते हैं, वहाँ अशोक-वृक्ष प्रादुर्भूत हो जाता है, (१२) उनके चारों ओर दिव्य भामण्डल होता है, (१३) तीर्थंकरों के आसपास का भूभाग रमणीय होता है, (१४) काँटे औंधे मुँह हो जाते हैं, (१५) ऋतुएँ अनुकूल हो जाती हैं, (१६) सुखकारक वायु चलती है, (१७) भूमि की धूल जल-बिन्दुओं से शान्त हो जाती है, (१८) पाँच वर्ण के अचित्त पुष्पों का ढेर लग जाता है, (१९-२०) अशुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अभाव हो जाता है और शुभ शब्दादि प्रकट हो जाते हैं, (२१) भगवान की वाणी एक योजन तक समान रूप से सुनाई देती है, (२२-२३) भगवान का प्रवचन अर्ध-मागधी भाषा में होता है, समस्त श्रोता प्रवचन को अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं, (२४) भगवान के सान्निध्य में जन्मजात वैरी भी अपना वैरभाव भूल जाते हैं, (२५) विरोधी भी नम्र हो जाते हैं, (२६) प्रतिवादी निरुत्तर हो जाते हैं, (२७-२८) भगवान के आसपास २५ योजन के परिमण्डल में ईति, महामारी आदि नहीं होती, (२९-३३) जहाँ-जहाँ भगवान विहार करते हैं, वहाँ-वहाँ स्वचक्र, परचक्र, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, रोग आदि के उपद्रव नहीं होते, (३४) भगवान के चरण स्पर्श से उस क्षेत्र के पूर्वोत्पन्न सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं।[2]

---

१. 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. ११७

२. (क) 'जैनभारती, वीरताग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. १६१

पहले बताया गया था कि तीर्थंकरों और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओं की आन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय शुद्ध आत्मा के निजी गुण हैं, वे भी अन्य मुक्तात्माओं में और तीर्थंकरों में समान होते हैं। जो कुछ अन्तर है, वह है लोक-कल्याणकर कार्यों का और धर्म-तीर्थ स्थापना आदि की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग-सम्बन्धी अद्भुत शक्तियों का– सिद्धियों और लब्धियों का। वे अपने अद्भुत तेजोबल से अज्ञान एवं अन्ध-विश्वासों का अन्धकार और मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न कर देते हैं। उन्हें कई अद्भुत योगज सिद्धियाँ और उपलब्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। पूर्वोक्त ३४ अतिशय प्रायः योगज सिद्धियों के ही प्रकार हैं। योगज सिद्धियों के प्रभाव (अतिशय) से तीर्थंकरों का शरीर अत्यन्त निर्मल एवं पूर्ण स्वस्थ रहता है, मुख के श्वास-उच्छ्वास सुगन्धित होते हैं। वैरानुबद्ध-विरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं। उनकी उस क्षेत्र में उपस्थिति में महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि के प्रकोप नहीं होते। उनके प्रभाव से दुःसाध्य व्याधिग्रस्त व्यक्ति की व्याधि भी शान्त हो जाती है। उनकी वाणी में यह चमत्कार होता है कि आर्य या अनार्य मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक भी उनकी दिव्य वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं। ये और इस प्रकार की अनेक लोकोपकारी सिद्धियों तथा अलौकिक योग सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं। जबकि दूसरे मुक्त होने वाले जीवों में न तो तीर्थंकर जैसी धर्म-तीर्थ स्थापना, दक्षता होती है और न ही योगज सिद्धियों का स्वामित्व। हाँ, अष्ट कर्मों से मुक्त सिद्धावस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनमें और तीर्थंकरों में कोई भी भेदभाव नहीं रहता।[1]

अर्हन्त तीर्थंकर में पाये जाने वाले चारों अतिशय अन्य लोगों में भी : एक चिन्तन

कोई कह सकता है कि तीर्थंकरों में पाये जाने वाले पूर्वोक्त चारों अतिशयों (पूजातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय और अपायापगमातिशय) में से पूजातिशय तो प्रायः कतिपय देवों, अवतारों, पैगम्बरों, धर्म-गुरुओं तथा जादूगरों में पाया जाना सम्भव है। कई मंत्र-तंत्रवादी या जादूगर भी देवों को प्रत्यक्ष बुला लेते हैं। अवतार, पैगम्बर और धर्म-गुरु भी भगवान की तरह पूजे जाते हैं। कुछ देवताओं को भी जनता भगवान मानकर पूजती है। इसी प्रकार कई अपायापगमातिशय भी कतिपय जादूगरों और वैज्ञानिकों, पूर्वकालिक विद्याधरों में भी पाये जाते हैं, जैसे

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता, तं ····· बाही खिप्पमेव उवसमंति।

–समवायांगसूत्र, समवाय ३४

(ग) देखें–जैनतत्त्वकलिका में विशेष विवरण, पृ. १४-१६

१ 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ३३

आकाश में उड़ना, कई घंटों तक समाधि लगाकर फिर बाहर आ जाते हैं। कई योगियों को पूर्वोक्त अतिशय में बताई गई योगज सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं, वे उसका प्रदर्शन भी करते हैं। सिद्धियों और लब्धियों की प्राप्ति का अहंकार और मद भी उनके मन में आता है।

वचनातिशय में भी भगवान महावीर के समकक्ष तीर्थंकर

वचनातिशय भी बहुत-से लोगों में यौगिक साधना से, अभ्यास से तथा किसी दैवी शक्ति के अनुग्रह से होना सम्भव है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में कई विशिष्ट गुण-सम्पन्न या बौद्धिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे, जो वाक्पटु, वचनसिद्ध एवं धर्मोपदेश कुशल थे। वे वाक्कौशल, हस्तकौशल, सम्मोहन, मंत्र-तंत्र विद्या या ज्योतिष आदि विद्याओं के प्रयोग से भूत-भविष्य कथन करने में प्रवीण थे। इन और ऐसी ही कतिपय विद्याओं से चमत्कार बताकर वे उस युग में जिन, तीर्थंकर, अर्हत् या जगद्गुरु कहलाने लगे थे।

कहते हैं–भगवान महावीर के युग में ही श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। जिनमें से छह प्रसिद्ध श्रमण-सम्प्रदायों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में भी आता है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) अक्रियावाद का प्रवर्त्तक–पूरण काश्यप, (२) नियतिवाद का प्रवर्त्तक–मक्खली गोशालक (आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य), (३) उच्छेदवाद का आचार्य–अजितवशकम्बली, (४) अन्योऽन्यवाद का आचार्य–प्रबुद्ध कात्यायन, (५) चातुर्मास संवरवाद के प्ररूपक–निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र, और (६) विक्षेप (संशय) वाद का आचार्य–संजय वेलट्ठि के पुत्र। इनमें से प्रायः सभी अपने अनुयायियों द्वारा तीर्थंकर, जिन अथवा अर्हत् कहे जाते थे। बुद्ध भी 'जिन' एवं 'अर्हत्' कहलाते थे। गोशालक एवं जामाली भी अपने आप को 'जिन' या 'तीर्थंकर' कहते थे।[1]

तीर्थंकर की परीक्षा चार अतिशयों के आधार पर करने में कठिनाई

सभी के भक्तों और अनुयायियों ने अपने-अपने आराध्य पुरुष के जीवन के साथ देवों का आगमन, अमुक-अमुक सिद्धियों की प्राप्ति, मंत्र-तंत्रादि प्रयोग से आकाश में उड़ना, पानी पर चलना तथा अन्य वैभवपूर्ण आडम्बरों से जनता को आकर्षित, प्रभावित करना और जन-समूह को इकट्ठा कर लेना आदि कुछ न कुछ चमत्कार जोड़ दिये थे। योगी लोगों के चमत्कार उस युग में प्रसिद्ध थे और आज भी प्रसिद्ध हैं। ज्ञानातिशय भी कई व्यक्तियों को विभंगज्ञान, भूत-भविष्य के ज्ञान,

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. २७
(ख) 'विसुद्धिमग्गो' से भाव ग्रहण

भविष्य कथन, दूर समाचार प्रेषण विद्या प्रयोग, बौद्धिक प्रतिभा का अतिशय आदि के कारण कई रूपों में उस-उस युग में अमुक अंशों में उपलब्ध हो गया था। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त चार अतिशयों के आधार पर वास्तविक तीर्थंकर, जिन या अर्हत् की सहसा परीक्षा हो नहीं पाती थी। चमत्कारों और आडम्बरों के नीचे तीर्थंकरत्व या अर्हत्पद दब गया था। आम आदमी चमत्कारों से प्रभावित होकर किसी भी व्यक्ति को भगवान, पैगम्बर, तीर्थंकर या अवतार मानने लग जाता था।

तीर्थंकरों की अलग पहचान के लिये बारह गुणों का प्रतिपादन

सामान्य केवली या सामान्य अरिहन्त के बारह गुण, जो 'अरिहन्त प्रकरण' में हम निरूपित कर आए हैं, वे अनन्त ज्ञानादि गुण, निरवालिए आध्यात्मिक थे, तीर्थंकरों में ये ही १२ आध्यात्मिक गुण होते हैं, परन्तु इनसे तीर्थंकरों की अलग से कोई पहचान नहीं हो सकती थी। इसलिए तीर्थंकरों की सामान्य केवलियों से अलग पहचान के लिए निम्नोक्त १२ गुणों का प्रतिपादन किया गया–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र, (४) अनन्त तप, (५) अनन्त बलवीर्य, (६) अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व, (७) वज्रऋषभनाराच संहनन, (८) समचतुरस्र संस्थान, (९) चौंतीस अतिशय, (१०) पैंतीस वाणी के अतिशय (गुण), (११) एक हजार आठ लक्षण, और (१२) चौंसठ इन्द्रों के पूज्य।[1]

आप्त-परीक्षा में तीर्थंकरत्व की परीक्षा के लिए आध्यात्मिक गुण ही उपादेय

इनमें से छह गुण तो आत्मिक विभूतियाँ हैं और शेष छह गुण भौतिक विभूतियाँ हैं। इसलिए फिर वही तीर्थंकर या अर्हत् की परीक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त-परीक्षा' (देवागम स्तोत्र) में तीर्थंकर–अर्हन्तों को चमत्कारों और भौतिक अतिशयों के गज से नापने से असहमति प्रगट की और उन्हें भौतिक चमत्कारों और अतिशयों के आवरण से उनकी यथार्थता की परीक्षा न करके विशुद्ध आध्यात्मिक गुणों के द्वारा उनकी यथार्थता, आप्तता और तीर्थंकरत्व की परीक्षा की। उनका प्रसिद्ध श्लोक है–

"देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥"

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. २८
(ख) देखें–'अरिहन्त : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय' शीर्षक निबन्ध में अंकित ५२ गुण
(ग) कई, अनन्त ज्ञानादि ४ और अष्ट महाप्रातिहार्य मिलकर ४ + ८ = १२ गुण तीर्थंकर के मानते हैं। –सं.

–भगवन् ! देवताओं का आगमन, आकाश-विहार, छत्र-चामरादि वैभव (विभूतियाँ) तो ऐन्द्रजालिक जादूगरों (मंत्र-तंत्र सिद्धि-प्राप्त व्यक्तियों) में भी देखे जा सकते हैं। इन कारणों से आप हमारे लिये महान् (महनीय = पूजनीय) नहीं हो सकते। (आप इसलिए महान् हैं कि आपकी वाणी ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को (सत्य को) अनावृत किया था और आपमें ज्ञानादि आध्यात्मिक गुण पूर्ण रूप से विकसित थे।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अन्य-योग-व्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका' में इसी यथार्थवाद की धारा का अवलम्बन लेकर कहा–"भगवन् ! आपके चरण-कमल में इन्द्र लोटते थे, इस बात का अन्य दार्शनिक भी खण्डन कर सकते हैं अथवा वे अपने इष्टदेव को भी इन्द्र-पूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जिन अकाट्य सिद्धान्तों या वस्तु-तत्त्व का यथार्थ निरूपण किया, उसका वे कैसे निराकरण कर सकते हैं?"[2]

जैनागमों में तथा प्राचीन आचार्यों ने अपने रचित ग्रन्थों में इस दोषापत्ति का खण्डन या समाधान दूसरे पहलू से किया है। उनके कथन का फलितार्थ यह है कि अतिशयों आदि से तीर्थंकर भगवान की पहचान या परीक्षा करने में कठिनाई, संकोच या आनाकानी हो तो एक कसौटी तो बारह विशुद्ध आध्यात्मिक गुणों से युक्त होने की है। दूसरी कसौटी है–निम्नोक्त अठारह दोषों से रहित होने की। मानव-जीवन की दुर्बलता और आत्मिक अपूर्णता के सूचक अठारह दोष इस प्रकार हैं–(१) मिथ्यात्व (असत्य विश्वास, विपरीत श्रद्धा), (२) अज्ञान, (३) क्रोध, (४) मान (मद), (५) माया (छल-कपट), (६) लोभ, (७) रति (मनोऽनुकूल = मनोज्ञ वस्तु के मिलने पर हर्ष), (८) अरति (अमनोज्ञ = मन के प्रतिकूल वस्तु के मिलने पर शोक = खेद), (९) निद्रा (दर्शनावरणीय कर्मजनित द्रव्य-भाव निद्रा), (१०) शोक (चिन्ता), (११) अलीक (असत्य), (१२) चौर्य (चोरी), (१३) मत्सर (डाह, ईर्ष्या), (१४) भय, (१५) हिंसा, (१६) राग (आसक्ति, मोह), (१७) क्रीड़ा (खेल-तमाशा, नाचरंग), और (१८) हास्य (हँसी-मजाक)। एक आचार्य ने क्रोध, मान, माया, लोभ और जुगुप्सा के बदले दानादि पाँच अन्तराय, हिंसा, अलीक, चौर्य, मात्सर्य और क्रीड़ा के बदले अविरति, काय, जुगुप्सा और द्वेष, ये चार दोष कहे हैं।[3]

---

१. आप्त-परीक्षा (देवागम स्तोत्र), श्लो. १

२. क्षिप्येत वाऽन्यैः सदृशीक्रियेत वा, तवाघ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः।
इदं यथावस्थित-वस्तुदेशनं, परैः कथंकारमपाकरिष्यते॥ –*अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका* १२

३. (क) जैनतत्त्वप्रकाश, पृ. १६-१८
(ख) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण

वास्तविक तीर्थंकर अष्टादश दोषों से रहित होने पर ही

जो भी हो, जब तक मनुष्य इन १८ दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह आध्यात्मिक शुद्धि और सिद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच सकता। ज्यों ही वह इन १८ दोषों से मुक्त होता है, त्यों ही आत्म-शुद्धि और वीतरागता के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। केवलज्ञान-केवलदर्शन के द्वारा समस्त विश्व का, जड़-चेतन का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थंकर परमात्मा पूर्वोक्त १८ दोषों से रहित होते हैं। उनके जीवन में इनमें से एक भी दोष नहीं रहता। वस्तुतः चार घनघातिकर्मों का नाश होने पर आर्हन्त्य अवस्था प्रकट होती है। घातिकर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर अर्हन्त तीर्थंकर भगवंतों में किसी भी प्रकार का विकार या दोष नहीं रह सकता। ये चार आत्म-गुणघातक कर्म ही विकारों या दोषों को उत्पन्न करते हैं। इनके नष्ट हो जाने पर अर्हन्तों की आत्मा विभाव-परिणति का सर्वथा त्याग करके स्वभाव-परिणति में आ जाती है। ऐसी स्थिति में वीतराग अर्हन्त परमात्मा निर्दोष, निर्विकार एवं निष्कलंक हो जाते हैं। अतएव वास्तविक तीर्थंकर या अर्हन्त वही है, जो उपर्युक्त समस्त दोषों से रहित = अतीत हो।

पूर्वोक्त प्रकार से तीर्थंकरों (या अर्हन्तों) को १८ दोषों से रहित बतलाया है, वे तो उपलक्षण मात्र हैं। इन दोषों का अभाव तो अरिहन्त भगवन्तों की बाह्य पहचान है। इन मुख्य दोषों के अभाव से उनमें अन्य समस्त दोषों का अभाव समझना चाहिए।[1] तीर्थंकरों या अर्हन्तों को चार घातिकर्मों के क्षय से जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त तप, अनन्त आत्मिक-शक्ति आदि आत्मिक-गुण प्राप्त होते हैं, उनका वे न तो दुरुपयोग करते हैं और न ही प्रदर्शन, आडम्बर, दिखावा, प्रसिद्धि करते हैं, न ही वे प्रशंसा या प्रतिष्ठा-पूजा की चाह करते हैं। उनको प्राप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ कभी विकारभाव को प्राप्त नहीं होतीं। यही अर्हन्त भगवन्तों में निहित आत्म-गुणों की पहचान है।[2]

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) अन्तराया दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगतः।
हास्योरत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्राचाविरतिस्तथा।
रागोद्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाऽप्यमी॥२॥

१. अनन्तविज्ञानमतीत दोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्य पूज्यम्।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहंय लिष्ये॥ *–स्याद्वाद मंजरी, श्लो. १*

२. **'चिन्तन की मनोभूमि'** से भाव ग्रहण, पृ. ३०

जैनधर्म ईश्वरकर्तृत्ववादी या अवतारवादी नहीं है : क्यों और कैसे ?

कुछ लोग भ्रान्तिवश जैन तीर्थंकरों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। वे भूल में हैं। जैनधर्म ईश्वरकर्तृत्ववादी या अवतारवादी नहीं है। ईश्वरकर्तृत्ववाद या अवतारवाद के अनुसार सारी सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता ईश्वर है। समग्र संसार एकमात्र एक ईश्वर द्वारा संचालित और अनुशासित है। सभी प्राणी उसी के अंश हैं, प्रतिबिम्ब हैं। संसार की आवश्यकता के अनुसार ईश्वर पुनः शरीर धारण करके अवतार के रूप में इस संसार में आता है। ईश्वरवाद की मान्यता यह भी है कि हजारों भुजाओं वाला, दुष्टों का नाश और भक्तों का पालन करने वाला परोक्ष कोई एक ईश्वर है। वह यथासमय त्रस्त संसार पर दयाभाव लाकर गोलोक, सत्यलोक या वैकुण्ठधाम आदि से दौड़कर संसार में आता है, किसी के यहाँ जन्म (अवतार) लेता है और फिर लीला दिखाकर वापस लौट जाता है अथवा वह जहाँ कहीं भी है, वहीं से बैठा हुआ संसार की घड़ी की सुई फेर देता है और मनचाहा कर देता है। जैनदर्शन इस प्रकार के अवतारवाद को नहीं मानता। किसी महाशक्ति के अवतरण की कल्पना जैनदर्शन में नहीं है। यहाँ प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। साथ ही, प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व माना जाता है। वह स्वयं अपनी सृष्टि का–अपने अच्छे-बुरे का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता है। अपने सुख-दुःख के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। अपनी सृष्टि का ईश्वर भी प्रत्येक आत्मा कैसे है? इसे जैनदृष्टि से सिद्ध करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा–

"परमैश्वर्य-युक्तत्वान्मत आत्मैव ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषः, कर्तृवादोव्यवस्थितः॥"

–शास्त्रवार्ता समुच्चय, श्लो. १४

अथवा आत्मा ही ईश्वर है, ऐसा जैनदर्शन में माना गया है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा (जीव) (वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से सच्चे माने में अनन्त ज्ञानादि) परम ऐश्वर्ययुक्त है और वही (अपने शुभ-अशुभ कर्म का) कर्त्ता है ही। इस प्रकार ईश्वरकर्तृत्ववाद (युक्तिसंगतरूप से) व्यवस्थित (सिद्ध) हो सकता है।

वैदिक एकेश्वरवाद और जैनदृष्टि से यथार्थ एकेश्वरवाद

यों तो वैदिकधर्म की मान्यतानुसार प्रतिपादित एकेश्वरवाद का जैनदर्शन युक्तियों और प्रमाणों से खण्डन करता है, किन्तु 'एकेश्वर' शब्द में एक का 'स्थानांगसूत्र' में 'एगे आया' सूत्र का अर्थ (स्वरूप की दृष्टि से) आत्मा एक (**समान**) है, वैसे 'समान' अर्थ ग्रहण किया जाए तो स्वरूप की दृष्टि से (समस्त आत्मारूप) ईश्वर समान है, यों एकेश्वरवाद का शुद्ध फलितार्थ घटित हो सकता

है। 'विश्वकोष' में कहा गया है–एक शब्द अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान और संख्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अतः स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्मा समान (एक) होते हुए भी अपने-अपने कर्म-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की दृष्टि से पृथक्-पृथक् हैं। कर्मों का न्यूनाधिक आवरण ही जीवों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध करता है। कर्मों का आवरण हट जाए तो सिद्ध-परमात्मा और सामान्य आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। कर्मों के आवरण को हटाने का पुरुषार्थ भी स्वयं (जीव-आत्मा) को ही करना पड़ता है। किसी ईश्वर, देव या अन्य शक्ति द्वारा जीवात्मा का वह कर्मावरण नहीं हट सकता है।

जैनमान्य तीर्थंकर अवतारवाद का नहीं, उत्तारवाद का प्रतीक है

जैनधर्म में मनुष्य से बढ़कर और कोई प्राणी महान् नहीं माना जाता है। मनुष्य को ही मोक्ष का या परमात्मपद पाने का अधिकार है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियों का भण्डार है। परन्तु संसार की मोह-माया में लिप्त होने से वह कर्ममल से आवृत है। अतः बादलों से ढके हुए सूर्य के समान है, जो अपना (ज्ञानादि का) प्रकाश सम्यक् रूप से प्रसारित नहीं कर सकता। परन्तु ज्यों ही वह होश में आता है, अपने आत्म-स्वरूप को समझने लगता है, पहचानता है, त्यों ही वह सम्यग्दृष्टि होता है। फिर वह मोहमूढ़ता त्यागकर व्रत-नियम, त्याग, तप-प्रत्याख्यानादि को अपनाता है, दुर्गुण त्यागकर सद्गुणों को अपनाता है। धीरे-धीरे उसकी आत्मा निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होती जाती है। क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह एक दिन कषायों और राग-द्वेष-मोह का क्षय करके चार घातिकर्मों को सर्वथा नष्ट करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सयोगी केवली, जीवन्मुक्त अर्हन्त बन जाता है। तथैव पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थंकरदशा को प्राप्त करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि जैनमान्य तीर्थंकर अवतारवाद का नहीं, उत्तारवाद का प्रतीक है। उत्तारवाद का अर्थ है–मानव का विकारी जीवन से ऊपर उठकर उत्तरोत्तर पूर्ण निर्विकारी जीवन तक पहुँच जाना, पुनः कदापि विकारों से लिप्त न होना। तीर्थंकर मानव के रूप में जन्म ग्रहण करता है और अपनी पूर्वोक्त आत्म-साधना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप के बल पर नीचे से सम्यग्दर्शन के गुणस्थान से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में पहुँचता है और वीतरागता एवं तीर्थंकरत्व को प्राप्त करता है। फिर अपना शेष आयुष्य भोगकर समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करके सदा-सदा के लिए अजर, अमर, अविनाशी, अशरीरी, निरंजन-निराकार सिद्ध परमात्मा बन जाता है। वहाँ से लौटकर पुनः संसार में नहीं आता। वैदिकधर्ममान्य अवतारवाद की मान्यता यह है कि मोक्ष में

गया हुआ निराकार ईश्वर अवतार के रूप में बार-बार संसार में जन्म लेता है और फ़िर वापस चला जाता है। जैनधर्म में मोक्ष प्राप्त होने के पश्चात् संसार में पुनरागमन नहीं माना जाता, क्योंकि जन्म-मरण के अंकुर का बीज कर्म है। जब कर्मबीज जलकर नष्ट हो गया तो उसमें से जन्म-मरण का अंकुर कैसे फूटेगा। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि तीर्थंकर या अर्हन्त मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् पुनः संसार में अवतरण नहीं करते।[1]

तीर्थंकर बनने से पूर्व और पश्चात् तीर्थंकर नामकर्मबन्ध, उदय और भावतीर्थंकर तक का क्रम

जैसा कि उत्तारवाद का स्वरूप पिछले पृष्ठ में बताया गया है–तीर्थंकर भी मनुष्य ही होते हैं–औदारिक शरीरधारी। वे कोई विचित्र देवसृष्टि के प्राणी, जन्मजात ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अंश जैसे कुछ नहीं होते। एक दिन वे भी साधारण मानव की तरह ही भोगी-विलासी, कर्मों से लिप्त विषय-वासनाओं के गुलाम, पापमल में भी लिप्त थे। संसारी आधि, व्याधि, उपाधि, असमाधि, अशान्ति, दुःख, शोक आदि से संत्रस्त थे। मानव-जीवन को कैसे सार्थक किया जाय? मानवता क्या है? जीवन की उलझी गुत्थियाँ कैसे सुलझाई जायें, इसका तथा सत्य-असत्य का? मैं कौन? कहाँ से आया? कहाँ जाऊँगा? इत्यादि तथ्यों और तत्त्वों का उन्हें कुछ भी पता न था। इन्द्रिय-विषय सुख तथा पदार्थनिष्ठ सुख ही उनका एकमात्र ध्येय था। उसी की कल्पना के पीछे अनेक जन्मों में नाना क्लेश–कष्ट उठाते, जन्म-मरण के चक्र में चक्कर खाते घूम रहे थे। किन्तु प्रचुर पुण्य की प्रबलता से, पुण्योदय से किसी न किसी निर्ग्रन्थ, साधु-साध्वी, श्रमण-श्रमणी आदि की उपासना एवं धर्म-श्रवण का लाभ मिला। उत्तम कुल, उत्तम धर्म, मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र, पंचेन्द्रिय पूर्णता, स्वस्थता आदि सुयोग मिले। फलतः जड़-चैतन्य का, स्वभाव-विभाव-परभाव का, शरीर और आत्मा का भेद समझा, सम्यक्त्व को हृदयंगम किया, मिथ्यात्व परित्याग किया, भौतिक और आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में लिया। फलतः सांसारिक सम्बन्धों तथा हिंसादि पापों का पूर्णतः त्यागकर महाव्रतों को स्वीकार कर मोक्षपथ के पथिक बन गए। आत्म-संयम की, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की साधना में पहले से अनेक जन्मों से ही आगे बढ़ते गए और अन्त में एक दिन पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थंकर के रूप में जन्म प्राप्त किया।

तीर्थंकर के भव से (तीर्थंकर के रूप में जन्म लेने से) पहले सर्वप्रथम मनुष्य के भव में निकाचित रूप से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करते हैं। तत्पश्चात् या तो नरकायुष्य पहले से बँधा हो तो नरक में (तीसरी नरक भूमि तक) जाते हैं या फिर

---

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ३१
(ख) शास्त्रवार्ता समुच्चय, श्लो. १४

वैमानिक देवों में जन्म लेते हैं। वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य-लोक में १५ कर्मभूमिक क्षेत्रों में से किसी कर्मभूमिक क्षेत्र में तीर्थंकर के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। मनुष्य-जन्म धारण करने के बावजूद भी जब तक वे तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त करके, चार घातिकर्म क्षय करके वीतराग केवली नहीं बन जाते, तब तक द्रव्य तीर्थंकर ही कहलाते हैं। भाव तीर्थंकर वे तेरहवें गुणस्थान से ही माने जाते हैं। तीर्थंकर भव में भी उन्हें राजा-महाराजा के जन्म लेने मात्र में तथा वयस्क होने संसार के भोगविलासों में रत रहते हुए यों ही भाव तीर्थंकरपद नहीं मिल जाता। उन्हें राज्य-वैभव, धन-धाम, कुटुम्ब-परिवार आदि सब कुछ सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग करना पड़ता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत की पूर्ण रूप से सजग रहकर सतत साधना करनी पड़ती है। पूर्ण विरक्त मुनि बनकर एकान्त निर्जन स्थानों में आत्म-चिन्तन-मनन करने, आत्म-स्वरूप में रमण करने का अभ्यास करना पड़ता है। अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों को पूर्ण समता और शान्ति के साथ सहन कर मरणान्तक कष्ट देने वाले शत्रु को भी मित्रवत् मानकर उस पर अन्तर्हृदय से दयामृत का झरना बहाना पड़ता है। इस प्रकार सर्वभूतात्मभूत बनकर घातिक कर्मचतुष्टयरूप पापमल से सर्वथा मुक्त होने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति द्वारा भाव तीर्थंकरपद प्राप्त होता है।[1]

तीर्थंकरपद : कब प्राप्त होता है, कब नहीं ?

तीर्थंकरपद की उपलब्धि कोई साधारण साधना नहीं है। एक जन्म की साधना इसकी परिपूर्ण प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। अनेक जन्मों के सत्पुरुषार्थ से आत्मा क्रमशः घातिकर्मों के अनावृत होते-होते तीर्थंकरपद को प्राप्त करती है। तीर्थंकर बनने की अभिलाषा से, किसी ईश्वर, अवतार या शक्ति के वरदान से या याचना करने से तीर्थंकरपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु सर्वकर्ममुक्त होने या स्व-स्वरूप में सतत अवस्थिति रूप मोक्ष पाने की तीव्र भावना, तदनुरूप पुरुषार्थ तथा बाह्याभ्यन्तर सम्यक् तप से एवं समभाव से इस साधना का प्रारम्भ होता है। इस साधना के प्रारम्भ में संवेग (मोक्ष की रुचि, मोक्ष की अभिलाषा = प्रीति) होता है। उस मोक्ष की रुचि में से जीवन्मुक्त अरिहन्त तीर्थंकर भगवान के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। उनकी परम वीतरागता, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, समता, यथाख्यात-उत्कृष्ट चारित्र आदि उत्तमोत्तम गुणों का चिन्तन-मनन-ध्यान करते हुए उनके प्रति तथा तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के २० या १६ कारणों में से एक या अनेक कारणों (गुणों) के प्रति भक्ति, बहुमान, वन्दन-नमस्कार, अर्पण, व्युत्सर्ग आदि करने से तथा उक्त गुणों को अपने जीवन में उतारने का भरसक पुरुषार्थ करने से अर्हन्त तीर्थंकर

---

१. 'चिन्तन की मनोभूमि' से भाव ग्रहण, पृ. ३१

नामकर्म की सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति के दलिक एकत्रित होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं। यदि आगे कहे जाने वाले तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के २० सूत्रों में से एक या अनेक सूत्रों की साधना सहजभाव से, निष्काम-निःस्वार्थ भावना से इहलौकिक-पारलौकिक कामना-वासना से रहित होकर की जाए, तो ऐसी सतत तीव्र निरतिचार साधना से तीर्थंकर नामकर्म के दलिकों का संग्रह होता रहे तो कालान्तर में, शुद्ध भावों = अध्यवसायों = परिणामों की उत्कृष्टता से तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित बन्ध हो जाता है।[1]

किस भव से तीर्थंकर होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ ?

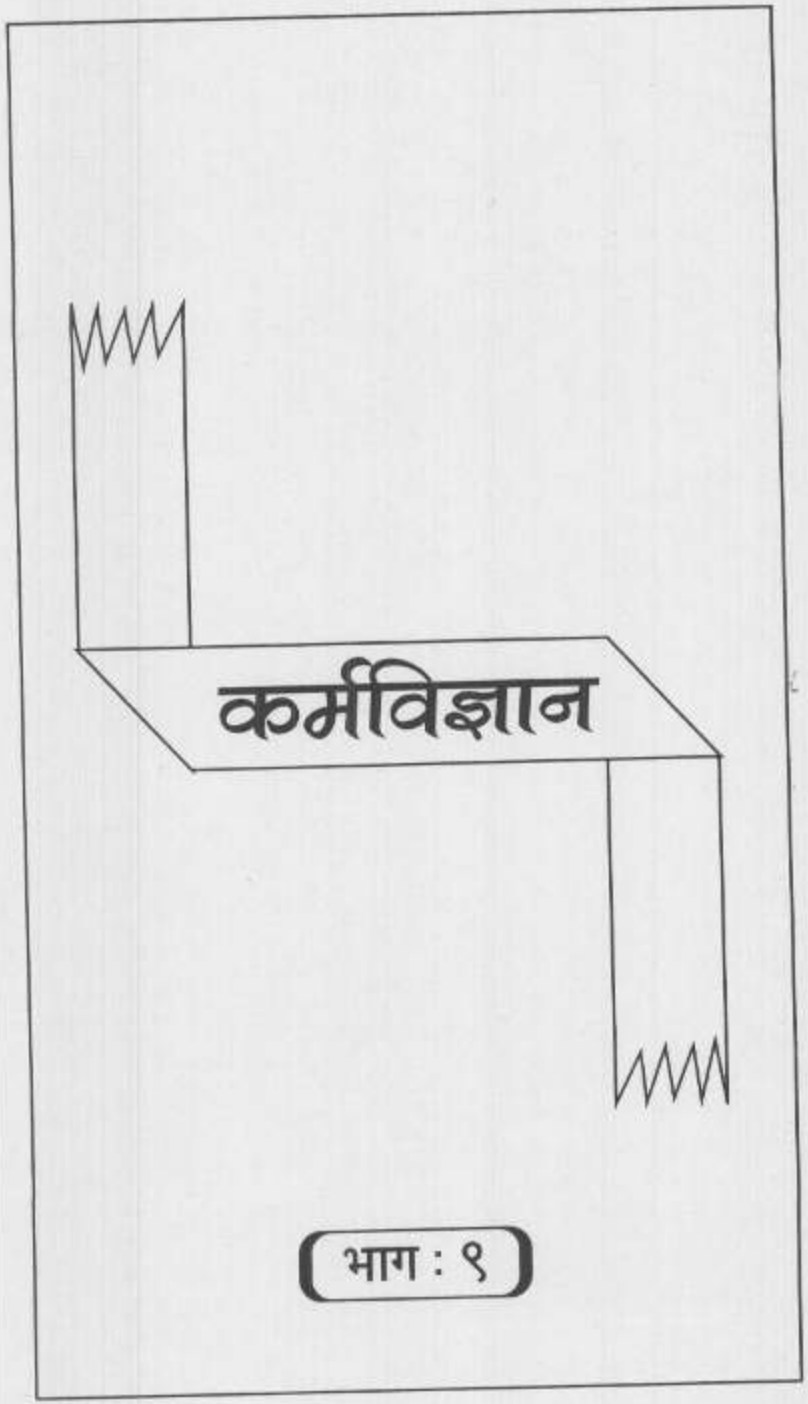
प्रश्न होता है–किस भव से तीर्थंकर होने का पुरुषार्थ शुरू हुआ? आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति आदि में प्रत्येक तीर्थंकर के भवों की गणना प्रायः मिलती है। तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से सुनकर गणधरों या विशिष्ट श्रुतज्ञानी अथवा श्रुतकेवली आचार्यों ने स्वयं शास्त्रों या ग्रन्थों में उल्लेख किया है। कतिपय तीर्थंकरों के भाव तीर्थंकर बनने तक में कितने भव करने पड़े? इसका उल्लेख इस प्रकार है–भगवान ऋषभदेव के १३ भव, मुनिसुव्रत स्वामी के ९ (३) भव, भगवान अरिष्टनेमि के ९ भव, भगवान पार्श्वनाथ के १० भव और भगवान महावीर के २७ भव। आचार्यों ने प्रत्येक तीर्थंकर के भवों की गणना सर्वप्रथम उन्हें सम्यक्त्व-प्राप्ति हुई, तब से ली है। सम्यग्दर्शन मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य द्वार है। मूल आधार है अथवा मोक्ष-प्राप्ति की अवश्यम्भाविता (गारंटी) का आश्वासन है। अतः सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन अथवा बोधिलाभ को बहुत बड़ी उपलब्धि माना जाता है। इसकी प्राप्ति से मोक्ष जाने की भवितव्यता–भव्यता निश्चित हो जाती है। तीर्थंकरों के भवों की यह गणना सम्यक्त्व-प्राप्ति से लेकर सयोगी केवली (सर्वज्ञ वीतराग) बनने तक की उनके केवल पंचेन्द्रिय भवों की गणना है। अन्य भवों की गणना इसमें नहीं की गई है। अतः यह भव-गणना व्यवहार दृष्टि से की जाती है। इन परिगणित भवों में तीर्थंकरों द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का पुरुषार्थ होता है। शुभ पुरुषार्थ से उनकी आत्मा कर्मों का क्षय करके शुद्ध होती है, ऊपर उठती है; जबकि अशुभ पुरुषार्थ से उनकी आत्मा कर्मों से भारी और अशुद्ध होती है, पिछले शुभ प्रयत्न दब जाते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म अनिकाचित रूप से बँध जाने पर सफलता नहीं मिलती

भगवान महावीर के २७ भवों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे देवलोक में भी गए, नरकगति में भी, विशेषतः सातवीं नरक में भी

---

१. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ७०


कर्मविज्ञान
भाग : ९

१

क्षीणमोह गुणस्थान से अयोगी केवली गुणस्थान तक–

मोक्ष के निकटवर्ती सोपान

दशम सोपान : उच्चकोटि की विशुद्ध एवं पूर्ण समता की प्रतीति के चार चिह्न

संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है या नहीं? इसकी पूरी प्रतीति क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में हो जाने के पश्चात् उस विजय का जीता-जागता परिणाम क्या और कैसा होता है? अर्थात् उक्त साधक की शत्रु और मित्र (व्यक्तियों) पर, मान और अपमान आदि परिस्थितियों पर तथा जीवन या मरण तथा संसार और मोक्ष आदि अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों पर उच्चकोटि के विशुद्ध समभाव अथवा शुद्ध आत्म-स्वभाव में निश्चल–अविचल स्थिति रहती है या नहीं? इसके लिए दसवाँ पद्य इस प्रकार है–

"शत्रु-मित्रप्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव (समभाव) जो।
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो॥१०॥"

इसका भावार्थ यह है कि शत्रु और मित्र, ये दोनों विरोधात्मक शब्द स्मृति कोष में से निकल जायें, इसके लिए शत्रु और मित्र, दोनों के प्रति एक-सी अमृतदृष्टि रहे, मान (सम्मान) और अपमान में भी सहज रूप से ऐसी समता सदा टिकी रहे अर्थात् मन की तराजू पर इन दोनों का कुछ भी असर न हो, समतोल बना रहे। इसी प्रकार जीवन और मरण इन दोनों में से किसी भी दशा पर न्यूनाधिक भाव न आए, यानी इन दोनों दशाओं में भी यथार्थ समता टिकी रहे। और संसार तथा मोक्ष, इन दोनों दशाओं के प्रति भी शुद्ध स्वभाव रहे। अर्थात् संसारदशा में रहते हुए भी निर्लिप्तता से मोक्ष का आनन्द लूटने का अभ्यास हो। आशय यह है कि ऐसे समदर्शी साधक को न तो संसारदशा के प्रति व्यग्रता (व्याकुलता) पैदा हो और न मोक्ष का ही मोह पैदा हो।"[1]

---

१. (क) 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवसे' का दसवाँ पद्य
(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ७३-७४

विशुद्ध समता द्वारा सिद्धि के तट पर पहुँची हुई साधना नौका

इस पद्य के चारों चरण समदर्शिता एवं समता की पराकाष्ठा को सूचित करते हैं। इस भूमिका का साधक अभी संसारदशा में है। सिद्ध अवस्था में नहीं पहुँचा है, वहाँ तक उसे मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष) का अनुभव नहीं है, किन्तु स्वयं के शुद्ध स्वभाव का (सतत शुद्ध स्वभावलक्षी) है। इसलिए वह इसे अनुभव द्वारा ही ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार विभिन्न पहलुओं से जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, संयोगों, व्यक्तियों, क्षेत्रों आदि से वास्ता पड़ने पर समभाव का दृढ़तापूर्वक परिचय दे, तभी वीतरागता के सोपानों यानी समता की पराकाष्ठा वाली सीढ़ियों पर आरोहण कर पाता है।

चूँकि अब साधक मोहसागर का किनारा देखता है तो उसका मन-मयूर नाच उठता है। आँखें हर्ष से तर-बतर हो जाती हैं। शुद्धि, सिद्धि और मुक्ति इन तीनों भूमिकाओं में से सिद्धि के तट पर उसकी साधना-नौका आ पहुँचती है। जिस साधक को जिस भूमिका पर पहुँचना होता है, उससे पहले ही उसकी दशा उस भूमिका के योग्य हो जाती है। ऐसे साधक की दशा कैसी होती है? इसे बताने के लिए पद्य के चार चरण साधक की समदर्शिता की अनुभूति का दिग्दर्शन कराते हैं।

पूर्ण समदर्शिता का प्रथम चिह्न : शत्रु और मित्र पर समदर्शिता

ऐसे साधक के जीवन में शत्रु और मित्र, अनुकूल और प्रतिकूल, विरोधी-अविरोधी के प्रति सहज स्वाभाविक रूप से समदर्शिता आ जाती है। ऐसी समदर्शिता तभी टिकी रह सकती है, जब शत्रु और मित्र, दोनों में उसे एक ही तत्त्व (स्वरूपदृष्टि से एकात्मभाव) नजर आता हो।[9] चिरायते (नीमगिलोय आदि के सत्व रस) के पानी को शक्कर का पानी मानकर पीना एक बात है और चिरायते के कटु रस में रहे हुए रसतत्त्व की जो लज्जत है, उसमें उसी प्रकार की वास्तविक रसवृत्ति को जानकर सच्चा रसोपभोग करना दूसरी बात है। कटु रस में भी रस की मिठास तो है ही। यदि कड़वी वस्तु में रस की मिठास न होती तो ऊँट को नीम प्रिय न लगता। किन्तु जीभ सदा से पड़ी हुई आदत के कारण उस मिठास को प्रायः अनुभव नहीं कर पाती। जैसे इन्द्रियों की उपर्युक्त आदत के कारण पदार्थ के स्वाभाविक रस की यथार्थता का अनुभव नहीं होता, वैसे ही वृत्ति में रही हुई कषायों की कालिमा के कारण जगत् में रही हुई शुक्लता दृष्टिगोचर नहीं होती, फलतः आत्मा विभावजन्य प्रवृत्ति में ही अटक जाती है, उसके आगे की पारदर्शी दृष्टि प्राप्त नहीं होती। किन्तु क्रोध का सर्वथा उन्मूलन होने पर वात्सल्य रस के

---

१. तुलना करें–
समया सव्वभूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जगे। —उत्तरा., अ. १९, गा. २५

झरने अस्खलित रूप से बहने लगते हैं। परिणामस्वरूप सर्वत्र चैतन्य का देदीप्यमान तेज दृष्टिगोचर होने लगता है। जैसे एक्स-रे (X-Ray) यंत्र की रचना ही ऐसी है, जिससे चमड़ी के पटल के उस पार की चीज भी प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसी प्रकार ऐसी दशा में रहे हुए साधक के पारदर्शी अन्तश्चक्षु ऊपर की उपाधिजन्य क्रिया को चीरकर उसके पीछे की मूल शुद्ध आत्मा को देख पाते हैं। इस कारण उसमें जगत् के किसी भी प्राणी की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति लेशमात्र भी असमता या विषमता पैदा करने में समर्थ नहीं होती।

समभाव की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई साधकदशा

यद्यपि ऐसे वात्सल्यमूर्ति, वीतरागता के अभ्यासी साधक की दृष्टि में, आचार-व्यवहार में जब शत्रुता ही नहीं रहती; तब क्या उसका कोई शत्रु नहीं होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि ऐसी उच्च दशा प्राप्त होने से पूर्व जो उसका शत्रु या विरोधी हो चुका है, उस समतायोग के उच्च अभ्यासी के सम्बन्ध में यह बात है। यद्यपि उसके स्वयं के अन्तर्हृदय में स्थित निःशत्रुभावना की प्रभाव-किरणें पहले किसी या किन्हीं कारणों से बने हुए शत्रु के हृदय को देर-सबेर अवश्य ही स्पर्श करती हैं। परन्तु जब तक प्रतिपक्षी व्यक्ति पर पूरा असर न पड़ा हो, तब तक ऐसे उच्चकोटि के विश्वबन्धु साधक के प्रति भी उसका व्यवहार शत्रुतापूर्ण रहे, यह सम्भव है। किन्तु संकटापन्न स्थिति में भी उसकी सहज समता का आसन डोले नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि उस सहज समता के समग्र बल को लेकर उसके प्रति भी मित्रवत् अकृत्रिम व्यवहार रख सके, तभी समझना कि यह दशा समभाव की पराकाष्ठा की है।[1]

भगवान महावीर के जीवन में पूर्ण समदर्शिता की पराकाष्ठा

भगवान महावीर की समदर्शिता कितनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। शत्रुभाव रखने वाले गोशालक के प्रति और चरण वन्दन करने वाले प्रिय शिष्य गणधर गौतम के प्रति उनकी समता अन्त तक टिकी रही। शिष्यलिप्सा न होते हुए भी शिष्यभाव से गोशालक रहे, इसमें भी भगवान महावीर ने उसका श्रेय देखा, परन्तु बाद में वही गोशालक शिष्य-स्वभाव छोड़कर उनका शत्रु बन जाय और गुरु-कृपा से प्राप्त की हुई तेजोलेश्या की शक्ति का दुरुपयोग करे, वह भी अपने उपकारी गुरु के विरुद्ध तथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए परम कृपालु गुरुदेव की प्रतिभा पर धूल उछालने का प्रयत्न करे, निन्दा करे और गुरुदेव की आत्मा को दम्भी सिद्ध करने तक की राक्षसी वृत्ति अपनाए, फिर भी उसके प्रति पूर्ववत् (पहले जैसा ही) भाव टिका रहे, व्यवहार या वाणी से ही नहीं, मन से भी उसका अहित

---

१. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ७५-७६

न सोचे, ऐसी समता की उत्कृष्ट दशा वस्तुतः अवर्णनीय है, अकल्प्य है ! फिर भी जिसके लिए सहज है, उसके लिए सहज ही है ! जबरदस्ती ऐसी दशा लाई नहीं जा सकती, लाई भी गई हो तो वह टिक नहीं सकती। बहु-उपसर्ग करने वाले के प्रति अक्रोध रखने वाला साधक भी अपने निजी शिष्य के ऐसे दुर्व्यवहार को सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त न की हो तो सह नहीं सकता। श्रमण भगवान की आत्मा सिद्धि की भूमिका पार कर चुकी थी। इसलिए वे गोशालक की समस्त दुष्क्रियाओं के पीछे भी उसकी शुद्ध आत्मा को ही देख सके थे। गोशालक की वैररंजित वृत्ति ही उससे पूर्वबद्ध वैर वसूल करने के लिए यह सब करा रही थी। फलस्वरूप मृत्यु की घड़ियों में गोशालक का हृदय-परिवर्तन होकर ही रहा।[1] आर्षद्रष्टा कहते हैं–श्रमण भगवान महावीर के नाम से परिचित चोले में रहे हुए जीव ने पूर्व-भव में गोशालक के पूर्व-जन्म की आत्मा के साथ इस प्रकार का वैर बाँध लिया था। किन्तु उक्त पूर्वबद्ध वैर की वसूली करने हेतु गोशालक ने जब भगवान महावीर के प्रति अनिष्ट कदम उठाए, तब क्षीणमोही भगवान महावीर ने उसके प्रति निष्काम मैत्रीभाव (वात्सल्य) बहाकर पूर्व वैर का बदला चुकाया। इसलिए नया वैर बँधने का कोई कारण न रहा और पूर्वकृत वैर निर्मूल हो गया। स्निग्ध वस्तु के साथ ही कोई वस्तु चिपक सकती है, रूक्ष वस्तु के साथ नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार वीतरागता-प्राप्त महावीर के नया वैरानुबन्ध नहीं हुआ। इतना ही नहीं, भगवान महावीर की अनन्त उदारता और वत्सलता का चेप भी उसे लगा। अन्तिम समय में भगवान महावीर के प्रति उसके मन में श्रद्धा-भक्तिभाव उमड़ा। भगवतीसूत्र[2] का कथन है–"अनेक जन्मों के बाद गोशालक की आत्मा भी निश्चित रूप से मुक्ति (सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष) प्राप्त करेगी। यह है पूर्ण समदर्शिता का प्रथम चिह्न।"[3]

पूर्ण समदर्शिता-प्राप्ति का द्वितीय चिह्न : मान-अपमान में पूर्ण समता

पूर्ण समदर्शिता-प्राप्ति का दूसरा चिह्न है–मान और अपमान में एक सरीखा स्वभाव या समभाव रहना। इस पद्य में भी कहा गया है–"मान-अपमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो।" जैसे क्रोध को निर्मूल करने के बाद शत्रुता का निवारण करना सुलभ है, वैसे ही अभिमान को नष्ट कर देने के बाद मान-अपमान को जीतना और दोनों अवस्थाओं में सम रहना सुलभ है। किन्तु पूर्वोक्त दशा की अपेक्षा यह दशा एक कदम आगे की है। सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखने वाले विश्ववत्सल साधक के लिए भी मानापमान की वैतरणी नदी पार करना कठिन हो जाता है। यहाँ जिस

---

१. नहीं अपराध एकाकी पात्र में जन्मता कभी।
जन्मे भी तो सखे ! सचमुच हो जाता नष्ट है तभी॥ –*सिद्धि के सोपान, पृ. ७७*

२. देखें–भगवतीसूत्र, श. १५ में गोशालक का इतिवृत्त

३. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ७७

मान-अपमान की बात कही गई है, वह बहुत ही सूक्ष्म है। एक दिन सारी दुनिया जिसे एक स्वर से प्रभु मानकर हृदय से अभिनन्दन करती हो; जिसे महाप्रभु का अवतार मानती हो; इसी बीच दूसरे दिन कोई दूसरा शक्तिशाली व्यक्ति आकर सारी दुनिया का मानस बदल दे और उक्त तथाकथित पूर्व प्रभु की प्रतिभा को फीकी कर दे, फलतः उसी दुनिया के मुख से उस पर धिक्कार बरसने लगे, गालियों के पुष्पहार चढ़ने लगें। इन दोनों अवस्थाओं को समभावपूर्वक सह लेना, शल्य के समान तीक्ष्ण कील या भाले की नोंक पर अच्छी तरह नींद ले लेने जैसी बात है। किन्तु कुछ ऐसे माई के लाल आज भी मिल सकते हैं, जो समभावपूर्वक सह सकते हैं, रह सकते हैं। उनके आगे या पीछे का एक भी रोम कम्पित न हो; न तो इस (विरोध जगाने वाले) व्यक्ति के प्रति और न उस (विरोध के प्रवाह में बह जाने वाली) दुनिया के प्रति विषमभाव आये। ऐसी आत्म-स्थिरता के अडोल स्तम्भ का मर्त्यलोक में मिलना है तो अतिदुर्लभ ही, मगर अशक्य नहीं है।[1]

समभाव की उत्कृष्ट साधना का उपाय

जिसके कान में केवल वीतराग परमात्मा की मधुर वाणी–बाँसुरी के स्वर के सिवाय कुछ भी सुनाई न देता हो। सुनाई देता हो तो भी जिसकी स्मृति उसे पकड़ न सकती हो, पकड़ भी सकती हो तो भी एक क्षण से अधिक वह शब्द टिकता न हो, इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ वीतराग परमात्मा के रंग में रँग गई हों, ऐसा व्यक्ति ही उपर्युक्त प्रसंग पर सम रह सकता है, दूसरों की बिसात नहीं। जब तक मन, बुद्धि, चित्त और हृदय आदि अन्तःकरण प्रभुमय न बन जाएँ तथा यह प्रभुमय विज्ञान इन्द्रियों में न उतरे, वहाँ तक समभाव की ऐसी उत्कृष्ट साधना अधूरी है।

इस नैसर्गिक समताविज्ञान (आत्म-दर्शनविज्ञान) की साधना पहले से ही जिस साधक के द्वारा अभ्यस्त हो, सहज हो गई हो, वही निन्दा और प्रशंसा के सभी अंगों को जीत सकता है। अगर आप प्रशंसा का एक शब्द सुनने के लिए खड़े रहेंगे, तो आपको निन्दा के सौ शब्द सुनने के लिए खड़े रहने के अवसर आपकी अभ्यस्त वृत्ति पैदा करेगी। कहा भी है–

"प्रशंसा की खुशबू है आती, जहाँ से मनोहर औ मधुर।
वहीं गर्भित है निश्चित समझो, निन्दा की बदबू अन्दर॥"

चक्रवर्ती के समपदस्थ व्यक्ति द्वारा किये गए वन्दन-नमस्कार न देखने के लिए कदाचित् उक्त लोकोक्ति के अनुसार आँखें मूँदी जा सकती हैं, परन्तु स्तुति वचन

---

१. दसवें पद्य से तुलना करें–
लाभालाभे सुहेदुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥ –उत्तरा. १९/९०

सुनने के लिए कानों पर कौन-सा ढक्कन लगाया जायेगा? यद्यपि जो साधक आँखें मूँदने की तरकीब जानता है, वह कान के दरवाजे भी बन्द करने की तरकीब जान पाता है। परन्तु स्वाभिमान को भी घोलकर पी जाने जैसी यह कला अत्यन्त आत्म-विलोपन (शून्यवत् बन जाने) की भूमिका है।[1]

पूर्ण समदर्शिता का तृतीय चिह्न : जीवित और मरण में न्यूनाधिकता का अभाव

परन्तु सिद्धि के तट पर पहुँचे हुए साधक की दशा तो इससे भी ऊँची है। इसे बताने के लिए अगले चरण में कहा गया है–"जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता।" जीवित और मृत्यु इन दोनों के पीछे अनन्त जीवन का जिसे साक्षात्कार हुआ है, उसे ही ये दोनों अवस्थाएँ समान मालूम होती हैं। उसे न किसी में न्यूनता लगती है और न अधिकता। ऐसे साधक को जीवन और मरण केवल जिन्दगी के केन्द्र-बिन्दु को लक्ष्य में रखकर गति करने वाले एक सरीखे दो चक्र प्रतीत होते हैं। ऐसे साधक को वृद्धावस्था या क्षीण बनी हुई काया, जीर्णवस्त्र-सी प्रतीत नहीं होती। अपितु जीवन को मधुर आश्वासन और सहारा देने वाली सहचारिणी प्रतीत होगी। इस कारण उसे अपनी काया टिकी रहे तो भी उसका आनन्द कायम रहेगा और न टिकी रहे तो भी उसका आनन्द अखण्ड रहेगा। यद्यपि उसका वह शरीर जगत् के लिए अतीव उपकारक सिद्ध हुआ हो, उसके लिए जगत् यह चाहे कि यह शरीर चिरकाल तक रहे तो अच्छा तथा जगत् अथवा उसके भक्त उसके शरीर को चिरकाल तक टिकाये रखने के उपाय भी करना चाहें, परन्तु उस साधक पुरुष की स्वप्न में भी ऐसी कोई इच्छा नहीं होती; क्योंकि इतनी दूर पहुँच जाने पर मृत्यु भी तो उसके लिए भवचक्र का अन्तिम चक्कर है।

पूर्ण समदर्शिता का चतुर्थ चिह्न : भव और मोक्ष के प्रति शुद्ध स्वभाववर्तिता

फिर भी इस जीवित (जीने के) मोह के छूट जाने पर इस जीवन के बाद मोक्ष अतिनिकट हो जाता है। इस प्रकार का स्पष्ट निश्चय हो जाने पर भी जैसे वह जीवित की वांछा नहीं करता, वैसे ही शीघ्र मृत्यु की वांछा भी नहीं करता। यदि शीघ्र मृत्यु (समाधिपूर्वक) होने लगे, तब मृत्यु के बाद मोक्ष की वांछा न करे। इसके लिए कहा गया–"भवे-मोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।"[2]

वस्तुतः देखा जाये तो मोक्ष जिसके सामने दौड़ता आ रहा हो, उसे मोक्ष की लिप्सा ही कैसे हो सकती है? यों तो "कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव।" इस सूक्ति में

---

१. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. ७८-७९

२. मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः।
इस पंक्ति से मोक्ष और भव इन दोनों में निःस्पृह साधक को उत्कृष्ट मुनि कहा गया है। –सं.

ठोस सत्य निहित है। क्योंकि कषाय से मुक्ति के बाद स्वेच्छा से कुछ करने जैसा नहीं रहता।[1] परन्तु जहाँ अभी तक इस किनारे नौका पहुँची नहीं हो, वहाँ तो अन्तर्यामी के चरणों में प्रार्थना की जाती है–"**प्रभो ! संसारदशा रहे या मोक्षदशा प्राप्त हो, दोनों अवस्थाओं में मेरा शुद्ध स्वभाव चालू रहे।**" इसका तात्पर्य है–"**मैं शुद्ध आत्म-भाव में रहूँ।**" क्योंकि भवसागर का किनारा दिखाई दे रहा हो, उस समय अगर थोड़ी-सी भी गफलत हो जाये या चूक हो जाये, तो किनारे के पास आई हुई नौका डूब सकती है। अतः ऐसे समय तो पहले से ज्यादा सावधान रहने की आवश्यकता होती है। दीर्घकाल तक उपवास करना फिर भी सरल है, किन्तु पारणे के समय जो पदार्थ थाली (या पात्र) में आये, उस समय धैर्य रखना और उतावली करके भोजन की मात्रा और पथ्य-अपथ्य का ध्यान न रखकर पेट में ठूँसते जाने पर ब्रेक लगाना तथा उस समय मन को त्याग-वैराग्यपूर्वक यथालाभ अतीव सात्त्विक अल्पाहार में लगाना दुष्कर–अतिदुष्कर है।

इसीलिए कहा गया है कि जीवन तराजू के भव और मोक्ष, दोनों पलड़ों का मन में समतोल रहे, दोनों पलड़े समान रहें, इस प्रकार का शुद्ध स्वभाव या समभाव रहे। तात्पर्य यह है कि भवसागर में तैरते हुए, जब किनारा दिखाई देने लगे; तब न तो किनारे जल्दी पहुँच जाने का मोह पैदा हो और न तरने में शिथिलता, अरुचि या अनुत्साह आये। अर्थात् ऐसे समय में सिर्फ अनासक्तिमय आत्म-भाव में ही तल्लीन रहा जाये। समत्व-साधना की सिद्धि का यह चतुर्थ चिह्न है।

एकादशम सोपान : समता की सिद्धि के लिए पूर्ण निर्भयता का अभ्यास आवश्यक

निर्भयता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के एक क्षण पूर्व तक भय का अंकुर रहा हुआ है। और भय है या भय निर्मूल नहीं हुआ है, वहाँ तक भय के निमित्तभूत हथियारों के खिलाफ निर्भयता की ढाल हाथ में थामे रखनी ही होगी। तभी उच्चकोटि का साधक समता की पराकाष्ठा या सिद्धि तक पहुँच सकता है। निर्भयता की सिद्धि के लिए सर्वात्मभाव, सर्वभूतात्मभाव अथवा सर्वप्राणियों में शुद्ध आत्मा का प्रेक्षण आवश्यक है।

यद्यपि 'वेदान्तदर्शन' में उक्त 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के समान 'जैनदर्शन' (जैनागम) में 'एगे आया' से प्रथम दृष्टिपात में यही आभास होता है कि सारे संसार में एक ही ब्रह्म (आत्मा) है। किन्तु 'वेदान्तदर्शन' के अनुसार–"जगत् में एक ही ब्रह्म (परम आत्मा) है, जीव उसी के विविध अंशरूप हैं", ऐसा जैनदर्शन नहीं मानता। सारे संसार के जीवों की आत्मा स्वरूप की दृष्टि से एव, (समान) है, किन्तु

---

१. जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्के। *–आवश्यकसूत्र में संलेखना पाठ*

उन जीवों की अपने-अपने कर्मानुसार पृथक्-पृथक् सत्ता (अस्तित्व) है, और वे अनन्त हैं। संसारी जीवों के कर्माधीन होने से उनमें कर्मों के कारण बहुरूपता है, थी और रहेगी, क्योंकि संसार का यह स्वभाव है। इसलिए संसार की बहुरूपता में एकरूपता (स्वरूपदृष्टि, आत्मैकत्वदृष्टि, स्व-स्वरूपतुल्यता) को कायम टिकाये रखने के लिए आत्मैकत्वदृष्टि परिपक्व, अभ्यस्त और दृढ़ हो जानी चाहिए, ताकि संसारी जीव बाहर से विभिन्न रूपों में दिखाई दें तो भी समतायोगी साधक को स्वरूप दृष्टि से उनमें शुद्ध आत्मा की प्रतीति हो, उन-उन प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव तथा सर्वभूतों में समत्वदर्शन हो, तभी समत्वयोगी साधक अन्य जीवों द्वारा उपस्थित की गई प्रतिकूल परिस्थिति में निर्भयतापूर्वक साम्यभाव में अविचल रह सकता है।

आत्मा द्वारा परमात्मभाव की या समत्वयोग की परम सिद्धि की साधना के लिए पूर्व-पद्य में सूक्ष्म कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा विविध व्यक्तियों, संयोगों और परिस्थितियों या अवस्थाओं में निष्कम्प समताभाव में दृढ़ रहने के विविध उपायों का तथा सावधानी रखने का निर्देश किया गया है।

अब आगे के पद्य में विविध प्राणियों, परिस्थितियों, संयोगों आदि से वास्ता पड़ने पर साधक अपने समतायोग (सामायिक) में कैसे अविचल रहे? उस अवसर पर साधक में निर्भयता, नैतिक साहस, वत्सलता एवं आत्म-तुल्यता कैसी और कितनी होनी चाहिए? इसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है–

"एकाकी विचरतो वली स्मशानमां,
वली पर्वतमां वाघ-सिंह-संयोग जो।
अडोल आसनने मनमां नहि क्षोभता,
परममित्रनो जाणे पाम्या योग जो॥११॥

अर्थात् अकेले और वह भी श्मशान जैसे भयंकर सूनसान स्थान में विचरण करना, जहाँ बाघ, सिंह, चीते आदि क्रूर जानवरों के संयोग (समागम) की बारम्बार सम्भावना हो, वैसे पर्वत, गुफा आदि स्थानों में रहकर साधना करना। उस दौरान ऐसे भयंकर जानवर पास में आयें तो भी अडोल आसन से बैठे रहना। इतना ही नहीं, ऐसे भयावह प्रसंगों में मन में जरा-सा भी क्षोभ न आने देना और मानो परम स्नेही मित्र का मिलाप हुआ हो, ऐसी प्रेमभरी स्थिति का अनुभव करना ! ऐसी अपूर्व स्थिति प्राप्त करना इस भूमिका में अनिवार्य है।

एकाकी विचरण : क्यों, कब और कैसे ?

इस पद्य के प्रारम्भ में निर्भयता, समता, नैतिक साहस की वृद्धि एवं परिपक्वता के लिए एकाकी विचरण शब्दों का प्रयोग किया गया है। एकाकी

विचरण में एकाकी शब्द का अर्थ यहाँ न तो अलग-थलग होना है और न ही स्वच्छन्दता या मन की तरंगों के आवेश में आकर अकेले भटकते फिरने के अर्थ में है। 'एकाकी' का अर्थ भाव से राग-द्वेषरहित व विभावरहित होना है। आत्मा के सम्बन्ध में एकत्वभाव से चिन्तन करना है। जैसा कि अमितगतिसूरि ने कहा है– "आत्म-बाह्य पदार्थ (परभाव या विभाव) कुछ भी मेरे नहीं हैं और न मैं भी कदापि उन पदार्थों या व्यक्तियों का हूँ। इस प्रकार विचार (निश्चय) करके आत्म-बाह्य समस्त पदार्थों का परित्याग कर। हे भद्र ! इससे मुक्ति के लिए तू सदैव स्वस्थ (आत्मस्थ) होकर विचरण कर।"[1]

अतः साधक बाह्यरूप से धर्म-संघ से सम्बद्ध होते हुए भी अन्तर से उससे स्वयं को पृथक् (अकेला) समझेगा। यद्यपि सहायप्रत्याख्यान[2] करके आगम प्रतिपादित अष्ट गुणों[3] से युक्त कोई साधक अकेला विचरण करना चाहता है, तो वह शास्त्रविहित है। परन्तु वह अकेला विचरण करता हुआ भी "मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।"–मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है, किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध (शत्रुता) नहीं है। इस सूत्र को कोई साधक सांगोपांग जीवन में उतार लेता है तो ठीक, किन्तु इसके विपरीत यदि कोई साधक स्वच्छन्दता, सनक और आवेश में आकर अकेले फिरना पसन्द करता है, तो अपनी कामना के जाल में ऐसा फँस जायेगा कि भूल होने पर न तो वह किसी विश्वस्त और एकान्त हितैषी की बात मानेगा और न भूल सुधारेगा।

एकाकी विचरण का रहस्यार्थ : उदात्त ध्येय-सिद्धि

दूसरी बात–धर्म-संघ से अलग होकर अकेले केवल अपने निपट स्वार्थ को लेकर घूमता है या घूमना चाहता है, वह 'मेरी सर्वजीवों के साथ मैत्री है', इस उद्देश्य से सर्वप्राणियों के साथ मैत्री की कड़ी जोड़ नहीं सकता और न ही समस्त जीवों के साथ अद्वैतता, अभिन्नता या आत्मीयता की साधना कर सकता है।[4]

---

१. न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाऽहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थस्सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै॥ –*सामायिक पाठ, श्लो. २४*

२. सहाय-पच्चक्खाणे णं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे, अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।
–*उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ३९*

३. एकलविहार प्रतिमाधारी साधु में ८ गुण होने अनिवार्य हैं–(१) जिनोक्त तत्त्व एवं आचार के प्रति दृढ़ श्रद्धालु, (२) सत्यवादी, (३) मेधावी (मर्यादा में रहने वाला), (४) बहुश्रुत, (५) शक्तिमान, (६) अल्पोपकरण वाला अथवा कलहरहित, (७) धृतिमान, और (८) वीर्यसम्पन्न (परम उत्साही)। –*स्थानांग, स्था. ८, सू. ५९४*

४. देखें–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ४, सू. १ में अव्यक्त साधु के लिए एकाकी विचरण में दोष का प्रतिपादन

यद्यपि 'दशवैकालिक' और 'उत्तराध्ययन' में गुणाधिक या गुण में सम निपुण सहायक साथी साधु के न मिलने की स्थिति में कारणवश अकेला विचरण करने का विधान है। उस एकाकी साधु के लिए वहाँ दो अर्हताएँ बताई गई हैं– (१) समस्त पापों से विरत रहे, (२) कामभोगों के प्रति अनासक्त रहे।[1] पूर्वोक्त दोनों निकृष्ट उद्देश्यों से एकाकी विचरण करने वाले साधक में इन दोनों अर्हताओं के अभाव में उक्त उद्देश्य या हेतु को प्राप्त नहीं कर सकेगा। एकाकी शब्द यहाँ एकान्तरूप से साधना करने के हेतु प्रयुक्त किया गया।

एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि एकान्त में साधना करने के पीछे क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में निवेदन है कि उदात्त ध्येय की वफादारी के लिए एकान्त ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। एक बार लोकारूढ़ वातावरण से और स्थूल संगमात्र से अलग हुए बिना मौलिक विचार की भूमिका ही दुर्गम्य है और मौलिक विचार न जगे, वहाँ तक विश्व का मौलिक विज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। ऐसी स्थिति में वीतरागभाव की स्थिति प्राप्त करना तो और भी दुष्कर है।

एकाकी विचरण किसके लिए योग्य, किसके लिए अयोग्य ?

इतनी योग्यता उक्त साधक में हो या वह इस साधना को स्वीकार कर ले, तब भी संगत्यागी वह साधक एकाकी विचरण न करके समान भूमिका वाले तथा समान ध्येय पर विचरण करने वाले सहचारियों (साथियों) के साथ विचरण करे तो क्या बुरा है?

इस तर्क के पीछे कुछ तथ्य अवश्य है। अतः साधक के जीवन में परिपक्व भूमिका का निर्माण न हुआ हो, वहाँ तक यह सहविचरण संघ के विधान में अनिवार्य बताया है। किन्तु जैसे अपरिपक्व अगीतार्थ साधक के लिए यह सहविचरण साधक है, वैसे ही उत्कृष्ट भूमिका वाले साधक के लिए बाधक भी है, यह नहीं भूलना चाहिए, क्योंकि सहचारियों के संग का सूक्ष्म ममत्व और मिलने वाला अवलम्बन उच्च साधक को सर्वांगी असंगतता और स्वावलम्बी साधना के आकाश में उड़ने में रुकावट डालता है। इसलिए जैसे पंख मजबूत हो जाने के बाद पक्षी व्योम-विहार में प्रवृत्त होता है, वैसे ही परिपक्व हो जाने के बाद ऐसा साधक इस मार्ग पर प्रवृत्त होकर 'एगंतसुही साहू वीयरागी' (वीतरागी साधु एकान्त सुखी होता है) के अनुसार विरक्त भावों में मग्न होकर एकान्त सुख का आनन्द पाता है। ऐसा एकान्त साधक विश्वव्यापी शुद्ध वात्सल्य में तन्मय होकर अखण्ड वात्सल्य में बाधक कारणों को दूर करके वात्सल्य सिन्धु में मिलने का प्रशस्त मार्ग (दूसरों के लिए) बना देता है।

---

१. न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ सयं वा।
इक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥
–दशवैकालिक द्वि. चू., गा. १०; उत्तरा., अ. ३२, गा. ५

गए, तिर्यंच योनि में भी गए, सिंह बने। और भी कई छोटे-छोटे जीवों में भी जन्मे। स्पष्ट है कि तीर्थंकर भी शुभाशुभ के बहुत चढ़ाव-उतार के दौर से गुजरे। यह निश्चित है कि अनिकाचित रूप से तीर्थंकर नामकर्म के अनेक बार बँध जाने पर भी सफलता नहीं मिलती।[1]

निकाचित रूप से बँध जाने पर तीसरे भव में अवश्य तीर्थंकरत्व-प्राप्ति

तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध दो प्रकार का होता है–निकाचना रूप और अनिकाचना रूप। अनिकाचना रूप बन्ध तीसरे भव (तीर्थंकर रूप में जन्म लेने के दो भव पूर्व) से पहले भी हो सकता है, क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध जघन्यतः अन्तःकोटाकोटि सागरोपम का बताया गया है; जबकि निकाचना रूप बन्ध तीर्थंकर के भव से पूर्व तीसरे भव में हो जाता है। इसीलिए कहा गया है– "तच्च कहं वेइज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणाइहिं, बज्झइ; तं तु तइय-भवोसक्कइताणं।" प्रश्न है–तीर्थंकर नामकर्म का वेदन कहाँ, कैसे होता है? समाधान है–ग्लानिरहित (प्रसन्नता से सहज आत्मानन्द की मस्ती से) धर्मोपदेश आदि द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का (निकाचित) बन्ध होता है और वह तीर्थंकर भगवान का उत्कृष्टतः तीसरे भव में वह कर्म उदय में आकर (उत्कृष्ट पुण्य-राशि के रूप में) फल प्रदान करता है, तीर्थंकर के रूप में विख्यात करता है। कर्मविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि निकाचन रूप में बँधा हुआ कर्म अवश्यमेव फल देता है, जबकि अनिकाचन रूप से बँधा (उपार्जित किया) हुआ कर्म फल दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता। किन्तु निकाचित रूप से बँधा हुआ कर्म तीसरे भव पूर्व से लेकर तीर्थंकर-भव में पूर्णतया फल भुगवाता है। आशय यह है कि नियमतः तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन रूप बन्ध तभी होता है, जब वह आत्मा तीसरे भव में तीर्थंकर (भाव तीर्थंकर) होने वाला हो। निकाचना के फलस्वरूप एक तो वही मनुष्य-भव, जिसमें तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। दूसरा देव या नरक का भव और तीसरा तीर्थंकर का भव।

जो तीर्थंकर निकाचन बन्ध के पूर्व नरकगति का आयुष्य बाँध चुके होते हैं, वे ही मनुष्य-भव पूर्ण करके नरक में जाते हैं, नरक में भी वे तीसरी नरक तक जाते हैं, आगे नहीं। वहाँ तीर्थंकर का जीव तत्त्व दृष्टि और उपशम सहित विरक्त दशा में काल बिताता है। एक ओर नरक की भयंकर वेदना और दूसरी ओर परमाधामी देवों द्वारा अपार संताप, फिर भी उन पर अमैत्रीभाव या कषायभाव न लाकर सब प्रकार की दुर्भावना से रहित रहते हैं, स्वकृत कर्मों का फल समझकर शान्तभाव से

---

१. (क) 'कल्पसूत्र विवेचन' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण
(ख) 'जैनभारती, वीतराग वन्दना विशेषांक' से भाव ग्रहण, पृ. ११७

सहते हैं। नरक की अपार, दुःसह, अकथ्य वेदना में भी आत्म-जागृति, अपूर्व समाधिभाव ही तीर्थंकरों की सर्वश्रेष्ठ महानता एवं विशिष्टता है।

देवलोक में जाने वाले भावी तीर्थंकर के जीव को वहाँ भोगविलास के, अपार साधन और वातावरण सुखमय मिलने पर भी वे उनमें आसक्त नहीं होते, अन्तर में आनन्द नहीं मानते। वे इसे चैतन्य पुद्गल के खेल तथा पुण्य की लीला समझकर स्वयं अनासक्तभाव में रहते हैं।[1]

निकाचित रूप तीर्थंकरत्व-उपार्जन की अर्हताएँ

निकाचित रूप से तीर्थंकरत्व-उपार्जन के समय निर्मल सम्यक्त्व, साधुत्व या श्रावकत्व अनिवार्य है। इन तीनों में से चाहे कोई भी मनुष्य हो, किसी भी स्थिति में हो, उसे तीर्थंकरत्व प्राप्त हो सकता है। इसकी उपलब्धि में मुख्यतया तीन साधनाएँ सहायक होती हैं–(१) अप्रतिहत निर्मल सम्यक्त्व, (२) बीस स्थानक, और (३) विशिष्ट विश्वदया। भगवान महावीर ने राज्य का त्यागकर मुनित्व अंगीकार करके नन्दन नृप के भव में एक-एक लाख वर्ष तक लगातार मासक्षपण तप के पारणे के बाद मासक्षपण तप की आराधना द्वारा तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया था। भगवान ऋषभदेव और भगवान पार्श्वनाथ ने राज्यऋद्धि एवं सुखशीलता का त्यागकर सर्वविरति रूप चारित्र एवं पवित्र साधुत्व अंगीकार करके प्रबल साधना द्वारा तीर्थंकरत्व का निकाचन बंध किया था। मगध-सम्राट् श्रेणिक नृप ने मात्र क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके और सुलसा श्राविका ने श्रावकधर्म का विशुद्ध पालन करके तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन बन्ध किया। 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है–"निकाचित बन्ध तो नियमतः मनुष्यगति में ही होता है। सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा (चाहे स्त्री हो, पुरुष हो या नपुंसक) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय की उत्कृष्ट आराधना-साधना में पुरुषार्थ करते-करते तीर्थंकर नामकर्म की सर्वोत्तम पुण्य प्रकृति के दलिक इकट्ठे होते रहते हैं। साधना सतत चलती रहे तो कालान्तर में भावों की परम उत्कटता से तीर्थंकर नामकर्म निकाचित (दृढ़ीभूत = अवश्य फलदायी) बँध जाता है। वह भी उसी मनुष्य को जो अरिहन्त भगवन्त को, उनके स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता-मानता हो, उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति-बहुमान से वह सम्यक्त्वी हो, श्रावक-श्राविका हो या साधु-साध्वी। अनन्य भक्तिभाव और भावों की उत्कृष्टता–तीव्रता से निकाचन तीर्थंकर नामकर्म बाँध लेता है। ऐसे सम्यक्त्व के प्रभाव से तीर्थंकर की पुण्य-राशि उपार्जित करने वाले पुण्यात्मा के हृदय में संसार के दुःखमय, दुःखमूलक और दुःखानुबन्धी स्वभाव का ख्याल बहुत अधिक आता है। ऐसे दुःखमय संसार में फँसे हुए प्राणिमात्र पर उसके कोमल हृदय में उत्कृष्ट

१. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ७४-७५

भावदया उत्पन्न होती है।[1] निरन्तर यह भावना उत्पन्न होती है–विश्व के समग्र जीव जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हों, संसार में आधि-व्याधि-उपाधि रूप त्रिविध ताप से संतप्त जीव दुःखमुक्त हों, समस्त प्राणी जिनशासनरसिक हों; सभी धर्मभावना से ओतप्रोत हों, संसार के समस्त जीव मोक्षमार्ग के पथिक बनें, इस प्रकार की उत्कृष्ट सद्भावना के बल पर वे महात्मा–पुण्यात्मा तीर्थंकर नामकर्म सरीखी अप्रतिम प्रभावशाली, उत्कृष्ट पुण्यशाली तीर्थंकर नाम प्रकृति की निकाचना करते हैं।[2]

निकाचन तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के बीस मूलाधार

तीर्थंकर बनने योग्य आत्माएँ अपने तथा भव्यत्व के योग्य परिणामों से निम्नोक्त बीस उपायों (स्थानकों) में से किसी एक, अनेक या सभी कारणों का अवलम्बन लेती हैं। ज्ञातासूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि आगमों में इनके लिए कारण, हेतु या स्थानक आदि शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं– (१) **अरिहन्त-वत्सलता** (अरिहन्त-भक्ति), (२) सिद्ध-वत्सलता (सिद्ध-भक्ति), (३) प्रवचन-वत्सलता (प्रवचन-भक्ति), (४) गुरु या आचार्य-वत्सलता (गुरु या आचार्य की भक्ति), (५) स्थविर-वात्सल्य (स्थविर-भक्ति), (६) बहुश्रुत-वात्सल्य (बहुश्रुत-भक्ति), (७) तपस्वी-वात्सल्य (तपस्वी-भक्ति), (८) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (बार-बार तत्त्वज्ञान में उपयोग), (९) दर्शन-विशुद्धि (सम्यक्त्व सुदृढ़ और निर्मल रखना), (१०) विनय-सम्पन्नता (ज्ञान, ज्ञानवान्, दर्शन, दर्शन-सम्यग्दृष्टि, सम्यक्चारित्र-चारित्रवान् का विनय-बहुमान करना तथा आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, ग्लान, रुग्ण साधु-साध्वी, गण, कुल, संघ तथा सामान्य साधु आदि की सेवा-शुश्रूषा रूप उपचारविनय करना), (११) आवश्यक क्रिया का अपरित्याग (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, इन छह आवश्यकों को बिना नागा किये करना), (१२) निरतिचाररूप से शील और व्रतों का पालन (मूलगुण और उत्तरगुणों का व्रत, नियम, तप, त्याग-प्रत्याख्यान का शुद्ध रूप से पालन करना), (१३) क्षण-लव (अभीक्ष्ण संवेगभाव) की साधना (संवेगभाव द्वादश अनुप्रेक्षाओं तथा धर्म-शुक्लध्यान में जीवन के क्षण-लव को शुद्धोपयोग में व्यतीत करना), (१४) यथाशक्ति तपश्चरण (यथाशक्ति बाह्य-आभ्यन्तर तप की शुद्ध आराधना करना), (१५) यथाशक्ति त्याग (आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान, औषधदान तथा अन्यान्य धर्म-उपकरणों का दान निःस्वार्थभाव से देना), (१६) वैयावृत्यकरण (आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, ग्लान = रुग्ण, स्थविर, गण, कुल, संघ, साधु तथा समनोज्ञ =

---

१. सभी जीव करूं जिन शासनरसी, ऐसी भावदया मन उलसे।

२. 'अरिहन्त' से भाव ग्रहण, पृ. ७१-७३

साधर्मिक; इन दस सेवा-योग्य पात्रों की यथोचित वैयावृत्य करना), (१७) समाधि (आधि, व्याधि, उपाधि से रहित होकर द्रव्य और भावरूप से उत्कृष्ट आत्म-समाधि प्राप्त करना), (१८) अपूर्व ज्ञान-ग्रहण (नये-नये ज्ञान को ग्रहण करने की तीव्र भावना), (१९) श्रुतभक्ति (शास्त्र, आगम, ग्रन्थ या सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा-भक्ति, श्रुताज्ञानुसार प्रवृत्ति), और (२०) प्रवचन-प्रभावना (तीर्थंकर भगवान द्वारा उपदिष्ट या कथित प्रवचन या संघ व धर्म की प्रभावना–प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करना)।

तीर्थंकर नामकर्म का निकाचित बन्ध करने के लिए इन बीस कारणों (स्थानकों) में से एक या अधिक की आराधना करना अनिवार्य है। इस प्रकार तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के बाद वे वीतराग प्रभु संघ स्थापना, प्रवचन आदि करते हुए चार अघातिकर्मों का यथासमय क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं।[1]

●●

---

१. (क) अरिहन्त-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसु।
वच्छलया एएसिं, अभिक्खणनाणोवओगे य॥
दंसण-विणए-आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खण-लव-तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
अपुव्व-नाण-गहणो सुयभत्ती पवयणे पभावणा य।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥ –*ज्ञाताधर्मकथा, अ. ८, सू. ६४*

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति

(ग) तत्त्वार्थसूत्र में १६ कारण

(घ) समणस्स भगवओ महावीरस्स तित्थंसि णवहिं जीवेहिं तित्थगर-णाम-गोते कम्मे णिव्वतिते। –*स्थानांग, स्था. ९*

(ङ) तत्थ इमेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयर-णाम गोय-कम्मं बंधंति।
–*धवला, खण्ड ३; बन्धकतत्त्व प्रकरण, सू. ४०, पृ. ७८*

४

जैनदृष्टि से सर्वकर्ममुक्त मोक्ष-प्राप्त–

विदेह-मुक्त सिद्ध-परमात्मा : स्वरूप, प्राप्ति, उपाय

अरिहन्त और सिद्ध दोनों देवाधिदेव परमात्मा कोटि में

अरिहन्त और सिद्ध दोनों देवाधिदेव पद में माने गये हैं, क्योंकि केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त अव्याबाध-सुख और अनन्त बलवीर्य (आत्म-शक्ति) इन चारों आत्मा की पूर्णता के गुणों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। दोनों ही अनन्त गुणों के धारक हैं। अतः ज्ञान की समानता और चार घातिकर्मों के अभाव की तुल्यता होने से अरिहन्त भगवान और सिद्ध भगवान दोनों (देवाधिदेव) देवकोटि में गिने गये हैं।

अरिहन्त और सिद्ध में मौलिक अन्तर

इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि अरिहन्तदेव शरीरधारी होते हैं, जबकि सिद्ध-परमात्मा अशरीरी होते हैं। अरिहन्तदेव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति (आत्म-गुणघातक) कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) और केवलदर्शी (सर्वदर्शी) होते हैं और चार अघातिकर्मों से युक्त होते हैं, जबकि सिद्ध-परमात्मा ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों का तो क्षय करते हैं, चार अघातिकर्मों का भी क्षय करके आठों ही कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि सिद्ध-परमात्मा सर्वकर्ममुक्त होते हैं, जबकि अरिहन्त भगवान चार घातिकर्म से मुक्त होते हैं। अरिहन्त सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) हैं, जबकि सिद्ध विदेहमुक्त पूर्ण मुक्त हैं।

सर्वकर्मों से मुक्त होने की प्रक्रिया

सिद्ध-परमात्मा के सर्वकर्मों से मुक्त होने की प्रक्रिया क्या है? यह भी समझ लेना आवश्यक है। कर्मबन्ध के मुख्य कारण दो हैं–कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु भी आत्मा के साथ तीव्र रूप में अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही कर्मों की स्थिति कम और फलदान शक्ति भी मन्द हो जाती है। जैसे-जैसे कषाय मन्द होता जाता है, वैसे-वैसे निर्जरा (कर्मों का एक देशतः क्षय) भी अधिक होती है और पुण्य का बन्ध भी

शिथिल होता जाता है। घातिकर्म परमाणुओं के क्षय होने के साथ अन्य अघातिकर्म परमाणुओं का आकर्षण और तीव्र बन्ध भी बन्द हो जाता है, जो कर्म पूर्वबद्ध थे, वे प्रदेशरूप से उदय में आते हैं; वीतराग हो जाने के पश्चात् नाममात्र का (सातावेदनीय का) दो समय का बन्ध होता है। कषायाभाव के कारण अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध नहीं होता। पहले समय में स्पृष्टबन्ध, दूसरे समय में उदय प्राप्त और वेदित होता है और तीसरे समय में निर्जीर्ण हो जाता है। फिर चौथे समय में वह अकर्म बन जाता है। अर्थात् समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।[1]

अकर्मा होने के बाद अयोगी, शैलेशी और सिद्ध अवस्था का क्रम

इससे आगे की अयोगी से शैलेशी और सिद्ध अवस्था का वर्णन 'दशवैकालिकसूत्र' में तीन गाथाओं द्वारा किया गया है–"जब साधक जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है, तब योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसके पश्चात् अपने समस्त कर्मों का क्षय करके कर्मरजमुक्त होकर सिद्धि-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। सर्वकर्ममुक्ति-प्राप्त वह सिद्ध-परमात्मा फिर लोक के मस्तक (अग्र भाग) पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है।"[2] योगों के सर्वथा निरोध आदि का क्रम 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इस प्रकार बताया गया है–"(केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात्) शेष आयु को भोगता हुआ जब अन्तर्मुहूर्त्त-परिमित आयु शेष रहती है, तब अनगार योग निरोध में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान को ध्याता हुआ वह सर्वप्रथम मनोयोग का विरोध करता है, फिर वचनयोग का, तदनन्तर आनापान (श्वासोच्छ्वास) का निरोध करके स्वल्प (मध्यम) गति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारणकाल जितने समय में समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान में लीन हुआ अनगार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारों कर्मों का एक साथ क्षय कर देता है।"[3]

"तत्पश्चात् वह औदारिक और कार्मण शरीर का भी सदा के लिए सर्वथा परित्याग कर देता है। सम्पूर्ण रूप से इन शरीरों से रहित होकर वह ऋजु श्रेणी को प्राप्त होता है और एक समय में अस्पृशद्गति रूप ऊर्ध्व गति से बिना मोड़ लिए (अविग्रह रूप से) सीधे वहाँ (लोकाग्र-प्रदेश में) जाकर साकारोपयुक्त अवस्था

---

१. तं पढमसमये बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं।
तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं, सेयाले य अकम्मया य भवइ॥
–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सू. ७१

२. दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, गा. २३-२५

३. उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ७२

(ज्ञानोपयोगी अवस्था) में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।"[1]

सिद्ध-परमात्मा : कैसे हैं, कैसे नहीं ?

जैन-सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चित है कि मध्य लोक में, ढाई द्वीप में, १५ कर्मभूमियों में ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में उत्पन्न होने वाले जो मनुष्य सर्वकामभोगों से विरत, सर्वसंगविरत (सर्वआसक्तिरहित), सर्वस्नेहातिक्रान्त, अक्रोधी (क्रोधविफलकर्त्ता), निष्क्रोध (क्रोधोदयरहित) एवं क्षीणक्रोध हों, जिनके मान, माया और लोभ भी क्षीण हो गये हों, वे आठों कर्मों को समस्त प्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं और लोक के अग्र भाग में प्रतिष्ठित होते हैं; मोक्ष प्राप्त करते हैं। मोक्ष में जाने के बाद वे फिर कदापि लौटकर संसार में नहीं आते।[2]

सिद्ध भगवान राग-द्वेष को जीतकर अरिहन्त बनकर चौदहवें गुणस्थान की भूमिका को भी पार कर, सदा के लिए जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं। शरीर और शरीरसम्बद्ध सभी सुख-दुःखों को पार कर अनन्त एक रस आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। वे द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से रहित–अलिप्त होकर निराकुल अव्याबाध-सुखरूप आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो जाते हैं। वे निजानन्द में सदैव रहते हैं। निज ज्ञानादि स्वभाव में रमण करते हैं। 'औपचारिकसूत्र' में कहा गया है–"वे सिद्ध हैं–उन्होंने अपने सर्वप्रयोजन साध लिये हैं। वे बुद्ध हैं–केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व का बोध उन्हें स्वायत्त है। वे पारंगत हैं–संसार-सागर को पार कर चुके हैं। वे परम्परागत हैं–परम्परा-प्राप्त मोक्षोपायों का अवलम्बन लेकर वे संसार-सागर के पार पहुँचे हुए हैं। वे उन्मुक्त कर्म-कवच हैं–जो कर्मों का कवच उन पर लगा था, उससे वे छूटे हुए हैं। वे अजर हैं–वृद्धावस्था से रहित हैं, अमर हैं–मृत्युरहित हैं तथा वे असंग हैं–समस्त आसक्तियों और संसर्गों–पर-पदार्थ संसर्गों से रहित हैं।" वे कृतकृत्य हैं, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। सिद्धदशा आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध और मुक्त दशा है। वहाँ एकमात्र आत्मा ही आत्मा है। वहाँ पर-द्रव्य और पर-परिणति कुछ भी नहीं है। वहाँ न कर्म हैं और न कर्मबन्ध के कारण हैं अतएव वहाँ से लौटकर न वे संसार में आते हैं, न ही जन्म-मरण पाते हैं। सिद्ध-परमात्मा आत्म-विकास की चरम सीमा पर हैं।[3]

---

१. उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ४३

२. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' (आ. आत्माराम जी) से भाव ग्रहण, पृ. ९१
   (ख) औपपातिकसूत्र, सू. १३०

३. (क) 'श्रमणसूत्र' (उपा. अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १६४
   (ख) औपपातिकसूत्र, गा. १८७

शुद्ध आत्मा (सिद्ध-परमात्मा) का स्वरूप

'आचारांगसूत्र' में परम विशुद्ध आत्मा का जो स्वरूप बताया है, वही सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है। वह इस प्रकार है–"शुद्ध आत्मा (सिद्ध) का वर्णन करने में कोई भी शब्द (स्वर) समर्थ नहीं है। कोई भी तर्क-वितर्क शुद्ध आत्मा के विषय में नहीं चलता। मति की कल्पना का भी वहाँ (शुद्ध आत्मा के विषय में) प्रवेश (अवगाहन = अवकाश) नहीं है। केवल सम्पूर्ण ज्ञानमय शुद्ध आत्मा ही वहाँ है।" वह (शुद्ध आत्मा) न तो दीर्घ (लम्बा) है, न ही ह्रस्व (छोटा) है, न वह वृत्त (गोलाकार) है, न त्रिकोण है, न चौकोर है, न ही परिमण्डलाकार (चूड़ी के आकार का) है। वह न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है, न ही शुक्ल है। वह न सुगन्धित है, न दुर्गन्धित है। वह कटु नहीं, कसैला नहीं, खट्टा नहीं, मीठा नहीं, तिक्त नहीं। न ही वह कठोर है, न कोमल, न गुरु (भारी), न हल्का है, न शीत (ठण्डा) है, न उष्ण है, न ही स्निग्ध है और न रूढ़ है।"

वह स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, केवल परिज्ञानरूप है, ज्ञानमय है, निरंजन निराकार है। उसके लिए कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती। वह अरूपी (अमूर्त्त) और अलक्ष्य है। उसके लिए किसी भी पद (शब्द) का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शरूप नहीं है। संक्षेप में, वह समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय और सत्-चिदानन्दमय शुद्धात्मरूप (सिद्ध-स्वरूप) है।[1]

शिवादि गुणों से युक्त सिद्धगति को सम्प्राप्त : सिद्ध-परमात्मा

सिद्ध भगवान का संक्षेप में स्वरूप बताते हुए 'शक्रस्तव' में कहा गया है–वे सर्वथा निरामय, निरुपम परमानन्दमय सिद्धधाम (सिद्धशिला) जो लोक के अग्र भाग में है और सिद्धगति नामक स्थान कहलाता है, उसी स्थान को सम्प्राप्त आत्मा सिद्ध कहलाते हैं। वह स्थान शिव (शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, दंश-मशक, सर्पादि से होने वाले सर्व उपद्रवों या बाधाओं से रहित) है, अचल (स्वाभाविक या प्रयोगजन्य हलन-चलन या गमनागमन आदि कारणों का अभाव होने से स्थिर) है, (रोग के कारणभूत तन-मन का सर्वथा अभाव होने से), वह अरुज (रोगरहित) है। (अनन्त पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञानमय होने से) अनन्त है। (सादि होने पर भी अन्तरहित होने से) वह अक्षय है अथवा (सुख से परिपूर्ण होने के कारण पूर्णिमा के चन्द्र की तरह) अक्षत है। (दूसरों = आने वाले मुक्तात्माओं के लिए या अपने लिए किसी भी प्रकार का बाधाकारी न होने से) वह अव्याबाध है। (एक बार सिद्धि = मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद फिर मुक्तात्मा लौटकर संसार में नहीं आता, वह सदा के लिए जन्म-मरण के

---

१. आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ६

चक्र से छूट जाने के कारण) वह अपुनरावृत्ति है। ऐसी सिद्धिगति को प्राप्त भयविजेता, रागादिविजेता, सिद्ध भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो।[1]

सिद्धि-परमात्मा का आत्मिक स्वरूप

'औपपातिकसूत्र' में कहा गया है–वहाँ (लोकाग्र में) वे (मुक्तात्मा) सादि (मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदि सहित) हैं। अपर्यवसित (अन्तरहित) अशरीर (शरीरादिरहित) हैं, अशरीरी (शरीररहित) हैं, जीवघन (सघन अवगाढ़ आत्म-प्रदेशों से युक्त) हैं, ज्ञानरूप साकार तथा दर्शनरूप अनाकार उपयोग-सहित हैं। वे निष्ठितार्थ (कृतकृत्य) हैं, अर्थात् सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए हैं। निरेजना = निश्चल हैं, स्थिर या निष्प्रकम्प हैं, नीरज (कर्मरज से रहित वध्यमान कर्मवर्जित) हैं, निर्मल (कर्ममलरहित अथवा पूर्वबद्ध कर्मों से विनिर्युक्त) हैं, वितिमिर (अज्ञानान्धकार से रहित) हैं। ऐसे विशुद्ध (परम शुद्ध या कर्मक्षय निष्पन्न आत्म-शुद्धियुक्त) सिद्ध भगवान भविष्य में शाश्वत काल पर्यन्त (अपने स्वरूप में) संस्थित रहते हैं।[2]

मुक्तात्मा : कहाँ रुकते हैं, कहाँ स्थिर होते हैं और क्यों ?

मुक्तात्मा जब सर्वकर्मों से सर्वथा रहित हो जाते हैं, तब वे तत्काल गति करते हैं, स्थिर नहीं रहते। उनकी गति ऊर्ध्व (ऊँची) और लोक के अन्त तक होती है, उससे ऊपर नहीं। जैसे कि 'उत्तराध्ययन', 'औपपातिक' तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि में कहा गया है–प्रश्न है–"सिद्ध भगवन्त कहाँ जाकर रुकते हैं? सिद्ध-परमात्मा कहाँ जाकर स्थित होते हैं? सिद्ध भगवान कहाँ शरीर त्यागकर (अशरीरी होकर) किस जगह जाकर (शाश्वत रूप से) सिद्ध होते हैं?" उत्तर है–"सिद्ध भगवान अलोक से लगकर रुकते हैं और लोक के अग्र भाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सिद्ध-परमात्मा यहाँ मनुष्यलोक में शरीर का त्याग करके वहाँ (लोक के अग्र भाग में) जाकर (शाश्वत) सिद्ध हो जाते हैं।[3]

---

१. सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं। *–आवश्यकसूत्र–शक्रस्तव पाठ*

२. ते णं तत्थ सिद्धा हवंति सादीया, अपज्जवसिया, असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा, निरेयणा, नीरया णिम्मला वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति। *–औपपातिकसूत्र १५४*

३. कहिं पडिहया सिद्धा; कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ?॥१॥
अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ?॥२॥
–उत्तराध्ययनसूत्र ३६/५५-५६; औपपातिकसूत्र १६८-१६९

कर्मबन्धन छूटते ही चार बातें घटित होती हैं

आशय यह है कि लोक के अन्तिम भाग, वह बिन्दु जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है, उस स्थान का नाम सिद्धालय है। इस स्थान पर मुक्तात्मा ऊर्ध्व गति से गमन करता हुआ, बिना मोड़ लिए, सरल सीधी रेखा में गमन करता हुआ, अपने देह-त्याग के स्थान से एक समय मात्र में सिद्धशिला से भी ऊपर पहुँचकर स्थित हो जाता है। जीव की यह सर्वकर्म विमुक्त दशा–सिद्धदशा अथवा सिद्धगति कहलाती है। सर्वकर्मबन्धन छूटते ही चार बातें घटित होती हैं– (१) औपशमिक आदि भावों का व्युच्छिन्न (नष्ट) होना; (२) शरीर (मन-वचन-कायायुक्त) का छूट जाना, (३) कर्मों से मुक्त होते ही स्थिर न रहकर तत्काल एक समय मात्र में ऊर्ध्वगति से गमन करना, और (४) लोकान्त में अवस्थित होना।[1]

मुक्तात्मा के शीघ्र ऊर्ध्वगमन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर

इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि सर्वकर्ममुक्त अमूर्त आत्मा कर्म अथवा शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना ऊर्ध्व दिशा में ही गमन क्यों करता है? उसकी गमन-क्रिया में हेतु क्या है तथा उसकी गति ऊर्ध्व ही क्यों होती है तथा वह लोक के अग्र भाग में ही जाकर स्थित क्यों हो जाते हैं? आगे क्यों नहीं जाता?

इन प्रश्नों के समाधान शास्त्रों में इस प्रकार दिये गये हैं–जैसे पाषाण आदि पुद्गलों का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है, वायु का स्वभाव तिरछी दिशा में गति करने का है, अग्निशिखा का स्वभाव ऊपर की ओर गति करने का है, इसी प्रकार कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गति करने का है। परन्तु आत्मा जब तक अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के संग या बन्धन के कारण गति नहीं कर पाता अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करता है। ऐसा प्रतिबन्धक द्रव्य कर्म है। यानी जब तक आत्मा कर्मों से लिप्त रहता है, तब तक उसमें एक प्रकार की गुरुता रहती है। इसी गुरुता के कारण आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्व गतिशील होने पर भी ऊर्ध्व गति नहीं कर पाता।

सर्वकर्ममुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन : छह कारणों से

'भगवतीसूत्र' में गौतम स्वामी द्वारा अकर्मक (कर्ममुक्त) जीवों की गति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भगवान के द्वारा दिया समाधान इस प्रकार अंकित है– अकर्मक जीवों की भी ऊर्ध्व गति मानी जाती है। उसके छह कारण हैं (१) कर्मों का संग छूटने से, (२) मोह के दूर होने से (रागरहित होने से), (३) कर्मबन्धन के

---

१. 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन' (उपा. केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४६८

छेदन से, (४) गति-परिणाम (स्वभाव) से, (५) कर्मरूपी ईंधन के अभाव से, और (६) पूर्व प्रयोग से।[1]

(१) कर्मों का संग छूटने (संगरहितता) से–सर्वकर्ममुक्त आत्मा के कर्मों का संग छूट जाने से और उसके साथ लगे कर्मबन्धन टूट जाने पर कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता। अतः वह (मुक्तात्मा) अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगमन करता है।[2]

(२) पूर्व-प्रयोग से–यानी पूर्वबद्ध कर्म छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त आवेश (वेग) से। जैसे कुम्हार का चाक डण्डे और हाथ के हटा लेने पर भी पहले से प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता है, वैसे ही कर्ममुक्त जीव भी पूर्व कर्म से प्राप्त आवेग के कारण स्वभावानुसार ऊर्ध्व गति ही करता है। अथवा जैसे धनुष से तीर छूटते ही बिना किसी रुकावट के गति करता है, उसी प्रकार कर्मों का संग छूटने से, रागरहित (निर्लेप) हो जाने से, यावत् पूर्व प्रयोगवश कर्ममुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन माना जाता है।

(३) बन्धन-छेदन से–कर्मबन्धन-छेदन से कर्मरहित जीव शरीर छोड़कर एकदम ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे कलाई की फली, मूँग की फली, उड़द की फली या एरण्ड के फल (बीज) को धूप में सुखाने पर उस फली के या एरण्ड फल के टूटते ही उसका बीज एकदम छिटककर ऊपर की ओर उछलता है, वैसे ही कर्मबन्धन के टूटते ही कर्ममुक्त जीव शरीर को छोड़कर शीघ्र ऊर्ध्वगमन करता है।

(४) स्वाभाविक गति-परिणाम से–जिस प्रकार धुआँ ईंधन से विप्रमुक्त (रहित) होते ही बिना किसी व्याघात (रुकावट) के ऊर्ध्वगमन करता है, ठीक उसी प्रकार कर्ममुक्त जीव भी स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगमन करते हैं।[3]

अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्ममुक्त आत्मा (सिद्ध-परमात्मा) लोकाग्र भाग पर्यन्त जाकर वहाँ सादि-अनन्त वाले (शाश्वत) होकर सिद्ध-शिला पर विराजमान हो जाते हैं।

---

१. (क) अणुपुव्वेण अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगण-तलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्ग-पतिट्ठाणा भवंति।
–ज्ञाताधर्मकथा, अ. ६, सू. ६२

(ख) (प्र.) कहं णं भंते ! अकम्मस्स गति पन्नयति ?
(उ.) गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणाए, गतिपरिणामेणं, बंधण-छेयणयाए निरिंधणयाए पुव्व-पओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायति। –भगवती, श. ७, उ. १, सू. २६५

२. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९२, ९९५

३. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥
पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बंधक्षेदान्तथागति-परिणामाच्च तद्गतिः ॥६॥
–तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, अ. १०, सू. ५-६

मुक्तात्मा लोक के अग्र भाग में ही क्यों स्थित हो जाते हैं ?

सिद्ध-परमात्मा लोक के अग्र भाग में ही जाकर क्यों स्थित हो जाते हैं, आगे क्यों नहीं जाते? इसके दो कारण हैं–(१) शुद्ध निर्लिप्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का होने से, और (२) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकाकाश में ही हैं, आगे (अलोकाकाश) में नहीं होने से। धर्मास्तिकाय जीव की गति में और अधर्मास्तिकाय जीव की स्थिति में सहायक होता है, अलोकाकाश में ये दोनों न होने से अलोकाकाश में सिद्धों का गमन नहीं होता, न ही स्थिति होती है। अतः उनका गमन लोकान्त तक ही होता है, आगे नहीं। 'स्थानांगसूत्र' में बताया है–चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते–(१) आगे गति का अभाव होने से, (२) उपग्रह (धर्माधर्मास्तिकाय) का अभाव होने से, (३) लोकान्त भाग में परमाणुओं के रूक्ष होने से, और (४) अनादिकाल का स्वभाव होने से।

अतः सिद्ध-परमात्मा लोकाग्र प्रदेश में जाकर, अलोक से लगकर वहीं रुक जाते और सदा के लिए स्थित हो जाते हैं। कई लोग कहते हैं कि मुक्तात्मा अनन्त काल तक निरन्तर अविरत गति से अनन्त आकाश में ऊपर ही ऊपर गमन करता रहता है, कभी किसी काल में ठहरता नहीं; किन्तु यह कथन यथार्थ और युक्तिसंगत नहीं है।[1]

सिद्धगति की पहचान

सिद्ध भगवान जहाँ जाकर शाश्वतरूप में अवस्थित हो जाते हैं, वह कहाँ है? कितना लम्बा-चौड़ा है? उसके और क्या-क्या नाम हैं? 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इसका विवरण इस प्रकार है–वह सिद्धशिला सर्वार्थसिद्ध विमान (देवलोक) से १२ योजन ऊपर ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी गोलाकार छत्राकार है। वह मध्य में ८ योजन मोटी और चारों ओर से क्रमशः घटती-घटती किनारे पर मक्खी की पाँख से भी अधिक पतली होती है। वह पृथ्वी अर्जुन (श्वेत-स्वर्ण) मयी है, स्वभावतः निर्मल है और उत्तान (उलटे रखे हुए) छाते (छत्र) के आकार की है अथवा तेल से परिपूर्ण दीपक के आकार की है। वह शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुभ्र है। इसकी परिधि लम्बाई-चौड़ाई से तिगुनी, अर्थात्

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९२
(ख) धर्मास्तिकायाभावात्। –*सर्वार्थसिद्धि, अ. १०, सू. ५*
(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचाएंति बहिया लोगंता गमणयाए। तं जहा–गति-अभावेणं, निरुव्वगहयाए, लुक्खाए, लोगाणुभावेणं।
–*स्थानांग., स्था. ४, उ. ३, सू. ३३७*

१,४२,३०,२४९ योजन की है। इस सीता नामक ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त (सिरा) है।[1]

सिद्धशिला : पहचान, बारह नाम, सिद्धों का अवस्थान

इस सिद्धशिला के एक योजन ऊपर अग्र भाग में ४५ लाख लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष ३२ अंगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। उस सिद्धशिला के बारह नाम इस प्रकार हैं–(१) ईषत्, (२) ईषत्-प्राग्भारा, (३) तनु, (४) तनुतर, (५) सिद्धि, (६) सिद्धालय, (७) मुक्ति, (८) मुक्तालय, (९) लोकाग्र, (१०) लोकाग्र-स्तूपिका, (११) लोकाग्र-बुध्यमान, (१२) सर्व-प्राणभूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा।

सिद्धशिला के एक योजन के ऊपर का जो कोस है, उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना होती है।

निष्कर्ष यह है कि अनन्त ज्ञान-दर्शन से युक्त, संसार-पारंगत, परम गति = सिद्धि को प्राप्त वे सिद्ध-परमात्मा सिद्ध-लोक के एक देश में स्थित हैं।[2]

एक स्थान में अनेक सिद्ध कैसे रहते हैं ?

यहाँ प्रश्न होता है कि एक ही स्थान में अनेक सिद्ध कैसे रह सकते हैं? क्या वे परस्पर टकराते नहीं हैं? इसका समाधान यह है कि जैसे एक कमरे में रखे हुए अनेक दीपकों या बल्बों का प्रकाश परस्पर मिल जाता है, टकराता नहीं; एकरूप दृष्टिगोचर होने लगता है, इसी प्रकार अनेक सिद्धों के ज्योतिरूप आत्म-प्रदेश परस्पर अवगाढ़ होकर रहते हैं व स्थित हो जाते हैं। अमूर्त होने के कारण उनका एक-दूसरे में अवगाढ़ होने (समाने) में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। उनका व्यक्तित्व (आत्मा) भिन्न-भिन्न होते हुए भी, उनके आत्म-प्रदेश एक-दूसरे में समाये हुए रहते हैं। जैसे–घट, पट आदि की आकृति, प्रकृति भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही पुरुष की बुद्धि में ठहर (समा) जाती है, वैसे ही सिद्ध भगवन्तों के आत्म-प्रदेश परस्पर समा जाते हैं। जैसे एक ही पुरुष की बुद्धि में हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, बंगाली, मराठी, संस्कृत आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं का उच्चारण, प्रकृति-प्रत्यय आदि भिन्न प्रकार का होते हुए भी समभाव से रहती हैं, उनमें परस्पर संघर्ष नहीं होता, वे एकरूप होकर रहती हैं। इसी प्रकार 'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–जहाँ एक सिद्ध विराजमान है, वहाँ भव क्षय (जन्म-मरण सांसारिक

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३६, गा. ५७-६७
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९३

२. उत्तराध्ययन, अ. ३६, गा. ३७-६७

आवागमन के नष्ट) हो जाने से अनन्त सिद्ध हैं, वे परस्पर अवगाढ़ = एक-दूसरे में समाये हुए हैं। वे सब लोकान्त का–लोक के अग्र भाग का स्पर्श किये हुए हैं।

एक-एक सिद्ध समस्त आत्म-प्रदेशों द्वारा, अनन्त सिद्धों का पूर्ण रूप से संस्पर्श किये हुए हैं–एक-दूसरे में पूरी तरह समाये हुए हैं। उनसे भी असंख्यातगुण सिद्ध ऐसे हैं, देशों और प्रदेशों से एक-दूसरे में अवगाढ़ हैं।[1]

जैसे चक्षुरिन्द्रिय-जन्य ज्ञान से नाना प्रकार के आकार वाले पदार्थ ज्ञानात्मा में एकरूप से निवास करते हैं, इसी प्रकार अजर, अमर, अक्षय, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त इत्यादि विभिन्न नामों से युक्त सिद्ध भगवान भी एकरूप से विराजमान हैं।[2]

सिद्ध-मुक्त आत्माओं को अनन्त ज्ञान : कैसे होता है, कैसे नहीं ?

प्रश्न है–मुक्तात्मा के इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि नहीं होते हैं, तब वे अतीन्द्रिय केवलज्ञान से पदार्थों को कैसे जानते हैं? इसका समाधान यह है कि केवल (अनन्त) ज्ञान दर्पण की तरह है। जैसे दर्पण के सामने पदार्थों के होने से ही उसमें पदार्थ अपने आप झलकने लगते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा के केवलज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। अतः मुक्तात्मा केवलज्ञानी को पदार्थों के जानने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"अपनी आत्मा के जानने से सर्वज्ञ तीन लोक को जानता है, क्योंकि आत्मा के स्वभावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हो रहा है।" 'आचारांग' में भी कहा है–"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।"–जो एक पदार्थ को सर्वथा जानता–देखता है, वह सर्वपदार्थों को जानता–देखता है।

एक प्रश्न यह भी है–केवलज्ञानरूपी दर्पण में छोटे-बड़े सभी पदार्थ एक साथ कैसे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं? समाधान यह है कि आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय समस्त लोक और अलोक है। अतः अनन्त ज्ञान सर्वव्यापक (सर्वगत) है। 'भगवती आराधना' में कहा है–सर्वज्ञ का अनन्त ज्ञान

---

१. एक मांहि अनेक राजे, अनेक मांहि एकक्म्।

२. (क) जत्थ ए एगो सिद्धो, तत्थ अणंता, भवक्खय विप्पमुक्का।
अण्णोण-समोगाढ़ा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते॥९॥
फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं णियमसो सिद्धा।
तेवि असंखेज्जगुणा देसपएसेहिं जे पुट्ठा॥१०॥
–औपपातिकसूत्र, सिद्धाधिकार, गा. ९-१०

(ख) प्रज्ञापना, पद २

(ग) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९३-९४

युगपत् (एक साथ) समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थों को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है। मुक्तात्मा के इन्द्रियाँ और अन्तःकरण न होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा उन्हें अव्याबाध-सुख की उपलब्धि होती है। बाह्य पदार्थ भी उनके अतीन्द्रिय ज्ञान में झलकते हैं।[1]

सिद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व दैहिक अर्हताएँ

सिद्ध भगवान किस संहनन और संस्थान में सिद्ध-मुक्त होते हैं? इसका समाधान तथा उनकी अवगाहना और आयुष्य के विषय में समाधान करते हुए 'औपपातिकसूत्र' में कहा गया है–सिद्ध भगवान (छह संहननों = दैहिक अस्थिबन्धों में से) वज्रऋषभनाराच संहनन में सिद्ध होते हैं। वे छह संस्थानों (दैहिक आकार) में से किसी भी संस्थान में सिद्ध हो सकते हैं तथा मुक्तात्मा की सिद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व जघन्य (कम से कम) सात हाथ की अवगाहना (ऊँचाई = कद) से तथा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) पाँच सौ धनुष की अवगाहना से सिद्ध होते हैं। 'औपपातिकसूत्र' के अनुसार सिद्ध होने वाले जीवों की जो अवगाहना प्ररूपित की गई है, वह तीर्थंकरों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। भगवान महावीर स्वामी जघन्य सात हाथ की और भगवान ऋषभदेव उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना से सिद्ध हुए हैं। सामान्य केवलियों की अपेक्षा से यह कथन नहीं है, क्योंकि कूर्मापुत्र दो हाथ की अवगाहना से सिद्ध हुए और मरुदेवी माता की अवगाहना सिद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व ५०० धनुष से अधिक थी।

देह का त्याग करते समय अन्तिम समय में जो प्रदेशघन आकार (नाक, कान, उदर आदि रिक्त या पोले अंगों की रिक्तता या पोलेपन के विलय से घनीभूत बना हुआ जो आकार) होता है, वही आकार वहाँ (सिद्ध-स्थान में) रहता है। अन्तिम भव में दीर्घ या ह्रस्व (लम्बा-ठिगना, बड़ा-छोटा) जैसा भी आकार होता है, उससे तिहाई (१/३) भाग कम में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति या व्याप्ति) होती है। (जिनकी देह पाँच सौ धनुष की होती है, उन) सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ धनुष तथा तिहाई धनुष (३२ अंगुल) होती है, ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है। (सिद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व जिन मनुष्यों के देह की अवगाहना ७ हाथ परिमित होती है, उन) सिद्धों की मध्यम अवगाहना ४ हाथ तथा तिहाई भाग कम एक हाथ (यानी १६ अंगुल) होती है, ऐसा सर्वज्ञों ने बताया है। (सिद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व जिन मनुष्यों (कूर्मापुत्र आदि) की २ हाथ परिमित अवगाहना होती है, उन) सिद्धों की जघन्य

---

१. (क) 'जैनदर्शन में आत्म-विचार' से भाव ग्रहण, पृ. २८२
(ख) प्रवचनसार, गा. ९९, २३
(ग) भगवती आराधना, गा. २१४२

(न्यूनतम) अवगाहना एक हाथ तथा ८ अंगुल होती है, ऐसा सर्वज्ञों द्वारा भाषित है। निष्कर्ष यह है कि सभी प्रकार (उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य) की अवगाहना वाले मनुष्य अपने अन्तिम भव की अवगाहना से सिद्धत्व-प्राप्ति के बाद एक-तिहाई भाग कम अवगाहना से युक्त होते हैं। जो महाभाग सिद्ध-परमात्मा वृद्धावस्था और मृत्यु से विप्रमुक्त हो गये (सर्वथा छूट गये) हैं, उनका संस्थान (आकार) किसी भी लौकिक (संसारी अवस्था के) आकार से नहीं मिलता।

सिद्धत्व-प्राप्ति के समय कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य में तथा अधिक से अधिक करोड़ पूर्व के आयुष्य में सिद्ध होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आठ वर्ष या उससे कम की आयु वाले और करोड़ पूर्व से अधिक की आयु के जीव (मनुष्य) सिद्ध नहीं हो सकते।[1]

अनेक सिद्धों की अपेक्षा सिद्ध अनादि-अनन्त, एक सिद्ध की अपेक्षा सादि-अनन्त

अनेक सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध भगवान को अनादि-अनन्त कहा जाता है, किन्तु किसी एक मोक्षगत जीव की अपेक्षा से सिद्ध भगवान को सादि-अनन्त कहा जाता है, क्योंकि जिस काल में अमुक व्यक्ति मोक्ष पहुँचा है, उस काल की अपेक्षा उस मुक्तात्मा की आदि तो है परन्तु अपुनरावृत्ति होने से उसे अनन्त कहा जाता है। अतः जो अनादि-अनन्तयुक्त सिद्ध-पद है, उसमें पूर्वोक्त गुण सदा से चले आ रहे हैं। परन्तु जो सादि-अनन्त सिद्ध-पद है, उसमें उक्त गुण आठ कर्मों के क्षय होने से प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार सोना मलरहित हो जाने पर अपनी शुद्धता और चमक-दमक धारण करने लग जाता है, उसी प्रकार जब जीव सभी प्रकार के कर्ममल से रहित हो जाता है, तब अपनी शुद्ध निर्मल अनन्त गुणरूप निज दशा को शाश्वत रूप से धारण कर लेता है। 'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–सिद्ध भगवान वहाँ (लोकाग्र में) मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से सादि (आदि सहित) और अपर्यवसित (अन्तरहित = अनन्त) शाश्वत काल तक रहते हैं। जैसे अग्नि से सर्वथा दग्ध बीजों की पुनः अंकुरों के रूप में उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्मबीज दग्ध हो जाने के कारण सिद्धों की भी फिर जन्मोत्पत्ति नहीं होती।[2]

---

१. (क) औपपातिकसूत्र, सिद्धाधिकार, सू. १५६-१५८
   (ख) वही, सिद्धाधिकार, गा. ३-८
   (ग) वही, सिद्धाधिकार, सू. १५९

२. (क) एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
   पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य॥ —उत्तरा., अ. ३६, गा. ६५
   (ख) औपपातिकसूत्र, सू. १५५

मुक्त आत्मा न तो पुनः कर्मबद्ध होता है और न पुनः संसार में आता है

मुक्त दशा में आत्मा समस्त कषायादि वैभाविक आधेयों और कर्मोपाधिक विशेषताओं से सर्वथा रहित हो जाती है। सर्वथा शुद्ध-मुक्त आत्मा पुनः कर्म से शुद्ध नहीं होती। इसी कारण मुक्तात्मा का संसार में पुनरावर्तन (पुनरागमन) नहीं होता। पुनरावर्तन का हेतु है–कर्मचक्र। कर्मों का समूल नाश होने पर फिर उसका बन्ध नहीं होता। जब सिद्ध-परमात्मा सर्वकर्म-पुद्गलों से सर्वथा रहित हो चुके हैं, तब फिर पुनः कर्मबन्ध होने का सवाल ही नहीं है। कर्मबद्ध आत्माएँ ही कर्मों के स्थितिबन्ध से युक्त होती हैं, सर्वकर्ममुक्त आत्माएँ नहीं। जिस महान् मुक्तात्मा ने कर्मों का आत्यन्तिक नाश कर दिया है, वह पुनः कर्मलिप्त नहीं होता, वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। जो आत्मा एक बार कर्मों से विमुक्त हो जाती है, वह पुनः कभी कर्मबद्ध नहीं होती, क्योंकि उस अवस्था में कर्मों के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे "बीज के जल जाने पर उसमें पुनः अंकुरित (उत्पन्न) होने की शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार कर्मरूपी बीज के सर्वथा जल जाने पर फिर संसाररूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।"[1]

व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति दुष्कर्मों के कारण कारागृह में जाते हैं, उनकी स्थिति (सजा की अवधि) बाँधी जाती है। परन्तु जब वह सजा पूरी भोगने या सजा की अवधि पूर्ण हो जाने पर मुक्त (रिहा) कर दिया जाता है, तब फिर उसके लिए राजकीय पत्र (गजट) में ऐसा नहीं लिखा जाता कि "अमुक व्यक्ति सजा पूरी होने से कारागृह से मुक्त कर दिया गया, किन्तु उसे अमुक समय बाद पुनः कारागृह में डाला जायेगा।" अतः कर्मों से सर्वथा मुक्तात्मा का पुनः संसार में आगमन कदापि सम्भव और युक्तिसंगत नहीं है।[2]

'छान्दोग्योपनिषद्' और 'भगवद्गीता' में भी मुक्तात्मा के लिए इसी अपुनरागमन सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।[3]

---

१. जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा॥ —दशाश्रुतस्कंध, द. ५, गा. १२३

२. दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवतिनांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥ —तत्त्वार्थ भाष्य, का. ८

३. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १९३
(ख) न स पुनरावर्तते, न पुनरावर्तते। —छान्दोग्योपनिषद्
(ग) यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम। —भगवद्गीता, अ. ८, श्लो. २१

मुक्तात्मा का संसार में पुनरागमन के लिए विचित्र तर्क और खण्डन

कई लोग यह तर्क देते हैं कि एक बार मुक्त होने के बाद जब वह अपने धर्म-तीर्थ की हानि होते देखता है, तो करुणावश या धर्म-संस्थापनार्थ पुनः संसार में लौट आता है। 'द्रव्यसंग्रह' में कहा है–सदाशिववादी 900 कल्प-प्रमाण समय व्यतीत होने पर जब जगत् शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव का संसार में वापस आना मानते हैं।[1] अथवा कुछ दिन रहकर पुनः संसार में वापस आ जाता है। मुक्ति से पुनरागमन के पक्षधर एक और विचित्र तर्क देते हैं कि यदि मुक्त आत्माएँ पुनः संसार में लौटकर नहीं आएँगी, तो संसार खाली हो जायेगा, संसार में जीवों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि संसार से जितने जीव मुक्ति में चले जायेंगे, इतने कम हो जायेंगे, यों कम होते-होते एक दिन संसार जीवों से सर्वथा रिक्त हो जायेगा। किन्तु उनका यह तर्क निर्मूल है। आत्माएँ (जीव) अनन्त हैं। जो अनन्त हैं, उनका कदापि अन्त नहीं आ सकता। यदि अनन्त का भी अन्त माना जायेगा, तब तो उसे अनन्त कहना ही निरर्थक हो जायेगा।[2]

ईश्वरकर्तृत्ववादियों की मान्यता के अनुसार भी अनन्त संसार का कभी अन्त नहीं होता

ईश्वरकर्तृत्ववादियों की मान्यता है कि ईश्वर ने अनन्त बार सृष्टि उत्पन्न की और अनन्त बार उसका प्रलय किया, भविष्य में भी सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय करेगा। इस पर प्रश्न यह है कि अनन्त बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय करने में ईश्वर की शक्ति का अन्त हुआ या नहीं? इस पर उनका कहना है–ईश्वर तो अनन्त शक्तिमान् है, उसकी शक्ति का कभी अन्त हो नहीं सकता। यही बात हम कहते हैं कि संसार में जीव भी अनन्त हैं, उनमें से चाहे जितने जीव मुक्ति में चले जायें, फिर भी उनका अन्त नहीं आ सकता। संसार को अनादि-अनन्त मानने पर भी समग्र संसार कभी मुक्त नहीं हो सका, तब फिर भविष्य में इसका अन्त कैसे आ सकता है?

जो लोग मोक्ष का रहस्य नहीं जानते, वे ही प्रायः मोक्ष से वापस संसार में लौटने की युक्ति-विरुद्ध बात कहते हैं। वास्तव में ऐसे लोग स्वर्ग को मोक्ष समझते हैं। ब्रह्मलोक, गोलोक, वैकुण्ठ आदि स्वर्ग की कोटि में ही आ सकते हैं, मोक्ष की कोटि में नहीं। कर्मकाण्डी मीमांसकों तथा ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि के प्रवर्त्तकों ने मोक्ष को न मानकर स्वर्ग, Heaven, जन्नत आदि को ही विकास की अन्तिम मंजिल माना है।[3]

---

१. द्रव्यसंग्रह, गा. १४, पृ. ४०

२. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १९३

३. वही, पृ. १९३

सर्वकर्मों से मुक्त होने वाले साधकों की चार श्रेणियाँ

मुक्त होने वाले प्रथम श्रेणी के साधक वे होते हैं, जिनके कर्म का भार अल्प होता है, पर उनका साधनाकाल दीर्घ (लम्बा) हो सकता है। परन्तु उन्हें न तो असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं और न कठोर तप करना आवश्यक होता है। जैसे–भरत चक्रवर्ती।

मुक्त होने वाले द्वितीय श्रेणी के साधक वे होते हैं, जिनके कर्म का भार भी अल्पतर होता है और साधनाकाल भी अल्पतर होता है। वे अल्प तप और अल्प कष्ट का अनुभव करते हुए सहजभाव से मुक्त होते हैं। यथा–मरुदेवी माता।

तृतीय श्रेणी के मुक्तात्मा वे होते हैं, जिनका कर्मभार तो अधिक होता है, किन्तु साधनाकाल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव करके मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के मुक्तात्माओं में गजसुकुमार मुनि का नाम उल्लेखनीय है।

चतुर्थ श्रेणी के मुक्तात्माओं का कर्मभार अत्यधिक होता है, उनका साधनाकाल भी दीर्घतर होता है। इस श्रेणी के साधकों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।[1]

मोक्ष में मुक्त आत्माएँ अनन्त आत्म-सुखों में लीन रहती हैं

मुक्त आत्माएँ मोक्ष में अनन्त आत्मिक-सुखों में लीन रहती हैं। 'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–सिद्धों को जो अव्याबाध (सर्वथा विघ्न-बाधारहित) शाश्वत सुख प्राप्त है, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समग्र देवों को ही। तीनों कालों से गुणित देवसुख को यदि अनन्त बार वर्ग वर्गित (वर्ग को वर्ग से गुणित) किया जाये तो भी वह मोक्ष सुख के समान नहीं हो सकता। सिद्धों का सुख अनुपमेय है, फिर भी उसे उपमा द्वारा विशेष रूप से समझाया जाता है। जैसे कोई पुरुष अपने मनचाहे सभी गुणों (विशेषताओं) से युक्त भोजन करके भूख-प्यास से मुक्त होकर अपरिमित तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार सर्वकाल तृप्त अनुपम शान्तियुक्त सिद्ध भी शाश्वत एवं अव्याबाध परम सुख में सदा निमग्न रहते हैं। मुक्तावस्था में कर्मों की कोई उपाधि न रहने से, शरीर, इन्द्रिय एवं मन का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस कारण मुक्तात्मा जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि एवं वेदना से छुटकारा पाकर सदैव निर्बाध शाश्वत आत्मिक-सुखों का अनुभव करते हैं, वह सुख विषयों से अतीत, निर्बन्धन और निरुपाधिक है। संक्षेप में, मुक्तात्माओं

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १९९-२००
(ख) स्थानांगसूत्र, ठा. ४

को मोक्ष में अक्षय, अव्यय, अव्याबाध, अनुपमेय, अनिर्वचनीय एवं शाश्वत सुख प्राप्त होता है।[1] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी इसका समर्थन किया गया है।[2]

परिपूर्ण सर्वकर्ममुक्त आत्माओं के पूर्ण आध्यात्मिक विकास का क्रम ऐसा ही क्यों ?

'श्रमणसूत्र' में निर्ग्रन्थ-प्रवचन (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र धर्म) की महिमा बताकर अन्त में मुक्तात्मा के परिपूर्ण आध्यात्मिक विकास के क्रम का निरूपण किया गया है–"इत्थंठिआ जीवा सिज्झंति।"–इस पूर्वोक्त धर्म में स्थित जीव, अर्थात् इस निर्ग्रन्थ प्रवचनोक्त मार्ग द्वारा ज्ञानादि रत्नत्रय की प्राणप्रण से साधना करने वाले जीव (मानव) सिद्ध हो जाते हैं। इसका फलितार्थ यह हुआ कि इस प्रवचनोक्त मार्ग द्वारा रत्नत्रय की साधना करने वाले के आत्म-गुणों का अनन्त रूप से परिपूर्ण विकास हो जाता है। अनन्त आत्म-गुणों का परिपूर्ण विकास इन ज्ञानादि गुणों की अनन्तता में है, पहले नहीं। जैनदर्शन अपूर्ण अवस्था को संसार ही कहता है, सिद्धत्व या मोक्ष नहीं। जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य (शक्ति), सत्य और सुख अनन्त न हो, किं बहुना, प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक वह सिद्धि या मुक्ति स्वीकार नहीं करता। और वह अनन्त आत्म-गुणों की पूर्णता अपनी साधना द्वारा ही प्राप्त होती है, किसी दूसरे के देने से नहीं। इसलिए 'सिज्झंति' (सिद्ध होते हैं–परिनिष्ठितार्थ होते हैं) पद का प्रयोग सर्वप्रथम किया गया है।

इसके पश्चात् पद है–बुज्झंति (बुद्ध = केवलज्ञानी = अनन्त ज्ञानी हो जाते हैं)। प्रश्न है–आध्यात्मिक विकास-क्रम स्वरूप चौदह गुणस्थानों में, अनन्त ज्ञानादि तो तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं, सिद्धत्व अवस्था तो इनके पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है। अतः सिज्झंति के बाद बुज्झंति कहने का क्या अर्थ है? विकास-क्रम के अनुसार–'बुज्झंति' का प्रयोग 'सिज्झंति' से पहले होना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि केवलज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में ही हो जाता है, यह सत्य है, अतः विकास-क्रम के अनुसार बुद्धत्व का क्रम पहले और सिद्धत्व का बाद में होना चाहिए, किन्तु सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है। वैशेषिक दर्शनानुसार–'मोक्ष में ज्ञान नष्ट हो जाता है', इस विपरीत मान्यता का खण्डन करके 'मोक्ष में ज्ञान बना रहता है'; इस तथ्य को अभिव्यक्त करने हेतु सिद्धत्व के बाद बुद्धत्व का क्रम रखा है।

ज्ञान आत्मा का निज गुण है, उसका उच्छेद मोक्ष प्राप्त आत्मा में हो जाये तो सर्वथा ज्ञानहीन जड़ पत्थर-सी होकर आत्मा क्या करेगी? दूसरी बात–आत्मा

---

१. औपपातिकसूत्र, सिद्धाधिकार, गा. १३-१९

२. उत्तराध्ययन, अ. २३, गा. ८१

अनन्त ज्ञानी होने पर ही निजानन्द की अनुभूति कर सकती है? बुद्धत्व के बिना सिद्धत्व का कुछ भी मूल्य नहीं है। अतः सिद्ध हो जाने के बाद बुद्धत्व का रहना अत्यावश्यक है। ज्ञान और आत्मा में तो तादात्म्य है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ही तो है। जब ज्ञान ही नहीं तो आत्मा का ही अस्तित्व कहाँ रहेगा? मोक्ष में तो सिद्ध-परमात्मा सदा अपने अनन्त ज्ञान के प्रकाश से जगमगाते रहते हैं। वहाँ कभी अज्ञानान्धकार प्रवेश नहीं कर सकता।

'बुज्झंति' के बाद 'मुच्चंति' पद है। जिसका अर्थ है–कर्मों से मुक्त हो जाना। जब तक एक भी परमाणु आत्मा से श्लिष्ट रहेगा, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। मोक्ष का स्वरूप ही है–समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय होना। मोक्ष में न तो ज्ञानावरणीय आदि कर्म रहते हैं और न ही उन कर्मों के पंचविध कारण रहते हैं, न ही कर्मों के बीज राग-द्वेष ही रहते हैं। किसी भी प्रकार का औदयिकभाव मोक्ष में नहीं रहता; तभी साधक पूर्णतया मुक्त कहला सकता है।[1]

इस सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि समस्त कर्मों का क्षय ही मोक्ष है और सर्वकर्मक्षय होने पर ही सिद्धत्वभाव प्राप्त होता है, जोकि मोक्ष के पूर्व अवश्यमेव हो जाता है। फिर यह 'मुच्चंति' पद देकर पुनः कर्मों से मुक्त होने का स्वतंत्र उल्लेख क्यों किया गया?

इसका समाधान यह है कि कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि मोक्ष अवस्था में भी कर्म रहते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष का अर्थ कर्मों से मुक्ति नहीं, अपितु कर्मफल को भोगना मुक्ति है। जब तक शुभ कर्मों का सुखरूप फल पूर्णतः भोगा नहीं जाता, तब तक आत्मा मोक्ष में रहती है। ज्यों ही फलभोग पूर्ण हुआ, त्यों ही फिर संसार में लौट आता है। जैनदर्शन के सिद्धान्तानुसार यह तो स्वर्ग का ही रूप है, मोक्ष का नहीं। मोक्ष का अर्थ तो कर्मों से सर्वथा छूटना है। मोक्ष में भी कर्म और कर्मफल रहे तो फिर मोक्ष और संसार में अन्तर ही क्या रहा? मोक्ष भी मानना और कर्मबन्ध भी मानना; यह तो वदतो व्याघात है। फिर कर्मजन्य सुख कदापि दुःख से रहित नहीं हो सकता। कर्म होंगे, तो कर्मजनित जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि दुःख भी होंगे। अतः कर्मजन्य सुख भी परस्पर एक-दूसरे से ईर्ष्या, द्वेष, वियोग, अल्प-संयोग, निराशा आदि सुख के बीज बोने वाला होगा। इस प्रकार उनके तथाकथित मोक्ष में भी अनेकानेक दुःखों की परम्परा चल पड़ेगी। इसलिए मुक्तात्मा के लिए सिद्ध-बुद्ध होने के पश्चात् मुक्त–सभी कर्मों से सदा के लिए मुक्त होने की बात 'मुच्चंति' पद से प्रगट की है और मुक्तात्मा सभी प्रकार के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक-आधिदैविक दुःखों का अन्त भी

---

१. इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं ..... सव्वदुक्खपहीणमग्गं; इत्थंठिआ जीवा सिज्झंति, बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति .....।" —आवश्यकसूत्र, श्रमणसूत्र पाठ

कर देते हैं। इसे द्योतित करने के लिए मुच्चंति के बाद परिनिव्वायंति (परिनिर्वाणयुक्त हो जाते हैं, परम सुखी हो जाते हैं) शब्द का प्रयोग किया गया है।

'परिनिव्वायंति' पद के प्रयोग द्वारा एक तो तथाकथित स्वर्गसम कर्मजन्य सुखवादी लोगों की उक्त मान्यता का निराकरण किया गया है। दूसरे–बौद्ध निर्वाण के समान जैनदर्शन निर्वाण को दीपक के बुझ जाने की तरह आत्मा को अस्तित्वहीन हो जाना नहीं मानता। बौद्धदर्शन रोगी का अस्तित्व ही समाप्त हो जाने पर कहता है–अब रोग नहीं रहा। जैनदर्शन रोगी के रागादि या कर्मादि रोगों को नष्ट करता है, स्वयं रोगी को नहीं। कर्मरोग को नष्ट करने के साथ-साथ आत्मा का भी नाश (अभाव) होना, मानना न तो आनन्द का कारण है, न ही ज्ञान-दर्शन का।

वैशेषिक दर्शन आत्मा का अस्तित्व तो मानता है, किन्तु साथ ही आत्मा के मुक्त होने पर उसमें ज्ञान, सुख-दुःख आदि का अभाव-उच्छेद-विनाश मानता है। जैनदर्शन मोक्ष में दुःखभाव तो मानता है, किन्तु सुखभाव नहीं। मोक्ष में सुख तो ससीम से असीम हो जाता–अनन्त प्राप्त हो जाता है। किन्तु वह भौतिक–पौद्गलिक कर्मजन्य सुख नहीं, आत्मिक अव्याबाध-सुख मोक्ष में है। अतः जैनधर्म का परिनिर्वाण न तो आत्मा का बुझ जाना (अस्तित्वहीन हो जाना) है और न सुखाभाव रूप है, वह दुःखाभाव रूप तो है ही, उससे भी बढ़कर असीम–अनन्त सुखरूप है। अतः मुक्तात्मा अनन्त सुखी हो जाते हैं, यह तथ्य परिनिव्वायंति पद द्वारा व्यक्त किया गया है।

इसके पश्चात् सबसे अन्त में–"सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।" (समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं।) ये पद इसलिए दिये हैं कि सांख्य आदि दर्शन पुरुष (आत्मा) को कर्मबन्ध से सदैव रहित और न तत्फलस्वरूप दुःखादि से युक्त मानते हैं। वे इन्हें जड़ प्रकृति के धर्म मानते हैं। प्रश्न है–कर्म और तज्जन्य दुःखरूप फल आत्मा को लगते ही नहीं, तब आत्माएँ दुःखी क्यों? साधना किसलिए? कर्म ही कर्मफल जब तक लगा रहेगा, तब तक संसार ही तो है, मोक्ष कहाँ? अतः कर्म और तज्जन्य समस्त दुःखादि का अन्त करने पर ही आत्माएँ मुक्त हो जाती हैं। इसे द्योतित करने हेतु 'सव्वदुक्खाणमंतं करेंति' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिसके दो अर्थ होते हैं–समसा शुभाशुभ कर्मों का या कर्मजन्य दुःखों का अन्त कर देते हैं।"[1]

सिद्ध-परमात्मा की मौलिक पहचान : आठ आत्मिक गुणों के द्वारा

सिद्ध-परमात्मा सिद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों का समूल नाश करके जन्म-मरणरूप संसार से, समस्त शरीरादि से सर्वथा मुक्त हो

१. 'श्रमणसूत्र' (उपा. अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ३२८-३३१

जाते हैं। कर्मों के कारण आत्मा की ज्ञानादि शक्तियाँ दबी रहती हैं। मुक्त दशा में उनका सर्वथा क्षय हो जाने से मुक्तात्माओं में आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता के सूचक मुख्य आठ आध्यात्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त अव्याबाध-सुख, (४) क्षायिक सम्यक्त्व, (५) अव्ययत्व (अक्षय स्थिति), (६) अमूर्तिक (अरूपित्व), (७) अगुरुलघुत्व, और (८) अनन्त बलवीर्यत्व (अनन्त आत्म-शक्ति)। 'धवला' के अनुसार आठ कर्मों के क्षय से सिद्धों में उत्पन्न होने वाले नौ गुण इस प्रकार हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त सुख, (४) क्षायिक सम्यक्त्व, (५) अकषायत्वरूप चारित्र, (६) जन्म-मरणरहितता (अवगाहनत्व), (७) अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), (८) उच्च-नीचरहितता (अगुरुलघुत्व), और (९) पंचक्षायिक लब्धि (अनन्त शक्ति = क्षायिक दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य)। 'भगवती आराधना' में छह आत्यन्तिक गुण बताये हैं–(१) अकषायत्व, (२) अवेदत्व, (३) अकारकत्व, (४) देहराहित्य, (५) अचलत्व, और (६) अलेपत्व।

किस कर्म के सर्वथा क्षय से कौन-सा गुण प्रकट होता है और उसकी क्या विशेषता है? यह देखना चाहिए–

(१) अनन्त ज्ञान–पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान में आत्मा का अभिन्न ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, जिससे मुक्तात्मा सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानने लगते हैं। इसी को केवलज्ञान तथा सर्वज्ञता कहते हैं।

(२) अनन्त दर्शन–नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से आत्मा का दर्शनगुण पूर्णतया प्रकट हो जाता है। इससे मुक्तात्मा सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखने (सामान्य रूप से जानने) लगते हैं। यही केवलदर्शन है।

(३) अनन्त अव्याबाध-सुख–दो प्रकार के वेदनीय कर्म के क्षय से उन्हें अव्याबाध (जिसमें किसी प्रकार की बाधा–रुकावट न आये ऐसा अनन्त) सुख प्राप्त होता है। वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा क्षणिक, भौतिक, वैषयिक नश्वर एवं काल्पनिक सुख तथा दुःख का अनुभव (वेदन) करता है। वास्तविक एवं स्थायी निराबाध आत्मिक-सुख की प्राप्ति तथा शारीरिक-मानसिक, आधि भौतिक, आधि दैविक, आध्यात्मिक आदि दुःखों का नाश, वेदनीय कर्म के सर्वथा क्षय से होता है; उन्हें किसी प्रकार की बाधा–पीड़ा नहीं होती। बल्कि अनन्त सिद्धों के आत्म-प्रदेश परस्पर अवगाहित (सम्मिलित) होना भी अव्याबाध-सुखोत्पादक होता है। उनके आत्म-प्रदेश परस्पर अवगाढ़ (सम्मिलित) हो जाने पर भी कोई बाधा–पीड़ा नहीं होती। यही अनन्त सुख की विशेषता है।

(४) क्षायिक सम्यक्त्व–दो प्रकार के मोहनीय कर्म (दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय) का क्षय हो जाने से सिद्धों को क्षायिक सम्यक्त्व के साथ क्षायिक चारित्र भी प्राप्त होना चाहिए, किन्तु शरीराभाव होने से सिद्धों बाह्य (आचरणरूप) चारित्र नहीं होता, किन्तु (धवला के अनुसार) उनमें चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न अकषायत्वरूप चारित्र की उज्ज्वलता है; पूर्ण समता और पूर्ण निराकुलता है। इससे वे सतत स्वरूपरमण करते हैं।

(५) अव्ययत्व (अक्षय स्थिति)–मोक्ष में गया हुआ जीव वापस (संसार में) नहीं आता, वहीं रहता है, इसी को अक्षय स्थिति कहते हैं। चारों प्रकार के आयुष्य कर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध-परमात्मा को अव्ययत्व (अजर-अमरत्व) गुण प्राप्त हुआ। जब तक आयुकर्म रहता है, तब तक जीव आयुकर्म के उदय से जिस गति में जितनी आयु बाँधता है, उतने काल तक वहाँ रहकर फिर दूसरी गति में चला जाता है। उस दौरान बाल्य, यौवन, वार्धक्य, रोगित्व-निरोगित्व आदि दशा की सम्भावना रहती है। आयुकर्म स्थितियुक्त है। जब आयुकर्म के प्रदेश आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाते हैं, आयुकर्म नष्ट हो जाता है, तब वहाँ स्थिति की मर्यादा नहीं रहती। इसलिए वहाँ सिद्ध-प्रभु की अक्षय स्थिति होती है। मोक्ष में गया हुआ जीव सादि-अनन्त, अजर, अमर अव्यय हो जाता है। वह अव्ययत्व गुण से युक्त हो जाते हैं। अक्षय स्थिति के साथ सिद्धों की अवगाहना भी अटल (निश्चित अचल) हो जाती है। इसलिए सिद्ध-परमात्मा में अटल अवगाहना गुण भी पाया जाता है।

(६) अमूर्तिक (अरूपित्व)–दो प्रकार के नामकर्म (शुभ नामकर्म-अशुभ नामकर्म) का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान में अमूर्तिक (अरूपित्व) गुण प्रकट हुआ। नामकर्म के कारण अच्छे-बुरे शरीर, इन्द्रिय, अंगोपांग, जाति आदि का तथा तज्जनित यश-अपयश, गति (चाल-ढाल), संघात, संहनन आदि का भी निर्माण होता है। नामकर्म वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पुद्गलजन्य होता है। औदारिक शरीर आदि के कारण जीवरूपी कहलाता है। जब नामकर्म का सर्वथा क्षय कर दिया तो सिद्ध-परमात्मा शरीरादि तथा वर्णादि से रहित हो गये। शरीरादि तथा वर्णादि से रहित सिद्ध भगवान अशरीरी, निरंजन, निराकार, अरूपी और अमूर्तिक हो गये। शुद्ध आत्मा का निज गुण अमूर्तिक है, अरूपी है।

(७) अगुरुलघुत्व–द्विविध गोत्रकर्म (उच्चगोत्र-नीचगोत्र) का क्षय हो जाने से सिद्ध-प्रभु अगुरुलघुत्व गुण से युक्त हो गये। जब गोत्रकर्म रहता है, तब उच्चगोत्र के कारण नाना प्रकार के गौरव (गुरुता) की प्राप्ति होती है, तथैव नीचगोत्र के कारण नाना प्रकार की लघुता (हीनता-तिरस्कार) का सामना करना पड़ता है। जब गोत्रकर्म का सर्वथा क्षय हो गया, तब गुरुता-लघुता = उच्चता-नीचता या

सम्मान-अपमान या भारीपन-हल्कापन सिद्ध-बुद्ध शुद्ध परम आत्मा में नहीं रहे और सिद्ध भगवान अगुरुलघुत्व गुण के धारक हो गये।

(८) अनन्त बलवीर्यत्व (अनन्त आत्म-शक्ति)—आत्मा में अनन्त शक्ति है, किन्तु अन्तराय कर्म के कारण वह दबी हुई है। पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से सिद्धों में उक्त प्रकार का अनन्त बलवीर्यत्व (अनन्त आत्मिक-शक्ति = दानादि पंचविध लब्धि) प्रकट हुआ और वे अनन्त शक्तिमान् हो गये।

ये आठ पूर्ण आध्यात्मिक विकास के प्रतीक गुण हैं। इन आठ विशिष्ट गुणों से सिद्ध-मुक्त आत्माओं के स्वरूप की पहचान होती है।[1]

अष्ट कर्मों के पूर्ण क्षय से सिद्ध-परमात्मा में कौन-कौन-से आठ गुण प्रकट होते हैं ?

सिद्ध-परमात्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानते-देखते हैं। उनको ज्ञान और दर्शन अबाध होता है। अपने स्वरूप से वे कदापि स्खलित नहीं होते। उन्हें जानने-देखने में बाहरी पदार्थ रुकावट नहीं डाल सकते। उनकी आत्म-श्रद्धा परिपूर्ण, अक्षय और अबाध होती है। उसे ही जैन परिभाषा में क्षायक सम्यक्त्व कहते हैं। उनका आत्मिक-सुख (आनन्द) अव्याबाध और अखण्ड होता है। वे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति से रहित होते हैं। जो अक्षय अव्याबाध आत्मिक-सुख सिद्ध-परमात्मा को प्राप्त होता है, उतना सुख देवों या चक्रवर्ती आदि विशिष्ट मानवों को कथमपि प्राप्त नहीं होता। उस अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख के समक्ष भौतिक, पौद्गलिक या अन्य सुख क्षुद्रतम प्रतीत होते हैं। साता-असातावेदनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से अब शरीर और शरीर से सम्बद्ध सुख-दुःख से उन्हें कोई वास्ता नहीं रहता। अनन्त अव्याबाध आत्मिक सहज सुख (आनन्द) गुण से सम्पन्न हो जाते हैं। शरीर से सम्बद्ध जन्म-मरणादि से रहित होने से अमूर्त्तत्व (अरूपी) गुण से, नाम-गोत्रादि की शुभाशुभता, उच्च-नीचता से रहित होने से अगुरुलघुत्व और अटल अवगाहनत्व गुण से तथा नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देवरूप आयुष्य से रहित होने के कारण अजर-अमर-अक्षय गुण से सम्पन्न हो चुकते हैं। निष्कर्ष यह है शरीर आदि से सम्बद्ध चार भवोपग्राही अघातिकर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म) का सर्वथा क्षय होने से अब शरीर और शरीर से सम्बद्ध पर्यायों

---

१. (क) 'जैनतत्त्वप्रकाश' (पू. आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ११७
(ख) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ३, बोल ५६७
(ग) धवला ७/२, १, ७, गा. ४-११, १४-१५ का भावार्थ (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. ३ से उद्धृत)
(घ) अकषायत्वमवेदत्वमकारकदाविदेहदा चेव।
अचलत्त-मलेपत्तं च हुंति अव्वंतियाई से॥ —भगवती आराधना २१५७/१८४७

के द्वारा होने वाली या सांसारिक सुख-दुःख से होने वाली अनुभूति उन्हें नहीं होती। न उनमें अब जन्म-मरण आदि की पर्याय होती है और न ही शरीर के विभिन्न रूपों की पर्याय होती है और न उनमें गुरुलघुभाव होते हैं।[1]

इन आठ विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों से सिद्ध-मुक्त आत्माओं को सम्यक् रूप से परखा जा सकता है।

सिद्ध भगवान में ये आठ गुण गुणस्थान क्रम से कैसे-कैसे प्रगट होते हैं ?

इन आठ आध्यात्मिक गुणों से मुक्तात्मा किस-किस क्रम से कैसे-कैसे सम्पन्न होते हैं? इसके लिए जैनदर्शन ने गुणस्थान-क्रमारोह बताया है। संक्षेप में, मुक्ताओं का विकास-क्रम इस प्रकार है–चतुर्थ गुणस्थान से दृष्टि यथार्थ बनती है। आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति ही आत्म-जागृति का पहला सोपान है। इसमें आत्मा अपने स्वरूप को 'स्व' तथा बाह्य पदार्थों को 'पर' जान ही नहीं लेती, उसकी श्रद्धा भी तदनुरूप दृढ़ हो जाती है। इस दशा वाली आत्मा को **अन्तरात्मा**, सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इससे पहले के तीन गुणस्थानदशा वाली आत्मा **बहिरात्मा**, मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि कहलाती है।

इस अध्यात्म जागरण के पश्चात् पाँचवें, छठे गुणस्थान-सोपानों के माध्यम से आत्मा अपनी कर्ममुक्ति के लिए आगे बढ़ती है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के सहारे सम्यक्चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों सम्यक्चारित्र और पथ में सम्यक्तप की शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों कर्मवर्गणाओं का आकर्षण कम होता जाता है। द्रव्य-भावात्मक सम्यक्त्वादि पंचविध संवर से नई आती हुई और सकामनिर्जरा से प्राचीन बँधी हुई कर्मवर्गणाएँ शिथिल होती जाती हैं। सातवें से बारहवें गुणस्थान के सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीरदशा में भी घातिकर्मावरण से रहित हो जाती है। चार आत्मिक-गुण (अनन्त ज्ञानादि) तो पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं, बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, वीतरागभाव (यथाख्यातचारित्र) एवं आत्म-शक्ति का परिपूर्ण, निराबाध, अप्रतिहत तथा बाह्य पदार्थों से अप्रभावित विकास हो जाता है। ऐसी स्थिति में भव या आयुष्य को टिकाये रखने वाली चार भवोपग्राही कर्मवर्गणाएँ जो बाकी रही थीं, वे भी अन्त में चौदहवें गुणस्थान में टूट जाती हैं और वह आत्मा पूर्ण सिद्ध-बुद्ध-मुक्त तथा बाह्य प्रभावों से सर्वथा रहित एवं सर्वकर्म बन्धनों से मुक्त परमात्मा बन जाती है।[2]

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९९, १०९

२. 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' से भाव ग्रहण, पृ. २२७

सिद्ध-परमात्मा में प्रादुर्भूत होने वाले इकतीस गुणों का विवरण

यद्यपि सिद्ध-परमात्मा में अनन्त गुण होते हैं, तथापि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से उनमें इकतीस गुण विशेष रूप से आविर्भूत हो जाते हैं। वस्तुतः शुद्ध आत्मा ज्ञानस्वरूप और अनन्त गुणों के समुदाय रूप है, परन्तु संसारी आत्माओं के वे गुण कर्मजन्य उपाधिभेद से आवृत, सुषुप्त, कुण्ठित एवं दूषित हो रहे हैं, जबकि सिद्ध-परमात्मा उन आठ ही कर्मों को सभी भेदों सहित निर्मूल कर देते हैं, इसलिए उनमें अष्टविध कर्मों के क्षय से आठ तथा उत्तर-प्रकृतियों सहित क्षय हो जाने से इकतीस गुण पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं। जैसे सूर्य सहस्र किरणों से प्रकाशमान होने पर भी बादलों से आच्छादित हो जाने पर उसका प्रकाश आवृत हो जाने से दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार आत्मा भी (निश्चयदृष्टि से) ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण प्रकाशमान है, परन्तु कर्मरूप आवरण आ जाने से वे गुण दिखाई नहीं देते। सिद्ध-परमात्मा अपनी आत्मा पर छाये हुए कर्मावरणों को दूर कर देते हैं, अतएव वे गुण उनमें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो उठते हैं। फिर उस शुद्ध आत्मा को सिद्ध-बुद्ध, अजर, अमर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् इत्यादि शुभ नामों से पुकारा जाता है। वे आविर्भूत होने वाले इकतीस गुण 'समवायांगसूत्र' में इस प्रकार उल्लिखित हैं–

(१-५) (१) सिद्ध-परमात्मा के आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के अट्ठाईस भेदों पर आये हुए आवरणों का, (२) श्रुतज्ञान के चौदह भेदों पर आये हुए आवरणों का, (३) अवधिज्ञान के छह भेदों पर आये हुए आवरणों का, (४) मनःपर्यायज्ञान के दो भेदों पर आये हुए आवरणों का, एवं (५) केवलज्ञान के केवल एक भेद पर आये हुए आवरण का भी क्षय हो चुका है। अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियों के आवरण दूर हो जाने से सिद्ध भगवान पंचगुणयुक्त केवलज्ञानी और सर्वज्ञ कहलाते हैं।

(६-१४) [१-४] चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन पर आये हुए आवरण का क्षय हो चुका है। [५-९] निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, ऐसी पंचविध निद्रारूप अवस्था भी सिद्ध-प्रभु की समाप्त हो चुकी। इस प्रकार दर्शनावरण की नौ उत्तर-प्रकृतियों का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान नौ गुण युक्त अनन्त (केवल) दर्शी–सर्वदर्शी कहलाते हैं।

(१५-१६) सिद्ध भगवान के वेदनीयकर्म की सातावेदनीय-असातावेदनीयरूप दोनों प्रकृतियाँ क्षीण हो चुकी हैं, इसलिए वे दो गुणों से युक्त अक्षय, अव्याबाध, अनन्त आत्मिक-सुख (निजानन्द) में मग्न हैं।

(१७-१८) मोहनीयकर्म की दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनों प्रकृतियों का क्षय हो जाने से दो गुणों से युक्त सिद्ध-परमात्मा क्षायिक सम्यक्त्व के धारक हो जाते हैं।

(१९-२२) आयुष्यकर्म की चारों प्रकृतियों (नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु) के क्षय हो जाने से चार गुणों से युक्त सिद्ध-प्रभु तिरायु, शाश्वत एवं अव्यय कहलाते हैं।

(२३-२४) नामकर्म की शुभ नाम और अशुभ नाम, दोनों प्रकृतियों के क्षय हो जाने से दो गुणों से युक्त सिद्ध भगवान अमूर्तिक अरूपी हो चुके हैं तथा अनादि, अनन्तरूप नामसंज्ञा से, यानी अनन्त गुणों की अपेक्षा से अनन्त संज्ञा से अभिहित हैं।

(२५-२६) गोत्रकर्म की दोनों प्रकृतियों (उच्चगोत्र-नीचगोत्र) के न रहने से सिद्ध भगवान की उच्च-नीच दशा समाप्त हो गई और दो गुणों से युक्त हो अगुरुलघुत्व गुण से सम्पन्न हो गये।

(२७-३१) अन्तरायकर्म की पाँचों प्रकृतियों (दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तराय) से युक्त वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से वे पाँचों अनन्त शक्तियाँ (लब्धियाँ) सिद्ध भगवान में प्रादुर्भूत हो गईं। इस कारण सिद्ध-परमात्मा अनन्त शक्तिमान् कहलाते हैं।[1]

सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) के विषय में जैनधर्म की उदारता

जैनदर्शन के अनुसार कोई भी मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ हो या साधु-संन्यासी, चाहे उसकी दार्शनिक मान्यताएँ या क्रियाकाण्ड जैनधर्म या जैन-सम्प्रदाय के अनुसार हो अथवा अन्य धर्म (तीर्थ), संघ या सम्प्रदाय के अनुसार हो, वह भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है, बशर्ते कि वह कषायों से सर्वथा मुक्त हो जाये अथवा राग-द्वेष, मोह, ईर्ष्या, आसक्ति, द्रोह, दम्भ, निदानशल्य, मिथ्यादर्शन आदि से सर्वथा छुटकारा पा ले। भगवान राम, हनुमान जी, पाँचों पाण्डव आदि को भी जैनधर्म के इतिहास में विदेहमुक्त सिद्ध-परमात्मा माना गया है।

जैनधर्म वेशपूजक या क्रियाकाण्डपूजक नहीं है, न ही वह केवल व्यक्तिपूजक है। अपितु गुणपूजक अवश्य है। उसका यह दावा नहीं है कि जैनधर्म या जैन-सम्प्रदाय में साधुधर्म में दीक्षित होने वाले अथवा उसके अनुयायी बनने वाले नर-नारी ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। न ही जैनधर्म की यह संकीर्ण विचारधारा है कि उसकी जैसी ही मान्यता, क्रियाकाण्ड या वेशभूषा आदि वाले व्यक्ति ही मुक्त या सिद्ध हो सकते हैं, अन्य धर्म-सम्प्रदायीय मान्यता, वेशभूषा या क्रियाकाण्ड आदि

१. एक्कतीसं सिद्धाइगुणा पण्णता, तं.–खीणे ··· खीणे वेयणिअंतराए।
—समवायांगसूत्र, समवाय ३१

वाले व्यक्ति नहीं हो सकते, न हुए हैं, न होंगे। यही कारण है कि हरिकेशबल मुनि जैसे तथा चित्त मुनि जैसे चाण्डाल कुलोत्पन्न तथा महर्षि मैतार्य मुनि जैसे भंगी (मेहतर) जाति में उत्पन्न व्यक्तियों ने भी अपनी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की साधना में अप्रमत्तभाव से पुरुषार्थ किया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं। १,१४१ व्यक्तियों की हत्या करने वाले मालाकारजातीय अर्जुन ने भी भगवान महावीर के चरणों में जाकर प्रतिबोध पाया, मुनि-दीक्षा अंगीकार की, यावज्जीवन बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ) तप करने की प्रतिज्ञा ली (प्रत्याख्यान किया), पारणे के दिन राजगृहनगर में ही भिक्षा के लिए स्वयं जाने लगे; किन्तु राजगृह-निवासी लोगों ने उनका सत्कार-सम्मान करने के बदले हिंसा-प्रधान या अनादर-प्रधान व्यवहार किया, किन्तु अर्जुन अनगार ने समभावपूर्वक क्षमाभाव से उसे सहन किया, मन से भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं की। फलतः इस प्रकार छह महीने तक उक्त परीषह तथा उपसर्ग को सहन करने से वे आठों ही कर्मों को नष्ट करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गये। इस प्रकार के अन्य वैश्य-जातीय, ब्राह्मण-जातीय, क्षत्रिय-जातीय युवक, वृद्ध और (अतिमुक्त जैसे) बालक भी साधना से मुक्त हुए तथा काली, महाकाली जैसी एवं रुक्मिणी, सत्यभामा आदि जैसी राजरानियाँ तथा कई सामान्य नारियाँ भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं।[1] जैनधर्म मोक्ष-प्राप्ति में किसी प्रकार के वेश, लिंग, धर्म-सम्प्रदाय, जाति, देश और रूप की रोक नहीं लगाता। जैनदर्शन के अनुसार स्त्री भी मुक्त हो सकती है, पुरुष भी और नपुंसक भी मोक्षगामी हो सकता है। तीर्थंकर भी मुक्त हो सकते हैं, सामान्यकेवली भी और साधारण नर-नारी भी मुक्त हो सकते हैं, चाहे वे साधु-संन्यासी न बने हों, अभी गृहस्थ-वेश में ही हों, मुक्त हो सकते हैं।[2] जैनधर्म के साम्प्रदायिक रूप वाले स्वलिंगी साधु-साध्वी हों अथवा अन्य धर्म-सम्प्रदाय वाले अन्यलिंगी साधु-साध्वी-संन्यासी हों, वे भी मुक्त हो सकते हैं, किन्तु इन सबके मुक्त होने के लिए एक ही शर्त है, वह है—वीतरागता की, कषायों से मुक्ति की, राग-द्वेष-मोह आदि पर विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को मारा, कषायों को अलविदा किया, वह जैनदृष्टि के अनुसार सिद्ध-मुक्त हो सकता है। जैनधर्म की मान्यता है कि मुक्ति पर किसी का एकाधिकार (Monopoly) नहीं है। यहाँ तक कि 'भगवतीसूत्र' में कोणिक राजा के उदायी और भूतानन्द नामक गजराज के विषय में भी मोक्षगमन का कथन किया है कि वे दोनों प्रथम नरक में उत्पन्न होकर वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. ९९-१००

२. देखें—भगवतीसूत्र, श. १८, उ. १० में सोमिल ब्राह्मण; भगवतीसूत्र श. १२, उ. १ में शंख-श्रमणोपासक वृत्तान्त जो भविष्य में सिद्ध-बुद्ध होंगे।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र जी भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं–

"चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई भी हो, यदि समभाव (वीतरागभाव) से उसकी आत्मा भावित है तो निःसन्देह वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है।"[1]

वास्तव में मोक्ष, मुक्ति या सिद्धि के लिए वीतरागता, सार्वभौम समतायोग या आत्म-भावों में रमणता, आत्म-गुणों में निष्ठा आवश्यक है, उसके लिए सम्प्रदाय, वेश, पंथ, जाति, देश, रंग-रूप आदि की विभिन्नता गौण है। वीतरागता से मुक्ति-प्राप्ति के लिए साधुधर्म या साधुवेश का स्वीकार भी एक सुदृढ़ विकल्प है। अन्य कई विकल्प भी हैं; किन्तु सबके पीछे कषाय-मुक्ति, वीतरागता, समभाव-भावितात्मा आदि तत्त्व अनिवार्य हैं। जैनधर्म का स्पष्ट आघोष है कि मनुष्य किसी भी देश, वेश, धर्म-सम्प्रदाय, जाति और रंग-रूप का हो, वह वीतरागता, कषायमुक्ति, समभाव-भाविता आदि आध्यात्मिक गुणों का पूर्ण विकास करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है।

मोक्ष-प्राप्ति के विषय में जैनधर्म की उदारता : पन्द्रह प्रकार से सिद्ध हो सकता है

'नन्दीसूत्र' और 'प्रज्ञापनासूत्र'[2] आदि में जैनधर्म के इस उदारता-प्रधान तथा गुण-पूजा के सिद्धान्त के अनुसार तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा आदि पन्द्रह प्रकारों में से किसी भी प्रकार से सिद्ध-मुक्त होने का पाठ दिया गया है, उनका क्रम और भावार्थ इस प्रकार है–

(१) तीर्थसिद्ध–जिससे संसार-समुद्र तिरा जा सके, वह तीर्थ (धर्मसंघ) कहलाता है। अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के वचन और प्रवचन को धारण करने वाला चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप) श्रमणसंघ तीर्थ कहलाता है। अथवा प्रथम गणधर भी तीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के धर्मतीर्थ से या धर्मतीर्थ की मौजूदगी में जो सिद्ध-मुक्त होते हैं, वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

---

१. सेयंबरो व आसंबरो वा, बुद्धो व तहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥

२. (१) तित्थसिद्धा, (२) अतित्थसिद्धा, (३) तित्थयरसिद्धा, (४) अतित्थयरसिद्धा, (५) सयंबुद्धसिद्धा, (६) पत्तेयबुद्धसिद्धा, (७) बुद्धबोहियसिद्धा, (८) इत्थिलिंगसिद्धा, (९) पुरिसलिंगसिद्धा, (१०) नपुंसकलिंगसिद्धा, (११) सलिंगसिद्धा, (१२) अन्नलिंगसिद्धा, (१३) गिहिलिंगसिद्धा, (१४) एगसिद्धा, (१५) अणेगसिद्धा।
–नन्दीसूत्र : केवलज्ञान प्रकरण; प्रज्ञापनासूत्र : प्रथम पद में सिद्ध प्रज्ञापना

(२) अतीर्थसिद्ध–तीर्थ की स्थापना से पहले अथवा बीच में तीर्थ का विच्छेद होने पर जो सिद्ध-मुक्त होते हैं, वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। मरुदेवी माता भगवान ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-स्थापना से पहले ही मुक्त हो गई थी। भगवान सुविधिनाथ से लेकर भगवान शान्तिनाथ तक आठ तीर्थंकरों के बीच सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद हो गया था। अतः इस विच्छेदकाल में मोक्ष जाने वाले भी अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

(३) तीर्थंकरसिद्ध–जो तीर्थंकरपद प्राप्त करके सिद्ध होते हैं, वे तीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं। जैसे–वर्तमान चौबीसी के भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक सभी तीर्थंकर सिद्ध-मुक्त हो चुके हैं।

(४) अतीर्थंकरसिद्ध–जो सामान्यकेवली होकर या तीर्थंकर की गैर-मौजूदगी में अर्हद्दशा प्राप्त करके या केवलज्ञानी होकर सिद्ध होते हैं। जैसे–सुधर्मा स्वामी या जम्बू स्वामी आदि तीर्थंकर भगवान महावीर की गैर-मौजूदगी में सिद्ध-मुक्त हुए हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध–गुरु या दूसरे के उपदेश के बिना जातिस्मरण आदि ज्ञान से अपने पूर्व-भवों को जानकर स्वयं प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा धारण करके जो सिद्ध-बुद्ध होते हैं। जैसे–नमि राजर्षि।

(६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध–जो वृक्ष, वृषभ, मेघ, श्मशान, रोग या वियोग आदि किसी एक वस्तु का निमित्त पाकर, अनित्य आदि भावनाओं से प्रेरित (प्रतिबुद्ध) होकर स्वयं दीक्षित होकर सिद्ध हुए हों। जैसे–करकण्डू राजा बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए और स्वयं दीक्षा लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। अनाथी मुनि को अपनी व्याधि को देखकर विरक्ति हुई और वे प्रतिबुद्ध होकर स्वयं दीक्षित होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध प्रायः एक सरीखे होते हैं, सिर्फ थोड़ी-सी विशेषताएँ दोनों में होती हैं–बोधि, उपधि, श्रुत और लिंग (बाह्य वेश) की।

स्वयंबुद्ध दो प्रकार के होते हैं–तीर्थंकर और तीर्थंकर-व्यतिरिक्त। यहाँ तीर्थंकर-व्यतिरिक्त स्वयंबुद्ध ही गृहीत हैं। तीर्थंकर स्वयंबुद्ध तीर्थंकरसिद्ध में परिगणित हो जाते हैं। स्वयंबुद्ध वस्त्र-पात्र आदि १२ प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते हैं, जबकि प्रत्येकबुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि रखते हैं। इसी प्रकार श्रुत और लिंग (वेश) में भी तथा एकाकी विचरण और गच्छगत विचरण आदि बाह्य अन्तर भी थोड़े-थोड़े-से हैं। परन्तु ये सब बाह्य अन्तर होते हुए भी दोनों का आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त सिद्धत्व में कोई अन्तर नहीं होता।

(७) बुद्धबोधितसिद्ध–आचार्य आदि के बोध से प्रतिबुद्ध हो, दीक्षित होकर जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं। जैसे–हरिकेशबल को किन्हीं सुविहित साधु से बोध प्राप्त हुआ और वे दीक्षित होकर साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

(८) स्त्रीलिंगसिद्ध–स्त्रीत्व तीन प्रकार का होता है–स्त्रीवेद, शरीराकृति और वेश। यहाँ पर शरीराकृतिरूप स्त्रीत्व लिया गया है, क्योंकि वेद के उदय में तो कोई भी जीव सिद्ध नहीं हो सकता। वेद (काय) विकार का क्षय करके ही स्त्री, पुरुष या नपुंसक सिद्ध होते हैं। यहाँ वेश अप्रमाण है। किन्तु शरीराकृतिरूप स्त्री शरीर से वीतरागता प्राप्त करके जो सिद्ध-मुक्त होते हैं, उन्हीं की स्त्रीलिंगसिद्धा में यहाँ विवक्षा है। जैसे–मरुदेवी माता ने स्त्री के आकार में, स्त्री शरीर से हाथी के हौदे पर बैठे हुए, मोहादि को निर्मूल करके वीतरागता प्राप्त की और वहीं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गई थीं। ये एक समय में उत्कृष्ट २० सिद्ध हो सकते हैं।

(९) पुरुषलिंगसिद्ध–पुरुषाकृति में रहते हुए पुरुषशरीर से वीतरागता प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषलिंगसिद्ध कहलाते हैं। ये एक समय में १०८ तक मोक्ष जा सकते हैं।

(१०) नपुंसकलिंगसिद्ध–नपुंसक की आकृति में रहते हुए नपुंसक शरीर से वेदादि विकारों को निर्मूल करके वीतरागता प्राप्त कर जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं। यहाँ कृतनपुंसक का ग्रहण किया गया है। मूलनपुंसक सिद्ध नहीं हो सकते। एक समय में ये उत्कृष्टतः १० मोक्ष जा सकते हैं।

(११) स्वलिंगसिद्ध–रजोहरण मुखवस्त्रिकादि स्वलिंग (स्वधर्म-सम्प्रदाय का साधुवेश) धारण करके मोक्ष प्राप्त करने वाले स्वलिंगसिद्ध कहलाते हैं।

(१२) अन्यलिंगसिद्ध–परिव्राजक आदि वल्कल, गेरुए आदि अन्य धर्म-सम्प्रदाय के वेश (द्रव्यलिंग) में रहते हुए, जो वीतरागता प्राप्त करके सिद्ध-मुक्त होते हैं। 'उत्तराध्ययन की टीका' में बताया है–"ज्ञानादि ही मुक्ति के साधन हैं, लिंग (बाह्य वेश) नहीं।" इसी प्रकार 'सम्बोधसत्तरी टीका' में भी कहा है–मोक्ष-प्राप्ति में वेश की प्रधानता नहीं है, किन्तु समभाव ही मोक्ष (निर्वाण) का हेतु है। एक समभावी आचार्य ने भी कहा है–"न तो दिगम्बरत्व धारण करने से, न ही श्वेताम्बरत्व धारण करने से मुक्ति होती है, न ही तत्त्वों के विषय में वाद-विवाद करने से और न तर्क-वितर्क करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है और न किसी एक पक्ष (सम्प्रदाय) का ममत्वपूर्वक आश्रय लेने से ही मोक्ष होता है, वस्तुतः कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है।"[1]

---

१. (क) ज्ञानाद्येव मुक्तिसाधनम्, न तु लिंगम्।
–उत्तरा., अ. २३, गा. ३३, भावविजयगणि टीका

(ख) मोक्षप्राप्ती न वेष-प्राधान्यं, किन्तु समभाव एव निर्वृतिहेतुः। –सम्बोधसत्तरी टीका

(ग) नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षपाताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव॥

(१३) गृहि (गृहस्थ) लिंगसिद्ध–गृहस्थवेश में धर्माचरण करते-करते परिणाम विशुद्धि हो जाने पर केवलज्ञान और वीतरागता प्राप्त हो जाने पर जो मुक्त हों, वे गृहिलिंगसिद्ध हैं। जैसे–मरुदेवी माता।

(१४) एकसिद्ध–जो व्यक्ति एक समय में अकेले ही सिद्ध-मुक्त हों, वे एकसिद्ध हैं।

(१५) अनेकसिद्ध–एक समय में एक से अधिक (दो, तीन आदि से लेकर १०८ तक सिद्ध-मुक्त होने वाले अनेकसिद्ध कहलाते हैं।[1]

एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट कितने सिद्ध होते हैं ?

प्रश्न होता है–जैनसिद्धान्त की दृष्टि से एक समय में अधिक से अधिक कितने मनुष्य सिद्ध-मुक्त होकर मोक्ष जा सकते हैं? इसके लिए एक गाथा में बतलाया गया है–

"बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुल्लसीई छन्नउई उ दुरहियमट्ठुत्तर-सयं च॥"

इसका भावार्थ यह है कि एक समय से आठ समय तक एक से लेकर बत्तीस जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट ३२ जीव सिद्ध-मुक्त हो सकते हैं। इसी तरह दूसरे समय में भी जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट ३२ जीव सिद्ध हो सकते हैं। इसी तरह तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो और उत्कष्ट ३२ जीव सिद्ध हो सकते हैं। आठ समयों के पश्चात् निश्चित रूप से अन्तर पड़ता है।

३३ से लेकर ४८ जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते हैं। उसके पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है।

४९ से लेकर ६० तक जीव निरन्तर छह समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तरा अवश्य पड़ता है।

६१ से ७२ तक जीव निरन्तर ५ समय तक, ७३ से ८४ तक निरन्तर ४ समय तक तथा ८५ से ९६ तक निरन्तर ३ समय तक, ९७ से १०२ तक निरन्तर २ समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके बाद निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। १०३ से लेकर १०८ तक जीव निरन्तर एक समय में मोक्ष जा सकते हैं; अर्थात् एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो सकते हैं। इसके पश्चात् अवश्य

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०१
(ख) 'जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ५' से भाव ग्रहण, पृ. ११९-१२०

अन्तरा पड़ता है। फलितार्थ यह है कि दो-तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते।[1]

विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना

चौदह प्रकार की अपेक्षा से सिद्ध–'प्रज्ञापनासूत्र' में १५ प्रकार के सिद्धों में से १४ प्रकार के सिद्ध एक समय में कितने हो सकते हैं? इसकी गणना बताई गई है वह इस प्रकार है–तीर्थ की विद्यमानता में १०८ तक, तीर्थ का विच्छेद होने पर १०, तीर्थंकर एक साथ २०, अतीर्थंकर (सामान्यकेवली) १०८ तक, स्वयंबुद्ध १०८ तक, प्रत्येकबुद्ध ६, बुद्धबोधित १०८ तक, स्वलिंगी १०८, अन्यलिंगी १०, गृहिलिंगी ४, स्त्रीलिंगी २०, पुरुषलिंगी १०८, नपुंसकलिंगी एक समय में १० और एकसिद्ध या अनेकसिद्ध एक समय में अधिक से अधिक १०८ तक सिद्ध-मुक्त हो सकते हैं।[2]

पूर्वभवाश्रित सिद्ध एक समय में उत्कृष्टतः कितने हो सकते हैं–पहली, दूसरी और तीसरी नरकभूमि से निकलकर आने वाले जीव एक समय में १०, चौथी नरक भूमि से निकले हुए ४, पृथ्वीकाय और अप्काय से निकले हुए ४, पंचेन्द्रिय गर्भजतिर्यञ्च और तिर्यंची की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकलकर मनुष्य बने हुए १० जीव सिद्ध होते हैं। मनुष्यनी की पर्याय से निकलकर मनुष्य बने हुए २० सिद्ध होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों से आये हुए २० मनुष्य सिद्ध होते हैं। वैमानिक देवों से आये हुए १०८ सिद्ध होते हैं।

क्षेत्राश्रित सिद्धों की एक समय में उत्कृष्टतः गणना–ऊर्ध्वलोक में ४, अधोलोक में २० और मध्यलोक में १०८ सिद्ध होते हैं। यद्यपि समुद्र में २, नदी आदि सरोवरों में ३, प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध होते हैं, तथापि एक समय में अधिक से अधिक १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं; इससे अधिक नहीं। मेरु पर्वत के भद्रशाल वन, नन्दन वन और सोमनस वन में ४, पाण्डुक वन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्रों में १०, कर्मभूमि के क्षेत्रों में १०८, प्रथम, द्वितीय, पंचम तथा छठे आरे में १० और तीसरे, चौथे आरे में १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

अवगाहनाश्रित सिद्धों की एक समय में उत्कृष्टतः गणना–जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४, मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं।

---

१. पन्नवणा, पद १, जीवप्रज्ञापना में सिद्धप्रज्ञापना वर्णन

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र, पद १, सिद्धप्रज्ञापना
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०२
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३६, गा. ४९-५४

यह संख्या सर्वत्र एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध-मुक्त होने वालों की है।[1]

जैनधर्म ईश्वरवादी है, किन्तु ईश्वर कर्तृत्ववादी या एकेश्वरवादी नहीं है

बहुत-से धर्मानुयायियों की धारणा ऐसी है कि जैनधर्म ईश्वरवादी नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म ईश्वरवादी अवश्य है, किन्तु वह ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-हर्त्ता नहीं मानता। अगर जैनधर्म ईश्वरवादी न होता तो सर्वकर्ममुक्त विदेहमुक्त मोक्ष-प्राप्त सिद्ध-बुद्ध सर्वदुःखरहित अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप आत्मिक ऐश्वर्य से पूर्ण सम्पन्न ईश्वर का इतना तात्त्विक और युक्तिपूर्ण विवेचन न करता। जैनधर्म का यह निश्चित मत है कि ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण आध्यात्मिक विकास (चरम लक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है। पूर्ण शुद्ध आत्मा के मोक्ष का अस्वीकार अपनी आत्मा के पूर्ण विकास का अस्वीकार है। अपनी (आत्मा की) पूर्ण शुद्धतारूप (धर्म) का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है, धर्म (सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप) साधन है, ईश्वरत्व, परमात्मपद या मोक्ष (सर्वकर्म मुक्तत्व) साध्य है।[2]

सबकी आत्माओं में ईश्वरत्व : किन्तु पूर्ण प्रकट, अर्ध प्रकट, यत्किंचित् प्रकट

जैनधर्म 'अप्पा सो परमप्पा' (आत्मा है, वह परमात्मा है) के सिद्धान्त को मानता है। जो गुण शुद्ध आत्मा (परमात्मा = ईश्वर) में हैं, वे ही गुण सामान्य आत्मा में निश्चयदृष्टि से विद्यमान हैं। किन्तु उस पर कर्मों का आवरण न्यूनाधिक रूप में होने से व्यवहारदृष्टि से वह अभी कर्मबद्ध होने से पूर्ण ईश्वर नहीं बन सका है इसलिए आचार्यों ने ईश्वर (आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा) को तीन भागों में वर्गीकृत कर दिया है—(१) सिद्ध ईश्वर, (२) मुक्त ईश्वर, और (३) बद्ध ईश्वर। जो आठों ही कर्मों (चार घाति और चार अघाति) का क्षय करके शरीर और शरीर से सम्बन्धित जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि सभी दुःखों से मुक्त, निरंजन निराकार विदेहमुक्त हो जाते हैं, वे सिद्ध ईश्वर कहलाते हैं। जो चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञानी, केवलदर्शी वीतराग हो चुके हैं, जो अभी देहयुक्त होने के कारण चार अघातिकर्मों (भवोपग्राही कर्मों = वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) से युक्त सदेहमुक्त अरिहंत (सामान्यकेवली या तीर्थंकर) हैं, वे

---

१. (क) उत्तराध्ययन, अ. ३६, गा. ५४, ५३
(ख) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०३

२. 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ४४७

मुक्त ईश्वर कहलाते हैं। इन दोनों के सिवाय जो अभी आठों ही कर्मों से न्यूनाधिकरूप से युक्त हैं, उनमें से कतिपय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, सद्गृहस्थ नर-नारी आदि संवर से नवीन कर्मों का निरोध और निर्जरा से पुराने कर्मों का क्षय करने के लिए प्रयत्नशील हैं, ऐसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के नर-नारी कर्ममुक्ति के लिए पुरुषार्थ करते हैं, फिर भी वे अभी तक कर्मबद्ध हैं। मगर अधिकांश प्राणी ऐसे भी हैं, जो मिथ्यात्वादि कारणों से कर्मबन्ध से अधिकांश रूप से बद्ध हैं, ऐसे सभी कोटि के संसारस्थ जीव बद्ध ईश्वर की कोटि में आते हैं। इसलिए वैदिकादि धर्मों द्वारा मान्य ईश्वर एक ही है, वैसे जैनधर्म मान्य सिद्ध कोटि के ईश्वर समकक्ष हैं और एक नहीं, अनन्त हैं। वर्तमान में भी जो अर्हद्दशा प्राप्त हैं, सामान्यकेवली या तीर्थंकर कोटि के सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) ईश्वर हैं; वे भविष्य में सिद्ध कोटि के विदेहमुक्त ईश्वर अवश्य बनेंगे। जो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के बद्ध कोटि के ईश्वर हैं, वे भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करके एक दिन वीतराग अर्हद्दशा प्राप्त केवलज्ञानी तथा मुक्त कोटि के ईश्वर होकर भविष्य में सिद्ध कोटि के ईश्वर हो सकेंगे। इसलिए सिद्ध ईश्वर (सिद्ध मुक्तात्माएँ) अनन्त हैं, एक ही नहीं। अगर ईश्वर को एक ही माना जाये, तो ईश्वर-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति के लिए किया गया पुरुषार्थ व्यर्थ हो जायेगा।[1]

सिद्ध ईश्वर के स्वरूप में कोई भेद नहीं

पहले बताया जा चुका है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की जो विधिवत् भावपूर्वक आराधना-साधना करता है, वह संसार से, जन्म-मरणादि सर्व दुःखों से तथा समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त सिद्ध-परमात्मा (ईश्वर) बन सकता है, मोक्ष प्राप्त कर सकता है। 'भगवद्गीता' में भी कहा गया है—जो मान-मोह से रहित हैं, आसक्ति दोष पर विजय पा चुके हैं, सदैव अध्यात्मभाव में रत (स्थित) हैं, कामनाओं (कामों) से सर्वथा निवृत्त हैं, सुख-दुःखादि (प्रियता-अप्रियता आदि) द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त हैं और मोहमुक्त हैं, वे ज्ञानी अव्ययपद (परमात्मपद या मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

जैनमान्य और वैदिकमान्य ईश्वर जन्म से ही अजन्मा नहीं, पुरुषार्थ से ही होता है

इस प्रकार के जैनमान्य सिद्ध ईश्वर (परमात्मा) और वैदिकधर्ममान्य गीतोक्त मुक्त-सिद्ध ईश्वर के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन दोनों प्रकार के लक्षणों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर या सिद्ध-परमात्मा कोटि का

---

१. 'वल्लभप्रवचन, भा. ३' (प्रवक्ता : स्व. जैनाचार्य विजयवल्लभसूरि जी) से भावांश ग्रहण

परमैश्वर्य-सम्पन्न ईश्वर जन्म से ही ईश्वर नहीं हो जाता, या वह सदा से ही अजन्मा है, उसे कोई साधना करने की या सम्यग्ज्ञानादि के लिए या कर्मक्षय के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है, इस अयुक्तिसंगत तर्क का खण्डन हो जाता है। जो भी पूर्वोक्त प्रकार का ईश्वर बनता है, वह एक जन्म या अनेक जन्मों के स्व-पुरुषार्थ से ही ईश्वर बनता है। हाँ, ईश्वर बनने के बाद वह अजन्मा (जन्म-मरण से रहित) हो जाता है, पहले नहीं। इसलिए वह ईश्वर 'स्वयंभू' होता है (स्वयं जन्म ले लेता है या स्वयं हो जाता है) यह कथन भी किसी तरह युक्तिसंगत नहीं है।[1]

परमैश्वर्य-सम्पन्नता समस्त सिद्ध-मुक्त ईश्वरों में एक समान, सभी समान कोटि के हैं

एक बात और–वैदिकादि धर्ममान्य ईश्वर एक है, वह सृष्टिकर्त्ता और महान् है, जैनधर्ममान्य अनन्त सिद्ध ईश्वर अकर्त्ता और अमहान् हैं; वे उसी महान् ईश्वर में विलीन हो जाते हैं, ऐसी स्वरूप और कार्य (परिणाम) की भिन्नता निरुपाधिक दशा (कर्मोपाधिरहित अवस्था में कतई नहीं हो सकती। ऐसा निर्हेतुक भेद दोनों में कैसे हो सकता है? सिद्ध ईश्वरदशा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द (अनन्त अव्याबाध-सुख) और अनन्त बलवीर्य (अनन्त आत्मिक-शक्ति); ये चारों मिलकर सिद्ध-मुक्त शुद्ध आत्मा (परमात्मा) का स्वरूप अथवा परम ऐश्वर्य हैं। यह सभी सिद्ध आत्माओं (सिद्ध ईश्वरों) में समान होता है।[2]

मुक्तात्मा न किसी दूसरी शक्ति में विलीन होते हैं, न किसी के अंश होते हैं

कतिपय दार्शनिक (वेदान्तदर्शनवादी) आत्मा का परमात्मा में विलय होना मानते हैं अथवा जीवात्मा को परमात्मा (परब्रह्म) का अंश रूप मानते हैं; परन्तु जैनदर्शन इन दोनों बातों को स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि सिद्ध-मुक्तदशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति या पूर्वमुक्त सिद्ध-परमात्मा या तथाकथित ईश्वर आदि में विलय नहीं होता, न ही वह किसी दूसरी सत्ता का अंश या अवयव है या होता है और न विभिन्न अवयवों का संघात है। प्रत्येक मुक्तात्मा एक स्वतंत्र इकाई

---

१. (क) 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १९७
(ख) देखें–इसी निबन्ध में सर्वकर्ममुक्त (सिद्ध) होने वाले साधकों की ४ श्रेणियों वाला पुरुषार्थ विषयक विवरण
(ग) निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
–भगवद्गीता, अ. १५, श्लो. ५

२. 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' से भाव ग्रहण, पृ. ४४७-४४८

होता है, उसकी स्वतंत्र सत्ता होती है। उसके प्रत्येक आत्म-प्रदेश परस्पर अनुविद्ध हैं; इसलिए वह अखण्ड है। मुक्ति में उस मुक्तात्मा का पूर्ण शुद्ध रूप स्वतः सहज ही प्रकट होता है। मुक्त आत्माओं के विकास की स्थिति में भी कोई अन्तर नहीं होता। अविकास, अपूर्ण विकास अथवा स्वरूपावरण कर्मोपाधिजन्य होता है। पूर्ण मुक्त जीवन कर्मोपाधि से सर्वथा रहित होते हैं। मुक्त जीव के कर्मोपाधि मिटते ही स्वरूपावरण या अपूर्ण विकास सर्वथा समाप्त हो जाता है। फिर सभी मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समान कोटि का हो जाता है। इसलिए जैन-दार्शनिक मुक्त आत्मा का किसी शक्ति में विलीन होना नहीं मानते। समस्त मुक्त आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता रहती है। मुक्त आत्माओं की जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता है, वह उपाधिकृत नहीं है, सहज है। सत्ता का स्वातंत्र्य मोक्ष होने में या किसी भी पूर्णता की स्थिति में बाधक नहीं है। इसलिए किसी भी स्थिति में उन अनन्त सिद्ध-मुक्तात्माओं की स्वतंत्र सत्ता, स्वतंत्रता या स्वायत्तता में कोई भी आँच नहीं आती। मोक्ष में प्रत्येक मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध-सुख और अनन्त बलवीर्य से युक्त है। इस दृष्टि से उनमें कोई भेद (अन्तर) नहीं है। सब मुक्तात्माएँ अपने आप में पूर्ण हैं। इसलिए उन्हें किसी दूसरी शक्ति का आश्रय लेने या उसका अंश बनने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए मुक्तात्माओं में कोई भेद करना (आत्मिक-दृष्टि से) सम्भव नहीं है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अल्पबहुत्व, अन्तर, अवगाहना आदि की अपेक्षा से मुक्ताओं में जो भेद (अन्तर) की कल्पना की गई है, वह सिर्फ व्यवहारनय की अपेक्षा से तथा मुक्त होने से पूर्व की अवस्था-विशेष की दृष्टि से की गई है।

सर्वकर्ममुक्त सिद्ध ईश्वर जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हो सकता : क्यों और कैसे ?

सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-परमात्मा जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हो सकता, इसका निराकरण हम कर्मविज्ञान, भाग २, खण्ड ५ में कर चुके हैं, इसलिए पिष्टपेषण करना व्यर्थ होगा। फिर तात्त्विक दृष्टि से सोचा जाये तो भी ईश्वर पर सृष्टिकर्तृत्व का आरोप करना कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा जब तक सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि से युक्त अष्ट कर्मबद्ध) होती है, तभी तक उसमें परभाव-कर्तृत्व होता है। सिद्ध-मुक्त दशा निरुपाधिक है। उसमें केवल स्वभावरमणता होती है, परभाव-कर्तृत्व नहीं होता। इसलिए सिद्ध-मुक्त ईश्वर में परभाव-कर्तृत्व (सृष्टि-कर्तृत्व) का आरोप करना युक्ति विरुद्ध है।[1]

---

१. (क) 'जैनदर्शन : मनन और मीमांसा' से भाव ग्रहण, पृ. ४४८-४४८

(ख) देखें–कर्मविज्ञान, भा. २, खण्ड ५ में 'कर्म का कर्त्ता कौन, फलभोक्ता कौन तथा कर्मों का फलदाता कौन ?' शीर्षक निबन्ध.

यदि (विदेहमुक्त सिद्ध) ईश्वर जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता है और उसी के हाथ में जगत् के जीवों का जन्म-मरण है, तब वह क्यों किसी जीव को मरने देता है? क्यों किसी को पापी, निर्दयी, चोर, हत्यारा, व्यभिचारी, डकैत, आतंकवादी, विद्रोही या नास्तिक बनाता है? सभी प्राणियों को एक सरीखा आस्तिक, दयालु, सदाचारी, अहिंसक, आत्मार्थी, परमार्थी या धर्मात्मा क्यों नहीं बना देता? यदि तथाकथित ईश्वर के हाथ में सीधी तौर से किसी को ज्ञानादि का प्रकाश देने का सामर्थ्य होता तो वह किसी के भी अन्तःकरण में अज्ञानादि अन्धकार न रहने देता। विश्व के समस्त जीवों को प्रकाशमय और आनन्दमय बना देता। अधम और दुराचारी व्यक्तियों को भी सद्बुद्धि-सम्पन्न और सदाचारी बना देता। प्रत्येक प्राणी नीची भूमिका से उठाकर ऊपर की भूमिका पर चढ़ा देता। किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता, प्रत्युत इसके विपरीत आचरण और विचार जगत् में देखा जाता है। अतः जैन कर्मविज्ञान का यह युक्तिसंगत तर्क है कि पूर्ण शुद्ध, निरंजन, निराकार, सर्वकर्ममुक्त ईश्वर भला जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता बनने के लिए पुनः कर्ममल से लिपटकर संसार के जन्म-मरणादि चक्र में क्यों लौटकर आयेंगे? जिस संसार-चक्र को वे तोड़ चुके हैं। जन्म-मरण से, कर्मों से, शरीरादि से जो रहित हो चुके हैं, ऐसे कृतकृत्य सिद्ध-परमात्मा (ईश्वर) में राग-द्वेषयुक्त जगत्-कर्तृत्व कैसे सम्भव हो सकता है? फिर भी अगर अन्ध-विश्वास, हठाग्रह या मन्दबुद्धिवश ईश्वर को जगत्कर्त्ता माना जायेगा तो उस पर पक्षपात, असामर्थ्य, राग-द्वेष, अन्याय आदि कई दोषरूप आक्षेप आयेंगे। यही कारण है कि जैनदृष्टि के अनुसार पूर्ण शुद्ध निरंजन निराकार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा (ईश्वर) न तो किसी पर प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न। वे अपने आत्म-स्वरूप में रत रहते हैं। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख अपने कर्म संस्कार पर अवलम्बित हैं। यह चेतन-अचेतनरूप सारा जगत् प्रकृति के नियम से संचालित है। यह जगत् प्रवाहरूप अनादि-अनन्त है। उसके कर्तृत्व का भार वहन करने के लिए किसी परमात्म सत्ता (ईश्वर) को मानने और उसे जन्म देने वाले की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार जैनदर्शन में ईश्वर का अस्वीकार नहीं है, वह अनीश्वरवादी नहीं है, किन्तु ईश्वर की जगत्-सृजनसत्ता का वह अस्वीकार करता है।[1]

संसार की समस्त आत्माएँ ईश्वर हैं; वे अपनी शुभाशुभ कर्मसृष्टि का स्वयं सृजन करती हैं

पहले हम कह आए हैं कि जैनदर्शन केवल एक ही सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानता, अपितु पूर्वोक्त कथन के अनुसार संसार की सभी आत्माओं में (त्रिविधरूप से) ईश्वरत्व मानता है। उक्त दृष्टि से वह प्रत्येकवद्ध ईश्वर (कर्मबद्ध आत्मा) में

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०७-१०८

(अपनी सृष्टि के) कर्तृत्ववाद की योजना करता है जैसा कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है–

(निश्चयतः) आत्मा (अनन्त ज्ञानादि) परम ऐश्वर्य से युक्त है। अतः वही ईश्वर है और वही कर्त्ता (अपने शुभ-अशुभ कर्मों का स्वयं कर्त्ता) है। इस दृष्टि से जैनदर्शन ने आत्मा में निर्दूष्ट कर्तृत्ववाद की व्यवस्था (योजना) की है।"[1]

सिद्ध-मुक्त परमात्मा के स्मरण-नमन-उपासनादि से क्या लाभ ?

अन्य दर्शनी जैनदर्शन के समक्ष यह शंका प्रस्तुत करते हैं कि जैनदर्शन जब संसार की समस्त आत्माओं को ईश्वर मानता है, तब तो सभी आत्माएँ स्वतः अनन्त ज्ञान-दर्शनादि से प्रकाशमान हैं, फिर उन आत्माओं को, खासकर मनुष्यों को सिद्ध-परमात्मा या अरिहंत देवाधिदेव को स्मरण करने, नमन करने, उनका ध्यान करने और उनकी भक्ति-उपासना करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका समाधान यह है कि निश्चयनय या आत्मा के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से तो यह कथन यथार्थ है कि संसार की सभी आत्माएँ अपने शुद्ध रूप में ज्ञानादि से प्रकाशमान हैं। किन्तु उनके आत्म-प्रदेशों पर विभिन्न कर्मों (कर्म-संस्कारों) का न्यूनाधिक रूप में आवरण पड़ा हुआ है, इस कारण उसके ज्ञान-दर्शन आदि आच्छादित हैं, हो रहे हैं। उन विभिन्न पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए उन सर्वकर्ममुक्त शुद्ध आत्माओं (सिद्ध-परमात्माओं) अथवा चार घातिकर्ममुक्त अरिहंत परमात्माओं को आदर्श मानकर उनका ध्यान, स्मरण, गुणगान, नमन, स्तवन करने उनकी भक्ति, आराधना, उपासना आदि विविध अनुष्ठान किये जाते हैं।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा की उपासनादि से सर्वकर्ममुक्ति कैसे ?

जैनदर्शन ने संसार की समस्त आत्माओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया है– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा वह निखालिस आत्मा है, जिसमें आत्मा मोह, राग, द्वेष, क्रोधादि कषायों आदि विभावों से रहित होकर तथा परभावों अथवा विभावों के कारण आत्मा पर लगी हुई कर्मरज सर्वथा दूर हो जाती है। पूर्वोक्त दोनों कक्षाओं की आत्माएँ कर्मबद्ध हैं, उन पर अभी कर्मरज लगी हुई है। अतः वे दोनों कोटि की आत्माएँ परमात्मा (शुद्ध आत्मा) को अपना ध्येय या आदर्श मानकर उनकी वन्दना-नमन करके, उनका गुण-स्मरण, स्तवन,

---

१. पारमेश्वर्य-युक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः॥ –*शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक ३, श्लो. १४*

भक्ति-उपासना करके अपने शुद्ध धर्म का उत्कृष्ट एवं शुद्ध आचरण कर सकती हैं, सम्यग्ज्ञानादि की साधना द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास करके सर्वकर्ममुक्ति तथा स्वरूप-रमणता प्राप्त कर सकती हैं।

सिद्ध या अरिहंत परमात्मा के वन्दनादि से ध्येय तक कैसे पहुँच सकता है ?

अब प्रश्न यह है कि सिद्ध-परमात्मा तथा अरिहंत परमात्मा का नमन-वन्दन, उनका नाम-स्मरण, गुण-स्मरण, भक्ति आदि करने से कोई व्यक्ति कैसे आदर्श, ध्येय (मोक्ष) या परमात्मपद तक पहुँच सकता है? इसका समाधान यह है कि वीतराग सिद्ध या जीवन्मुक्त परमात्मा किसी के लिए कुछ करते-कराते नहीं, न ही मोक्ष, स्वर्गादि कुछ देते-लेते हैं। लेकिन भक्ति, स्तुति या वन्दना आदि करने से व्यक्ति अवश्य ही सर्वोत्तम आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न आराध्यदेवों के उन गुणों की ओर आकृष्ट–तल्लीन होता है, स्वयं वैसा बनने का मनोरथ करता है। फलतः धीरे-धीरे उपास्य के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है। मनुष्य का हृदय यदि कल्याणकामी या मोक्षकामी हो, परमात्मा या मोक्ष के अभिमुख होकर परमात्मा की भक्ति-स्तुति गुण-स्मरण में तल्लीनता, तन्मयता करे तो सत्त्व-संशुद्धि और वीतरागता प्राप्त हो जाने से एक दिन उसकी अपूर्णता पूर्णता में परिणत हो जाती है, मोक्षमार्ग पर चलने के अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से।

वीतराग प्रभु को ध्येय बनाने वाला ध्याता ध्यान-बल से शीघ्र कर्ममुक्ति कर सकता है

"यद् ध्यायति, तद् भवति" (जो जिसका ध्यान करता है, वैसा ही बन जाता है) की सूक्ति के अनुसार जब ध्याता उस परम शुभ्र परमोज्ज्वल सिद्ध-परमात्मा के प्रति एकाग्र एकनिष्ठ होकर अन्य पदार्थों से ध्यान व दृष्टि हटाकर ध्यान करता है, तो वह उसके हृदयकपाटों को खोल देगा, उसके हृदय पर ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उसकी राग-द्वेष-मोह की ग्रन्थियाँ टूटती जायेंगी, ध्येय तत्त्व की शुद्धता का प्रकाश उस (ध्याता) पर पड़ने लगेगा। ध्येय के अनुसार ध्याता भी उसी रूप में परिणत होने लगता है। यह निर्विवाद है कि ध्यान का विषय वीतराग मुक्त परमात्मा का होगा, तो मन पर उसका भी वैसा ही असर पड़ेगा और वैसे ही गुण प्रायः उस ध्याता में प्रगट होने लगते हैं। वीतराग प्रभु को ध्येय बनाने वाला ध्याता भी समता, वीतरागता रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग एवं उत्तम ध्यान में आत्मा को या चित्तवृत्ति को लगाने का पुरुषार्थ करता है तो उसके आत्म-प्रदेशों से पुरातन कर्म-वर्गणाएँ भी स्वतः दूर होने लगती हैं।[1]

---

१. 'जैनतत्त्वकलिका' से भाव ग्रहण, पृ. १०९

सिद्ध-परमात्मा के भावसान्निध्य से अनेक लाभ

सिद्ध-परमात्मा चाहे हमें चर्मचक्षुओं से दिखाई न दें फिर भी यदि उनके स्वरूप का अपने स्वच्छ अन्तःकरण में चिन्तन-मनन किया जाये, उनका मानसिक रूप से सान्निध्य या सन्निकट भाव प्राप्त किया जाये तो मनुष्य को दृष्टि-विशुद्धि, आत्म-शक्ति एवं वीतरागता की प्रेरणा आदि अनेकों लाभ हैं। ये लाभ आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

परमात्मा की आज्ञाराधना से और विराधना से अपना ही लाभ, अपनी ही हानि

जो व्यक्ति वीतराग देव या सिद्ध-मुक्त परमात्मा को न मानने या अवलम्बन या सान्निध्य ग्रहण न करने से उनको कोई हानि-लाभ नहीं है, हमारी अपनी ही हानि है, आध्यात्मिक और धार्मिक विकास में क्षति है। इसके विपरीत उनको मानने तथा उनका अवलम्बन या सान्निध्य ग्रहण करने से, उनकी उपासना-आराधना से हमारी अपनी ही धर्मसाधना, धर्मभावना और आत्म-विशुद्धि का तथा सद्गुणों का विकास होता है। इन सबके अनुपात में हमारे कर्म (भाग्य) पर भी प्रभाव पड़ता है। हमारे जो अशुभ कर्म (दुर्भाग्य) हैं, उन्हें शुभ कर्म (सौभाग्य) में परिणत करने का अथवा अशुभ कर्मों को शुभ भावों द्वारा क्षय करने का इससे बढ़कर सरल सर्वोत्तम राजमार्ग और क्या हो सकता है?

इसी तरह जो व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की धर्मानुप्राणित आज्ञाओं को न मानकर निरंकुश धर्म-विरुद्ध या वीतराग-आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति करता है, यद्यपि उस पर प्रभु शाप नहीं बरसाते और न ही उसे रोकते हैं, किन्तु भगवदाज्ञा-विरुद्ध प्रवृत्ति करने से उसकी बहुत बड़ी हानि है—अनन्त काल तक संसार-परिभ्रमण। इसके विरुद्ध उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने से आराधक जीव सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'वीतरागस्तव' में कहा है—"हे वीतराग प्रभो ! आपकी सेवाभक्ति क्या है? आपकी आज्ञाओं का परिपालन ही आपकी सेवाभक्ति है। क्योंकि आपकी आज्ञाओं की आराधना मोक्षदायिनी और आज्ञाविराधना है—भवभ्रमणकारिणी।"[1]

वीतराग के ध्यान से रागरहित कर्ममुक्त तथा सराग के ध्यान से रागादि विभावयुक्त

जिन्होंने पूर्ण परमात्मपद या मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा जिस मनुष्य के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय हैं, उनकी वीतरागता के

---

१. वीतराग ! तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च॥ —*वीतरागस्तव* १९/४

सम्बन्ध में चिन्तन-मनन-ध्यान-स्मरण करने पर वह व्यक्ति भी वीतरागता प्राप्त कर सकता है; ऐसी प्रतीति और विश्वास उसमें सुदृढ़ता से जम जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में बताया है–"वीतराग (रागरहित) का ध्यान (चिन्तन-मनन-प्रणिधान) करने से मनुष्य स्वयं रागरहित होकर कर्मों से मुक्त हो जाता है, जबकि रागी (सराग) का अवलम्बन लेने वाला मनुष्य विक्षेप या विक्षोभ पैदा करने वाले (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, हर्ष, शोक, राग-द्वेषादि) सरागत्व को प्राप्त करता है।"[1]

वीतराग के ध्यान व सान्निध्य से आत्मा में वीतरागभाव का संचार

सिद्ध या मुक्त वीतराग परमात्माओं का स्वरूप परम निर्मल, शान्तिमय एवं वीतरागतायुक्त होता है। राग-द्वेष का रंग या उसका तनिक भी प्रभाव उनके स्वरूप में नहीं है। अतः उनका ध्यान, चिन्तन-मनन करने तथा अवलम्बन या सान्निध्य पाने से आत्मा में अनायास ही वीतरागभाव का संचार होता है। कहावत भी है– 'जैसा संग, वैसा रंग।' सज्जन का सान्निध्य सुसंस्कार का और दुर्जन का सान्निध्य और संग कुसंस्कार का भाव पैदा करता है। अतः जब वीतराग प्रभु का सान्निध्य, सन्निकटता या संगति या प्रेरणा प्राप्त की जाती है, तब हृदय में अवश्य ही वीतरागता के भाव एवं संस्कार जाग्रत होते हैं। सान्निध्य या संगति पाने का अर्थ है–उनका नाम-स्मरण, गुण-स्मरण, स्तवन, जप, स्तुति, नमन, गुणगान करना। इस प्रकार वीतराग प्रभु के सान्निध्य का जितना अधिक लाभ लिया जाता है, उतने ही मन के भाव, शुद्धि और उल्लास बढ़ते जाते हैं और सान्निध्यकर्त्ता का मोहावरण हटता जाता है तथा वह अधिकाधिक ज्ञाता-द्रष्टा होकर उच्च दशा पर पहुँच जाता है। उक्त सान्निध्य के सतत अभ्यास से उसकी राग-द्वेष की, विषमता की या मोह की वृत्तियाँ स्वतः शान्त होने लगती हैं और एक दिन वह तमाम कर्मों से मुक्त, मोहमुक्त जन्म-मरणादि से मुक्त, सर्वदुःखमुक्त होकर सिद्ध-परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

सोये हुए परमात्मभाव को जगाने का अपूर्व साधन : शुद्ध भाव में रमणता

शरीर में रहा हुआ आत्मा तात्त्विक दृष्टि से तो परमात्मस्वरूप है, परन्तु वह कर्मों से आवृत होने के कारण अशुद्ध भाव में प्रवर्तमान है, जिसके कारण वह भवचक्र में भ्रमण करता है। अगर वह भावों से अपनी आत्मा को शुद्ध भाव में–

१. वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत्॥ –योगशास्त्र प्र. ९/१३

आत्म-स्वभाव में प्रेरित करे तो वह अपने स्वाभाविक स्वभाव (सिद्ध-स्वरूप) को प्रगट कर सकता है, अपने में सोये हुए परमात्मभाव को जगा सकता है। अरिहंत और सिद्ध-परमात्मा हमें अपने सुषुप्त परमात्मत्व को जगाने-प्राप्त कराने के लिए प्रेरक हैं-प्रकाशस्तम्भ हैं, आदर्श हैं।

अतः जिस ध्येय, आदर्श या परमात्म देव के निमित्त से चित्त और आत्मा की शुद्धि एवं आत्म-विकास होकर अन्त में वीतरागत्व या परमात्मत्व प्रगट होता है, उस महान् उपकारी परमात्माओं के उपकारों के प्रति कृतज्ञ होकर उनका गुणगान, कीर्तन, स्तुति, भक्ति, आराधना-उपासना आदि करना व्यवहारनय की दृष्टि से अत्यावश्यक है।[1]

गुणों की उपलब्धि के लिए वन्दना या स्तुति

इसी प्रकार वीतराग प्रभु को वन्दन, नमस्कार, गुणगान या स्तुति करने का उद्देश्य उनके प्रति समर्पितभाव से रहकर स्वभाव में रमणता का अभ्यास बढ़ाना है। समर्पकभावपूजक भक्त वन्दन भी इसी रूप में करता है-"कर्मरूपी पर्वतों का भेदनकर्त्ता, राग-द्वेष विजेता, विश्वतत्त्वों के ज्ञाता, परम तत्त्व के प्रकाशक एवं मोक्षमार्ग पर ले जाने वाले वीतराग देव को उनके जैसे गुणों की उपलब्धि के लिए मैं वन्दना करता हूँ।"

भावपूजक द्वारा वीतराग प्रभु का सान्निध्य या अवलम्बन लेने से साधक की आत्म-चेतना जग जाती है। वह प्रार्थना करता है-हे अरिहंत तथा मुक्त सिद्ध प्रभो ! मेरी भक्ति आपके सद्गुणों में बनी रहे, ताकि मैं किसी समय भी दुर्गुणों, विभावों या परभावों में न फँस जाऊँ। त्रिकाल-त्रिलोक में सांसारिक दुःख-चक्र से, भव-चक्र से बचाने वाला एकमात्र सिद्ध-मुक्त परमात्मा का ही अवलम्बन है।

●●

---

१. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे ! तद्गुणलब्धये॥ —सर्वार्थसिद्धि मंगलाचरण

५

परमात्मपद-प्राप्ति का मूलाधार : आत्म-स्वभाव में स्थिरता

परभाव में रमण से कर्मबन्ध और स्वभाव में रमण से कर्ममुक्ति

कर्मविज्ञान की दृष्टि से जब हम आत्मा को परमात्मभाव = शुद्ध आत्म-स्वभाव से बहुत दूर हटकर परभाव और विभाव के प्रवाह में बहता देखते हैं तो कर्मक्षय के बदले कर्मबन्ध ही अधिकाधिक बढ़ना निश्चित है। यह कर्मबन्ध तभी रुक सकता है, जब हम परभाव और विभाव से मुड़कर स्वभाव में आ जाएँ, स्वभाव के विषय में अधिकाधिक चिन्तन, मनन, रमण करने अथवा आत्मा में, आत्म-स्वभाव में या आत्म-स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करें। ऐसा करने से स्वभाव स्थितिरूप मोक्ष निश्चित है।

आत्मा और परमात्मा के स्वभाव में बहुत अन्तर

प्रश्न होता है–कहाँ आत्मा का स्वभाव और कहाँ परमात्म-स्वभाव? दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। दोनों के स्वभाव में, गुणधर्म में, स्व-स्वधर्म में अन्तर है, तब कैसे आत्म-स्वभाव में जीव (आत्मा) स्थिर हो?

व्यवहारदृष्टि से परमात्मा और आत्मा का स्वभाव भिन्न-भिन्न, किन्तु निश्चयदृष्टि से समान

वास्तव में व्यवहारदृष्टि या पर्यायदृष्टि से सोचें तो आत्मा और परमात्मा दोनों का स्वभाव पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होता है। सामान्य आत्मा मनुष्य, विशेषतः श्रावक वर्ग और साधु वर्ग, इन सब का आचार-व्यवहार, व्रतनियम, प्रकृति, मनःस्थिति आदि को देखते हुए मालूम होता है कि ये संसारापन्न मानव कर्मों के आवरण से दबे हुए परभावों और विभावों में लिपटे हुए हैं। निश्चयदृष्टि से तो आत्मा और परमात्मा–दूसरे शब्दों में व्यवहार से वर्तमान में कर्मलिप्त आत्मा का और सर्वकर्ममुक्त परमात्मा का मूल स्वभाव और गुणधर्म एक समान हैं। उसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं है। दोनों का मूल स्वभाव, निज गुणधर्म या स्वरूप सदृश होने के कारण ही कहा जाता है–"**अप्पा सो परमप्पा**।"–आत्मा ही परमात्मा है

अथवा आत्मा परमात्मा हो सकता है अथवा आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है।[1] कहा भी है–"सिद्धस्य स्वभावो यः, सैव साधक-योग्यता।"–जो सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है, वही स्वभाव प्रकट करने की योग्यता साधक की आत्मा में है।"[2]

स्वभाव में साम्य होने से ही आत्मा परमात्मा बन सकती है

जैसे–मिट्टी और घड़े के स्वभाव में समानता है, इसीलिए तो मिट्टी से घड़ा बनता है। घट और तन्तु में, पट और मिट्टी के स्वभाव में साम्य नहीं है, इस कारण तन्तु से घट या मिट्टी से पट नहीं बन सकता है। इसी प्रकार शरीर आदि परभावों के स्वभाव से परमात्म-स्वभाव में बहुत अन्तर है, जबकि सच्चिदानन्दघनरूप शुद्ध आत्मा और परमात्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं। जो परमात्मा का स्वभाव है, वही शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। इसीलिए 'प्रवचनसार' में आत्मा के द्वारा निश्चयदृष्टि से स्वरूप-स्वभाव का कथन इस प्रकार किया गया है–"सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं अणंतणाणादि-गुण-समिद्धोऽहं।"[3] अर्थात् मैं सिद्ध-परमात्मा हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध हूँ और शुद्ध (निर्विकार-निर्विकल्प, परभावों-विभावों से रहित, कर्ममलरहित) आत्मा हूँ।"

प्रत्येक आत्मा परमात्मस्वरूप है, विभिन्नता या अपूर्णता उसका शुद्ध स्वभाव नहीं है

वास्तव में प्रत्येक आत्मा परमात्मा के समान सच्चिदानन्दमूर्ति है, शुद्ध है, पवित्र है, निर्विकार है, ज्ञान, आनन्द और शक्ति से परिपूर्ण है। संसारी आत्माओं में बाह्य रूप से शरीरादि में तथा वर्तमान स्थिति में अन्तर दिखाई देता है, परन्तु अन्तर्मुखी दृष्टि से देखा जाए तो समस्त आत्माएँ मूल स्वभाव में परमात्मा हैं। अपूर्णता या विभिन्नता आत्मा का शुद्ध = मूल स्वरूप नहीं है। जैसे–एक जगह सोने की १०० पाट हैं, उन पर विभिन्न प्रकार के वस्त्र लपेटे हुए हैं। किन्तु उनके भीतर सोना तो एक समान ही है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्य-पिण्ड है। बाहर से छोटा-बड़ा या वर्तमान काल की क्षणभंगुर अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में न लेकर आत्मा को त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव की दृष्टि से देखें, तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव, मोक्ष-प्राप्त सिद्ध-परमात्मा के समान परिपूर्ण है। जितनी शक्ति सिद्ध-परमात्मा में है, उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मा में है।

---

१. 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४०१
२. अध्ययनसार
३. प्रवचनसार

बहिरात्मा ही परभावों-विभावों को अपने मानकर कर्मबन्ध करता है, अन्तरात्मा नहीं

अज्ञानी और बहिरात्मा जीव इस तत्त्व को भूलकर शरीरादि परभावों और राग-द्वेषादि विभावों (विकारों) को अपने मानता है, इसी कारण कर्मबन्ध होते हैं और उसे संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। ज्ञानी आत्मार्थी मुमुक्षु अपने परिपूर्ण आत्म-स्वभाव को पहचानकर उसके आश्रय से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष या परमात्मपद को पाने की साधना करता है और एक दिन संसार-सागर को पार करके जन्म-मरण का अन्त कर देता है, कर्मों से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। अतः शक्ति (लब्धि) रूप से आत्मा ही परमात्मा है। इसकी प्रतीति करके स्वयं अभिव्यक्ति (प्रकट) रूप से भी परमात्मा बन सकता है। वह यह भलीभाँति हृदयंगम कर लेता है कि परमात्म-दशा को अभिव्यक्त (प्रकट) करने का अवसर इस मनुष्य-जन्म में, मनुष्य-शरीर में ही है। फिर वह आत्मा के प्रति रुचि और उत्सुकतापूर्वक सत्पुरुषों के समागम से, सुशास्त्रों के स्वाध्याय से, आत्म-ध्यान-चिन्तन से आत्मा के उक्त परमात्म-सम शुद्ध स्वभाव की पहचान कर लेता है—मैं सिद्ध-परमात्मा के समान शुद्ध, पवित्र, निर्मल, निष्कलंक कर्ममलरहित, ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ। जो भी विकारी भाव (राग-द्वेषादि तथा काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विभाव) हैं, वे मेरे नहीं हैं, वे मेरे स्वरूप से भिन्न हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं।[1]

सिद्ध-परमात्मा में और मेरी (शुद्ध) आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा विश्वास करें

जिसके ज्ञान में, मन-बुद्धि-चित्त-हृदयरूप अन्तःकरण के कण-कण में ऐसी दृढ़ श्रद्धा, आत्म-विश्वास, दृढ़ प्रतीति, तीव्र रुचि, तड़फन और भावोर्मियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं कि मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मानन्द और अनन्त आत्म-शक्तिरूप अनन्त गुणों से सम्पन्न स्वाभाविक तत्त्व (आत्म-द्रव्य) हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध-परमात्मा की जाति का हूँ। वे अनन्त ज्ञानादि के रसकन्द हैं, वैसा ही मैं हूँ। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार जैसे सिद्ध-परमात्मा में किसी उपाधि का अंश नहीं है[2], वैसे मैं भी शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से उपाधि से रहित हूँ, क्योंकि उपाधि कर्म से होती है।[3] जैसे सिद्ध-परमात्मा के संकल्प-विकल्प या रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे मेरे (शुद्ध आत्मा के) भी कोई उपाधि या प्रपंच नहीं है।

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०२-४०३

२. उवाही पासगस्स नत्थि। —आचारांग, श्रु. १

३. कम्मुणा उवाही जायइ। —वही, श्रु. १

ऐसा मुमुक्षु भविष्य की अपेक्षा से सिद्ध-परमात्मा है

वर्तमान काल की अस्थायी (क्षणिक) अपूर्णता को न देखकर जो सिद्ध-परमात्मा के समान पूर्णता की प्रतीति करके ऐसा दृढ़ विश्वास अन्तर में आता है तथा जो सिद्ध-परमात्मा को भाव से अपनी अन्तरात्मा में स्थापित कर लेता है, उसके विरुद्धभाव नष्ट हो जाते हैं और वह एक दिन सिद्ध-परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। साथ ही जो मुमुक्षु साधक दृढ़ श्रद्धापूर्वक परमात्मा के स्वभाव के समान अपने आत्म-स्वभाव का निश्चय कर लेता है कि मैं पूर्ण, अशरीरी, अबन्ध परम आत्मा (शुद्ध आत्मा) हूँ, फिर उसमें राग-द्वेषादि विभाव और स्वभाव-रमण की अस्थिरता बहुत ही कम रह जाती है, क्योंकि मूल में तो समस्त आत्माओं की आन्तरिक दशा तो निश्चयदृष्टि से सिद्ध-परमात्मा के समान ही है। अतः जिसे यह दृढ़ श्रद्धा, प्रतीति और रुचि हो जाती है कि "मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरावलम्बी, पुण्य-पापादिजन्य उपाधि से रहित, असंग, सिद्ध-परमात्मा के समान हूँ; सिद्ध भगवान की आत्मा जितनी महान् है, उतनी ही महान् मेरी आत्मा है। मेरी भी अन्तरंग दशा परमात्मा के समान है।" समझ लो, उसकी अन्तरात्मा में परमात्मा के समान अपने आत्म-स्वभाव की बात जम गई है। इसलिए भविष्य की अपेक्षा से उसे सिद्ध-परमात्मा कहा जा सकता है। 'परमानन्द पंचविंशति' में इसी तथ्य को उजागर किया गया है–"शुद्ध, निरंजन, निराकार, निर्विकार तथा स्व-स्वरूप में सदैव स्थित और अष्ट गुणों से युक्त जो सिद्ध-परमात्मा हैं, उनके समान जो साधक अपनी आत्मा को जानता है, वह सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि से युक्त पण्डित है। उसका सहजानन्द, ज्ञानघन चैतन्य परमात्मा के समान महान् रूप से प्रकाशित (प्रकट) होता है।"

तात्पर्य यह है कि मन, वचन, काया, कर्म आदि परभावों तथा रागादि विभावों की उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का जो स्वभाव है, वही सिद्ध-परमात्मा का स्वभाव है, इस सिद्धान्त को हृदयंगम करके जो दृढ़ विश्वास कर लेता है कि अपना (आत्मा) शुद्ध स्वभाव ही मेरे लिए उपादेय है, वह साधक भविष्य में आत्म-स्वभाव में स्थिर होकर परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। परमात्मभाव की प्राप्ति का अर्थ है–मोक्ष-प्राप्ति।[1]

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०३-४०४

(ख) आकाररहितं शुद्धं, स्व-स्वरूपे व्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम् ॥२०॥
तत्समं तु निजात्मानं, यो जानाति स पण्डितः।
सहजानन्द-चैतन्यं, प्रकाशयति महीयसे ॥२१॥ —*परमानन्द पंचविंशति २०-२१*

आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है, शरीरादि में नहीं

प्रत्येक आत्मा परमात्म-शक्ति से परिपूर्ण है। उसी में से परमात्म-शक्ति प्रगट होती है। आत्मा में परमात्मा बनने की यह शक्ति कहीं बाहर से, पर-पदार्थों से या किसी शक्ति या भगवान के देने से नहीं प्रकट होती; वह उसके भीतर ही भरी है, वह उसके स्व-पुरुषार्थ से ही अभिव्यक्त होती है। जैसे–पिप्पल को चौंसठ पहर तक घिसने से उसमें से तीक्ष्णता (विशिष्ट शक्ति मात्रा) प्रगट होती है। वह तीक्ष्णता कोई बाहर से, किसी मंत्र-तंत्र से या किसी शक्ति के वरदान से नहीं प्रगट होती, न ही खरल में से वह प्रगट होती है। परन्तु पिप्पल में ही चौंसठ प्रहरी तीक्ष्णता शक्तिरूप से विद्यमान थी, वही प्रकट होती है। इसी प्रकार उस पिप्पल में चौंसठ प्रहरी तीक्ष्णता एक से लेकर तिरेसठ पहर तक की घुटाई से भी पूर्ण तीक्ष्णता नहीं आती। वस्तुतः पिप्पल की अधूरी घुटाई से चौंसठ पहर तक घोंटने से उत्पन्न पूर्ण तीक्ष्णता नहीं आती। पूर्ण तीक्ष्णता भी पिप्पल की पूरी शक्ति में से ही आती है। चूहे की मींगनी भी पिप्पल जैसे आकार की होती है, पर उसको घिसने से पिप्पलीजन्य तीक्ष्णता प्रकट नहीं होती; क्योंकि उसका स्वभाव ही वैसा नहीं है। पिप्पल में ही तीक्ष्णता प्रकट होने का स्वभाव है, इसलिए उसी में से ही तीक्ष्णता प्रगट होती है। वह तीक्ष्णता किसी बाह्य वस्तु के संयोग से भी प्रकट नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा परिपूर्ण परमात्म-शक्ति से भरा है, उसी की श्रद्धा एवं उसी के यथार्थ ज्ञान की एकाग्रता से तथा शुद्ध (निश्चय) रत्नत्रय के अभ्यास से आत्मा में ही परमात्म-शक्ति या परमात्म-दशा प्रकट हो जाती है, किन्तु शरीर आदि बाह्य पदार्थों को मात्र घिस डालने या केवल सुखा डालने से परमात्म-शक्ति या परमात्म-दशा प्रकट नहीं होती, क्योंकि उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है। इसी प्रकार अपूर्ण दशा में से भी परिपूर्ण परमात्म-दशा या परमात्म-शक्ति प्राप्त नहीं होती। परिपूर्ण परमात्म-दशा या परमात्म-शक्ति तभी प्रकट हो पाती है, जब आत्मा में परमात्मा के सदृश, जो ध्रुव स्वभाव त्रिकाल भरा है, उसी के आलम्बन से अपूर्ण दशा का क्षय (व्यय) होकर परिपूर्ण परमात्म-दशा प्रगट हो जाती है और वह होती है अपनी आत्मा में सिद्धत्व = परमात्मत्व स्थापित करने से ही। इस प्रकार परिपूर्ण परमात्म-दशा जब भी प्रकट होगी, शुद्ध आत्मा में से ही, आत्मा में ही प्रकट होगी। यही सिद्धि, मुक्ति या दूसरे शब्दों में परमात्मपद-प्राप्ति का ठोस उपाय है।[1]

ऐसी अभेद ध्रुवदृष्टि वाले को अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति की चिन्ता नहीं होती

दूसरी बात यह है कि जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में पाँच किलो सोना लाकर रखता है तो उसकी पत्नी को यह विश्वास हो जाता है कि भविष्य में इस सोने के

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०४-४०५

आभूषण बनेंगे। आभूषण अभी बने नहीं हैं, किन्तु उस सोने से आभूषण बनाने की सारी योजना उसके मन-मस्तिष्क में बैठ जाती है क्योंकि उसे ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है कि सोने में आभूषण बनने की पूरी शक्ति है। इसी प्रकार जब स्वरूप-स्थितिरूप मोक्षसाधक को यह प्रतीति हो जाती है कि मेरी शुद्ध आत्मा में सिद्ध-परमात्मा के समान ही अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिरूपी स्वर्ण निहित है–विद्यमान है, तो उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मेरी आत्मा वर्तमान में ज्ञान-दर्शन-आनन्द (अव्याबाध आत्म-सुख) और आत्म-शक्ति में अपूर्ण है, किन्तु इन चतुर्गुणात्मक आत्म-भावों में परमात्मा बनने की शक्ति है, इसलिए तथारूप स्वभाव में स्थिरता की साधना से भविष्य में एक न एक दिन अवश्य ही परमात्मा बन सकेगी। स्वरूप-स्थितिरूप मोक्षसाधक के मन-मस्तिष्क में ऐसी अभेद ध्रुवदृष्टि (आत्मा और परमात्मा की शक्ति में साम्यता होने की अखण्ड परमार्थदृष्टि) होने से अन्य विकल्प या शंका-कुशंका उठती ही नहीं तथा उसे यह निश्चित प्रतीति हो जाती है कि मैं अवश्य ही भविष्य में परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से सम्पन्न हो जाऊँगा, क्योंकि उसे यह विश्वास पक्का हो जाता है कि मेरी आत्मा में अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय वर्तमान में शक्तिरूप में पाप है, उनकी अभिव्यक्ति कब और कैसे होगी? इसकी चिन्ता उक्त अखण्ड ध्रुवदृष्टि वाले को नहीं होती।[1]

आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता भी है

अमुक मिट्टी में घड़ा आदि बनने की योग्यता है, तभी तो कुम्भकार उस मिट्टी को लाता है और मन ही मन यह निश्चित योजना बनाता है कि इससे घड़े, कुंजे, सुराही, धूपदान आदि बन सकेंगे, बनाये जाएँगे, फिर वह अपनी निर्णयात्मक योजनानुसार मिट्टी को रौंदता–गूँथता है और चाक पर चढ़ाकर मनचाहे घड़ा आदि पदार्थ बना लेता है। इसी प्रकार मोक्ष-पुरुषार्थी साधक यह जानता है कि मेरी आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है, क्योंकि अर्जुन मालाकार, गजसुकुमार आदि जो भी मुमुक्षु साधक सामान्य आत्मा से परमात्मा बने हैं, उनकी दृष्टि आत्मा और परमात्मा के स्वभाव-सदृश्य की अभेद ध्रुवदृष्टि बनी, इस पर से उन्होंने निश्चय किया कि भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है, फिर उन्होंने तीर्थंकर, गुरु आदि से मार्गदर्शन पाकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव में सतत रत और स्थिर रहने और परभावों के ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का अभ्यास किया। फलतः उनकी परिणति आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अधिकाधिक दृढ़ होती गई। ॐ अन्तर्यामीदेव, शुद्धभावे करुं सेव, चित्तशान्ति नित्यमेव; यह धुन सतत उनके अन्तर्मन में चलती रही। इस प्रकार उन्होंने आत्मा को अखण्डित = अविच्छिन्न रूप से सतत परमात्मभाव के स्मरण, चिन्तन और ध्यान में लगाये रखा; पुण्य या

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०४

रागादि परभावों या विभावों में नहीं जाने दिया। इसी प्रकार जो मोक्षसाधक संसार के सजीव-निर्जीव पदार्थों को परभाव तथा कषायादि-नोकषायादि व रागादि भावों को विभाव समझकर उनसे दूर रहता है, उन्हें अपने (आत्मा के) नहीं मानता और उनकी इच्छा भी नहीं करता। स्वकृत-कर्मोदय से प्राप्त जो शुभाशुभ भाव (पदार्थ) परभाव हैं तथा राग-द्वेष-मोह-कषाय आदि जो शुभाशुभ विभाव (विकारीभाव) हैं, वे आत्मा के असली स्वभाव नहीं हैं। जो साधक इस प्रकार आत्मा की विभिन्न पर्यायों पर दृष्टि न रखकर एकमात्र आत्म-द्रव्य पर अखण्ड ध्रुवदृष्टि रखता है, वह पर्यायों को जानता-देखता अवश्य है, परन्तु उनका आलम्बन नहीं लेता, उनसे स्वभाव में रमण करने में सहायक होने की आशा-आकांक्षा नहीं रखता। उसे आत्मा के शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं स्वभाव का सतत भाव रहने से, वह पूर्वोक्त विभावों (विकारों) को अपने में आरोपित समझकर, उन्हें नहीं अपनाता तथा कर्मजन्य शरीरादि परभावों पर राग-द्वेषादि से दूर रहता है, सिर्फ उनका ज्ञाता-द्रष्टा तथा साक्षी रहता है। यों वह साधक विकारों से विमुख होकर शुद्ध स्वरूप की ओर मुड़ जाता है। अर्थात् स्वभाव और परभाव-विभाव का भेदविज्ञानरूपी दीपक उसकी अन्तरात्मा में सतत प्रज्वलित रहने से वह रागादि परिणति को शुद्ध स्वभाव के रूप में कभी स्वीकार नहीं करता। उसे परभावभूत उपाधि जानकर छोड़ता जाता है। रागादि परिणति छूट जाने से कर्मबन्ध की अनादि परम्परा टूट जाती है। नये कर्मों का संवर (निरोध) होता जाता है और पूर्वबद्ध प्राचीन कर्म झड़ते जाते (निर्जरा होती जाती) हैं। इस प्रकार स्वभाव में अखण्डित रूप से स्थिर रहने से वह क्रमशः सर्वकर्मों से विमुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो जाता है।[1]

योग्यता होते हुए भी अभेद ध्रुवदृष्टि न हो, वहाँ तक परमात्मा नहीं हो सकता

आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता होते हुए भी जब तक वह (आत्मा) स्वभाव को छोड़कर परभावों या विभावों में रमण करता रहे, परभावों से रागादि सम्बन्ध रखता है, पुण्यादि परभावों या कर्मजनित शरीरादि या स्त्री-पुत्रादि परभावों को ममता-मूर्च्छापूर्वक अपने मानता है, तब तक परमात्मा नहीं बन सकता। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता होते हुए उस मिट्टी के साथ बालू (रेत) मिली हुई हो तो वह घड़ा नहीं बन सकती। वह घड़ा तभी बन सकती है, जब मिट्टी के साथ मिश्रित बालू रासायनिक मिश्रणों द्वारा चिकनी बना दी जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ जब रागादि-विभावजनित कर्मरज झड़ नहीं जाती, अथवा समता, क्षमादि दशविध धर्म, द्वादशविध तप आदि द्वारा उसे झाड़ नहीं दी

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०५-४०६

जाती और अपने सच्चिदानन्द-ज्ञानघनरूप शुद्ध स्वभाव पर अभेद ध्रुवदृष्टि नहीं रहती, तब तक सामान्य भव्य आत्मा का भी परमात्मा बनना संभव नहीं है।

परभाव और विभाव : क्या हैं, किस प्रकार के हैं, क्या करते हैं ?

अपनी आत्मा से भिन्न जितने भी स्व-आत्म-बाह्य पदार्थ हैं, भाव हैं, वे परभाव हैं। वे परभाव निर्जीव भी होते हैं, सजीव भी और रागादि कषाय-नोकषाय-मोहादि आत्म-बाह्य विकारी भाव (विभाव) के रूप में भी होते हैं। अपनी आत्मा के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन, कुटुम्ब, परिवार, ग्राम, नगर, समाज, राष्ट्र, धर्म-संघ, संस्था, गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि प्राणी तथा विश्व के समस्त प्राणी सजीव परभाव हैं तथा तन, मन, वाणी, प्राण, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, मकान, दुकान, बाग-बगीचा, बंगला, मोटर, वस्त्र-आभूषण, कारखाना तथा अन्य भोज्य-पेय पदार्थ, फर्नीचर आदि सब निर्जीव परभाव हैं। ये शुद्ध आत्मा के स्वभाव या आत्मिक गुणधर्म से जनित या प्राप्त नहीं हैं। इसी प्रकार इन्हीं परभावों पर राग, द्वेष, क्रोध आदि कषाय, मोह, कामना, वासना, लिप्सा, आसक्ति, घृणा, ममता आदि होना विभाव है, जो भावकर्मबन्ध के हेतु हैं, वे कर्मपुद्गल भी परभाव हैं। ये भी आत्मा के स्वभाव से, आत्म-गुणों से भिन्न हैं।[1]

स्वभाव की निश्चित प्रतीति कैसे हो, कब मानी जाए ?

वास्तव में स्वभाव की, स्वरूप की या आत्मा के निज-गुण की निश्चित प्रतीति होना ही परमात्मभाव की साधना का श्रीगणेश है। स्वभाव की या आत्मा के शुद्ध स्वरूप की निश्चित प्रतीति कैसे हो? इस सम्बन्ध में सीधा और सरल सहज उपाय है–आत्मा के शुद्ध (मूल) स्वभाव का यथार्थ ज्ञान। पानी का मूल शुद्ध स्वभाव शीतल है, उष्ण नहीं। परन्तु जब पानी उबल रहा हो या गर्म हो, तब उसके मूल (शुद्ध) स्वभाव का ज्ञान हाथ, पैर, आँख, कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों से नहीं होता, तथैव उसके मूल शीतल स्वभाव का निर्णय राग, द्वेष, हठाग्रह, भय, पक्षपात, आकुलता, स्वार्थ, आसक्ति, मोह आदि विकारों के संकल्प-विकल्प से भी नहीं होता; परन्तु पानी के शीतल स्वभावरूप मूल स्वभाव के त्रैकालिक अनुभव ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है। इसी प्रकार आत्मा की पर्यायों में विकार होते हुए भी सर्वज्ञ वीतराग आप्त तीर्थंकरों ने आत्मा का स्वरूप और स्वभाव शुद्ध चैतन्यमय अथवा ज्ञानमय (उपयोगमय) बताया है तथा उन ज्ञानी पुरुषों ने वैसा अनुभव भी किया है।

---

१. (क) एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥
(ख) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०६-४०७

अतएव आत्मा के शुद्ध स्वरूप या स्वभाव का निर्णय भी इन्द्रियों से या मन के राग-द्वेषादि वैभाविक संकल्प-विकल्पों से नहीं होता, अपितु वह होता है–ज्ञान को अन्तर में स्थित करने पर स्वभाव का स्पर्श होते ही। तब ऐसी निश्चित प्रतीति हो जाती है कि सिद्ध-परमात्मा का जो स्वभाव या स्वरूप है, वही मेरा स्वभाव या स्वरूप है। भूल या अशुद्धता अथवा रागादिजनित या कर्मोपाधिक पर्याय मेरा स्वभाव या स्वरूप नहीं है, वे सब औपाधिक (अशुद्ध पर्याय) हैं। आत्मार्थी मुमुक्षु साधक की दृष्टि अशुद्धता या औपाधिक अशुद्ध पर्यायों की ओर नहीं जाती। उसकी दृष्टि अशुद्धिरहित शुद्ध आत्म-भाव को ही देखती है। इस प्रकार पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वभाव का स्वीकार तथा परभावों और विभावों का अस्वीकार करके ही उसमें स्थिर होकर अनन्त जीव परमात्मरूप सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं।

उष्ण जल के मूल शीतल स्वभाव का निर्णय करते समय तत्काल उसकी शीतलता का वेदन (अनुभव) हो या न हो, किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वभाव का निर्णय करते समय अन्तर में तत्क्षण उसकी शुद्धता के अंश का आनन्द सहित वेदन (अनुभव) अवश्य होता है। जब तक साधक को ऐसा वेदन नहीं होता, तब तक आत्मा के शुद्ध स्वभाव का निर्णय नहीं कहलाता। जैसे सुई में डोरा पिरोने पर वह कहीं गुम नहीं होती और तभी वह कपड़ों को सीं सकती है, जोड़ भी सकती है; इसी प्रकार आत्म-स्वभावतारूपी सुई को निश्चित निर्णय (ज्ञान) रूपी डोरे में पिरो लेने पर वह इधर-उधर परभावों या विभावों में स्वयं गुम नहीं होती, बल्कि वह अपने में आत्म-गुणों को जोड़ने का ही उपक्रम करती है।

स्वभाव के निर्णयकर्त्ता को पर-पदार्थों या विभावों से कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती

जिसे स्वभाव का निश्चित निर्णय (अनुभव ज्ञान) हो जाता है, उसे अन्य सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों की अथवा पुण्यादिजनित प्रशंसा, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा या स्वार्थलिप्सा आदि की कामना, आशा, आकांक्षा या स्पृहा नहीं रहती, क्योंकि वह भलीभाँति समझ लेता है कि पर-पदार्थों या पुण्यादिजनित परभावों या रागादि विभावों से कल्याण की, हिताहित की आशा या आकांक्षा करना भिखारीपन है। पर-पदार्थों से जब तक किसी प्रकार की कामना या आकांक्षा का मन में अंश है, कहना चाहिए–तब तक वह स्वभाव का सच्चा निर्णायक नहीं हुआ। कोई भी समझदार व्यक्ति दूसरे के घर की लक्ष्मी को अपनी नहीं मानता, न ही उसे मुफ्त में लेने की इच्छा या लालसा करता है; वैसे ही स्वभावनिष्ठ व्यक्ति परभावरूपी पुण्य-पाप की लक्ष्मी को अपनी नहीं मानता और न उसे लेने या स्वीकारने की इच्छा करता है।[1]

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०८

सम्यग्दृष्टि आत्मा के मूल स्वरूप को देखता है, विकार एवं मलिनता को नहीं

वस्तुतः जो भी शुभ या अशुभ भाव (परिणाम) होते हैं, वे आत्मा के मूल स्वभाव या स्वरूप के नहीं हैं, किन्तु पर्याय में ऊपर-ऊपर से होने वाले विकारभाव (विभाव) हैं। अतः आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि ऊपर-ऊपर से होने वाले शुभ-अशुभ भावों के कारण शुद्ध स्वभावात्मक आत्मा को विकार-भावात्मक न मानकर अन्तर के मूल स्वरूप को देखता है। जैसे समुद्र के पानी में कहीं-कहीं मलिन तरंग दिखाई देती है, परन्तु उससे सारा समुद्र मलिन नहीं हो जाता। क्षणिक मलिन तरंग सारे समुद्र को मलिन करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार, मलिन तरंग के समय भी समुद्र तो निर्मल ही है, उसी प्रकार वर्तमान दशा में किंचित् ऊपरी मलिनता दिखाई देने पर भी चैतन्य-समुद्र तो निर्मल ही है। जो भी मलिनता दिखाई देती है, वह क्षणिक है, ऊपरी है; समग्र आत्म-स्वरूप या स्वभाव मलिन नहीं है। आत्म-स्वभाव शुद्ध एकरूप है। जो क्षणिक विकारभाव आता है, वह आत्मा के समग्र शुद्ध स्वरूप (स्वभाव) को मलिन करने में समर्थ नहीं है। इतने पर से आत्मा विकारात्मक ही है, ऐसा जानना-मानना अज्ञान है और आत्म-स्वरूप को विकार से भिन्न शुद्ध जानना-मानना सम्यग्ज्ञान है।

मधुर जल से परिपूर्ण क्षीरसागर के मूल स्वरूप को देखें तो वह (समुद्र) और उसका जल दोनों एकरूप और स्वच्छ प्रतीत होते हैं। तरंग की मलिनता तो बाह्य उपाधि है। उसी प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्यरूप ज्ञानानन्द समुद्र है। उसमें वर्तमान में जो विकारभावरूप मलिन तरंग दिखाई देती है, वह उसके मूल स्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्म-द्रव्य को मूल स्वरूप में देखा जाए तो उसके द्रव्य में, गुण में अथवा वर्तमान भाव में भी विकार नहीं है। आत्मा का मूल स्वरूप शुद्ध है और वही उपादेय है।

समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि वह अपने में मैल को रहने नहीं देता, उछालकर बाहर फेंक देता है, इसी प्रकार अनन्त ज्ञानादि आत्म-गुणरूप जल से परिपूर्ण शुद्ध आत्म-समुद्र में भी रागादि विकारभावों का प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अन्तरंग तत्त्व है और विकार बहिरंगतत्त्व है। अन्तरंगतत्त्व में बाह्यतत्त्व का प्रवेश हो नहीं सकता। कदाचित् आत्मा द्वारा अपने स्वभाव का भान भूलने से पुण्यादि विकाररूप बहिरंगतत्त्व का प्रवेश हो जाए तो भी शुद्ध आत्मा का स्वभाव विकार को नष्ट करने का है। 'नयचक्र' में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है– "जीव (आत्मा) स्वभावमय है, किन्तु किसी कारणवश वह परभावमय बन जाता है, उस समय यदि वह सावधान होकर स्व-स्वभाव से युक्त (स्वभाव में लीन) हो

जाता है, स्वतः ही परभाव से मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह स्वयं ही परभाव को छोड़ देता है अथवा परभाव स्वतः ही छूट जाता है।"

इससे सिद्ध हुआ कि "आत्मा कदाचित् परभाव में (प्रमादवश) चला भी जाए, किन्तु अन्तर में उसके प्रति उदासीनता हो, अथवा तुरंत जाग्रत होकर स्व-स्वभाव में लीन हो जाए तो 'पंचास्तिकाय' के अनुसार वह द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों के बन्ध से छूट जाता है।"[1]

शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा में कर्मरज प्रविष्ट नहीं हो सकती

जैसे शुद्ध स्फटिक की मूर्ति पर धूल पड़ी हुई हो, तो वह ऊपर-ऊपर ही रहती है, वह धूल उस मूर्ति के अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकती। स्फटिकमूर्ति तो निर्मल ही रहती है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा भी स्वभाव से स्फटिक जैसी निर्मल ही है। उस पर कर्मरूपी धूल (रज) पड़ी होने पर भी वह शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकती। आत्मा (अपने आप में) ज्ञानमय-स्वभावरूपी चैतन्यमूर्ति निर्मल है। वह कर्म तथा शरीर की धूल से पृथक् रहा हुआ है। यों जानकर दृढ़ निश्चय के साथ प्रतीति करे तो ज्ञानानन्द-स्वभावरूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है।

स्वभावनिष्ठा की सुदृढ़ता ऐसे हो सकती है

आशय यह है कि जिस प्रकार स्फटिक निर्मित मूर्ति के ऊपर चारों ओर धूल होते हुए भी वह धूल उस मूर्ति में प्रविष्ट नहीं हो सकती; उसी प्रकार शरीर और कर्मसमूहरूपी धूल के बीच में ज्ञानमूर्ति आत्मा विराजमान होते हुए भी आत्मा में वे (शरीर या कर्म) प्रविष्ट नहीं हो सकते। इस प्रकार आत्मा को रागादि विकारों (विभावों), विकल्पों और परभावों से निर्लिप्त जानकर अन्तर में उसे शुद्ध रूप में देखने का अभ्यास और प्रयत्न करे तो वह शुद्ध स्वभावमयी दिखाई देती है, इन्द्रियों द्वारा नहीं, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शनरूपी नेत्रों से। इस प्रकार दिव्य अन्तश्चक्षुओं से आत्मा को देखने का अभ्यास करे तो स्वभावनिष्ठा सुदृढ़ हो जाती है।

स्वभावनिष्ठा के लिए परभावों के प्रति सतत उदासीनता आवश्यक

स्वभावनिष्ठा के लिए परभावों तथा विभावों के प्रति सतत उदासीनता–उपेक्षा आवश्यक है। आत्मा तो हमारे साथ अनन्तकाल से है, आगे भी अनन्तकाल तक

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४०८-४०९
(ख) जीवो सहावमयो, कहं वि सो चेव जाद-परसमओ।
जुत्तो जइ ससहावे, तो परभावं खु मुंचेदि॥ –नयचक्र, गा. ४०२
(ग) जइ कुणइ सग-समयं, पब्भस्सदि कम्मबंधादो। –पंचास्तिकाय, गा. ३५३

रहेगी, परन्तु इस शरीर (मानव-शरीर) का सम्बन्ध तो नया हुआ है। हमने पूर्व-भवों में तथा इस भव में भी शरीरादि निमित्तों को खूब जाने, अपने माने, परन्तु उपादानरूप आत्मा के स्वभाव को जाना तथा अपना माना नहीं। पुण्य को आत्मा का स्वरूप माना, आत्मा को भी विकार (विभाव) युक्त माना, ये सब आत्म-स्वभावरूपी भ्रान्तियाँ भव-भव में रहीं, वे दूर नहीं हुईं। अतः आत्मा (उपादान) के स्वभाव-स्वरूप की जो भ्रान्तियाँ रह गई हैं, उन्हें दूर करने तथा आत्मा की अपने स्वभाव में निष्ठा के लिए प्रभावशाली उपाय है–"परभावों और विभावों के प्रति निरन्तर उदासीनता का क्रम सेवन करना।" यही आस्रवनिरोधरूप भावसंवर है तथा स्वभावरमणता से कर्मक्षयरूप निर्जरा है और मोक्ष-प्राप्ति अथवा परमात्मपद-प्राप्ति, स्वभावनिष्ठा के लिए अमोघ उपाय है। परभावों तथा विभावों के प्रति निरन्तर उदासीनता का विधान इसलिए किया गया है कि जरा-सा प्रमाद का झोंका आया कि आत्मा लुढ़क जाएगी विभावों और परभावों की ओर, देखते ही देखते वैराग्य या औदासीन्य का क्रम टूट जाएगा। जिस प्रकार किसी मंत्र को सिद्ध करना होता है तो लगातार उसकी आवृत्ति करनी होती है। अगर मंत्र-साधक मंत्र जाप बीच में ही छोड़ देता है, क्रम भंग कर देता है, तो मंत्र-शक्ति जाग्रत नहीं होती। उसे मंत्रसिद्धि के लिये फिर से उतना ही जाप बिना व्यवधान (गेप) किये लगातार करना पड़ता है। बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे लगातार घिसना पड़ता है। यदि थोड़ा-सा घिसकर उसे छोड़ दिया जाए और दूसरे कार्यों में व्यक्ति लग जाए तथा घंटे-दो घंटे बाद फिर आकर घिसने लगे तो उसमें से तेल नहीं निकलता। उसी प्रकार परभावों के प्रति निरन्तर उदासीनता या वैराग्य न रखे तो स्वभावनिष्ठा की भूमिका सुदृढ़ नहीं हो सकती। 'योगदर्शन' में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–

"स तु दीर्घतर-नैरन्तर्य-सत्कारा सेवितो दृढ़भूमिः।"

–दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने से ही साधना की भूमिका सुदृढ़–परिपक्व होती है।

अतः स्वभाव के प्रति स्थिरता एवं निष्ठा को सुदृढ़ बनाने के लिए परभावों और विभावों के प्रति सतत उदासीनता और विरक्ति जारी रखनी आवश्यक है। जब परभावों और विभावों के प्रति उदासीनता, अरुचि और विरक्ति प्रतिक्षण होगी, तभी उनके प्रति रुचि, अनुरक्ति या आसक्ति घटेगी और तभी अन्तरात्मा का स्वभाव की ओर चिन्तन, रुचि और उत्साह बढ़ेगा और तभी स्वभावनिष्ठा परिपक्व होगी।[1]

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१०-४११
(ख) योगदर्शन

परभावों और विभावों से सतत उदासीनता और विरक्ति ऐसे रह सकती है

कोई यह कहता है कि अहर्निश सतत परभावों और विभावों के प्रति उदासीनता या विरक्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि देहधारी मानव को खाना, पीना, सोना, चलना-फिरना आदि शारीरिक क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का अपनी भूमिका की मर्यादा में भी सेवन करना पड़ता है, कई पर-पदार्थों का उपभोग भी करना पड़ता है। उक्त क्रियाओं को करते समय तथा पंचेन्द्रिय विषयों का यथोचित मर्यादा में सेवन करते समय तथा पर-पदार्थों का यथोचित उपभोग करते समय शरीर-इन्द्रियादि परभावों तथा रागादि विभावों की ओर मन जाएगा ही, शरीर भी उन्हें ग्रहण करने जाएगा ही, ऐसी स्थिति में उन परभावों या विभावों से सतत उदासीनता और विरक्ति कैसे रह सकती है? इसका शास्त्रीय समाधान इस प्रकार है–विभावों या परभावों के प्रति रुचि, अनुरक्ति या आसक्ति का सारा दारोमदार मन पर है। यदि मन किसी भी परभाव को देख-सुनकर या आकर्षित होकर उसके प्रति प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता अथवा शुभ-अशुभ का, राग या द्वेष का भाव नहीं लाता है, तटस्थ एवं उदासीन रहता है, केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है, उसके प्रति रुचि या अरुचि नहीं दिखाता है, अनिष्ट-इष्ट-वियोग या इष्ट-अनिष्ट-संयोग में हर्ष-शोक का भाव लाकर आर्त्तध्यान नहीं करता है, हीनता-दीनता या उच्चता-नीचता के भाव नहीं लाता है, तो वह सभी प्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी सतत उदासीन व विरक्त रह सकता है, अपने ज्ञानमय स्वभाव में आत्मा को स्थिर रख सकता है। यदि साधक सम्यग्दृष्टि और आत्मार्थी मुमुक्षु है तो बाह्य पदार्थों के रहते हुए तथा उनका यथोचित मर्यादा में उपभोग करते हुए भी उसके मन में आसक्ति, स्वादलिप्सा, तृष्णा, पाने की लालसा आदि नहीं है तो वह अनासक्त, उदासीन और विरक्त रह सकता है, पास में पर-पदार्थों के रहते हुए भी तथा उनका उपभोग व उपयोग करते हुए भी यदि राग-द्वेषात्मक परिणति नहीं है, तो भोग्य पदार्थ भले ही रहें, कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु उपभोग के क्षणों में रागात्मक एवं द्वेषात्मक भाव नहीं है, तो साधक उदासीन एवं विरक्त रह सकता है। यदि इस कला को हस्तगत कर लिया जाए तो बाह्य पदार्थों (परभावों या विभावों) में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को अपने आप में बाँध सके। यह सूत्र याद रखना है कि आत्मा के साथ शुद्ध आत्मा (आत्म-भाव) को बाँधता है, न कि पदार्थों को। आत्म-भावों में स्थिर रहने वाला साधक संसार में रहता हुआ भी संसार के बंधनों में नहीं फँसता। वह संसार के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। शरीर में रहकर भी वह शरीर की ममता-मूर्च्छा के कारागार में नहीं बँधता। सम्यग्दृष्टि की विमल ज्योति जिसे मिल चुकी है, वह

व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र में रहता है, फिर भी अपने मूल घर आत्मा को नहीं भूलता। भरत चक्रवर्ती का उदाहरण इस विषय में प्रसिद्ध है। जनक विदेही भी इसी प्रकार के अनासक्त और निर्लिप्त व्यक्ति थे। वस्तुतः जिस साधक की यह आत्म-दृष्टि स्थिर हो जाती है, वह न संसार के किसी बाह्य पदार्थ के प्रलोभन में फँसता है, न रागादि विभाव उस पर हावी हो सकते हैं, न उसे किसी प्रकार का भय रहता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन की कला जिसे उपलब्ध हो गई है, वह भव-जल में रहकर भी कमलसम निर्लिप्त रहता है, भोगों के कीचड़ में उत्पन्न होकर भी कमलसम उनसे ऊपर उठा रहता है। वह सिखाता है–"तुम संसार में भले ही रहो, परन्तु संसार तुम्हारे में न रहे। नाव जल में चलती है तो कोई भय नहीं, नाव में जल नहीं जाना चाहिए। सम्यग्दर्शन के विलक्षण प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करके स्वभाव में स्थिर होकर समग्र विभावों, परभावों तथा विकल्पों के जाल से स्वयं को मुक्त रख सकता है, सतत उदासीन और विरक्त रह सकता है।[1]

आत्म-स्वभाव में प्रतिक्षण जाग्रत साधक सतत परभावों और विभावों से उदासीन और विरक्त रहते हैं

आशय यह है कि जिस प्रकार धनलोलुप व्यक्ति के मन में खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते सतत धनलिप्सा के भाव चलते रहते हैं, उसकी रुचि, उत्सुकता सतत धनवृद्धि में लगी रहती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक रुचि वाले आत्म-स्वभावनिष्ठ व्यक्ति भी खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते सदैव निरन्तर परभावों और विभावों के प्रति उदासीन और विरक्त रहकर स्वभाव में लीन रहते हैं। 'परमानन्द पचविंशति' में कहा है–

"आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्त संकल्प-विकल्पमुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्॥"

–समस्त संकल्प-विकल्पों (परभावों-विभावों के विकल्पों) से मुक्त आनन्दरूप जो परमात्मतत्त्व है, उसे योगी स्वयमेव (आत्म-स्वभाव से–आत्मा के शुद्ध ज्ञान से) जान लेता है। उनमें से जो स्वभाव में लीन होते हैं, वे नित्य (परमात्मभाव में) निवास करते (स्थिर हो जाते) हैं।"

तात्पर्य यह है कि जो स्वभाव के प्रति जागरूक और अप्रमत्त होता है, वह चाहे जैसी स्थिति में मन-वचन-काया से चाहे जैसी प्रवृत्ति करे, परभावों से उदासीन और विरक्त रहता है। खाना-पीना, सोना, व्यापार करना आदि क्रियाएँ

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४११
(ख) 'अध्यात्म प्रवचन' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २६१

करता हुआ भी अन्तर में उदासीनता या अरुचि से एक क्षण भी हटता नहीं है। आत्म-स्वभावनिष्ठ श्रीमद् राजचन्द्र जी जवाहरात का व्यवसाय करते थे, वे अपनी दुकान पर बैठते थे तथा खाते-पीते, सोते-बैठते भी थे। वे सभी आवश्यक क्रियाएँ यथोचित रूप से करते हुए भी आत्म-भावों में जाग्रत रहते थे।[1]

आत्म-स्वभावनिष्ठ साधक की परमार्थ दशा

सममुच आत्मार्थी की वृत्ति-प्रवृत्ति सतत आत्म-भाव में, निज अन्तरंग में बहती रहती है। इसी दशा को परमार्थ (निश्चय) से सम्यक्त्व दशा कही है। कविवर बनारसीदास जी ने सम्यग्दृष्टि साधक की वृत्ति-प्रवृत्ति का निम्नोक्त कवित्त में सुन्दर चित्रण किया है–

"स्वारथ के साचे, परमारथ के साचे चित्त।
साचे साचे बैन कहे, साचे जैनमती हैं॥
काहू के विरुद्ध नांही, 'पर' (में) जाय बुद्धि नांही।
आतम-गवेषी, न गृहस्थ हैं, न जती हैं॥
सिद्धि ऋद्धि वृद्धि दीसै, घट (आत्मा) में प्रगट सदा।
अन्तर की लच्छी सों, अयाची लच्छपती हैं॥
दास भगवन्त के, उदास रहे जगत सों।
सुखिया सदैव ऐसे, जीव समकिती हैं॥"

–ऐसे आत्मार्थी एवं परमार्थ में दत्तचित्त सम्यग्दृष्टि आत्म-स्वभावनिष्ठ साधक बाहर से भले ही देशविरति श्रावक अथवा सर्वविरति साधु न हों, फिर भी वे अहर्निश आत्म-गवेषणा में तत्पर रहते हैं। उनकी बुद्धि कभी परभावों में नहीं जाती, सदैव आत्म-भावों में लीन रहने वाले वे मुमुक्षु किसी के विरुद्ध न तो द्वेष करते हैं, न राग-मोह। इस कारण उनके अन्तर में सदैव आत्म-प्रतीति की सिद्धि, आत्म-गुणों की ऋद्धि और आत्म-भावों की वृद्धि प्रकट होती है। इसलिए वे आन्तरिक (आध्यात्मिक लक्ष्मी) से या आत्मिक पुरुषार्थ के लक्ष्य से अयाचक, लखपति का लक्ष्यपति बने हुए हैं। वे परमात्म दशा के दास हैं, संसार से उदास हैं और सदैव आत्म-सुख का श्वास लेते हैं।[2]

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१२
(ख) परमानन्द पंचविंशति, श्लो. २४

२. 'समयसार कलश' (कविवर बनारसीदास जी) से भाव ग्रहण

आत्म-स्वभावनिष्ठ संसार को नहीं, सिद्धालय को अपना घर समझता है

इस प्रकार आत्म-स्वभावनिष्ठ सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु साधक आत्म-स्वभाव को ही अपना घर समझकर उसी में रहता, खाता-पीता तथा अन्य प्रवृत्तियाँ करता है। वह रागादि विभाव तथा तज्जनित द्रव्यकर्मों के उदय से प्राप्त परभाव को अपना घर नहीं समझता। इसका फलितार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्म-स्वभावनिष्ठ साधक संसार में कुटुम्ब-परिवार, घर-बार, धन-सम्पत्ति आदि के बीच रहता हुआ भी संसार को अपना घर नहीं समझता और इन सब परभावों से अलिप्त और अनासक्त रहता है, इन सबको वह क्षणिक कर्मजनित सम्पर्क मानता है।

लड़की जब तक कुँआरी रहती है, तब तक वह पिता के घर को अपना घर समझती है, पिता के घर की वस्तुओं को, धन-सम्पत्ति को अपनी कहती है। परन्तु जब उसका विवाह-सम्बन्ध अन्यत्र कर दिया जाता है, तब उसकी वह पूर्व-मान्यता बदल जाती है कि यह घर और यह धन-सम्पत्ति आदि मेरी नहीं है, मेरा जहाँ विवाह-सम्बन्ध हुआ है, वे ही घर, वर और धन आदि मेरे हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अनादिकाल से संसार को अपना घर मानता था तथा संसार में परिभ्रमण करता हुआ कर्मोपाधिक कर्मोदय प्राप्त सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों को, विशेषतः पुण्य-पाप और शरीरादि को अपने मानता था, परन्तु जब उसका सिद्ध-परमात्मा के साथ आत्मिक-सम्बन्ध जुड़ गया और देव-गुरु-धर्म और शास्त्र के उपदेश से, ज्ञानी पुरुषों के सत्संग और उपासना से वह समझने लगा कि मेरा घर तो शाश्वत मोक्ष है, सिद्धालय है। सिद्ध-परमात्मा का जो सर्वकर्ममुक्त, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टययुक्त स्वभाव है, वही मेरा स्वभाव है। सिद्ध भगवान के अनन्त ज्ञानादि गुणरूप धन ही मेरा धन है। इस प्रकार उक्त स्वभावनिष्ठ सम्यग्दृष्टि की अपनी पूर्व-मान्यता बदल जाती है। जब उसकी दृष्टि, रुचि और प्रतीति ऐसी हो जाती है कि "संसार की समस्त आत्माएँ अपने स्वभाव से (निश्चयदृष्टि से) सिद्ध-परमात्मा जैसी हैं।" तब उसकी दृष्टि, रुचि और मान्यता तुरंत बदल जाती है कि संसार के पुण्य-पाप, अथवा शरीरादि परभाव तथा रागादि विभाव मेरे नहीं हैं। मैं तो सिद्ध-परमात्मा के समान हूँ। सिद्धत्व मेरा स्वरूप है।

जैसे अन्यत्र विवाह-सम्बन्ध होने पर भी लड़की अपने पिता के घर समय-समय पर आती-जाती रहती है, सभी प्रवृत्तियाँ करती है, परन्तु उसका लक्ष्य तो श्वसुर-गृह ही होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को जब से आत्म-स्वभाव का भान हुआ, सिद्ध-परमात्मा के साथ उसका आत्मिक-सम्बन्ध हो गया, तब से वह आत्मा संसार में रहती है, सभी प्रवृत्तियाँ करती है, परन्तु उसका लक्ष्य संसाररूपी घर नहीं, मोक्ष या शाश्वत सिद्धालय हो जाता है। उसके पश्चात् वह

तीन-चार या सात-आठ भव तक संसार में रहती है, तो भी उसका लक्ष्य बदल जाता है। उसकी दृष्टि बदल जाती है कि शरीरादि अथवा संसार, परभावादि मैं या मेरे नहीं हैं, मैं शुद्ध सच्चिदानन्दघनरूप सिद्ध-परमात्म-स्वभावमयी आत्मा हूँ। मेरा स्वभाव व स्वरूप सिद्ध-परमात्मा के तुल्य है।"

पूर्वोक्त सत्य को समझना और हृदयंगम करना सामान्य व्यक्ति को इसलिए कठिन लगता है कि अनादिकाल से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को एक क्षण भी रुचिपूर्वक श्रद्धापूर्वक लक्ष्य में नहीं लिया, क्योंकि उसकी आत्मा पर अज्ञान, मोह या मिथ्यात्व का घना अन्धकार छाया हुआ था। वह पुण्य एवं शरीरादि की शुभ क्रियाओं में (संवर-निर्जरारूप) धर्म मानता रहा। आत्म-स्वभाव का श्रद्धा और रुचि के साथ अध्ययन करता तो आसानी से वह समझ में आ सकता था। स्वभाव की बात कठिन भी नहीं है। प्रत्येक मानव में आत्म-स्वभाव को समझने और मानने की शक्ति एवं क्षमता है। जैसे–सूर्य का प्रकाश होते ही सघन से सघन अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही स्वभाव के सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते ही मिथ्यात्वजनित उदयाश्रित भावकर्म तथा द्रव्यकर्म रुक जाता है। अज्ञानादिरूप सघन अन्धकार मिट जाता है। 'आत्मसिद्धि' में इसी तथ्य को उजागर किया गया है–

"कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निज वास।
अन्धकार अज्ञान-सम, नाशे ज्ञान-प्रकाश॥"[1]

परभावों से मुक्ति का उल्लास होना चाहिए

अतः यदि परभावों से अपनी मुक्ति की बात सुनकर अन्तर में उल्लास और अन्धकार से मुक्ति पाकर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाने का आह्लाद हो तो स्वभाव का वस्तुस्वरूप झटपट समझ में आ सकता है। किसान जब बैल को घर से खेत में काम करने के लिए ले जाता है, तब वह अनिच्छा से धीरे-धीरे चलता है और खेत पर पहुँचने में देर लगाता है। किन्तु जब वह खेत के काम से छूटकर घर की ओर वापस लौटता है, तब तेजी से दौड़ता-दौड़ता जाता है, क्योंकि वह जानता है कि अब मुझे खेत के बन्धन से छूटकर घर पहुँचकर चार पहर तक शान्ति से घास खाना और विश्राम करना है। उसका हौसला बढ़ जाता है, इसलिए वह तीव्र गति से चलकर घर पहुँच जाता है।

जब बैल जैसे अल्पमति प्राणी को भी बन्धन से मुक्त होने पर अपने घर की ओर जाने का अतीव आह्लाद होता है, तब जो आत्मा अनादिकाल से स्वभावरूपी

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१९-४२०
(ख) सर्व जीव छे, सिद्धसम, जे समजे ते थाय। –आत्मसिद्धि, गा. १३५
(ग) आत्मसिद्धि, गा. ९८

घर से छूटकर संसाररूपी परभावगृह में मोह-माया के नाना बंधनों में जकड़ा रहता है, उसे परम उपकारी जीवन्मुक्त वीतराग अर्हन्त परमात्मा तथा सद्गुरुदेव स्वभावरूपी घर में लौटने एवं स्वभावगृह में स्थिरता से परभाव-बन्धन से मुक्ति एवं परमात्मभाव-प्राप्ति की बात सुनाते हैं, प्रेरणा देते हैं, फिर भी वह संसाररूपी कारागृह में रहने में तथा जन्म-मरणादि के भयंकर कष्ट सहने में भी मोह-ममत्ववश आनन्द मानता है, क्या वह उस मन्दमति बैल से भी गया-बीता नहीं है? जो आत्म-हितैषी सुयोग्य सुपात्र होता है, उसे अपने आत्म-स्वभाव की बात सुनते ही अन्तर में उल्लास प्रगट होता है। उसकी अन्तरात्मा का परिणमन तीव्र गति से स्वभाव के अभिमुख होता है। वस्तुतः जितना काल संसार में परिभ्रमण करने में लगा, उतना काल मोक्ष का–परमात्म-प्राप्ति का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकारभाव (विभाव) की अपेक्षा स्वभाव का वीर्य (आत्म-सामर्थ्य) अनन्त है। इस कारण आत्मार्थी स्वभावनिष्ठ आत्मार्थी साधक स्वभावरत होकर अल्पकाल में ही मोक्ष को–परमात्मभाव को सिद्ध कर लेता है। परन्तु उसका प्रमुख श्रेय अन्तर में यथार्थ उल्लास प्रकट होने को है। आशय यह है कि आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थिरता की बात एक बार भी जिज्ञासा, रुचि, श्रद्धा और प्रीति के साथ सुने तो उसकी सर्वकर्ममुक्ति अथवा परमात्मपद-प्राप्ति की साधना शीघ्र ही सफल हुए बिना नहीं रहती।[1]

अनादिकालीन विभाव क्षणभर में दूर हो सकता है : कैसे और किसकी तरह ?

एक प्रश्न यह भी है कि अनादिकालीन विभाव जब तक दूर न हो, तब तक स्वभाव में निष्ठा कैसे हो सकेगी? माना कि अनादिकाल से जीव विभाव में पड़ा है, उसका चैतन्य तंत्र विभाव की उत्पत्ति में निमित्त बनता है। परन्तु आत्मा को अपने असली स्वभाव-स्वरूप का ज्ञान-भान हो जाए, वह जाग्रत हो जाए, तो भ्रम टूट जाता है। भ्रम टूटने के साथ ही विभाव को भगते जरा भी देर नहीं लगती। जो विभाव अनादिकाल से भ्रमवश आत्मा में जड़ जमाए बैठा था, उस भ्रम के मिटते ही वह विभाव भी मिट जाता है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाया है–

"कोटिवर्षनुं स्वप्न पण, जागृत थतां समाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥"

स्वप्न प्रायः अर्ध-सुषुप्त (तन्द्रा) अवस्था में आया करता है, क्योंकि अर्ध-सुषुप्त अवस्था में अवचेतन मन जाग्रत रहता है। उस समय अन्तर में पड़े हुए

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४२१

संस्कार चलचित्र की तरह मानस-पटल पर स्वप्न के रूप में उभरने लगते हैं। कभी-कभी यह स्वप्न काफी लम्बे समय तक चलता है। मगर कितने ही लम्बे समय का–कुम्भकर्णी निद्रा के अनुसार छह महीने का या करोड़ वर्ष का ही क्यों न हो, नींद टूटते ही, मानव के जाग्रत होते ही, वह स्वप्न एकदम गायब हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वप्न दीर्घकालिक हो या अल्पकालिक, मनुष्य के जाग्रत होते ही उस स्वप्न को समाप्त होने में एक क्षण का भी समय नहीं लगता। यह हम सब का ठोस अनुभव है कि नींद उड़ते ही स्वप्न उड़ (लुप्त हो) जाता है। इसी प्रकार यह जीव जो अनादिकाल से विभाव में भ्रमवश पड़ा था; भ्रमवश आत्मा में जड़ जमाए बैठा था, आत्मा को स्व-स्वभाव का ज्ञान-भान जाग्रत होते ही भ्रम भंग हो जाता है और भ्रम भंग होते ही विभाव भी पलभर में नष्ट हो जाता है।

अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व ही भ्रम हैं। जीव को दो प्रकार के भ्रम होते हैं– एक तो जो सजीव-निर्जीव पदार्थ अपने नहीं हैं, पर हैं, उनमें मेरेपन की बुद्धि। दूसरा भ्रम है–पर-पदार्थों और व्यक्तियों में अपने सुख की कल्पना करना। ये दोनों प्रमुख भ्रम दूर हो जाएँ, ज्ञानदृष्टि खुल जाए तो वर्षों से जड़ जमाए हुए विभाव क्षणभर में दूर हो जाते हैं। आत्मा सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में स्व-स्वभाव में परिणत होने लगती है और फिर धीरे-धीरे सुदृढ़ रूप से स्व-स्वभाव में स्थिर होते ही वह परमात्मपद को प्राप्त हो जाती है।[1]

स्वभाव में स्थिर होने का अर्थ : अपने ज्ञान में स्थिर होना

अपने (आत्मा के) ज्ञानमय स्वभाव में स्थिर रहना ही स्वभाव में स्थिर रहना है, क्योंकि आत्मा और ज्ञान दोनों भिन्न नहीं हैं। केवल कहने के लिये भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में निश्चयदृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। 'आचारांगसूत्र' में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है–

"जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणाति से आया।"

–जो आत्मा है, वह विज्ञाता (ज्ञानमय) है, जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।

आशय यह है कि किसी भी पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति के साथ सम्पर्क चाहे इन्द्रियों से हो या मन से हो, आदमी उस पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति का ज्ञान करना और उसे जानने तक ही सीमित रखना–अपने ज्ञानमय स्वभाव में स्थित रहता है। इससे आगे बढ़कर कोई संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह स्वभाव से हटकर विभावात्मक परभाव में बह जाता है। ज्ञान की निर्मल धारा

---

१. (क) 'प्रानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४२२
(ख) आत्मसिद्धि गा. ११४

में राग-द्वेष, मोह, अहंत्व-ममत्व का, कषायों का कीचड़ मिल जाता है, मिथ्यात्व और अज्ञान का कालुष्य भी घुल-मिल जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान की शुद्ध धारा नहीं रहती, वह संवेदन की धारा बन जाती है। उसके शुद्ध ज्ञान पर अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, कषाय आदि छा जाते हैं। अपने स्वभाव में स्थिर रहने का अर्थ है–अपने ज्ञान में स्थिर रहना, क्योंकि आत्मा और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। उदाहरण के तौर पर–एक साधक के सामने पट्टा पड़ा है। वह पट्टे को देखता है। पट्टे को वह पट्टे के रूप में जानता है, मानता है, इससे अधिक कुछ नहीं। यही आत्मा का दर्शन है, ज्ञान है, आत्म-स्वभाव में रमण है। ऐसा स्वभावनिष्ठ साधक उस पट्टे के साथ प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, अच्छा-बुरा, राग-द्वेष या अहंत्व-ममत्व आदि का कोई संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। वह सिर्फ पट्टे को जानता-देखता है। इसी को आध्यात्मिक भाषा में कहा जाता है–"वह (आत्मा) ज्ञान को जानता है।" ज्ञान और ज्ञानवान् (आत्मा) दोनों सर्वथा अभिन्न नहीं हैं तो सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। निश्चयदृष्टि से तो दोनों अभिन्न हैं। इस दृष्टि से ज्ञान को जानने का अर्थ हुआ–आत्मा को–आत्म-स्वभाव को जानना, मानना और उसी में रमण करना।[1]

ज्ञान की भूमिका अस्वीकार की है; संवेदन की है–स्वीकार की

वस्तुतः प्रत्येक आत्मा के समक्ष दोनों स्थितियाँ हैं–एक अस्वीकार की, दूसरी स्वीकार की। किसी भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ को सिर्फ जानना-देखना, किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का प्रिय-अप्रिय आदि का संवेदन न करना अस्वीकार की स्थिति है। कोरा ज्ञान या कोरा दर्शन अस्वीकार की स्थिति है। वह शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा पर-भाव का अस्वीकार कर देता है, तब स्वभाव में स्थित आत्मा में पर-भाव का प्रभाव, संवेदन, संक्रमण या प्रवेश नहीं हो सकता। संवेदन करना स्वीकार की स्थिति है। सवेदन स्वभावरूपी चन्द्रमा को परभावरूपी बादलों से ढक लेता है।

शुद्ध आत्मा के साथ जब रागादि का संवेदन होता है, तब वह आत्मा के शुद्ध ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति को आवृत, स्खलित, कुण्ठित एवं विकृत कर देता है। जहाँ केवल अस्वीकार की भूमिका होती है, वहाँ एकमात्र निज-स्वभाव का = स्वरूप का ज्ञान अखण्ड रूप से रहता है। यही परमात्मभाव की–केवलज्ञान की दशा है, जिसमें आत्मा और ज्ञान दोनों अभेदरूप से परिणत हो जाते हैं। जो आत्मा वही ज्ञान और जो ज्ञान वही आत्मा। आत्मा अर्थात् ज्ञान का पिण्ड। इस प्रकार की ज्ञान की अखण्डता ही केवलज्ञान है, जिसमें सिर्फ अपने स्वभाव का ही एकमात्र ज्ञान होता है, अन्य किसी का नहीं। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है–

---

१. (क) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ३
(ख) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१३-४१४

"केवल निज-स्वभावनुं, अखण्ड वर्ते ज्ञान।
कहीए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥"

आत्मा ज्ञान की भूमिका में ही स्वाभाविक रह सकती है, संवेदन की भूमिका में नहीं

निष्कर्ष यह है कि आत्मा ज्ञान की भूमिका में ही स्वभावनिष्ठ रह सकती है, संवेदन की भूमिका में नहीं। आचार्य अमितगति के शब्दों में पूर्वोक्त तथ्य का रहस्य यह है कि ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर जीता है और अज्ञानी संवेदन के धरातल पर। ज्ञानी = सम्यग्ज्ञानी मानव घटना के प्रति साक्षी या ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है, उससे प्रभावित, लिप्त या आसक्त नहीं होता। परन्तु अज्ञानी मानव रागादिवश होकर उस घटना से प्रभावित, लिप्त या राग-द्वेषाविष्ट हो जाता है। वह प्रियता-अप्रियता आदि के रूप में संवेदन करता है। इसके विपरीत ज्ञाता-द्रष्टा एवं जागरूक स्वभावनिष्ठ साधक जो भी घटना, मानसिक-वाचिक-कायिक क्रिया या परिस्थिति होती है, उसे जानता-देखता है, किन्तु उसका संवेदन नहीं करता। उसकी कषायचेतना शान्त होती है, उसमें रागादि विकल्प नहीं उठते। उसमें एकमात्र ज्ञानचेतना ही शेष रहती है। कोई भी पर-पदार्थ न ही उसे प्रिय होता है, न ही अप्रिय; या न कोई इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट; न ही कोई अनुकूल होता है और न प्रतिकूल। 'आचारांगसूत्र' में इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है–

"अणन्न परमं नाणी, नो पमाए कयाइ वि।"

–जिसे आत्म-स्वभाव (आत्मा के ज्ञानभाव) में रमणता के सिवाय अन्य कुछ भी परम = उत्कृष्ट नहीं होता, वह ज्ञानी कदापि प्रमाद नहीं करता। (सदैव सतत आत्म-स्वभाव में जाग्रत रहता है।)[1]

ज्ञान की यानी स्वभाव की अखण्ड अनुभूति केवलज्ञान होने पर ही होती है

जिसमें सिर्फ अपने स्वभाव का ही ज्ञान होता है, अन्य किसी का नहीं, जीव की यह दशा बारहवें गुणस्थान में पहुँचने पर होती है। जब तक बारहवें गुणस्थान तक नहीं पहुँचता, तब तक ज्ञान की अखण्ड अनुभूति नहीं होती, उसमें उतार-चढ़ाव दोनों होते रहते हैं, लगातार एक सरीखी स्वभाव दशा (जो पूर्ण परमात्म दशा है, उस) की अनुभूति नहीं होती। गुणस्थान के बदलने के साथ ही

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१४, ४१२
(ख) आत्मसिद्धि (श्रीमद् राजचन्द्र), ११३
(ग) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ५

निजानुभूति में बदलाव आता रहता है। परिणामों की धारा अखण्ड रूप से निज-स्वभाव में नहीं रहती। केवलज्ञान न होने तक जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ की दिशा में निज-स्वभाव का ज्ञान-भान बहुत किया होगा, किन्तु सतत-निरन्तर अखण्ड निजानुभूति नहीं रही। जबकि केवलज्ञान की प्राप्तिरूप तेरहवें गुणस्थान में तथा अयोगी अवस्थारूप चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की–स्वभाव-ज्ञान की अनुभूति अखण्ड होती है। दोनों गुणस्थानों की परिणामधारा एक-सरीखी होती है। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी अर्हत् परमात्मा सशरीर होते हैं, उनके मन-वचन-काया का योग होता है, फिर भी वे वीतराग परमात्मपद को प्राप्त सर्वथा जीवन्मुक्त होते हैं। केवली अर्हत्-परमात्मा और सिद्ध-परमात्मा की आन्तरदशा में कुछ भी अन्तर नहीं होता। केवली परमात्मा देह होते हुए भी देहातीतदशा का अनुभव करते हैं। उनका देहाध्यास तो कभी का छूट चुका होता है। इसलिए निजानुभूति के अखण्ड ज्ञान में उनका शरीर कभी बाधक नहीं बनता।[1]

स्वभावनिष्ठ की स्वभाव में स्थिरता क्रमशः तीन धाराओं में

चतुर्थ (सम्यग्दर्शन के) गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक परिणामों की धारा सतत निज-स्वभाव की अनुभूति में नहीं रहती, क्योंकि तब तक वह छद्मस्थ संसारी जीव है, अभी तक समस्त कर्मों (या चार घातिकर्मों) से रहित नहीं हुआ है, इसलिए उसके कर्मजन्य उपाधियाँ तो होती हैं, चित्त भी अन्यान्य कार्यों में प्रवृत्त होता रहता है, फिर भी उसकी चित्तदशा स्वभाव के ज्ञान = अनुभव के रंग से रँगी हुई होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी आत्मा की भिन्न-भिन्न व्यावहारिक अवस्थाओं में आत्म-दशा (चित्तदशा) कैसी रहती है? इसका स्पष्ट चित्रण आत्म-सिद्धिशास्त्र में इस प्रकार किया गया है–

"वर्ते निजस्वभावनो, अनुभव, लक्ष, प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥"

इस पद्य में सर्वप्रथम उस सम्यग्दृष्टि आत्मा के स्व-स्वभाव की अनुभवधारा का उल्लेख किया गया है। अर्थात् जब ऐसा साधक निवृत्ति के क्षणों में होता है, तब उसका समग्र लक्ष्य आत्म-स्वभाव का अनुभव करने में होता है। वह निज आत्मा में गहरा उतर जाता है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और बल (वीर्य), इन मूलगुणों में ही रमण करने लगता है। उसका मन-मस्तिष्क उस समय अन्यत्र कहीं नहीं जाता। उस समय वह अपने (आत्मा) में ही स्वयं ज्ञानानन्द लूटता है। उस समय उसकी दशा निजानुभव (स्वभावानुभव) से भिन्न नहीं होती। वह स्वानुभव की क्रमशः अनुभवधारा, लक्ष्यधारा और प्रतीतिधारा में बहता है।

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१५

प्रथम धारा : निवृत्ति के क्षणों में अनुभवधारा

सामान्य मानव निवृत्ति (फुरसत) के क्षणों में मनोरंजन के साधन खोजता है। वह टाइम पास करने (समय गुजारने) के लिए विविध पंचेन्द्रिय विषय पोषण के आलम्बन ढूँढ़ता है, सैर-सपाटे करता है और कोई मनोरंजन का साधन न मिले तो भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं में खो जाता है अथवा ऊलजलूल विचारों तथा आर्त्त-रौद्रध्यान के चिन्तन में घण्टों बिता देता है। परन्तु उन निवृत्ति के क्षणों में आत्मानुभव का आनन्द नहीं लूट सकता, स्वभाव के अनुभव की मस्ती में नहीं रह सकता। इसके विपरीत निजानन्द की अनुभूति किये हुए सम्यग्दृष्टि साधक की आत्म (चित्त) दशा निवृत्ति के क्षणों में समग्र संसार से, संसार के वैषयिक सुख-प्रवाहों से तथा परभावों-विभावों से विरक्त–उदासीन होकर निज आत्मा में–आत्म-भाव में ही रमण करती है। जो एक बार निज शुद्ध आत्मा की गहरी अनुभूति का आनन्द ले चुका होता है, उसका आस्वाद लेने की उसकी पुनः-पुनः तीव्र उत्सुकता होती है। इस कारण वह संसार से पर होने की निवृत्ति के क्षण प्राप्त करने की उत्कण्ठा जागती है। जब भी उसे निवृत्ति मिलती है, उसकी उपयोगधारा निज स्वभाव के अनुभव में संलग्न हो जाती है। ऐसे मुमुक्षु साधक के चित्त में निवृत्ति के क्षणों में आत्म-स्वभाव की अनुभवधारा प्रवाहित होती है।[1]

दूसरी धारा : प्रवृत्ति के क्षणों में लक्ष्यधारा

संसारस्थ जीव को निवृत्ति के क्षण बहुत कम मिलते हैं। जिसके साथ देहादि उपाधियाँ लगी हुई हैं, उसे देहादि से सम्बद्ध उस-उस प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना पड़ता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि साधक जब भी खाने-पीने, सोने-उठने, चलने-फिरने आदि देहादि की क्रियारूप प्रवृत्ति करता है, तब भी उसका लक्ष्य निज स्वभाव में संलग्न होना है। वह स्पष्ट रूप से जानता-मानता है कि देहादि की क्रिया मेरी (आत्मा) की क्रिया नहीं है। मेरा (आत्मा का) कर्त्तव्य भी नहीं है। मैं (आत्मा) स्वरूपतः अशरीरी हूँ, इन्द्रियातीत, देहातीत (शुद्ध आत्मा) तत्त्व हूँ। आत्मा के निज स्वरूप में–स्वानुभव में ऐसी क्रियाओं का महत्त्व नहीं है। परन्तु यह आत्मा अभी देहधारी है। कर्मोदयवश इस कारण देह की क्रिया करनी पड़ती है। मेरा लक्ष्य यह नहीं है। मेरा (आध्यात्मिक) लक्ष्य तो केवल मेरी आत्मा के या आत्म-स्वभाव के ज्ञान या अनुभव में स्थिरता प्राप्त करना है। ऐसी आत्मानुभव दशा शरीरादि के प्रति आसक्ति को क्रमशः मन्द कर डालती है। राग-द्वेष को भी मन्द कर डालती है। सांसारिक लोगों की स्थूल दृष्टि में ऐसा लक्ष्य के प्रति जागरूक सम्यग्दृष्टि साधक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करता दीखता है, मगर वह अन्तर में उनसे अलिप्त, उदासीन

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१५-४१६
(ख) आत्मसिद्धिशास्त्र, गा. १११

और विरक्त रहता है। उसका लक्ष्य होता है—आत्म-ज्ञान या आत्म-स्वभाव का ज्ञान। इस कारण पंचेन्द्रिय विषयों का उपभोग करने पर भी उसके कर्मबन्ध नहीं होता, अथवा अत्यल्प शुभ कर्मों का बन्ध होता है, क्योंकि उनके प्रति उसके मन में या तो राग-द्वेष नहीं होता या होता है तो शान्त, प्रशस्त या मन्द होता है।

सम्यग्दृष्टि के व्यावहारिक जीवन में भी लक्ष्यधारा स्पष्ट होती है

इतना ही नहीं, सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी साधक यदि राजा हो, चक्रवर्ती हो, सत्ताधीश हो या कोट्यधीश हो, उसे राज्य की धुरा वहन करनी हो या अपना व्यापार करना हो, यहाँ तक कि राजा को शत्रु राजा के साथ प्रजा की रक्षा के लिए, न्याय के लिए युद्ध भी करना पड़े, अथवा धनिक व्यापारी को व्यापार में अत्यन्त घाटे की परिस्थिति में पड़ना पड़े, फिर भी ऐसी विकट परिस्थिति में उक्त सम्यग्दृष्टि राजा के अन्तर में अनधिकृत राज्यवृद्धि का लोभ नहीं होता, तथैव सम्यग्दृष्टि धनिक व्यापारी के अन्तर में अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं आते। ये और इस प्रकार के अन्य सम्यग्दृष्टि किसी भी पद, सत्ता, अधिकार आदि पर हो, अपनी आत्मा में, स्वभाव के प्रति पूर्ण जागरूक होते हैं। सम्यग्दृष्टि राजा सोचता है कि मेरा कार्य युद्ध नहीं है। अगर प्रतिपक्षी युद्ध करना न चाहे तो वह भी चलाकर युद्ध नहीं करता। परस्पर समाधान या समझौते से वह सुलह और शान्ति करने का प्रयत्न करता है। इतनी तैयारी रखता है वह। उसकी रुचि युद्ध करने की नहीं होती। सिर्फ राजा के कर्त्तव्य के नाते ही, अन्याय-प्रतीकार के लिए ही, उसे युद्ध करना पड़ता है। अन्तर से वह उससे अलग रहता है। इसी प्रकार की लक्ष्यधारा सम्यग्दृष्टि व्यवसायी की होती है।[1]

तीसरी धारा : सुषुप्त अवस्था में भी आत्मा की प्रतीतिधारा

सम्यग्दृष्टि के भी आठों ही कर्म उदय में आते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से नींद आती है। उसे नींद भी लेनी पड़ती है। परन्तु सम्यग्दृष्टि स्वभावनिष्ठ व्यक्ति की निद्रा कुम्भकर्णी नहीं होती। वह अघोरी के समान नींद नहीं लेता है। वह निद्राधीन होते हुए भी जाग्रत होता है। 'आचारांगसूत्र' में बताया है कि "असंयमी अज्ञानीजन सदा सोये रहते हैं, मुनि (ज्ञानीजन) (सोये हुए भी) सदा जाग्रत रहते हैं।" 'भगवद्गीता' में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है—"जो समस्त प्राणियों के लिये निशा (रात्रि = सुषुप्ति) है उसमें संयमी जाग्रत रहते हैं। जिसमें सर्वप्राणी जागते रहते हैं, वह द्रष्टा मुनि के लिए निशा है।" इसका रहस्यार्थ है—"जहाँ असंयमी अज्ञजनों की पाँचों इन्द्रियाँ विषयों में अन्धाधुंध प्रवृत्त होती रहती हैं, वहाँ संयमी की वे सोई रहती हैं। तथैव जहाँ असंयमी की पाँचों इन्द्रियाँ अध्यात्म विकास

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१६-४१७

के लिए सोई रहती हैं, वहाँ संयमी की वे पाँचों जागती रहती हैं।'' आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि निद्राधीन होते हुए जाग्रत रहता है। द्रव्यनिद्रा में भी जाग जाए ऐसी बात नहीं है, किन्तु सुषुप्ति में भी उसे निज स्वभाव की प्रतीति होती है। भरनींद में से उठाकर कोई पूछे कि ''तू कौन है?'' तो वह कहता है–''मैं आत्मा हूँ।''

जिस प्रकार सामान्य मानव को अपने नाम की प्रतीति रहा करती है। गाढ़ निद्रा में भी सोया हुआ हो, उस समय कोई उसका नाम लेकर पुकारता है, तो वह उठकर जवाब देता है। मनुष्य को अपना नाम कितना प्रिय होता है। यद्यपि नाम की स्थिति (कालावधि) बहुत लम्बी नहीं होती, फिर भी उसकी स्पष्ट प्रतीति तो होती ही है। मनुष्य की जितनी आयु होती है, उतनी ही आयु उसके नाम की होती है, उससे अधिक नहीं। फिर भी प्रत्येक जन्म में प्राणी को अपने नाम की प्रतीति सर्वाधिक होती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि आत्मा को नाम से भी अधिक प्रतीति अपनी आत्मा की होती है, क्योंकि आत्मा की तो कोई आयु नहीं होती; वह तो अनामी और शाश्वत है, अजन्मा है, प्रत्येक जन्म में साथ ही रहता है और फिर आत्मा तो वह स्वयं ही है। अपनी प्रतीति तो स्वयं को होती ही है, होनी ही चाहिए। सामान्य आत्मा तो देहादि की भ्रान्ति में यह भूल जाता है कि मैं आत्मा हूँ। परन्तु सम्यग्दृष्टि तो इस भ्रान्ति से बाहर निकल चुका है, उसे निकल चुकना ही चाहिए, क्योंकि उसने तो आत्मा की गहरी अनुभूति कर ली होती है, इसलिए सुषुप्त अवस्था में भी उसे आत्मा की–आत्म-स्वभाव की प्रतीति रहती है। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि साधक की सुषुप्त दशा में भी प्रतीतिधारा प्रवाहित होती रहती है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा जीवन-व्यवहार की किसी भी अवस्था में हो, उसे आत्म-विस्मृति नहीं होती। उसके अन्तःकरण में सतत आत्म-स्मृति अथवा आत्म-स्वभाव की स्मृति (जागृति) अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति की धारा के रूप में बहती रहती है। दूसरे शब्दों में–उसकी अन्तरात्मा में निवृत्तिदशा में अनुभवधारा, प्रवृत्तिदशा में लक्ष्यधारा और सुषुप्तदशा में प्रतीतिधारा बहती रहती है।[1] 'दशवैकालिकसूत्र' में सभी अवस्थाओं में जागृति को इस प्रकार ध्वनित किया गया है– ''दिन हो या रात हो, अकेला हो या परिषद् के मध्य में बैठा हो, सोया हो या जागता हो, साधक सतत आत्म-भावों की अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति की धारा में बहता रहे।''

इस प्रकार आत्म-स्वभाव में सतत दृढ़ स्थिरता ही परमात्मभाव या परमात्मपद की प्राप्ति का मूलाधार है।[2]

●●

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४१७-४१८

२. से दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा ''''''''।

–दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, षड्जीवनिकाय

६

चतुर्गुणात्मक स्वभाव-स्थितिरूप परमात्मपद-प्राप्ति

सामान्य आत्मा में चतुर्गुणात्मक शुद्ध स्वभाव की परमात्मा के समान शक्ति तो है, अभिव्यक्ति नहीं

निश्चयदृष्टि से समस्त आत्माएँ परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान से प्रकाशमान, अनन्त दर्शन से तेजस्वी, अनन्त आनन्द से परिपूर्ण एवं अनन्त आत्म-शक्ति से प्रखर शक्तिमान् हैं और संसारी कर्मबद्ध आत्मा का सर्वकर्ममुक्त होकर अपने पूर्वोक्त स्वभाव (स्वरूप) में सदा के लिए स्थित हो जाना ही मोक्ष है।[1] दूसरे शब्दों में कहें तो–आत्मा के चार मूल गुणात्मक जो स्वभाव हैं, जो आवृत और विकृत हैं, उनका अनावृत और अविकृत (शुद्ध) हो जाना ही मोक्ष है। इसीलिए 'उपासकाध्ययन' में कहा गया है–"आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य (आत्मिक गुणों पर प्रभुत्व), वीर्य (आत्म-शक्ति) एवं परम सूक्ष्मता जहाँ आत्यन्तिक रूप से हो, उसे मोक्ष कहा गया है।"[2] फलितार्थ यह है कि मोक्ष तभी होता है, आत्मा से परमात्मा तभी बनता है, जब आत्मा के स्वभाव, स्वरूप या ज्ञानादि रूप चार निजी गुण पूर्ण रूप से विकसित, अनावृत और अभिव्यक्त हो जाएँ। आत्मा के मौलिक गुणात्मक स्वभाव के चार प्रकार ये हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त आनन्द (आत्मिक सुख), और (४) अनन्त आत्म-शक्ति (बलवीर्य)। मोक्ष-प्राप्त परमात्मा में इन चार गुणात्मक स्वभावों की शक्ति और अभिव्यक्ति दोनों होती हैं, जबकि सांसारिक आत्मा में इस चतुर्गुणात्मक शुद्ध स्वभाव की शक्ति तो होती है, मगर अभिव्यक्ति पूर्ण रूप में नहीं होती।

सामान्य आत्मा और परमात्मा में अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव लब्धि में है, उपयोग में नहीं

अर्हन्त और सिद्ध-परमात्मा के आध्यात्मिक स्वभाव के विषय में 'चतुर्विंशतिस्तव' पाठ में कहा गया है–

---

१. स्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। –*स्याद्वाद मंजरी ८/८६/१*

२. उपासकाध्ययन १/४२

"चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा सागरवरगंभीरा सिद्धा ....।"

–सिद्ध-परमात्मा चन्द्रों से भी अधिक निर्मलतर (निष्कलंक = शुद्ध) हैं, आदित्यों (सूर्यों) से भी अधिक प्रकाशमान (तेजस्वी) हैं और श्रेष्ठ समुद्र से अधिक गम्भीर (गहन) हैं। परमात्मा के इन महिमा-गरिमासूचक विशेषणों से उनके अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव का परिचय प्रतिफलित होता है। आशय यह है कि परमात्मा में अनन्त ज्ञान-सूर्य की तेजस्वी रश्मियाँ प्रकाशमान होती हैं, तथैव अनन्त दर्शनरूपी चन्द्र की भी उज्ज्वल, शीतल एवं निर्मलतम किरणें प्रस्फुटित होती हैं। इसी प्रकार अनन्त चारित्र का स्वभाव-रमणतारूप निर्मलतर जल अगाध अव्याबाध अव्याकुल आत्मिक सुखसिन्धु के रूप में लहराता है। अनन्त आत्मिक दानादि लब्धिपंचक की तेजस्वी अक्षय शक्ति का कोष विद्यमान रहता है। यही बात सामान्य (शुद्ध) आत्मा के लिये कही जा सकती है। निश्चयदृष्टि से विशुद्ध आत्मा को परमात्मा में निहित अनन्त ज्ञानादि सूर्य-चन्द्र-सिन्धु सम प्रखर, तेजस्वी, निर्मलतर एवं गहन आत्मिक सुख-सिन्धु से परिपूर्ण तथा अनन्त अक्षय शक्ति का कोष कहा गया है। वह भी अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति से परिपूर्ण विकासमान है।[१]

अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव पर आवरण क्यों और कैसे हो ?

प्रश्न यह है कि परमात्मा के समान अनन्त चतुष्टयरूप गुणात्मक स्वभाव वाले सामान्य जीव (आत्मा) पर आवरण क्यों आया हुआ है? इसका एक समाधान तो यह है कि जिस प्रकार प्रखर प्रकाशमान सूर्य बादलों से आच्छादित हो जाता है तो उसका असीम आतप और प्रकाश शीतल और धुँधला हो जाता है, उसकी असीम तेजस्वितापूर्ण शक्ति भी मन्द पड़ जाती है, किन्तु बादलों के हटते ही वह सूर्य पुनः जाज्वल्यमान प्रकाश और आतप के साथ अतिशय प्रकाशमान तेजस्वी, प्रखर शक्तिमान् एवं सर्वांग रूप से विकसित हो उठता है। इसी प्रकार सामान्य आत्मा पर भी विभावों, परभावों और कर्मों का आवरण आ जाने से उसकी तेजस्विता, शक्तिमत्ता और अनन्त ज्ञानादि गुणात्मक स्वभाव आवृत, कुण्ठित और मन्द हो गया है। ज्यों ही कोई स्वभावनिष्ठ आत्मा इन परभावों, विभावों, कर्मों आदि के आवरण को ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना से हटा देता है, त्यों ही वह आत्मा पुनः अपने अनन्त चतुष्टयरूप गुणात्मक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

सामान्य आत्मा का स्वभाव–सूर्य, परभावरूपी राहु और विभावरूपी केतु द्वारा ग्रसित है

मगर आज अधिकांश प्राणी ही नहीं, अधिकांश मानवों की आत्माएँ अपने पूर्वोक्त अनन्त चतुष्टयरूप शुद्ध स्वभाव की शक्ति को अनावृत या अभिव्यक्त करने

---

१. आवश्यकसूत्रगत चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ

में बहुत पिछड़ी हुई हैं। आज उनका अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव-सूर्य परभावरूपी राहु और विभावरूपी केतु के द्वारा ग्रसित हो रहा है। उनका असीम-अनन्त स्वभाव ससीम और क्षतविक्षत हो गया है। अधिकांश मानवों के पूर्वोक्त अनन्त चतुष्टयरूप शुद्ध स्वभाव संक्षेप में इस प्रकार आवृत, विकृत और ससीम हैं–

"आत्मा के अनन्त ज्ञान पर आवरण आ गया है।
आत्मा का अनन्त दर्शन भी आवृत हो गया है॥
आत्मा का अनन्त आनन्द भी विकृत हो गया है।
आत्मा की अनन्त शक्ति भी कुण्ठित-स्खलित-मूर्च्छित हो गई है॥"

जिस आत्मा में ये चार गुणात्मक स्वभाव जब तक आवृत, सुषुप्त, विकृत या कुण्ठित रहते हैं, तब तक सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जब ये चारों आत्म-स्वभाव अनावृत और शुद्ध रूप में पूर्णतया उपलब्ध हो जाते हैं, तभी पूर्ण मोक्ष–भावमोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिए स्वात्मोपलब्धि या स्वरूप में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है।

आत्मा के चारों गुणात्मक स्वभाव आवृत और मूर्च्छित क्यों ?

अब हम इन चार मौलिक गुणात्मक स्वभाव में से प्रत्येक स्वभाव की समीक्षा करेंगे कि सामान्य आत्मा के ये गुणात्मक स्वभाव क्यों और कैसे विकृत, आवृत, कुण्ठित, स्खलित और क्षतविक्षत हो गए हैं तथा इनको अनावृत, अविकृत, अकुण्ठित और अस्खलित रखने या बनाने के क्या-क्या उपाय हैं? स्वभावनिष्ठ मुमुक्षु आत्मा के लिए यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक विकास के पूर्ण शिखर को प्राप्त करने के लिए भी, अथवा सर्वकर्ममुक्तिरूप या स्वभाव में अवस्थितिरूप मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी आत्मा के चतुर्गुणात्मक स्वभाव की पुनः प्रतिष्ठा पर विचार करना अनिवार्य है।

आत्मा के मौलिक और अभिन्न गुणात्मक ज्ञान स्वभाव में शेष तीनों गुणों का समावेश

परमात्मा का सर्वप्रथम अभिन्न स्वभाव है–अनन्त ज्ञान (पूर्ण ज्ञान = एकमात्र ज्ञान)। वही साधारण आत्मा का मौलिक गुण है, मूल स्वभाव है। ज्ञान आत्मा का मूल गुण है। आत्मा के साथ उसका तादात्म्य है, अभेद सम्बन्ध है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान अवश्य होगा, तथैव जहाँ ज्ञान है, वहाँ आत्मा अवश्य होगी। अगर द्रव्यार्थिकनय की या अभेददृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानगुण में शेष तीनों (दर्शन, सुख और बलवीर्य) मौलिक गुणों का समावेश हो जाता है। इसीलिए 'तत्त्वार्थसूत्र' में जीव (आत्मा) का लक्षण दिया है–"उपयोगो लक्षणम्।"–उपयोग (ज्ञान =

साकार-निराकार ज्ञान) जीव (आत्मा) का लक्षण है।'' 'भगवतीसूत्र' और 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी यही लक्षण मिलता है। विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने एकमात्र ज्ञानगुण में आत्मा के पूर्वोक्त चतुर्गुणात्मक स्वभाव से युक्त बताते हुए कहा है–

"Knowledge is Faith.
Knowledge is Happiness.
Knowledge is Virtue.
Knowledge is Power."

अर्थात् ज्ञान ही श्रद्धा (विश्वास) रूप है, ज्ञान ही आनन्दमय (सुखमय) है, ज्ञान ही (चारित्रात्मक) गुण है और ज्ञान ही शक्ति (पावर = बलवीर्यमय) है।

ज्ञान ही श्रद्धारूप है : कैसे, कितना लाभ, कितना बल ?

वास्तव में आत्मा (आत्मा के स्वभाव = स्वरूप) का निश्चित और यथार्थ ज्ञान तभी होता है, जब आत्मा के प्रति रुचि, श्रद्धा और विश्वास हो अथवा आत्मा के तत्त्वज्ञान (साधक-बाधक तत्त्वों का यथार्थ दर्शन–स्पष्ट दृष्टि) हो। जिसे आत्मा के सम्बन्ध में दृढ़ श्रद्धा या स्पष्ट दर्शन हो जाता है कि आत्मा परमात्मा के समान अजर, अमर, अविनाशी, शाश्वत और अपने आप में अविकृत है, उसे शरीर या अंगोपांगों के छेदन-भेदन या मरण आदि से कोई दुःख, अनिष्ट या अप्रियता का संवेदन नहीं होता। वह अटल श्रद्धात्मक ज्ञान से युक्त आत्मा अपने ज्ञानरूप स्वभाव में ही रमण करती है। अपने शरीर पर होने वाले प्रहारों, वाचिक अपशब्दों या मानसिक दुर्भावनाओं से उसका मन-मस्तिष्क जरा भी विचलित नहीं होता। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति, संकट या इष्ट-वियोग–अनिष्ट-योग की दुःखद परिस्थिति आने पर भी अपनी आत्म-श्रद्धा से वह डगमगाता नहीं। वह उस उपसर्ग, कष्ट या परीषह को धैर्य और शान्ति के साथ हँसते-हँसते समभावपूर्वक सह लेता है। क्यों? क्योंकि उसमें यह निश्चित ज्ञान है कि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, वह नित्य, शाश्वत और परमात्मा के समान अजर-अमर है।[1]

भक्त प्रह्लाद को आत्मा पर पूर्ण श्रद्धा थी कि परमात्मा के समान मेरी आत्मा भी सत् अविनाशी एवं त्रिकालस्थायी है। उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। आत्मा का तत्त्वज्ञान और दर्शन उसके रोम-रोम में कूट-कूटकर भरा हुआ था। परन्तु उसके पिता हिरण्यकश्यपु को आत्मा, परमात्मा या आत्म-धर्म पर कतई

---

१. (क) उपयोगो लक्षणम्। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. २*
(ख) उवओगलक्खणे जीवे। –*भगवतीसूत्र, श. ३, उ. १०*
(ग) जीवो उवओगलक्खणो। –*उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. १०*

विश्वास नहीं था। वह प्रह्लाद को अपना शत्रु और विरोधी मानने लगा। उसने प्रह्लाद को बुलाकर कहा–"नादान लड़के ! परमात्मा और कोई नहीं, मैं ही हूँ। छोड़ दे इस धर्म और आत्मा-परमात्मा के ढोंग को। अन्यथा, तेरी मौत ही समझ ले। भक्त प्रह्लाद ने निर्भय और निःशंक होकर कहा–"पिताजी ! मुझे अपने परमात्मा और आत्मा पर अटल विश्वास है। ये तीनों ही शाश्वत और अविनाशी हैं। इन शाश्वत तत्त्वों का कोई नाश नहीं कर सकता। आप अपना दुराग्रह छोड़ दें।"

परन्तु हिरण्यकश्यपु अपने हठाग्रह पर अड़ा रहा और उसने अपने पुरोहितों को आज्ञा दी–"इस दुष्ट को धधकती आग में झोंककर भस्म कर दो।" वैसा ही किया गया। लेकिन प्रह्लाद को परमात्मा के समान आत्मा के अमर अविनाशी स्वभाव पर पूर्ण श्रद्धा थी। प्रह्लाद के आत्मिक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन (सत् पर विश्वास) के कारण आग उसकी आत्मा का कुछ भी विनाश न कर सकी, न ही वह प्रह्लाद के शरीर को जला सकी। प्रह्लाद परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को अपनी आत्मा में अनुभव करता था। फलतः हिरण्यकश्यपु द्वारा प्रह्लाद को पहाड़ से गिराया गया, शस्त्रों से काटा गया, जहरीले साँपों से डसाया गया, हाथी के पैरों तले रौंदा गया, मगर उसका बाल भी बाँका न हुआ। क्योंकि उसने परमात्मा को आचार्य अमितगति के अनुसार–अपने हृदय में विराजमान कर लिया था–"जो अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त आत्म-सुख से ओतप्रोत है। संसार के समस्त विकारों से रहित है, निर्विकल्प समाधि (निश्चल निर्विचार ध्यान) से ही अनुभव में आता है, जिसका परमात्मा नाम है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान हों।"[1]

वस्तुतः आत्मा नित्य, शाश्वत और अविनाशी है, ऐसे दृढ़ आत्म-ज्ञान वाले को मरने का भय नहीं है, विपदाओं को वह हँसते-हँसते समभावपूर्वक सह लेता है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा के नित्य अस्तित्व के स्पष्ट दर्शन का परिचायक हो जाता है।

ज्ञान (तीव्र दशा में चारित्र) गुणरूप है

"Knowledge is Virtue."[2] यह वाक्य सोक्रेटिस (सुकरात) कहता था। ज्ञान आचरण में आते ही चारित्रात्मक गुण बन जाता है। उपाध्याय यशोविजय जी कहते थे–"ज्ञान की तीव्र दशा ही चारित्र है।" शरीर पर चाहे जितनी चोटें पड़ें, अगर उस समय आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान सक्रिय एवं हृदयंगम हो जाए तो

---

१. यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः, समस्त-संसार-विकार-बाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्म-संज्ञः, स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम्॥"
–*सामायिक पाठ (अमितगतिसूरि), श्लो. १३*

२. सुकरात द्वारा कथित वाक्य

समझना चाहिए ज्ञान की यह तीव्र दशा है। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान की प्रेरणा देते हुए तथागत बुद्ध ने एक बार जेतवन में विराजते हुए अपने शिष्यों से पूछा–"यह जो लकड़हारा जेतवन में कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा है, लकड़ी पर कुल्हाड़ी से चोट मार रहा है, क्या उस चोट की वेदना तुम्हें होती है?" सभी शिष्य बोले–"नहीं, भगवन् !" इस पर बुद्ध ने कहा–"इसी प्रकार यदि शरीर को भी कुल्हाड़ी आदि से काटे तो उसे (शरीर को) भी वृक्ष की तरह पराया समझो। अर्थात् कुल्हाड़ी से शरीर पर कोई चोट मारे तो वृक्ष पर होने वाली चोट के समान पराये पर होने वाली चोट समझो। क्योंकि पंच महास्कन्ध से तुम (आत्मा) पृथक् हो। आत्मा-अनात्मा का यह भेदविज्ञान कर लो।"

वास्तव में, व्यक्ति जब देह दशा से निकलकर देहात्म-बुद्धि का त्याग कर देता है तब भेदज्ञान की तीव्र अनुभूति होती है, जो ज्ञान की चारित्रदशा को प्रकट करती है। एक बार कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वृश्चिकदंश की दुःसह पीड़ा के समय अपनी पत्नी को लिखा–वृश्चिकदंश की असह्य पीड़ा होने के बावजूद भी मैं एक डॉक्टर के रूप में तीसरे तटस्थ व्यक्ति की तरह देह में से अलग निकलकर देखता हूँ। यह है–आत्म-ज्ञान की चारित्र गुण के रूप में तीव्र दशा !

ज्ञान सुख (आनन्द) रूप है : कैसे-कैसे ?

"Knowledge is Happiness." यह वाक्य अंधी, गूँगी और बहरी 'हेलन केलर' का है। उसकी स्थिति ऐसी थी, मानो कोयले की खान में डाल दी गई हो। चारों ओर से अंधकार भरी दुनिया में वह अकेली मालूम होती थी। किन्तु आत्म-ज्ञान (मैं कौन हूँ? क्या कर सकती हूँ?) इस प्रकार के ज्ञान का तीव्र प्रकाश मिलने के कारण उसने स्वयं को अन्धकारपूर्ण स्थिति में महसूस नहीं किया। उसने इसी ज्ञान के प्रताप से स्वाधीन-सुख (आत्म-सुख = आत्मानन्द = ज्ञानानन्द) का अनुभव किया। प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी के उद्‌गार थे–"मृत्यु के तट पर ला देने वाले बाह्य आभ्यन्तर विक्षेपों के बीच भी मैं स्वयं को ज्ञान द्वारा इहलौकिक आनन्द में प्रविष्ट हुआ मानता हूँ।" सचमुच ज्ञान में इस सुख को सर्जन करने की, दुःख में से सुख निकालने की अद्‌भुत शक्ति है। यह सुख दुनियादारी के वैषयिक तथा पदार्थनिष्ठ काल्पनिक सुखों से उच्चतर है। कहना होगा–आत्म-शक्तियों के ज्ञान से होने वाला सुख (आनन्द) आन्तरिक है, स्वतंत्र–स्वाधीन, सहज और आत्म-स्वभावगत है। ज्ञान का आनन्द भी अद्‌भुत होता है। सम्यग्ज्ञान से ओतप्रोत व्यक्ति अपने भूख, प्यास, नींद, असुविधा, श्रम आदि के दुःख को बिलकुल भूल जाता है।

ज्ञानपिपासु उपाध्याय यशोविजय जी और विनयविजय जी जब काशी में अनेक कष्टों, असुविधाओं, विघ्न-बाधाओं आदि की परवाह न करते हुए एक

महाविद्वान् पण्डित जी से न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि का अध्ययन कर रहे थे। न्यायशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिसे उक्त पण्डित जी पढ़ाना तो दूर रहा, इन्हें दिखाना भी नहीं चाहते थे, एक दिन पण्डित जी किसी कार्यवश बाहर गए हुए थे, दूसरे दिन आने वाले थे। अतः मौका पाकर दोनों मनीषियों ने न्यायशास्त्र का वह ग्रन्थ बहुत नम्रभाव से अनुरोध करके रातभर के लिए पढ़ने हेतु पण्डितानी से माँग लिया। पण्डितानी ने वह ग्रन्थ उन्हें दे दिया। उक्त ग्रन्थ में १,२०० श्लोक थे। अतः यशोविजय जी ने उसके ७०० और विनयविजय जी ने ५०० श्लोक रातभर में कण्ठस्थ कर लिये। प्रातःकाल पण्डित जी के आने से पहले ही जाकर वह ग्रन्थ पण्डितानी को लौटा दिया। दोपहर पण्डित जी के आने पर उन्होंने पण्डित जी से अपने इस अपराध के लिए क्षमा माँगी। पण्डित जी ने जब दोनों को उक्त ग्रन्थ के श्लोक सुनाने को कहा तो दोनों ने क्रमशः ७०० और ५०० श्लोक सुना दिये। सुनकर पण्डित जी की आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े। वास्तव में उपाध्याय यशोविजय जी और विनयविजय जी को यह ज्ञानरस इतना उत्कृष्ट और सुखकर लगा कि रातभर में १,२०० श्लोक कण्ठस्थ करने में कोई थकान, कष्ट या निद्रा की अनुभूति नहीं हुई। ज्ञान की, विशेषतः आत्मा के अभिन्न स्वभावरूप ज्ञान की–आत्म-ज्ञान की आनन्दरूपता इसी से सिद्ध होती है।

ज्ञान शक्तिरूप है

"Knowledge is Power." कहने वाला पश्चिम का एक महावैज्ञानिक था। अध्यात्मज्ञान पारंगत महर्षि तो ज्ञान–आत्म-ज्ञान को महाशक्ति कहते ही हैं। ज्ञानबल से ही व्यक्ति अपने आप को संयमी, धृतिधर, शान्त, मृदु, तटस्थ, स्व-पर-भेदज्ञान में रत रख सकता है।

भौतिक ज्ञान में भी इतनी शक्ति है कि इसके द्वारा वैज्ञानिक यह शक्य बना रहे हैं कि पानी की एक बूँद को ध्वनि-तरंग से तोड़कर उसमें ऐसी शक्ति व्याप्त की जाए कि उससे पूरे न्यूयार्क शहर को वर्षभर तक विद्युत् की पर्याप्त पूर्ति हो सके। इसी प्रकार एक ग्लास पानी में इतनी शक्ति पैदा की जा सकती है कि उससे चार पंखों वाली 'क्वीन मेरी' नाम की पच्चीस हजार टन की स्टीमर छह महीने तक लगातार चालू रह सके। टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो, वायरलेस, टेलीपैथी आदि भौतिकविज्ञान की शक्ति के एक से एक बढ़कर चमत्कार हैं। यह सब तो भौतिक ज्ञान की शक्ति का चमत्कार है। आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति का चमत्कार तो उससे कई गुना बढ़कर है। अर्हन्त-परमात्मा और सिद्ध-परमात्मा में तो आध्यात्मिक ज्ञान की अनन्त शक्ति है। इस प्रकार आत्मा से अभिन्न ज्ञान-स्वभाव में पूर्ण श्रद्धा, ज्ञान-स्वभाव की तीव्रतारूप चारित्र गुण, आनन्द (आत्मिक-सुख) और शक्ति का समावेश हो जाता है।

आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में विकृति या मलिनता क्यों आ जाती है ?

प्रश्न होता है कि आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में जब इतना गुण, आनन्द, श्रद्धाबल और शक्ति है तो साधारण मनुष्यों की ही नहीं, विशिष्ट आध्यात्मिक साधकों की भी आत्मा शुद्ध ज्ञान (स्वभाव) से क्यों विचलित, अस्थिर, मलिन, स्खलित और अदृढ़ हो जाती है? वह अपने शुद्ध ज्ञान-स्वभाव में क्यों नहीं स्थिर रहती? उसके शुद्ध ज्ञान में क्यों विकृति या मलिनता आ जाती है?

आत्मा का शुद्ध स्वभाव : कैसा होता है, कैसा नहीं ?

ज्ञान जब तक मात्र ज्ञान ही रहे, उसके साथ प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष, अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, मनोज्ञ-अमनोज्ञ का मिश्रण न करे, तब तक वह वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है। जैसे दर्पण स्वच्छ होता है तो उसके सामने जो भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ, जिस रूप में उपस्थित रहता है, उस रूप की वैसी ही स्पष्ट झलक दिखाई देती है परन्तु दर्पण पर उस वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, न ही दर्पण उस वस्तु के विषय में कोई अच्छे-बुरे या राग-द्वेष का विकल्प करता है। उसी प्रकार ज्ञान भी दर्पण की तरह स्व-पर-प्रकाशक है, जो वस्तु जैसी है, वैसी ही ज्ञान में झलक जाती है? ज्ञेय वस्तु को जानना ज्ञान का स्वभाव है। वस्तु के जानते समय ज्ञान ज्ञेय को सिर्फ जानने रूप में परिणत होता है। वह सतत ज्ञायक रूप में ही रहता है। ज्ञान ज्ञान में रहकर ही अनेक ज्ञेयों का ज्ञान करता है। परन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थ के रूप में दर्पण नहीं बन जाता, तथैव ज्ञान में ज्ञेय के ज्ञात होने पर वह ज्ञान परज्ञेय पदार्थ रूप नहीं बन जाता। अर्थात् परज्ञेयों को जानने पर वे (ज्ञेय) (ज्ञान) स्वभाव में नहीं आते। आशय यह है कि ज्ञान द्वारा जब ज्ञेय जाना जाता है, तब वह ज्ञान भिन्न स्वरूप से अखण्ड ही रहता है, तथैव उक्त ज्ञेय पदार्थ भी अपने आप में भिन्न स्वरूप से अखण्ड रहता है। जैसे ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, परन्तु ज्ञान स्वयं खट्टा नहीं हो जाता। पच्चीस हाथ लम्बा वृक्ष ज्ञान में आने से ज्ञान उतना लम्बा नहीं हो जाता। इसी तरह ज्ञान पुण्य, पाप, कषाय या राग आदि को जानता अवश्य है, किन्तु वह तद्रूप नहीं हो जाता। तात्पर्य यह है कि दर्पण के समान ज्ञान में भी ज्ञेयकृत अशुद्धता, विकृति या मलिनता नहीं आती। जैसा निमित्त उपस्थित होता है या जैसा ज्ञेय होता है, ज्ञान उसे ठीक वैसे ही जानता है।

शुद्ध ज्ञानी या केवलज्ञानी दर्पणवत् तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहता है

शुद्ध ज्ञान या केवलज्ञान दर्पण के समान है। दर्पण को किसी पदार्थ को देखने-जानने या झलकाने की इच्छा नहीं होती, उसके समक्ष जो भी पदार्थ आते हैं, वे उसी रूप में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। उन पदार्थों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

दर्पण के सामने अग्नि प्रज्वलित हो रही हो, तो वह भी वैसी ही झलक जाती है, परन्तु अग्नि का असर दर्पण पर नहीं पड़ता। इसी प्रकार केवलज्ञान या शुद्ध ज्ञान में जगत् के सभी द्रव्य और पर्याय झलकते हैं, परन्तु केवलज्ञानी आत्मा या ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा पर उनका कोई असर नहीं होता। न ही उक्त आत्माओं को उन पदार्थों को जानने-देखने या झलकाने की स्पृहा या इच्छा होती है। केवलज्ञानी परमात्मा तो एकमात्र निज आत्म-स्वभाव में–आत्मा के ज्ञान के प्रकाश में लीन है, उसी में स्थिर रहते हैं, इसी प्रकार जो ज्ञान-स्वभाव में स्थिर होना चाहता है, उस ज्ञाता-द्रष्टा साधक को भी निज आत्म-ज्ञान के प्रकाश में लीन और स्थिर होना चाहिए।

साधारण आत्मा ज्ञान-स्वभाव से डिगती क्यों है ?

ज्ञान-स्वभाव से साधारण आत्मा तभी स्खलित होती या डिग जाती है, जब किसी सजीव या निर्जीव पर-पदार्थ या परिस्थिति के आने पर वह दर्पण की तरह तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी न रहकर मन में रागादिभाव या प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व का संवेदन करने लगती है। वस्तु सामने आते ही ज्ञपरिज्ञा से उसे जाने-देखे भले ही, परन्तु उसके सम्बन्ध में राग-द्वेषादि या कषाय-नोकषाय आदि का विकल्प न उठाए, तभी व्यक्ति ज्ञान-स्वभाव में स्थित रह सकता है। ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहना ही परमात्मभाव में, मोक्षपद में स्थिर रहना है।

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर स्थितात्मा या स्थितप्रज्ञ की पहचान

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने वाले साधक के लक्षण 'आचारांगसूत्र' में स्थितात्मा के नाम से तथा 'भगवद्गीता' में स्थितप्रज्ञ के नाम से दिये गए हैं। वस्तुतः जिस मुमुक्षु साधक के अन्तर में यथार्थरूप से, आत्म-ज्ञान या परमात्मा के अनन्त ज्ञानरूप स्वभाव का ज्ञान सुदृढ़ हो गया है, ऐसा स्थितात्मा या स्थितप्रज्ञ साधक इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग में समभाव से विचलित नहीं होता; अपने ज्ञान-स्वभाव से एक इंच भी नहीं भटकता। कदाचित् अपनी भूमिका के अनुसार रागादि या कषायादि पर पूर्ण विजय प्राप्त न होने के कारण उसका सजीव-निर्जीव परभावों के साथ सम्पर्क होता है, फिर भी वह उनके प्रति उदासीनभाव, वैराग्यभाव एवं निःस्पृहता रखता है। सांसारिक पदार्थों के प्रति लोभवृत्ति, तृष्णा, आसक्ति, लालसा या मोहादि वासना उसके हृदय में जाग्रत नहीं होती। प्रतिकूल परिस्थिति में भी वह किसी भी निमित्त को दोष नहीं देता, अपने उपादान को टटोलता है और ज्ञानबल से समभाव में स्थिर हो जाता है।[1]

---

१. (क) देखें–आचारांग, श्रु. १, अ. ७, उ. ५ में स्थितात्मा के लक्षण–"एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए। से वैता कोह च माणं च मायं च लोभं च। एस तिउट्टे वियाहिए त्ति बेमि।"

(ख) देखें–भगवद्गीता, अ. २, श्लो. ५५-५८, ६१ में स्थितप्रज्ञ का लक्षण

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर साधक की अर्हता के आधारसूत्र

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर व्यक्ति के मन में ज्ञान का अंहकार-ममकार, ज्ञान की मन्दता के कारण हीनभावना, ज्ञान या ज्ञानी जनों की आशातना, अविनय, अबहुमान या अवहेलना नहीं होती, उनके प्रति ईर्ष्या, निन्दा या घृणा का भाव नहीं आता। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान या ज्ञानीजनों के प्रति दोषदृष्टि, द्वेष-बुद्धि तथा उन्हें नीचा दिखाने की, बदनाम करने की, अप्रतिष्ठित करने की एवं जिज्ञासु एवं योग्य पात्र की ज्ञान-प्राप्ति में अन्तराय डालने-विघ्न-बाधा उपस्थित करने की दुर्वृत्ति नहीं होती। वह सत्य या सम्यग्ज्ञान को आवृत करने के कारणों से सदैव दूर रहता है, सत्य का द्रोह, अपलाप या निह्नव नहीं करता; सभी धर्मों और दर्शनों में निहित सत्यों का अनेकान्तवाद की सापेक्ष दृष्टि से ग्रहण एवं प्रतिपादन करता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान-स्वभाव में स्थिर होने के लिए वह ज्ञान-प्राप्ति में बाधक प्रत्येक कारण से बचता है और साधक कारणों को अपनाता है तथा प्रत्येक अवश्य ज्ञातव्य वस्तु को जानता-देखता है, परन्तु उनके प्रति राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता का या मनोज्ञ-अमनोज्ञ का या अनुकूल-प्रतिकूल भावों का संवेदन नहीं करता, जिस ज्ञान से शान्ति और समता हो, जो ज्ञान राग-द्वेषादि विकारों तथा अज्ञान-मिथ्यात्व के अन्धकारों को दूर करने में सहायक हो, उसी सम्यग्ज्ञान को अपनाता है। जिस ज्ञान से राग-द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभादि कषाय बढ़ते हों, काम-वासना, लालसा, तृष्णा आदि दुर्वृत्तियाँ पैदा होती हों, उस ज्ञान को वह नहीं अपनाता। ये और ऐसे ही कतिपय कारण ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता के मूलाधार हैं।

भरत चक्रवर्ती को ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता से केवलज्ञान-प्राप्ति

भरत चक्रवर्ती अपने ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहते थे। जब उनके ९८ सहोदर भाइयों ने भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ग्रहण कर ली, उधर बाहुबली भी आत्म-बली बनकर आत्म-ध्यानस्थ एवं आत्म-स्वभाव में स्थिर हो चुके, तब भरत चक्रवर्ती के मन में मन्थन जागा कि यह सारा राज्यवैभव, ठाट-बाट, भोग्य-सामग्री आदि समस्त पदार्थ अनित्य हैं, कर्मोपाधिक हैं, विनश्वर हैं, परभाव हैं, मेरे नहीं हैं, न मैं इनका हूँ, ये पुण्योदय से प्राप्त पदार्थ अवश्य ही त्याज्य हैं, इन्हें एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा, अतः किसी भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ के प्रति रागादि भाव लाना विभाव है, आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव से विरुद्ध है। आत्मा ही एकमात्र शाश्वत, अविनाशी है। चतुर्गुणात्मक आत्म-स्वभाव ही एकमात्र उपादेय है। मुझे उसी में लीन, मग्न या स्थिर रहना चाहिए। ये शरीरादि पदार्थ, वैभव, राज्य, रानी आदि परिवार भोग्य-सामग्री आदि सजीव-निर्जीव पदार्थ भले ही मेरे समक्ष रहें या

मैं इनके बीच रहूँ, परन्तु निश्चय में ये मेरे नहीं और न मैं इनका हूँ। राज्यादि वैभव का उपभोग करते हुए तथा पुत्र, कलत्र आदि परिवार के प्रति कर्त्तव्य-सम्बन्ध रखते हुए एवं प्रजा आदि के प्रति दायित्व-सम्बन्ध निभाते हुए भी मुझे इनसे निर्लिप्त तथा इनके प्रति साक्षी, ज्ञाता-द्रष्टामात्र रहना चाहिए। इनके प्रति आसक्ति, माया, राग, द्वेष, मोह, घृणा, अहंकार, क्रोध, मद, मत्सर, लोभादि कषायभाव नहीं लाना चाहिए।

इस प्रकार भरत चक्रवर्ती राज्यवैभव, चक्रवर्ती की ऋद्धि-सम्पदा तथा अन्य सुख-साधनों आदि परभावों के बीच रहते हुए भी रागादि विभावों से बचकर स्वभाव में स्थिर रहने का प्रयत्न करने लगे। एक दिन शीशमहल में आत्मा और आत्म-गुणात्मक स्वभाव तथा शरीर, आभूषण, सौन्दर्य आदि परभावों का अनुप्रेक्षण करते-करते भेदविज्ञान परिपक्व हो गया। उनकी आत्मा ज्ञानादि-स्वभाव में स्थिर और निश्चल हो गई, तब मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घनघातिकर्मों का क्षय होते ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गया। जो अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन अभी तक आवृत, सुषुप्त और शक्ति के रूप में आत्मा में निहित था, वह आज अनावृत, जाग्रत और अभिव्यक्त हो गया।

ज्ञान किसी परभाव या विभाव के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता, वह स्वतः प्रगट होता है

कोई कह सकता है कि भरत चक्रवर्ती में अर्हन्त परमात्मा या सिद्ध-परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान = केवलज्ञान अभिव्यक्त हो गया, वह किसी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ (अँगूठी आदि) के या पुण्य-पाप (शुभ-अशुभ कर्मों) के आधार से या किसी भी परभाव या विभाव के अवलम्बन से (जैसे–बाहुबली को अपने मानकषाय के निमित्त से या ब्राह्मी सुन्दरी साध्वीद्वय की प्रेरणा से) अभिव्यक्त या विकसित हुआ या होता है। परन्तु यह कथन सिद्धान्त-सम्मत नहीं है। अर्हन्त या सिद्ध-परमात्मा को तथा भरत चक्रवर्ती या अन्य किसी भी स्वभावनिष्ठ साधक को जब भी अनन्त ज्ञान–केवलज्ञान या सम्यग्ज्ञान विकसित या अभिव्यक्त हुआ है या होता है, तब भी आत्मा के अनादि-अनन्त ज्ञान-स्वभाव के आधार से हुआ है या होता है। आत्मा में सुषुप्त, आवृत या कुण्ठित अनन्त ज्ञान को अभिव्यक्त, विकसित, अनावृत या जाग्रत करने का मूलाधार तो उसी आत्मा का स्वयं का ज्ञान-स्वभाव ही है। कोई भी परभाव, विभाव, विकार या निमित्त ज्ञान-स्वभाव को प्रकट या प्रादुर्भाव, अभिव्यक्त या विकसित करने में मूल आधार नहीं होता। अगर परभाव, विभाव या विकार के निमित्त से ज्ञान होता तो सबको एक सरीखा ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। वास्तव में सम्यग्ज्ञान या अनन्त ज्ञान–केवलज्ञान आत्मारूप उपादान से होता है, परभावों-विभावों या विकारों के अवलम्बन से नहीं होता। वह ज्ञान से ही, ज्ञान में

रहकर ही होता है। स्वच्छ दर्पण में पर-पदार्थ जैसा होता है, वैसा स्पष्ट झलकता है, किन्तु उसमें पर-वस्तु का अवलम्बन नहीं होता। चूँकि ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक होता है। वह अपना भी ज्ञान करता है और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि पर-पदार्थों का भी ज्ञान करता है, किन्तु करता है, स्वयं के उपादान के आधार पर ही। यदि ऐसा माना जाए कि सिद्ध-परमात्मा में शुभ भावों के आधार से अनन्त ज्ञान अभिव्यक्त या विकसित होता है, तब तो ज्ञानादि से परिपूर्ण होने के पश्चात् वह ज्ञान टिक नहीं सकेगा, क्योंकि सिद्ध-परमात्मा में रागादि भावों का सर्वथा अभाव है। यदि रागादि भावों या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान होता है, ऐसा मानें तो सिद्ध-परमात्मदशा में रागादि या इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होने से सिद्ध-परमात्मा में ज्ञान का भी अभाव हो जाएगा। अतः जो जीव रागादि विकारों या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान मानता है, वह परिपूर्ण ज्ञानी सिद्ध-परमात्मा को अथवा उनके ज्ञान-स्वभाव को समझा ही नहीं है। ऐसा व्यक्ति अपने अनादि-अनन्त ज्ञानादि आत्म-स्वभाव की ओर मुड़ नहीं सकता। अतः सिद्ध-परमात्मा में या सामान्य आत्मा में जो परिपूर्ण अनन्त (केवल) ज्ञान अभिव्यक्त, प्रादुर्भूत, प्रकट या अनावृत होता है, वह आत्मा के अनादि-अनन्त ज्ञान-स्वभाव के आधार से ही होता है, अनन्त ज्ञान के प्रकट होने में उपादान तो स्वयं का आत्म-ज्ञान ही है।

छद्मस्थ मुमुक्षु साधक की ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता और अखण्डता कैसे रहे ?

जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से जब तक साधक तेरहवें गुणस्थान तक नहीं पहुँचता, तब तक अखण्ड ज्ञानदशा के परिणामों की धारा में उतार-चढ़ाव होता रहता है, ज्ञान-स्वभाव में पूर्ण स्थिरता और अखण्डता नहीं रहती। फिर भी अपने ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने वाले छद्मस्थ साधक की द्रव्यदृष्टि या स्वभावदृष्टि कायम रहती है। पर्याय में अल्पज्ञता (छद्मस्थता) और राग-द्वेष होने पर भी वह उसका आदर नहीं करता। वर्तमान में वह पूर्ण वस्तु-स्वभाव के सम्मुख रहता है, वस्तु-स्वभाव में परिणमन करता है। वर्तमान में उसके पूर्ण केवलज्ञान-पर्याय न होते हुए भी जिन्हें पूर्ण केवलज्ञान-दशा प्रकट हुई है, उनके पूर्ण ज्ञानमय स्वभाव को वह स्वीकार करता है। पर-पदार्थों को सामने देखकर उनके आधार से पूर्ण ज्ञान का स्वीकार वास्तव में नहीं हो सकता। पूर्ण ज्ञान का आधाररूप जो आत्म-गुण–आत्म-स्वभाव–ज्ञान-स्वभाव है, उसके अभिमुख हुए बिना पूर्ण (केवल) ज्ञान को स्वीकारा नहीं जा सकता। ध्रुव-स्वभाव के सम्मुख होकर अपने में अंशतः अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट करने पर ही पूर्ण अतीन्द्रिय केवलज्ञान का स्वीकार होता है और तभी जीव सिद्ध-परमात्मा के स्वभाव-सम्मुख हो पाता है और स्वल्पकाल में ही स्वयं सिद्ध-परमात्मा बन जाता है।

ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता के अभ्यासी के लिए विचारणीय बिन्दु

आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने का सतत अभ्यास, उत्साह और प्रयत्न करने वाला साधक यही सोचता है कि मेरा जीव अज्ञानभाव से अनन्त बार नरक में गया, स्वर्ग में भी गया, आत्मा के साथ पुण्य-पाप की अभिन्नता की मिथ्या मान्यता के कारण अनन्त काल तक मैं चारों गतियों में भटका। किन्तु अब जब यह सम्यग्ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई, मैं अपने ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने लगा। तब से चारों गतियों के कारणभूत रागादि विभावों (भावकर्मों तथा तज्जनित द्रव्यकर्मों) का निरोध करने लगा, साथ ही पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्मों के शुभ-अशुभ फल को भी समभावपूर्वक शान्ति से भोगकर क्षय करने लगा। इस प्रकार आत्मा के अभिन्न गुणात्मक ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता के कारण चारों गतियों में परिभ्रमण तो रुका ही, आंशिक रूप से मुक्ति की पर्याय प्रगट हुई। इसी विशुद्ध दृष्टि ने अज्ञानान्धकार नष्ट किया। ज्ञान-ज्योति प्रकट हुई।

ज्ञान-स्वभाव में एक बार स्थिर हो जाने पर फिर अनावृत होकर ज्ञान सदैव प्रकाशमान रहता है

इस प्रकार यदि एक बार भी आत्मा ज्ञान-स्वभाव में स्थिर हो जाए, अर्थात् यह निश्चय कर ले कि मेरी आत्मा विशुद्ध चिदानन्द-स्वरूप है। मैं ज्ञान-स्वरूप ही हूँ। रागादि-कषायादि मेरे नहीं हैं और न वे मेरे में रहते हैं। पर्याय में रागादि रहते हैं, वे मेरे स्वरूप में नहीं हैं। मेरा ज्ञान रागादि के साथ एकमेक नहीं हो जाता। इस प्रकार रागादि और ज्ञान की भिन्नता को जान-समझकर ज्ञान-स्वभाव में स्थिर हो जाए तो पूर्वबद्ध कर्म टूटते, मोहादि छूटते और ज्ञानादि के आवरण हटते देर नहीं लगती। जब आत्मा में ज्ञान-स्वभाव प्रगट हो जाता है, तब रागादि नहीं रहते (या अत्यन्त मंद हो जाते हैं) और रागादि के फलस्वरूप जो बन्ध होता है वह भी रहता नहीं; न ही ज्ञानादि को आवृत करने वाला कोई विकारभाव रहता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध ज्ञान फिर सदैव प्रकाशमान रहता है।

एक बार ज्ञान-ज्योति सुसज्ज होकर निकलने पर केवलज्ञान-समुद्र में अवश्य मिलती है

निष्कर्ष यह है कि एक बार यदि ज्ञान-ज्योति भलीभाँति सुस्थिर और सुसज्ज होकर प्रगट हो जाए तो उसकी अखण्ड धारा केवलज्ञान तक अवश्य पहुँच जाती है। जैसे नदी एक बार समुद्र में मिल ही जाती है, उसी प्रकार एक बार सम्यग्दृष्टि से सुसज्जित होकर आत्मा के ज्ञानमय स्वभाव की ज्योति निकल पड़ती है तो अनेक गुणस्थानों को उत्तरोत्तर पार करती हुई अन्त में केवलज्ञान (अनन्त ज्ञान) रूपी समुद्र में मिल जाती है। ज्ञान-ज्योति के सुसज्ज होने का अर्थ है—मेरी आत्मा

ज्ञाता-द्रष्टा, वीतरागी, ज्ञानादि स्वभाव से युक्त है। इस प्रकार अपने में ज्ञानमयता की दृढ़ प्रतीति करना। एक बार जहाँ ज्ञान-ज्योति जगी कि फिर उसे रोकने, बहकाने, भटकाने और बुझाने में जगत् में कोई भी पदार्थ समर्थ नहीं है। किसी भी पर-पदार्थ की, उसके गुण या पर्याय की शक्ति नहीं है कि ज्ञान-स्वभाव में जाग्रत हुई आत्मा पर तीन काल तथा तीन लोक में आवरण डाल दे, उसके मार्ग में रुकावट कर दे, उसे कुण्ठित, सुषुप्त कर दे या उसे दबा दे।

आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्र होने की प्रेरणा

अतः सर्वप्रथम मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि साधक को निजतत्त्व का–अपनी आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना चाहिए। 'समयसार' में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है–"अधिकांश व्यक्ति जो आत्मा को ज्ञानगुण से रहित मानते हैं, वे ज्ञान-स्वरूप (शुद्धात्मपद या परमात्मपद) को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः हे भव्य ! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो आत्मा के साथ नियत एकरूप ज्ञान-स्वभाव को ग्रहण कर, इसी का अवलम्बन ले।"[1] 'आचारांगसूत्र' में भी ज्ञानादिमय आत्मा को जानने का बहुत बड़ा लाभ बताते हुए कहा गया है–"जो एकमात्र एक (आत्मा या ज्ञानादिमय आत्म-स्वभाव) को जान लेता है, वह सब पदार्थों का स्वरूप जान लेता है।"[2] अतः यदि किसी मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि साधक को लौकिक या भौतिक ज्ञान, अक्षरीय ज्ञान या भाषा ज्ञान न हो, अधिक शिक्षण भी प्राप्त न हो तो कोई खेद न करे, तथैव व्यावहारिक, भौतिक, लौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान भी अधिक हो तो उसका अहंकार न करे, एकमात्र अटल निश्चय करे कि मैं ज्ञान-स्वभाव हूँ। मुझे सर्वप्रथम उसी ज्ञान-स्वभाव का अवलम्बन लेना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादि से या कर्ममल से मलिन आत्मा को भेदविज्ञानरूपी फिटकरी से पृथक् कर लेता है

जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी है, वह आत्मा के मूल शुद्ध स्वभाव एवं ज्ञान-स्वभाव को न जानकर कर्ममल से अशुद्ध आत्मा को वास्तविक समझता है तथा आत्मा को रागी-द्वेषी एवं विकारी मानकर एवं उसे (निश्चयदृष्टि से) पुण्य-पाप का कर्त्ता मानता है। इस प्रकार की मान्यता वाले विविध मूढ़ता-सम्पन्न

---

१. देखें–समयसार, गा. २०५ का गुजराती पद्यानुवाद–
बहुलोक ज्ञानगुणेरहित, आपद नहीं पामी शके।
रे ! ग्रहण कर तुं नियत आ, जो कर्म-मोक्षेच्छा तने॥

२. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। —*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ४*

व्यक्ति को आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव या शुद्ध स्वरूप का बिलकुल पता नहीं होता। किन्तु जो आत्मा को शुद्ध ज्ञानादि स्वभाव का ज्ञाता-द्रष्टा तथा आत्मा को मूल रूप में शुद्ध सहज ज्ञानानन्द स्वभावी, ज्ञायकस्वरूप जानता-मानता है, वह स्वयं कर्मों के संयोग से आच्छादित रागादि मलिन आत्मा को अपने भेदविज्ञानरूपी फिटकरी या निर्मली से पृथक् करके उसके शुद्ध ज्ञान-स्वभाव में स्थिर करता है, उसी में रमण करता है।

सम्यग्ज्ञान (ज्ञान) और मिथ्याज्ञान (अज्ञान) में अन्तर

कई बार दिङ्मूढ़ साधक सम्यग्ज्ञान के नाम पर अज्ञान–मिथ्याज्ञान को ही ज्ञान समझने लगता है और मूढ़तावश तदनुसार प्रवृत्ति करने लगता है, अतः मुमुक्षु साधक को सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान (ज्ञान) और मिथ्याज्ञान (अज्ञान) का सम्यक् विवेक करना अनिवार्य है, तभी वह आत्मा के शुद्ध ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रह सकता है। अज्ञान का मतलब 'न जानना' नहीं है, किन्तु जानने के साथ राग-द्वेष, मोह-मद, अहंकार-ममकार, प्रियता-अप्रियता आदि विकारों का जुड़ जाना है। ज्ञान-स्वभाव में स्थिर–लीन रहने का अर्थ है–जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में जानना, उसमें अपनी मान्यता या अपनी वृत्ति के अनुसार किसी प्रकार की, राग-द्वेष की, अच्छे-बुरे की, अनुकूल-प्रतिकूल की, मनोज्ञ-अमनोज्ञ की मिलावट न करना जानना–केवल जानना रहे–कोरा ज्ञान रहे, उसके साथ किसी विभाव या विकार का मिश्रण न होना (सम्यक्) ज्ञान है। 'योगसार' में इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है–"जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही परिज्ञान होना–सत्यबोध होना–ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है। किन्तु ज्ञान के साथ जब राग-द्वेष, मद, क्रोध आदि विकार (विभाव) जुड़ जाते हैं, तब वह निखालिस ज्ञान न रहकर संवेदन (अज्ञानभाव का वेदन) बन जाता है।"[9]

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने वाले व्यक्ति की वृत्ति-प्रवृत्ति

ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने का अभ्यासी मुमुक्षु साधक पर-वस्तुओं के वस्तु-स्वरूप का ज्ञान करता है, किन्तु ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी या तटस्थ बनकर रहता है। घटना घटित हो रही है, उसमें वह अपने आप को लिप्त नहीं करता, प्रियता-अप्रियता का भाव नहीं लाता। वह अपने आप को उससे पृथक् रखता है। वह केवल उस घटना को जानता-देखता है और कुछ भाव उसके साथ नहीं जोड़ता।

जगत् के चेतन-अचेतन पदार्थों की जो जानकारी विभावदशा (क्रोधमानादि कषाय या रागादि विकार) की ओर घसीट ले जाती हो, वह जानकारी अज्ञान है।

---

१. यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः॥ —योगसार

इसी प्रकार वह जानकारी भी अज्ञान है, जो आत्मा को स्वभाव से दूर ले जाती हो, फिर भले ही वह जानकारी स्वमान्य आगमों की हो या परमान्य शास्त्रों की हो। यदि दृष्टि सम्यक् नहीं है, अनेकान्तवादी सापेक्ष दृष्टि नहीं है तो स्वमान्य शास्त्र भी उसके लिए मिथ्याज्ञान रूप हो सकते हैं और यदि दृष्टि सम्यक् है, अनेकान्तवादयुक्त सापेक्ष है, तो परमान्य शास्त्र भी उसके लिए सम्यग्ज्ञानरूप हो सकते हैं। 'भगवद्गीता' में ज्ञान और अज्ञान का विश्लेषण करके कहा गया है– "अध्यात्मज्ञान (आत्मा-अनात्मा के विवेकज्ञान) में नित्य स्थिरता तथा तत्त्वज्ञान के अर्थ (उद्देश्य) रूप परमात्मभाव को सदा देखना, यही वास्तविक ज्ञान है। इससे जो विपरीत है, उसे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा गया है।"[1]

'ज्ञानसार' में कहा गया है–"जो ज्ञान आत्मा के या परमात्मा के ज्ञानादि स्वभाव की ओर ले जाता हो, अथवा स्वभावदशा के अधिकाधिक निकट रहने में सहायक हो, अथवा जो जानकारी स्वभावदशा में स्थिर रखने में लाभदायक = उपयोगी हो, कम से कम जो स्वभाव-सम्मुखता अथवा स्वभाव के संस्कार के जगाने में मुख्य कारण हो, उसे ही महान् आत्माओं ने ज्ञान (यथार्थ आत्म-ज्ञान) कहा है। इससे भिन्न जो रागादि विभाव बढ़ाने में, पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेषादि करने में, परमात्मभाव से विमुख करने में सहायक हो, वह बुद्धि की अन्धता–मूढ़ता है।"[2]

शास्त्राध्ययन या शास्त्र-स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य

आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से शास्त्राध्ययन या शास्त्र-स्वाध्याय का उद्देश्य केवल तत्त्वों की जानकारी कर लेना या शास्त्रोक्त पाठ का उच्चारण-श्रवण-वाचन कर लेना ही नहीं है, किन्तु स्वयं को ज्ञानादि गुणात्मक आत्म-स्वभाव की ओर ले जाना तथा आत्म-स्वभाव के प्रति श्रद्धा और रुचि को दृढ़ करना और परभावों-विभावों से विरक्ति में वृद्धि करना होना चाहिए।

आत्म-ज्ञान : कैसा हो, कैसा नहीं ?

ऐसा आत्म-ज्ञान (आत्म-स्वभाव-ज्ञान) प्रारम्भ में साधक को सत्श्रुत निर्ग्रन्थ–निःस्पृह आत्म-ज्ञानी साधुओं के समागम से, स्वाध्याय और श्रवण से प्राप्त करना चाहिए, बशर्ते कि वह ज्ञान राग-द्वेषादि विभाव को जगाने वाला, पर-निन्दा–आत्म-प्रशंसा या मद-मत्सर आदि पापों को बढ़ाने वाला न हो। वह स्वभावदशा के अधिकाधिक निकट ले जाने वाला हो, आत्मा को गुणात्मक स्वभाव में स्थिर करने वाला हो।

---

१. अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वं, तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ –भगवद्गीता १३/११

२. स्वभाव-लाभ-संस्कार-कारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्य-मात्रमतस्त्वन्यत्, तथाचोक्तं महात्मना॥ –ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ५, श्लो. ३

सम्यग्ज्ञान और संवेदन का पृथक्करण करने वाला साधक ज्ञानसमाधि प्राप्त कर लेता है

जिस ज्ञान-स्वभाव में रहने वाले आत्मार्थी साधक को ऐसी भूमिका प्राप्त हो जाती है, जिसमें सम्यग्ज्ञान और संवेदन के पृथक्करण का विवेक जग जाता है और जो संवेदन से प्रतिक्षण दूर रहकर एकमात्र ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रह सकता हो, वह स्वयं के ज्ञान (वस्तु के ज्ञान) को कोरा ज्ञान रखता है, उसमें रागादि विभावों की मिलावट नहीं करता, वह साधक वास्तव में ज्ञानसमाधि (श्रुतसमाधि) प्राप्त कर लेता है।

चतुश्चरणात्मक ज्ञानसमाधि से ज्ञान-स्वभाव में पूर्ण स्थिरता

'दशवैकालिकसूत्र' में इसी ज्ञानसमाधि को श्रुतसमाधि कहा गया है। इसके प्रयोजनात्मक चार चरण बताये गए हैं-(१) विशुद्ध ज्ञान (श्रुतज्ञान) होना, (२) एकाग्रचित्त होना, (३) स्वयं सत्य (ज्ञानभाव) में प्रतिष्ठित (स्थिर) होना, और (४) दूसरों को ज्ञानभाव में स्थिर करना। वस्तुतः ज्ञान अपने आप में चंचल नहीं होता, रागादि संवेदन ही चंचलता पैदा करते हैं, अतः ज्ञानसमाधि का **प्रथम** परिणाम या प्रयोजन है–विशुद्ध ज्ञान में स्थित होना–चंचलता समाप्त होना; दूसरा है–एकाग्रचित्त होना, ज्ञान में दत्तचित्त होना; तीसरा है–ज्ञान-स्वभाव में स्थित हो जाना और चौथा परिणाम या प्रयोजन है–दूसरों को ज्ञान-स्वभाव में स्थित करना। यही ज्ञानसमाधि है। 'गीता' में इसी को 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति' कहा गया है। आशय यह है कि जब साधक का उपयोग सतत आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहता है, उसमें जब किसी भी प्रकार के परभावों, विभावों अथवा कर्मोपाधिजन्य परिस्थितियों को ममत्ववश अपने मानकर अपनाने की कामना, स्पृहा, वासना या लालसा जरा भी नहीं रहती और जब वह आत्म-तृप्त, आत्म-सन्तुष्ट या आत्म-रति बन जाता है, तब वही आगमों की भाषा में स्थितात्मा, गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञ हो जाता है। यही आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में सतत स्थिर रहने की कुंजी है।[1]

परमात्मभाव का द्वितीय गुणात्मक स्वभाव–अनन्त दर्शन : क्या और कैसे ?

परमात्मा का अनन्त दर्शन–स्वभाव भी मूल रूप से सामान्य आत्मा में शक्तिरूप से विद्यमान है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति होने में कई बाधक कारण

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४३८-४४०

(ख) चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ, तं जहा–(१) सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ, (२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ, (३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ, (४) ठिओ, परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

–*दशवैकालिकसूत्र, अ. ९, उ. ४*

उपस्थित हो जाते हैं। उनमें से मुख्य हैं–आत्म-विस्मृति, अजागृति, प्रमाद, असावधानी, मन और इन्द्रियों का दुरुपयोग तथा दर्शन के साथ राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि का जुड़ जाना इत्यादि। इसके परिणामस्वरूप चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन (नेत्रेतर इन्द्रियों द्वारा होने वाला दर्शन), अवधिदर्शन और केवलदर्शन (एकमात्र आत्म-दर्शन) पर आवरण आ जाता है।

दर्शन : क्या है, क्या नहीं ?

यों तो दर्शन ज्ञान का ही पूर्वरूप है। ज्ञान साकार उपयोग होता है, जबकि दर्शन निराकार। किसी भी वस्तु को देखते ही प्रथम क्षण में 'यह कुछ है' इस प्रकार का निराकार सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं और यह अमुक वस्तु है, अमुक नामरूप वाली है, अमुक काम की है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है।

दूसरे शब्दों में–दर्शन होता है–अभेदात्मक चेतना से और ज्ञान होता है–भेदात्मक चेतना से। जब व्यक्ति किसी वस्तु या व्यक्ति को देखता है, तो अभेद चेतना से ही देखता है। देखते समय उसकी चेतना भेदात्मक नहीं होती। जैसे–किसी व्यक्ति को देखते ही सर्वप्रथम बोध होगा कि 'यह मनुष्य है।' यह है–अभेद चेतना। परन्तु जब उस मनुष्य के अंगोपांग, परिचय आदि के विषय में विशेष जाना जाता है, तब भेदात्मक चेतना होती है।

दर्शन और ज्ञान की कार्य-प्रणाली में अन्तर

दर्शन और ज्ञान की कार्य-प्रणाली में भी काफी अन्तर है। ज्ञान का कार्यक्षेत्र विशाल है। पूर्ण ज्ञान या अनन्त ज्ञान जिसे हो जाता है, उसके लिए किसी भी वस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी अज्ञात नहीं रहता। जब पूर्ण ज्ञानी के लिए सम्पूर्ण वस्तुओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी अज्ञात नहीं रहते, तब पूर्ण दर्शन तो उसमें गतार्थ हो ही जाता है। इसलिए जैनजगत् में 'केवलज्ञानी' या 'केवली' शब्द का प्रयोग ही प्रायः होता है, केवलदर्शनी शब्द का प्रयोग क्वचित् ही होता है।

आत्मा के दर्शन-स्वभाव का उपयोग और लाभ

वैसे भी जो सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी अपूर्ण ज्ञानी (छद्मस्थ) होता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश प्रत्येक घटना, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के विषय में आत्मा के ज्ञान-स्वभाव या दर्शन-स्वभाव में पूर्णतया स्थिर नहीं रह पाता; वह प्रमाद, विस्मृति एवं अजागृति का शिकार हो जाता है। फिर भी वह परभावों एवं कषायादि या रागादि विभावों को हेय मानता है, परभावों का ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का प्रयत्न करता है। साक्षीभाव रखने के लिए

प्रयत्नशील होता है। परभावों से सम्पर्क रखता हुआ भी वह उन्हें अपना नहीं मानता। न ही उन्हें आसक्तिपूर्वक अपनाने के लिए उत्सुक या लोलुप होता है। वह पर-पदार्थों के प्रति तटस्थ एवं उदासीन रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में या इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोगों में हर्ष-शोक से दूर रहने का यथाशक्य प्रयत्न करता है।

दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण सद्दर्शन न होना

दर्शन का अर्थ सामान्य बोध है। सामान्य बोध भी आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त हो जाता है–दर्शनावरणीय कर्म के उदय से। प्रत्येक आत्मा को परमात्मा की तरह जैसे अनन्त ज्ञान की शक्ति प्राप्त है, वैसे ही अनन्त दर्शन की शक्ति प्राप्त है। परन्तु दर्शन-स्वभाव पर आवरण, विकृति, कुण्ठा और अजागृति आ जाने से सामान्य अवबोध भी नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव और बंध के भी भगवतीसूत्रोक्त छह कारण हैं–(१) दर्शन-प्रत्यनीकता से, (२) दर्शन का निह्नव करने (छिपाने) से, (३) दर्शन में अन्तराय डालने से, (४) दर्शन में दोष निकालने से, (५) दर्शन की अविनय-आशातना करने से, और (६) दर्शन में व्यर्थ का वाद-विवाद करने से। इन कारणों से अनन्त दर्शन की शक्ति होते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।[1]

इसी प्रकार 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी दर्शनावरणीय कर्म के आस्रव और बन्ध के छह कारण बताये गए हैं–

(१) **प्रदोष**–दर्शन, दर्शनी एवं दर्शन (सामान्य बोध) के जो साधन या उपकरण-करण हैं, उनके प्रति द्वेष या ईर्ष्याभाव रखना, दर्शन का तत्त्वज्ञान बताने वाले ग्रन्थों, शास्त्रों या दर्शनीपुरुषों की प्रशंसा न करना, अपितु उनमें दोष निकालना अथवा मोक्ष के कारणभूत तत्त्वज्ञान को सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करना, अन्तर में दुष्ट भाव रखना प्रदोष है। भगवतीसूत्रानुसार दर्शनी के प्रति प्रत्यनीकता–विरोधीभाव-विद्वेषभाव या शत्रुभाव रखना दर्शन-प्रत्यनीकता है। दर्शन-प्रदोष आगमों में चौथे नम्बर पर है।

(२) **निह्नव**–दर्शन, दर्शनबोधदाता, दर्शन (सामान्य बोधप्रदाता) गुरु का नाम छिपाना, ग्रन्थ का नाम छिपाना तथा वस्तुस्वरूप के ज्ञान या सामान्य बोध को छिपाना, जानते हुए भी कहना कि मैं नहीं जानता यह निह्नव है। भगवत्प्रतिपादित तत्त्वज्ञान का वास्तविक अर्थ छिपाकर विपरीत प्ररूपण करना।

---

१. (क) गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाण-निण्हवणयाए णाणंतराए णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणयाए णाणविसंवादणा-जोगेणं ..... एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसणनाम घेत्तव्वं। –भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ९, सू. ७५-७६

(ख) तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः।

–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. ११

(३) मात्सर्य–वस्तुस्वरूप का सामान्य बोध होते हुए भी, यदि मैं इसे बताऊँगा तो यह विद्वान् हो जाएगा, इस प्रकार किसी को सिखाना-पढ़ाना नहीं, अथवा दर्शन और दर्शनी के प्रति ईर्ष्या-डाह करना, जलन रखना मात्सर्य है।

(४) अन्तराय–सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न डालना, दर्शन-प्राप्ति के उपकरण-साधन छिपा देना, किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना, ज्ञानप्रसार के साधनों का विरोध करना, न होने देना भी अन्तराय दोष है।

(५) आसादन–दूसरे के द्वारा दिये जाते हुए दर्शन के बोध या तत्त्वज्ञान के शिक्षण को संकेत से रोक देना या कह देना कि इनको बोध देना व्यर्थ है, ये बोध ही नहीं पा सकते, मंदबुद्धि हैं, व्यर्थ समय का बर्बाद मत करो अथवा दर्शन और दर्शनी की अविनय-आशातना करना भी आशातना दोष है या दर्शन या दर्शनी के गुणों को ढकना आसादन है।

(६) उपघात–आगम या जिनेन्द्रोक्त ज्ञान (सामान्य बोधरूप दर्शन) में दोष लगाना, व्यर्थ ही दोष निकालना, अथवा उस ज्ञान (सामान्य बोधरूप दर्शन) को ही अज्ञान (अबोध) मानकर उसे दूषित करना उपघात है। 'भगवतीसूत्र' में इसके बदले 'अविसंवादनायोग' नामक कारण है, उसका अर्थ है–निरर्थक वाद-विवाद करना, कुयुक्ति और कुतर्क से आगमोक्त शब्द के अर्थ को खण्डन करके मनमाना अर्थ करना भी उपघात या अविसंवादयोग है।

अब हम समीक्षा करेंगे कि सामान्य आत्मा में भी जब केवलदर्शन (अनन्त दर्शन) की शक्ति है, तब उसकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती। इसके समाधान के लिए दर्शनावरणीय कर्म के चार भेदों पर पूर्वोक्त बन्ध कारणों के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन प्रस्तुत करेंगे। दर्शनावरणीय कर्म जो आत्मा में केवलदर्शन (सामान्य बोध) की अभिव्यक्ति नहीं होने देता, उसके चार प्रकार हैं–चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय।

चक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल

नेत्र से जो दर्शन (आत्मा का सामान्य बोध तथा परभावों-विभावों का भी सामान्य बोध) होना चाहिए, वह इसलिए नहीं हो पाता कि नेत्र से आत्म-भावों की दृष्टि से बोध करना चाहिए, वहाँ अधिकांश जीव नेत्र से किसी को सामान्य बोध हुआ है, उसमें दोष निकालता है, उससे ईर्ष्याभाव रखता है, नेत्र से किसी ने किसी व्यक्ति को भयंकर चोरी, व्यभिचार, हत्या आदि अपराध करते देख लिया, इस पर अपराधी या दोषी व्यक्ति या तो उसको झुठलाने की, उसकी निन्दा करने की, उसके सत्य बोध में दोष निकालने की या उसे मारने-पीटने या उसकी हत्या करने की कोशिश या साजिश करता है। चक्षुदर्शनी द्वारा दिये जाते हुए सही मार्गदर्शन

को, यथार्थ पथ-दर्शन को ठुकरा देता है या किसी प्रत्यक्षदर्शी की आँखें फोड़ देता है या नेत्र विकल कर देता है अथवा पूर्वाग्रह या रोषवश कह देता है, मैं उसे कतई देखना नहीं चाहता, मैं उसके लिए आध्यात्मिक मार्गदर्शक ग्रन्थ को देखना भी नहीं चाहता, उससे मिलना नहीं चाहता, सच्चे त्यागी के विषय में कहना कि उसका मुँह देखना पाप है। मैं उसके द्वारा मान्य किसी के सुन्दर नेत्र देखकर उससे ईर्ष्या करना, किसी सुन्दरी के नेत्रों को देखकर कामवासना पैदा होना, किसी गुणी के सिर्फ एक सामान्य दोष को देखकर उसे आत्म-भाव से न देखना, पर-नारी को विकारी दृष्टि से देखना, आँखों से विषयवासनावर्द्धक सिनेमा, टी. वी. आदि अश्लील देखना आदि चक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं, जिसके उदय में आने पर व्यक्ति अंधा, काना या मंददृष्टि हो जाता है। इस प्रकार आँखों का दुरुपयोग करके नेत्रों से दर्शन की शक्ति को खो देता है, फलतः वह व्यक्ति आत्मा, परमात्मा का सामान्य बोध नहीं कर पाता।

अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल

अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म का बन्ध तब होता है, जब नेत्र के अतिरिक्त नाक, कान, जीभ, स्पर्शनेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त आदि का दुरुपयोग करता है। किसी दीन, दुःखी, रुग्ण, अपाहिज आदि को देखकर नाक-भौं सिकोड़ना, किसी रुग्ण को उल्टी या दस्तें लग रही हों, उस समय बदबू आने पर नाक बंद करके उससे घृणा करना, सेवा से मुँह मचकोड़ना, कान से अश्लील, गंदी, निंदाजनक, आर्त्तध्यानकारक बातें सुनना, कान से किसी दीन-दुःखी की, पीड़ित की पुकार सुनकर शक्ति होते हुए भी उसकी सहायता न करना, कान से परमात्मा के गुणगान, स्तुति आदि सुनने में आलस्य, उपेक्षा करना, जीभ से अपशब्द, गाली, निन्दा, मिथ्या दोषारोपण, चुगली, मिथ्या भाषण करना, कामवासनावर्द्धक गायन गाना, जीभ से किसी को वचन देकर विश्वासघात करना, जिह्वा लोलुप बनकर माँस, मछली, अंडे आदि अभक्ष्य चीजों का भक्षण करना, मदिरापान करना, नशीली चीजों का सेवन करना, हाथ-पैर एवं शरीर के सभी अंगोपांगों से दूसरे को मारना, सताना, पीटना, हत्या, दंगा, आगजनी, व्यभिचार, बलात्कार, अश्लील चेष्टाएँ, विदूषक चेष्टाएँ आदि पापकारी कुकर्म करना, मन से आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करना, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने, धोखा देने, विश्वासघात करने, ठगने, जाल में फँसाने आदि के प्लान बनाना, षड्यंत्र रचना, बुद्धि से दूसरों को ठगने, अपहरण करने, बदनाम करने, नीचा दिखाने आदि अधःपतन के विचार करना, असंयम और हिंसादि पापों में अहर्निश बुद्धि और चित्त लगाना, बुद्धि का दुरुपयोग करना, ये और इस प्रकार की इन्द्रिय-नोइन्द्रिय चेष्टाएँ अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं, जिनसे उसके फलस्वरूप व्यक्ति बहरा, गूँगा, नकटा, लूला,

लँगड़ा, अपाहिज होता है। दुर्बल मन का, मंद बुद्धि या मूर्ख, पागल, विक्षिप्त तक हो जाता है। इनके अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं चक्षुदर्शनावरणीय और अचक्षुदर्शनावरणीय के। जैसे किसी की आँख, कान, नाक, जिह्वा, जननेन्द्रिय आदि को विकृत, भग्न एवं नष्ट कर देना, अथवा किसी दवा या मंत्रादि प्रयोग से किसी को विक्षिप्त, पागल, मूर्ख या मन्द बुद्धि बना देना भी अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं, जिनके उदय में आने पर जीव को उसका प्रतिफल भोगना पड़ता है, साथ ही वह चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन द्वारा होने वाले सामान्य बोध से भी वंचित हो जाता है। वह दर्शन-स्वभाव में प्रगति नहीं कर सकता।

अवधिदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल

अवधिदर्शनावरणीय कर्मबन्ध तब होता है, जब व्यक्ति आत्म-दर्शन के बदले अथवा आत्म-गुणों के सामान्य बोधरूप दर्शन के बदले आत्म-बाह्य पदार्थों के देखने-सुनने और उनको जानने-देखने में रुचि, लालसा रखता है। उसे अवधिदर्शन की शक्ति से देखना चाहिए आत्मा को, आत्म-गुणों को, आत्मा के स्वभाव को; पर अधिकांश समय लगाता है सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों को जानने-देखने, उनमें राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, मोह-द्रोह, प्रियता-अप्रियता आदि भाव लाता है अथवा अधिकांश समय रागादि विभावों में अपनी आत्मा की सामान्य बोध (दर्शन) की शक्ति को लगाता है। समग्र जीवन का प्रायः पाँच प्रतिशत या उससे भी कम समय स्व-दर्शन–शुद्ध आत्म-दर्शन (परमात्म-दर्शन) में व्यतीत होता है। फलतः सजीव-निर्जीव परभाव-दर्शन से प्रायः ईर्ष्या, द्वेष, अहंत्व-ममत्व, मोह, मद, मत्सर, छलकपट, लोभ आदि समस्याएँ पैदा होती हैं। उनसे अवधिदर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है, अवधिदर्शन (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मर्यादायुक्त सामान्य बोध) प्राप्त नहीं होता।

अवधिदर्शन और केवलदर्शन के आवरण में मोहकर्म का हाथ

अवधिदर्शन और केवलदर्शन में पाँचों इन्द्रियों या मन से सामान्य-विशेष बोध न होकर सीधा (Direct) आत्मा से ही बोध होता है। परन्तु आत्मा से सीधा बोध प्रायः धर्मध्यान, शुक्लध्यान से, कायोत्सर्ग से, प्रतिसंलीनता से, संवर और निर्जरा से तथा भेदविज्ञान से हो पाता है, इनका प्रयोग न करके व्यक्ति जब आर्त्त-रौद्रध्यान में पड़ता है, शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के प्रति ममत्व-अहंत्व, राग-द्वेष आदि करने लगता है, सजीव-निर्जीव परभावों और विभावों को जानने-देखने और उन्हीं में तल्लीन होकर आत्मा और आत्मा के निजी गुणों या आत्म-स्वभाव के प्रति उपेक्षा करता है, उदासीन हो जाता है, तब अवधिदर्शन या अनन्त (केवल) दर्शन की जो शक्ति उसकी आत्मा में निहित थी, उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

आवृत और सुषुप्त केवलदर्शन को जाग्रत एवं अनावृत करने के उपाय

अतः आत्मा में निहित अनन्त दर्शन (केवलदर्शन) की शक्ति को जाग्रत, अनावृत और अभिव्यक्त करने हेतु उसे बहिर्मुखी बने बाह्य करणों (इन्द्रियों) तथा मन, बुद्धि, चित्त और हृदयरूप अन्तःकरणों को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध आत्मा के या आत्मा के दर्शन-स्वभाव में स्थिरता के लिए उसे अपनी भूमिका के अनुरूप सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों से तथा परभावों से वास्ता पड़ेगा, किन्तु उस समय वह ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहे, साक्षी बनकर रहे, कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि न रखे, सहजभाव से जीए। 'उत्तराध्ययन' एवं 'आचारांग' के निर्देशानुसार–पाँचों इन्द्रियों तथा मन के विषयों का आवश्यकतानुसार उपयोग करे, किन्तु उसके प्रति राग और द्वेष न रखे।[1]

सामान्य आत्मा को केवलदर्शन की शक्ति प्राप्त है, पर अभिव्यक्ति क्यों नहीं और कैसे होगी ?

वैसे तो प्रत्येक आत्मा को केवलदर्शन की शक्ति प्राप्त है, वह ज्ञाता-द्रष्टा है, जानता और देखता भी है। परन्तु उसे वास्तव में देखना चाहिए आत्मा को, आत्म-स्वभाव को या आत्म-गुणों को; उसकी अपेक्षा चलाकर अनावश्यक रूप से देखता है–परभावों को–अन्य व्यक्तियों या प्राणियों को, अथवा निर्जीव पर-पदार्थों को या रागादि विभावों (विकारों) को। परभावों के दर्शन (विकृतरूप से दर्शन) में उसकी पाँचों इन्द्रियाँ और मन लग जाते हैं, अवरुद्ध हो जाते हैं। फलतः स्वभाव के दर्शन की शक्ति परभाव-दर्शन में रुक जाती है। यद्यपि परमात्मा के केवल दर्शन-स्वभाव की अभिव्यक्ति सामान्य आत्मा में न होने में केवल दर्शनावरणीय कर्म ही कारण होना चाहिए, दर्शनमोहनीय कर्म कारण नहीं होना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियों से मूर्तिक पदार्थों का दर्शन होता है, वैसे ही अतीन्द्रिय ज्ञानियों को अमूर्तिक आत्मा के भी दर्शन होते हैं। जैसे सर्वज्ञान-दर्शनों में आत्म-ज्ञान–आत्म-दर्शन अधिक उत्कृष्ट है, इस दृष्टि से बाह्य पदार्थों के दर्शन की अपेक्षा अन्तर्दर्शन = आत्म-दर्शन अधिक उत्कृष्ट है, पूज्य है। इस अपेक्षा से आत्म-दर्शन के बाधक कारणों में दर्शनावरणीय कर्म के साथ दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय भी बाधक कारण माने जाएँ तो अनुचित नहीं है।[2]

---

१. (क) देखें–उत्तराध्ययन का ३२वाँ अप्रमाद अध्ययन
(ख) आचारांगसूत्र, श्रु. २, अ. ३, उ. १५, सू. १३१-१३५

२. देखें–तत्त्वार्थसार, पृ. २०१-२०२ का उद्धरण, तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती टीका–रामजी माणेकचन्द दोशी), पृ. ५२१-५२२

अतः स्वभाव-दर्शन का साधक अपने शुद्ध आत्म-दर्शनरूप स्वभाव पर अटल रहता है, राग-द्वेषादि विभावों में लिप्त नहीं होता तो एक न एक दिन अवश्य ही परमात्मा के अनन्त दर्शनरूप स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। तथैव रागादि विकारों से सर्वथा मुक्त अथवा अत्यन्त अल्पांश से युक्त होकर ज्ञानसमाधि की तरह दर्शनसमाधि भी प्राप्त कर सकता है।

आत्म-दर्शनरूप स्वभाव की निष्ठा अनन्त (केवल) दर्शन तक पहुँचा सकती है

कई दफा व्यक्ति की दृष्टि, मति या वृत्ति आत्मा या आत्म-स्वभाव के दर्शन को छोड़कर दूसरों की ओर जाती है, तब वह अपने आप को उच्च और दूसरों को नीचा तथा स्वयं को उत्कृष्ट और दूसरों को निकृष्ट देखता, कहता, दिखाता या सुनाता जाता है। इतना ही नहीं, स्वयं को उच्च प्रतिष्ठापित करके दूसरों के प्रति घृणा, ईर्ष्या करता-कराता है। इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति स्वयं रागादि से युक्त होकर, स्व-दर्शन को छोड़कर पर-दर्शन में उलझ जाता है, तब अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, क्षेत्र, संयोग-वियोग, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा आदि विषमताओं के प्रवाह में बहकर हर्ष-शोक, राग-द्वेष, रोष-तोष आदि करके मोहनीय कर्म से सम्पृक्त दर्शनावरणीय कर्म का अधिकाधिक बन्ध होता जाता है। फलतः उसकी स्वभाव-दर्शन की निष्ठा मन्द पड़ जाती है या बिलकुल ठप्प हो जाती है। उसे परमात्मा के स्वरूप-दर्शन में स्थिरता प्राप्त नहीं होती। न ही उस सम्यग्दृष्टि-विहीन आत्मा को परमात्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द एवं असीम आत्म-शक्ति का, आत्म-स्वभाव के आस्वाद का तथा आत्म-सुख का दर्शन, विश्वास या श्रद्धान होता है। जिसकी परमात्मा के स्वभाव-दर्शन में निष्ठा जागती है, वह सबको समभावपूर्वक जानता-देखता है। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार उसकी दृष्टि में "आत्मैकत्वभाव के अनुरूप न तो कोई हीन लगता है, न ही अतिरिक्त (उत्कृष्ट) लगता है। परभावों को भी वह आत्म-दृष्टि से तोलता-नापता है, देखता है। आत्म-स्वभाव के दर्शन की वही निष्ठा उसे केवलदर्शन तक पहुँचा देती है।"[1]

परमात्मा का तृतीय आत्म-स्वभाव : अनन्त आनन्द (अव्याबाध-सुख)

सिद्ध या अर्हन्त परमात्मा का तृतीय आत्म-गुणात्मक स्वभाव है—अनन्त अव्याबाध-सुख (आनन्द); वही शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मा में भी अनन्त अव्याबाध-सुख की शक्ति पड़ी हुई है, उसकी अभिव्यक्ति

---

१. णो हीणे, णो अइरित्ते, णो पीहए, तम्हा पंडिए णो हरिसे णो कुज्झे।

—आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ३

वेदनीय-मोहनीयादि अमुक कर्मों के आवरण के कारण नहीं हो पाती। जैसे-जैसे मानव बाह्य इन्द्रिय-विषयों, मनोविषयों एवं मनोज्ञ-अमनोज्ञ पर-पदार्थों में रागादिवश कल्पित सांसारिक सुख-दुःखों को छोड़कर एकमात्र आत्मिक आनन्द (सुख) में मग्न–तन्मय होता जाता है, त्यों-त्यों परमात्मा के अनन्त सुख-स्वभाव की ओर बढ़ता जाता है अर्थात् अपनी आत्मा में शक्तिरूप से निहित अनन्त आत्मिक सुख-स्वभाव, जो आवृत, कुण्ठित, सुषुप्त एवं अनभिव्यक्त है, उसे अभिव्यक्त कर लेता है। वैसे तो आत्मा स्वयं सुखधाम है, अनन्त अव्याबाध-सुख का स्वामी है, उसका यह निजी गुण भी है। उसी आनन्द की निधि उसके पास में है, जिस आनन्द की परिभाषा यह है–

"देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्यः आत्मा आनन्दः।"[1]

–जो देश, काल, वस्तु और व्यक्ति की प्रतिबद्धता से रहित हो, वह अव्याबाध आनन्द ही आत्मा है।

अनन्त अव्याबाध-सुख की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ?

किन्तु सामान्य आत्मा देश, काल, वस्तु और व्यक्ति रूप पर-पदार्थों की प्रतिबद्धता से प्रतीत होने वाले क्षणिक काल्पनिक सुखाभास को आनन्द मान लेता है, किन्तु वह स्वाधीन नहीं है, बाधारहित नहीं है, पर-पदार्थाधीन है, इसलिए अमुक देश, काल, पात्रादि में वही भासित होने वाला सुख-दुःखरूप बन जाता है। अज्ञानीजन बाह्य विषयों, धन-मिष्टान्न-पुत्र-कलत्रादि अभीष्ट पर-पदार्थों की प्राप्ति में सुख मानते हैं, किन्तु वह सुख वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ होने से पराधीन, क्षणिक और आकुलताजन्य है। वह सुख नहीं, सुखाभास है।[2] इस काल्पनिक सुख के साथ राग-द्वेष, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, अनुकूल-प्रतिकूल, रोष-तोष आदि आकुलता पैदा करने वाले विभावों (विकारों) के वेदन जुड़े हुए हैं। वेदनीय कर्म के उदय से मोहनीय कर्म से सम्पृक्त साता-असातारूप वेदन होता है, उक्त वेदन के समय उक्त सुख में आसक्ति (राग) और दुःख में अरुचि, घृणा (द्वेष) होने से पुनः वेदनीय और मोहनीय कर्म का बन्ध होता रहता है। इस काल्पनिक सुख में दुःख का बीज छिपा हुआ है।

बाह्य सुख पराधीन और आत्मिक-सुख स्वाधीन है

यह तो अनुभवसिद्ध तथ्य है कि बाह्य सुख पराधीन है, आत्मिक-सुख स्वाधीन है। जिन विषयों का उपभोग कर लिया, उनकी स्मृति से, जिन विषयों

---

१. वेदान्तदर्शन

२. पराधीन सपनेहु सुख नांही। –*तुलसी दोहावली*

का व्यक्ति उपभोग कर रहा है, उनके कल्पनाजन्य संस्कारवश भविष्य में जिन विषयों का उपभोग करना है, उनकी सुखद कल्पना से अज्ञानी जीव बाह्य विषयों, पर-पदार्थों या व्यक्तियों में सुख मानता है, वह पर-सापेक्ष है, आकुलतायुक्त है, उसकी प्राप्ति में, अर्जन में, रक्षण में तथा वियोग में दुःख है, इसलिए वह क्षणिक प्रतिभासित सुख आकुलता से पूर्ण एवं पराधीन है, जबकि आत्मिक-सुख (आनन्द) देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, विषय आदि से निरपेक्ष है, स्वाधीन है, निराबाध है, शाश्वत है, परिपूर्ण है। वह सुख कहीं बाहर से लाना नहीं है, वह तो आत्मा में ही पड़ा है। वही निजानन्द है। जिन्होंने स्वानुभूति की है, उन महान् आत्माओं–वीतराग परमात्माओं को उस सुख का साक्षात्कार या अनुभव होता है। तभी तो यह कहा जाता है–"एगंतसुही साहू वीयरागी।"[9]–वीतरागी साधु एकान्त सुखी है। वीतराग परमात्मा के ही नहीं, सामान्य आत्मा के भी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त सुख पड़ा है। आत्मा के असंख्य प्रदेश में भी अनन्त सुख पड़ा है। समग्र आत्मा एकान्त सुख से सर्वथा परिपूर्ण है, इसलिए वह सुख का धाम है।

आत्मिक-सुख से सम्पन्न वीतरागी पुरुषों की निष्ठा, वृत्ति-प्रवृत्ति और समता

ऐसा आत्मिक-सुख ही अतीन्द्रिय, अव्याबाध, एकान्तिक और आत्यन्तिक है। वही परमात्मा का एवं सामान्य शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। इस सुख (आनन्द) में किसी भी बाह्य निमित्त या आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती। वह आत्मा के स्वभाव में से प्रकट हुई आत्मा की शुद्ध परिणामधारारूप है। आत्मा से आत्मा में अनुभव किया जाने वाला वह सुख स्वाधीन है। यदि बाह्य विषयों या पर-पदार्थों में ही आनन्द या सुख होता तो साधुवर्ग इतने परीषह, उपसर्ग या कष्ट को समभाव से, शान्ति से क्यों सहन करता? गृहस्थवर्ग को भी समता, शान्ति, सन्तोष, अहिंसा आदि की साधना करने की आवश्यकता क्यों पड़ती? इसीलिए नमि राजर्षि ने विप्रवेशी इन्द्र को कहा था–"हम अकिंचन हैं, हमारा (अपनी आत्मा तथा आत्म-गुणों के सिवाय अन्य) कुछ भी नहीं है। इसलिए हम सुखपूर्वक (निराबाध स्वाधीन सुखपूर्वक) रहते हैं, निज-आनन्द में जीते हैं। मिथिला के जलने पर हमारा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है। जिसने (अपने माने हुए) पुत्र, कलत्र आदि (पर-सम्बन्धों) का त्याग कर दिया, जो भिक्षु आरम्भ-परिग्रह आदि के व्यापार (प्रवृत्ति) से रहित है, उसके लिए संसार के कोई भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ न

---

१. नवि सुही देवता देवलोए, नवि सुही सेट्ठी-सेणावई वि।
नवि सुही राया रट्ठवई, एगंत सुही साहू वीयरागी॥ —आउर पच्चक्खाण प्र.

तो प्रिय हैं, न ही अप्रिय।"[1] उसे समभाव में ही निराबाध स्वाधीन सुख है। जबकि पौद्गलिक सुख या वैषयिक सुख अनेक विघ्न-बाधाओं से युक्त है। उस सुख में बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रशंसा से सुख मानने पर, निन्दा से उसमें बाधा आ जाती है। किन्तु निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान, सांसारिक सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवित-मरण आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठे हुए परम स्वभावी वीतरागी पुरुषों के आत्मिक-सुख में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं है। जैसे कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है--साधक समग्र ज्ञान के प्रकाशित होने से, अज्ञान और मोह के दूर हो जाने से तथा राग और द्वेष के संक्षय से मोक्ष का एकान्त सुख प्राप्त करता है।[2]

पौद्गलिक सुख क्षणिक है, बाधायुक्त दुःखबीज है, कालान्तर में दुःखरूप है

पौद्गलिक कर्मोपाधिक सुख क्षणिक है, सुखाभास है, बाधायुक्त है और वही कालान्तर में दुःखरूप हो जाता है। प्रत्येक वस्तु में समय, क्षेत्र, परिस्थिति एवं अपेक्षा से सुखकर माना जाने वाला पदार्थ घटना या संयोगवश कालान्तर में दुःखरूप बन जाता है। जिस धन में सुख माना जाता है, वही चोरी, डकैती, हत्या, राजदण्ड आदि के कारण दुःखरूप बन जाता है। अहंत्व-ममत्ववश मनुष्य अपनी कल्पना से मनोज्ञ या इष्ट वस्तु या व्यक्ति को सुखरूप मानता है, वही कालान्तर में दुःखरूप बन जाता है। शुभ में, पुण्य में ही सुख होता तो उससे दूर हटने का, आकुलता पाने का भाव कालान्तर में नहीं होता। अतः पर-पदार्थ में, घटना में, संयोग में या पुण्यादि के उदय में सुख नहीं है, सुखाभास होता है, वह भी क्षणिक। यदि वह सुखरूप ही होता तो निरन्तर सुखदायक ही रहता, कालान्तर में बेचैनी या दुःख का कारण न बनता। पर-पदार्थों में ही सुख होता तो उनके अत्यधिक उपभोग से या अत्यधिक सम्पर्क से आगे जाने पर व्यक्ति को बेचैनी या अरुचि न होती। अतः स्वभाव में सुख है, उसमें व्यक्ति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों सुख (अत्यानन्द) बढ़ता जाता है। अतः स्व-स्वभाव के प्रेक्षण अन्तर्मुख-निरीक्षण में ही सुख है, अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन में ही सुख है।

---

१. सुहं वसामो जीवामो, जे सिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झयाणीए, न मे डज्झइ किंचण॥१४॥
चत्त-पुत्त-कलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई॥१५॥ —उत्तरा., अ. ९, गा. १४-१५

२. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥ —वही, अ. ३२, गा. २

सुख-दुःख देने वाला न तो सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ है,
मनुष्य की अपनी तदनुरूप कल्पना ही होती है

यह एक निश्चित तथ्य है कि मानव का आनन्द उसके स्वभाव में स्थित रहने में है, बाहर में या बाह्य इन्द्रिय विषयों में नहीं। वह एकमात्र उसके अन्तर में है, अतीन्द्रिय चैतन्य स्वभाव में स्थिर रहने में है। पर-पदार्थ, चाहे सजीव हो या निर्जीव अपने आप में कोई मनोज्ञ या अमनोज्ञ, सुखद या दुःखद नहीं होता, उसमें सुख-दुःख की, मनोज्ञ-अमनोज्ञ की, अनुकूल-प्रतिकूल की कल्पना करता है—मानव ही। जगत् के समस्त बाह्य पर-पदार्थों की अनुकूल-प्रतिकूल परिणति होती है, उसके साथ सुख या दुःख की कल्पना तुझे नहीं करनी है। उसके साथ तेरा कोई लेना-देना नहीं है। तू अपने दुःख में भी अकेला है और सुख में भी। तेरे निकट सर्वज्ञ परमात्मा बैठे हों, फिर भी वे तेरी परिणति को सुधार नहीं सकते। तू ही अपने पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से प्राप्त दुःख या सुख में द्वेष या राग, अरुचि या आसक्ति न रखकर समभाव में—स्वभाव में लीन होकर ही कर्मनिर्जरा करके आत्मिक सुख-शान्ति या सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। अनेक शत्रु या विरोधी तुझे घेर लें, तेरे मन के प्रतिकूल व्यवहार करें, तुझे बदनाम करें या तेरी निन्दा करें तो भी तेरी आत्मिक सुख-शान्ति को वे बिगाड़ या मिटा नहीं सकते। आत्म-स्वभाव के अवलम्बन के बिना बाहर से या दूसरे की ओर से कोई सुख-शान्ति प्राप्त होने वाली नहीं है और यह भी बात है कि आत्मा के स्वाधीन अनन्त सुख स्वभाव के अवलम्बन से अभिव्यक्त सुख-शान्ति को दूसरा कोई न तो छीन सकता है और न ही ध्वस्त या विकृत कर सकता है। 'समयसार' में कहा गया है—"जो जीव ऐसा मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष ऐसा मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता।[1] सुखी-दुःखी सभी जीव अपने-अपने कर्मों के उदय से होते हैं। अज्ञानी जीव बाहर से, बाह्य पदार्थों से सुख-शान्ति करने के भ्रम में रहता है। इस कारण वह इस भ्रम में रहता है कि अमुक बाह्य पदार्थ या दूसरा व्यक्ति मेरी सुख-शान्ति छीन लेगा या ध्वस्त कर देगा। परन्तु स्वाधीन आत्मिक सुख-शान्ति आत्मा का स्वभाव है, उसे न तो कोई दे-ले सकता है और न ही छीन या विकृत कर सकता है। पुण्य-पापकर्म (शुभ-अशुभ = साता-असातावेदनीय कर्म) से प्राप्त होने वाला या बाह्य संयोगों से होने वाला सुख-दुःख भी आत्मिक सुख-स्वभाव नहीं है।

---

१. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ —*समयसार, बंधाधिकार, गा. २५३*

सब तरह से धन-वैभवादि समृद्ध होते हुए भी अन्तर में व्याकुलता के कारण मनुष्य दुःखी होता है

अज्ञानीजन बाह्य संयोगों को लेकर सुख-दुःख की कल्पना करते हैं, परन्तु यह निरा भ्रम है। किसी व्यक्ति के पास लाखों रुपये हों, कार, कोठी, बगीचा हो, शरीर भी स्वस्थ हो, किन्तु परिवार में अनबन रहती हो, अपना अपमान होता हो, भाई-भाई में परस्पर कलह हो गया हो, पत्नी-पुत्र आज्ञाकारी न हों, तो धन-वैभव आदि का संयोग होते हुए भी, व्याकुलता आदि के कारण अन्तर में दुःख की आग भभकती हो तो वह दुःखी ही कहलाएगा, कौन उसे सुखी मानेगा?

स्वभावनिष्ठ सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य संयोगों से सुखी-दुःखी नहीं होता

अतः स्वभावनिष्ठ सम्यग्दृष्टि आत्मा बाह्य संयोगों में सुख-दुःख की कल्पना छोड़कर अपने ज्ञानानन्द (आत्मिक-सुख) स्वभाव को देखता है। वह न तो बाह्य सुखों–सुख-साधनों या संयोगों से स्वयं को सुखी मानता है और न बाह्य प्रतिकूलताओं के संयोग में भी स्वयं को दुःखी समझता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि आत्मा में ही सुख है, बाह्य वस्तुओं में नहीं। अज्ञानीजन आत्म-सुख से, आत्मिक-सुख से या आत्मिक-स्वभाव से अनभिज्ञ तथा उसमें अस्थिर होकर–यह मकान सुखदायक है, सभी पुत्रादि अच्छे हैं, समाज में सम्मान-प्रतिष्ठा भी अच्छी है इत्यादि कल्पना करके परनिमित्त से प्राप्त या पुण्यकर्मजनित सुख को सुख मान लेते हैं, किन्तु उनमें मोह-ममत्व, राग-द्वेष आदि के कारण आगे चलकर जब कुछ आकुलता, बेचैनी बढ़ती है, तब उन्हें असलियत मालूम होती है।

आत्मार्थी पर-पदार्थों से सुख नहीं चाहता

सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी यह मानता है कि पर-वस्तु में सुख मानकर, उसके काल्पनिक क्षणिक सुख पाने के लिए पराश्रित बनना भिखारीवृत्ति है। वह इस भिखारीवृत्ति से दूर रहता है। वह सोचता है–मैं अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ। मुझे पर-पदार्थों से सुख नहीं चाहिए। मेरा सुख मेरे (मेरी आत्मा) में है। इस प्रकार आत्मानन्द की मस्ती में जो रहता है, वह शाहंशाह है। वह भगवान से, देवी-देव से या किसी शक्ति से अथवा किसी धनाधीश या सत्ताधीश से सुख की याचना नहीं करता। परमात्मा अनन्त आत्मिक सुख-सम्पन्न है, उनसे कदाचित् भक्ति की भाषा में वह प्रार्थना करता है–भगवन्! मैं आत्मिक सुख-स्वभाव में स्थिर रह सकूँ, अपने ज्ञानानन्द में निश्चल रह सकूँ ऐसी शक्ति प्राप्त हो, क्योंकि परमात्मा उस अनन्त आत्मिक आनन्द की मंजिल को प्राप्त कर चुके हैं। जो अपने अखण्ड आत्मिक आनन्द में सतत रमण करते हैं, वे ही उस आत्मानन्द की प्रेरणा कर सकते हैं।

साधक भी अभ्यास से उस परमानन्द स्वभाव की अनुभूति और उसमें स्थिरता प्राप्त कर सकता है। जिन्हें आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव की परम शुद्ध दशा प्राप्त हो चुकी है, वे निरन्तर परमानन्द की मस्ती में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उसमें से बाहर निकलते ही नहीं। जिस आत्यन्तिक और एकान्तिक मोक्ष-सुख में सिद्ध-परमात्मा निमग्न रहते हैं, उस सुख की कल्पना भी प्रचुर भौतिक वैभव और सुख-सम्पत्ति का धनी नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मिक सुख-स्वभाव में सुख मानने वाला व्यक्ति बाह्य पदार्थों के स्वामित्व में सुख की कल्पना का परित्याग करके अपनी आत्मा में ही अनन्त अव्याबाध-सुख का अनुभव कर लेता है। 'भक्तपरिज्ञा' में भी कहा है–"जो सर्वग्रन्थों–बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों से मुक्त है, शीतीभूत (शान्त) तथा प्रशान्तचित्त है, वह साधक जैसा मुक्ति-सुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।"[1]

सम्यग्दृष्टि प्रतिकूल संयोगों में भी आत्मानन्द में रहता है

अतः सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी प्रतिकूल संयोग, अनिष्ट परिस्थिति या व्यक्ति का संयोग प्राप्त होने पर भी दृढ़ निश्चयपूर्वक विचारता है कि ये सब पर-वस्तुएँ मेरे लिए हानि-लाभ या दुःख-सुख की कारण नहीं हैं। मैं पर से भिन्न हूँ। पर के साथ मेरा कोई भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव पर दृढ़ प्रतीति होने से वह चाहे जिस क्षेत्र में चला जाए, चाहे जिस काल या परिस्थिति में या संयोग में हो, उसे दुःख नहीं होता। नरक और तिर्यंच गति का भी संयोग उसके लिए दुःखकारक नहीं होता, क्योंकि नरक में भी उसे यह दृढ़ प्रतीति होती है कि आत्मा किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र में अपने मूल स्वभाव = अनन्त आनन्द-गुण से रहित नहीं होती। वह सदा अपने आनन्द स्वभाव में रहती है। भ्रमवश परनिमित्तों को अच्छा-बुरा कहने-मानने की जो बुद्धि है, वही दुःख है, दुःखबीजरूप बाह्य सुख है। वास्तव में सम्पत्ति नष्ट होने से, अपमान होने से या स्त्री-पुत्र अनुकूल न होने से जो प्रचुर आकुलता होती है, वह भी पर-पदार्थ के संयोग-वियोग से नहीं, अपितु अपने अज्ञान और मिथ्यात्व से होती है। यह आत्मा के अनाकुल सुख की विकृति है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा के आनन्दमय स्वभाव में लीनता से आत्मा में प्रचुर अनाकुलता रूप सुख (आनन्द) की अनुभूति होती है।

यों आ सकती है आत्मा के अनन्त अखण्ड आनन्द स्वभाव में स्थिरता

यद्यपि छठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका में स्थित मुनि को भी केवलज्ञानी के समान पूर्ण आनन्द अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु लक्ष्य में तो वह पूर्ण है। मध्यम

---

१. सव्वगंथ विमुक्को, सीइभूओ पसंतचित्तो य।
जं पावइ मुत्ति सुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ॥ –भक्तपरिज्ञा, गा. १३४

दशा का उत्तम आत्मिक आनन्द तो वह है ही; जोकि चौथे-पाँचवें गुणस्थान की भूमिका वालों के आनन्द से बहुत अधिक होता है। जैसे चने में स्वाद की उत्पत्ति, कच्चेपन का व्यय और उसके मूल स्वरूप की स्थिरतारूप ध्रुवत्व विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मा में रागादिरहित शुद्ध अखण्ड आनन्द शक्तिरूप में विद्यमान है, ऐसी श्रद्धा के अपूर्व स्वाद का उत्पाद, अज्ञान एवं मिथ्यात्व का व्यय तथा सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा प्रतीति हो तो आत्मा के अखण्ड आनन्दस्वरूप में स्थिरता आ सकती है।

आत्मा में निहित आनन्द का स्वाद तभी प्रगट होता है, जब वर्तमान अवस्था में चंचलता (भ्रान्ति), मलिनता और अगाढ़तारूपी कच्चापन (अपरिपक्वता) तथा अशुद्धि निकाल दे और आत्मा के अखण्ड आनन्द स्वभाव पर दृढ़ श्रद्धा, प्रतीति एवं एकाग्रता हो। तभी आत्मा में निहित परिपूर्ण सुख-मोक्ष-सुख प्रकट होता है। ज्ञानी सन्त आत्मा के आनन्दादि स्वभाव को पहचानकर इस दुःखमय संसार-सागर को पार कर लेते हैं। जब संसार के कल्पित सुख से भिन्न जाति के निराकुल अतीन्द्रिय आत्मिक-सुख का निरन्तर स्वाद आए, तभी आत्मानन्द की यथार्थ अनुभूति समझनी चाहिए। यही मोक्ष-सुख के निकट ले जाने वाली है।[१]

●●

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४२४-४५१

200

७

परमात्मभाव का मूलाधार : अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति

परमात्मा की तरह सामान्य मानवात्मा में भी अनन्त आत्मिक-शक्ति

अन्तरायकर्म का सर्वथा क्षय होने से सिद्ध-परमात्मा में अनन्त बलवीर्य (आत्मिक-शक्ति) प्रकट होता है। जो अनन्त आत्मिक-शक्ति परमात्मा में अभिव्यक्त हो जाती है, वही अनन्त आत्मिक-शक्ति सामान्य आत्मा में, मानवात्मा में शक्ति (लब्धि) रूप में पड़ी है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति अन्तराय कर्मों के कारण नहीं हो पाती। आत्मा के स्वभाव का चतुर्थ रूप अनन्त शक्ति है, जिसे जैन-कर्मविज्ञान की भाषा में अनन्त (बल) वीर्य कहते हैं। प्राणियों में सबसे अधिक विकसित चेतना-शक्ति मनुष्य की है। उसकी आत्मा में अनन्त शक्तियों का सागर लहरा रहा है। परन्तु मानवात्मा में वे अनन्त शक्तियाँ सुषुप्त हैं, जाग्रत नहीं हैं, अनभिव्यक्त हैं, दबी हुई हैं, अभिव्यक्त या उभरी हुई (प्रस्फुटित) नहीं हैं। जबकि परमात्मा में वे अनन्त शक्तियाँ जाग्रत हैं, अभिव्यक्त हैं।

इन आध्यात्मिक शक्तियों का मूल स्रोत : आत्मा

मानवात्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है, अनन्त दर्शन की शक्ति है, अनन्त चारित्र अथवा अनन्त आत्मिक आनन्द (अव्याबाध-सुख) की शक्ति है और अनन्त आत्मिक वीरता (आध्यात्मिक भाववीर्य) की शक्ति है। ये चार प्रकार की शक्तियाँ समस्त आध्यात्मिक शक्तियों की मूल (जड़) हैं। उन समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का मूल स्रोत, मूल उद्गम-स्थल या पावर हाउस आत्मा है। आत्मा में से ये शक्तियाँ निकलकर विभिन्न भागों में आवश्यकतानुसार पहुँचती हैं। इनमें भौतिक, बौद्धिक, शारीरिक, वाचिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। हैं ये आध्यात्मिक शक्तियों की ही अनेक धाराएँ, जो मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगोपांगों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, हृदय, चित्त आदि अन्तःकरणों तथा दशविध प्राणों में विद्युत् धाराओं के समान पहुँचती हैं।

आत्म-शक्तियों से अपरिचित; जाग्रत करने में रुचि नहीं

इन आध्यात्मिक शक्तियों का होना एक बात है और उनको जाग्रत करना, अभिव्यक्त करना या विकसित करना दूसरी बात है। अधिकांश मानव आत्मा की गुफा में विराजित उन अनन्त आत्मिक-शक्तियों से अपरिचित हैं। प्रायः वे अपनी आत्म-शक्तियों से अनजान हैं, न ही उनकी रुचि, जिज्ञासा एवं तत्परता उन सुषुप्त, अनभिव्यक्त आत्मिक-शक्तियों को प्रगट करने, जाग्रत करने और आत्मा के मौलिक गुणों को विकसित करने में है और न आत्म-शक्तियों के विषय में दृढ़ प्रतीति है। बहुत-से लोगों को यह पता भी नहीं होता कि उनके पास आध्यात्मिक शक्तियों का अखूट खजाना है। उन्हें इस कारण भी अपनी उन आध्यात्मिक शक्तियों का खजाना ज्ञात नहीं होता कि वे बाहर ही बाहर खोजते हैं। भौतिक धन, साधन और पर-पदार्थों को बटोरने में, भौतिक कार्यों में, शारीरिक बल बढ़ाने में, इन्द्रियों की शक्ति को विकसित करने में अपनी आत्मिक-शक्तियाँ खर्च करते रहते हैं।

ऐसे लोग उस धनिक पुत्र की तरह हैं, जिसको अपने गुप्त धन का पता न होने से बाहर से निर्धन होने पर भीख माँगने लगा था। किन्तु उसके पिता के मित्र के द्वारा उसे गुप्त धन का ज्ञान करा देने पर वह पुनः धनाढ्य बन गया था। ऐसे ही अधिकांश लोग अपनी अनन्त आत्मिक-शक्ति के गुप्त भंडार से अज्ञात रहते हैं, इस कारण वे दूसरों से शक्ति की भीख माँगते फिरते हैं।

वे प्रायः निःसार बाह्य पदार्थों को पाने-खोजने में शक्ति लगाते हैं

वे प्रायः अपने आत्मिक धन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, जो अन्तर के गुप्त भंडार में दबा पड़ा है। उनकी दृष्टि बाहर ही बाहर दौड़ती है। उन्हें वे ही भौतिक शक्तियाँ अभीष्ट, मनोज्ञ और सुखदायिनी लगती हैं, जो बाहर हैं। वे प्रायः अपने तन, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, परिवार, समाज, धन, साधन, मकान आदि पर-पदार्थों को बढ़ाने, विकसित करने और उपार्जित करने में ही अपनी शक्ति लगाते रहते हैं। अपने भीतर झाँकने और मनोयोगपूर्वक उस आत्मिक-शक्तिरूपी निधि को खोजने का प्रयत्न नहीं करते। वे इसे निःसार, नीरस और निरर्थक समझते हैं जबकि सर्वोत्कृष्ट सारभूत वस्तु अन्तर में है। हमारे अध्यात्मयोगी वीतराग परमात्मा पुकार-पुकारकर कहते हैं–

"णिस्सारं पासिअ णाणी, उववायं चवणं णच्चा अणण्णं चर माहणे।"[1]

---

१. आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. २

–ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा बाह्य पदार्थों को निःसार समझकर (उनको पाने में अपनी शक्ति न लगाए, क्योंकि उनमें बार-बार राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता का भाव आ जाने से कर्मबन्ध होता है) उनके फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र लगा रहता है, यह जानकर माहन (श्रमण एवं श्रमणोपासक) अनन्य (परमात्मभाव–आत्मा के शुद्ध स्वभाव) में विचरण करे।

उनके कहने का तात्पर्य यह है कि बाह्य पदार्थों को पाने और उनमें अपनी आत्म-शक्तियों को नष्ट करने की अपेक्षा आत्मा के चतुर्गुणात्मक अनन्त ज्ञानादि शक्तियों की आराधना-साधना में शक्ति लगाओ, जिससे कि तुम्हारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो। भगवान महावीर ने चार अंगों को दुर्लभ बताकर उनमें अपनी शक्ति लगाने की बात 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताई है–"इस संसार में प्राणियों को चार अंग मिलने और उनको उपार्जन करने में पराक्रम करना बहुत दुर्लभ है। वे हैं–मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, सम्यक्श्रद्धा और संयम में आत्म-शक्ति लगाना (पराक्रम करना)।"[1]

बौद्धिक आदि शक्तियों को जगाने में तत्पर विविध वैज्ञानिक

आज बहुत-से वैज्ञानिक मानव में सुषुप्त बौद्धिक, मानसिक एवं भौतिक शक्तियों की शोध करने में लगे हुए हैं। मस्तिष्क शोध-संस्थान के एक परीक्षणकर्त्ता हुए हैं–'प्रो. ल्योनिद वासिलियेव।' उन्होंने अपने परीक्षण के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि मानव-मस्तिष्क में शक्ति का अखूट और अनन्त स्रोत है। वह हजारों मील दूर बैठा हुआ अपनी इस शक्ति से दूसरों को सम्मोहित और आकर्षित कर सकता है, सन्देश और विचार सम्प्रेषित (निर्यात) कर सकता है। दूसरों से उनके विचारों का आयात भी कर सकता है। मानव-मस्तिष्क में विविध शक्ति.ों के अक्षय कोष का पूरा पता अभी मनोवैज्ञानिकों को नहीं लग सका है, फिर भी समाचार-पत्रों, मासिक-पत्रों में आए दिन अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्तियों के विकास की तथा बौद्धिक-शक्ति-स्मरण-शक्ति के चमत्कार की घटनाएँ पढ़ने में आती हैं। उससे इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करे तो बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति का विकास कर सकता है। परन्तु उसके पीछे उन-उन कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम का होना अनिवार्य है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शक्तियाँ चुम्बकीय तरंगें नहीं हैं, अपितु तैजस् शरीर से सम्पृक्त प्राण ऊर्जा-शक्ति से सम्बद्ध विद्युत् तरंगें हैं।

---

१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

–उत्तराध्ययन, अ. ३, गा. १

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने सुषुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को कैसे जाग्रत किया था ?

हमारे पूर्वज महापुरुषों ने तो अपने अन्तरात्मा में छिपी हुई–दबी हुई गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों का पता शुक्लध्यान के द्वारा लगा लिया था और सचमुच वे अपने भीतर सुषुप्त अनन्त आत्मिक-शक्तियों का प्रकटीकरण करके सामान्य आत्मा से अनन्त शक्तिमान् परमात्मा बन सके थे। उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने भी उसी पद्धति का अनुसरण करके अपनी अन्तरात्मा में सुषुप्त अनन्त आत्मिक-शक्तियों को अभिव्यक्त एवं जाग्रत करके वे भी अनन्त (परिपूर्ण) शक्तिमान् परमात्मा बन गए थे। अनन्त-अनन्त आत्माएँ इन अनन्त आत्मिक-शक्तियों से परिपूर्ण होकर परमात्मा बनी हैं। उनके अपने परीक्षणों और अनुभवों का रहस्य आगमों में अंकित कर दिया है, कहीं धर्मकथानुयोग के माध्यम से तो कहीं चरणकरणानुयोग के माध्यम से तो कहीं द्रव्यानुयोग के माध्यम से और कहीं गणितानुयोग के माध्यम से। उदाहरण के तौर पर हम 'उत्तराध्ययनसूत्र' में अंकित हरिकेशबल मुनि, चित्त मुनि, अनाथी मुनि, संयती राजर्षि, कपिलकेवली[1] आदि के चरित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। इन्होंने अपने जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियों से, कर्मबन्धकारक संयोगों से जूझते हुए परीषह-विजय, उपसर्ग-सहन, मोह-ममत्ववर्द्धक वातावरण में परिवर्तन, बाह्याभ्यन्तर तप, अनुप्रेक्षा, संयम, अहिंसा, अभय, क्षमा, सन्तोष आदि का आत्म-शक्तिवर्द्धक पथ अंगीकार किया था। इस प्रकार उन्होंने विविध माध्यमों से अपनी अनन्त आत्म-शक्ति उपलब्ध और अभिव्यक्त कर ली थी। हम प्रायः उन्हीं पढ़ी-पढ़ाई या सुनी-सुनाई बातों के आधार से ऐसी प्रतीति कर सकते हैं कि पूर्वज महर्षियों द्वारा बताये गये, उनके द्वारा अनुभूत उपायों से हम भी अपने अन्तर में सुषुप्त, अनभिव्यक्त आत्म-शक्तियों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। उन महापुरुषों ने अपने जीवन-वृत्त से यह भी स्पष्ट बता दिया है कि हमारी उन सुषुप्त आत्म-शक्तियों को जाग्रत या अभिव्यक्त करने में कौन-कौन-से आवरण, विघ्न, परीषह, उपसर्ग, कष्ट आदि आ सकते हैं और हमें उन आवरणों, विघ्नों आदि को दूर करने के लिए क्या-क्या कदम उठाने चाहिए? किस प्रकार से हम अपनी आत्म-शक्तियों को जाग्रत, अभिव्यक्त एवं विकसित करने में सफल हो सकते हैं और किस-किस मोर्चे पर कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे निष्फल हो जाते हैं?

सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन में आत्म-शक्ति-संवर्द्धन, जागरण का मार्गदर्शन

'उत्तराध्ययनसूत्र' का 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नामक सारे अध्ययन में इन्हीं आध्यात्मिक शक्तियों को विविध माध्यमों से जगाने का तथा उनके विविध

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का १२वाँ, १३वाँ, २०वाँ, १८वाँ, ८वाँ अध्ययन

सुपरिणामों का प्रस्तुतीकरण है। इसमें प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत ७३ सूत्रों द्वारा मुमुक्षु साधकों को अपनी सुषुप्त अनन्त आत्म-शक्तियों को जाग्रत, अभिव्यक्त करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त करने अथवा परमात्मपद प्राप्त करने का स्पष्ट मार्गदर्शन दिया गया है।[1]

आत्म-शक्ति किनकी अभिव्यक्त होती है, किनकी नहीं ? : भगवत्-प्रेरणा

इन सब सूत्रों द्वारा भगवान महावीर का साधकों के लिए यही प्रेरणात्मक संदेश प्रतिफलित होता है–हे मानव ! तुम आत्मा हो। तुम्हारी आत्मा में सर्वोत्कृष्ट सारभूत शक्तियों की निधि भरी पड़ी है–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीरता की शक्तियाँ तुम्हारे पास हैं। परन्तु तुम अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि को ही सब कुछ समझ रहे हो। शरीरादि को जो शक्ति प्राप्त होती है, वह भी आत्मा के द्वारा ही होती है। यदि आत्मा न हो तो मृत शरीरादि कुछ भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार धन, साधन, परिवार, परिजन, समाज, राष्ट्र आदि सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों के द्वारा तुम अपने आप को शक्तिमान् मानते हो, परन्तु जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि, इन और ऐसे विविध दुःखों तथा चिन्ता, शोक, तनाव आदि मानसिक रोगों से क्या ये बचा सकते हैं या शरण दे सकते हैं, रक्षा कर सकते हैं? फिर भी व्यक्ति भ्रमवश इन और आचारांगसूत्रोक्त शरीर (आत्म) बल, ज्ञातिबल, मित्रबल, प्रेत्यबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, कृपणबल और श्रमणबल का आश्रय लेकर अपनी शक्तियों का संवर्द्धन करने का उपक्रम करता है। इस प्रकार के विविध बलों का संग्रह करने से किसी व्यक्ति की आत्म-शक्ति बढ़ नहीं सकती, न ही जाग्रत हो सकती है।[2] हे देवानुप्रिय ! तुम आत्मा की और आत्मा में निहित अनन्त शक्तिरूप निधि की उपेक्षा करके इन बाह्य निःसार और आत्म-बाह्य बलों का आश्रय लेकर आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति द्वारा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को पाने के लिए भटक रहे हो। मोक्ष के बदले केवल इन बाह्य बलों का आश्रय लेने से तो जन्म-मरणादिरूप संसार ही बढ़ेगा। इन बाह्य बलों में ज्ञानादि की वे चारों आत्म-शक्तियाँ कहाँ हैं ?

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र का 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नाम का २९वाँ अध्ययन

२. से आतबले, से णातबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिथिबले, से किवणबले, से समणबले; इच्चेते हिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमादाणं सपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।

—आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. २, सू. ७३

कौन आत्म-शक्ति से समृद्ध बनते हैं और कौन बनते हैं आत्म-शक्ति से हीन ?

वस्तुतः जो अपनी इस असीम आत्म-शक्ति की निधि को जानने, पहचानने और विकसित करने का पुरुषार्थ-पराक्रम करता है, वह बाहर से भले ही अकिंचन, धनहीन, कृशकाय या पूर्वोक्त बाह्य बलों से रहित प्रतीत हो, किन्तु अन्तर से वह पूर्वोक्त अनन्त ज्ञानादि की शक्तियों से समृद्ध है, अथवा समृद्ध बनता जाता है। इसके विपरीत जो अनन्त ज्ञानादि शक्तियों से परिपूर्ण आत्म-निधि को नहीं जानता-पहचानता और अज्ञानवश पूर्वोक्त विविध बलों का तथा तन-मन-धन-साधन आदि बलों का संग्रह करके सुदृढ़ और प्रबल बनने का प्रयत्न करता है, वह बाह्य दृष्टि से, धनादि से समृद्ध मालूम होते हुए भी आत्मिक-शक्तिरूपी धन की दृष्टि से दुर्बल, दरिद्र, पराश्रित, परमुखापेक्षी और पिछड़ा है। ऐसे व्यक्ति प्रायः अपने ही अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण, विपरीत दृष्टि और मिथ्या मान्यता के कारण आत्मिक दृष्टि से सर्वाधिक दरिद्र, दुर्बल और पराश्रित बनते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति जान-बूझकर भी अपनी आत्म-शक्तियों की समृद्धि का सदुपयोग न करने वाले, अभ्यास और जिनोक्त पद्धति के द्वारा उन्हें जाग्रत न करने वाले, आत्म-विश्वासहीन हैं, वे आत्म-शक्ति होते हुए भी दीन, हीन, दरिद्र, दुर्बल एवं शक्तिहीन बनते हैं।

आत्म-शक्तियों का सदुपयोग न करने वाले : चार प्रकार के व्यक्ति

आत्म-शक्तियों के प्रतिनिधि मानव तीन प्रकार के होते हैं–(१) शक्तियों का उपयोग ही न करने वाले, (२) शक्तियों का दुरुपयोग करने वाले, और (३) शक्तियों का सदुपयोग करने वाले। इनमें से प्रथम के चार प्रकार के व्यक्ति आत्म-शक्ति की उपलब्धियों से वंचित रहते हैं।

प्रथम प्रकार : शक्तियाँ शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगी, इस भय से उनका उपयोग न करने वाले

प्रथम प्रकार के व्यक्ति इस शंका से ग्रस्त रहते हैं कि आत्म-शक्तियों का उपयोग करने से वे शीघ्र ही खर्च हो जाएँगी। संकट, विपत्ति और भय के समय जरूरत पड़ी तो क्या करेंगे? कहाँ से लायेंगे? कई व्यक्ति अपनी अदूरदर्शिता और विवेकमूढ़ता के कारण आत्म-शक्तियों का उपयोग ही नहीं करते। वे समझते हैं कि इस प्रकार धड़ल्ले से आत्म-शक्तियों का उपयोग करने लगेंगे तो शक्तियाँ शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगी। परन्तु ऐसे लोगों का सोचने का तरीका गलत है। शक्ति के व्यय होने के डर से जो अपनी-अपनी आत्म-शक्तियों का उपयोग करना नहीं चाहते, वे

उस कृपण या भिखारी के समान हैं, जो पास में धन या साधन होते हुए भी न तो उसका व्यय करते हैं, न ही उपयोग। एक ऐसा ही अदूरदर्शी विवेकमूढ़ व्यक्ति था। उसके घर में एक गाय थी। वह जब दूध कम देने लगी तो उसने सोचा–'एक मास बाद ही मेरी पुत्री का विवाह होने वाला है। अगर मैं गाय को प्रतिदिन दुहता जाऊँगा तो दूध कम हो जाएगा। अतः कुछ दिनों तक दुहना बंद कर दूँ तो विवाह के समय एक-साथ बहुत-सा दूध मिल जाएगा।' यह सोचकर उसने दूसरे दिन से ही गाय को दुहना बंद कर दिया। नतीजा यह हुआ कि दुहना बंद कर देने से गाय की दूध देने की आदत छूट गई। एक महीने बाद जब वह गाय को दुहने बैठा तो गाय ने बिलकुल दूध नहीं दिया, क्योंकि गाय का सारा दूध सूख गया था। बेचारा मन मसोसकर रह गया। अतः शक्तियों का नियमित उपयोग न करने से उनके स्रोत बंद हो जाते हैं।

शक्तियों का उपयोग करते रहने से वे घटती नहीं, बल्कि बढ़ती–विकसित होती हैं

आत्म-शक्तियों का उपयोग न करने का सोचना इसलिए गलत है कि शक्तियों का उपयोग करते रहने से वे घटती नहीं या व्यय नहीं होतीं, बल्कि वे बढ़ती हैं, विकसित होती हैं। आपने देखा होगा–हाइड्रो-इलेक्ट्रिक (जलीय विद्युत्) की उत्पत्ति पानी के बार-बार व्यवस्थित रूप से चक्कर लगाने से होती है। जलीय तरंगें ही एक साथ व्यवस्थित रूप से बार-बार घूमकर विद्युत् पैदा करती हैं। किसी भी रसायन को बार-बार घोंटा जाता है, तभी उसकी शक्ति (पोटेंसिएलिटी) बढ़ती है। मशीनों को जितना-जितना चलाया जाता है, उनकी गति में उतनी-उतनी तीव्रता और चमक-दमक आती रहती है। अगर मशीनों को घिसने के डर से चलाया न जाए तो उनमें जंग लग जाता है, वे रगड़ खाकर कठिनाई से चलती हैं या छप्प हो जाती हैं। शरीर के हाथ-पैर आदि किसी भी अंग से काम न लिया जाए, इस डर से कि अगर इनसे काम लेंगे तो इनकी शक्ति कम हो जाएगी, तो इसका विपरीत परिणाम आता है। या तो वह अंग अकड़ जाता है या फिर वह शिथिल होकर दर्द करने लगता है। अतः शरीरशास्त्रियों का कथन है कि शरीर के अंगोपांगों से जितना अधिक काम लिया जाता है, उतना ही तीव्र गति से उनमें रक्त का संचार होता है और वे उतने ही अधिक सशक्त और सुदृढ़, स्फूर्तिमान और पराक्रमी बनते हैं। इसी प्रकार आत्म-शक्तियों का भी उचित उपयोग न किया जाए तो वे धीरे-धीरे सूखती और समाप्त होती चली जाती हैं। अधिकांश लोग इसी भ्रान्तिवश अपनी आत्म-शक्तियों को छिपाते–गोपन करते रहते हैं। आचार्य जिनदास महत्तर ने कहा था–"संते वीरिए ण णिगूहियव्वं।"–यदि शक्ति हो तो उसे छिपानी नहीं चाहिए। उनका अधिकाधिक उपयोग करने से वे शक्तियाँ बढ़ती हैं। आपने सुना होगा एक बार एक ठाकुर और

ठकुरानी में सर्कस में एक भारी-भरकम पशु को उठाने का करतब देखकर विवाद हो गया। ठाकुर कहने लगे–"इतने भारी पशु को तो कोई दैवी-शक्ति के बल पर ही उठा सकता है।" ठकुरानी का कहना था कि "अभ्यास से सब कुछ साध्य है।" ठाकुर अपनी जिद्द पर अड़े रहे। ठकुरानी ने सिद्ध करके बताने का बीड़ा उठाया और छह महीने की मुद्दत माँगी। ठकुरानी भैंस की नवजात पाड़ी को पीठ पर उठाकर प्रतिदिन महल की सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने का अभ्यास करने लगी। पाड़ी ज्यों-ज्यों बड़ी होती जाती, त्यों-त्यों उसका वजन भी बढ़ता जाता, फिर भी ठकुरानी प्रतिदिन के अभ्यासवश पाड़ी (अब भैंस) को पीठ पर उठाकर आसानी से महल की सीढ़ियाँ चढ़ती और उतरती। आखिर एक दिन ठाकुर साहब को अपनी आँखों से ठकुरानी द्वारा भारी-भरकम वजन की भैंस को पीठ पर उठाकर महल की सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते देखकर ठकुरानी की बात को मानना पड़ा। इसी प्रकार नियमित अभ्यास से आध्यात्मिक शक्तियाँ भी अधिकाधिक बढ़ती हैं, विकसित होती हैं।

बुढ़ापे में शक्तियों का ह्रास हो जाता है, फिर शक्तियों का दोहन व उपयोग व्यर्थ है

कई अदूरदर्शी और भौतिक सुखलक्षी लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी आत्म-शक्तियों के उपयोग और आत्म-विकास में पराक्रम करने की क्या आवश्यकता है? अभी तो जवानी या बचपन है, खाने-पीने और ऐश-आराम करने के दिन हैं। जब बुढ़ापा आएगा, काम-धाम से निवृत्त हो जाएँगे, तभी आत्मा-परमात्मा की एवं आध्यात्मिक-शक्तियों के विकास एवं उपयोग की बात सोचेंगे। इस भ्रान्ति के शिकार होकर वे बुढ़ापे में आत्म-शक्तियों के ह्रास हो जाने, उनका स्रोत सूख जाने के बाद उनके विकास और उपयोग की बात सोचते हैं। इस प्रकार आत्म-शक्तियों का स्रोत सूख जाने के पश्चात् उनका दोहन या क्रियान्वयन करने का उनका प्रयत्न वैसा ही है, जैसा कि आग से मकान के जलकर भस्म हो जाने के बाद कुएँ का खोदना।

शास्त्रज्ञ और विद्वान् भी शक्ति का यथोचित उपयोग करने से कतराते हैं

कतिपय व्यक्ति शास्त्रों और ग्रन्थों के द्वारा आत्मा की शक्तियों को जानते हैं। वे उन आत्म-शक्तियों पर बारीकी से विश्लेषण और विवेचन भी कर सकते हैं। मगर जब उन शक्तियों के उपयोग करने तथा यथाशक्ति उन्हें जाग्रत और क्रियान्वित करने की बात आती है, तब वे बगलें झाँकने लगते हैं, कोई न कोई बहाना बनाकर टालमटूल करने लगते हैं अथवा उपयोग करने के तरीकों और उपायों के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। दियासलाई में आग है, यह

जानते हुए भी जब तक उसे रगड़ा नहीं जाता है, तब तक उसमें से आग प्रकट नहीं होती। गाय आँगन में खड़ी है। उसे खूँटे से बाँध दिया, इतने मात्र से या उसे दूध देने की प्रार्थना करने से वह अपने आप दूध नहीं दे देती। वह दूध तभी देती है, जब उसे विधिपूर्वक दुहा जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति कितने ही शास्त्रों और ग्रन्थों को पढ़ ले, प्रतिदिन मूल पाठ का केवल स्वाध्याय कर ले, उन शास्त्रों या ग्रन्थों से कदाचित् आत्म-शक्तियों को जान ले, किन्तु उनका उपयोग ही न करे, अथवा उनके उपयोग की विधि से अनभिज्ञ हो, तब तक वह अपनी आत्म-शक्तियों को जाग्रत, विकसित या अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अतः आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने की तमन्ना वाले साधक को आत्म-शक्तियों की जानकारी के साथ, उनके उपयोग की विधि से भी अभिज्ञ होना चाहिए। आत्म-शक्तियों का जागरण या क्रियान्वयन कैसे, किस माध्यम से, कब और किस देश, काल और परिस्थिति में किस प्रकार उपयोग करना चाहिए? इसका भलीभाँति ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि आत्म-शक्तियों को जाग्रत और विकसित करने में कौन-कौन-से साधक और बाधक कारण हैं? कौन-कौन-से परीषह, उपसर्ग, खतरे और भय-स्थल हैं? कौन-कौन-से संकट और विघ्न उपस्थित हो सकते हैं? उन संकटों, उपसर्गों, भयों, विघ्नों आदि का निवारण, प्रतीकार या सामना कैसे-कैसे अहिंसक ढंग से किया जाए? इतना सब जानने के साथ ही साहसपूर्वक सुषुप्त आत्म-शक्तियों को जाग्रत और अभिव्यक्त करने का पुरुषार्थ किया जाए तो उसे सफलता मिल सकती है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' के द्वितीय परीषह अध्ययन में तथा १६वें ब्रह्मचर्य-समाधि नामक अध्ययन में भी आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने में साधक-बाधक कारण प्रस्तुत किये गए हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति आत्म-शक्तियों के स्वरूप, उपयोग विधि, प्रयोग और इनके विकास एवं जागरण के मार्ग में आने वाले विघ्नों, संकटों एवं बाधक कारणों से जब तक यथार्थ और सर्वांगीण रूप से जानकारी नहीं हो जाएगी, तब तक आत्मा में निहित चतुर्थ गुणात्मक स्वभावरूप अनन्त आत्मिक-शक्ति को जाग्रत एवं विकसित करने में सफलता से वंचित और भावदरिद्र ही समझे जाएँगे।

आत्म-शक्तियों के दुरुपयोग, अपव्यय, असुरक्षा और अजागृति से वे प्रगट नहीं हो पातीं

कई लोग आत्म-शक्तियों के पूर्वोक्त सर्वांगीण रूप से अनभिज्ञ होते हैं, वे अज्ञानवश अपनी आत्म-शक्तियों का दुरुपयोग, अथवा अपव्यय करते हैं,

---

१. देखें-परीषह अध्ययन में २२ परीषहों को सहन करने से लाभ, उपाय तथा अनायास ही संवर और निर्जरा के प्राप्त अवसर द्वारा कर्मनिरोध और कर्मक्षय करने से आत्मिक-शक्तियों का प्रकटीकरण, जागरण हो सकता है। -सं.

दुर्ध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंस्र वस्तुओं के प्रदान, पापकर्मोपदेश, कामोत्तेजक चेष्टाओं तथा कामवासनावर्द्धक अश्लील साहित्य, सिनेमा, टी. वी. आदि दृश्य-प्रेक्षण तथा कामोत्तेजक गायन आदि श्रवण, व्यर्थ बकवास, वाणी का व्यर्थ प्रलाप, उपभोग्य-परिभोग्य साधनों के अत्यधिक उपभोग आदि प्रवृत्तियों में शक्तियों का निरर्थक व्यय करते हैं। कई अधिकार, सत्ता, पद और प्रतिष्ठा के नशे में गर्वस्फीत होकर दूसरों को मारने-सताने, लूटने, शोषण करने, उत्पीड़न करने तथा अप्रतिष्ठित करने, हत्या, दंगा, डकैती, आगजनी, आतंक आदि करके अपनी अमूल्य शक्तियों को बर्बाद करते हैं। कई साधक कोटि के व्यक्ति भी दूसरों की या दूसरे सम्प्रदाय, प्रान्त, जाति, पार्टी, दल आदि की या उनके अनुगामी व्यक्तियों की निन्दा, बदनामी, चुगली करते हैं, उन्हें हैरान-परेशान करते हैं, इसी प्रकार दम्भ, दिखावा, प्रदर्शन, आडम्बर, ढोंग आदि मायापूर्वक कपटाचारण तथा हिंसादि पापों को एक या दूसरे प्रकार से मन-वचन-काया से कर-कराकर अपनी अमूल्य शक्तियों को नष्ट कर डालते हैं। आत्म-शक्तियों के विकास में बाधक कारणों से तथा परभावों और विभावों के आक्रमण से अपनी आत्मा और आत्म-शक्ति की सुरक्षा नहीं कर पाते।

मोक्षपथ में आत्म-शक्तियाँ प्रकट करने के अवसरों को यों खो देते हैं

यही कारण है कि ऐसे साधक रत्नत्रयरूप सद्धर्म-साधना–मोक्षमार्ग-साधना अथवा रत्नत्रय की आराधना में आने वाले विविध परीषहों तथा उपसर्गों से पराजित हो जाते हैं, उस दौरान समभाव में, शान्ति और धैर्य के साथ स्थिर रहकर अपनी आत्म-शक्तियों को प्रस्फुटित करने के बदले उस आग्नेय-पथ से पीछे हट जाते हैं। आत्म-धर्म तथा क्षमादि दशविध उत्तम धर्मों के आग्नेय-पथ पर चलते या उनका पालन करते समय परीक्षा के लिए आने वाले उपसर्गों (संकटों–कष्टों) से घबराकर वे पीछे हटने लगते हैं। समभावपूर्वक उनका प्रतीकार करने में उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इन्द्रिय, मन, वाणी, अंगोपांग, बुद्धि, चित्त, हृदय एवं प्राणों पर संयम करने, उनकी चंचलता को रोकने के लिए उनके निरर्थक एवं अनावश्यक उपयोग या प्रयोग पर ब्रेक लगाने में तथा १७ प्रकार के संयम में, आस्रवों के निरोध में एवं बाह्याभ्यन्तर द्वादशविध तपश्चरण में अपनी आत्म-शक्तियों को लगाने तथा विकसित, जाग्रत एवं प्रगट करने में उनका अन्तःकरण किनाराकसी करने लगते हैं।

तथाकथित आत्मार्थी साधक भी अपनी आत्म-शक्तियों के जागरण के प्रति असावधान

तथाकथित साधक अपनी आत्म-शक्तियों पर आक्रमण करने तथा उन्हें क्षति पहुँचाने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन घातिकर्मों

से जूझकर इनका क्षय, क्षमोपशम या उपशम करने को कोई तप, संयम में खास पुरुषार्थ नहीं करते और न ही भावकर्मों के जनक राग, द्वेष, मोह, कषाय, नोकषाय आदि के आक्रमणों से आत्म-रक्षा—आत्म-स्वभावों की रक्षा करने का कोई पुरुषार्थ नहीं करते। अपनी असावधानी—अजागृति से शुद्ध आत्मारूपी गृह में घुसकर काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर आदि भाववोर आत्म-शक्तिरूपी खजाने को लूट रहे—अपहरण कर रहे हैं, वे प्रमाद-निद्रा में गहरे सोए हुए हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि उनकी आत्म-शक्तियों का स्रोत बाहर से भीतर की ओर आने के बदले भीतर से बाहर की ओर जा रहा है। अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह, कषाय एवं प्रमाद आदि सब-के-सब कर्मबन्धकारक शत्रु मिलकर साधक की आत्मा में सुषुप्त, आवृत और अनभिव्यक्त आत्म-शक्तियों से उसे बेसुध, बेखबर और अज्ञात रखकर उन्हें अत्यधिक विकृत, आवृत, अनभिव्यक्त एवं चौपट कर देते हैं। इन्हीं राग-द्वेष-कषाय आदि विभावों के भुलावे में पड़कर अपनी आत्म-शक्तियों को भौतिक सुख-सुविधाओं के पाने में, इन्द्रिय-विषय-सुखों को चाहने और प्राप्त करने में खो रहे हैं तथा ईर्ष्या, द्वेष, पर-निन्दा, पैशुन्य, छलकपट, मद, मत्सर, मोह, आसक्ति, अहंत्व-ममत्व आदि मन के मनोज्ञ विषयों में बहककर उन्हें बर्बाद कर रहे हैं।

चार घातिकर्म किस प्रकार आत्म-शक्तियों को प्रकट नहीं होने देते ?

चार घातिकर्मों में मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। उसके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह तत्त्वभूत पदार्थों, आत्मा के स्वभाव एवं आत्म-शक्तियों के विकास में प्रेरक अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं सद्धर्म के प्रति श्रद्धा, दृष्टि एवं विश्वास को सम्यक् नहीं होने देता। वह उसे चंचल, मलिन, अदृढ़ एवं विकृत कर देता है। सम्यग्दर्शन की शक्ति को प्रगट करने में बाधक दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध मुख्य कारण है, जिसके कारण व्यक्ति को बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति नहीं हो पाती, अथवा वह दुर्लभबोधि हो जाता है और दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध के ५ कारण इस प्रकार हैं—(१) केवलज्ञानी अर्हन्त का, (२) केवलि प्ररूपित धर्म (श्रुत-चारित्ररूप धर्म या रत्नत्रयरूप धर्म) का, (३) आचार्य और उपाध्याय का, (४) चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ का, (५) परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारण करने से जो जीव देव हुए हैं, उनका अवर्णवाद बोलना (निन्दा अथवा जो दोष उनमें नहीं हैं, वैसे दोष बताकर निन्दा करना) दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध के ये पाँच कारण हैं। चारित्रमोहनीय कर्म सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के आचरण की शक्ति प्रगट नहीं होने देता। कषाय के उदय से होने वाले आत्मा के तीव्र (उत्कट) कलुषितभाव चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। 'भगवतीसूत्र' में पृच्छा की गई

है–"भगवन् ! चारित्रमोहनीय कर्मशरीर का प्रयोगबन्ध किस प्रकार होता है?" भगवान ने उत्तर दिया–"गौतम ! तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया और तीव्र लोभ करने से तथा तीव्र दर्शनमोह से एवं तीव्र चारित्रमोह से होता है।" 'दशाश्रुतस्कन्ध' में महामोहनीय कर्मबन्ध के ३० कारण बताये हैं।[1] वह तो और भी भयंकर है। इस प्रकार मोहनीय कर्म श्रद्धा और चारित्र (आचरण) की शक्तियों को प्रकट नहीं होने देता। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म साधक के ज्ञान और दर्शन की शक्तियों को कुण्ठित, विकृत एवं आवृत करते रहते हैं और चौथा घनघाती अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य नामक पाँच आत्मिक-शक्तियों के विकास में अन्तराय डालता है। आत्मा में जो अभयदान, सुपात्रदान (सुयोग्य व्यक्तियों को ज्ञानादि का दान) एवं अनुकम्पादान की (आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल, पीड़ित व्यक्तियों पर अनुकम्पा करके दुःख-निवारण का उपदेश, प्रेरणा एवं उपाय का दान की) मानव-शक्ति थी, उसमें हिंसा, कषाय, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि से रुकावट आ रही है। आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुखरूप स्वभाव की तथा आत्म-गुणों का लाभ प्राप्त करने की मानव में शक्ति थी, उसे पर-पदार्थों, इन्द्रियों और मन के विषयों तथा राग-द्वेष-कषायादि विभावों के वशवर्ती होकर मनुष्य नष्ट कर रहा है और लाभान्तराय कर्मबन्ध को प्रोत्साहन दे रहा है। इस प्रकार आत्मा के स्वभावों–स्वगुणों में तथा आत्म-सुख में रमणरूप भोग (एक बार सेवन) तथा उपभोग (बार-बार सेवन) करने की जो शक्ति मानवात्मा में थी, उसे वह प्रायः विषय-सुखों के उपभोग तथा विषय-सामग्री को आसक्तिपूर्वक जुटाकर तथा पर-पदार्थों में मोह-ममत्वपूर्वक सुख मानकर उनसे बार-बार उपभोग के फलस्वरूप भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का बन्ध करके बर्बाद कर रहा है। जो व्यक्ति मोक्ष सुख-प्राप्ति में तथा आत्म-स्वभाव में रमण करने में अपनी शक्ति लगा रहे हैं, पराक्रम कर रहे हैं, उनके मार्ग में ऐसे लोग रोड़ा अटकाकर इन दोनों कर्मों में

---

१. (क) पंचहिं ठाणेहिं दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा–(१) अरहंताणं अवण्णं वदमाणे, (२) अरहंत-पन्नत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे, (३) आयरिय-उवज्झायाणं अवण्णं वदमाणे, (४) चाउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, (५) विवक्क-तव-बंभचेराणं देवाणं अवण्णं वदमाणे। *–स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. २, सू. ४५६*

(ख) केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १४*

(ग) कषायोदयात् तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य। *–वही, अ. ६, सू. १५*

(घ) मोहणिज्ज-कम्मासरीरप्पओगे पुच्छा।
गोयमा ! तिव्व-कोहयाए, तिव्व-माणयाए, तिव्व-मायाए, तिव्व-लोभाए, तिव्व-दंसण-मोहणिज्जयाए, तिव्व-चारित्त-मोहणिज्जाए। *–भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ९, सू. ३५१*

(ङ) देखें–दशाश्रुतस्कन्ध में महामोहनीय कर्मबन्ध के तीस स्थान

वृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार आत्मा में आने वाले नये कर्मों को (आस्रवों को) टोकने की तथा पूर्वबद्ध कर्मों का तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, संयम, परीषहजय, महाव्रत, व्रत आदि से क्षय (निर्जरा) करने की जो आत्मिक-शक्ति (आत्म-वीर्य) थी, उसे खण्डित, स्खलित एवं दुर्बल कर रहा है-वीर्यान्तराय कर्म। उससे साधक को सावधान रहना चाहिए था, तभी आत्म-शक्ति संचित रहती, बढ़ती और जाग्रत होती। किन्तु अधिकांश बाह्य-आभ्यन्तर तप, त्याग, जप, स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञानादि वृद्धि, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान, संयम आदि का आचरण-पालन करने में अपनी असमर्थता का बहाना बनायेंगे, अपने आप को दुर्बल और अशक्त बतायेंगे, ऐसे लोग बाह्य तपश्चर्या करने में तो प्रायः अपनी असमर्थता प्रगट करते ही हैं, परन्तु आभ्यन्तर तप करना तो उनको पहाड़ उठाने जैसा लगता है; किन्तु यों किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्ति या सिद्धि के लिए, सांसारिक विषयभोगों की प्राप्ति के लिए, भौतिक लाभ के लिए भूखे-प्यासे रह लेंगे, रात्रि-जागरण भी कर लेंगे, अनेक कष्ट और अपमान भी सह लेंगे, लड़ाई-झगड़ों में, मुकद्दमेबाजी में, संघर्ष में, चोरी-डकैती, बेईमानी, तस्करी आदि से धन प्राप्त करने में, दूसरे से आडम्बर, दिखावा आदि में, प्रतिस्पर्द्धा करने में, अपने जान-माल की धन-व्यय की परवाह न करके भी अपनी शक्ति लगा देंगे। इधर-उधर सैर-सपाटे करने, मटरगश्ती, पिकनिक आदि करने, शतरंज, ताश, चौपड़ आदि खेलने, व्यर्थ गपशप करने, निन्दा-चुगली करने में अपने धन, समय, तन की शक्ति खर्च कर देंगे, किन्तु धर्म-श्रवण करने में, तत्त्वों को जानने, हेय-ज्ञेय-उपादेय का बोध करने, देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा-भक्ति-बहुमान करने में, धार्मिक ग्रन्थों एवं शास्त्रों का मनन-चिन्तनपूर्वक स्वाध्याय करने, आत्म-चिन्तन करने तथा धर्मकार्य करने या धर्माचरण करने एवं संवर और निर्जरा के अवसरों से लाभ उठाने में समय एवं सामर्थ्य के अभाव का बहाना बनायेंगे, अपने मन को दुर्बल, अशक्त और शंकाशील बना लेंगे।

निष्कर्ष यह है कि अधिकांश मानव अपनी पूर्वोक्त आत्मिक-शक्तियों को विकसित, जाग्रत एवं अभिव्यक्त करने के बदले उन्हें छिपाते रहते हैं या उनका दुरुपयोग करते हैं, अथवा निरर्थक मानसिक, वाचिक, कायिक, बौद्धिक प्रवृत्तियों में बर्बाद करते हैं, दुर्व्यय करते हैं। इस प्रकार वे लोग जाने-अनजाने वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध कर लेते हैं। यों मनुष्य की जो आध्यात्मिक शक्तियाँ आत्मा के चतुर्गुणात्मक स्वभाव में, स्वरूप में तथा आत्म-गुणों में स्थिर और दृढ़ रहकर परमात्म भाव की प्राप्ति में लगनी चाहिए थी, वह भौतिक स्वार्थ की सिद्धि में तथा जन्म-मरणादिरूप संसार-चक्र की वृद्धि करने में लग रही है।

आत्म-शक्तियाँ कहाँ लगनी चाहिए थीं, कहाँ लग रही हैं ?

मनुष्य की आत्म-शक्तियाँ अपनी आत्मा पर लगे हुए–बँधे हुए या नये आते हुए कर्मों का निर्जरा और संवर द्वारा क्षय और निरोध करने में तथा परभावों और विभावों से हटकर स्वभाव, स्व-स्वरूप और निज गुणों में रमण करने तथा स्थिर रहने में लगनी चाहिए थी, उसके बदले वह लग रही है, पुराने कर्मों के उदय में आने पर समभाव से न भोगकर विषयभाव से भोगने में, हिंसा आदि आस्रवों तथा कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष आदि विभावों को ज्ञानबल से रोककर संवर करने के बजाय उन आस्रवों और विभावों को बढ़ाने में लग रही है। उस विवेकमूढ़ को इसका भान भी नहीं रहता कि मुझे अपनी शक्ति कहाँ लगानी चाहिए और कहाँ लगा रहा हूँ? जिस प्रकार एक मतवाला साँड़ घूरे को बिखेरकर उसकी इधर-उधर फेंकी हुई धूल, राख एवं निष्ठा आदि कूड़े-कर्कट को अपने ही मस्तक पर उछाले और बार-बार गंदगी के ढेर में सिर मारकर डकारे और यह माने कि मैंने कितनी शक्ति लगाकर इस कूड़े के ढेर को तोड़ा-फोड़ा और बिखेर दिया। इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी येन-केन-प्रकारेण धन कमाने, सुख-साधन जुटाने तथा दूसरों को सताने, मारने-पीटने, दबाने, हत्या, दंगा, आतंक, आगजनी, बमबारी आदि करने तथा सत्ता, पद, प्रतिष्ठा एवं अधिकार की प्राप्ति के लिए उखाड़-पछाड़ करने, अनैतिकता एवं भ्रष्टाचारिता से सत्ता आदि हासिल करने तथा उठापटक करने में अपनी शक्तियाँ लगाता है फिर अज्ञानतावश संसार की विषय-वासना की गंदगी के घूरे को उछालने, विविध प्रकार के कामभोगों का आसक्तिपूर्वक उपभोग करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। तत्पश्चात् मिथ्याभिमानवश डींग हाँकता है कि मैंने कार, कोठी, बंगला, बगीचा आदि सुख के साधन जुटाए, मैंने लाखों-करोड़ों कमाए, लड़के-लड़कियों के विवाह में लाखों रुपये खर्च किये, इतनी बड़ी रकम मैंने अमुक-अमुक संस्था को दी। मेरी प्रसिद्धि, प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा चारों ओर फैल रही है। किन्तु ऐसा करने से आत्म-कल्याण का, आत्म-शक्तियों के जागरण का कुछ भी तत्त्व हाथ नहीं आया। दुष्कर्मरूपी धूल, गंदगी और राग-द्वेष-कषायादि का कीचड़ ही अपने सिर पर लगाता है। ऐसा करने से अपनी आत्मा में निहित ज्ञानादि आत्मिक-शक्तियों का ह्रास ही होता है, विकास नहीं; हानि ही होती है, लाभ नहीं; कर्मबन्ध ही होता है, कर्मक्षय नहीं। ऐसे विवेकमूढ़ लोगों को देखकर कविवर बनारसीदास जी का वह सवैया याद आ जाता है–

"ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईंधन ढोवै।
कांचन-भाजन धूल भरे शठ, मूढ़ सुधारस-सों पग धोवै॥
बाहिन काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसी', पाप अज्ञान अकारथ खोवै॥"[1]

---

१. बनारसी-विलास (कविवर पं. बनारसीदास जी) से उद्धृत

इसका भावार्थ यह है कि "जैसे कोई बुद्धिहीन मनुष्य हाथी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके उसका उपयोग लकड़ी के बोझे ढुलाने में करता है; सोने के बर्तन में धूल भरता है; किसी को अमृतरस मिल गया, उसे पीने के बदले वह मूढ़ उससे अपने पैर धोता है एवं कौए को उड़ाने के लिए बहुमूल्य महामणि फेंककर फिर रोता है, उसी प्रकार पापी या अज्ञानी जीव दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने के बदले भौतिक सुख-सामग्री जुटाने तथा विषय-सुखों का आस्वादन करने में अपनी शक्तियाँ लगाकर मानव-जन्म को व्यर्थ खो देता है।" वह अपनी आत्मा के भीतर आध्यात्मिक शक्तियों का अखूट खजाना भरा पड़ा है, उसे जानता हुआ भी उस ओर नहीं झाँकता, उसे प्रगट करने का विचार नहीं करता। वह बाहर ही बाहर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि के द्वारा अपनी शक्तियों को पर-भावों, पर-पदार्थों और विभावों में नष्ट करता रहता है। पर-पदार्थों और व्यक्तियों के प्रति रागादिभाव को पुष्ट करने के लिए वह अपनी तन-मन-वचन-प्राण की तमाम शक्तियों को झोंक देता है। वह अनेकों मोहजनित कार्यों में अपने दशबल प्राणों (पंचेन्द्रियबल प्राणों, मन-वचन-कायबल प्राण तथा श्वासोच्छ्वासबल प्राण और आयुष्यबल प्राण) तक को लगा देता है।

आत्म-शक्ति जाग्रत होने के क्षणों में कषायों आदि से उसकी रक्षा करना कठिन

कभी-कभी बड़े-बड़े साधकों को मोहकर्मवश अपनी आत्म-शक्तियों का भान नहीं रहता। वे अपने अहंकार-ममकार के तथा क्रोधादि कषाय के तीव्र नशे में अपनी शक्तियों को बर्बाद कर देते हैं। उन्हें उस समय यह भान भी नहीं रहता कि अपनी आत्म-शक्तियाँ कहाँ लगानी चाहिए और कहाँ लगा रहे हैं?

कई बार आत्म-शक्तियाँ जब जागने लगती हैं, तब बहुधा अघटित घटनाएँ घटित होने लगती हैं, अप्रत्याशित रूप से उस मनुष्य के जीवन में परिवर्तन होने लगता है। यही दुर्घटना मरीचि के जीवन में घटित हुई। आत्म-शक्ति जाग्रत होने के प्रथम दौर में ही वे उस सम्यक् मार्ग को छोड़ बैठे। आत्म-भावों में शक्ति लगाने के बजाय वे पर-भावों में अपनी शक्ति का व्यय करने लगे।

तीर्थंकर भगवान महावीर का जीव उस समय ऋषभदेव भगवान के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र 'मरीचि' के रूप में त्रिदण्डी संन्यासी बना हुआ था। भगवान ऋषभदेव द्वारा प्ररूपित मुनिधर्म के प्रति उनकी श्रद्धा और निष्ठा थी, परन्तु उतना कठोर चारित्र-पालन करने की अक्षमता के कारण ही वह त्रिदण्डी साधु के वेश में भगवान ऋषभदेव के समवसरण-स्थल से बाहर विराजमान रहते थे।

एक बार भरत चक्रवर्ती ने भगवान ऋषभदेव से सविनय पूछा–"भगवन् ! आपके समवसरण (धर्मसभा) में कोई ऐसा सुपात्र आत्मा है, जो भविष्य में तीर्थंकर होने वाला हो?" प्रभु ने उत्तर दिया–"भरत ! तेरा पुत्र और मेरा गृहस्थपक्षीय पौत्र–मरीचि, जो अभी समवसरण के बाहर त्रिदण्डी के वेश में बैठा है, वह इस चौबीसी में वर्धमान महावीर नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा। पहले वह एक बार वासुदेव होगा और एक बार चक्रवर्ती होगा। यों तीन बड़ी पदवियों का धारक होगा।"

यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती के अन्तर में प्रसन्नता हुई। मेरा पुत्र तीर्थंकर आदि तीन उच्च पदों का धारक बनेगा, इस बात का मद या गर्व भरत के मन में नहीं हुआ, किन्तु भावी तीर्थंकर के प्रति आदर और भक्तिभाव जगा। अतः समवसरण के बाहर, जहाँ त्रिदण्डी मरीचि बैठा था, वहाँ भरत चक्रवर्ती आए और विधिवत् उन्हें वन्दन-नमन किया। मरीचि आश्चर्य और प्रश्नसूचक दृष्टि से भरत की ओर देखने लगे। भरत जी उनका आशय समझकर बोले–"महात्मन् मरीचि ! मैं आपके वेश को वन्दन नहीं करता, किन्तु भगवान ऋषभदेव के कथनानुसार भविष्य में आप अन्तिम तीर्थंकर होंगे, इस नाते वन्दन करता हूँ। यद्यपि उनके कथनानुसार आप प्रथम वासुदेव और चक्रवर्ती भी होने वाले हैं। परन्तु मेरा नमन उन पदों को नहीं है, मेरा नमन सिर्फ आपके भावी तीर्थंकरत्व को है।"

यह सुनते ही मरीचि के मन में समता, अनासक्ति एवं निश्चय रत्नत्रय के प्रति तथा आत्म-स्वभाव के प्रति श्रद्धा-प्रतीति की दृढ़ता आनी चाहिए, उसके बदले गर्व उत्पन्न हुआ, आत्म-भावों का नाशक कषायभाव उछला। कषायभाव का निमित्त मिलने पर उसके वशीभूत न होकर अपने आत्म-भावों में स्थिर रहना और अपनी आत्म-शक्तियों का संगोपन करना बहुत कठिन है। मरीचि भी कुलमद के आवेश में कषायभाव के निमित्ताधीन होकर नाचने लगे–

"आद्योऽहं वासुदेवानां, पिता मे चक्रवर्तिनाम्।
पितामहो जिनेन्द्राणां, ममाऽहो उत्तमं कुलम् !"

–अहो ! मेरा कुल कितना उत्तम है ? मैं प्रथम वासुदेव बनूँगा, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं और मेरे पितामह प्रथम तीर्थंकर हैं। मैं भी भविष्य में वासुदेव, चक्रवर्ती और अन्तिम तीर्थंकर इन तीन पदों का धारक बनूँगा।

यों कहते-कहते आवेश में आकर नाचने-कूदने से उनके तन-मन-वचन तीनों ही मद के भावों में डूबने-उतराने लगे। बस, वहीं उन्होंने कुलमद के कारण नीच गोत्रकर्म का बन्ध कर लिया।[9]

---

9. देखें–आवश्यकसूत्र (मलयगिरि वृत्ति) में मरीचिकुमार का वृत्तान्त

अभी मरीचि को तीर्थंकर आदि की शक्ति अभिव्यक्त होना तो दूर रही, उपलब्ध भी नहीं हुई थी; फिर भी भविष्य में प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट शक्तियों से सम्पन्न पदवियों की बात सुनकर ही वे मद करने लगे। पहले तो मरीचि ने मुनित्व की साधना गुप्त-प्रच्छन्न-सुषुप्त आत्म-शक्तियों के विकास के लिए अंगीकार की थी। उन्होंने समझ लिया था कि आत्म-शक्तियाँ जब तक प्रच्छन्न और सुषुप्त रहेंगी, तब तक कोई निष्पत्ति नहीं होगी। परन्तु आत्म-शक्तियाँ जाग्रत करने की साधना के दौरान मन, वचन, काया, प्राण अन्तःकरण और बाह्यकरण (इन्द्रियगण) की जो माँगें थीं; विषयों के बीहड़ वन में भटकाने वाली सुख-सुविधाओं, मोहक प्रलोभनों एवं मनोज्ञ पर-पदार्थों के मोहक जाल में फँसाने वाली जो राग-द्वेष-मोह-कषायादि की कल्पनाएँ थीं, उनसे स्वयं (आत्मा) को बचाकर सिर्फ आत्म-भावों–आत्मा के मूल गुणों–स्वभावों में रमण करना था, उससे वे भटक गए, बहक गए–तन, मन-प्राण के चक्कर में। फलतः आत्म-शक्तियाँ जाग्रत होती-होती अवरुद्ध हो गईं। आत्म-शक्ति जाग्रत होने के प्रथम दौर में ही मरीचि परभावों-विभावों में भटककर सम्यक्मार्ग से दूर चले गए। वे यह विवेक भूल गए कि मैंने किस उद्देश्य से मुनित्व अंगीकार किया था? मुझे अपनी आत्म-शक्तियाँ कहाँ लगानी थीं और मैं उन्हें कहाँ लगा बैठा?

आत्म-शक्ति की साधना : परमात्म-शक्तिरूप स्वभाव को जगाने के लिए है

प्रश्न होता है–"शक्ति तो आत्मा में पड़ी ही है, फिर उसकी साधना क्यों की जाए?" इसका समाधान यह है कि शक्ति तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक में, सामान्य गृहस्थ से लेकर उच्च, सर्वोच्च साधक तक में पड़ी है, परन्तु है वह सुषुप्त, अव्यक्त, आवृत; उसकी जागृति, अभिव्यक्ति या अनावरणता सबमें नहीं होती। शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी कुछ ही मानव अपनी सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत, अभिव्यक्त या अनावृत कर पाते हैं। अधिकांश नर-नारियों की शक्ति सोई रहती है, कुण्ठित और आवृत रहती है। जिसकी शक्ति जाग्रत, प्रकट और अनावृत हो जाती है, वह प्रज्वलित अग्नि की भाँति देदीप्यमान होकर क्रियाशील और सार्थक जीवन व्यतीत कर सकता है। जिसकी शक्ति जाग्रत नहीं होती, उसकी शक्ति निकम्मी, निरर्थक और निष्फल चली जाती है। अतः आत्मिक-शक्ति को जगाने के लिए विधिवत् साधना करना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः आत्म-शक्तियों का जागरण आत्मा को परमात्म-शक्तिरूप स्वभाव से परिपूर्ण बनाने के लिए है, जो प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु साधक की साधना का मुख्य उद्देश्य है।

पुरुषार्थ से घबराने वाले लोग आत्म-शक्तियों को कैसे जगा सकते हैं ? : एक चिन्तन

प्रथम तो आत्मा में सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत, अभिव्यक्त और अनावृत करना ही कठिन है। अधिकांश साधक, विशेषतः मोक्षाकांक्षी साधक भी आत्म-शक्तियों को जगाने में प्रतिबन्धक बद्धकर्मों, कर्मास्रवों तथा विघ्नों, परीषहों, कष्टों और उपसर्गों से घबराकर इन्हें जगाने से ही कतराते हैं। वे कोई न कोई सस्ता, सुख-सुविधाजनक नुस्खा खोजते हैं, जिसमें कुछ करना-धरना न पड़े, इन्द्रिय, तन और मन की फरमाइशों–माँगों की पूर्ति में जरा भी आँच न आए। 'हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाए' वाली कहावत के अनुसार वे कुछ भी उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम, तप-संयम में पुरुषार्थ नहीं करना चाहते, भला, यह कैसे हो सकता है? आत्म-शक्तियों को जगाना भी चाहते हैं और उन शक्तियों में अवरोध उत्पन्न करने वाले पर-पदार्थों, पर-भावों और विभावों के प्रवाह में भी बहना चाहते हैं। भवभ्रमण का रोग भी मिटाना चाहते हैं और उसके लिए कड़वी दवा, उपचार, पथ्यपालन तथा वीतराग महापुरुष द्वारा दिये गए तप, संयम आदि धर्माचरण-विधि के निर्देशानुसार चलना भी नहीं चाहते। यह कैसे सम्भव है? इस प्रकार आत्म-शक्तिरूप स्वभाव में एकाग्र एवं स्थिर होने के पुरुषार्थ से कतराने वाले लोगों की आत्म-शक्तियाँ सुषुप्त एवं प्रच्छन्न रहती हैं। ऐसे व्यक्ति बुझी हुई आग की भाँति निष्क्रिय जीवन जीते हैं। वे विविध विकल्पजाल में, असमंजस में, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (अनिश्चय) की स्थिति में पड़कर आत्म-शक्तियों को जाग्रत नहीं कर पाते।

पहले विपरीत दिशा में नियोजित शक्तियों को अध्यात्म दिशा में कैसे नियोजित कर सकते हैं ? : एक समाधान

कई लोग इस शंका से ग्रस्त रहते हैं कि हमने पूर्वकाल में या इसी जीवन के पूर्वार्द्ध में, अपनी शक्तियों का बहुत दुरुपयोग, अपव्यय, निरर्थक प्रयोग किया है, हिंसा, झूठ-फरेब, बेईमानी, व्यभिचार, अनाचार, दुर्व्यसन आदि में अपनी विविध शक्तियाँ लगायी हैं, अतः अब हम उन विकृत एवं दुष्कर्मबन्धकृत शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा में कैसे लगा सकते हैं? हमने अधिकांश जिन्दगी तो अपनी शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा में न लगाकर अर्थात् कर्मनिरोध–कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) की दिशा में न लगाकर भौतिक दिशा में, सुखोपभोग में, ऐश-आराम में, धन कमाने और साधन जुटाने में व्यतीत की है, अब बुढ़ापे में हम क्या कर सकते हैं, कैसे अपनी शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ सकते हैं? भगवान महावीर ने बुढ़ापे में निराश व्यक्तियों को आशास्पद संदेश देते हुए कहा है–"जिन्हें तप, संयम, क्षमा (क्षान्ति या सहिष्णुता) एवं ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे अपनी पिछली

जिन्दगी में भी (अध्यात्म दिशा में अपनी शक्तियों का नियोजन करने हेतु) प्रयाण करें तो शीघ्र ही अमर भवनों (देवलोकों) को प्राप्त कर सकते हैं।"[1] श्वेताम्बिका नगरी के प्रदेशी राजा का जीवन इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है।[2]

इसी प्रकार भगवान महावीर के शासनकाल में भी अनेक व्यक्ति ऐसे थे, जिन्होंने अपने पूर्व-जीवन में मानव-हत्याएँ की थीं, परन्तु जब उन्होंने अपनी आत्म-शक्तियों का आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने का संकल्प किया तो पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करके आत्म-शुद्धि की, समभाव और क्षान्तिपूर्वक तमाम उपसर्गों और कष्टों को सहा, आत्म-शक्तियाँ पूर्ण रूप से जाग्रत हो गईं और वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गए। अर्जुन मुनि का ज्वलन्त उदाहरण[3] इसी तथ्य-सत्य का सूचक है। अतः यदि निकाचित रूप से बन्ध न हुआ हो तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों को शुभ में परिणत किया जा सकता है, उद्वर्तन किया जा सकता है, संक्रमण भी सजातीय कर्मों का किया जा सकता है तथा स्थिति और रस (अनुभाग) में भी परिवर्तन किया जा सकता है और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह अल्पकाल में ही समस्त पापकर्मों का तीव्र पश्चात्तापरूप आभ्यन्तर तप से क्षय भी किया जा सकता है। हरिकेशबल और चित्त-सम्भूति जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने जा रहे थे, उनका पूर्व-जीवन भी दुर्भाग्यग्रस्त नीरस, भौतिक शक्तियुक्त एवं कलुषित-सा था; किन्तु निर्ग्रन्थ मुनिवरों की प्रेरणा से उन्होंने साधु जीवन अंगीकार करके आध्यात्मिक दिशा में अपनी समस्त शक्तियाँ नियोजित कर लीं। अतः शक्तियों का होना कोई बड़ी बात नहीं है। शक्ति तो सभी प्रकार के मनुष्यों में होती है। क्या अर्जुनमाली, हरिकेशबल चाण्डाल, चाण्डाल-पुत्र चित्त-सम्भूति[4] आदि व्यक्तियों में मुनि जीवन अंगीकार करने से पहले शक्ति नहीं थी? शक्तियाँ थीं, पर वे या तो सोई हुई थीं, या विपरीत दिशा में नियोजित थीं। अतः महत्त्वपूर्ण बात है—उन शक्तियों का यथार्थ दिशा—आध्यात्मिक दिशा में नियोजन करना। अगर शक्तियों का नियोजन ठीक दिशा में नहीं होता है तो अनेक समस्याएँ, झंझट, उलझनें, खतरे तथा विपत्तियाँ पैदा हो सकती हैं, पापकर्मों का ही अधिकाधिक बन्ध होता चला जाता है। संसार में जितनी भी हत्याएँ, दंगे, चोरी, डकैती, लूटपाट, ठगी, तस्करी, आतंकवाद, आगजनी, व्यभिचार, बलात्कार आदि

---

१. पच्छावि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खंति य बंभचेरं च॥ —दशवैकालिकसूत्र, अ. ४, गा. २८

२. देखें—रायप्पसेणीयसुत्तं में प्रदेशी राजा का जीवन-वृत्त

३. देखें—अन्तकृद्दशासूत्र में अर्जुन मालाकार का जीवन-वृत्त

४. (क) देखें—अन्तकृद्दशासूत्र में अर्जुन मालाकार का जीवन-वृत्त
(ख) देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२ और १३ में हरिकेशबल और चित्त-सम्भूति का जीवन-वृत्त

बुराइयाँ पैदा होती हैं, वे सब शक्तियों के द्वारा ही होती हैं, भले ही वे पाशविक या राक्षसी शक्तियाँ हों। शक्तियों का नियोजन सही दिशा में हो तो समस्याओं, उलझनों, अनिष्टों आदि की बुराइयों-अच्छाइयों में परिवर्तित हो सकती हैं, होती हैं। पापी व्यक्तियों की जो शक्तियाँ पहले ध्वंसात्मक एवं संहारक घोर पाप कार्यों में लगी हुई होती हैं, वे रचनात्मक, रक्षात्मक एवं शान्तिपूर्ण कार्यों में लग सकती हैं। वही पापात्मा व्यक्ति धर्मात्मा हो सकता है, अध्यात्म का अवतार बन सकता है। प्रभव की शक्ति पहले चौर्यकर्म में लगी हुई थी, परन्तु जम्बू स्वामी के गृहस्थ-जीवन से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपनी शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ दिया। स्थूलिभद्र की जो शक्ति पहले वेश्यासक्ति में लगी हुई थी, वही अन्तःप्रेरणा से आध्यात्मिक दिशा में नियोजित होकर ब्रह्मचर्य में सुदृढ़ हो गई।[1]

विपरीत दिशा में स्फुरायमाण वीर्य (शक्ति) अध्यात्म दिशा में स्फुरायमाण हो तो बेड़ा पार हो सकता है

जैनजगत् में एक कहावत प्रसिद्ध है–"कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा।" इसका आशय यह है कि जो मानव कर्म बाँधने में शूरवीर है, शक्तिशाली है, वही मानव अगर अपनी शक्तियों को यथार्थ दिशा में नियोजित कर ले तो शुद्ध आत्म-धर्म के आचरण में शूरवीर होकर पूर्वबद्ध कर्मों को काटकर सर्वथा मुक्त हो सकता है। कर्म बाँधने के समय में जैसे आत्मा का अनन्त वीर्य (विपरीत दिशा में) स्फुरायमाण होकर प्रचुर कर्मों को बाँध सकता है, वैसे ही मानवात्मा में निहित विकसित चेतना (आत्मा) का अनन्त वीर्य (अध्यात्म दिशा में) स्फुरायमाण हो यानी आत्मा के चतुर्गुणात्मक स्वभाव के पुरुषार्थ में स्फुरित = स्फुटित हो तो समस्त कर्मों का क्षय कर सकता है। आत्म-भाव-विरुद्ध प्रवृत्ति मार्ग में स्फुरायमाण वीर्य सातवीं नरक का मेहमान बना देता है, जबकि आत्म-स्वभाव में स्थिर रखने वाले निवृत्ति मार्ग में स्फुरायमाण होने वाला वीर्योल्लास परमात्मपद = मोक्ष की मंजिल तक पहुँचा देता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने सिर्फ अन्तर्मुहूर्तभर में दोनों छोर की शक्तियाँ जगा ली थीं। पहले पर-भावों और विभावों के प्रवाह में बहती चेतना (आत्मा) के असंख्यात प्रदेशों में विलसित वीर्य का इतने प्रबल वेग से स्फुरित किया कि सप्तम नरक के मेहमान बनने योग्य हो गए थे। किन्तु कुछ समय के पश्चात् उन्होंने वीर्य के प्रवाह की राह बदली। उनकी वृत्ति परभावों-विभावों से लौटकर पुनः स्वभाव के लक्ष्य में परिणत होने लगी। उसी आत्मिक वीर्य-शक्ति ने विभावों-परभावों से निवृत्ति ली और कर्मों का क्रमशः क्षय करते-करते कुछ ही क्षणों में समस्त घातिकर्मों का क्षय कर डाला। तत्पश्चात् वे अवशिष्ट चार

---

१. (क) देखें–कल्पसूत्र सुबोधिका में प्रभव स्वामी का जीवन-वृत्त
(ख) देखें–परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८-९ में स्थूलिभद्र का जीवन-वृत्त

अघातिकर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त[1] परमात्मा हो गए। अतः शक्ति का नियोजन पर-भावों और विभावों में भी हो सकता है और स्वभाव एवं स्व-गुणों में भी। अन्तर है सिर्फ नियोजन का।

निष्कर्ष यह है कि समस्या और समाधान, अशान्ति और दुःख तथा शान्ति और सुख, तीव्र कर्मबन्धन और कर्मों से सर्वथा मुक्ति एवं ध्वंस और निर्माण दोनों का स्रोत शक्ति है। अगर आत्म-शक्ति साधक अपनी शक्तियों का विपरीत दिशा (आस्रव और बन्ध) में नियोजन करके सही दिशा (संवर, निर्जरा और मोक्ष) में नियोजन करे तो परमात्म-शक्ति-सम्पन्न बन सकता है।

परमात्म-शक्ति आत्मा में से ही प्रकट होगी

कई लोग कहते हैं–कहाँ साधारण आत्मा की शक्ति और कहाँ परमात्मा की शक्ति? साधारण आत्मा में परमात्मा की शक्ति कैसे प्रकट हो सकती है? इसका समाधान यह है कि निश्चयदृष्टि से प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के समान अनन्त शक्ति विद्यमान है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा में परमात्म-शक्ति प्रच्छन्न रूप में पड़ी है। आत्मा में (स्वयं में) परमात्म-शक्ति प्रकट करने का स्वभाव है। इसलिए परमात्म-शक्ति कहें, चाहे शुद्ध आत्मा की शक्ति कहें, दोनों एक समान हैं। शुद्ध आत्मा ही परिपूर्ण परमात्म-शक्ति से भरा है। अतएव परमात्म-शक्ति कहीं बाहर से, पर-पदार्थों से प्राप्त नहीं होगी, न ही वह किसी देव-देवी, शक्ति, भगवान या अवतार से माँगने से प्राप्त हो सकती है। वह शक्ति आत्मा में ही है, जब भी प्राप्त होगी या प्रकट होगी, आत्मा में से ही प्राप्त या प्रकट होगी। जैसे–पिप्पल को चौंसठ प्रहर तक घिसने से उसमें से जो तीखापन प्रकट होता है, वह खरल में से या किसी बाहरी पदार्थ में से प्राप्त नहीं होता, वह प्रकट होता है–पिप्पल में से ही। पिप्पल में ही चौंसठ प्रहरी तीखेपन की शक्ति अव्यक्त रूप से विद्यमान थी, वह चौंसठ प्रहर तक घिसने से प्राप्त होती है। पिप्पल में निहित चौंसठ प्रहरी तीखेपन की शक्ति न तो तिरेसठ पहर तक घिसे हुए पिप्पल से प्रकट होती है, न ही खरल को घिसने से और न ही चूहे की मींगणी को घिसने से प्रकट होती है, क्योंकि उनमें वैसा स्वभाव ही नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का ही परिपूर्ण परमात्म-शक्ति प्रकट करने का स्वभाव है। किन्तु वर्तमान में जो छद्मस्थ आत्मा है, उसमें अभी व्यवहारनय की दृष्टि से अपूर्ण परमात्म-शक्ति है, उसमें से भी पूर्ण परमात्म-शक्ति प्रकट नहीं होगी। न ही शरीरादि को घिसने से परमात्म-शक्ति प्रगट होगी; क्योंकि उनका शरीरादि का वैसा स्वभाव ही नहीं है। जब भी परमात्म-शक्ति प्रकट होगी, आत्मा में निहित ज्ञानादि शक्तियों को जाग्रत करने की साधना से ही होगी। आत्मा

---

१. देखें–आवश्यक कथा में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का जीवन-वृत्त

में निहित शक्तियों का जागृतिपूर्वक अभ्यास एवं नियमित रूप से सम्यक् उपयोग करने से ही पूर्ण परमात्म-शक्ति का दूसरे शब्दों में कहें तो अनन्त आत्म-वीर्य का प्रकटीकरण होगा।

आत्म-शक्ति को जाग्रत करने में मुख्य पाँच आयामों का विचार करना आवश्यक

परमात्म-शक्ति स्वभावरूप आत्म-शक्ति को जाग्रत करने के लिए प्रयत्नशील मुमुक्षु साधक को पाँच आयामों पर क्रमशः सर्वांगीण रूप से, सभी पहलुओं से विचार करना आवश्यक है–(१) आत्म-शक्तियों का स्वरूप, महत्त्व, उपयोग और उपयोग विधि, (२) तदनन्तर उन शक्तियों को जाग्रत करने का पुरुषार्थ करना, (३) तत्पश्चात् जाग्रत शक्तियों को सँभालना और पचाना, (४) प्राप्त (उपलब्ध) शक्तियों का यथार्थ यथोचित आत्म-विकास दृष्ट्या उपयोग या प्रयोग करना, और (५) उपलब्ध आत्म-शक्तियों को मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगों से, कर्मास्रवों से तथा परभावों-विभावों आदि बाधक कारणों से बचाना, सब प्रकार से उनकी सुरक्षा करना। तात्पर्य यह है कि आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने की साधना में आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु साधक को इन पाँच मुख्य आयामों से अपनी मोक्ष-यात्रा या परमात्मपद-प्राप्ति-यात्रा करनी हितावह होगी, अन्यथा आत्म-शक्ति जागरण में वह अन्त तक पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा।

विद्या, धन, मंत्रसिद्धि, लब्धि या सिद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य की भौतिक शक्ति बढ़ जाती है। इन शक्तियों के बढ़ जाने पर यदि किसी भी प्रकार से मद, मत्सर, अहंकार, ममकार या दूसरों के प्रति तिरस्कार या घृणा के भाव बढ़ जाएँ तो पतन का बहुत ही खतरा है। 'स्थानांगसूत्र' में कहा गया है–"जिसे आत्मा का, आत्म-हित का भान हो गया है, जिसका अहंकार-ममकार दूर हो गया है, ऐसा विनम्र और उदार व्यक्ति आत्मवान् है, इसके विपरीत जिसे अपनी आत्मा का, आत्म-हित का भान नहीं हुआ है, जो अहंकार-ममकार से ग्रस्त है, अविनम्र और अनुदार है, वह अनात्मवान् है। अनात्मवान् व्यक्ति के लिए निम्नोक्त छह बातें अहित, अशुभ, अक्षमा, अनिःश्रेयस, अनानुगामिता (अशुभानुबन्ध) के लिये होती हैं। यथा–(१) पर्याय (अवस्था या दीक्षा में बड़ा होना), (२) परिवार, (३) श्रुत, (४) तप, (५) लाभ, और (६) पूजा-सत्कार। आत्मवान् साधक के लिए ये ही छह बातें (पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजा-सत्कार) हितरूप, शुभरूप, सक्षम, निःश्रेयस-योग्य तथा आनुगामिता (शुभानुबन्ध) के लिए होती हैं। आशय यह है कि अनात्मवान् व्यक्ति को दीक्षा-पर्याय या अधिक वय, शिष्य-परिवार या कुटुम्ब-परिवार, श्रुत (शास्त्रज्ञान), तप (बाह्याभ्यन्तर तप) और पूजा-सत्कार की उपलब्धि से अहंकार-ममकारभाव उत्तरोत्तर बढ़ता है। उससे वह दूसरों को हीन

और स्वयं को महान् समझने लगता है। इस कारण इन सब प्राप्त शक्तियों का उत्तम योग भी उसके लिए पतन के कारण हो जाते हैं। वह अपनी उपलब्धियों और शक्तियों के मद में उन्मत्त होकर उनको पचा नहीं पाता। दूसरों के प्रति अनुदार, स्वार्थी और अहंकारी बन जाता है; जबकि आत्मवान् के लिए शास्त्र-प्रतिपादित छहों स्थानों की उपलब्धियाँ और शक्तियाँ उत्थान एवं आत्म-विकास की हेतु बनती हैं। क्योंकि ज्यों-ज्यों उसमें श्रुत (शास्त्रज्ञान), तपश्चरण या पूजा-सत्कार एवं विविध उपलब्धियों में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक विनम्र, उदार और सहिष्णु बनता है।[1]

अतः सुषुप्त शक्तियों के जाग्रत या उपलब्ध होने के पश्चात् पूर्वोक्त आत्मवान् ही उन्हें सँभाल या पचा सकता है, उन शक्तियों का यथार्थ उपयोग भी कर सकता है। किन्तु अनात्मवान् साधक तप-संयम के फलस्वरूप आत्म-शक्तियों के जाग्रत, अनावृत और उपलब्ध होने पर उन्हें पचा नहीं पाता, वह चमत्कार-प्रदर्शन में भोगों की प्राप्ति आदि का निदान करके या अपनी प्रसिद्धि और आडम्बर में पड़कर आत्म-शक्ति की साधना को विस्मृत और चौपट कर देता है। अनात्मवान् गोशालक को तेजोलेश्या की शक्ति प्राप्त हुई थी, परन्तु उसने न तो उस शक्ति को सँभाला, न ही सदुपयोग किया। बल्कि भगवान महावीर के दो शिष्यों—सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक मुनियों को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला था। फिर भगवान महावीर पर भी उसने तेजोलेश्या का प्रहार किया, किन्तु उनकी आत्मिक-शक्ति के आगे गोशालक की आसुरी शक्ति ने उसी का सर्वनाश कर डाला।[2] सम्भूति मुनि को उग्र तप के प्रभाव से पुलाक आदि लब्धि प्राप्त हो गई थी, किन्तु जब नमुचि प्रधान ने उन्हें नगर से निष्कासित करवा दिया तो उस अपमान की भयंकर प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने नगर पर पुलाकलब्धि का प्रयोग किया। नगर में चारों ओर आग के कारण धुएँ के बादल उठने लगे। चक्रवर्ती को कारण मालूम हुआ तो सम्भूति मुनि का कोप शान्त करने हेतु राज-परिवार और रानी सहित चक्रवर्ती उन्हें वन्दना और प्रार्थना करने पहुँचा। उस समय चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशपाश के स्पर्श से सम्भूति मुनि ने उससे प्रभावित होकर नियाणा (निदान = कुसंकल्प) किया—"मेरी तपःशक्ति के फलस्वरूप मुझे भी ऐसा ही चक्रवर्तीपद और रानी मिले।" उनके भ्राता चित्त मुनि ने ऐसा न करने और इसका प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि करने के लिए बहुत समझाया, मगर वे न माने। फलस्वरूप अगले भव में वे ब्रह्मदत्त

---

१. छट्ठाणा अणत्तवओ अहिताए असुभाए अखमाए अणीसेसाए अणाणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—परियाए, परियाले सुते तवे लाभे पूया-सक्कारे। छट्ठाणा अत्तवतो हिताए सुभाए खमाए णीसेसाए आणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—परियाए परियाले सुते तवे लाभे पूया-सक्कारे।

—स्थानांगसूत्र, स्था. ६, सू. ३३, पृ. ५४२ व्याख्या

२. देखें—भगवतीसूत्र, श. १५ में गोशालक का जीवन-वृत्त।

चक्रवर्ती बने। उन्होंने अब तक अर्जित, जाग्रत और अभिव्यक्त की हुई आत्म-शक्ति को, समस्त की-कराई संयम-साधना को नष्ट कर दी। चक्रवर्ती के भव में भी उसे किसी भी प्रकार से नीति, धर्म एवं सदाचार के प्रति रुचि, श्रद्धा और बोधि प्राप्त नहीं हुई। फलतः आत्म-शक्ति की जागृति से मोक्ष-प्राप्ति के बदले उसे नरक प्राप्ति हुई।[1]

आत्म-शक्ति जाग्रत होने के पश्चात् मार्गदर्शन,
शुद्ध उपादान न रहे तो सब तरह से बर्बादी

आशय यह है कि आत्म-शक्ति के जाग्रत होने के बाद यदि मार्गदर्शक न रहे अथवा अपना उपादान शुद्ध न रहकर मोहाविष्ट हो जाए तो व्यक्ति भूत-पिशाचाविष्ट की तरह आवेशग्रस्त, कोपाविष्ट या अहंकारग्रस्त होकर भयंकर अनर्थ कर बैठता है। अपनी की-कराई वर्षों की आत्म-शक्ति की साधना को कुछ ही क्षणों में चौपट कर देता है, आराधक से वह विराधक बन जाता है।

अर्जित महामूल्य आत्म-शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करके
आसुरी शक्ति में बदल दी विश्वभूति ने

भगवान महावीर के जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद १६वें भव की एक घटना है। उस भव में राजगृह नगर के राजा विशाखनन्दी के छोटे भाई विशाखभूति के पुत्र विश्वभूति नामक राजकुमार थे। प्रबल विषयासक्ति के संस्कारवश कतिपय कारणों से विशाखनन्दी नृप के साथ उनका संघर्ष हुआ। विशाखनन्दी द्वारा कपटपूर्ण षड्यंत्र रचे जाने के कारण विश्वभूति के मन में उसके प्रति द्वेष की गाँठ बँध गई। राजा विशाखनन्दी को अपने शारीरिक बल का परिचय देने हेतु उद्यान के द्वारपाल के सामने बेल के पेड़ को इतनी जोर से हिलाया कि उसके सभी फल टप-टप नीचे गिरने लगे। फिर शक्तिमद के आवेश में आकर कहा–"देख ले, मेरी शक्ति को। मैं चाहूँ तो तुम सब के सिर धड़ से अलग कर दूँ। परन्तु मैं बुजुर्गों पर अपनी शक्ति आजमाना नहीं चाहता। परन्तु मेरे विरोध में उन्होंने जो षड्यंत्र रचा, उससे मेरे मन में यह निश्चय हो गया कि संसार में सर्वत्र स्वार्थ, अहंकार और राग-द्वेष का साम्राज्य है। मुझे नहीं चाहिए राज्य, सम्पत्ति और संसार का रागरंग ! मुझे अब यहाँ रहना ही नहीं है।" यों कहकर विश्वभूति किसी से कहे बिना ही वहीं से वन की ओर चल दिया।

सौभाग्य से उसे वन में संभूतिविजय नामक मुनिवर मिल गए। विश्वभूति उनके चरणों में दीक्षित हो गए। मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् उनका मन एवं कषाय

---

१. देखें–ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती (सम्भूति के जीव) का जीवन-वृत्त, उत्तराध्ययन, अ. १३ तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९

शान्त हो गये। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र के प्रबल संस्कार उद्‌बुद्ध हो गए। रत्नत्रय की सम्यक् आराधना के साथ-साथ उग्र तप की आराधना भी वे करने लगे। आभ्यन्तर तप के साथ उग्र तपश्चर्या करने से उनकी आत्म-शक्ति जाग्रत और अभिव्यक्त हो गई। उनका मनोबल, वचनबल, कायबल एवं प्राणबल भी सुदृढ़ हो गया। विशिष्ट योग्यता प्राप्त करके विश्वभूति मुनि विशिष्ट साधना के लिए गुरु-आज्ञा लेकर एकाकी विचरण करने लगे।

एक बार विचरण करते हुए एकलविहारी विश्वभूति मुनि मथुरा नगरी में पधारे। उग्र तपस्या के कारण अत्यन्त कृशकाय विश्वभूति मुनि मासखमण के पारणे के लिए मथुरा नगरी में घूम रहे थे। मथुरा का राजा विशाखनन्दी का श्वसुर था। जिस समय विश्वभूति मुनि राजमहल के निकट से होकर जा रहे थे, उसी समय अपने ससुराल में आया हुआ विशाखनन्दी राजमहल के झरोखे में बैठे। सहसा उसके आसपास बैठे हुए सेवकों की दृष्टि विश्वभूति मुनि पर पड़ी। सेवकों ने विशाखनन्दी को विश्वभूति मुनि का परिचय दिया तो विशाखनन्दी ने उन्हें पहचान लिया। विश्वभूति नीची नजर किये जा रहे थे कि अचानक एक गाय ने सामने से आकर मुनि को धक्का लगाया, वे नीचे गिर पड़े। यह देख विशाखनन्दी ने जोर से अट्टहास करते हुए कहा–"कहाँ गई वह शक्ति? मुट्ठी के प्रहार से बेल के फलों को गिराने वाला आज गाय के धक्के से क्यों गिर पड़ा?" बस, विश्वभूति के कान में पड़े इन शब्दों ने आग में घी होमने का काम किया। अपनी शक्ति को चुनौती देने वाले पर मुनि की क्रोधाग्नि भड़क उठी–"यह दुष्ट विशाखनन्दी अभी तक मेरे प्रति वैरभाव रख रहा है। मेरा इतना तिरस्कार और उपहास ! मेरी शक्ति को चेलेंज ! मैं इसे दिखा दूँ कि अभी भी मेरे में कितनी शक्ति है?" उसने खड़े होकर आगे चली जा रही गाय के सींग कसकर पकड़े और ३-४ बार गोल-गोल घुमाकर गाय को गेंद की तरह उछाल दिया ! गाय के वहीं प्राणपखेरू उड़ गये। मुनि ने अब तक आत्म-साधना से जो अविकृत आत्म-शक्ति जाग्रत की थी, वह आज क्रोध, आवेश, रोष और अहंकार से विकृत होकर इस कृशकाय मुनि के शरीर से फूट पड़ी। तपश्चर्या से मुनि की काया क्षीण होने पर भी पूर्वोक्त निमित्त से क्रोध और अहंकार ने भयंकर शक्ति जाग्रत और प्रकट कर दी। फलतः क्रोध और अहंकार के आवेश में मुनि से यह भयंकर कुकृत्य हो गया। वे आवेश में यह भूल गए कि मैं मुनि हूँ। षट्कायिक जीवों की रक्षा करना मेरा धर्म है। किसी का तिलभर भी दिल न दुखाना अहिंसा महाव्रती का सिद्धान्त है। किन्तु आज वे शक्ति के मद में आकर महाव्रत, संयम, नियम, श्रमणधर्म आदि सब भूल गए। वर्षों से विश्वभूति मुनि ने जो पवित्र आत्म-शक्ति अर्जित और जाग्रत की थी, आज जरा-से निमित्त को पाकर क्रोध और अहंकार के विभाव के वशीभूत होकर नष्ट कर दी।

उनका भौतिक शक्ति का प्रदर्शन आध्यात्मिक शक्ति को ले बैठा। मुनि का आवेश यहीं तक ही आकर नहीं रुका। उनके अन्तर में प्रतिशोध की आग भड़क उठी। विशाखनन्दी के साथ बँधे हुए वैर का बदला लेने की कुवृत्ति जाग्रत हुई, जिसने आध्यात्मिक शक्ति के द्वार ही बंद कर दिये। आज तक तप-संयम से अर्जित आत्म-शक्ति के बदले में तामस-शक्ति भाँपने की लिप्सा जागी। मन में कुसंकल्प (नियाणा) किया—"आज तो मैं इस शरीर से अपने शत्रु विशाखनन्दी को मार नहीं सकूँगा। किन्तु अनेक वर्षों से किये हुए तप, संयम से अर्जित पुण्य राशि के फलस्वरूप मुझे ऐसी प्रचण्ड शक्ति प्राप्त हो, ताकि मैं विशाखनन्दी को मार सकूँ।" बस, कर लिया निदाणा (निदान)! वर्षों से रत्नत्रय की एवं तप, संयम की साधना से अर्जित एवं जाग्रत की हुई अमूल्य पवित्र आत्म-शक्ति को कौड़ी के भाव में लुटा दी। की हुई रत्नत्रय की आराधना और तप-संयम की करणी से उपलब्ध एवं अभिव्यक्त आत्म-शक्ति का नीलाम कर दिया।

वास्तव में, विश्वभूति मुनि को आत्म-शक्तियों के जागरण, प्रकटीकरण एवं उत्तरोत्तर संवर्धन करने का सुन्दर अवसर मिला था, किन्तु आत्म-शक्ति जाग्रत होने के साथ-साथ उन पर किसी मार्गदर्शक का अंकुश या अनुशासन न रहा। इसलिए उन्होंने सारी आत्म-शक्ति विवेकमूढ़—मोहमूढ़ होकर नष्ट-भ्रष्ट कर दी, विपरीत दिशा में अपनी शक्ति नियोजित कर दी, खर्च कर दी। फलतः उनको जो सम्यग्दर्शन की ज्योति जाग्रत हुई थी, वह भी बुझ गई। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शक्तियों का भी सर्वनाश हो गया।

विशाखनन्दी ने जब विश्वभूति का उपहास किया, तब उन शब्दों को सुनकर कषायभाव न लाते, मन पर प्रतिक्रिया न होती, उन्हें समभाव से सहन करके आत्म-भाव में लीन रहते तो उनकी आत्म-शक्ति और बढ़ जाती। परन्तु जीवन में जब सर्वनाश के क्षण आते हैं, तब सारा पासा पलट जाता है। जरा-सी शब्दों की असहिष्णुता के कारण वे छठे-सातवें गुणस्थान से सहसा प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान में आ गए। उनकी अनन्त शक्तिमान् आत्मा ने तन-मन-प्राणों के भयंकर से भयंकर कष्ट सहे थे; इसी प्रकार इस अवसर पर भी वे यही सोचते कि मैं अनन्त शक्तिमान् आत्मा हूँ, ये जड़ शब्द मेरा क्या कर सकते हैं? आत्म-शक्तियों का साधक यदि एक बार ही दृढ़ निश्चय कर ले कि परमात्मा के समान ही अनन्त आत्म-शक्ति मेरा स्वभाव है। बाहर की कोई भी शक्ति, फिर वह चाहे सत्ता की हो, सम्पत्ति की हो, या अहंकार, क्रोध आदि की आसुरी शक्ति हो, उस पर प्रभाव नहीं डाल सकती, हावी नहीं हो सकती।[1]

---

१. देखें—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में विश्वभूति मुनि का वृत्तान्त

सुदर्शन श्रमणोपासक में आत्म-शक्ति (परमात्म-शक्ति से अनुप्राणित) थी, उस पर अर्जुनमाली यक्षाविष्ट आसुरी शक्ति बिलकुल हावी न हो सकी। यह है आत्म-शक्ति पर किसी भी शक्ति का प्रभाव न होने का ज्वलन्त उदाहरण ![1]

पौद्गलिक वीर्य (शक्ति) का मूल स्रोत आत्मा है

यद्यपि सप्त धातुओं से शरीर निष्पन्न होता है, उसमें वीर्य अन्तिम धातु है। इससे ही शरीर में ओज, तेज प्रतीत होता है तथा वीरता, साहस, पराक्रम एवं शौर्य प्रकट होता है। वस्तु-स्थिति यह है कि शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, वचन, प्राण आदि सब जड़ पदार्थ हैं, इनमें भी जीव के कर्मों के अनुसार अपने-अपने ढंग की स्व-स्वकार्य करने की क्षमता और शक्ति होती है। इन सब शक्तियों का संवर्धन और विकास भी किया जा सकता है। परन्तु इन सब शक्तियों को शास्त्रीय परिभाषा में 'पौद्गलिक वीर्य' कहा जाता है। अतः शरीरादि पुद्गलों में स्थित वीर्य पौद्गलिक होते हुए भी मूल में आत्मा के वीर्य (भाववीर्य शक्ति) गुण से ही प्रकट होता है। उसके निर्माण में, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा का वीर्यगुण जितना प्रगट होता है, उतना ही, यानी उतने बल वाला ही पौद्गलिक वीर्य प्रगट हो सकता है। यही कारण है कि हाथी की अपेक्षा शरीर छोटा होते हुए भी सिंह में वीर्य (पराक्रम = शक्ति) अधिक होता है। जैनदर्शन का कथन है–शक्ति, पराक्रम, उत्थान, कर्म, बल, पुरुषार्थ, शौर्य, साहस, स्थाम (धृति), उत्साह, पौरुष आदि रूप में वीर्य मूल में आत्मा की वस्तु है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक छोटे-बड़े सभी प्राणी स्थूल या सूक्ष्म हलचल, स्पन्दन तथा गमनागमनादि क्रिया या प्रवृत्ति करते हैं, उन सब में आत्मा का भाववीर्य (वीरत्व) ही काम आता है। उस वीर्य (शक्ति) के बिना कोई भी प्राणी तन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण, अंगोपांग आदि से स्वतः कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। इन सभी पौद्गलिक पदार्थों की शक्तियों का मूल स्रोत आत्मा है। इन सभी की शक्तियाँ आत्मा से ही प्रादुर्भूत, प्रकट या जाग्रत होती हैं। यह ध्यान रहे कि इन सब पौद्गलिक पदार्थों की शक्ति (वीर्य) संयोगज या पर-प्रेरित है। कोई चेतन (आत्मा) उनको परस्पर जोड़ता है या संयोग करता है, तभी उसमें ऊर्जा शक्ति, तैजस् शक्ति या विद्युत् आदि की शक्ति पैदा होती है।

बालवीर्य और पण्डितवीर्य की परिभाषाएँ

एक प्रश्न यह है कि आत्मा अमूर्त और अव्यक्त होने से इन्द्रिय-ग्राह्य (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) नहीं है, आत्मा की आत्म-शक्ति भी प्रत्यक्ष नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? इसलिए यह माना गया कि आत्मा

१. देखें–राजगृह नगर के सुदर्शन श्रमणोपासक का जीवन-वृत्त, अन्तकृद्दशासूत्र में मोग्गरपाणी नामक अध्ययन

या आत्म-शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, वाणी तथा दशविध बलप्राण बनते हैं। उनके माध्यम से आत्मा की अधिकांश शक्तियों की जागृति एवं अभिव्यक्ति होती है। परन्तु आत्म-शक्तियों के प्रकटीकरण में, जागरण में वे तभी साक्षात् माध्यम बनते हैं, जब आत्म-स्वभाव या आत्म-गुणों में रमण करने में वे अन्तःकरण एवं बाह्यकरण (उपकरण) साधक एवं सहायक हों। शास्त्रीय भाषा में तब इनको पण्डितवीर्य कहा जाता है। इसके विपरीत जब ये ही करणद्वय आत्म-शक्तियों के जागरण में साधक या सहायक न बनकर बाधक बनते हैं, विपरीत दिशा में, क्रोधादिवश, अहंकारादि से प्रेरित होकर या हिंसा, असत्य, चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, आगजनी, वैर-विरोध, द्वेष, लोभ, मोह, मद, मत्सर, स्वार्थ, कामभोग, विषयासक्ति आदि के वश भटक जाते हैं, तब ये आत्मा की निरवालिस शक्ति के रूप में अभिव्यक्त न होकर विकृत एवं शुभाशुभ कर्मबन्धक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तब इन्हें शास्त्रीय भाषा में बालवीर्य कहा जाता है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' के आठवें 'वीर्य' नामक अध्ययन में इस तथ्य को बहुत ही स्पष्टता के साथ समझाया गया है। वहाँ संसार की ओर किये जाने वाले पराक्रम को कर्मबन्धकारक और बालवीर्य कहा है, जबकि मोक्ष की ओर किये जाने वाले पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है। तथैव बालवीर्य को सकर्मवीर्य (कर्मबन्धयुक्त) और पण्डितवीर्य को अकर्म (कर्मबन्धरहित) वीर्य कहा गया है। यहाँ द्रव्यवीर्य की नहीं, भाववीर्य की विवक्षा है। भाववीर्य का स्वरूप है—वीर्यशक्तियुक्त जीव की विविध वीर्य सम्बन्धी लब्धियाँ। भाववीर्य मुख्यतया पाँच प्रकार का है—मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य, इन्द्रियवीर्य और आध्यात्मिकवीर्य।[1]

आध्यात्मिक वीर्य (शक्ति) के मुख्य दस प्रकार

आध्यात्मिक वीर्य के 'सूत्रकृतांग निर्युक्ति' में मुख्यतया १० प्रकार बताये गए हैं—(१) धृति (संयम और चित्त में स्थैर्य), (२) उद्यम (ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण आदि में आन्तरिक वीर्योल्लास, पुरुषार्थ या उत्साह), (३) धीरता (परीषहों और उपसर्गों के समय अविचलता), (४) शौण्डीर्य (त्याग की उच्च कोटि की उत्साहपूर्ण भावना), (५) क्षमाबल, (६) गाम्भीर्य (अद्भुत, साहसिक या चमत्कारिक कार्य करके भी मद-गर्व-अहंकार न आना, परीषहोपसर्गों से न दबना), (७) उपयोगबल

---

१. (क) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण
(ख) सूत्रकृतांगसूत्र के 'वीर्य' नामक अष्टम अध्ययन का प्राथमिक (आगम प्र. स., ब्यावर) से भाव ग्रहण, पृ. ३४५
(ग) कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वता।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दिस्संति मच्चिया॥ —सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ८, गा. २

[साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) उपयोग रखकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुरूप स्वविषयक पराक्रम का निश्चय-अध्यवसाय करना], (८) योगबल (मन-वचन-काया से अध्यात्म दिशा में प्रवृत्ति करना), (९) तपोबल (बारह प्रकार के बाह्य-आभ्यन्तर तप में खेदरहित तथा उत्साहपूर्वक पराक्रम करना), और (१०) संयम में पराक्रम (सत्रह प्रकार के संयम के पालन में तथा अपने संयम को निर्दोष रखने में पराक्रम करना)।[1]

'सूत्रकृतांग' में बालवीर्य (सकर्मवीर्य) की पहचान के कुछ संकेत

बालवीर्य और पण्डितवीर्य, इन दोनों शक्तियों का आधार क्रमशः प्रमाद और अप्रमाद है। प्रमाद वह है, जिसके कारण जीव अपना आत्म-भाव भूलकर उत्तम अनुष्ठान से रहित हो जाता है। प्रमाद के भगवतीसूत्र अभयवृत्ति में ८ भेद बताए हैं—अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष, महाभ्रष्टता (महाभ्रंश), धर्म में आचरण न करना और योगों का दुष्प्रणिधान। शास्त्र में प्रमाद के ५ भेद बताए गए हैं—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा (निन्दा) और विकथा। 'सूत्रकृतांग' में बताया गया है—तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने प्रमाद को कर्मबन्ध का एक विशिष्ट कारण इसलिए बताया है कि इसके कारण जीव आत्म-भान या आत्म-जागृति से रहित होकर अपनी सारी शक्ति (वीर्य) धर्म-विपरीत, अधर्म या पापयुक्त कार्यों में लगाकर अशुभ कर्मों का बन्ध करता रहता है। इसीलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान होता है, उसे बालवीर्य (सकर्मवीर्य) कहा है। इसके विपरीत प्रमादरहित पुरुष के कार्य के पीछे सतत आत्म-भान, जागृति एवं विवेक होने के कारण उसके कार्य से कर्मबन्ध नहीं होता। वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने तथा हिंसादि आस्रवों एवं कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहने और स्वभाव-रमण में लगाता है। इसलिए ऐसे अप्रमत्त तथा अकर्मा साधक के पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है।[2]

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. ९१-९७
(ख) सूत्रकृतांग (शीलांकवृत्ति), पत्रांक १६५-१६७ तक का सारांश

२. (क) पमाओ य मुणिंदेहिं भणिओ अट्ठभेयओ।
अण्णाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य॥
रागो दोसो महब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं अट्ठहा वज्जियव्वओ॥ —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक ५७
(ख) मज्जं विसय-कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया। —प्रवचनसारोद्धार
(ग) पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा॥ —सूत्रकृतांग, अ. ८, गा. ३, व्याख्या

प्रमादी अज्ञजन बालवीर्य (अज्ञानयुक्त शक्ति) का प्रयोग कैसे-कैसे करते हैं ?

प्रमादी अज्ञानीजन सकर्मवीर्य या बालवीर्य का प्रयोग कैसे-कैसे करते हैं? यह बताते हुए 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है–"कई अज्ञानीजन शस्त्रास्त्रों से निर्दोष प्राणियों का वध करते हैं। कई लोग प्राणियों के लिए विघातक मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। कतिपय असंयमी व्यक्ति मन-वचन-काया से अशक्त होने पर भी तथाकथित लौकिकशास्त्रों की दुहाई देकर इहलोक-परलोक दोनों के लिए जीव-हिंसा करते-कराते रहते हैं। वे मायीजन छल-कपट करके विविध कामभोगों में प्रवृत्त होते हैं। अपने सुख के पीछे अंधी दौड़ लगाने वाले वे लोग निर्दोष प्राणियों को मारने, काटने और चीरने में शक्ति लगाते हैं। वे प्राणिघातक अज्ञानीजन, जन्म-जन्मान्तर तक वैर बाँध लेते हैं। वे नये-नये वैर में संलग्न होकर जीव-हिंसारूप पाप की परम्परा बढ़ाते हैं। इस प्रकार वे बालवीर्य-सम्पन्न लोग पापकर्मबन्ध करके उस साम्परायिक कर्मबन्धवश बार-बार राग-द्वेष का आश्रय लेकर पुनः-पुनः पापकर्म करते रहते हैं। ये सभी पराक्रम इसलिए बालवीर्य हैं कि वह प्राणिघात पर-पीड़ादायक कषायवर्द्धक, वैर-परम्परावर्द्धक, पापकर्मजनक एवं राग-द्वेष-मोहवर्द्धक हैं।[1]

अकर्मवीर्य = पण्डितवीर्य की साधना के उनतीस प्रेरणासूत्र

'सूत्रकृतांग' में पण्डित (अकर्म) वीर्य की साधना के २९ प्रेरणासूत्र दिये गए हैं, जिनका सारांश यह है–(१) वह भव्य (मोक्षगमन-योग्य) हो, (२) अल्प-कषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आस्रवों को हटाकर तथा कषायात्मक बन्धनों को काटकर शल्यवत् शेष कर्मों को काटने के लिए उद्यत रहे, (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए पुरुषार्थ करे, (६) स्वाध्याय, ध्यान आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानों में सम्यक् उद्यम करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए बालवीर्य की दुःखदायकता एवं अशुभ कर्मबन्ध-कारणता का तथा सुगतियों में भी उच्च स्थानों एवं परिजनों के साथ संवास की अनित्यता का अनुप्रेक्षण करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सबके प्रति अपनी आसक्ति या ममत्व-बुद्धि हटा दे, (९) सर्वधर्ममान्य इस आर्य (रत्नत्रयात्मक मोक्ष) मार्ग को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम (अन्तकाल) किसी प्रकार जान जाए तो यथाशीघ्र संल्लेखनारूप या पण्डितमरणरूप अनशन (संथारे) का अभ्यास करे, (१३) कछुआ

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, गा. ४-९, व्याख्या तथा सारांश (आ. प्र. समिति, ब्यावर) से भाव ग्रहण, पृ. ३४६-३४७

जैसे अंगों का संकोच कर लेता है, वैसे ही पण्डित साधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से संकुचित कर ले, (१४) अनशनकाल में मानसिक-वाचिक-कायिक समस्त व्यापारों (प्रवृत्तियों), अपने हाथ-पैरों को तथा अकुशल संकल्पों से मन को रोक ले तथा अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष का त्याग करके इन्द्रियों को संकुचित कर ले, (१५) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का, (१६) पापरूप भाषा दोष का त्याग करे, (१७) लेशमात्र भी अभिमान और माया न करे, (१८) इनके अनिष्ट फलों को जानकर सुख-प्राप्ति के गौरव में उद्यम न हो, (१९) उपशान्त, निःस्पृह और मायारहित (सरल) होकर विचरण करे, (२०) वह प्राणि-हिंसा से दूर रहे, (२१) अदत्त ग्रहण (चौर्यकर्म) न करे, (२२) मायायुक्त असत्य न बोले, (२३) प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न केवल काया से ही नहीं, मन और वचन से भी न करे, (२४) बाहर और भीतर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, (२५) इन्द्रिय-दमन करे, (२६) मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादि रूप संयम की आराधना करे, (२७) जितेन्द्रिय रहे, (२८) पाप से आत्मा को बचाए, (२९) किसी के द्वारा अतीत में किये गए, वर्तमान में किये जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का मन-वचन-काया से भी अनुमोदन न करे।[1]

मनोबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) का विकास और जागरण कैसे हो ?

साधक के पास पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु ये १० बलप्राण हैं, जिनके माध्यम से आत्म-शक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। इन दशविध प्राणों में मन, वचन और काया की शक्ति की अनेक धाराएँ हैं। जैसे–मन की शक्ति के साथ बौद्धिक-शक्ति, चित्त की शक्ति, हृदय की शक्ति, संकल्प-शक्ति, भावना-शक्ति, विचार-शक्ति, स्मरण-शक्ति, निर्णय-शक्ति निरीक्षण-शक्ति, परीक्षण-शक्ति, विवेक-शक्ति, प्रतिभा-शक्ति, विश्लेषण-शक्ति, मानसिक-शक्ति इत्यादि मन से सम्बन्धित शक्तियाँ हैं, ये जब आत्म-स्वभाव में, आत्म-गुणों में अथवा आत्मा के चिन्तन-मनन में, आत्मालोचन में, आत्म-विकास, में, आत्म-निरीक्षण में, आत्म-श्रद्धा में, आत्म-विश्वास में अथवा बारह प्रकार आत्मानुप्रेक्षा में, मैत्री आदि चार भावनाओं में तथा धर्मध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान में अथवा किसी त्याग, तप, नियम, संयम एवं प्रत्याख्यान तथा प्रतिज्ञा के दृढ़ संकल्प में लगती हैं, तब आत्म-शक्तियों का जागरण प्रारम्भ हो जाता है। मन से सम्बन्धित इन और इनके सदृश अन्य शक्तियों का विकास एकाग्रता से, ध्यान से, एकनिष्ठा से, मनोनिग्रह से, मन की स्थिरता से होता है।

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, गा. १०-२१, सारांश (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. ३५१

भारतीय दार्शनिकों ने मन की शक्तियों, आत्म-शक्तियों के जागरण में सर्वोपरि माना है। जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ हैं, आध्यात्मिक अनुष्ठान हैं, द्वादशविध तप हैं, स्वाध्याय, जप, परीषह-विजय, कषायोपशमन, विषयों से विरक्ति आदि हैं तथा क्षमादि दशविध धर्म का या रत्नत्रयरूप धर्माचरण है, उन सब को मनोयोगपूर्वक, उपयोगपूर्वक, निष्कामभावपूर्वक, स्वेच्छापूर्वक, उद्देश्य एवं लक्ष्यपूर्वक संवर-निर्जरा की (कर्मक्षय की) दृष्टि से करने का विधान है। समता, क्षमा, समाधि, अनुकम्पा, दया, सहिष्णुता, तितिक्षा, अहिंसा-सत्यादि व्रतों की शक्तियों का विकास करने में एकाग्र और स्थिर मन ही, स्थिर प्रज्ञा ही, स्थिर चित्त ही उपयोगी बनता है। औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्यिकी और पारिणामिकी बुद्धियाँ भी बौद्धिक-शक्ति के विकास का परिणाम है, जो मन से ही सम्बन्धित है। सम्यग्दृष्टि को मोक्षलक्ष्य की ओर क्रियान्वित करने के लिए मन को ही माध्यम माना गया है। कहा भी है–

"मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध-मोक्षयोः।"

–(घातिकर्मों के) बन्ध और (उनसे) मुक्त होने का कारण मनुष्यों का मन ही है।

परभावों, विभावों तथा हिंसादि पापकर्मों में मन दौड़ लगाता है तो सातवीं नरक तक की यात्रा कर लेता है, वही मन दूसरे ही क्षण शुभ भावों में गति-प्रगति करता है, तो सर्वार्थसिद्ध देवलोक तक पहुँच जाता है। जातिस्मरणज्ञान, प्रातिभज्ञान, दूर-विचार-सम्प्रेषणज्ञान, मनःपर्यायज्ञान आदि मन के ही चमत्कार हैं।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि यदि अवचेतन मन को सुसंस्कारों की ओर मोड़ा जाए, तो उसकी क्षमता बहुत अधिक बढ़ जाती है। चेतन (ज्ञात) मन की अपेक्षा भी अवचेतन (अज्ञात) मन को जगाने, विकसित और क्रियाशील बनाने से आत्म-शक्तियाँ अधिकाधिक अभिव्यक्त, जाग्रत और विकसित हो जाती हैं। इन्द्रियाँ एवं अंगोपांग अपने आप में कुछ नहीं हैं, पौद्गलिक (जड़) हैं, मन ही इनके माध्यम से विभिन्न प्रवृत्तियाँ कराता है। अगर मन को शुभ ध्यान द्वारा आत्मा के स्वभाव में एकाग्र, तल्लीन, निश्चल और स्थिर कर दिया जाए तो उसकी शक्ति अनेक गुनी बढ़ सकती है। बौद्धिक-शक्ति, स्मरण-शक्ति, प्रतिभा-शक्ति आदि मानसिक शक्तियों का विकास भी एकमात्र आत्म-स्वभाव में स्थिरता की दृष्टि से किया जाए, अथवा ज्ञाता-द्रष्टा बनने के अभ्यास में स्थिर कर दिया जाए तो ये शक्तियाँ आत्म-शक्तियों के जागरण में सहायक निमित्त बन जाती हैं।

वचनबलप्राण द्वारा पण्डितवीर्य कैसे अभिव्यक्त और जाग्रत हो ?

दूसरा वचनबल है, जो आत्म-शक्तियों के जागरण में निमित्त बन सकता है। वाग्गुप्ति, मौन, भाषासमिति आदि के अभ्यास से वचनबल विकसित किया जा

सकता है। क्षीराम्रव-लब्धि, पदानुसारिणी-लब्धि, वचन-सिद्धि आदि भी वचनबल के विकसित रूप हैं। वाणी की शक्ति दीर्घकालीन साधना से जाग्रत और विकसित होती है। शब्द-शक्ति के प्रभाव से हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति को प्रभावित, आकर्षित और आमन्त्रित किया जा सकता है। सम्मोहन-शक्ति से, प्रार्थना से तथा मंत्र-तंत्र-यंत्र शक्ति से तीव्र शुभ भावना से दूर बैठे हुए व्यक्ति को रोग, शोक, चिन्ता, भय आदि से मुक्त किया जा सकता है। संगीत से एवं प्रार्थना आदि प्रयोगों से रोग-मुक्ति, गोदुग्ध-वृद्धि, खेतों में उत्पादन-वृद्धि आदि में आशातीत सफलता मिलती है। उसी शब्द-शक्ति के प्रभाव से आत्म-गुणों को, आत्म-स्वभाव को जाग्रत करने का स्वयं-संकेतात्मक (ओटो सजेशन के रूप में) अभ्यास किया जाए तो आत्म-शक्तियाँ जाग्रत, संवर्द्धित और विकसित की जा सकती हैं।

कायबलप्राण द्वारा पण्डितवीर्य का प्रकटीकरण कैसे हो ?

तीसरा है—कायबलप्राण। कायबल भी कायगुप्ति, कायक्लेश तप, प्रतिसंलीनता तप तथा उपवास आदि तप से एवं योगासन, व्यायाम तथा शास्त्रोक्त आसनों और यौगिक क्रियाओं आदि से तथा गमनागमन, शयन-जागरण, बैठना-उठना, भिक्षाचरी, आहार-विहार आदि कायिक प्रवृत्तियों और चेष्टाओं से, सेवा-शुश्रूषा, परिचर्या आदि में विवेक और यत्नाचार से बढ़ता है। शरीर में तीन प्रमुख शक्ति-केन्द्र हैं—नाभि, गुदा और फेफड़े। इन तीनों शक्ति-केन्द्रों को जगाने से आत्म-शक्ति-संवर्द्धन में सहायता मिलती है। मनोबल के साथ भी कायबल का गहरा सम्बन्ध है। परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने का, कष्ट-सहिष्णुता का, तितिक्षा का एवं पाँचों इन्द्रियों का विषयों में अतिप्रवृत्त होने से या निरर्थक प्रवृत्ति करने से, आस्रवों में जाने से रोकने का मनोबलपूर्वक कायबल से अभ्यास किया जाए तो आत्म-शक्तियाँ अतिशीघ्र जाग्रत हो सकती हैं।

पंचेन्द्रियबलप्राण, श्वासोच्छ्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति का विकास कैसे हो ?

पाँचों इन्द्रियों की शक्ति भी अभ्यास से, आस्रवों (पापास्रवों) की ओर जाने से रोकने से, योगसाधना से बढ़ सकती है। दूर तक श्रवण करने की, देखने की, शीघ्र पढ़ने की, स्पर्श के द्वारा दूसरी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान करने की शक्ति भी अभ्यास से हो सकती है। इन्द्रियों पर संयम, विषयों के प्रति राग-द्वेष आदि विभावों के निरोध, यतनापूर्वक यथावश्यक इन्द्रिय-विषयों का सहजभाव से अल्पतम उपयोग, यत्नाचार आदि से इन्द्रिय-शक्तियाँ बढ़ती हैं, उनका उपयोग आत्म-स्वभावरमण में, स्थिरता में हो सकता है। इन्हीं पूर्वोक्त तथ्यों को मद्देनजर रखते हुए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में मन, वचन, काया, इन्द्रियों, बुद्धि आदि की शक्तियों

के माध्यम से पण्डितवीर्य (आत्मिक-शक्ति) का व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—सुव्रती साधक उदर-निर्वाह के लिए अल्पतम आहार, अल्प पानी, अल्प निद्रा, अल्प भाषण, अल्प उपकरण एवं साधन से जीवन-निर्वाह करे। वह सदैव क्षमाशील या कष्ट-सहिष्णु, लोभादि से रहित, शान्त, दान्त (जितेन्द्रिय) एवं विषयभोगों के प्रति अनासक्त रहकर सभी प्रवृत्तियों में सदा यतना करे (उपयोगसहित प्रवृत्ति करे) अथवा संयम-पालन में यत्न (पुरुषार्थ) करे। इसी प्रकार वह पण्डितवीर्य साधक ध्यानयोग को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके काया का पूर्णतया व्युत्सर्ग करे। (अनिष्ट प्रवृत्तियों से तन-मन-वचन को रोके) तथा परीषह और उपसर्ग के सहनरूप तितिक्षा को प्रधान (सर्वोत्कृष्ट) साधना समझकर मोक्षपर्यन्त संयम-पालन में पराक्रम करे।[1]

इन गाथाओं का फलितार्थ यह है कि साधक मन-वचन-काया की शक्ति को अनुचित, अनावश्यक एवं हिंसादियुक्त प्रवृत्तियों में लगाता है तो पण्डितवीर्य की साधना के बदले बालवीर्य की साधना में शक्ति लगाता है। जैसे—मन की शक्ति को वह विषयभोगों की प्राप्ति के चिन्तन, कषाय या राग-द्वेष-मोह आदि में या आर्त्त-रौद्रध्यान में लगा देता है। इसी प्रकार वचन की शक्ति को कर्कश, कठोर, हिंसाजनक, पीड़ाकारक, सावद्य (पापमय), निरर्थक, असत्य या कपटमय वाणी बोलने में लगाता है। तथैव काया को भी केवल पुष्ट करने, खाने-पीने, सोने, सजाने-सँवारने तथा अभक्ष्य-अपेय आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, मकान या अन्य साधनों आदि पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग में लगाता है, तो वह अपनी शक्ति बालवीर्य में लगाता है। वह अपनी मन-वचन-काया की शक्ति का अपव्यय करता है। इसलिए शास्त्रकार ने तीन गाथाओं द्वारा त्याग-तप-प्रधान पण्डितवीर्य की मोक्षलक्ष्यी साधना का व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत किया है।

श्वासोच्छ्वासबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) का विकास और जागरण कैसे हो ?

इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास का बल भी सर्वविदित है। जैसे—लुहार अपनी धौंकनी से अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करता है, वैसे ही श्वासोच्छ्वास की क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति तैजस्-शक्ति, ओजस्-शक्ति एवं प्राण-शक्ति को प्रदीप्त, संवर्द्धित एवं जाग्रत कर सकता है। प्राणायाम के विविध प्रयोगों द्वारा

---

१. अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वते।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगेही सदा जते॥२५॥
झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥२६॥
—सूत्रकृतांकसूत्र, श्रु. १, अ. ८, गा. २५-२६

प्राण-शक्ति–श्वास-शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है। प्राणसंवर द्वारा प्राण-शक्ति अर्जित करके उसके माध्यम से आत्मिक-शक्तियों का अनायास ही जागरण हो सकता है। फेफड़ों से श्वास-क्रिया का गहरा सम्बन्ध है। वे जितने खुलते हैं, उतनी ही प्राण-शक्ति बढ़ती है। वे जितने अवरुद्ध रहते हैं, उतनी ही शक्ति की कमी रहती है। उचित पद्धति से क्रिया न होने से थोड़े से सेल्स खुलते हैं, बाकी के ९०-९५ प्रतिशत सेल्स अवरुद्ध रहते हैं।

आयुष्यबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति का विकास और जागरण कैसे हो ?

आयुष्यबल भी तन, मन, प्राण, इन्द्रियाँ आदि को स्वस्थ और सन्तुलित रखने से, मल-मूत्रादि शारीरिक वेगों को न रोकने से, अतिभोजन, अतिनिद्रा, तापसिक खान-पान, आधि, व्याधि, उपाधि से तथा ईर्ष्या, द्वेष, तनाव, चिन्ता आदि मानसिक वेगों को न रोकने से क्षीण होता है। यदि आयुष्यबल, इन्द्रियबल, तन-मन-वचनबल, प्राणबल आदि प्रबल हों तो स्वस्थ, सशक्त एवं मनोबली व्यक्ति अपनी आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) को रत्नत्रयादिरूप धर्माचरण में अथवा आत्म-स्वभावादि में लगाकर जाग्रत एवं अभिव्यक्त कर सकता है।[1]

अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम (वीर्य) से बालवीर्य और पण्डितवीर्य की पहचान

उपर्युक्त तमाम तथ्यों को जानने के बाद भी एक महत्त्वपूर्ण बात और रह जाती है वह यह है–बालवीर्य और पण्डितवीर्य की पहचान। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में बताया गया है कि जो व्यक्ति अबुद्ध (धर्म और मोक्ष के वास्तविक तत्त्वों से अनभिज्ञ) हैं, (किन्तु सांसारिक लोगों की दृष्टि में) महाभाग (महाभाग्यशाली या महापूज्य या लोकविश्रुत माने जाते हैं, (प्रतिवादी या शत्रुसेना को जीतने में) वीर (शूरवीर या वाग्वीर) हैं, (किन्तु) असम्यग्दर्शी (मिथ्यादृष्टि) हैं। उन सम्यक्त्व परिज्ञानरहित लोगों का (तप, नियम, संयम, दान, अध्ययन, व्रत, प्रत्याख्यान आदि में किया गया) पराक्रम (वीर्य) अशुद्ध है; क्योंकि उनका सब-का-सब पराक्रम (कर्मबन्धयुक्त होने) कर्मफलयुक्त होता है। (इसके विपरीत) जो व्यक्ति बुद्ध (परमार्थ के यथार्थस्वरूप = तत्त्व के ज्ञाता) हैं, महाभाग (महापूज्य या महाभाग्यवान्) हैं, वीर (कर्मविदारण करने में सहिष्णु-सक्षम या विशिष्ट ज्ञानादि गुणों से विराजित = सुशोभित) हैं, (साथ ही) सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि = परमार्थतत्त्वज्ञ) हैं, उनका (तप, दान, दम, नियम, संयम, अध्ययन, व्रत, प्रत्याख्यान आदि में किया गया) पराक्रम (वीर्य) शुद्ध है और (कर्मबन्ध से होने

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४५२-४७७

वाले) फल से रहित (अफल = सिर्फ कर्मक्षय के लिए) होता है। (इसी प्रकार) जो महाकुलोत्पन्न व्यक्ति प्रव्रजित होकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं, उनका तपरूप पराक्रम (वीर्य) भी शुद्ध नहीं है। जिस तप को अन्य व्यक्ति (दानादि में श्रद्धा रखने वाला या श्राद्ध = श्रावक आदि) न जानें, इस प्रकार से गुप्त तप आत्मार्थी को करना चाहिए और न ही अपने मुख से अपनी प्रशंसा करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवादि या संवर-निर्जरारूप धर्म के तत्त्वज्ञों द्वारा मोक्षरूप शुद्ध साध्य को लक्ष में रखकर किया गया पराक्रम (तप-संयमादि में किया गया पुरुषार्थ शुद्ध है, साधक सम्यग्दृष्टि होने से शुद्ध है, उसकी दृष्टि मोक्षलक्षी होने से साध्य भी शुद्ध और तप-संयमादि साधन भी शुद्ध हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति का साध्य, साधन और स्वयं साधक शुद्ध होने से उसका पराक्रम (उसकी तप-संयमादि में लगाई हुई शक्ति = वीर्य) भी शुद्ध है, वह पण्डितवीर्य का द्योतक है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि शुद्ध नहीं है, वह साधक भी शुद्ध नहीं, दृष्टि सांसारिक सुखभोगलक्षी होने से साध्य (मोक्ष) भी शुद्ध नहीं, ऐसी स्थिति में उसके द्वारा अंगीकृत तप-संयमादि साधन भी इहलोक-परलोकाशेषी, भोगाकांक्षालक्षी, संसारलक्षी होने से वे साधन भी अशुद्ध हैं। तीनों अशुद्ध होने से उसका तप-संयमादि में किया गया पराक्रम कर्मक्षयकारक न होने से संसारवर्द्धक है, मोक्षकारक नहीं। इसलिए उसकी शक्ति बालवीर्य की द्योतक है।[1]

आत्मिक-शक्तियों के क्रमशः पूर्ण विकास का उपाय

आत्मा असंख्यप्रदेशी है। उसके प्रत्येक प्रदेश में अनन्त वीर्य-अविभाग होते हैं। किन्तु प्रत्येक आत्मा में सारे के सारे वीर्यांश (अनन्त वीर्य-अविभाग) खुले नहीं होते। अर्थात् प्रत्येक आत्मा में सारी शक्तियाँ प्रकट एवं विकसित नहीं होतीं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणी तक में न्यूनाधिक रूप में वीर्यांश खुले रहते हैं। मनुष्यों में भी अनन्त वीर्यांश के प्रकट होने में तारतम्य रहता है। वीर्यांतराय कर्म का जितना-जितना क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है, उतना वीर्य (शक्ति या पराक्रम) प्रकट होता है, बाकी का (कर्मों से) आवृत होता है। मन-वचन-काया जितने-जितने चंचल होते हैं, उतना-उतना प्रकम्पन अधिक होता है। प्रकम्पन

---

१. जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥२२॥
जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धे तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥२३॥
तेसिं पि तवोऽसुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जे नेवऽन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेदए॥२४॥
—*सूत्रकृतांगसूत्र, विवेचन सहित, अ. ८, गा. २२-२४, पृ. २५२-२५३*

अधिक होने से वीर्य में स्थिरता नहीं होती। मन-वचन-काया के योगों की चंचलता इनकी अधिकाधिक प्रवृत्ति करने से होती है। अतः इन योगों तथा इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को जितना अधिक रोका जाएगा, एक भी अनावश्यक, निरर्थक या सावद्य प्रवृत्ति नहीं की जाएगी; ध्यान, धारणा, समाधि आदि के द्वारा या ज्ञाता-द्रष्टा-साक्षी बनकर रहने से उत्तरोत्तर उतनी ही आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) जाग्रत, संवर्द्धित होती जाएगी और त्यों-त्यों वीर्यान्तराय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होता जाएगा तथा आत्म-वीर्य में स्थिरता होती जाएगी। अन्त में शैलेशीकरण (१४वें गुणस्थान) के समय आत्मा में मन-वचन-काया के योगों की चंचलता बिलकुल नहीं रहती। वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय तो पहले (१३वें गुणस्थान में) ही हो जाता है। उससे आत्मा में पूर्ण रूप से उत्कृष्ट वीर्य (आत्म-शक्ति) प्रकट और जाग्रत हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति आत्मा पर कोई प्रभाव डाल नहीं सकती। और जब योगत्रय छूट जाते हैं, तब शारीरादि व कर्मादि पुद्गल और आत्मा दोनों सदा के लिए पृथक् हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान-दर्शन और आत्मिक-सुख की शक्तियों (अनन्त वीर्य = शक्तियों) से परिपूर्ण, अयोगी, अक्रिय, अलेश्यी, स्वतंत्र, कृतकृत्य सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाती है। उस समय वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा, पूर्ण परमात्मा बनकर, पूर्ण वीरता (अनन्त आत्म-शक्ति) के साथ अपने शुद्ध स्वभाव का भोक्ता बना रहता है। अनभिव्यक्त, अजाग्रत आत्म-शक्ति को परमात्म-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त और जाग्रत करने की यही सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है।[1]

●●

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. ४७७-४७८

८

मोक्ष की अवश्यम्भाविता का मूल : केवलज्ञान : क्या और कैसे-कैसे ?

मोक्ष-प्राप्ति का मूल क्या, क्यों, कैसे और किसको ?

आगमों और ग्रन्थों में बार-बार मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, सिद्धि, सिद्धत्व या परमात्मपद-प्राप्ति के महत्त्व का जोर-शोर से निरूपण किया गया है। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य भी मोक्ष को ही माना गया है। श्रमणों और श्रावकों की या विभिन्न साधकों या सज्जनों की जितनी भी साधना-आराधनाएँ हैं, उन सब का अभीष्ट प्रयोजन सर्वकर्म क्षयरूप मोक्ष प्राप्त करना है। अनेक महान् आत्माओं तथा सामान्य मोक्ष रुचि वाले मानवों द्वारा विभिन्न प्रकार से, विभिन्न उपायों से मोक्ष प्राप्त होने का उल्लेख भी जैनागमों तथा ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया गया है। कई जैनेतर धर्मों और दर्शनों ने मोक्ष-प्राप्ति के सस्ते नुस्खे भी बताये हैं, जिनका उल्लेख भी पिछले निबन्धों में कर चुके हैं। प्रश्न यह है कि जैन-कर्मविज्ञान मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसको मूलाधार मानता है? यानी किसके होने पर मोक्ष अवश्यम्भावी होता है, निश्चित है? और किसके न होकर मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है? साथ ही मोक्ष के मूलाधार उस तत्त्व का स्वरूप क्या है? वह कैसे-कैसे, किस-किस को होता है? उससे सम्पन्न व्यक्ति कितने प्रकार के हैं? इस पर शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है।

केवलज्ञानी होने पर ही निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो सकता है

पूर्ण मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध में जैन-कर्मविज्ञान की एक शर्त है कि जब भी किसी जीव को मोक्ष प्राप्त होगा, तब केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने पर ही होगा, पहले नहीं। इस सम्बन्ध में 'भगवतीसूत्र' में एक प्रश्न किया गया है–भंते ! अनन्त अतीत में क्या कोई छद्मस्थ मनुष्य केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से या केवल अष्ट प्रवचनमाता (५ समिति ३ गुप्ति) के पालन से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त यावत् सर्वदुःखों का अन्त करने वाला हुआ है? इसके उत्तर में भगवान ने साफ इन्कार कर दिया कि "ऐसा कदापि संभव नहीं होता। जब भी कोई मनुष्य सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं या जिन्होंने समस्त दुःखों का अन्त किया

है, वे समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, चरमशरीरी हुए हैं, अथवा जिन्होंने समस्त दुःखों का अन्त किया है, करते हैं या करेंगे; वे सब उत्पन्न (केवल) ज्ञान-दर्शनधारी अर्हंत, जिन या केवली होकर (यानी मोहनीय प्रमुख चार घातिकर्मों का क्षय करके) तत्पश्चात् ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं, सर्वदुःखों का अन्त किया है, करते हैं, करेंगे।" निष्कर्ष यह है कि मनुष्य चाहे कितना ही उच्च संयमी हो, परिमित अवधिज्ञानी हो या परम अवधिज्ञानी हो, ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान तक पहुँचा हुआ हो, यद्यपि वह उसी भव में मोक्ष जाने वाला हो, किन्तु जाता है केवली (केवलज्ञानी) होकर ही। इसीलिए केवली को अलमस्तु (मोक्ष के लिए पूर्ण समर्थ) कहा गया है।[1]

छद्मस्थ और केवली में अन्तर

"छद्मस्थ (जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है) और केवली में अन्तर यह है कि केवली निम्नोक्त दस स्थानों (पदार्थों) को सर्वभावेन (सम्पूर्ण रूप से) जानता-देखता है– (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) शरीरमुक्त जीव, (५) परमाणु-पुद्गल, (६) शब्द, (७) गन्ध, (८) वायु, (९) यह 'जिन' होगा या नहीं?, और (१०) यह सभी दुःखों का अन्त करेगा या नहीं? जबकि छद्मस्थ जीव इन दस पदार्थों को समग्र रूप से नहीं जान पाता, नहीं देख पाता।"[2] 'भगवतीसूत्र' में यह भी बताया गया है–अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानी केवली भगवान आदानों (इन्द्रियों) से नहीं जानते-देखते, क्योंकि उनका ज्ञान और दर्शन पूर्णतः निरावरण, निराबाध, अप्रतिहत आत्म-प्रत्यक्ष हो जाता है।[3]

'भगवतीसूत्र' में एक जगह यह भी बताया है कि केवली अन्तकर को, अन्तिमशरीरी को तथा चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानता-देखता है, जबकि

---

१. "छउमत्थे णं भंते ! मणुसेऽतीतमणंतं सासतं समयं, केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु?" "गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।" "गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा, अंतिमसरीरिया वा, सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता (तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करेंति वा करिस्संति वा।"

–भगवतीसूत्र, श. १, उ. ४, सू. १२-१८
वही, श. ५, उ. ५, सू. १ में भी पाठ है

२. (क) स्थानांगसूत्र, स्था. १०, सू. १०९
(ख) भगवतीसूत्र, खण्ड २, श. ८, उ. २, सू. २०-२१

३. "केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ पासइ?" "गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। ··· जाव निव्वुडे निरावरणे णाण-दंसणे केवलिस्स।"

–भगवती, श. ५, उ. ४, सू. ३४/१-२, विवेचन, पृ. ४५४

छद्मस्थ (अपूर्ण ज्ञानी) इन्हें नहीं जानता-देखता, किन्तु वह (प्रयत्न करे तो) केवली या केवली पाक्षिक आदि से सुनकर यह जान-देख सकता है।[1]

छद्मस्थ और केवली के आचरण में सात बातों का अन्तर

'स्थानांगसूत्र' के अनुसार–सात स्थानों (बातों) से जाना और पहचाना जाता है कि अमुक व्यक्ति छद्मस्थ है और अमुक व्यक्ति केवली है–

(१) छद्मस्थ चारित्रमोहनीय कर्म के कारण सम्यक्चारित्र का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाता। इसलिए छद्मस्थ के द्वारा जानते-अजानते कभी न कभी हिंसा हो जाती है, जबकि केवली भगवान के चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से वे अहिंसा का पूर्णतया पालन करते हैं, कभी प्राणि-हिंसा का विचार तक नहीं करते।

(२) छद्मस्थ से कभी न कभी असत्य बोला जा सकता है, जबकि केवली मृषाभाषण से रहित होते हैं।

(३) छद्मस्थ से कभी न कभी अदत्तादान का सेवन भी हो जाता है, जबकि केवली अदत्त वस्तु पर अपना स्वामित्व या अधिकार जताकर उसे ग्रहण नहीं करता।

(४) छद्मस्थ व्यक्ति शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँचों का राग (आसक्ति) पूर्वक सेवन करता है, जबकि केवली इन पाँचों इन्द्रिय-विषयों का रागपूर्वक आस्वादन नहीं करता।

(५) छद्मस्थ अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा वस्त्रादि द्वारा सत्कार का अनुमोदन करता है, यानी वह अपनी पूजा तथा सत्कारादि से प्रसन्न होता है, जबकि केवली अपनी पूजा-सत्कार आदि का अनुमोदन नहीं करता।

(६) छद्मस्थ आधाकर्म आदि दोष से युक्त वस्तु को सावद्य (सदोष) जानता हुआ–कहता हुआ भी उसका सेवन करता है, जबकि केवली सावद्य को सावद्य (सदोष) जानता और कहता हुआ, उस वस्तु का भेदन नहीं करता।

(७) छद्मस्थ जैसा कहता है, वैसा करता नहीं है, अर्थात् वह कहता कुछ और करता कुछ है, जबकि केवली जैसा कहता है, वैसा करता है।[2]

---

१. केवली अंतकरं वा अंतिम-सरीरयं वा, चरम-कम्मं वा चरम-निज्जरं वा जाणति पासति। छउमत्थे णो जाणति-पासति। सोच्चा जाणति पासति, पमाणतो वा।

–भगवती, श. ५, उ. ४, सू. २६/१-३ तथा २७

२. स्थानांगसूत्र, स्था. ७, सू. २८-२९

केवली में दस अनुत्तररूप विशेषताएँ

इसी प्रकार 'स्थानांगसूत्र' में केवली भगवान की विशेषता बताते हुए कहा है– उनमें दस बातें अनुत्तर होती हैं। जिससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु न हो, यानी जो सबसे उत्कृष्ट हो, उसे अनुत्तर कहते हैं। केवलज्ञानी परमात्मा में दस अनुत्तर इस प्रकार हैं–

(१) अनुत्तर ज्ञान–ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए केवली भगवान का ज्ञान अनुत्तर कहलाता है।

(२) अनुत्तर दर्शन–दर्शनावरणीय अथवा दर्शनमोहनीय के सम्पूर्ण क्षय से केवल दर्शन (अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन) उत्पन्न होता है। उससे बढ़कर कोई दर्शन नहीं है।

(३) अनुत्तर चारित्र–चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनुत्तर (यथाख्यात) चारित्र उत्पन्न (या प्रकट) होता है।

(४) अनुत्तर तप–केवली के शुक्लध्यानादि रूप अनुत्तर तप होता है।

(५) अनुत्तर वीर्य–वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से अनन्त अनुत्तर वीर्य (आत्मिक शक्ति) प्रकट होता है।

(६) अनुत्तर क्षान्ति (क्षमा) = क्रोध का उत्पन्न न होना।

(७) अनुत्तर मुक्ति–उत्कृष्ट निर्लोभता = बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह (सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ) के प्रति ममता-मूर्च्छा का अभाव।

(८) अनुत्तर आर्जव (उत्कृष्ट सरलता)–निश्चलता, मायाकपट का अभाव।

(९) अनुत्तर मार्दव (उत्कृष्ट मृदुता = कोमलता)–अहंकार-मद-मत्सर आदि का अभाव।

(१०) अनुत्तर लाघव (हलकापन-लघुता)–घातिकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उन पर संसार का = कर्मों का या जन्म-मरणादि का बोध नहीं रहता। क्षान्ति आदि ५ चारित्र के भेद हैं और ये चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं।[1]

ये पाँच कारण केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने में बाधक नहीं

केवली को उत्पन्न होता हुआ केवलज्ञान-केवलदर्शन अपने प्राथमिक क्षणों में स्तम्भित नहीं होता–(१) पृथ्वी को छोटी या अल्पजीव वाली देखकर, (२) कुन्थुआ

---

१. स्थानांगसूत्र, स्था. १०, सू. १३८

आदि क्षुद्र जीवों से भरी पृथ्वी को देखकर, (३) बड़े-बड़े महोरगों (सर्पों) के शरीरों को देखकर, (४) महर्द्धिक, महाद्युतिक, महानुभाव, महायशस्वी, महाबली, महान् सुखी देवों को देखकर, (५) पुरों, ग्रामों, नगरों, खेटों आदि के चौराहों, तिराहों, छोटे-बड़े मार्गों, गलियों, नालियों, श्मशानों, शून्यगृहों, गुफाओं, शान्तिगृहों, शैलगृहों, उपस्थानगृहों आदि भवनगृहों में दबे हुए बड़े-बड़े विस्मृत प्रायः उत्तराधिकारीरहित तथा नष्टप्राय मार्ग वाले महानिधानों को देखकर। जबकि अवधिज्ञानी अवधिदर्शनी को उत्पन्न होता हुआ अवधिज्ञान-दर्शन इन्हें देकर प्राथमिक क्षणों में ही स्तम्भित हो जाता है। कारण यह है कि अवधिज्ञानी हीन संहनन और हीन सामर्थ्य वाले होते हैं, इस कारण वे उक्त पाँच कारणों में से एक भी कारण उपस्थित होने पर अपने उपयोग से विचलित-विस्मित हो सकते हैं, जबकि केवलज्ञानी के वज्रऋषनाराच संहनन होता है, घोरातिघोर परीषह और उपसर्गों से भी वह चलायमान नहीं होता। फिर जिनका मोहकर्म दसवें गुणस्थान में ही क्षीण हो चुका है, उनके विस्मय, भय, लोभ आदि का कोई कारण शेष नहीं रहता। ऐसे क्षीणमोही परम वीतराग पुरुष के पाँच तो क्या सैकड़ों विघ्न-बाधाएँ भी उपस्थित हो जाएँ, तो भी वे उत्पन्न होते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन को नहीं रोक सकतीं।[1]

केवली पाँच कारणों से परीषहों–उपसर्गों को समभाव से सहते हैं

इसी शास्त्र में बताया गया है कि पाँच कारणों से केवली उदयागत परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचल भाव से सहते हैं, क्षान्ति रखते हैं, तितिक्षा रखते हैं और उनसे प्रभावित नहीं होते–(१) यह पुरुष निश्चय ही दृप्तचित्त है, (२) विक्षिप्तचित्त है, (३) यह यक्षाविष्ट है, (४) मेरे इस भव में वेदन करने योग्य कर्म उदय में आ रहा है, इसीलिए यह मुझ पर आक्रोश करता है, मुझे गाली देता है, उपहास करता है, मुझे धमकी देता है, मेरी भर्त्सना करता है, मुझे बाँधता, रोकता या छविच्छेद करता है अथवा वधस्थान में ले जाता है, उपद्रुत करता है अथवा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि का छेदन, भेदन या अपहरण करता है, (५) मुझे सम्यक् प्रकार से अविचल भाव से परीषहों और उपसर्गों को सहन आदि करते देखकर बहुत-से अन्य छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदयागत परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से अविचल भाव से सहेंगे, क्षान्ति और तितिक्षा रखेंगे, उनसे प्रभावित नहीं होंगे।[2]

---

१. स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. १, सू. २२, विवेचन सहित (आ. प्र. समिति, ब्यावर)
२. वही, स्था. ५, उ. १, सू. ७३

केवलज्ञानी के अन्य कुछ लक्षण

जैसे छद्मस्थ मनुष्य हँसता है या उत्सुक होता है, वैसे केवली मनुष्य न तो हँसता है, न ही उत्सुक होता है, क्योंकि उसके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय हो चुका है। इसी तरह केवली पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा की मित और अमित सभी वस्तुओं को जान-देख सकता है। केवली सर्वज्ञ भगवान समस्त वस्तुओं को जानता-देखता है। सर्वतः (सब ओर से), सर्वकाल में, सर्वभावों (पदार्थों) को जानता-देखता है। केवलज्ञानी के अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है। वह आरगत, पारगत यावत् सभी प्रकार के दूरवर्ती निकटवर्ती शब्दों को सुनता-जानता है। छद्मस्थ सर्व पदार्थों को जानता-देखता नहीं।[1]

केवली के परिचय के लिए अन्य विशेषताएँ भी

'भगवतीसूत्र' में छद्मस्थ और केवली के अन्तर को बताते हुए केवली की अन्य कतिपय विशेषताएँ भी बताई हैं कि अन्तकर, अन्तिमशरीरी, चरमकर्म (शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय में अनुभव होने वाले कर्म) को तथा चरमनिर्जरा को (उसके अनन्तर समय में जो अवशिष्ट समस्त कर्म जीव प्रदेशों से झड़ जाते हैं, उन्हें) केवली मनुष्य पारमार्थिक प्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) से जानते-देखते हैं, जबकि छद्मस्थ मनुष्य केवली की तरह पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप में इन्हें नहीं जानता-देखता; किन्तु किसी केवली से, केवली के श्रावक या श्राविका से, केवली के उपासक या उपासिका से, केवली पाक्षिक (स्वयंबुद्ध) से या केवली पाक्षिक के श्रावक-श्राविका अथवा उपासक-उपासिका आदि में से किसी भी एक से सुनकर जानता और देखता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम आदि प्रमाणों द्वारा भी वह जान-देख सकता है।[2]

प्रथमसमयवर्ती केवली के चार घातिकर्म क्षीण हो जाते हैं, चार अघातिकर्म शेष रहते हैं

'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि प्रथमसमयवर्ती केवली के चार कर्मांश (घातिकर्म) क्षीण हो जाते हैं–मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय। जबकि मोहनीयकर्म के क्षय होते ही, बाकी के तीन घातिकर्म क्षीणमोही अर्हत के ज्ञानावरणीयादि एक साथ तत्काल क्षीण हो जाते हैं तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने के पश्चात् केवली जिन अर्हत चार कर्मांशों (सत्कर्मों) (अघातिकर्मों) का वेदन करते हैं। जैसे–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र

---

१. भगवतीसूत्र, श. ५, उ. ४, सू. १, ४, ६
२. वही, श. ५, उ. ४, सू. २५-२८, पृ. ४४७-४४९

कर्म। जबकि सिद्ध-परमात्मा के ये चारों अघातिकर्मों का एक-साथ क्षय हो जाता है।[1]

केवली कदापि यक्षाविष्ट नहीं होते, न ही सावद्य या मिश्र भाषा बोलते हैं

अन्यतीर्थिकों ने केवली के विषय में जो आक्षेप किया है कि वे यक्षाविष्ट हो जाते हैं, तब कभी-कभी मृषा और सत्यामृषा (मिश्र) भाषा भी बोलते हैं, इसका खण्डन करते हुए भगवान महावीर ने कहा–केवली न तो कदापि यक्षाविष्ट होते हैं और न मृषा तथा सत्यामृषा भाषा बोलते हैं। केवली अनन्तवीर्य सम्पन्न होते हैं, इसलिए वे किसी भी देव के आवेश से आविष्ट नहीं होते। जब वे कदापि यक्षाविष्ट होते ही नहीं, तब उनके द्वारा मृषा और सत्यामृषा भाषा बोलने का सवाल ही नहीं आता। फिर केवली तो राग-द्वेष-मोह से सर्वथा रहित, सदैव अप्रमत्त होते हैं, वे सावद्य भाषा बोल ही नहीं सकते।[2] वैसे शास्त्रों में यत्र-तत्र अनेक प्रकार से केवलज्ञानी होने के विविध वृत्तान्त पाये जाते हैं। उन पर हम केवली के ये प्रकार निश्चित कर सकते हैं–(१) सयोगी केवली, (२) अयोगी केवली, (३) अन्तकृत् केवली, (५) प्रथमसमय केवली, (६) अप्रथमसमय केवली, (६) प्रत्येकबुद्ध केवली, (७) स्वयंबुद्ध केवली, (८) बुद्धबोधित केवली, (९) चरमशरीरी केवली, (१०) स्नातक निर्ग्रन्थ केवली, (११) केवली-समुद्घातकर्त्ता केवली, (१२) केवली-समुद्घातअकर्त्ता केवली, (१३) क्षीणमोही केवली, (१४) गृहस्थावस्था में हुए केवली, (१५) क्षीणभोगी केवली, (१६) तीर्थंकर केवली।

तीर्थंकर की अपेक्षा से परम अवधिज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी भी केवली, जिन, अर्हंत कहे जाते हैं

इनमें अयोगी केवली के सिवाय अन्य सभी केवली भूतपूर्व अवस्था को लेकर प्रतिपादित किये गये हैं। अन्य सभी केवली चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके ही केवली बनते हैं, अन्यथा नहीं। फिर भी शास्त्रकारों ने पूर्वावस्था को लेकर अवधिज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी को भी किसी अपेक्षा से केवली, जिन और अरिहंत कहा है। उसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि तीर्थंकर को जन्म से ही परम अवधिज्ञान होता है और दीक्षा लेने के पश्चात् मनःपर्यायज्ञान भी हो जाता है, बाद में उनका केवली होना अवश्यम्भावी होने से तीर्थंकरों की अपेक्षा से परम अवधिज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी तीर्थंकर भी केवली और जिन या अर्हंत में समाविष्ट कर लिये प्रतीत होते हैं।[3]

---

१. स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. ४२-४४ तथा स्था. ३, उ. ४, सू. ५२७
२. भगवतीसूत्र, श. १८, उ. ७, सू. २
३. स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४, सू. ५१२-५१४

सामान्य (भवस्थ) केवली और सिद्ध केवली में अन्तर

सयोगी केवली को हम भवस्थ केवली कह सकते हैं। सिद्ध केवली वह है, जो आठों ही कर्मों से, जन्म-मरण से, मन-वचन-काया से रहित निरंजन, निराकार और अशरीरी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके हैं। 'भगवतीसूत्र' के १४वें शतक में भवस्थ (सयोगी केवली) और सिद्ध (अयोगी) केवली के ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं–क्या (भवस्थ) केवली और सिद्ध भगवान दोनों छद्मस्थ को, अवधिज्ञानी को परम अवधिज्ञानी को, समस्त केवलज्ञानियों को तथा केवलज्ञानी सिद्ध को जानते-देखते हैं? तथैव सिद्ध भी (दूसरे) सिद्ध को जानते-देखते हैं? इस सब प्रश्नों का उत्तर भगवान ने 'हाँ' में दिया है। आगे का प्रश्न है–क्या केवली और सिद्ध भगवान दोनों बोलते हैं और प्रश्न का उत्तर भी देते हैं तथा वे दोनों आँखें खोलते-मूँदते भी हैं? शरीर का आकुंचन-प्रसारण करते हैं तथा खड़े होते एवं स्थिर रहते (बैठते, करवट बदलते या लेटते) एवं निवास करते अथवा अल्पकालिक निवास करते हैं? इनके उत्तर में भगवान ने कहा–"केवली बोलने से लेकर अल्पकालिक निवास क्रिया तक करते हैं, क्योंकि उनके मन-वचन-काया तीनों का योग है; जबकि सिद्ध प्रभु बोलने से लेकर निवास करने तक की क्रिया नहीं करते, क्योंकि (भवस्थ) केवली सयोगी होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार–पराक्रम से सहित हैं; जबकि सिद्ध भगवान अशरीरी–अयोगी होने से उत्थानादि से रहित हैं। इसी प्रकार केवली और सिद्ध भगवान दोनों प्रथम नरक की रत्नप्रभा पृथ्वी से लेकर ईषत्-प्राग्भार पृथ्वी तक जानते-देखते हैं तथा परमाणु-पुद्गल, द्विप्रदेशी स्कन्ध एवं यावत् अनन्तदेशी स्कन्ध को भी जानते-देखते हैं।[1] यह हुई सयोगी केवली और अयोगी केवली (सिद्ध भगवान) के अन्तर की संक्षिप्त झाँकी।

सामान्य केवली और सिद्ध केवली में मूलभूत अन्तर

सामान्य केवली और सिद्ध (मुक्त) केवली में दूसरा सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जिसके सम्बन्ध में 'प्रज्ञापनासूत्र' में प्रश्न प्रस्तुत करके समाधान दिया गया है–सभी प्रकार के केवली तो कृतकृत्य और अनन्त ज्ञानादि से परिपूर्ण होते हैं, उनका प्रयोजन शेष नहीं रहता; फिर उन्हें (सात प्रकार के समुद्घातों में से) केवली

---

१. जहा णं केवली छउमत्थं जाणति पासति, तहा णं सिद्धे वि छउमत्थं जाणति पासति। एवं आहोहियं परमाहोहियं वि जाणति पासति। जहा णं केवली सिद्धं जाणति पासति, तहा णं सिद्धे वि सिद्धं जाणति पासति। जहा णं केवली भासेज्ज वा, वागरेज्ज वा, णो तहा णं सिद्धे भासेज्ज वा वागरेज्ज वा। केवली णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे; सिद्धे णं अणुट्ठाणे जाव अपुरिसपरक्कमे। एवं जहा णं केवली उम्मिसेज्ज वा निमिसेज्ज वा, आउट्टेज्ज वा, पसारेज्ज वा एवं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएज्जा, णो तहा सिद्धे·····। —भगवतीसूत्र, श. १४, उ. १०, सू. १-२४, संक्षिप्त

समुद्घात करने की क्या आवश्यकता ? इसके समाधान में वहाँ कहा गया है कि केवली अभी पूर्ण रूप से कृतकृत्य, आठों ही प्रकार के कर्मों से रहित, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हुए, उनके भी चार अघातिकर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म) शेष हैं, जोकि भवोपग्राही कर्म हैं। अतः केवली के ये चार अघातिकर्म अभी क्षीण नहीं हुए, क्योंकि उनका पूर्णतः वेदन (भोगना) नहीं हुआ। कहा भी है– "नाभुक्तं क्षीयते कर्मः।" सर्वकर्मों का नियमतः क्षय तो तभी होता है, जब उनका प्रदेशों से और विपाक से वेदन कर (भोग) लिया जाये। अर्थात् उनका फल भोगकर निर्जरा कर दी जाये। 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि प्रथमसमय केवली चार घातिकर्मांशों का क्षय कर देते हैं तथा चार अघातिकर्मांशों का वेदन करते (भोगते) हैं। अतः सामान्य केवलियों के चार अघातिकर्मों का क्षय करना बाकी है, जबकि सिद्ध केवलियों ने आठों कर्म भोगकर क्षय कर दिये हैं।[1]

सामान्य केवलियों के लिए यह नियम है कि उनके द्वारा (अवशिष्ट) चारों (सभी) (अघाती) कर्म प्रदेशों से भोगे जाते हैं, विपाक से भोगे जाने की भजना है (नियमा नहीं)। चूँकि सामान्य केवलियों द्वारा पूर्वोक्त चारों अघातिकर्मों का वेदन नहीं हुआ, इसलिए उनकी निर्जरा नहीं हुई। अर्थात् वे कर्म आत्म-प्रदेशों से पृथक् नहीं हुए। इन चारों (अघाति) कर्मों में वेदनीयकर्म सर्वाधिक प्रदेशों वाला होता है, नाम और गोत्र भी अधिक प्रदेशों वाले होते हैं, परन्तु आयुष्यकर्म के बराबर नहीं। आयुष्यकर्म सबसे कम प्रदेशों वाला होता है। तीर्थंकर केवली हों या सामान्य केवली, जब शेष तीन कर्म, आयुष्यकर्म के बराबर न हों तो, वे उन विषम स्थिति और बन्ध वाले कर्मों को आयुकर्म के बराबर करते हैं, ऐसे केवली के केवली

---

१. (क) केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अक्खीणा अवेदिया अणिज्जिण्णा भवंति, तं जहा–वेयणिज्जे जाव गोए।
सव्व-बहुप्पएसे वेयणिज्जे कम्मे भवति।
सव्व-थोवेसे आउए कम्मे भवति॥
विसमं समं करेति बंधणेहिं ठितीहिं य।
विसम-समीकरणयाए बंधणेहिं ठितीहिं य॥२२८॥
एवं खलु केवली समोहण्णति, एवं खलु समुग्घायं गच्छति।
सव्वे वि केवली णो समोहण्णंति, णो समुग्घायं गच्छंति॥
जस्साऽऽउएण तुल्लाइं बंधणेहिं ठितीहिं य।
भवोवग्गह कम्माइं समुग्घायं से ण गच्छति॥२२९॥
(ख) से णं तत्थ सिद्धा भवंति–असरीरा जीवघणा दंसण-णाणोवउत्ता णिट्ठियट्ठा णीरया णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति। . . . . से जहा णामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ति न हवइ; एवमेव सिद्धाणं वि कम्म बीएसु दड्ढेसु पुणरवि जम्मुप्पत्ती न हवति। से तेणट्ठेणं . . . .।
–प्रज्ञापनासूत्र, पद ३६, सू. २१७०, २१७६

समुद्घात होती हैं। अर्थात् केवली समुद्घात करने का सामन्य केवली या तीर्थंकर केवली का यही प्रयोजन है कि जो कर्म बन्ध से और स्थिति से सम नहीं हैं, उन्हें सम करके, चारों अघातिकर्म एक साथ क्षय हो सकें। योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) के निमित्त से जो कर्म आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक होते हैं, उन्हें कहते हैं–बन्धन; और कर्मों के वेदन के काल को कहते हैं–स्थिति। समुद्घात करने वाले केवली बन्धन और स्थिति, दोनों से वेदनीयादि तीन कर्मों को आयुष्यकर्म के बराबर करते हैं।

जिन केवलियों को आयुष्यकर्म का बन्धन और उसकी स्थिति वेदनीयादि शेष तीन भवोपग्राही कर्मों के तुल्य होती है, वे केवली समुद्घात नहीं करते। वे केवली समुद्घात किये बिना ही शेष चारों अघातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध एवं सर्वकर्ममुक्त तथा जन्म-मरणादि से रहित हो जाते हैं। ऐसे केवली बिना समुद्घात किये ही सिद्ध केवली बन जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध हुए हैं, परन्तु हुए हैं पहले सामान्य केवली होकर ही।[1]

सयोगी केवली योगों का पूर्ण निरोध किये बिना अयोगी केवली नहीं बन सकते

एक बात और, जब तक सामान्य केवली सयोगी है, तब तक वह सिद्ध–पूर्ण मुक्त नहीं हो सकते। अर्थात् सामान्य केवली यानी सयोगी केवली पहले काययोग का, फिर वचनयोग का और अन्त में मनोयोग का निरोध करके ही अयोगी केवली बन सकते हैं, पहले नहीं। अयोगत्व-प्राप्ति के अनन्तर ही वे एक साथ चार अघातिकर्मों का क्षय कर डालते हैं, इसके तुरन्त बाद ही औदारिक, तैजस् और कार्मण, इन तीनों शरीरों का भी सदा के लिए पूर्णतया त्याग कर देते हैं। फिर तत्काल ऋजु श्रेणी को प्राप्त होकर अस्पृशत् गति से एक समय में अविग्रह गति (बिना मोड़ की गति) पूर्वक ऊर्ध्वगमन करके साकारोपयोग से युक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त एवं परिनिर्वृत्त हो जाते हैं तथा सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं।[2]

सिद्ध केवली की विशेषताएँ–अर्हताएँ

इसके विपरीत सर्वकर्ममुक्त हो जाने से समुद्घात आदि करने की सिद्धों–मुक्तों को जरूरत नहीं पड़ती। सामान्य केवली सशरीर होते हैं, जबकि सिद्ध केवली अशरीरी, सघन–आत्म-प्रदेशों वाले, दर्शन और ज्ञान के उपयोग से युक्त होते हैं, वे कृतार्थ (निष्ठितार्थ), नीरज (कर्मरज से रहित), निष्कम्प, अज्ञानतिमिरि से रहित और पूर्ण विशुद्ध तथा शाश्वत अनागतकाल तक रहते हैं। सिद्ध केवली के

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, विवेचन, पद ३६, सू. २१७० (आ. प्र. स., ब्यावर)
२. स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. १४२-१४३

वे विशेषण सामान्य केवली या तीर्थंकर केवली तक में घटित नहीं होते। सिद्ध केवलियों को अशरीरी नीरज, कृतार्थ, निष्कम्प, पूर्ण विशुद्ध आदि इसलिए कहा गया है कि जैसे अग्नि से जले हुए बीजों से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही सिद्ध केवलियों के समस्त कर्मरूपी बीज केवलज्ञानरूपी अग्नि से भस्म हो चुके होते हैं, इसलिए फिर से उनकी (सर्वकर्मों की) उत्पत्ति नहीं होती। जन्म का कारण कर्म है और सिद्धों के समस्त कर्मों का समूल नाश हो चुका है। कर्मबीज के कारण हैं– राग-द्वेष। सिद्धों के राग-द्वेष आदि समस्त विकारों का सर्वथा अभाव हो जाने से पुनः कर्म का बन्ध भी सम्भव नहीं है। सिद्ध केवलियों में रागादि वेदनीय कर्मों का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि वे शुक्लध्यानरूप अग्नि से पहले ही उन्हें भस्म कर चुकते हैं और उनके कारण संक्लेश भी सिद्धों में सम्भव नहीं है। रागादि वेदनीय कर्मों का अभाव होने से पुनः रागादि की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं है। कर्मबन्ध के अभाव में पुनर्जन्म न होने के कारण सिद्ध सदैव सिद्धदशा में रहते हैं; क्योंकि रागादि वेदन का अभाव होने से आयु आदि कर्मों की भी पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण सिद्ध केवलियों का पुनर्जन्म नहीं होता।[1]

यों तो सामान्य केवली का भी मोक्षगमन निश्चित हो जाता है, उनके भी रागादि नष्ट हो जाते हैं, किन्तु सिद्धदशा की गारंटी हो जाने पर भी चार भवोपग्राही कर्म (अघातिकर्म) जब तक उनकी आत्मा से वियुक्त नहीं हो (छूट नहीं) जाते, तब तक वे पूर्ण मुक्त, सिद्ध नहीं हो पाते।

अन्तकृत् केवली और सामान्य केवली में अन्तर

यद्यपि अन्तकृत केवली और सामान्य केवली दोनों ही उसी भव में जन्म-मरण का, कर्मों का तथा सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं, किन्तु अन्तकृत् केवली की यह विशेषता है कि वे केवलज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त ही सर्वकर्मों, सर्वदुःखों तथा जन्म-मरणादि का अन्त कर देते हैं, जबकि सामान्य केवली केवलज्ञान होने के बाद दीर्घकाल तक रहकर सर्वकर्म-दुःख-जन्म-मरणादि का अन्त करते हैं। यही अन्तकृत् केवली और सामान्य केवली में अन्तर है।

अन्तकृद्दशा (अंतगड़दसा) सूत्र में जिन ९० महान् आत्माओं का वर्णन है, उन सभी ने केवलज्ञान होने के तुरन्त बाद ही सर्वकर्मों, दुःखों तथा जन्म-मरणादि का अन्त कर दिया था। इसलिए वे सभी अन्तकृत् केवली कहलाते हैं। 'भगवतीसूत्र' (श. १, उ. २), 'प्रज्ञापना' (२०वाँ पद) तथा 'स्थानांग' (स्था. ४) में जो अन्तःक्रिया करने वालों का वर्णन है। यानी कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया अथवा जिस क्रिया के बाद फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पड़े, ऐसी मोक्ष-प्राप्ति

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, विवेचनयुक्त, पद ३६, सू. २१७६ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

की क्रिया अन्तःक्रिया है। ऐसी अन्तःक्रिया करने वाले भी अन्तकृत् केवली कहलाते हैं। अन्तःक्रिया सम्बन्धी वर्णन हम मोक्ष के प्रकरण में कर आये हैं। कर्मविज्ञान की शर्त यह है कि अन्तकृत् केवली हो या अवधिज्ञानी या छद्मस्थ साधक हो, भले ही तपस्या या रोगादि से उसका शरीर अशक्त और क्षीण हो गया हो, भले ही मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो, भोग भोगने में शरीर असमर्थ हो, किन्तु इतना क्षीण शरीर होने पर भी जब तक वह मन और वचन से भी स्वाधीन और अस्वाधीन समस्त भोगों का परित्याग कर देगा, तभी वह भोगत्यागी केवली या अन्य ज्ञानी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकेगा या महानिर्जरा-महापर्यवसान से युक्त हो सकेगा।

अन्तकृत् केवली चरमशरीरी भी कहलाता है

अन्तकृत् केवली को चरमशरीरी या अशरीरी भी कहा जाता है। चरमशरीरी से तात्पर्य है जिसका यही अन्तिम शरीर है। इसके पश्चात् जो अब तीनों प्रकार के शरीरों (औदारिक, तैजस् और कार्मण शरीर) को धारण नहीं करेगा। फलतः वह अशरीरी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, निरंजन-निराकार) हो जायेगा, वह चरमशरीरी कहलाता है। 'भगवतीसूत्र' में इस तथ्य को पुनः-पुनः दोहराया गया है कि अतीत, अनागत और वर्तमान शाश्वतकाल में जिन अन्तकरों ने अथवा चरमशरीरी मानवों ने समस्त दुःखों का अन्त किया है, करते हैं या करेंगे, वे सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, जिन, अर्हन्त और केवली होने के पश्चात् ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आदि होंगे, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे।" तात्पर्य यह है कि मनुष्य चाहे कितना ही उच्च संयमी हो, ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान तक पहुँचा हुआ हो, किन्तु जब तक उसे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त न हो, तब तक वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो सकता, न हुआ है और न होगा। अवधिज्ञानी सामान्य या परम अवधिज्ञानी, जो लोकाकाश के सिवाय अलोक के एक प्रदेश को भी जान लेता हो, वह उसी भव में मोक्ष जाता है, किन्तु जाता है केवली होकर ही।[1] भव्य जीव ही मनुष्य-भव पाकर अन्तःक्रिया कर सकता है।

चरमशरीरी को ये सत्तरह बातें प्राप्त हो जाती हैं

'धर्मबिन्दु ग्रन्थ' में चरमशरीरी की पहचान के लिए उसे प्राप्त १७ बातें बताई गई हैं। अर्थात् जो जीव उसी भव में मोक्ष जाने वाला होता है उसे पुण्य (शुभ कर्म) के उदय से निम्नोक्त १७ बातें प्राप्त होती हैं–

(१) चरमशरीरी को परिणाम में भी प्रायः रमणीय तथा उत्कृष्ट विषयसुख प्राप्त होते हैं।

---

१. भगवतीसूत्र, विवेचन, खण्ड १, श. १, उ. ४, सू. १७ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

(२) उसमें अपनी जाति, कुल, सम्पत्ति, वय तथा अन्य किसी भी प्रकार से हीनता का भाव नहीं आता, न ही रहता है।

(३) उसे दास-दासी आदि द्विपद तथा हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस आदि चतुष्पद की उत्तम समृद्धि प्राप्त होती है।

(४) उसके द्वारा अपना और दूसरों का महान् उपकार होता है।

(५) उसका चित्त बहुत निर्मल होता है। वह सदैव उत्तम विचार करता है।

(६) वह सभी बातों में धर्म को ही प्रधान (मुख्य) मानता है।

(७) विवेक द्वारा वस्तु का सच्चा स्वरूप जाने के कारण उसकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती।

(८) उसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध होने वाले तथा अप्रतिपाती चारित्र की प्राप्ति होती है।

(९) वह चारित्र के साथ इतना तन्मय या एकमेक हो जाता है कि चारित्र-पालन करना उसका स्वभाव बन जाता है। अर्थात् उसके जीवन में सम्यक् (शुद्ध) चारित्र इस तरह परिणमित हो जाता है कि उससे बुरा काम कदापि नहीं होता।

(१०) वह भव्य प्राणियों को संतोष और आश्वासन देता है।

(११) वह मन के व्यापार (प्रवृत्ति) का निरोध करता है, इसी कारण उसे शुभ या शुद्ध ध्यानरूपी सुख की प्राप्ति होती है।

(१२) उसे आमर्ष-औषधि आदि उत्कृष्ट लब्धियाँ (सिद्धियाँ) प्राप्त हो जाती हैं।

(१३) उसे अपूर्वकरण (आठवाँ गुणस्थान) प्राप्त हो जाता है।

(१४) इसके पश्चात् क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। जिससे वह क्षीणमोही वीतराग एवं केवली बन जाता है, उसके लिए फिर निश्चित ही मोक्ष का द्वार खुल जाता है। 'क्षपकश्रेणी के स्वरूप, कारण और लाभ'[1] के विषय में कर्मविज्ञान के पंचम भाग में हम विस्तार से निरूपण कर चुके हैं।

(१५) वह मोहनीयकर्मरूपी महासागर को सुखपूर्वक पार कर लेता है।

---

१. देखें-कर्मविज्ञान, पंचम भाग में-'ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग : उपशमन और क्षपण' शीर्षक निबन्ध

(१६) ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने से उसे (चरमशरीरी को) केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है।

(१७) फिर उस चरमशरीरी को परम (अनन्त अव्याबाध) आत्म-सुख की प्राप्ति होती है।[1]

भोगों का त्रिविध योगों से परित्याग करने पर ही वे उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं

'भगवतीसूत्र' (श. ७, उ. ७) में केवली के लिए जैसे कहा गया है कि तपस्या या रोगादि से शरीर क्षीण और अशक्त होने के बावजूद तब तक उसे क्षीणभोगी को भोगत्यागी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका शरीर भोगों को भोगने में असमर्थ होने पर भी वह दुर्बल मानव अन्तिम अवस्था में जीता हुआ भी मन और वचन से भोगों को भोगने में समर्थ होता है, इसलिए क्षीणभोगी भी भोगत्यागी तभी कहलायेगा, जब वह मन-वचन-काया से भोगों का परित्याग कर देता है। ऐसा भोगी छद्मस्थ हो, अधोऽवधिक (नियत क्षेत्र का अवधिज्ञानी) हो या परमावधिक (परमावधिज्ञानी) हो, जो उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त यावत् सर्वदुःखों का अन्त करने वाला, चरमशरीरी हो अथवा वैसी ही योग्यता वाला केवली हो, उनमें से छद्मस्थ को देवलोक-प्राप्ति, अधोऽवधिक को महानिर्जरा या महापर्यवसान की प्राप्ति एवं परमावधिज्ञानी चरमशरीरी या केवली चरमशरीरी को तभी वे उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी, जब वे स्वाधीन या अस्वाधीन समस्त भोगों का मन-वचन-काया से परित्याग कर देंगे।[2] परमावधिज्ञानी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है।

तीर्थंकर केवली और प्रत्येकबुद्ध केवली आदि में अन्तर

तीर्थंकर केवली और प्रत्येकबुद्ध केवली में केवलज्ञान की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है; किन्तु तीर्थंकर केवली की यह विशेषता है कि पहले उनके तीर्थंकर नामगोत्रकर्म बँध जाता है, उसके पश्चात् अगर उनके द्वारा पहले ही नारकों या देवों में उत्पन्न होने का निकाचित बन्ध हो गया हो तो उन्हें उस गति में अवश्य जाना पड़ता है। जैसे श्रेणिक राजा ने सम्यक्त्व-ग्रहण करने से पूर्व ही नरक का आयुष्य बाँध लिया था। बाद में तीर्थंकर नामगोत्रकर्म बाँधने तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने के बावजूद भी उन्हें नरक में जाना पड़ा।

---

१. (क) धर्मबिन्दु, अ. ८, सू. ४८४-४८६
(ख) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ५, बोल ८८६

२. भगवतीसूत्र, श. ७, उ. ७, विवेचनयुक्त पाठ, सू. २०-२३ (आ. प्र. स., ब्यावर)

प्रत्येकबुद्ध केवली किसी एक वस्तु को देखकर उस पर अनुप्रेक्षण करते-करते प्रतिबुद्ध होते हैं और दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। जैन इतिहास में ऐसे चार प्रत्येकबुद्ध प्रसिद्ध हैं–(१) नमिराजर्षि, (२) द्विमुखराय, (३) नग्गति, और (४) करकण्डू।

नमिराज के शरीर में दाहज्वर का भीषण प्रकोप हुआ। उसे शान्त करने के लिए रानियाँ चन्दन घिसने लगीं। हाथों के हिलने से चूड़ियों की ध्वनि कानों को अप्रिय लगने लगी। उस आवाज को बन्द करने हेतु सभी रानियों ने सौभाग्य-चिह्नस्वरूप एक-एक चूड़ी रखी। इससे आवाज बन्द सुनकर नमिराज ने कारण जानना चाहा तो बताया गया–हाथ में एक-एक चूड़ी रखने से आवाज कैसे होती? इसे सुनकर नमिराज प्रबुद्ध हो गये और एकत्वभावना में डुबकी लगाने लगे। फिर नौकर-चाकर, धन-वैभव, स्वजन-पुरजन आदि सभी समूह को परभाव समझकर छोड़ दिया। एकाकी बनकर स्व-भाव में रमण करने लगे। संयमी बनकर तप-संयम से आत्मा को भावित करके चार घातिकर्म क्षय किये, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया, बाद में सर्वकर्ममुक्त हुए।

द्विमुखराय ने एक बार एक बारहठ जी की प्रेरणा से चित्रशाला बनाई। उसके बीचोंबीच एक अत्यन्त मोहक इन्द्रध्वज स्थापित करवाया। समारोह सम्पन्न होने के बाद इन्द्रध्वज को उखाड़कर एक ओर रख दिया गया। नहीं सँभालने से उस पर मिट्टी जम गई। विरूप-सा लगने लगा। द्विमुखराय एक दिन उस भद्दे गंदे इन्द्रधनुष को देखकर ऊहापोह करने लगे–यह सारी शोभा तो पर-वस्तुओं से है। शरीर अपने आप में सुन्दर नहीं है, उस पर वस्त्राभूषणादि लपेटने से ही सुन्दर दिखता है। मुझे पराई चमक-दमक नहीं चाहिए। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध होकर उन्होंने सुन्दर लगने वाले वस्त्राभूषण उतार दिये। संयम-साधना द्वारा महामुनि द्विमुख केवली बने, मोक्ष प्राप्त किया।

नग्गति राजा ने वन-भ्रमण के समय फल-फूलों से लदे एक आम्र-वृक्ष को देखा। शीघ्र ही उन्होंने हाथ ऊँचा करके उसका एक गुच्छा तोड़ा। पीछे आने वाले सेवकों ने उस आम्र-वृक्ष के सभी फल-फूल-पत्ते तोड़ डाले। वृक्ष को ठूँठ-सा हुआ देखा तो ऊहापोह करते-करते जातिस्मरण ज्ञान हो गया। प्रतिबुद्ध होकर स्वयं पंचमुष्टि लोच करके साधु बने, केवलज्ञान प्राप्त हुआ, मोक्ष पहुँचे।

करकण्डू गोसेवा-प्रेमी थे। अपनी गोशाला में एक हृष्ट-पुष्ट वृषभ को देखकर प्रसन्न होते थे। किन्तु काफी समय के बाद एक दिन उसी वृषभ को मरियल-सा देखकर उनका चिन्तन फूटा–वृद्धावस्था, रोग और अशक्ति के कारण कितना परिवर्तन बाह्य शरीर में हो जाता है? इन्हीं विचारों की उधेड़बुन में उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। संयम ग्रहण कर मुनिवेश में वे वन की ओर चल दिये।

प्रत्येकबुद्ध बनकर भूमण्डल में विचरण करने लगे। अन्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पहुँचे।

'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि प्रत्येकबुद्ध केवली अपने ही संसार का अन्त करते हैं, जबकि तीर्थंकर केवली 'स्व' और 'पर' दोनों के संसार का अन्त करते हैं।

अनाथी मुनि, समुद्रपालित तथा कपिल केवली आदि स्वयंबुद्ध केवली थे। बुद्धबोधित केवली–किसी ज्ञानी आचार्य या स्वयंबुद्ध आदि द्वारा प्रतिबुद्ध होकर रत्नत्रय की साधना करके केवली होते हैं। प्रत्येकबुद्ध केवली, स्वयंबुद्ध केवली या बुद्धबोधित केवली महासत्त्वशाली होते हैं। ये प्रायः एकाकी विचरण करते हैं। बड़े-से-बड़े परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहते हैं। ये प्रायः संघबद्ध होकर साधना नहीं करते। बुद्धबोधित केवली में हम हरिकेशबल मुनि को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं।[1]

तीर्थंकर केवली की ये विशेषताएँ सामान्य केवली में नहीं होतीं

तीर्थंकर केवली की अन्य विशेषताएँ भी होती हैं, जैसे–पहले बता चुके हैं कि तीर्थंकर नामगोत्रकर्म बाँधने के जो २० बोल हैं (या दिगम्बर परम्परानुसार १६ कारण भावनात्मक बोल हैं), उनमें से एक, अनेक या सभी बोलों की विशुद्ध भावपूर्वक आराधना करने से वे तीर्थंकर नामकर्म बाँधते हैं। तीर्थंकर नामकर्म बाँधते ही उदय में नहीं आता। किन्तु यह निश्चित हो जाता है कि चार घातिकर्मों का क्षय तीर्थंकर के भव में करके अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करेंगे और उस भव का आयुष्य पूर्ण होते ही शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करके वे पूर्ण विदेहमुक्त होंगे।[2] 'उत्तराध्ययनसूत्र' में यह भी बताया है कि दस महान् आत्माओं की उत्कृष्ट भावपूर्वक वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर के भव में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने पर उनको ३४ अतिशय तथा वाणी के ३५ अतिशय प्राप्त होते हैं। ये विशेषताएँ तीर्थंकर में ही होती हैं–सामान्य केवली में नहीं। तीर्थंकर चतुर्विध धर्मतीर्थ रूप संघ की स्थापना करते हैं, उसका संचालन उनके गणधर करते हैं। सामान्य केवली धर्मसंघ की स्थापना नहीं करता। अरिहंत तीर्थंकर १८ दोषों से रहित तथा १२ गुणों से युक्त होते हैं, जबकि

---

१. (क) देखें–प्रत्येकबुद्धों के विशेष विवरण के लिए उत्तराध्ययन का ९वाँ नमिपवज्जा नामक अध्ययन तथा १८वें संजतीय अध्ययन की गा. ४२-५१, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर)

(ख) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र के अ. २० में अनाथी मुनि का तथा अ. २१ में समुद्रपालित स्वयंबुद्ध का वृत्तान्त

२. उत्तराध्ययन, अ. २९, सू. ४३

सामान्य केवली में ये आध्यात्मिक अर्हताएँ तो होती हैं, किन्तु भौतिक अर्हताएँ होनी अनिवार्य नहीं हैं। प्रत्येक युग में ऐसी विशिष्ट अर्हता वाले तीर्थंकर हुए हैं, होते हैं और होंगे। वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में विहरमान बीस तीर्थंकर हैं।

भगवान महावीर के शासन में तीर्थंकर नामगोत्र बाँधने वाले नौ व्यक्ति

'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि भगवान महावीर के धर्मशासन (संघ) में तीर्थंकर नामगोत्र बाँधने वाले ९ व्यक्ति हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) मगध-नरेश श्रेणिक राजा, (२) सुपार्श्व (भगवान महावीर के गृहस्थपक्षीय चाचा), (३) कोणिक-पुत्र उदायी–जिसने कोणिक के बाद पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। वह शास्त्रज्ञ और चारित्रवान् गुरु की सेवा करता था। किसी शत्रु राजा ने उदायी राजा का सिर काटकर लाने के लिए बहुत पारितोषिक देने की घोषणा कर रखी थी। एक नकली साधुवेशी ने पौषधरत उदायी का सिर छुरी से काट लिया। उस समय शुभ ध्यान करते हुए उदायी राजा ने तीर्थंकर गोत्र बाँधा। (४) पोट्टिल अनगार–'अनुत्तरौपपातिकसूत्र' में वर्णित पोट्टिल अनगार से ये पोट्टिल अनगार भिन्न हैं। जो तीर्थंकर होकर भरतक्षेत्र से ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। (५) दृढ़ायु, (६-७) शंख श्रावक और पोक्खली श्रावक–ये दोनों भगवान महावीर के श्रावक थे। व्रत, शील, तपश्चरण आदि करते हुए अन्त में एक मास का संथारा करके प्रथम देवलोक में देव होंगे। यथासमय तीर्थंकर के रूप में जन्म लेकर स्व-पर-कल्याण करते हुए सिद्ध होंगे। (८) सुलसा–प्रसेनजित् राजा के नाग नामक सारथी की पत्नी थी। देव ने इसके सम्यक्त्व की परीक्षा ली, जिसमें पूर्णतया उत्तीर्ण हुई। तीर्थंकर गोत्र बाँधा (९) रेवती–जिसने भगवान महावीर के शरीर में एक बार रक्तातिसार का प्रकोप होने पर उलटभाव से बिजौरापाक बहराया था। उस समय उत्कृष्ट भावों के कारण रेवती ने तीर्थंकर गोत्र बाँधा। ये नौ ही भविष्य में तीर्थंकर होंगे। तीर्थंकर केवली होने के बाद इनका मोक्ष निश्चित है।[1]

निर्ग्रन्थ और स्नातक (निर्ग्रन्थ) केवली

'भगवतीसूत्र' (श. २५, उ. ६) में पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों के विषय में विविध पहलुओं से निरूपण किया गया है। वे पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं–(१) पुलाक,

---

१. (क) देखें–तीर्थंकर केवली के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन कर्मविज्ञान, भा. ८ में 'विशिष्ट अरिहंत : तीर्थंकर' वाले निबन्ध में
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. २, सू. २६१ टीका
(ग) वही, स्था. ९, सू. ६९१
(घ) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ३, बोल १६३

(२) बकुश, (३) कुशील (प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील), (४) निर्ग्रन्थ, और (५) स्नातक। इन पाँचों के जहाँ चारित्र सम्बन्धी पृच्छा की गई है, वहाँ निर्ग्रन्थ और स्नातक में एकमात्र यथाख्यात चारित्र की प्ररूपणा की गई है तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक को मूलगुणों एवं उत्तरगुणों का प्रतिसेवी नहीं बताया गया है। इसके पश्चात् जहाँ इन पाँचों के ज्ञान की चर्चा की गई है, वहाँ निर्ग्रन्थ में चार ज्ञान तक बताए गये हैं, जबकि स्नातक में एकमात्र केवलज्ञान बताया गया है। पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ तक तीनों योगों से युक्त सयोगी होता है किन्तु स्नातक (निर्ग्रन्थ) सयोगी भी होता है, अयोगी भी। निर्ग्रन्थ उपशान्तकषायी वीतरागी भी होता है, क्षीणकषायी वीतरागी भी, जबकि स्नातक एकमात्र क्षीणकषायी वीतरागी होता है। यद्यपि निर्ग्रन्थ जब तक उपशान्तकषायी रहता है, उसका मोह क्षीण नहीं होता, तब तक उसे केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु जो क्षीणकषायी (क्षीणमोही) निर्ग्रन्थ हैं, उनको तथा स्नातक निर्ग्रन्थों को अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। केवली हो जाने के बाद उनका सर्वकर्म मुक्तिरूप मोक्ष भी निश्चित है। स्नातक निर्ग्रन्थ के ५ प्रकार बताये गये हैं–(१) अच्छवी (अछवि या अक्षपी), (२) अशबल, (३) अकर्मांश (घातिचतुष्टयरहित), (४) संशुद्ध (विशुद्ध केवलज्ञान-दर्शनधारक), और (५) अपरिस्रावी (कर्मबन्ध-प्रवाह से रहित)।[1]

गृहस्थ केवली भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं, होते हैं

कतिपय लोगों का मन्तव्य है कि गृहस्थ कभी केवलज्ञानी नहीं हो सकता, किन्तु जैन-कर्मविज्ञान तथा तीर्थंकर भगवान महावीर का यह मन्तव्य नहीं है। उन्होंने १५ प्रकार के सिद्ध बताये हैं, उनमें एक है 'गृहलिंगसिद्धा'। जब गृहस्थवेश में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है, तब गृहस्थवेश में केवली क्यों नहीं हो सकता? मरुदेवी माता गृहस्थवेश में पहले मोहकर्म को क्षय करने के साथ ही, अन्य तीन घातिकर्मों को क्षय करके केवलज्ञानी हुईं, तत्पश्चात् शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं। भरत चक्रवर्ती को शीशमहल में खड़े-खड़े गृहस्थवेश में ही मोहकर्म क्षय होते ही, शेष तीन घातिकर्मों का क्षय हो जाने से केवलज्ञान हो गया था। तत्पश्चात् वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इतना ही नहीं, 'स्थानांगसूत्र' (स्था. ८, सू. ३६) में बताया है कि चातुरन्त चक्रवर्ती राजा भरत के आठ उत्तराधिकारी पुरुषयुग राजा (गृहस्थवेश में) लगातार (केवली होकर) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त और सर्वदुःखों से रहित

---

१. भगवतीसूत्र, विवेचन, खण्ड ३, श. २५, उ. ६, सू. ३, १०, ३३-३४, ४१, ७७-७८, १३१-१३२

हुए। वे ये हैं–(१) आदित्ययश, (२) महायश, (३) अतिबल, (४) महाबल, (५) तेजोवीर्य, (६) कार्तवीर्य, (७) दण्डवीर्य, और (८) जलवीर्य।[1]

अन्यलिंग केवली की प्ररूपणा

सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के १५ प्रकारों में से एक है–'अन्यलिंग सिद्धा।' जैनवेश के सिवाय अन्य परिव्राजक आदि के वेश में भी सिद्ध होते हैं। जब सिद्ध हो सकते हैं, तो उनका केवली होना अनिवार्य है। फलतः अन्यलिंग (वेश) में भी केवलज्ञानी हो सकते हैं। यद्यपि शिवराजर्षि ने पहले दिशाप्रोक्षक तापस दीक्षा ली थी और बेले-बेले तप करने से उनको विभंगज्ञान हो गया, अतिशयज्ञान का मिथ्या दावा करने से तथा शंका-कांक्षादि के कारण उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया था। अतः बाद में भगवान महावीर की सेवा में पहुँचकर यथार्थ समाधान प्राप्त किया, निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ग्रहण की और साधना करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। इसी प्रकार मुद्गल परिव्राजक को भी विभंगज्ञान प्राप्त हुआ, अतिशयज्ञान की घोषणा करने से तथा भगवान महावीर के द्वारा यथार्थ समाधान से शंकित होने से उनका विभंगज्ञान नष्ट हो गया। फिर वे बहुत ही भावनापूर्वक भगवान महावीर की सेवा में पहुँचे। यथार्थ समाधान पाकर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ग्रहण की और साधना करके केवली बने, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[2]

असोच्चा केवली : स्वरूप तथा तत्सम्बन्धित ग्यारह प्रश्न और समाधान

'भगवतीसूत्र' में सोच्चा केवली और असोच्चा केवली का वर्णन आता है। स्थूलदृष्टि वाला व्यक्ति यही सोच लेता है कि केवल प्रवचन सुनने मात्र से या बिना सुने ही, सिर्फ बाह्य भक्ति कर लेने या नामस्मरण करने मात्र से क्रमशः सोच्चा (श्रुत्वा) और असोच्चा (अश्रुत्वा) केवली होते होंगे, परन्तु केवली बनना सस्ता सौदा नहीं है, बहुत ही अध्ययन, मनन, चिन्तन और साहसपूर्वक रत्नत्रय की तथा बाह्याभ्यंतर तपस्या की आराधना-साधना करने से आत्मा जब कर्मों को बहुत हद तक क्षीण कर डालता है, तभी उसके लिए निश्चित हो जाता है कि वह चार घातिकर्मों का क्षय करके शीघ्र ही केवली बनकर सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

असोच्चा केवली उसे कहा जाता है, जो केवली, केवली के श्रावक, श्राविका, उपासक-उपासिका तथा केवलीपाक्षिक (स्वयंबुद्ध), केवलीपाक्षिक के

---

१. (क) देखें–मरुदेवी माता का वृत्तान्त–'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' तथा 'उसहचरिय' में
(ख) देखें–भरत चक्रवर्ती का चरित्र–त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १ में

२. (क) देखें–शिवराजर्षि का चरित्र–भगवती, श. ११, उ. ९
(ख) देखें–मुद्गल परिव्राजक का वृत्तान्त–भगवती, श. ११, उ. १२, सू. १७-२४

श्रावक-श्राविका, उपासक-उपासिका आदि में से किसी से बिना सुने ही केवलि-प्ररूपित धर्मश्रवण का लाभ आदि प्राप्त कर लेता है।

'भगवतीसूत्र' (अ. ९, उ. ३१) में असोच्चा केवली से सम्बन्धित ११ प्रश्न उठाकर उनका समाधान 'हाँ' और 'ना' दोनों प्रकार से किया गया है। वे इस प्रकार हैं—असोच्चा केवली पूर्वोक्त केवली या केवली पाक्षिक आदि १० में से किसी एक से बिना सुने ही (१) केवली प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण कर सकता है? (२) केवल बोधि (शुद्ध बोधि = सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लेता है? (३) मुण्डित होकर आगारवास शुद्ध अनगार धर्म को स्वीकार कर लेता है? (४) शुद्ध ब्रह्मचर्यवास को धारण कर सकता है? (५) शुद्ध संयम से संयमित होता है? (६) शुद्ध संवर से संवृत होता है? (७-८-९-१०) आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्यायज्ञान का उपार्जन कर लेता है? (११) अथवा वह केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है? इन सब प्रश्नों का एक उत्तर हाँ में है, वहाँ तो कोई प्रश्न ही नहीं है, जहाँ एक उत्तर 'ना' में दिया है, उसका कारण पूछने पर इस प्रकार समाधान दिया गया है—(१) जिस जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म-श्रवण का लाभ प्राप्त नहीं कर पाता है, क्षयोपशम किया है, वह प्राप्त करता है। (२) जिस जीव ने दर्शनावरणीय (दर्शनमोहनीय) कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, वह शुद्ध बोधिलाभ नहीं कर पाता, जिसने क्षयोपशम किया है, वह पाता है। (३) जिसने धर्मान्तरायिक कर्मों (चारित्र अंगीकाररूप धर्म में अन्तराय डालने वाले कर्मों अर्थात् वीर्यान्तराय एवं विविध चारित्रमोहनीय कर्मों का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने बिना ही मुण्डित होकर आगारवास से अनगारधर्म में प्रव्रजित हो जाता है, जिसने इनका क्षयोपशम नहीं किया, वह प्रव्रजित नहीं हो पाता। (४) जिसने चारित्रावरणीय (वेद नोकषाय मोहनीय) कर्म का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से बिना सुने ही शुद्ध ब्रह्मचर्यवास धारण कर सकता है, जिसने इस कर्म का क्षयोपशम नहीं किया है, वह ब्रह्मचर्यवास धारण नहीं कर पाता। (५) जिसने केवली आदि से सुने बिना ही यतनावरणीय (चारित्र-विशेषविषयक वीर्यान्तरायरूप) कर्म क्षयोपशम किया हुआ है तो वह शुद्ध संयम से संयमित होता है, इस कर्म का क्षयोपशम न किया हो तो वह केवली आदि से सुने बिना शुद्ध संयम द्वारा स्वयं को संयमित नहीं कर पाता। (६) जिसने अध्यवसायावरणीय कर्मों (भाव-चारित्रावरणीय कर्मों) का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने बिना ही शुद्ध संवर से संवृत हो सकता है, इसके विपरीत जिसने इन कर्मों का क्षयोपशम नहीं किया है, वह केवली आदि से सुने बिना शुद्ध संवर से संवृत नहीं हो सकता। (७-१०) इसी प्रकार जिसने आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय या मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया है, वह साधक केवली आदि से

सुने बिना ही यावत् क्रमशः आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान उपार्जित कर सकता है। (११) इसी प्रकार जिस असोच्चा केवली ने केवलज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने बिना ही केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जिसने तदावरणीय कर्मों का क्षय नहीं किया, वह केवलज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।[1]

असोच्चा केवली को विभंगज्ञान से अवधिज्ञान और उससे केवलज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया

असोच्चा केवली के सम्बन्ध में 'भगवतीसूत्र' (९/३१) में एक प्रश्न और उठाकर उसका समाधान किया गया है–जिस असोच्चा साधक ने केवलज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम या क्षय नहीं किया, क्या भविष्य में उसे केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि भविष्य में जिस असोच्चा साधक को केवलज्ञान प्राप्त होने वाला है, वह विभंगज्ञानादि उपार्जित करता हुआ अमुक-अमुक साधना के पश्चात् केवलज्ञानी हो सकता है। विभंगज्ञान-प्राप्ति से लेकर केवलज्ञान-प्राप्ति तक की प्रक्रिया इस प्रकार है–

इस प्रकार के असोच्चा केवली, जिन्हें भविष्य में केवलज्ञान प्राप्त होने वाला है, निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) का तपःकर्म करते हुए सूर्य के सम्मुख बाँहें ऊँची करके आतापना भूमि में आतापना लेते हुए उस जीव (असोच्चा साधक) की प्रकृति भद्रता से प्रकृति की उपशान्तता से स्वाभाविक रूप से ही क्रोधादि कषायों की अत्यन्त मन्दता होने से, अत्यन्त मृदुत्व-सम्पन्नता से, कामभोगों में अनासक्ति से, भद्रता और विनीतता से तथा किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या एवं तदावरणीय (विभंगज्ञानावरणीय) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग नामक ज्ञान (अज्ञान) उत्पन्न होता है। उक्त समुत्पन्न विभंगज्ञान के द्वारा वह जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग तक और उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन तक जानता और देखता है। उक्त समुत्पन्न विभंगज्ञान से वह जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी। वह पाषण्डस्थ (व्रतधारक), सारम्भी (आरम्भयुक्त), सपरिग्रह (परिग्रही) और संक्लेश पाते हुए जीवों को भी जानता है और (इन दुष्कृत्यों से) विशुद्ध होते हुए जीवों को भी जानता है। तत्पश्चात् वह विभंगज्ञानी सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त करता है, तदनन्तर श्रमणधर्म पर रुचि करता है। फिर वह सम्यक्चारित्र अंगीकार करता है। चारित्र अंगीकार करने के साथ स्वलिंग (साधुवेश) धारण करता है। तब उस

---

१. भगवतीसूत्र, श. ९, उ. ३१, सू. १-१३ का सार, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४३३-४४३

(भूतपूर्व विभंगज्ञानी साधक) के मिथ्यात्व के पर्याय क्रमशः क्षीण होते-होते और सम्यग्दर्शन के पर्याय क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह विभंग नामक अज्ञान सम्यक्त्वयुक्त होते ही तत्काल अवधिज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

उक्त अवधिज्ञानी पिछली तीन विशुद्ध (प्रशस्त) लेश्याओं में होता है, उसमें मति, श्रुत, अवधि, ये तीन सम्यग्ज्ञान होते हैं, वह सयोगी यानी तीनों योगों से युक्त होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों उपयोगों से मुक्त होता है। (वह भविष्य में केवलज्ञानी होगा, इस अपेक्षा से) उसका संहनन वज्रऋषभनाराच होगा और संस्थान तो छह प्रकार के संस्थानों में से कोई एक हो सकता है। उसकी ऊँचाई जघन्य सात हाथ (रत्नि) और उत्कृष्ट ५०० धनुष की होती है। उसका आयुष्य जघन्य साधिक आठ वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष होता है। वह (अवधिज्ञान के रहते) सवेदी होता है। वह स्त्रीवेदी तथा नपुंसकवेदी नहीं होता। या तो पुरुषवेदी होता है या पुरुष-नपुंसकवेदी (कृत्रिम नपुंसक) होता है। (अभी वह) कषाययुक्त यानी संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चार कषायों से युक्त होता है। उसमें असंख्यात प्रशस्त अध्यवसाय होते हैं, अप्रशस्त नहीं। क्योंकि विभंगज्ञान से अवधिज्ञान की प्राप्ति अप्रशस्त अध्यवसाय वाले को नहीं होती।[1]

पूर्वोक्त अवधिज्ञानी अपने बढ़ते हुए प्रशस्त अध्यवसायों से, अनन्त नैरयिक-भवग्रहणों से, अनन्त तिर्यञ्चयोनिक-भवग्रहणों से, अनन्त देव-भवों से तथा अनन्त मनुष्य-भवग्रहणों से अपनी आत्मा को विसंयुक्त (विमुक्त = वियुक्त) कर लेता है। जो ये नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति नामक नामकर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ हैं, उन प्रकृतियों के आधारभूत अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करके क्रमशः संज्वलन के क्रोधादि चार कषायों को भी क्षय कर डालता है। तत्पश्चात् (क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर वह पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म, नवविध दर्शनावरणीय कर्म, पंचविध अन्तराय कर्म तथा (२८ प्रकार के) मोहनीय कर्म को कहे हुए ताड़-वृक्ष के समान बना देता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मोहनीय कर्म के क्षय हुए बिना शेष तीनों अघातिकर्मों का क्षय नहीं हो सकता, इसी तथ्य को प्रगट करने के लिए यहाँ मूल सूत्र में कहा गया है–"तालमत्थ-कडं च मोहणिज्जं कटु।" इसका भावार्थ यह है कि जिस प्रकार ताड़-वृक्ष के मस्तक का सूचिभेद (सुई से छिन्न-भिन्न) कर देने से वह सारा का सारा वृक्ष क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार पहले मोहनीय कर्म का क्षय होने पर शेष घातिकर्मों का क्षय हो जाता है। अतएव पूर्वोक्त अवधिज्ञानी प्रशस्त अध्यवसायी साधक मोहनीय की अवशिष्ट रही हुई समस्त प्रकृतियों का क्षय करके

१. (क) भगवतीसूत्र, श. ९, उ. ३१, सू. १४, पृ. ४४२-४४३
(ख) वही, श. ९, उ. ३१, सू. १५-२५

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों घातिकर्मों की भी सभी प्रकृतियों का क्षय कर देता है। तत्पश्चात् कर्मरज को बिखेरने वाले अपूर्वकरण में प्रविष्ट (अवधिज्ञानी साधक) को अनन्त, अनुत्तर, व्याघातरहित, आवरणरहित (निरावरण), कृत्स्न (पूर्ण), प्रतिपूर्ण एवं श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन (एक साथ) उत्पन्न होते हैं। यह उस चारित्रात्मा अवधिज्ञानी के प्रशस्त अध्यवसायों का ही प्रभाव है कि वह पहले नरकादि चारों गतियों के भविष्यत्कालभावी अनन्त भवों से अपनी आत्मा को वियुक्त कर लेता है। फिर गतिनामकर्म की नरकादि चारों गतिरूप उत्तरप्रकृतियों के कारणभूत अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के कषायों के १६ चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का भी क्षय कर डालता है। कषायों का समूल क्षय होते ही ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का भी क्षय हो जाता है। घातिकर्मों का क्षय होते ही अनन्त, अव्याघात, निरावरण, परिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर सर्वकर्म क्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है।[१]

असोच्चा केवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या-प्रदान, सर्वकर्ममुक्ति तथा उनके निवास तथा संख्या के विषय में

'भगवतीसूत्र' में आगे असोच्चा केवली के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है–क्या असोच्चा केवली केवलज्ञानी होने के पश्चात् अपने शिष्यों को केवलिप्रज्ञप्त धर्म (शास्त्र का अर्थ समझाकर) ग्रहण कराते हैं? अथवा भिन्न-भिन्न करके प्रज्ञापित करते (समझाते) हैं? या उपपत्ति कथनपूर्वक प्ररूपण करते हैं? इसके उत्तर में भगवान ने कहा–"गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। वे (केवल) एक ज्ञात (उदाहरण) के अथवा एक (व्याकरण) प्रश्न के उत्तर के सिवाय (धर्म का) अन्य उपदेश नहीं देते।" तदनन्तर प्रश्न किया गया है–क्या असोच्चा केवली (किसी को) प्रव्रजित करते हैं या मुण्डित करते हैं? इसका उत्तर भी यों दिया गया है–गौतम ! यह अर्थ (बात) भी शक्य नहीं है। किन्तु वे उपदेश करते (कहते) हैं (कि तुम अमुक के पास प्रव्रज्या ग्रहण करो)। फिर असोच्चा केवली के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के विषय में पूछा गया तो भगवान ने कहा–हाँ, वे अवश्य ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-सर्वदुःखरहित होते हैं। आगे बताया कि असोच्चा केवली एक समय में कम से कम एक, दो या तीन होते हैं और अधिक से अधिक दस होते हैं। वे ऊर्ध्वलोक,

---

१. (क) भगवतीसूत्र, श. ९, उ. ३१, सू. २६, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४४७-४४८

(ख) मस्तकसूचि-विनाशे, तालस्य यथा ध्रुवो भवति विनाशः।
तद्वत् कर्मविनाशोऽपि, मोहनीयक्षये नित्यम्॥
–भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्र ४३६

अधोलोक और तिर्यक्लोक तीनों में होते हैं। ऊर्ध्वलोक में शब्दापाती आदि ४ वृत्तों (वैताढ्य पर्वतों में होते हैं, संहरण की अपेक्षा सौमनस वन या पाण्डुक वन में भी होते हैं। अधोलोक में गर्ता (अधोलोक ग्रामादि) या गुफा में होते हैं। संहरणापेक्षया पाताल-कलशों या भवनपति देवों के भवनों में होते हैं। तिर्यक्लोक में १५ कर्मभूमि में होते हैं। संहरण की अपेक्षा ढाई द्वीप और समुद्रों के एक भाग में होते हैं।[1]

सोच्चा केवली : स्वरूप, केवलज्ञान-प्राप्ति : कैसे-कैसे और कब ?

'असोच्चा केवली' से विपरीत 'सोच्चा केवली' वह है, जो केवली, केवली के श्रावक-श्राविका, उपासक-उपासिका तथा केवलि-पाक्षिक (स्वयंबुद्ध), केवलि-पाक्षिक के श्रावक-श्राविका या उपासक-उपासिका (इनमें से किसी) से सुनकर केवलि-प्ररूपित धर्मश्रवण-लाभ से लेकर शुद्ध बोधिलाभ, मुण्डित होकर आगारवास से अनगारधर्म में प्रव्रजित, शुद्ध ब्रह्मचर्यवास का धारण करता है, शुद्ध संयम से संयमित होता है, शुद्ध संवर से संवृत होता है, यावत् आभिनिबोधिकज्ञान से केवलज्ञान तक उपार्जित करता है। किन्तु ये सब उपलब्धियाँ उसी सोच्चा केवली को प्राप्त होती हैं, जिसने असोच्चा केवली के प्रकरण में बताये अनुसार तत्तदावरणीय कर्मों का क्षय या क्षयोपशम कर लिया है। इसके विपरीत जिन सोच्चा केवलियों ने तत्तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम या क्षय नहीं किया, उन्हें ये उपलब्धियाँ सहज सुलभ नहीं होतीं। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार असोच्चा केवली के प्रसंग में कहा गया था कि केवली आदि दस महान् आत्माओं में से किसी से शुद्ध धर्मश्रवण किये बिना ही कौन व्यक्ति केवलि-प्रज्ञप्त धर्मश्रवण का लाभ पाता है, शुद्ध सम्यग्दर्शन का अनुभव करता है यावत् केवलज्ञान उपार्जित करता है इत्यादि। बोलों से सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर में (सू. १३ में) बताया गया कि उन-उन कर्मों का क्षयोपशम तथा क्षय करने वाले व्यक्ति (असोच्चा साधक) को उस-उस बोल की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जिस (असोच्चा) के उन-उन आवरक कर्मों का क्षयोपशम या क्षय नहीं होता, वह उस-उस बोल की प्राप्ति से वंचित रहता है। उसी प्रकार यहाँ वही सब बातें 'सोच्चा केवली' के सम्बन्ध में जान लेनी चाहिए, विशेष यही है कि यहाँ 'असोच्चा' के बदले 'सोच्चा' (सुनकर) ऐसा पाठ समझना चाहिए। 'असोच्चा केवली' को केवली आदि से बिना सुने ही उक्त ११ बोलों की प्राप्ति उन-उन आवरक कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से होती है, वैसे सोच्चा केवली को केवली आदि से सुनकर उन-उन आवरक कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से उक्त बोलों की प्राप्ति होती है।[2]

---

१. भगवतीसूत्र, श. ९, उ. ३१, सू. २७-३१, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४४९-४५०
२. वही, श. ९, उ. ३१, सू. ३२, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४५१-४५२

केवली होने वाले सोच्चा साधक को अवधिज्ञान की प्राप्ति का क्रम

किन्तु सोच्चा केवली को विभंगज्ञान नहीं होता, उसे सीधा अवधिज्ञान होता है तथा उसकी प्रक्रिया में भी असोच्चा केवली से सोच्चा केवली में अन्तर है। वह प्रक्रिया इस प्रकार है–(केवली आदि में से किसी से धर्मवचन सुनकर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को) निरन्तर तेले-तेले (अट्ठम-अट्ठम) के तपःकर्म से अपनी आत्मा को भावित करते हुए प्रकृतिभद्रता आदि (पूर्वोक्त) गुणों से सम्पन्न होकर यावत् ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अवधिज्ञान समुत्पन्न होता है। वह उस उत्पन्न अवधिज्ञान के प्रभाव से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट अलोक में भी लोक प्रमाण असंख्य खण्डों को जानता और देखता है। फिर वह (असोच्चा केवली की तरह) शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्र, संयम, संवर, साधुवेश आदि से लेकर यावत् केवलज्ञान तक प्राप्त कर लेता है।[1]

केवली होने वाले सोच्चा अवधिज्ञानी में लेश्या, योग, उपयोग, संहनन, वेद, कषायादि की प्ररूपणा

सोच्चा कवेली होने वाले तथारूप अवधिज्ञानी कृष्णादि छहों लेश्याओं में होता है। उसमें तीन या चार ज्ञान तक होते हैं। तीन ज्ञान हों तो आभिनिबोधिक, श्रुत और अवधिज्ञान होता है, चार ज्ञान हों तो मनःपर्यवज्ञान अधिक होता है। सोच्चा केवली में योग, उपयोग, संहनन, संस्थान, ऊँचाई और आयुष्य के विषय में असोच्चा केवली के समान समझना चाहिए। सोच्चा अवधिज्ञानी सवेदी भी होता है, अवेदी भी। यदि सवेदी होता है तो स्त्रीवेदी भी होता है, पुरुषवेदी भी होता है और पुरुष-नपुंसक (कृत्रिम नपुंसक) वेदी भी होता है। यदि अवेदी होता है तो उपशान्तवेदी नहीं होता, क्षीणवेदी होता है। वह सकषायी भी होता है, अकषायी भी। यदि वह अकषायी होता है, क्षीणकषायी होता है, उपशान्तकषायी नहीं और अगर वह सकषायी होता है तो संज्वलन के या तो चारों क्रोधादि कषाय होते हैं, या संज्वलन का मान, माया और लोभ ये तीन कषाय होते हैं, या संज्वलन के माया और लोभ ये दो कषाय होते हैं अथवा संज्वलन का एक कषाय हो तो एकमात्र लोभकषाय होता है। सोच्चा अवधिज्ञानी के असोच्चा केवली की तरह असंख्यात प्रशस्त अध्यवसाय होते हैं।[2]

सोच्चा अवधिज्ञानी को केवलज्ञान-दर्शन-प्राप्ति तक की प्रक्रिया

आगे जिस प्रकार असोच्चा केवली के सम्बन्ध में प्रशस्त अध्यवसाय के प्रभाव से अवधिज्ञान से लेकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने तक की प्रक्रिया सूत्र २६

---

१. भगवतीसूत्र, श. ९, उ. ३१, सू. ३३, विवेचन, पृ. ४५२
२. वही, श. ९, उ. ३१, सू. ३४-३९, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४५२-४५४

में बताई थी, उसी प्रकार सोच्चा केवली के भी प्रशस्ततर अध्यवसाय के प्रभाव से अवधिज्ञान से लेकर केवलज्ञान-केवलदर्शन-प्राप्ति तक की प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए।[1]

आगे सोच्चा केवली के सम्बन्ध में केवलज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर प्रश्न किये गये हैं–क्या पूर्वोक्त सोच्चा केवली केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते (उपदिष्ट करते) हैं, भिन्न-भिन्न करके बतलाते हैं या प्ररूपित करते हैं? इसके उत्तर में भगवान ने कहा–हाँ, वे केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते, बतलाते और प्ररूपित भी करते हैं। वे सोच्चा केवली किसी को प्रव्रजित करते हैं या मुण्डित भी करते हैं? इसके उत्तर में भी भगवान ने कहा–हाँ, वे प्रव्रजित भी करते हैं, मुण्डित भी करते हैं। जब भगवान से पूछा गया कि क्या उनके शिष्य और प्रशिष्य भी किसी को प्रव्रजित या मुण्डित करते हैं? तो इसका भी उत्तर भगवान ने हाँ में दिया है। आगे का प्रश्न है कि क्या वे सोच्चा केवली तथा उनके शिष्य और प्रशिष्य भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त यावत् सर्वदुःखों से रहित होते हैं? इसके उत्तर में भी भगवान ने कहा–हाँ, वे और उनके शिष्य-प्रशिष्य भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, यावत् सर्वदुःखों (कर्मों) का अन्त करते हैं।[2]

सच्चा केवली का अवस्थान तथा एक सामायिक संख्या

इसके आगे सोच्चा केवली के सम्बन्ध में बताया गया है कि वे ऊर्ध्वलोक में भी होते हैं अधोलोक में भी और तिर्यग्लोक में भी होते हैं। इन तीनों लोकों में कहाँ-कहाँ होते हैं? इसका सब समाधान असोच्चा केवली के समान जान लेना चाहिए। इसी प्रकार सोच्चा केवली एक समय में जघन्य एक, दो या तीन तक होते हैं और उत्कृष्ट १०८ होते हैं।[3]

इस प्रकार असोच्चा केवली और सोच्चा केवली के विषय में 'भगवतीसूत्र' में बताया गया है।

केवलज्ञान : स्वरूप और उसकी प्राप्ति के मुख्य और अवान्तर कारण

विभिन्न प्रकार से केवलज्ञानियों के सम्बन्ध में विवेचन करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि जिस केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद मुक्ति निश्चित है, अवश्यम्भावी है,

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड २, श. ९, उ. ३१, सू. २६ के अनुसार समझे अवधिज्ञानी को केवलज्ञान-प्राप्ति तक की प्रक्रिया (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४४७

२. वही, खण्ड २, श. ९, उ. ३१, सू. ४०-४२/३, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४५४-४५५

३. वही, खण्ड २, श. ९, उ. ३१, सू. ४३-४४, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४५५-४५६

उसकी प्राप्ति कैसे होती है? केवलज्ञान की प्राप्ति के मूल स्रोत कौन-कौन-से हैं? एक दृष्टि से सोचें तो केवलज्ञान पूर्ण मोक्ष का मूलाधार है। इसके बिना पूर्ण मुक्ति–सर्वकर्मों से मुक्ति का द्वार खुल नहीं सकता। 'तत्त्वार्थसूत्र' में केवलज्ञान का लक्षण और उसके उत्पन्न होने के मूल स्रोतों का उल्लेख भी कर दिया है। वैसे ज्ञान के पंचम भेद में ज्ञान से पूर्व जो 'केवल' शब्द रखा है, उसका आशय यही है कि जो अकेला हो, जहाँ केवल (सिर्फ) ज्ञान ही ज्ञान हो, निखालिस ज्ञान के साथ किसी प्रकार की विभावों–विकारों की मिलावट न हो, जो निरालम्ब हो, जिसे किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न हो, साथ ही जो परिपूर्ण–ज्ञान हो तथा तीनों कालों और तीनों लोकों के समस्त द्रव्यों और पर्यायों को जानता हो, जिससे कुछ भी छिपा (प्रच्छन्न) न रहे, जिस पर किसी भी प्रकार का आवरण न रहे, उसे केवलज्ञान कहा जाता है, केवलदर्शन भी केवलज्ञान का निराकार रूप है। सूर्य में आतप और प्रकाश दोनों साथ-साथ रहते हैं, वैसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों साथ-साथ रहते हैं। वास्तव में देखा जाये तो ज्ञान के ही अनाकार और साकार ये दोनों (दर्शन और ज्ञान) प्रकार हैं। इन्हें ही सामान्य भाषा में सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता कहा जा सकता है। कैवल्य में केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों का समावेश हो जाता है। केवलज्ञान हो जाने पर किसी प्रकार का द्रव्य या भाव अन्धकार नहीं रहता। मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि भावान्धकार हैं, जबकि बाहरी दुनिया में चाहे जितना अँधेरा हो, हाथ को हाथ न सूझता हो, केवलज्ञान जहाँ या जिसमें होगा, वहाँ द्रव्य-अन्धकार देखने–जानने में कोई रुकावट नहीं डाल सकता। उसके लिए घोर अन्धेरे में भी प्रकाश ही प्रकाश है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रस्तुत सूत्र में केवलज्ञान का लक्षण इस प्रकार दिया है–

"मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।"

–सर्वप्रथम मोह (कर्म) के क्षय होने के पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय (कर्म) का क्षय होना केवल है–कैवल्य है, केवलज्ञान-केवलदर्शन है। सिद्धान्त यह है कि पहले मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से नाश (क्षय) होता है, तत्पश्चात् ज्ञानावरणीय आदि शेष तीनों घातिकर्मों का युगपत्–एक साथ क्षय (नाश) होता है और इन चारों घातिकर्मों का पूर्ण क्षय होने पर ही कैवल्यदशा (केवलज्ञान-केवलदर्शन) प्रकट होती है, पहले नहीं।

'तत्त्वार्थसूत्र' में जैसे मोक्ष-प्राप्ति के आधारभूत केवलज्ञान-केवलदर्शन के प्रकटीकरण का क्रम बताया है, वही क्रम कर्मविज्ञान की दृष्टि से 'स्थानांगसूत्र' और 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया गया है, जिनका मोह पूर्णतया क्षीण हो चुका है, ऐसे क्षीणमोही अर्हन्त के इसके (मोहकर्मक्षय के) पश्चात् निम्नोक्त तीनों कर्मों के

अंश का एक साथ क्षय हो जाता है। वे तीन (घाति) कर्म ये हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"(केवलज्ञान प्राप्त करने वाला साधक) सर्वप्रथम पूर्वानुपूर्वी के अनुसार २८ प्रकार के मोहनीय कर्म (चारित्रमोह के सोलह कषाय, नौ नोकषाय और दर्शनमोह के तीन यों २८ प्रकार के मोहकर्म) को समूल नष्ट करता है, (तत्पश्चात्) पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म–इन तीनों कर्मों को एक साथ क्षय कर डालता है।"[1]

तात्पर्य यह है कि जब तक मोहनीय कर्म का–मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का थोड़ा-सा अंश रहेगा, वहाँ तक केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकता। राग और द्वेष या कषाय और मिथ्यात्व ये दोनों मोहकर्म के बीज हैं–स्रोत हैं, ये दोनों जहाँ भी जिस व्यक्ति में भी रहेंगे, चाहे राग प्रशस्तरूप में ही क्यों न हों, कषाय चाहे प्रशस्तरूप में भी क्यों न हो, केवलज्ञान में प्रबल बाधक हैं।

भरतचक्री का शरीरमोह नष्ट होते ही केवलज्ञान प्रगट हो गया

भरत चक्रवर्ती अपने पास चक्रवर्तित्व की ऋद्धि होते हुए भी, सब प्रकार के सुखभोग के साधन होते हुए भी निर्लेप रहते थे, फिर भी अभी तक उनका शरीर के प्रति रागभाव नहीं छूटा था, किन्तु जब शीशमहल में शीशे के सामने खड़े होकर अपने शरीर के अंग-प्रत्यंगों और वस्त्राभूषणों को देख रहे थे, तभी अंगुली में से अँगूठी नीचे गिर पड़ी। उससे रिक्त अंगुली बेडौल लगने लगी। अतः भरत जी ने एक-एक करके सारे आभूषण उतारे। चिन्तन स्फुरित हुआ–'ओह ! शरीर की कितनी दयनीय दशा है ! जो शरीर नाशवान् है, एक दिन अवश्य छूटने वाला है। उस पर मोह रखने से तो पुनः-पुनः जन्म-मरण करना पड़ेगा।' यों आत्मा के निज गुणों और स्वभाव में रमण करते-करते उनका मोह नष्ट हो गया। मोह नष्ट होते ही मोहनीय कर्म के क्षय के साथ-साथ शेष तीनों घातिकर्म भी नष्ट हो गये और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।[2]

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन सहित) (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४६२
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०, सू. १, विवेचन, पृ. ४६२-४६३
(ग) खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खिज्जंति, तं. जहा–णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं अंतराइयं। –*स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४, सू. २२६*
(घ) तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठावीसइ-विहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं णाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं, एए तिन्नि वि कम्मं जुगवं से खवेइ। –*उत्तरा. २९/७१*

२. देखें–त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भरत चक्रवर्ती का वृत्तान्त

गणधर गौतम स्वामी को रागभाव दूर करने का संकेत

गणधर गौतम स्वामी के अनेक शिष्यों तथा उनके बाद दीक्षित हुए कई साधु-साध्वियों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ देखकर उनका मन खिन्न रहा करता था। भगवान महावीर से यह बात छिपी नहीं थी। भगवान महावीर द्वारा गौतम स्वामी को क्षणमात्र भी प्रमाद न करने का उत्तराध्ययन में उपदेश भी है, फिर भी गौतम स्वामी का भगवान के प्रति प्रशस्तराग, भक्तिराग मिटता नहीं था। 'भगवतीसूत्र' (श. १४, उ. ७) में ऐसा उल्लेख है कि एक बार भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को सम्बोधित करके (आश्वासन देते हुए) कहा—गौतम ! तू मेरे साथ चिर-संश्लिष्ट (चिरकाल से स्नेह से बद्ध) है, तू मेरा चिरसंस्तुत (चिरकाल से स्तुति–भक्ति करने वाला) भी है, मेरे साथ चिर-परिचित भी है, चिरजुषित (चिरकाल से सेवित या प्रीत) भी है, चिरकाल से तू मेरा अनुगामी (अनुयायी) है, चिरकाल से अनुवृत्ति (तेरी वृत्ति मेरे अनुकूल रही) है। (इस कारण तेरा मेरे प्रति प्रशस्तराग–भक्तिराग है) हे गौतम ! इससे पूर्व के (अनन्तर देवलोक) देव-भव में, तदनन्तर मनुष्य-भव में भी (स्नेह-सम्बन्ध रहा है), अतः इससे अधिक क्या कहूँ ! इस भव में मृत्यु के पश्चात् इस शरीर के छूट जाने पर इस मनुष्य-भव से च्युत होकर हम दोनों तुल्य (एक सरीखे) और एकार्थ (एक ही प्रयोजन वाले अथवा एक ही लक्ष्य-सिद्धि क्षेत्र में रहने वाले) तथा विशेषतारहित (समान) तथा किसी प्रकार की भिन्नता से रहित हो जायेंगे।

इस पाठ से भी स्पष्ट है कि जब तक किंचित् राग-द्वेष या कषायादि रहेगा, तब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकेगा।[1]

इस दृष्टि से केवलज्ञान की पहली शर्त है—मोहकर्म का सर्वथा क्षीण होना।

केवलज्ञान दीर्घकालिक साधकों को दीर्घकाल में और अल्पकालिक साधकों को अल्पकाल में क्यों ?

इस सम्बन्ध में एक प्रबल शंका बार-बार मन को कुरेदती है कि इलायचीकुमार, कूरगडूक, माषतुष, अर्जुनमालाकार (मुनि), अरणिक मुनि, दृढ़प्रहारी, केशरी (सामायिक साधक) मुनि, चण्डरुद्राचार्य तथा उनके एक नवदीक्षित शिष्य आदि कतिपय साधक को, जो अपने पूर्व जीवन में हिंसादि परायण, विलासी, मन्द बुद्धि, चारित्र-भ्रष्ट, चोर, क्रोधी आदि रहे हैं, दीक्षा लेने के साथ ही अथवा दीक्षा न लेने पर भी झटपट केवलज्ञान कैसे प्राप्त हो गया ? और

---

१. (क) देखें–उत्तराध्ययन का १०वाँ दुमपत्तमं नामक अध्ययन, गौतम स्वामी को अप्रमत्त रहने का उपदेश

(ख) भगवतीसूत्र, खण्ड ३, अ. १४, उ. ७, सू. १, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर)

गौतम स्वामी जैसी सर्वाक्षरसन्निपाती, चार ज्ञान के धारक भगवान महावीर के पट्ट शिष्य को केवलज्ञान प्राप्त होने में इतना दीर्घकाल क्यों लगा?

इसका एक समाधान तो ऊपर दिया जा चुका है, जब भी मोहकर्म (राग-द्वेष-कषायादि) सर्वथा क्षीण हो जायेगा, वह व्यक्ति पूर्व जीवन में चाहे कैसा भी रहा हो, उसे वर्तमान में स्व-भावों में रमण के कारण मोहादि चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय होते ही केवलज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान जाति-पाँति, धर्म-सम्प्रदाय, वेश-भूषा, भाषा, राष्ट्र, प्रान्त आदि नहीं देखता। वह देखता है–कषायों का सर्वथा क्षय, मोह की सर्वथा क्षीणता।

दूसरा समाधान यह है कि (अनन्त ज्ञान), अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्त आत्म-शक्ति ये आत्मा के निजी गुण हैं। ये कहीं बाहर से ये उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, लानी पड़ती हैं या किसी देवी-देव, शक्ति या भगवान, परमात्मा आदि से प्राप्त होती हैं, ऐसा भी नहीं है। अपितु तथ्य यह है कि ये शक्तियाँ आत्मा की स्वयं की हैं, स्वयं आत्मा में हैं, परन्तु इन चार घातिकर्मों से ये चारों शक्तियाँ आवृत हो रही थीं। जिन व्यक्तियों ने अपने प्रबल पुरुषार्थ से इन सुषुप्त आवृत, आत्मिक गुणों को जाग्रत एवं अनावृत कर लिया, उनको वह केवलज्ञान प्रकट हो गया, बाहर में प्राप्त हो गया। निष्कर्ष यह है कि घातिकर्म चतुष्टयजनित आवरण दूर होते हैं, ये शक्तियाँ निरावरण होकर अपने सहज स्वाभाविक रूप में प्रगट–उद्धारित हो जाती हैं। शास्त्रीय भाषा में कहें तो शुक्लध्यान के प्रथम पाद (पृथक्त्व-वितर्क सविचार) को लाँघकर द्वितीय पाद (एकत्व-वितर्क अविचार) में पहुँच जाता है, तब पहले पाद में मोहकर्म का और दूसरे पाद में शेष तीन घातिकर्मों का क्षय कर डालता है। फिर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर सयोगी केवली हो जाता है।[9]

तीसरा समाधान है–केवलज्ञान प्राप्त होने के विचित्र और विभिन्न उपाय हैं, इसलिए विभिन्न साधकों ने विभिन्न उपायों से–मार्गों से सावधानीपूर्वक चलकर उसे प्राप्त किया और कर सकते हैं।

रूपासक्त इलायचीकुमार को केवलज्ञान कैसे हुआ?

इलायचीकुमार क्या था? केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्वकाल तक वह भोगासक्त एवं रूपासक्त व्यक्ति की तरह एक नट-कन्या रूप में मोहित–आसक्त था। उसे प्राप्त करने के लिए उसने नाट्यकला भी सीखी। परन्तु एक दिन इलायचीकुमार ऊँचे बाँस के संकीर्ण मंच पर चढ़कर अपनी नाट्यकला राजा से पुरस्कार पाने के लिए दिखा रहा था। दुबारा, तिबारा बाँस के मंच पर चढ़ने पर भी राजा प्रसन्न नहीं

---

९ स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. ६९, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. २२५

हुआ। अतः चौथी बार भी अनिच्छा से मंच पर चढ़कर अपनी कला दिखा रहा था, तभी उसकी दृष्टि पड़ोस के घर में एक निःस्पृह, अनासक्त एवं ब्रह्मचर्य से तेजस्वी मुनि पर पड़ी, जो एक वस्त्राभूषण-सज्जित रूपवती गृहिणी से आहार ले रहे थे। उसके रूप के समक्ष नट-कन्या का रूप कुछ नहीं था, फिर भी मुनि नीची दृष्टि किये निःस्पृहभाव से आहार ले रहे थे। यह देखते ही इलायचीकुमार की विचारधारा एकदम पलटी। सोचने लगा–'कहाँ ये निःस्पृह श्रमण और कहाँ मैं ? ये तो देवांगना-सी सौन्दर्यमूर्ति की ओर देख भी नहीं रहे हैं, मैं एक नट-कन्या के पीछे पागल बना हुआ हूँ। मैंने अपनी अनमोल जिन्दगी शरीर सौन्दर्य में आसक्त बनकर खो दी, आत्मिक सौन्दर्य–आत्म-गुणों की ओर दृष्टिपात नहीं किया।' यों उनकी स्वभावमुखी धारा ऊर्ध्वमुखी हो गई, सकलचारित्र के भाव उदित हो गये। बाँस के संकीर्ण मंच पर ही उनका शरीर स्थिर हो गया, कषायों का मूलोच्छेद होते ही, शेष तीन घातिकर्मों का क्षय हुआ और उन्हें वहीं केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो गई। फिर उन्होंने बाँस के मंच से नीचे उतरकर वैराग्यप्रेरक उपदेश दिया, जिससे प्रेरित होकर नट-कन्या और राजा का हृदय भी वैराग्य से ओतप्रोत हो गया। राग-द्वेषादि दूर होते ही उन्हें भी कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[1]

क्षुधा-असहिष्णु कूरगडूक मुनि केवलज्ञान से सम्पन्न क्यों हो गये ?

मुनि कूरगडूक का वास्तविक नाम तो ललितांग था। दीक्षा लेकर उन्होंने इन्द्रियविजय का स्वतंत्र पथ अपनाया। भिक्षा में वे सरस आहार छोड़कर अग्नि संस्कारित 'कूर' नामक नीरस अन्न लाते और मधु घृत के समान प्रसन्नतापूर्वक समभाव से खा लेते। परन्तु निराहार तपस्या करना उनके बस की बात नहीं थी। एक दिन चातुर्मासिक पर्व के दिन आचार्यश्री ने समस्त संघ को तप की प्रबल प्रेरणा दी। चतुर्विध संघ में विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ हो रही थीं। उपवास तो सबके ही थे। परन्तु कूरगडूक मुनि इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि व्याख्यान पूरा हो तो मैं भिक्षा के लिए जाऊँ। आचार्यश्री से गोचरी जाने की आज्ञा माँगने गये तो उन्होंने बहुत डाँटा-फटकारा, किन्तु उसे समभाव से, शान्तभाव से सहन कर लिया। अन्य मुनि भी उसे झिड़कते रहते। परन्तु वे सबको विनयपूर्वक उत्तर देकर अपनी गलती स्वीकार लेते। अपमान का कड़वा घूँट पीकर भी शान्त थे। गोचरी गये। कूर से पात्र भरकर लाये। गुरुजी को आहार दिखाया तो वे भी कुपित हुए। भिक्षापात्र लेकर वे एक ओर गये। प्रमार्जन करके बैठे। पात्र सामने रखा। अपने दोषों पर चिन्तन स्फुरित हुआ–मैं आहार का इतना गुलाम ! मेरे कारण आचार्यश्री को कष्ट

---

१. देखें–इलायचीकुमार का वृत्तान्त आख्यानकमणिकोष, उपदेशमाला तथा जैनकथा कोष (मुनि छत्रमल) में

हुआ। भोजन करते-करते निराहारी आत्मा के ध्यान में लीन हो गये। शुक्लध्यान की उज्ज्वलता तथा क्षमा की पराकाष्ठा के कारण भोजन का ग्रास लेने वाला हाथ वहीं रुक गया। क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके शुक्लध्यान में लीन मुनि का मोहकर्म समूल नष्ट हो गया, साथ ही शेष तीनों घातिकर्म भी समूल नष्ट हो गये, उन्हें वहीं केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। जब देवता और देवेन्द्र उनका कैवल्य महोत्सव मनाने आये तो आचार्यश्री आदि को पता लगा। वे भी आत्म-चिन्तन में डूब गये। मन ही मन कूरगडूक की क्षमावृत्ति का अंकन करते हुए पहले अनुताप धारा और फिर आत्म-भावों की धारा में बहने लगे। भावों में विशुद्धि आते ही उन्होंने भी तत्काल केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।[1]

मन्द बुद्धि माषतुष मुनि को केवलज्ञान किस कारण से हुआ ?

माषतुष मुनि तो बिलकुल मन्द बुद्धि थे, किन्तु देव, गुरु, धर्म पर उनकी अटल श्रद्धा थी। गुरुदेव के समक्ष विनयपूर्वक निवेदन किया–"गुरुदेव ! मुझे एक गाथा भी दिनभर में याद नहीं होती। क्या करूँ? कैसे मेरा कल्याण होगा?" गुरुदेव ने समझाया–आत्मा में अनन्त ज्ञान है, पर पूर्वबद्ध कर्मों के कारण आवृत है, आवरण के मूल कारण हैं–राग-द्वेष ! इनके दूर होते ही ज्ञान प्रकट होते देर न लगेगी। तुम्हें मैं छोटा-सा वाक्य याद करने के लिए देता हूँ–"मा रुष, मा तुष।" इसी को निष्ठापूर्वक रटते रहो। गुरु-वचनों पर निष्ठा रखकर रटने लगा। रटते-रटते वह वाक्य तो याद न रहा, उसके बदले रटने लगा–माष-तुष। एक दिन मन में इसके अर्थ पर ऊहापोह हुआ–माष का अर्थ है–उड़द और तुष का अर्थ है–छिलका। ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं, पृथक् किये जा सकते हैं, इसी प्रकार स्वभाव और परभाव, आत्मा और शरीर ये पृथक्-पृथक् हैं। मैं अब तक शरीर के ही धर्मों को आत्मा के धर्म समझ रहा था। इस प्रकार वह चिन्तन करता है; भेदविज्ञान की प्रबल भाव धारा और शुक्लध्यान की धारा में चढ़ते हुए उसका मोहकर्म नष्ट हो गया, शेष तीन घातिकर्म भी नष्ट हो गये और माषतुष मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हो गया।[2]

अर्जुन मुनि को कैवल्य और मोक्ष कैसे हो गया ?

अर्जुन मुनि ने पूर्व जीवन में यक्षाविष्ट होकर १,१४१ व्यक्तियों की हत्या कर दी थी, परन्तु उनके मन में तीव्र कषाय नहीं था, तीव्र द्वेषभाव नहीं था, इसलिए निकाचित रूप से कर्मबन्ध नहीं हुआ था। उनके शरीर से यक्ष के निकलते ही, सुदर्शन श्रमणोपासक के सत्संग से वे भगवान महावीर की सेवा में पहुँचे और वहीं

---

१. देखें–कूरगडूक मुनि का वृत्तान्त आचारांग चूर्णि में तथा जैनकथा कोष में

२. देखें–माष-तुष मुनि का वृत्तान्त आवश्यकसूत्र हारि. वृत्ति में

विरक्त होकर मुनिधर्म में दीक्षित हो गए। यावज्जीवन बेले-बेले तप का संकल्प किया। पारणे के दिन राजगृही में भिक्षा के लिए जाते, वहाँ जनता ने उन्हें पीड़ित, प्रताड़ित, अपमानित किया परन्तु उन्होंने अपने कर्मों का दोष मानकर समभाव से सहन किया। भिक्षा में जो भी मिलता, उसे समभाव से ग्रहण करते। क्षमा की साकार प्रतिमा बनकर उत्कृष्ट तितिक्षा से घातिकर्मों का क्षय करके कैवल्य प्राप्त किया और १५ दिनों का संलेखना-संथारा करके सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध बन गए।[1]

हत्यारा दृढ़प्रहारी कैसे केवलज्ञानी बना ?

दृढ़प्रहारी का पूर्व जीवन तो हत्यारे और लुटेरे का जीवन था। एक दिन एक ब्राह्मण के यहाँ आमंत्रित था। खीर बनी थी। वह धृष्टतापूर्वक खीर के बर्तन के पास बैठ गया। ब्राह्मणी ने उसे टोका तो क्रोध भड़क उठा। तलवार के प्रहार से टुकड़े कर दिये। ब्राह्मण सहायता के लिए दौड़ा तो उसे भी मार डाला। गाय अपने स्वामी को बचाने के लिये दौड़ी तो गर्भवती गाय पर तलवार चलाई, उसका गर्भस्थ बच्चा भी बाहर निकल आया। गाय और बछड़ा दोनों तड़फड़ाते हुए मर गए। इन पाँचों के शव को अब वह घूर-घूरकर देख रहा था। बछड़े की छटपटाहट से आज उसके हृदय में करुणा की एक चिनगारी फूटी। उसे मन ही मन पश्चात्ताप हुआ। मन ही मन स्वयं को धिक्कारने लगा। उसका दिल रह-रहकर रोने लगा। खून से सनी तलवार वहीं छोड़कर वह विरक्तभाव से साधु बनकर वन की ओर चला पड़ा। एक विचार और स्फुरित हुआ—वन में संवर और निर्जरा का कहाँ प्रसंग आएगा ? जिनका मैंने सर्वस्व लूटा है या जिनके कुटुम्बियों का वियोग किया है, वे तो सारे नगर में हैं, वहीं रहकर मुझे अपने पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मुझ पर किये जाने वाले प्रहारों को समभाव—क्षमाभाव से, प्रतिक्रियाभाव विरतिपूर्वक सहकर संवर-निर्जरा करने का अवसर मिलेगा। यों सोचकर नगर के पूर्व-द्वार के पास दृढ़प्रहारी ध्यानस्थ खड़ा हो गया। लोगों द्वारा ताड़ना-तर्जना की गई, पर दृढ़प्रहारी शान्तभाव से सहता रहा। जब यहाँ कोप शान्त हो गया लोगों का, तो वह क्रमशः पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के द्वारों में से प्रत्येक पर डेढ़-डेढ़ महीना ध्यानस्थ खड़ा रहा। यों छह महीने के इस कायोत्सर्ग—व्युत्सर्ग तप से दृढ़प्रहारी मुनि ने समस्त घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इस समताधारी मुनि का अब सर्वकर्म-मुक्तिरूप मोक्ष तो निश्चित ही था।[2]

---

१. देखें—अर्जुनमाली का मुनि बन जाने के पश्चात् का जीवन-वृत्त, अन्तकृद्दशा, वर्ग ६ में

२. देखें—दृढ़प्रहारी का जीवन-वृत्त आवश्यककथा में तथा जैनकथा कोष में, पृ. २०२-२०३

सामायिकव्रती केशरी चोर का हृदय-परिवर्तन और केवलज्ञानार्जन कैसे हुआ ?

केशरी कामपुर के राजा विजयचन्द्र के राज्य के प्रसिद्ध व्यापारी संघदत्त का पुत्र था। बचपन में उसकी धर्मध्यान में बहुत रुचि थी। गुरुदेव से सामायिक के पाठ सीखकर उसने प्रतिदिन सामायिक करने का नियम लिया। वह विधिपूर्वक सामायिक लेता और पारता था। केशरी की सामायिक की इस प्रवृत्ति से पिता बहुत प्रसन्न था, किन्तु ज्यों-ज्यों केशरी बड़ा हुआ, कुसंगति में पड़ने से उसमें अनेक दुर्गुण, विशेषतः चोरी का भयंकर दुर्गुण लग गया। चोरी किये बिना उसे एक दिन भी चैन नहीं पड़ता था। पिता और राजा ने उसे बहुत समझाया, धमकी भी दी, परन्तु नहीं माना तो राजा ने उसे देश-निकाला दे दिया। वह राज्य छोड़कर वन में चला गया। सरोवर का पानी पीकर प्यास शान्त की। सोचने लगा–'क्या आज मैं बिना चोरी किये ही रहूँगा ?' इतने में एक व्यक्ति आकाश से उतरा। उसके पैरों में पादुकाएँ थीं जिन्हें उसने खोलकर झाड़ी में छिपा दीं और सरोवर में नहाने के लिए घुसा। तभी मौका देखकर केशरी झाड़ी में से पादुकाएँ लेकर चंपत हो गया। अब तो वह पादुका पहन चाहे जहाँ शीघ्र आकाशमार्ग से पहुँच जाता। नगर में उसकी चोरियों के कारण हाहाकार मच गया। अब वह किसी की पकड़ में नहीं आता था। स्वयं राजा विजयचन्द्र ने उसे पकड़ने का बीड़ा उठाया। राजा सशस्त्र सैन्य लेकर निकल पड़ा। राजा ने सब जगह छान ली, पर कहीं उसका पता न लगा। राजा थककर एक पेड़ के नीचे विश्राम लेने लगा। तभी वहाँ केसर आदि की सुगन्ध आई। सोचा–'कहीं मंदिर होगा आसपास।' थोड़ी दूर एक चण्डी का मन्दिर था। राजा ने देखा–वस्त्राभूषण सहित एक व्यक्ति पूजा कर रहा है। समझ गया कि यही चोर है। दूसरे दिन राजा उसे पकड़ने को झपटा तो वह पकड़ से छूटकर वन की ओर भागा। पादुकाएँ वहीं छूट गईं। राजा ने उन्हें उठा लिया। अतः केशरी पैदल कहाँ तक भागता ? केशरी पैदल दौड़ता-दौड़ता थक गया। भागते-भागते वन में एक ध्यानस्थ मुनि के दर्शन हुए। केशरी ने मुनि से उद्धार का मार्ग पूछा तो उन्होंने कहा–"राग-द्वेषमुक्त होकर प्रवृत्ति करने से ही उद्धार हो सकता है।" केशरी ने अपने पापों की आलोचना, आत्म-निन्दा और गर्हा की। मुनि से प्रायश्चित्त लिया। यों वह आत्म-शुद्धि करके आत्म-चिन्तन में लीन हो गया। तभी उसके जीवन में अपूर्व एवं उत्कृष्ट आत्म-भावों की धारा में बहते-बहते उसके मोहकर्म तथा शेष तीन घातिकर्म क्षय हो गए और सेना सहित राजा वहाँ पहुँचा, तब तक उसे केवलज्ञान हो गया। कर्मबीज राग-द्वेष-मोह के नष्ट होते ही केवलज्ञान प्रकट हो गया। राजा के द्वारा इस परिवर्तन का कारण पूछा गया तो उसने कहा–यह सब चमत्कार सविधि शुद्ध भाव से सामायिक का है कि मेरे

घातिकर्म इतनी जल्दी क्षय हो गए। केवली मुनि केशरी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जनता में धर्म-जागृति करते रहे।[1]

चण्डरुद्राचार्य के नवदीक्षित शिष्य को और उस निमित्त से आचार्य को केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ?

चण्डरुद्राचार्य तो अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के थे। एक दिन उज्जयिनी नगरी के एक श्रेष्ठी का नवविवाहित पुत्र अपने मित्रों के साथ आचार्य के दर्शनार्थ आया। उसके मित्रों ने हास्यवश आचार्य से कहा–"गुरुदेव ! यह हमारा मित्र संसार से विरक्त है। आपके पास दीक्षा लेना चाहता है।" आचार्य ने दो-तीन बार कहा–"क्या वास्तव में यह दीक्षा लेना चाहता है?" श्रेष्ठि-पुत्र कुछ नहीं बोला। मित्रों ने कहा–"हाँ, महाराज ! इसे शीघ्र दीक्षा दे दीजिये।" किसी को विश्वास नहीं होता था कि यह नवविवाहित युवक दीक्षा लेने को तैयार होगा। परन्तु आचार्य ने युवक से कहा–"यदि तुम्हारी इच्छा दीक्षा लेने की है तो केशलोच करा लो, मैं दीक्षा दे दूँगा।" युवक तैयार हो गया। आचार्य ने केशलोच करके उसे दीक्षा दे दी। मित्रों को उसने लौटा दिया और सोचा–'गुरुदेव ने कृपा करके मुझे जैनेन्द्री दीक्षा दे दी है, अब मुझे रत्नत्रय की आराधना करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ना चाहिए।' नवदीक्षित शिष्य ने आचार्यश्री से कहा–"गुरुदेव ! हो सकता है, मेरे स्वजन-सम्बन्धी आयें और बखेड़ा खड़ा करें, मुझे संयम से च्युत करने का प्रयत्न करें। इसलिए अच्छा होगा, हम यहाँ से विहार करके अन्यत्र पहुँच जाएँ।" आचार्यश्री ने कहा–"सन्ध्याकाल हो चुका है। मुझे रात्रि में कम दिखाई देता है। कैसे चलना होगा?" शिष्य ने गुरुदेव को कंधे पर बिठाया और पहले अपने देखे हुए वनमार्ग की ओर चल पड़ा। रास्ता ऊबड़-खाबड़ तो था ही, फिर अँधेरा भी था। इसलिए बार-बार ठोकर लगती तो आचार्य को कष्ट होता था। वे क्रुद्ध होकर शिष्य को डाँटने-फटकारने लगते। कभी-कभी मुंडित मस्तक पर डंडा भी मार देते। लेकिन शिष्य विनयी एवं शान्त स्वभाव का था, रोष-आक्रोश तथा प्रतिक्रिया से रहित होकर सब कुछ समभाव से सहता रहा। मन ही मन सोचता–'मैं गुरुदेव की आशातना कर रहा हूँ, कष्ट दे रहा हूँ।' परन्तु गुरु का परम उपकार मानता कि इन्हीं की कृपा से मुझे कषायविजय, वीतरागता और रत्नत्रय की आराधना का स्वर्ण अवसर मिला है। इस प्रकार शिष्य शुभध्यान से शुक्लध्यान में पहुँच गया। एकमात्र आत्म-ध्यान में निमग्न होने से उसकी आत्मा में सुषुप्त, आवृत और प्रच्छन्न केवलज्ञान प्रकट हो गया। केवलज्ञान की ज्योति के कारण रात्रि के सघन अन्धकार में भी उसके चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश था। अतः अब वह सही मार्ग

---

१. देखें–वर्धमान देशना १/९ में केशरी केवली की कथा, जैनकथा कोष से सार संक्षिप्त

पर चल रहा था। गुरुदेव को भी कोई कष्ट नहीं हो रहा था। गुरु ने पूछा–"वत्स ! पहले तो तुझे बार-बार ठोकरें लगती रहीं, अब तू अंधकार में भी सीधा चल रहा है, क्या कारण है? क्या कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ है?" शिष्य ने विनीत स्वर में कहा–"गुरुदेव ! आपकी कृपा से केवलज्ञान प्राप्त हो गया है।" गुरु एकदम चौंके और शिष्य के कन्धे से नीचे उतरे, तब तक सूर्योदय हो चुका था। गुरु ने पश्चात्ताप के स्वर में कहा–"धिक्कार है मुझे ! मैंने तुम पर रोष किया, केवली की आशातना की। मुझे क्षमा करो।" इस प्रकार गहन पश्चात्ताप और आत्मालोचना करते-करते आचार्य आत्म-ध्यान में डूब गए। उन्हें भी कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[1]

मृगावती साध्वी को और उसके निमित्त से आर्या चंदनबाला को केवलज्ञान-प्राप्ति

इसी प्रकार एक बार साध्वी मृगावती जी भगवान महावीर के समवसरण में साध्वीश्रेष्ठा चंदनबाला जी आदि साध्वियों के साथ बैठी थीं। सूर्य-चन्द्र दोनों के प्रभु-दर्शनार्थ आने से सर्वत्र प्रकाश हो रहा था। अन्य साध्वियाँ तो यथासमय अपने स्थान पर चली गईं, किन्तु मृगावती जी को प्रकाश होने से समय का ध्यान नहीं रहा। सूर्य-चन्द्र के चले जाने पर अचानक अँधेरा छाया तो उन्हें भान हुआ। वे अपने स्थान पर शीघ्र पहुँचीं। आर्यश्रेष्ठा चंदनबाला जी ने मृगावती जी की इस अक्षम्य भूल के लिए उपालम्भ किया। मृगावती जी ने अपनी भूल के लिए चंदनबाला जी से क्षमा याचना की। चंदनबाला जी सो गईं। मगर मृगावती जी मन ही मन अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करने लगीं। आत्मालोचन करते-करते स्वभाव-रमणता का वेग इतना बढ़ा कि सहसा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। तभी मृगावती जी ने केवलज्ञान के प्रकाश में देखा कि महासती चन्दनबाला के हाथ के पास से एक काला साँप जा रहा है। अतः तत्काल उनका हाथ ऊपर कर दिया। हाथ उठाने से चंदनबाला जी की नींद खुली। जगाने का कारण पूछा तो मृगावती ने साँप वाली बात कही। चंदनबाला ने पूछा–"इतनी अँधेरी रात में आपको साँप कैसे दिखाई दिया? क्या कोई विशिष्ट ज्ञान हुआ है?" मृगावती जी–"आपकी कृपा हुई है तो क्यों नहीं होगा?" चंदनबाला–"क्या केवलज्ञान हुआ है?" मृगावती जी–"आपकी कृपा का ही सारा फल है।" चंदनबाला ने अपने आप को सँभाला, सोचा–'मैंने केवली की आशातना की। नींद खुलने से मुझे भी आवेश आ गया। फिर भी मृगावती जी ने कितनी समता और शान्ति का परिचय दिया !' यों अन्तर्मुखी होकर आत्म-स्वभाव का चिन्तन करते-करते चंदनबाला को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया।[2]

---

१. देखें–चण्डरुद्राचार्य के वृत्तान्त के लिए आवश्यक मलयगिरि वृत्ति तथा जैनकथा कोष, पृ. १३९

२. देखें–मृगावती साध्वी का जीवन-वृत्त, आवश्यक निर्युक्ति एवं दशवैकालिक निर्युक्ति में

केवलज्ञान की ज्योति किसको प्राप्त हो सकती है, किसको नहीं ?

ये और ऐसे ही कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान जैसे अतीन्द्रिय अतिशय ज्ञानों के लिए व्यक्ति के स्वयं के आध्यात्मिक पुरुषार्थ की, राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि कषाय आदि विभावों पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रतिक्षण सावधान-सजग रहकर पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है, तभी मोहनीय आदि चार घातिकर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त हो सकती है।

पापी और नरकगति की सम्भावना वाले को भी वीतरागोपदेश क्रियान्वित करने से मुक्ति संभव है

'सूत्रकृतांग निर्युक्ति' में कहा गया है-"कोई कितना ही पापात्मा हो तथा अवश्य ही उत्कृष्ट नरक-स्थिति प्राप्त होने की सम्भावना हो, किन्तु वह भी वीतराग के उपदेश (वीतरागता या अकषाय-संवर की साधना) द्वारा उसी भव में (केवलज्ञान प्राप्त करके) (सर्वकर्म) मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[9]

इसके विपरीत कई श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकाओं तथा श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पूर्वोक्त साधक-साधिकाओं से बढ़कर कई गुनी उत्कृष्ट साधना करने पर भी शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। मोक्ष प्राप्त होना तो उससे आगे की बात है। उसका स्पष्ट कारण यह है कि उनका रागभाव, मोह, कषायभाव घटता या मिटता नहीं। सम्प्रदाय, गुरु, भक्त-भक्ता, स्थान, आहार, क्षेत्र, पूजा-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदि की प्राप्ति की कामना, वासना, अहंता-ममता, आसक्ति, मोह, राग-द्वेषादि या प्रियता-अप्रियता के भाव का प्राबल्य ही मुख्य कारण है, जो केवलज्ञान तो क्या अवधिज्ञान को भी प्राप्त नहीं होने देता। 'स्थानांगसूत्र' में चार ऐसे बाधक कारणों का उल्लेख है, जो अतिशय ज्ञान (अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान) प्राप्त नहीं होने देते। वे इस प्रकार हैं-(१) जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी बार-बार स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा करते हैं; (२) जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी विवेक (अशुद्ध भावों का त्याग कर शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुप्रेक्षण) और व्युत्सर्ग (शरीर और शरीर से सम्बद्ध माता-पिता, परिवार, संघ, गुरु आदि सजीव तथा वस्त्र, पात्र, स्थान, क्षेत्र, प्रतिष्ठा, आहारादि के प्रति ममत्व छोड़ने के कायोत्सर्ग) के द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित नहीं करते; (३) जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी पूर्व-रात्रि और अपर-रात्रिकाल के समय धर्म-जागरणा करके जाग्रत नहीं रहते; और (४) जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी प्रासुक, एषणीय, उञ्छ

---

१. अवि हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्स निरय-ठितिगामी।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति॥ —सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. १६०

और सामुदानिक भिक्षा की सम्यक् प्रकार से गवेषणा नहीं करते। इन चार कारणों से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को तत्काल अतिशययुक्त ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होते-होते रुक जाते हैं, उत्पन्न नहीं हो पाते। साथ ही आगे के सूत्र में बताया है कि अगर साधु-साध्वी उपर्युक्त चार कारणों के निवारणार्थ उक्त चार विशिष्ट कार्यों को अपने श्रमण-जीवन की दैनिक चर्या में स्थान दें, तो उन्हें उक्त अभीष्ट अतिशययुक्त ज्ञान-दर्शन तत्काल (इसी समय) उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे पूर्व-पृष्ठों में उदाहृत साधक और साधिकाओं को अपने तीव्र सत्पुरुषार्थ से तत्काल केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया था।[1]

उच्च साधना तथा क्रियापात्रता होते हुए भी राग-द्वेष-कषायादि क्षीण न हों तो केवलज्ञान नहीं

निष्कर्ष यह है कि चाहे कोई कितना ही उच्च क्रियापात्र साधक हो, चाहे उसको कई प्रकार की सिद्धियाँ, लब्धियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त हो गई हों, चाहे उसकी प्रसिद्धि दिग्दिगन्त तक फैली हुई हो, जनता उसे चाहे भगवान, प्रभु, अवतार, परम गुरु, महन्त, करुणावतार, चमत्कारी, उच्च शक्ति-सम्पन्न, योगी, शक्ति, जगदम्बा या जगन्माता कहती हो, जब तक उसके राग-द्वेष, कषायादि विभावजनित मोहनीय कर्म तथा उसके साथी शेष तीन घातिकर्म पूर्णतया क्षीण न हों, तब तक उसे केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। गणधर गौतम स्वामी इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति की अवश्यम्भाविता का मूलाधार केवलज्ञान है, जिसके प्रगट हुए बिना सर्वकर्म क्षयरूप पूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता।

●●

---

१. (क) चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि ण समुप्पज्जेज्जा, तं. जहा–(१) अभिक्खणं-अभिक्खणं इत्थिकहं, भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवति। (२) विवेगेण विउस्सग्गेणं णो सम्मयप्पाणं भाविता भवति। (३) पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवति। (४) फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसित्ता भवति।

(ख) चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि (तक्खणे) अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुपज्जेज्जा। तंजहा ..... सम्मं गवेसित्ता भवति।

–स्थानांग., स्था. ४, उ. २, सू. २५४-२५५

कर्मविज्ञान

परिशिष्ट



परिशिष्ट १
भाग १ से ९ तक की सम्पूर्ण विषय-सूची

परिशिष्ट २
पारिभाषिक शब्द कोष

परिशिष्ट ३
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

कर्मविज्ञान : प्रथम भाग

खण्ड १, २, ३ — कुल पृष्ठ १ से ६२० तक

प्रथम खण्ड : कर्म का अस्तित्व

निबन्ध ११ — पृष्ठ १ से २०६ तक

(१) आत्मा का अस्तित्व : कर्म-अस्तित्व का परिचायक — पृष्ठ ३ से ३४ तक

आत्मा की विभाव दशा : कर्म के अस्तित्व की कारण ३, आत्मा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं : इन्द्रभूति गौतम की शंका ६, I जीव प्रत्यक्ष नहीं ७, II अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं ७, III आगम-प्रमाण से भी जीव सिद्ध नहीं ७, IV उपमान-प्रमाण से भी जीव असिद्ध है ८, V अर्थापत्ति-प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती ८, जैनदर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ८, I प्रत्यक्ष से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि ८, II आत्मा प्रत्यक्ष भी है ९, III सर्वज्ञ को आत्मा प्रत्यक्ष है; छद्मस्थ को आंशिक प्रत्यक्ष ९, IV इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने पर भी आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता १०, V स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष १०, VI अहं-प्रत्यय से भी आत्मा प्रत्यक्ष ११, VII संशय रूप विज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष है ११, VIII संशयकर्त्ता भी जीव ही है ११, IX गुणों के प्रत्यक्ष से गुणी आत्मा प्रत्यक्ष १२, X विज्ञाता आत्मा ज्ञानरहित इन्द्रियों से भिन्न है १२, XI दूसरों के शरीर में आत्मा की सिद्धि १२, XII अनुमान-प्रमाण द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि १३, XIII संशय का विषय होने से आत्मा की सत्ता सिद्ध है १३, XIV विपर्यय और अनध्यवसाय द्वारा भी आत्मा की सिद्धि १३, XV आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि है; अचेतन पदार्थ नहीं १४, XVI संकलनात्मक ज्ञान करने वाली आत्मा है, इन्द्रियाँ नहीं १४, XVII ज्ञानरूप असाधारण गुण के कारण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है १५, XVIII जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञानरूप गुण न्यूनाधिक रूप में अवश्य रहता है १६, XIX सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञान एवं चैतन्य का अनुभव १६, XX व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध १७, XXI बाधक-प्रमाण के अभाव से आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि १८, XXII प्राणापान कार्य द्वारा आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि १८, XXIII शरीर का कर्त्ता होने से आत्मा सिद्ध है १८, XXIV शरीरादि के भोक्ता के रूप में आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि १९, XXV आत्मा कथंचित् मूर्त्तादि रूप है १९, XXVI शरीरादि संघातों का स्वामी आत्मा है १९, XXVII करणरूप इन्द्रियों का अधिष्ठाता : आत्मा १९, XXVIII आदाता के रूप में आत्मा की सिद्धि २०, XXIX निषेध से आत्मा की सिद्धि २०, XXX अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में जीव की सिद्धि २१, XXXI लोक-व्यवहार द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि २१, XXXII शरीर जीव का आश्रय है, स्वयं जीव नहीं २१, XXXIII पर्यायों द्वारा आत्म-द्रव्य की सिद्धि २२, XXXIV परलोकी के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि २२, XXXV शरीर-रथ के सारथी के रूप में आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि २२, XXXVI उपादानकारण के रूप में आत्मा की सिद्धि २३, XXXVII मन के प्रेरक के रूप में आत्म-तत्त्व की सिद्धि २३, XXXVIII आगम-प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि २३, XXXIX अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि २३, विभिन्न दर्शनों में आत्म-अस्तित्व की सिद्धि २३, सांख्यदर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि २३, न्याय-वैशेषिकदर्शन में आत्मा की सिद्धि २४, मीमांसादर्शन में आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि २४, अद्वैत-वेदान्तदर्शन द्वारा आत्मा की सिद्धि २४, चार्वाक आदि द्वारा आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध २४, आत्मा के पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद २५, अद्वैतवादी परम्परा भी आत्मा को प्रति व्यक्ति भिन्न नहीं मानती २६, स्वतंत्र आत्मवादियों की विचारणा २६, आत्मा के स्वतंत्र

अस्तित्व का स्वरूप २९, आत्मा का असाधारण गुण : चैतन्य ३०, आत्मा को सर्वव्यापी एवं एकान्त अमूर्त मानना भी ठीक नहीं ३०, आत्मा के ज्ञानादि गुण, गुणी (आत्मा) के साथ ही रहेंगे ३१, आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा स्वतंत्र आत्मा मान्य ३२, जैव-वैज्ञानिकों द्वारा आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध ३२, मनोवैज्ञानिक भी आत्मा की स्वतंत्र एवं शाश्वत सत्ता से सहमत ३२, भौतिकविज्ञान द्वारा भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व अस्वीकृत नहीं ३३, जहाँ-जहाँ संसारी आत्मा, वहाँ-वहाँ कर्म अवश्यम्भावी ३४।

(२) जहाँ कर्म, वहाँ संसार — पृष्ठ ३५ से ४८ तक

आत्मा की शुद्ध दशा प्राप्त कराना ही जैनदर्शन का लक्ष्य ३५, आत्मा की दो अवस्थाएँ : क्यों, कैसी और कैसे? ३५, संसार तथा संसारी (अशुद्ध) दशा का मुख्य कारण : कर्म ३८, कर्म और संसार का अविनाभाव सम्बन्ध ३९, संसार-चक्र : कर्म-चक्र के कारण ३९, संसार की दुःखरूपता का मूल कारण : कर्म ४०, संसार का दुःखमय रूप ४०, संसार दुःखमय क्यों? ४१, संसार का सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप ४२, जहाँ संसार है, वहाँ राग-द्वेषादि जनित कर्मजन्य दुःख है ४२, तृष्णा और मोह मिटते ही दुःख मिट जाता है ४२, यही वह संसार है ···· ४३, कर्म के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण : प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार ४४, आगम-प्रमाण से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध है ४४, भूतवादियों द्वारा मान्य केवल इहलौकिक क्रिया-कर्म ४५, कर्म के कारण ही भूत-भविष्यकालीन विचित्रताओं से भरा संसार ४६, ईश्वर-कर्तृत्ववादियों की दृष्टि में संसार का कारण कर्म नहीं, ईश्वर है ४६, जैनदर्शन द्वारा ईश्वरकृत संसार का निराकरण ४७-४८।

(३) कर्म-अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म-१ — पृष्ठ ४९ से ६० तक

कर्म का सम्बन्ध प्राणी के अतीत और अनागत से भी ४९, कर्म-अस्तित्व से इन्कार : इहजन्मवादियों द्वारा ५०, कर्म के अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ५०, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म : क्यों माने जाएँ? ५०, प्रत्येक प्राणी की जीवन यात्रा : कई जन्मों से, कई जन्मों तक ५०, पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के समय शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं ५१, अल्पज्ञों को जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के बाद की अवस्था का पता नहीं ५२, प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा कथित पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-वृत्तान्त ५३, सर्वज्ञ वीतराग प्रभु-वचनों से पूर्वजन्म-पुनर्जन्म और कर्म का अविनाभावी सम्बन्ध ५८, प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा कर्म के साथ अतीत-अनागत जीवन का निर्देश ५८, प्रत्यक्षज्ञानियों ने परोक्षज्ञानियों को युक्तिपूर्वक समझाया ५९-६०।

(४) कर्म-अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म-२ — पृष्ठ ६१ से ८९ तक

पुनर्जन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं ६१, प्रत्यक्षज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि ६१, विभिन्न दर्शनों और धर्मग्रन्थों में कर्म और पुनर्जन्म का निरूपण ६२, ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ६२, उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख ६२, भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत ६३, बौद्धधर्म-दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ६४, न्याय-वैशेषिकदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ६५, पूर्वजन्म में अनुभूत विषयों की स्मृति से पुनर्जन्म-सिद्धि ६६, पूर्वजन्म के वैर-विरोध की स्मृति से पूर्वजन्म की सिद्धि ६७, राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से पूर्वजन्म-सिद्धि ६७, आत्मा की नित्यता से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्ध ६७, देहोत्पत्ति में पंचभूत-संयोग नहीं, पूर्वकर्म ही निरपेक्ष निमित्त है ६८, अदृष्ट (कर्म) के साथ ही पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध ६९, सांख्यदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ६९, कर्म और कर्मफलरूप पुनर्जन्मादि का संयोग कराने वाला : अपूर्व ७१, योगदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म ७१, जैनदर्शन में कर्म और पूर्वजन्म-पुनर्जन्म ७१, महाभारत में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ७२, मनुस्मृति से भी पुनर्जन्म की अस्तित्व-सिद्धि ७२, पुनर्जन्मवाद-खण्डन, एकजन्मवाद-मंडन : दो वर्ग ७२, पुनर्जन्म का निषेध करने वाला द्वितीय वर्ग भी प्रकारान्तर से उसका समर्थक ७३, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार ७८, I प्रथम आक्षेप : विस्मृति क्यों? ७८, II दूसरा आक्षेप : आनुवंशिकता का विरोधी सिद्धान्त ८१, III तीसरा आक्षेप : इहलौकिक जगत्हित के प्रति उदासीनता ८१, IV चौथा आक्षेप : पुनर्जन्म का मानना अनावश्यक ८२, बालकों में ये विशिष्ट प्रतिभाएँ पूर्वजन्म को माने बिना कहाँ से आतीं? ८२, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का स्वीकार : मानव-जाति के लिए आध्यात्मिक उपहार ८५, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की मान्यता से आध्यात्मिक आदि अनेक लाभ ८६, V पंचम

आक्षेप : पुनर्जन्म की मान्यता अवैज्ञानिक ८६, पुनर्जन्म-सिद्धान्त स्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का प्रतिपादक ८७, इन विलक्षणताओं का कारण पूर्वजन्मकृत कर्म ही है ८७, पुनर्जन्म-सिद्धान्त का आधार ८७, पुनर्जन्म-सम्बन्धी मिथ्या मान्यता और भ्रान्ति ८८, पुनर्जन्म के सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि ८८-८९।

(५) परामनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में पुनर्जन्म और कर्म पृष्ठ ९० से १०० तक

परोक्षज्ञानियों का हार्दिक सन्तोषजनक समाधान नहीं ९०, परामनोवैज्ञानिकों द्वारा इस सम्बन्ध में अनुसन्धान और प्रयोग ९०, पूर्वजन्म की साक्षी : सभी धर्मों के बालकों की पूर्वजन्म-स्मृति ९०, पुनर्जन्म को प्रत्यक्षवत् सिद्ध कर दिया परामनोवैज्ञानिकों ने ९१, परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत चार तथ्य ९१, पुनर्जन्म की सिद्धि के साथ आत्मा और कर्म का अनादि अस्तित्व भी सिद्ध ९२, ईसाई-परिवार से सम्बद्ध पूर्वजन्म-स्मृति की घटना ९२, मुस्लिम परिवार से सम्बद्ध पूर्वजन्म-स्मृति की घटना ९३, सभी धर्मों के परिवारों में घटित घटनाएँ : पूर्वजन्म को सिद्ध करती हैं ९४, डॉ. स्टीवेन्सन द्वारा पुनर्जन्म की घटनाएँ प्रस्तुत ९५, पूर्वजन्म की स्मृति कैसे-कैसे लोगों को होती है? ९६, 'आत्म-रहस्य' में प्रकाशित पूर्वजन्म-स्मृति की घटना ९८, नौ जन्मों की स्मृति की आश्चर्यजनक घटना ९८, जीते-जी पूर्वजन्मों का ज्ञान एवं स्मरण ९९-१००।

(६) प्रेतात्माओं का साक्षात् सम्पर्क : पुनर्जन्म का साक्षी पृष्ठ १०१ से ११५ तक

मरणोत्तर जीवन के दो प्रत्यक्ष प्रमाण १०१, परामनोवैज्ञानिकों द्वारा पर्याप्त अनुसन्धान १०१, जैनदर्शन-सम्मत प्रेतात्मा का लक्षण एवं स्वरूप १०१, प्रेतात्मा द्वारा वैर-विरोध का प्रतिशोध १०३, प्रेतात्माओं द्वारा बदला लेने के विभिन्न तरीके १०३, तीस व्यक्तियों की साक्षीपूर्वक प्रेतात्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण १०४, प्रेत ने प्रत्यक्ष पर्चा देकर अपनी उपस्थिति प्रमाणित की १०५, प्रेतात्माओं द्वारा प्रिय पात्र को अदृश्य रूप से सहायता १०६, प्रेतात्मा द्वारा अपनी उपस्थिति का चिह्न १०७, अदृश्य सत्ता द्वारा मार्गदर्शन एवं सहयोग १०७, प्रेतात्मा द्वारा भावी घटना के संकेत १०८, प्रेत के माध्यम से अनेकों अविज्ञात जानकारियाँ प्राप्त १०९, प्रेतात्मा का स्वीकार : ठोस प्रमाणों के आधार पर १०९, प्रेतात्माओं का अड्डा : अमेरिका का राष्ट्रपति भवन ११०, 'जार्ज लेथम' द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म के ठोस प्रमाण ११०, मृतात्माओं से वार्तालाप एवं सम्पर्क : किसी माध्यम द्वारा ११०, 'मैडम ब्लैवेटस्की' द्वारा प्रेतात्माओं से सम्पर्क स्थापित १११, छह प्रेतों के सहयोग से 'आर्थर' धार्मिक, कवि, लेखक एवं विद्वान् बना १११, प्रेत के माध्यम से सुकरात द्वारा सहस्रों व्यक्तियों को मार्गदर्शन १११, साहित्य-सृजन : प्रेतात्मा के सहयोग से ११२, जज द्वारा परलोक-विद्या का अध्ययन और तथ्योद्घाटन ११२, परलोकवाद पर विशिष्ट अध्ययन ११३, मृतात्माओं के आह्वान का अभिनव प्रयोग ११३, प्रेतात्मा ने स्वयं उपस्थित होकर अदालत में साक्षी दी ११३, प्रेतात्मा अधिकारी व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है ११४, प्लैचेट के माध्यम से प्रेतात्माओं का आह्वान ११४, फोटो द्वारा सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व सिद्ध ११४, सूक्ष्मशरीर के फोटो से कर्म के अस्तित्व का प्रत्यक्ष समाधान ११५।

(७) कर्म-अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्वैचित्र्य पृष्ठ ११६ से १३८ तक

जगत् का वैचित्र्य : कर्मों के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण ११६, सिद्ध और संसारी जीवों के अन्तर का कारण : कर्म ११६, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अशुद्धि का कारण : कर्म ११७, सांसारिक जीवों में विभिन्नता या विचित्रता : विजातीय तत्त्व के कारण ११८, आत्माओं में यह अशुद्धि सकारण है, अकारण नहीं ११९, अशुद्धि सजातीय पदार्थों के संयोग से नहीं आती ११९, चौदह द्वारों के माध्यम से कर्मरूप कारण का विचार १२०, I (१) गति, (२) इन्द्रिय, और (३) काय को लेकर कर्मकारणक विषमताएँ १२०, II (४) मन-वचन-काया के योग को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म १२१, III (५) वेद को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म १२३, IV (६) कषाय को लेकर जीवों में तारतम्य का कारण : कर्म १२४, V कर्म ही जीवों के (७) ज्ञान, (८) संज्ञा, संज्ञित्व-असंज्ञित्वादि में अन्तर का मूल कारण १२४, VI (९) संयम, (१०) दर्शन, और (११) लेश्या को लेकर जीवों में विभिन्नता भी कर्म के कारण १२५, VII (१२) भव्य, (१३) सम्यक्त्व, और (१४) आहार की अपेक्षा से कर्मकृत विभिन्नता

१२७, आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ, कर्मों के कारण १२८, चौरासी लाख जीवयोनि के अनन्त प्राणियों की कर्मकृत विभिन्न अवस्थाएँ १२८, मनुष्य-जाति के विभिन्न जीवन-क्षेत्रों में विभिन्नताएँ कर्मकृत हैं १२८, I व्यक्तिगत जीवन में १२९, व्यक्तिगत भिन्नता का मूल आधार : कर्म या आनुवंशिक संस्कार? १२९, II पारिवारिक जीवन में १२९, III सामाजिक जीवन में १३०, IV राष्ट्रीय जीवन में १३१, V साम्प्रदायिक जीवन में १३१, VI आर्थिक जीवन में १३२, VII आध्यात्मिक और नैतिक जीवन में १३२, 'न्यायमंजरीकार' की दृष्टि में जगत् की विचित्रता का कारण : कर्म १३३, बौद्धदर्शन की दृष्टि में विसदृशता का कारण : कर्म १३४, जैनदृष्टि से मानव-विचित्रता का कारण : कर्म १३५, प्राणिमात्र की विभिन्नता का कारण भी कर्म १३५, जागतिक रंगमंच पर विभिन्न जीवों के द्वारा विचित्र कर्मकृत अभिनय १३६, विश्व-वैचित्र्य ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होता १३७-१३८।

(८) विलक्षणताओं का मूल कारण : कर्मबन्ध — पृष्ठ १३९ से १५७ तक

विलक्षणताओं के सम्बन्ध में जैव-वैज्ञानिक मान्यता १३९, पूर्वजन्म-स्मृति भी उनकी दृष्टि में आत्मा की अविच्छिन्नता नहीं १३९, जैव-वैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता का कारण : आनुवंशिकता १३९, जैव-वैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता के आधार जीन्स १४०, कुछ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता का कारण : मौलिक प्रेरणाएँ १४१, परन्तु इनसे पूर्णतया मन:समाधान नहीं होता १४१, विलक्षणता का सम्बन्ध 'जीवन' से नहीं, 'जीव' से है १४१, विलक्षणताओं का मूल कारण : अनेक जन्म-संचित कर्म ही १४२, जीवन के प्रारम्भ और जीव के प्रारम्भ में अन्तर १४२, 'जीन' केवल स्थूलशरीर का घटक, कर्म सूक्ष्मतर कार्मणशरीर का १४२, ग्रन्थियों का स्राव : जीवों की विलक्षणता का मूल कारण नहीं १४३, विलक्षणता का मूल कारण : शरीर-विज्ञानमान्य संस्कार सूत्र नहीं, कर्म-परमाणु ही १४३, बौद्धिक और मानसिक क्षेत्र की विलक्षणताएँ कर्मजन्य ही हैं १४४, इन विलक्षणताओं के मूल कारण आनुवंशिकता आदि नहीं, पूर्वजन्म संचित कर्म ही १४५, बौद्धिक विलक्षणता का प्रतीक : 'यहूदी मेनुहिन' १४६, 'ल्यूथिनियन' बालक में अनेक भाषा-ज्ञान की विलक्षणता १४७, 'फ्रेडरिक गॉस' की गणितीय विलक्षणता १४८, 'कार्लविट' की बौद्धिक विलक्षणता का मूल कारण : पूर्वजन्मकृत कर्म ही १४८, प्रकाश के आविष्कारक डॉ. यंग की विलक्षण बौद्धिक क्षमता १४९, बचपन से ही विलक्षण प्रखर बुद्धि का धनी : रोबन हेमिल्ट १४९, साहित्य क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करने वाली बालिका १४९, इन विलक्षणताओं का मूल कारण : आनुवंशिकता आदि नहीं १५०, वज्रस्वामी का प्रखर शास्त्रीय ज्ञान : पूर्वजन्मकृत कर्म का परिणाम १५०, ये स्वभावगत एवं भावनात्मक विलक्षणताएँ भी कर्मकृत हैं, आनुवंशिक नहीं १५०, पूर्वजन्मार्जित कर्म ही जन्मजात विलक्षणता के मूल कारण १५२, मानवीय गुणों में विकास की जन्मजात विभिन्नता पैतृक नहीं १५२, मानवेतर प्राणियों में विलक्षणताएँ कर्म को मूल कारण मानने पर ही सिद्ध होती हैं १५३-१५७।

(९) कर्म का अस्तित्व विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध — पृष्ठ १५८ से १६६ तक

कर्मविज्ञान : जैन संस्कृति की रग-रग में रमा हुआ १५८, कर्म के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न १५८, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा कर्म के अस्तित्व की सिद्धि १५९, अनुमान-प्रमाण द्वारा कर्म की अस्तित्व-सिद्धि १५९, अन्य दर्शनों में भी कर्म की अस्तित्व-सिद्धि १६५-१६६।

(१०) कर्म का अस्तित्व : कब से और कब तक ? — पृष्ठ १६७ से १८२ तक

कर्म और आत्मा दोनों के अस्तित्व और सम्बन्ध को समझना अनिवार्य १६७, कर्म का अस्तित्व : कब से, कब तक? १६८, दोनों का सम्बन्ध अनादि क्यों, कैसे? १६८, संसार अनादि है, अतएव जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि १६८, तात्त्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि सम्बन्ध १६९, विकासवाद और जीव का सम्बन्ध १६९, आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि है? : एक विश्लेषण १६९, कर्म और आत्मा में पहले कौन? पीछे कौन? १७०, कर्म पहले या आत्मा? : इसका युक्तिसंगत समाधान १७०, कर्म अकारण ही कैसे लग गए आत्मा के? १७१, शुद्धि और अशुद्धि का क्रम कैसे टूटेगा? १७२, कर्म पहले था, आत्मा बाद में, यह क्रम भी ठीक नहीं १७३, ईश्वरकृत सृष्टि-रचना का सयुक्तिक निराकरण १७४, दोनों के अनादि सम्बन्ध का अन्त कैसे? १७६, चार प्रकार के सम्बन्ध

१७७, आत्मा और कर्म का तीन प्रकार का सम्बन्ध १७७, प्रवाह रूप से आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध १७८, भव्य और अभव्य जीव का लक्षण १७८, अभव्य जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध अनादि-अनन्त १७८, भव्य जीव का कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध १७९, आत्मा और कर्म का संयोग वियोगपूर्वक नहीं होता १७९, जीव और कर्म का संयोग प्रवाह संतति की अपेक्षा अनादि १८०, अनादि की व्याख्या को समझकर सादि मानने में दोष १८०, सादि-सान्त सम्बन्ध की मीमांसा १८०, आत्मा के साथ कर्म के अनादि और सादि सम्बन्ध का स्पष्टीकरण १८२।

(११) कर्म-अस्तित्व के प्रति अनास्था अनुचित पृष्ठ १८३ से २०५ तक

आत्मा और कर्म के प्रति आस्था : तब और अब १८३, वर्तमान में आस्था-संकट के दुष्परिणाम १८३, देव आदि द्वारा मानव का भाग्य बदलने की अन्ध-श्रद्धा १८४, कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्थाहीनता : क्यों और कैसे? १८५, कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्थाहीन दो वर्ग १८६, प्रथम वर्ग की अश्रद्धा का कारण १८६, कर्म के प्रति आस्थाहीन : अर्थलिप्सु लोगों के चक्कर में १८६, नास्तिकों की कर्म के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धा का कारण और निवारण १८७, वैद्यों एवं नीतिकारों की दृष्टि में रोगादि का मूल कारण : कर्म १८८, कर्मों के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धा होने पर १८९, आस्थाहीन अपने लिए अनिष्ट संयोगों को निमंत्रण देता है १८९, अश्रद्धालुओं द्वारा घोर दुष्कर्म : अनन्त संसार-भ्रमण का कारण १९०, कर्म के अस्तित्व के प्रति श्रद्धाहीनों के द्वारा की गई कठोर साधना निष्फल १९१, कर्म के अस्तित्व को झुठलाया नहीं जा सकता १९१, इन कृत्यों का फल तत्काल कहाँ मिलता है? १९२, कृषक फल न मिलने पर भी आशा और विश्वास नहीं छोड़ता १९२, दुष्प्रवृत्तियों से अपना ही अहित है १९३, जैसा बोओगे, वैसा काटोगे १९३, क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है १९३, दूरदर्शी व्यक्ति कर्मफल न मिलने पर भी दुष्कृत्यों में प्रवृत्त नहीं होता १९४, विलम्ब में ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की परीक्षा १९४, अदूरदर्शी प्राणी स्वयं दुर्दशा के जाल में फँसते हैं १९५, कर्म के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध दुष्कर्मों के कारण दण्डित होता है १९५, पापकर्म छिप नहीं सकते १९६, दुष्कर्मी समाजदण्ड, राजदण्ड और प्रकृतिदण्ड पाता है १९६, कर्मफल विलम्ब से भी मिले तो भी उसके अस्तित्व के प्रति श्रद्धा रखो १९७, तत्काल फलवादियों के अव्यवहार्य कुतर्क १९७, समाधान और अनुभव १९७, कर्मफल विलम्ब से मिलने पर भी सभी व्यवहार होते हैं १९८, महान् पुरुषों को मिलने वाले अशुभ कर्मफल का कारण पूर्वजन्मकृत कर्म हैं १९८, पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण ही विपत्ति, वर्तमान जन्मकृत नहीं १९९, इनकी जन्म से विलक्षणता में कर्म ही कारण है २००, ये चार सिद्धान्त अध्यात्म की सभी शाखाओं द्वारा स्वीकृत २०१, मरणोत्तर जीवन में कर्म और कर्मफल के मानने से लाभ २०१, क्रूरकर्मा व्यक्ति भी मृत्यु के समय स्वकृत दुष्कर्मफल के भय से संत्रस्त २०२, सिकन्दर अन्तिम समय में स्वकृत दुष्कर्मफल से त्रस्त २०२, इहजीवनवादियों द्वारा अनैतिक एवं स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति २०३, कर्म को परलोकानुगामी न मानने से बहुत बड़ी हानि २०४, आस्तिकता के मुख्य चार अंग अपनाने आवश्यक २०४, कर्म को मरणोत्तर जीवन में अनुगामी मानने से लाभ २०५, कर्म का मरणोत्तर जीवन में अस्तित्व न मानना कितना अहितकर? २०५, कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्था-संकट से बचिये २०५।

●●

द्वितीय खण्ड : कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

निबन्ध १०

पृष्ठ २०७ से ३५२ तक

(१) अध्यात्म-शक्तियों के विकास का उत्प्रेरक : कर्मवाद पृष्ठ २०९ से २१३ तक

(२) विभिन्न कर्मवादियों की समीक्षा : चार पुरुषार्थों के सन्दर्भ में पृष्ठ २१४ से २३२ तक

चार पुरुषार्थ और उनके स्वरूप २१४, चारों ही पुरुषार्थों का साध्य २१५, धर्म-पुरुषार्थ यहाँ संवर-निर्जरा का हेतु नहीं २१५, मोक्ष-पुरुषार्थ का फल एवं उपादेयत्व २१५, मोक्ष-पुरुषार्थ को उपादेय

मानने का प्रबल कारण २१६, कौन-सी प्रवृत्ति उपादेय, कौन-सी हेय? २१७, साम्परायिक कर्मबन्ध से बचो, ऐर्यापथिक से बचना कठिन २१७, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-पुरुषार्थ की मर्यादाएँ २१८, मोक्षलक्ष्यी धर्मयुक्त अर्थ-काम-पुरुषार्थ २१८, संयम के हेतु मोक्ष-पुरुषार्थलक्ष्यी प्रवृत्ति निर्दोष है २१९, प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेक २२०, दो पुरुषार्थों को मानने वाले : प्रत्यक्षवादी चार्वाक आदि २२१, ऐसे प्रत्यक्षवादियों की विचारधारा में पुरुषार्थद्वय २२१, त्रिपुरुषार्थवादी कर्मवाद-समर्थक २२३, कर्म और कर्मफल के विषय में विचार : क्यों और कैसे? २२३, कर्मवादियों के मुख्य दो दल २२४, निवर्तक धर्मवादी दल : मोक्ष-पुरुषार्थ-प्रधान २२५, निवर्तक धर्मवादी दल का अभीष्ट : कर्मों से मुक्ति २२६, दोनों दलों की ध्येय-दिशा में अन्तर २२७, निवर्तक दल के द्वारा कर्म-सिद्धान्त का व्यवस्थित विकास २२७, निवर्तक कर्मवादियों द्वारा मोक्ष-पुरुषार्थ के विषय में विशेष चिन्तन २२८, समस्त निवर्तक धर्मवादियों द्वारा मोक्ष को सर्वोच्च स्थान २२८, निवर्तक धर्मवादियों के मुख्य तीन पक्ष २२९, I प्रथम पक्ष–परमाणुवादी, II द्वितीय पक्ष–प्रधानवादी, III तृतीय पक्ष–प्रधान छायापन्न परमाणुवादी–परिणामी परमाणुवादी २२९, लक्ष्य के प्रति सब एकमत, कर्म के स्वरूप के विषय में नहीं २२९, प्रवर्तक धर्म पहले प्रचलित था या निवर्तक धर्म? २३०-२३२।

(३) कर्मवाद का आविर्भाव — पृष्ठ २३३ से २५० तक

आत्मा और परमात्मा के बीच में अन्तर का कारण : कर्म २३३, जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव २३४, सर्वथा कर्ममुक्ति की ओर जाना अनिवार्य २३४, अनादि कर्मप्रवाह को तोड़े बिना सदेह-विदेह परमात्मा नहीं बनते २३५, कर्मवाद के आविर्भाव का एक और प्रबल कारण २३५, कर्मभूमिक कालानुसार शुभ कर्मयुक्त जीवन जीने की प्रेरणा २३७, कर्ममुक्ति के लिए धर्म-प्रधान समाज का निर्माण २३८, धर्म, कर्म, संस्कृति आदि का श्रीगणेश २३९, कर्म को ही सृष्टि की विविधता एवं विचित्रता का कारण बताया २३९, कर्मवाद का प्रथम उपदेश : भगवान ऋषभदेव के द्वारा २४०, कर्मवाद के पुरस्कर्ता : भगवान ऋषभदेव २४१, वैदिक-परम्परा में कर्मवाद का प्रवेश : कब से, कहाँ से? २४२, कर्मवाद का मूल स्रोत २४५, वैदिकों पर जैन-परम्परा के कर्मवाद का प्रभाव २४६, अदृष्ट की कल्पना भी वेदेतर प्रभाव का परिणाम २४६, वैदिकों द्वारा सृष्टि के अनादित्व की मान्यता पर जैन-परम्परा का प्रभाव २४७, अनादि संसार-सिद्धान्त का मूल : वेदेतर परम्परा में २४७, कर्मवाद का मूल उद्गम : जैन-परम्परा २४८, वैदिक-परम्परा में यज्ञादि के साथ कर्म का समावेश २४८, प्रजापति देवाधिदेव के साथ कर्मवाद का समन्वय २४८, वैदिकों में कर्मवाद का प्रवेश : क्यों, कब और किस रूप में? २४८, वैदिकों द्वारा कर्मवाद की स्पष्ट धारणा नहीं २४९, कर्मवाद का मूल और विकास जैन-परम्परा में ही २४९-२५०।

(४) कर्मवाद का तिरोभाव-आविर्भाव : क्यों और कब? — पृष्ठ २५१ से २७० तक

आविर्भाव या आविष्कार आवश्यकता होने पर होता है २५१, कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया? २५२, प्रागैतिहासिक काल में भगवान ऋषभदेव द्वारा आविर्भूत कर्मवाद २५३, नये-नये तीर्थंकरों द्वारा अपने-अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव २५३, भगवान अरिष्टनेमि द्वारा तिरोभावापन्न कर्मवाद का आविर्भाव २५४, भगवान पार्श्वनाथ द्वारा तिरोहित कर्मवाद का आविर्भाव २५७, पार्श्वनाथ ने कर्मवाद का तिरोभाव दूर किया २५८, कर्मवाद से अनभिज्ञ कमठ ने वैर-परम्परा बढ़ाई २५९, प्रभु पार्श्वनाथ द्वारा कर्मवाद का रहस्योद्घाटन २६०, भगवान महावीर द्वारा कर्मवाद का आविर्भाव २६०, गणधरों की कर्मवाद-सम्बन्धित शंकाओं का समाधान २६२, कर्मवाद के तिरोभाव होने में तीन प्रबल कारण २६५, ईश्वरकर्तृत्ववाद की मान्यता में तीन मुख्य भूलें २६५, बौद्धदर्शन कर्मवाद को मानने पर भी क्षणिकवादी था २६८, भूत-चैतन्यवादियों का मत कर्मवाद विरोधी था २६९-२७०।

(५) कर्मवाद के समुत्थान की ऐतिहासिक समीक्षा — पृष्ठ २७१ से २८४ तक

कर्मवाद का मूल स्रोत २७१, जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल २७१, कर्मवाद के समुत्थान का मूल स्रोत २७२, कर्मवाद-सम्बन्धी सांपोपांग वर्णन का मूल स्रोत २७३, मूल के आधार पर रचित कर्म-साहित्य २७४, नयवाद आदि के समान कर्मवाद का समुत्थान भी भगवान महावीर से २७५,

वैदिकदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थान २७५, वैदिक की अपेक्षा जैन-परम्परा में कर्मवाद का सांगोपांग विकास २७७, जैन-साहित्य में कर्मवाद की प्रांजल व्याख्या २७८, कर्मवाद का विकास-क्रम : साहित्य-रचना के सन्दर्भ में २७९, I पूर्वात्मक कर्मशास्त्र २७९, II पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र २७९, III प्राकरणिक कर्मशास्त्र २८०, विकास के सर्वोच्च शिखर पर कर्मवाद : कब और कैसे? २८४।

(६) कर्मशास्त्रों द्वारा कर्मवाद का अध्यात्म-मूलक सर्वक्षेत्रीय विकास पृष्ठ २८५ से २९४ तक

कर्मशास्त्र में शरीरादि का वर्णन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर २८५, कर्मशास्त्र में शरीर-सम्बन्धी वर्णन : एक समीक्षा २८५, शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र की अपेक्षा कर्मशास्त्र की विशेषता २८६, कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र से भिन्न नहीं २८८, अध्यात्मशास्त्र के उद्देश्य की पूर्ति ही कर्मशास्त्र करता है २८९, कर्मशास्त्र अन्तरंग कारण बताता है २९२, कर्मशास्त्र द्वारा धर्मध्यान का निर्देश २९३-२९४।

(७) कर्मवाद पर प्रहार और परिहार पृष्ठ २९५ से ३०१ तक

विचार-शक्ति की भिन्नता के कारण कर्मवाद का खण्डन और मण्डन २९५, कर्मवाद पर मुख्यतः तीन प्रहार २९६, I पहला प्रहार २९६, II दूसरा प्रहार २९६, III तीसरा प्रहार २९६, उक्त प्रहारों का क्रमशः परिहार २९७, I प्रथम प्रहार का परिहार २९७, II द्वितीय प्रहार का परिहार २९७, III तीसरे प्रहार का परिहार ३००, सृष्टिकर्तृत्व एवं ऐकेश्वरत्व का समन्वयात्मक समाधान ३०१।

(८) कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधी वाद-१ पृष्ठ ३०२ से ३१५ तक

कर्मवाद को चुनौती देने वाले छह वाद ३०२, एकान्तवाद मिथ्या है ३०३, कालवाद-मीमांसा ३०३, स्वभाववाद-मीमांसा ३०६, यदृच्छावाद-मीमांसा ३०८, नियतिवाद-मीमांसा ३०९, नियतिवाद का आध्यात्मिक रूप ३१४-३१५।

(९) कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधी वाद-२ पृष्ठ ३१६ से ३३२ तक

भूतवाद-समीक्षा ३१६, भूत-चतुष्टय की प्रक्रिया ३१७, भूत-चतुष्टयवाद का मन्तव्य ३१७, डार्विन का विकासवाद : भौतिकवाद का रूप ३१८, पुरुषवाद-मीमांसा ३२०, ब्रह्मवाद ३२०, ईश्वरवाद ३२३, ईश्वरकर्तृत्ववाद युक्ति-बाधित ३२४, जगत् के उद्धार के लिये ईश्वर की जरूरत नहीं ३२५, कौन-से वाद हेय, कौन-से उपादेय? ३२६, कर्मवाद की जड़ काटने वाले कुछ वाद ३२६, I अक्रियावाद ३२६, II अज्ञानवाद ३२७, III अनिश्चयवाद या संशयवाद ३२८, IV प्रच्छन्न नियतिवाद ३२९, V विनयवाद ३३०, VI क्रियावाद ३३०, VII एकान्त-ज्ञानवाद ३३०, प्रकृतिवाद ३३१, अव्याकृतवाद ३३१-३३२।

(१०) कर्मवाद के सन्दर्भ में पंच-कारणवादों की समीक्षा और समन्वय पृष्ठ ३३३ से ३५१ तक

अनेकान्तवादी जैनदर्शन का मन्तव्य ३३३, विश्व-वैचित्र्य के पाँच कारण ३३३, छह कारणवादों में कर्म और पुरुषार्थ का उल्लेख क्यों नहीं? ३३३, प्रत्येक कार्य में पाँच कारणों का समवाय और समन्वय मानना उचित ३३४, संसार का प्रत्येक कार्य : पाँच कारणों के मेल से ३३५, कालादि तीनों वाद : कब आंशिक सत्य, कब सम्पूर्ण सत्य? ३३५, एकान्त-कालवाद की समीक्षा ३३५, एकान्त-स्वभाववाद की समीक्षा ३३६, एकान्त-नियतिवाद की समीक्षा ३३६, कर्मवाद-मीमांसा ३३८, कर्मवाद की समीक्षा ३४१, पुरुषार्थवाद की मीमांसा ३४५, पुरुषार्थवाद-समीक्षा ३४७, पाँच कारणवादों का समन्वय ३४८, सर्वत्र पंच-कारण-समवाय से कार्यसिद्धि ३४९, वस्त्र-निर्माण कार्य में पंच-कारण-समवाय ३४९, आम्रफल-प्राप्ति में पंच-कारण-समवाय ३४९, विद्याध्ययन-कार्य में पंच-कारण-समवाय ३४९, मोक्ष-प्राप्तिरूप कार्य में पंचकारण-समवाय ३५०, कार्य में इन पाँचों की गौणता-मुख्यता संभव ३५०, जगत्वैचित्र्य का प्रधान कारण : कर्म ३५१, चैतन्य का स्व-पुरुषार्थ ही उत्तरदायी ३५१।

● ●

तृतीय खण्ड : कर्म का विराट् स्वरूप

निबन्ध ९४ पृष्ठ ३५३ से ६२० तक

(१) 'कर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ और रूप पृष्ठ ३५५ से ३६६ तक

कर्म का सार्वभौम साम्राज्य और विश्वास ३५५, 'कर्म' शब्द का प्रयोग : विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न अर्थों में ३५५, 'कर्म' शब्द : क्रियापरक अर्थ में, विभिन्न परम्पराओं में ३५६, आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से त्रिविध कर्म ३५८, समुत्थान के आधार पर कर्मों का द्विविध वर्गीकरण ३५८, कर्म के अर्थ में क्रिया से लेकर फलविपाक तक समाविष्ट ३५८, जैनदृष्टि से कर्म के अर्थ में क्रिया और उसके हेतुओं का समावेश ३५९, 'कर्म' शब्द समग्र कार्य-अर्थ में व्यापक ३५९, 'कर्म' शब्द में क्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ समाविष्ट ३५९, कर्म : स्पन्दनक्रियारूप त्रिविध योग ३५९, स्पन्दनक्रियाजन्य संस्कार भी 'कर्म' शब्द के अर्थ में सन्निहित ३६०, पुद्गलों का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन ३६१, कार्मणपुद्गलों का ही कर्मरूप से परिणमन ३६१, संस्कारयुक्त कार्मणपुद्गल : चिरकाल तक जीव से सम्बद्ध ३६२, त्रिविध द्रव्यकर्म : विभिन्न अपेक्षाओं से ३६२, कार्मणपुद्गल 'कर्म' क्यों और कैसे कहे जाते हैं? ३६२, द्रव्यकर्म की व्याख्या ३६३, 'कर्म' शब्द का अभिधेयार्थ और व्यंजनार्थ ३६३, कर्म के समानार्थक शब्द : विभिन्न परम्पराओं में ३६३, छह द्रव्यों में कथंचित् द्रव्यकर्मत्व ३६५, जैनदृष्टि से कर्म सामान्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ३६५-३६६।

(२) कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म पृष्ठ ३६७ से ३८५ तक

कर्म का द्रव्यात्मक एवं भावात्मक रूप ३६७, कर्म का निर्माण : जड़ और चेतन दोनों के मिश्रण से ३६७, कर्मबद्ध संसारी जीव में ही जड़-चेतन-मिश्रण से कर्मद्वयरूप ३६८, कर्म के दो रूप : अजीवकर्म और जीवकर्म ३६९, संसारी आत्मा और कर्म में अन्तर क्या? ३६९, द्रव्यकर्म और भावकर्म : दोनों आत्मा से सम्बद्ध ३६९, कर्म और प्रवृत्ति में कार्य-कारणभाव को लेकर द्रव्य-भावकर्म ३७०, द्रव्यकर्म और भावकर्म की उत्पत्ति की प्रक्रिया ३७१, उपादान, निमित्त और नैमित्तिक कारण के सिद्धान्तानुसार द्रव्य-भावकर्म ३७१, भावकर्म और द्रव्यकर्म की परस्पर निमित्त-नैमित्तिक शृंखला ३७२, दोनों कारणों का स्वरूप और परस्पर एक-दूसरे के निमित्त ३७३, भावकर्म द्वारा द्रव्यकर्म की उत्पत्ति ३७३, भावकर्म क्रिया है, द्रव्यकर्म है फल ३७३, द्रव्य-भावकर्मों में द्विमुखी कार्य-कारणभाव ३७३, दोनों में बीजांकुरवत् कार्य-कारणभाव ३७४, संतति की अपेक्षा से द्रव्य-भावकर्म का परस्पर अनादि कार्य-कारणभाव ३७४, भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म को कारण क्यों मानें? ३७५, दोनों में पारस्परिक कार्य-कारणभाव का स्पष्टीकरण ३७५, भावकर्म की उत्पत्ति कैसे? : एक विश्लेषण ३७६, योग और कषाय : दोनों ही आत्मा की प्रवृत्ति के दो रूप ३७६, दोनों कर्म साथ-साथ आत्मा से सम्बद्ध ३७७, जितना कषाय तीव्र-मन्द, उतना ही कर्म का बन्ध तीव्र-मन्द ३७७, द्रव्य-भावकर्म की तीव्रता-मन्दता क्या है, क्या नहीं? ३७८, जितना भावकर्म तीव्र-मन्द, उतना ही सूक्ष्मकर्म तीव्र-मन्द ३७८, वेदान्तदर्शन में आवरण और विक्षेप के रूप में द्रव्य-भावकर्म ३७९, नैयायिक-वैशेषिकों की दृष्टि में द्रव्यकर्म और भावकर्म ३७९, योग और सांख्यदर्शन में द्रव्यकर्म-भावकर्म के साथ सामंजस्य ३८०, सांख्यमत में द्रव्य-भावकर्म की तुलना जैनदर्शन से ३८१, बौद्धदर्शन में भावकर्म और द्रव्यकर्म प्रकारान्तर से मान्य ३८३, मीमांसादर्शन में भावकर्म और द्रव्यकर्म की संगति ३८४, भगवद्गीता में प्रकारान्तर से द्रव्यकर्म-भावकर्म ३८४, निष्कर्ष ३८५।

(३) कर्म : संस्काररूप भी, पुद्गलरूप भी पृष्ठ ३८६ से ४०५ तक

कर्म : कार्यकारण का एक नियम ३८६, आत्मा की वैभाविक क्रियाएँ कर्म हैं ३८६, क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम भी कर्म-संस्काररूप ३८७, क्रिया की पुनः-पुनः प्रतिक्रिया ३८७, एक ही क्रिया की अनेक बार प्रतिक्रिया ३८७, प्रमाद ही संस्काररूप कर्म (आस्रव) का कारण ३८८, संस्कार का निर्माण : कब और कब नहीं? ३८८, कर्म का अर्थ : चित्तवृत्ति या संस्कार-निर्माण ३८९, कर्म-प्रवृत्ति के संस्कारों का संचय ही

कर्मास्रव ३८९, कार्मणशरीर : कार्य भी है, कारण भी ३९०, कार्मणशरीर भी उपचार से द्रव्यकर्म ३९०, प्रवृत्ति और संस्कारों का चक्र, कार्मणशरीर द्वारा ३९०, प्रवृत्ति के साथ ही चित्तभूमि पर पदचिह्न-अंकन ३९१, संस्कार, धारणा, आदत, वृत्ति, स्मृति आदि समानार्थक हैं : क्यों और कैसे? ३९१, चित्त पर पड़ा प्रभाव ही संस्काररूप बन जाता है ३९२, प्रारम्भिक कार्य बार-बार करने पर सुदृढ़ कर्म-संस्कार ३९२, अविद्याग्रस्त जीवों की प्रत्येक प्रवृत्ति बन्धकारक ३९३, योगदर्शन में संस्काररूप में कर्म ३९३, प्रवृत्ति के साथ ही कर्म-संस्कार और अनुभव-संस्कार ३९४, क्लेशपूर्वक प्रवृत्ति ही चित्त में कर्म-संस्कार की कारण ३९४, बौद्ध-परम्परा में प्रवृत्ति और लोभादि त्रिपुटीवश संस्कार-चक्र ३९५, बौद्ध-परम्परा में कर्म के संस्काररूप में स्थानापन्न शब्द ३९५, कर्म के सन्दर्भ में अविद्या-परम्परा से संस्कार-चक्र की परम्परा ३९५, क्लेशरूप कर्म-संस्कार संसार में पुनर्जन्म का कारण ३९६, मीमांसादर्शन में अपूर्व नामक वेदविहित कर्मजन्य-संस्कार ३९६, सांख्यदर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म का ग्रहण ३९७, क्लेशरूपी जल ही कर्म-बीजांकुरोत्पत्ति का कारण ३९८, वैशेषिकदर्शन में कर्माशय (संस्कार) वश पुनः-पुनः संसारबन्ध ३९८, धर्म-अधर्म का स्वरूप और अदृष्ट का कार्य ३९९, वैशेषिकदर्शन मान्य अदृष्ट भी कर्मजन्य संस्काररूप है ३९९, आत्मा में अदृष्ट और उसके फल उत्पन्न होने में कारण ३९९, संस्कार और अदृष्ट में केवल नाम का अन्तर ३९९, न्यायदर्शन द्वारा मान्य धर्माधर्मरूप संस्कार का स्वरूप ४००, धर्माधर्मरूप आत्म-संस्कार : कर्मफलभोग-पर्यन्त स्थायी ४००, विभिन्न दर्शनों में कर्म संस्काररूप सिद्ध होता है ४००, जैनदर्शन के अनुसार कर्म : संस्काररूप भी और पुद्गलरूप भी ४०१, वैशेषिक आदि दर्शनों और जैनदर्शन में कर्म के लक्षण में अन्तर ४०१, उभयविध कर्म की व्याख्या ४०१, पुद्गल का कर्मरूप में परिणमन : कैसे? ४०२, कर्म केवल संस्काररूप ही नहीं, पुद्गलरूप भी है ४०२, जीव के रागादि परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र ४०३, जीव और पुद्गल के परिणमन में दोनों एक-दूसरे के लिए निमित्त ४०१, पुद्गलों का कर्मभाव में परिणमन स्वतः ४०३, कर्म-पुद्गलों के कर्मरूप में परिणमन की प्रक्रिया ४०४, परिणामों से कर्म और कर्म से परिणाम का चक्र ४०४, जीव-पुद्गल कर्मचक्र ४०४, पुद्गलद्रव्य तथा तन्निमित्तक भाव भी कर्मरूप ४०५, पुद्गलरूप कर्म का निरूपण जैनदर्शन में ही ४०५।

(४) कर्म का परतंत्रीकारक स्वरूप — पृष्ठ ४०६ से ४३१ तक

कर्म-पुद्गल ही जीव को बन्धन में जकड़कर परतंत्र बनाते हैं ४०६, कर्म : जीव को परतंत्र बनाने वाला अहितकर शत्रु ४०७, अरिहन्त तीर्थंकर : कर्मरूपी शत्रुओं के हारक ४०७, कर्मबन्ध का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ : परतंत्रता में डालने वाला ४०८, ज्ञानीजन कर्मविपाक की परतंत्रता को भलीभाँति जानते हैं ४०८, कर्म का लक्षण : जो जीव को परतंत्र करता है ४०८, संसारी जीव : हीनस्थान को अपनाने के कारण कर्म-परतंत्र ४०८, संसारी जीव का शरीर ही हीनस्थान ४०९, आत्मा शरीर से सम्बद्ध होने से पुनः-पुनः कर्माधीन ४०९, शरीर को लेकर ही आत्मा कर्म-परतंत्र होती है : क्यों और कैसे? ४०९, जीव को कब स्वतंत्रता और कब कर्म-परतंत्रता? ४१०, कर्म जीव को क्यों परतंत्र बना डालते हैं? ४११, कर्म-चक्र आत्मा को कैसे पराधीन बनाते हैं? ४११, अष्टविध कर्मों द्वारा जीवों का परतंत्रीकरण : कैसे-कैसे? ४१२, जीव के सुख-दुःख, जन्म-मरण, शरीरादि तथा यश-अपयश कर्माधीन हैं ४१५, कर्म जीव की स्वाभाविक शक्तियों को कुण्ठित और विकृत बनाते हैं ४१७, आत्मा अपने स्वभाव-स्वगुणों का विकास करने में स्वतंत्र है ४१८, आत्मा का स्वभाव : विकास करना, कर्म का स्वभाव : अवरोध करना ४१९, ज्ञानादि स्वभाव आत्मा का उपादान होने से वह विकास कर पाता है ४१९, ज्ञानादि पर्यायों की उत्पत्ति और विकास आत्मा ही कर सकती है, कर्म नहीं ४१९, शरीरादि सम्बद्ध विकास आत्मिक विकास नहीं है ४२०, कर्म का स्वभाव : तप-त्यागादि की ओर प्रेरित करना नहीं ४२०, घातिकर्म भी आत्मा को तप-त्यागादि की ओर प्रेरित नहीं कर सकते ४२१, मिथ्यात्वादि में डूबे हुए भी आत्मा में तप-त्यागादि की साधना-भावना क्यों? ४२१, जीव चेतना के साथ स्वतंत्र, कर्म के साथ परतंत्र ४२२, प्रत्येक आत्मा प्रभु (स्वयम्भू) है, प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न है ४२२, आत्मा शुभाशुभ कर्मों को करने, भोगने तथा क्षय करने में समर्थ-स्वतंत्र ४२३, आत्मा का उद्धार और पतन तथा स्वतंत्रता-परतंत्रता अपने हाथ में ४२४, सच्चा स्वातंत्र्ययुक्त आत्मा कब कर्म-परतंत्र, कब स्वतंत्र? ४२४, आत्मा की इच्छा के बिना कर्म आदि उसे परवश

नहीं कर सकते ४२५, जीव स्वतंत्र है या परतंत्र? : सापेक्ष समाधान ४२५, आत्मा कर्म (क्रिया) करने में स्वतंत्र, फल भोगने में परतंत्र ४२६, कर्म का स्वभाव : परतंत्र बनाना, आत्मा का स्वभाव : स्वतंत्र होना ४२७, कर्म करने में जीव स्वतंत्र, फल भोगने में परतंत्र ४२७, प्रत्येक कर्म करने में जीव स्वतंत्र, किन्तु परिणाम अवश्य स्वीकारना होगा ४२८, कर्म करने की स्वतंत्रता का फलितार्थ ४२९, दृष्टान्त द्वारा कर्म करने में स्वतंत्रता, फलभोग में परतंत्रता का स्पष्टीकरण ४२९, कर्म : परतंत्रकर्त्ता कब होते हैं, कब नहीं? ४२९, कर्म करने की जितनी स्वतंत्रता, उतनी ही जिम्मेवारी में परतंत्रता ४३०, यह पूर्ण स्वतंत्रता नहीं, उसका मजाक है ४३०, कर्म करने के निर्णय में मनुष्य स्वतंत्र, परन्तु बाद में कर्म-परतंत्र ४३१।

(५) क्या कर्म महाशक्तिरूप है ? पृष्ठ ४३२ से ४५३ तक

कर्मराज का सर्वत्र सार्वभौम राज्य ४३२, कर्म ही विधाता, शास्ता, ब्रह्मा, धर्मराज आदि है ४३२, कर्मरूपी विधाता का विधान अटल है ४३३, कर्म : शक्तिशाली शास्ता एवं अनुशास्ता ४३३, मुक्ति न होने तक कर्म छाया की तरह पिछलग्गू ४३४, फल भोगने तक कर्म-शक्ति पीछा नहीं छोड़ती ४३५, कर्मों की सर्वत्र अप्रतिहत गति ४३५, कर्म के नियम अटल हैं ४३६, कर्म के नियमों में कोई अपवाद नहीं ४३६, जड़ कर्म-पुद्गलों में भी असीम शक्ति ४३७, सूक्ष्म कर्म-परमाणु-पुंज में अनन्त प्रकार की परिणाम-प्रदर्शन शक्ति ४३७, कर्म-शक्ति : धनादि सभी शक्तियों से बढ़कर ४३८, प्रचण्ड कर्म-शक्ति के आगे बड़े-बड़े महारथी परास्त ४३९, कर्मरूपी महाशक्ति के प्रकोप की भयंकरता ४३९, कर्म-शक्ति से प्रभावित जीवन ४४१, कर्म की गति अत्यन्त गहन ४४२, कर्म-शक्ति की विलक्षणता ४४२, कर्म-शक्ति का प्रकोप कितना भयंकर? ४४३, पूर्वकृत घोर कर्म के फलस्वरूप दशरथ का देहान्त ४४३, श्रीकृष्ण पर जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्मों की काली छाया ४४३, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पर कर्म-शक्ति का प्रकोप ४४४, कर्म-शक्ति के कारण ही विभिन्न गतियों-योनियों में परिभ्रमण ४४५, कर्मरूपी सूत्रधार की विलक्षण शक्ति ४४६, कर्म और आत्मा : दोनों में प्रबल शक्तिमान् कौन? ४४७, वस्तुतः आत्मा की शक्ति ही प्रबल ४४८, कर्म-शक्ति प्रबल होती है चेतन का संयोग पाकर ४४९, कर्म-शक्ति को परास्त किया जा सकता है ४५०, आत्मा की शक्ति कर्म की शक्ति से अधिक क्यों? ४५०, अपनी शक्तियों का भान होते ही आत्मा कर्म-शक्ति को पछाड़ सकता है ४५१, कर्म-शक्ति पर आत्म-शक्ति विजयी न हो तो साधना निरर्थक ४५२, कर्म-विजेता तीर्थंकरों ने कर्म-शक्ति पर विजय का सन्देश दिया ४५२, आत्म-विरोधी कर्म-महाशक्ति पर विजयी ही सच्चा विजेता ४५३।

(६) कर्म : मूर्त्तरूप या अमूर्त आत्म-गुणरूप ? पृष्ठ ४५४ से ४६२ तक

'कर्म' शब्द का रूप और स्वरूप : दुर्गम्य एवं गहन ४५४, कर्म को मूर्तरूप न मानने का क्या कारण? ४५४, गणधरवाद में कर्म के मूर्त-अमूर्त होने की चर्चा ४५५, सुख-दुःखादि अमूर्त का समवायिकारण, आत्मा निमित्तकारण : कर्म ४५६, मूर्त का लक्षण और उपादान ४५६, षट्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त है ४५६, कर्म अमूर्त आत्मा का गुण नहीं है ४५७, कर्म सूक्ष्म होते हुए भी मूर्त है ४५८, गणधरवाद में कर्म की मूर्त्तत्व-सिद्धि ४५८, अन्य जैन-दार्शनिक ग्रन्थों में कर्म की मूर्त्तत्व-सिद्धि ४५९, कर्म के मूर्त्त कार्यों को देखकर मूर्त्तत्व-सिद्धि ४६०, आप्तवचन से कर्म मूर्त्तरूप सिद्ध होता है ४६१, अपेक्षा से कर्म जड़-चेतन-उभय परिणामरूप भी है ४६२।

(७) कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप पृष्ठ ४६३ से ४८४ तक

कर्म द्वारा आत्मा को मलिन करने की प्रक्रिया जानना आवश्यक ४६३, झरिया से कर्म को भलीभाँति जानकर ही कर्म काटने का पुरुषार्थ करना हितावह ४६४, मशीनमैन को मशीन की प्रक्रिया के ज्ञान की तरह साधक को कर्म-प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक ४६४, भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया की तरह जैविक-रासायनिक प्रक्रिया के प्रति जागरूक होना जरूरी ४६४, भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों की सन्धि तोड़ने के लिए प्रक्रियात्मक रूप जानना आवश्यक ४६५, अमूर्त के साथ मूर्त-कर्म का संयोग-सम्बन्ध कैसे? ४६५, दोनों के उपादान पृथक्-पृथक्, दोनों में संयोग-सम्बन्धकृत परिवर्तन ४६६, निमित्त की सीमा में दोनों एक-दूसरे से उपकृत एवं प्रभावित होते हैं ४६६, निश्चयदृष्टि से अमूर्त आत्मा, वर्तमान में मूर्तवत् बनी हुई

है ४६७, वर्तमान में भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों आत्मा के साथ लिपटे हुए हैं ४६७, भावकर्म-द्रव्यकर्म की प्रक्रिया भी कर्म का प्रक्रियात्मक रूप ४६८, जैविक और पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रियाओं का योग ही कर्म का प्रक्रियात्मक रूप ४६८, आकाशीय ग्रह-नक्षत्रादि का भूमण्डल आदि पर प्रभाव ४६८, कर्म की एक प्रक्रियात्मक प्रणाली ४६८, आगम में कर्म के प्रक्रियात्मक रूप का एक चित्र ४६९, इस प्रक्रिया में गर्भित एक और प्रक्रिया ४७०, कर्म-परमाणुओं की स्वतः-संचित क्रिया-प्रक्रिया चार विभागों में विभाजित ४७१, कर्मों की स्वतः-संचालित प्रक्रिया-व्यवस्था कैसे और किस रूप में? ४७२, कृतक कर्मों की प्रक्रिया का स्वरूप और उसकी व्यवस्था ४७४, त्रिविध कृतक कर्मों का रूप और उनका कार्य ४७५, विविध कृतक कर्मों के चौदह करण और उनका प्रकार ४७६, अन्तःकरण का कार्य-विभाजन एवं प्रक्रिया ४७८, चेतना-शक्ति का करणों के प्रति उपयुक्तीकरण ४८०, एक ही चेतना-शक्ति का उपयुक्तीकरण दो प्रकार का ४८०, यहाँ कर्म के प्रसंग में क्रियारूप योग ही प्रधान है ४८१, 'योग' शब्द का शास्त्रीय अर्थ ४८१, योग : करणों के माध्यम से चेतना-शक्ति का चंचल होना ४८१, कर्म-प्रक्रिया का प्रारम्भ : भावकरणरूप योग से ४८२, द्रव्यरूप और भावरूप मन, वचन और काया का स्वरूप और कार्य ४८२, कर्म की त्रिविध योगात्मक-चतुर्दशविध करणात्मक प्रक्रिया ४८४।

(८) कर्म और नोकर्म : लक्षण, कार्य और अन्तर — पृष्ठ ४८५ से ५०० तक

कर्म : शब्द एक, अर्थ और आशय अनेक ४८५, कर्म एवं विविध द्रव्य-वर्गणा : कर्म-वर्गणा और नोकर्म-वर्गणा ४८५, कार्मणशरीर कर्मरूप और औदारिकादिशरीर नोकर्मरूप ४८६, कार्मणशरीर को उपचार से कर्म कहा गया ४८६, कर्म से पृथक् नोकर्म-संज्ञा क्यों? ४८७, 'नोकर्म' शब्द की व्याख्या ४८६, क्या कर्म की तरह नोकर्म भी बन्धनकारक है? ४८७, नोकर्म के दो प्रकार : बद्धनोकर्म और अबद्धनोकर्म ४८८, दोनों प्रकार के नोकर्मों में आत्मा को बाँधने की शक्ति नहीं ४८८, स्थूल-सूक्ष्म सभी पंचभौतिक पदार्थ शरीर में अन्तर्भूत होने से नोकर्म हैं ४८९, साक्षात् कर्म न कहकर नोकर्म क्यों कहा गया? ४८९, कर्म और नोकर्म में अन्तर का स्पष्टीकरण ४९०, नोकर्म का लक्षण ४९०, नोकर्म : कर्मविपाक में सहायक सामग्री ४९०, भ्रान्त मान्यता ४९१, कर्म और नोकर्म के कार्यों में अन्तर ४९१, कर्म और नोकर्म का पारस्परिक सम्बन्ध ४९२, नोकर्म : कर्म के उदय में सहायक निमित्त ४९२, द्रव्य-निमित्तक नोकर्म का उदाहरण ४९२, क्षेत्र-काल-निमित्तक नोकर्म का उदाहरण ४९३, कर्म : मुख्य निमित्तकारण, नोकर्म गौण निमित्तकारण ४९४, किस-किस कर्म के कौन-कौन-से नोकर्म हैं? ४९४, कर्म और नोकर्म के कार्यों का विश्लेषण ४९४, ज्ञानावरणादि कर्मोदय के साथ अज्ञानादि भावों की समव्याप्ति है, नोकर्म के साथ नहीं ४९५, कर्म का मुख्य कार्य : संसारी अवस्थाओं में मुख्य निमित्त बनना ४९५, संसारी अवस्थाओं का मुख्य और गौण निमित्त : कर्म और नोकर्म ४९६, जीव की संसारी अवस्था किन-किन कर्मों के कारण होती है? ४९७, बाह्य सामग्री का संयोग-वियोग कराना कर्म का कार्य नहीं ४९७, बाह्य सामग्री कर्म का कार्य नहीं : क्यों और कैसे? ४९८, बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है ४९९, कर्म और नोकर्म की कार्य-मर्यादा का संक्षिप्त विश्लेषण ४९९-५००।

(९) कर्मों के रूप : कर्म, विकर्म और अकर्म — पृष्ठ ५०१ से ५२८ तक

सभी सांसारिक प्राणी कर्म के चंगुल में ५०१, इन्द्रियाँ निश्चेष्ट, मन कामनावश : मिथ्याचार है ५०१, कार्य न करने मात्र से निष्कर्म या निर्लिप्त नहीं ५०२, सांसारिक जीव अविरत कर्म संलग्न ५०२, शरीर-प्राप्ति के साथ ही कर्म का सिलसिला प्रारम्भ ५०२, देहधारी प्राणी तब तक कर्ममुक्त या अकर्म नहीं हो पाता ५०३, बाहर से निश्चेष्ट, मन से हिंसा कर्म करने में सचेष्ट : कालसौकरिक ५०३, तन्दुलमच्छ की केवल मानसिक क्रिया से सप्तम नरक यात्रा ५०४, ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन से ही शुभ-अशुभ कर्म बाँधे और तोड़े ५०४, क्या सभी क्रियाएँ कर्म हैं? ५०६, पच्चीस क्रियाएँ : स्वरूप और विशेषता ५०६, साम्परायिक क्रियाएँ ही बन्धनकारक, ऐर्यापथिक नहीं ५०७, क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, पर सभी कर्म बन्धनकारक नहीं ५०७, कर्म और अकर्म की फलित परिभाषा ५०८, बन्धक-अबन्धक कर्म का आधार : बाह्य क्रियाएँ नहीं ५०९, अबन्धकारक क्रियाएँ भी रागादिपूर्वक कषाययुक्त होने से बन्धक हो जाती हैं ५१०, साधनात्मक क्रियाएँ भी अकर्म के बदले कर्मरूप बन जाती हैं : कब और क्यों? ५११,

अकर्म भी कर्म और कर्म भी अकर्म हो जाता है : कब और कैसे? ५११, आस्रव संवररूप और संवर आस्रवरूप हो जाते हैं : क्यों और कैसे? ५१३, कर्म का अर्थ केवल सक्रियता और अकर्म का केवल निष्क्रियता नहीं ५१४, कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं, अकर्म का अर्थ केवल निवृत्ति नहीं ५१४, कर्म, विकर्म और अकर्म (शुद्ध कर्म) की अव्यक्त झाँकी ५१५, भगवान महावीर की दृष्टि में प्रमाद कर्म और अप्रमाद अकर्म ५१६, एकान्त निष्क्रियता को अकर्म मानने में दोषापत्ति ५१६, सकषायी जीव हिंसादि में अप्रवृत्त होने पर भी पापकर्म फलभागी ५१७, सक्रियतामात्र कर्म नहीं, वहाँ अकर्म भी : क्यों और कैसे? ५१८, यावत्कर्म को कर्म मानना न्यायसंगत नहीं, अयुक्तिक भी ५१९, विकर्म का स्वरूप और पहचान ५१९, कर्म और विकर्म में अन्तर ५२०, यतनाशील साधक की क्रिया पापकर्मबन्धक नहीं होती ५२०, कर्म के बन्ध और अबन्ध की मीमांसा ५२१, अकर्म में कुशल व्यक्ति की पहचान ५२१, कर्म, विकर्म और अकर्म का स्पष्ट लक्षण ५२२, भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप ५२३, विकर्म प्रतीत होने वाला कर्म भी (शुभ या शुद्ध) कर्म : कब और कैसे? ५२५, गीता की भाषा में अकर्म भी कर्म, कर्म भी अकर्म : कब और कैसे? ५२५, कर्म में अकर्म का दर्शन करने वाले महाभाग की पहचान ५२६, बौद्धदर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म का विचार ५२६, कृत और उपचित को लेकर चतुर्विध भंग ५२७, कौन-से कर्म बन्धनकारक, कौन-से अबन्धनकारक? ५२७, तीनों धाराओं में कर्म, विकर्म और अकर्म के अर्थ में प्रायः समानता ५२८।

(१०) कर्म का शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप — पृष्ठ ५२९ से ५५० तक

कर्मजल-परिपूर्ण संसार-समुद्र में तीन प्रकार के नाविक और नौका ५२९, कर्म के तीन रूप : शुभ, अशुभ और शुद्ध ५३१, पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से तीनों की जैन-बौद्ध-वैदिक दर्शन के साथ संगति ५३१, शुभ और अशुभ कर्म बनाम पुण्य-पाप ५३१, शुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण ५३२, अशुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण ५३२, शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय के आधार ५३३, शुभाशुभत्व के मुख्य आधार : गीता में ५३३, जैनदर्शन में कर्म के शुभाशुभत्व का मुख्य आधार : कर्त्ता का अभिप्राय ५३४, बौद्धदर्शन में शुभाशुभत्व का आधार : एकमात्र कर्त्ता का आशय ५३५, शुभ आशय : किन्तु प्राणि-हिंसा के कारण कर्म अशुभ ५३७, धर्मग्रन्थ-विहित कर्म, किन्तु अमंगलकारी होने से अशुभ ५३७, कर्म के शुभत्व के लिये मनोवृत्ति और क्रिया दोनों का शुभ होना अनिवार्य ५३८, कर्म के शुभत्व के सम्बन्ध में एकांगी मान्यता का खण्डन ५३८, तांत्रिकों और सुखवादियों की वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही अशुभ ५३९, बाह्यरूप से वृत्ति शुभ, कृति अशुभ ५३९, यह शुद्ध कोटि का कर्म कदापि नहीं ५४०, कृति अशुभ है तो मांगलिक भी अमांगलिक–अशुभ ५४०, परोपकार कर्म शुभ, परपीड़न कर्म अशुभ ५४१, आत्मानुकूल शुभ, आत्म-प्रतिकूल अशुभ ५४१, कौन-सा व्यवहार शुभ, कौन-सा अशुभ? : इसकी कसौटी आत्म-तुल्यता ५४१, कर्म का शुभाशुभत्व : कहाँ व्यक्ति-सापेक्ष, कहाँ समाज-सापेक्ष? ५४२, वैदिक धर्मग्रन्थों में शुभत्व का आधार : आत्मवत्दृष्टि ५४२, बौद्धधर्म में कर्म के शुभत्व का आधार : आत्मौपम्यदृष्टि ५४२, जैनदृष्टि से कर्म के एकान्त शुभत्व का आधार : आत्मतुल्यदृष्टि ५४५, जब तक संसारी, तब तक शुभ-अशुभ दोनों का उदय ५४५, शुद्ध कर्म की व्याख्या ५४७, शुद्ध अवस्था में शुभ कर्म का होना भी अनावश्यक ५४७, शुभ-अशुभ दोनों को क्षय करने का क्रम ५४८, अशुभ कर्म से बचने पर शेष शुभ कर्म भी प्रायः शुद्ध बन जाता है ५४८, तप, संवर आदि कार्य अनासक्तिपूर्वक करने से ही कर्मक्षय के कारण हैं ५४८-५५०।

(११) सकाम और निष्काम कर्म : एक विश्लेषण — पृष्ठ ५५१ से ५७० तक

'कर्म' शब्द के अर्थों में भ्रान्ति ५५१, 'कर्म' शब्द के अर्थ भी पूर्वाग्रह-गृहीत हो चुके ५५१, कर्म के सकाम और निष्काम, दोनों रूपों को जानना आवश्यक ५५२, सकाम और निष्काम शब्द के अर्थों में विपर्यास ५५२, सकाम-अकाम निर्जरा से सकाम-निष्काम कर्म के अर्थ भिन्न हैं ५५३, कर्म के संदर्भ में 'काम' शब्द में अनेक अर्थ गर्भित ५५३, 'काम' शब्द में सुधुप्त अर्थों का क्रम ५५४, त्रिविध कृतक कर्म दो-दो प्रकार के हैं : सकाम और निष्काम ५५४, सकाम और निष्काम कर्म की व्याख्या ५५४, भगवद्गीता में सकाम और निष्काम कर्म की व्याख्या ५५५, निष्काम कर्म और अकर्म में अन्तर ५५५, निष्काम और सकाम कर्म की विभाजक रेखा ५५७, निष्काम कर्म की व्याख्या ५५७, निष्काम कर्म में भी फल-प्राप्ति

अपने अधीन नहीं ५५८, कर्मफल-त्याग के चार आधार ५५८, निष्काम कर्मी सत्कर्तव्य, परार्थकर्म आदि अनासक्तिपूर्वक करता है ५५८, गीता में सकाम कर्मियों की पहचान ५६०, सकाम कर्म में कामना से लेकर तृष्णा तक की दौड़ ५६०, काम्य कर्मों का तथा कर्मफल का त्याग ही कर्मत्याग है ५६०, जैनदृष्टि से सर्वकाम-त्यागी ही वास्तविक त्यागी साधक ५६१, निष्काम कर्मी साधक कर्म को न पकड़कर कर्म के मूल 'काम' को पकड़ता है ५६१, निष्काम कर्म में कर्मफल की आकांक्षा तथा कर्मफल का त्याग ५६२, मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित त्रिविध कर्म सकाम हैं ५६२, गीता-प्रतिपादित सकाम और निष्काम कर्म ५६३, तप और पंचाचार का अनुष्ठान सकाम न हो, निष्काम हो ५६३, निष्काम कर्म के लिए सम्यक्त्व सर्वप्रथम आवश्यक ५६३, ये बालतप सकाम हैं, निष्काम नहीं ५६४, कर्म-त्याग का उपदेश परम्परा से निराकुल सुख के लिए है ५६४, सकाम-निष्काम दोनों कर्मों में कामना होते हुए भी महान् अन्तर ५६४, सकाम कर्म की प्रवृत्ति : निपट स्वार्थानुरंजित ५६५, सकाम कर्म को निष्काम में परिणत करने की तीन विधियाँ ५६७, निष्काम पक्ष का ग्रहण कठिन ५६७, निष्काम कर्म में सूक्ष्म प्रशस्त रागात्मक कामना तथा फलाकांक्षा भी ५६८, सैद्धान्तिक दृष्टि से दशम गुणस्थान तक लोभ रहता है ५६८, सिद्धान्त और आचरण में अन्तर रहेगा ही ५६९, अप्पाणं वोसिरामि : निष्काम कर्मी का मूल मंत्र ५६९, परहितार्थ परार्थ प्रवृत्ति ५७०, संकीर्ण स्वार्थ सकाम कर्म का और विस्तीर्ण स्वार्थ निष्काम कर्म का प्रतीक ५७०, सकाम कर्म ५७०।

(१२) कर्मों के दो कुल : घातिकुल और अघातिकुल — पृष्ठ ५७१ से ५८० तक

आत्मा के मूल और प्रतिजीवी गुणों के घातक कर्मों के दो कुल ५७१, घातिकुल और अघातिकुल के कर्म ५७२, घातिकुलीन कर्म का लक्षण ५७२, घातिकर्म किस प्रकार आत्म-गुणों का घात करते हैं? ५७३, चारों घातिकर्मों का कार्य ५७३, घातिक कर्मों की उत्कटता ५७३, इन चारों में मोहनीय कर्म प्रबल एवं प्रमुख ५७४, घातिक कर्मों का उन्मूलन हुए बिना केवलज्ञान एवं मोक्ष नहीं होता ५७५, घातिकर्म के दो भेद : सर्वघाति और देशघाति ५७५, सर्वघाति कर्म-प्रकृतियाँ ५७६, देशघाति कर्म-प्रकृतियाँ ५७६, अघाति कर्म : स्वरूप, कार्य और प्रकार ५७६, घाति-अघाति कर्मों में कौन पापरूप, कौन पुण्य रूप? ५७७, अघाति कर्मों का कार्य और प्रभाव ५७७, घाति कर्मों को उन्मूलन करने का क्रम ५७८, घाति कर्म : समूल नष्ट हो जाने पर ५७८, अघाति कर्म : प्रभाव और कार्य ५७८, अघाति कर्मों का सर्वथा उन्मूलन हो जाने पर ५७९, मुमुक्षु आत्माओं का लक्ष्य : घाति-अघाति कर्मों का क्षय करना ५८०।

(१३) कर्म के कालकृत त्रिविधरू रूप — पृष्ठ ५८१ से ६०६ तक

कालकृत कर्म : त्रैकालिक रूप में ५८१, कर्म की त्रिकालकृत गतिविधि को जानना-समझना अति कठिन ५८१, कर्म का त्रैकालिक रूप : आगम और गीता में ५८२, कर्म का त्रैकालिक रूप समझना अत्यावश्यक ५८२, प्रत्येक दर्शन में कर्म की कालकृत तीन अवस्थाएँ ५८२, कर्मों के बन्ध, सत्ता और उदय के अन्तर्गत संख्यातीत प्रश्न और समाधान ५८३, फलदान की दृष्टि से जैन और वैदिक-परम्परा में कालकृत तीन भेद ५८४, संचित कर्म और सत्ता-स्थित कर्म ५८४, वैदिक दृष्टि से क्रियमाण कर्म का स्वरूप ५८५, जैनदृष्टि से बध्यमान और वैदिक दृष्टि से क्रियमाण में अन्तर ५८५, क्रियमाण कर्म : कब संचित, कब क्रियमाण? ५८५, संचित और क्रियमाण कर्म एक-दूसरे से अनुस्यूत ५८६, अनेक जन्मों के संचित कर्म फलभोग के सम्मुख होने पर ही फल देकर छूटते हैं ५८७, राजा दशरथ को तीनों कालकृत कर्मों का सामना करना पड़ा ५८७, जब धृतराष्ट्र राजा के प्राकृत कर्म उदय में आए ५८८, क्रियमाण कर्म तत्काल फल क्यों नहीं देते? ५८८, प्रारब्ध कर्म : स्वरूप और विश्लेषण ५८९, प्रारब्ध कर्म पूर्णतया भोगे बिना नहीं छूटते ५८९, संचित कर्म प्रारब्ध के रूप में कब तक? ५९०, त्रिविध कालकृत कर्मों से छुटकारा पाये बिना मोक्ष नहीं ५९०, संसार-सागर दुस्तर क्यों? ५९०, कालकृत कर्मों का यह चक्र अनन्तकाल तक चलता है ५९१, तीनों कालकृत कर्मों का फल किसी न किसी रूप में भोगना पड़ता है ५९१, प्रारब्ध कर्म को हँसते-हँसते भोग लो ५९२, राजा परीक्षित ने अशुभ प्रारब्ध को स्वयमेव भोगकर मुक्ति पाई ५९२, संचित कर्म तत्काल फल न दे, इसलिए निश्चिन्त मत होओ ५९४, एक ज्वलन्त घटना : प्रारब्ध कर्म की विचित्रता की ५९४, केवल प्रारब्ध को या केवल क्रियमाण को देखकर ही झट निर्णय न करो ५९६, वर्तमान में पापी सुखी, धर्मी दुःखी : क्यों और कैसे? ५९७, त्रिविध कालकृत कर्म को समझाने हेतु दृष्टान्त

५९८, तीनों गुणों वाले व्यक्तियों की क्रियमाण कर्म करने की पद्धति ५९९, क्रियमाण कर्म करते समय सावधान रहो ६००, जैनदृष्टि से प्रारब्ध भी बदला जा सकता है ६००, कट्टर प्रारब्धवादी पुरुषार्थहीन हो जाते हैं ६०१, लौकिक दृष्टि से प्रारब्ध और पुरुषार्थ का तालमेल ६०१, लोकोत्तर आध्यात्मिक दृष्टि से प्रारब्ध से लाभ उठाओ, मोक्ष-पुरुषार्थ करो ६०१, प्रत्येक परिस्थिति में सन्तोषपूर्वक पुरुषार्थ करो ६०२, अर्थ और काम प्रारब्ध पर छोड़ो, धर्म-मोक्ष में पुरुषार्थ करो ६०२, सच्चा शुभ क्रियमाण पुरुषार्थ (कर्म) ही प्रारब्ध बनता है ६०२, अपने प्रारब्ध का निर्माण अपने हाथ में ६०३, मनोऽनुकूल प्रारब्ध कर्म के लिए क्रियमाण में सावधान रहो ६०३, संचित कर्मों से छुटकारा कैसे प्राप्त हो? ६०३, ज्ञानाग्नि से संचित आदि सब कर्म नष्ट हो जाते हैं ६०५-६०६।

(१४) कर्म का सर्वांगीण और परिष्कृत स्वरूप — पृष्ठ ६०७ से ६१९ तक

क्या कर्मरूपी महासमुद्र की थाह लेना अतीव कठिन है? ६०७, आत्मा और कर्म का पृथक्करण करना असम्भव नहीं है ६०७, कर्म का सर्वांगीण और परिष्कृत रूप समझना आवश्यक ६०८, ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से कर्मों से मुक्त जीव परब्रह्म परमात्मा बन सकता है ६०८, कर्म के परिष्कृत स्वरूप को समझना आवश्यक है : क्यों और कैसे? ६०९, कर्म करना सहेतुक है, वह जीव का स्वभाव नहीं ६१०, कर्म के परिष्कृत स्वरूप में इच्छाकृत बन्धक कर्मों का ही समावेश ६१०, पूर्वोक्त तीन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में बन्धक कर्म के चार मुख्य लक्षण ६१२, प्रथम लक्षण ६१२, 'कीरइ' पद की व्याख्या ६१२, आत्मा कर्म-परमाणुओं को कैसे आकृष्ट कर लेता है? ६१३, चर्मचक्षुओं से अदृश्य कार्मण-वर्गणा का जीव द्वारा ग्रहण करना भी कर्म है ६१३, कर्म का उभयविध लक्षण ६१४, आत्मा के पार्श्ववर्ती कर्म-परमाणु आत्मा से कैसे सम्बद्ध हो जाते हैं? ६१४, 'जिएण' की व्याख्या ६१५, 'हेउहिं' की व्याख्या ६१६, कर्म का दूसरा परिष्कृत लक्षण ६१६, कर्म का तृतीय परिष्कृत लक्षण ६१६, कर्म के लक्षण में क्रिया और क्रिया के हेतु-दोनों का समावेश ६१७, कर्म का चतुर्थ लक्षण : परमार्थ दृष्टि से ६१८, कर्म का आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कृत स्वरूप ६१८, जैन-कर्मविज्ञान का यह सर्वांगीण, परिष्कृत स्वरूप : क्यों और कैसे? ६१९।

● ●

कर्मविज्ञान : द्वितीय भाग

खण्ड ४, ५ — कुल पृष्ठ १ से ५३८ तक

चतुर्थ खण्ड : उपयोगिता, महत्ता और विशेषता

निबन्ध ११ — पृष्ठ १ से ११६ तक

(१) कर्मविज्ञान का यथार्थ मूल्य निर्णय — पृष्ठ ३ से २१ तक

आस्तिक के लिए वस्तु के अस्तित्व के साथ वस्तुत्व एवं मूल्य-निर्णय भी आवश्यक ३, तीर्थंकरों ने वस्तु के वस्तुत्व एवं गुणधर्मत्व का निरूपण किया ३, इस खण्ड में कर्म-सिद्धान्त का मूल्य-निर्णय ४, समग्र गणधरवाद में कर्म के अस्तित्व, वस्तुत्व एवं विशेषत्व का निर्णय ४, वस्तु का मूल्य-निर्धारण चेतना के अधीन ५, इन्द्रियों के माध्यम से मूल्य-निर्धारण पूर्णतः यथार्थ नहीं ५, सर्वज्ञ आप्त-पुरुषों द्वारा भी तत्त्वों के माध्यम से यथावस्थित मूल्य-निर्णय ६, कर्मों का कर्ता, भोक्ता, क्षयकर्ता जीव ही है ७, जीव के बाद अजीव तत्त्व का निर्देश क्यों? ८, शेष पुण्य-पापादि तत्त्व भी एक या दूसरे प्रकार से कर्म से सम्बद्ध ८, कर्मविज्ञान का भी तत्त्वों के निर्देश का उद्देश्य ९, कर्म की अपेक्षा से भी तत्त्वों में कौन हेय, ज्ञेय, उपादेय? ९, कर्मविज्ञान की दृष्टि से भी तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्व ९, कर्म-दुःख से सम्बन्धित अध्यात्म जिज्ञासु द्वारा उठने वाले भी प्रश्नों का भी तत्त्वों के रूप में समाधान १०, लोकोत्तर रोगी के लिए सात तथ्य जानना-मानना आवश्यक ११, जैन-कर्मविज्ञान द्वारा प्ररूपित चार तत्त्व अन्य तीन दर्शनों में भी १२, सिर्फ ज्ञान से ही मुक्ति दिलाने वाले दर्शन १२, कोरे ज्ञान या कोरी क्रिया से कर्म-मुक्ति नहीं हो सकती १३, भव-भ्रमण रोग-मुक्ति के लिए भी ज्ञान-दर्शन-क्रिया तीनों आवश्यक १३, तत्त्वों पर आत्मानुभवात्मक सम्यक्त्वमूलक श्रद्धा से ही कर्म-मुक्ति १३, कर्म-सिद्धान्त के यथार्थ मूल्य-निर्णय के लिए ज्ञानादि त्रिपुटी जरूरी १५, मूल्य-निर्णय व्यक्ति की दृष्टि, श्रद्धा, रुचि एवं बुद्धि पर निर्भर १५, मिथ्या धारणाओं के शिकार गलत मूल्य-निर्णय करते हैं १६, विपरीत दृष्टि वाले व्यक्तियों का विपरीत दृष्टिकोण एवं आचरण १६, विपरीत दृष्टि लोगों द्वारा कर्म-सिद्धान्त का विपरीत प्ररूपण १७, दृष्टि, श्रद्धा, बुद्धि आदि के विपरीत होने के कारण १८, मिथ्यादृष्टि विवेकमूढ़ मानवों का बुद्धि-विपर्यास १८, पापकर्मरत मानव शुद्ध धर्म से अनभिज्ञ रहता है १९, मलिन बुद्धिजन यथार्थ मूल्य-निरूपण नहीं कर पाते २०, कर्म-सिद्धान्त का यथायोग्य मूल्य-निर्णय न होने का फल २०, सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् : मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या २०, सम्यग्दृष्टि ही नौ तत्त्वों के माध्यम से कर्म-सिद्धान्त के यथार्थ मूल्य-निर्णय में सक्षम २१।

(२) आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्मविज्ञान की उपयोगिता — पृष्ठ २२ से ३३ तक

कर्मविज्ञान की उपयोगिता पर सर्वतोभावेन विचार करना आवश्यक २२, जीवन के सर्वांगों और सर्वक्षेत्रों का विश्लेषण कर्मविज्ञान में है २२, सभी दृष्टियों से कर्मविज्ञान पर विचारणा आवश्यक २३, कर्म सर्वथा त्याज्य नहीं, अपितु संसार-यात्रा के अन्त तक उपादेय भी है : क्यों और कैसे? २३, सर्वज्ञोक्त होने से कर्मविज्ञान सर्वाधिक उपयोगी एवं प्रेरक २४, भौतिक उपयोगितावादी कर्मविज्ञान से लाभ नहीं उठा पाते २५, कर्मविज्ञान से आध्यात्मिक उपलब्धि २६, भौतिकता और आध्यात्मिकता की आराधना में अन्तर २७, कर्मविज्ञान मुमुक्षु आत्मा के लिए दर्पण के समान २७, कर्मविज्ञान के अभ्यास से आत्मा में निराकुलता और शान्ति का अनुभव २७, व्यायामादि अभ्यास के समान कर्मविज्ञान के अभ्यास से महालाभ २८, कर्मविज्ञान के चिन्तनरूप धर्मध्यान से रागादि की मन्दता २८, कर्मविज्ञान का अध्येता धर्मध्यान ध्याता हो जाता है २८, कर्मविज्ञान : आत्म-शक्ति को कर्म-शक्ति से प्रबल बताता है २९, कर्मविज्ञान : अध्यात्मविज्ञान का विरोधी नहीं, अपितु पृष्ठपोषक व सहायक २९, कर्मविज्ञान : वैभाविक और स्वाभाविक दोनों अवस्थाओं का ज्ञान कराता है २९, कर्मविज्ञान : अध्यात्मविज्ञान को प्रकट करने की कुंजी ३०, कर्मविज्ञान का

सर्वक्षेत्रीय विज्ञानों के साथ समन्वय और महत्त्व ३०, कर्मविज्ञान : आत्म-शक्तियों के प्रकटीकरण में प्रेरक ३०, कर्मविज्ञान : अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने के लिये प्रेरक ३१, कर्मविज्ञान में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए तीन सोपान ३१, कर्मविज्ञान का रहस्यज्ञाता ही सम्यग्दृष्टि ३२, सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् कर्मविज्ञानी की दृष्टि, गति, मति ३२, उपसंहार ३३।

(३) व्यावहारिक जीवन में कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता पृष्ठ ३४ से ४७ तक

सिद्धान्त की कसौटी और जैन कर्म-सिद्धान्त ३४, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार ही जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता ३५, कर्म-सिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन में प्रयोक्ता कैसा होता है? ३६, जैन कर्म-सिद्धान्त पद-पद पर सँभलकर चलने की प्रेरणा देता है ३६, दैनन्दिन जीवन में कर्म-सिद्धान्त का उपयोग ३७, कर्म-सिद्धान्तविज्ञ में कर्मफल को समभाव से भोगने की शक्ति ३८, कर्म-सिद्धान्तविज्ञ दुःख-विपत्ति के समय व्याकुल नहीं होता ३८, विपत्ति के समय कर्म-सिद्धान्त आत्म-निरीक्षण एवं उपादान देखने की प्रेरणा देता है ३९, विपन्नावस्था में कर्म-सिद्धान्त की प्रेरणा ३९, कर्म-सिद्धान्त द्वारा आश्वासन ४०, कर्म-सिद्धान्त का स्वर्णिम सन्देश ४१, कर्म-सिद्धान्त की सबसे बड़ी उपयोगिता ४१, कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को अपना भाग्यविधाता, स्वयं कर्म का प्रेरक ४२, कर्मविज्ञान सिंहवृत्ति से सोचने की प्रेरणा देता है ४३, कर्म-सिद्धान्त पर दृढ़ आस्थावान् व्यक्ति उपादान को देखता है ४३, कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास से निश्चिन्तता एवं दुःख-सहिष्णुता ४४, दुःख का कारण स्वयं में ढूँढ़कर अनुकूलता-प्रतिकूलता में दृढ़ ४४, कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता के विषय में मेक्समूलर का मत ४५, कर्मविज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष व्यवहारों की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है ४६, दैनन्दिन व्यवहारों की व्याख्या भी कर्मविज्ञान प्रस्तुत करता है ४६, कर्मविज्ञान इस जन्म में कृतकर्मों की संगति भी वर्तमान व्यवहार के साथ बिठाता है ४६-४७।

(४) नैतिकता के सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता पृष्ठ ४८ से ६८ तक

भौतिकविज्ञान के समान कर्मविज्ञान भी कार्य-कारण-सिद्धान्त पर निर्भर ४८, भूतकालीन आचरण वर्तमान चरित्र में तथा वर्तमान चरित्र भावी चरित्र में प्रतिबिम्बित ४८, अतीतकालीन शुभाशुभ आचरण के अनुसार भावी परिणाम : शास्त्रीय दृष्टि में ४८, पूर्वकालिक नैतिक आचरण करने वालों का वर्तमान व्यक्तित्व : शास्त्रीय दृष्टि में ५०, कर्म-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अनैतिक आचरणकर्ता को नैतिक बनने का उपदेश ५१, नैतिक-अनैतिक कर्मों के कर्ता को कर्म ही फल देते हैं, ईश्वरादि नहीं ५१, सप्त कुव्यसनरूप अनैतिक कर्मों का फल किसी माध्यम से नहीं, स्वतः मिलता है ५२, ईसाई धर्म में पापकर्म से बचने की चिन्ता नहीं : क्यों और कैसे? ५३, विश्वास और अनुग्रह पर जोर, अनैतिकता से बचने पर नहीं ५४, नरकायु और तिर्यञ्चायु कर्मबन्ध के कारण ५५, इस्लाम धर्म में नैतिक आज्ञाएँ हैं, पर अमल नहीं ५६, दूसरे धर्म-सम्प्रदायों आदि से घृणा, विद्वेष की प्रेरणा : पापकर्म के बीज ५७, जैन-कर्मविज्ञान : नैतिक सन्तुष्टिदायक ५७, कर्म-सिद्धान्त का कार्य : नैतिकता के प्रति आस्था जगाना, प्रेरणा देना ५८, जैन-कर्मविज्ञान कर्मानुसार फल प्रदान की बात कहता है ५९, मानवता भी कर्म-सिद्धान्तानुसार अशुभ कर्मक्षय से मिलती है ६०, देव-दुर्लभ मनुष्यत्व : नैतिकता का प्राण और प्रथम अंग ६०, नैतिकता का उल्लंघन या पालन वर्तमान में ही शुभाशुभ फलदायक ६१, परिवार और समाज में नैतिकता के प्रति अनास्था का दुष्परिणाम ६२, भौतिकतावादी नैतिकता-विरुद्ध अतिस्वार्थी ६२, इस अनैतिकता का दूरगामी परिणाम ६२, वृद्धों द्वारा आत्महत्या : उनकी ही अनैतिकता उन्हें ही भारी पड़ी ६३-६८।

(५) सामाजिक सन्दर्भ में उपयोगिता के प्रति आक्षेप और समाधान पृष्ठ ६९ से ९२ तक

कर्म-सिद्धान्त की उपादेयता पर नाना आक्षेप ६९, जोहन मैकेंजी द्वारा एक आक्षेप और उसका समाधान ६९, ये सभी लोकहितकर कार्य प्रशंसनीय हैं ७०, पुण्य कर्मबन्धक कार्य भी प्रशंसनीय माने जाते हैं ७३, लोकहित के नाम पर किये गए ये कार्य प्रशंसनीय नहीं ७३, शुभ कर्मबन्धक होते हुए भी ये कार्य प्रशंसनीय माने जाते हैं ७४, ये कार्य पुण्यबन्धक भी और कदाचित् कर्मक्षयकारक भी ७४, पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि ७५, जैन कर्म-सिद्धान्त का समाज संरचना से सम्बन्ध अनिवार्य ७५, समाज के साथ सम्बन्ध से ही कर्मक्षय या निरोध की साधना होगी ७६, कर्म-सिद्धान्त सामाजिक ही नहीं, सर्वभूतात्मभूत बनने का प्रेरक ७७, समाज-सेवा : आत्म-साक्षात्कार की सीढ़ी का प्रथम पाषाण ७८, कर्म के निरोध-क्षयरूप धर्म

की साधना की कसौटी भी समाज-सम्पर्क ७८, शुभ और शुद्ध कर्मों के अर्जन के लिए ही समाज आदि का निर्माण किया गया ७९, सह-अस्तित्व एवं सहयोग का मंत्र भी कर्मक्षय या शुभ कर्मार्जन के लिए ७९, निपट स्वार्थ आदि की संकीर्ण भावना से ही राग-द्वेष-कषायादि का प्रादुर्भाव ८०, अशुभ कर्मबन्ध से बचाने के लिए सर्वभूत मैत्री का मंत्र ८१, कर्मविज्ञान-प्रेरित आत्मौपम्य सिद्धान्त व्यक्ति को समाज एवं समष्टि से जोड़ता है ८१, जैन-कर्मविज्ञान का रहस्य न समझ पाने से व्यक्तिवाद की भ्रान्ति ८२, जैन-कर्मविज्ञान द्वारा आत्मौपम्य भाव से यत्नाचारपूर्वक चर्या करने की प्रेरणा ८३, उच्च साधक के लिए भी समाज-समष्टि के प्रति आत्मीयता के साथ तटस्थता आवश्यक ८४, गृहस्थ-जीवन में भी आत्मीयता और तटस्थता का विवेक ८५, आत्मीयता के साथ तटस्थता का विवेक भी ८५, आत्म-तुल्यता की भावना का विविध पहलुओं से निर्देश ८६, सामूहिक कर्म, हिंसा और पापकर्मबन्ध की शंका ८८, तीन प्रकार से समाधान ८८, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में कर्म से नहीं, पापकर्म से बचने का निर्देश ८९, सामूहिक जीवन में कर्म-विवेक धर्म बन जाता है ९०, अहिंसादि धर्मरूप रस के लिए शुद्ध कर्मरूप छिलका जरूरी ९१, कर्मविज्ञान के अनुसार सामूहिक जीवनदृष्टि में विवेक ९१, सामूहिक चित्त-शुद्धि में कर्म की शुद्धि ९२।

(६) कर्म-सिद्धान्त की त्रिकालोपयोगिता — पृष्ठ ९३ से ११० तक

कर्म-सिद्धान्त : त्रिकाल-प्रकाशक दीपक ९३, जैन-कर्मविज्ञान का त्रिकालस्पर्शी यथार्थ मत ९४, अतीत को जानो, वर्तमान में सत्पुरुषार्थ करो और भविष्य को देखो ९४, भावकर्म और द्रव्यकर्म : अतीत और अनागत के प्रतीक ९५, अतीत के भावों को देखकर वर्तमान में पुरुषार्थ-प्रेरणा और भविष्य का सुधार ९५, अनाथी मुनि ने भी अतीत को पढ़ा, वर्तमान को सुधारकर उज्ज्वल बनाया ९६, किसी के भी अतीत और भविष्य को इस तरह जाना-देखा जा सकता है ९६, वर्तमान जीवन-यात्रा का सम्बन्ध अतीत-यात्रा से है ९७, प्राचीन जैन कथाओं में भी अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा भूत-भविष्य कथन ९७, कर्म-सिद्धान्त से अनुस्यूत श्रेणिक नृप-पुत्र मेघकुमार का अतीत, वर्तमान और भविष्य ९८, अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान में संवर एवं भविष्य का प्रत्याख्यान करो ९९, वर्तमान अतीत से सम्बद्ध तथा भविष्य से अनुस्यूत ९९, अतीत की पकड़ से मुक्त होने के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है १००, अतीत का प्रतिक्रमण-विशेषज्ञ वर्तमान और भविष्य को सुधार सकता है १०१, जीवन की समस्त अवस्थाएँ अतीतकृत कर्म से अनुस्यूत १०१, अतीत की पकड़ से मुक्त होने में समर्थ या असमर्थ १०१, अतीत से कर्म का सम्बन्ध क्यों और छूटता कैसे? १०२, कर्म से संयुक्त और वियुक्त होने का त्रैकालिक रहस्य समझो १०२, साधना का सूत्र है–वर्तमान में ही रहो १०२, जीवन के त्रैकालिक सत्य को जानने-समझने के लिये तीनों कालों को जानना जरूरी १०३, विरोधाभास का समाधान : अतीत, अनागत के पंखों को काट डाले १०३, वर्तमान में स्थिर रहने के तीन महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय उपाय १०३, इन तीनों की साधना यथासमय जागरूक होकर करे १०४, वर्तमान में जीने के उपाय और अपाय १०४, वर्तमान को ही दृढ़ता से पकड़ो : एक उपाय १०४, वर्तमान में जीने का अभ्यास करना, अतीत की पकड़ से छूटने का उपाय १०५, प्रतिक्रमण आदि की चेतना जाग्रत होने पर वर्तमान में स्थिरता सुदृढ़ १०५, मुनि स्थूलभद्र अतीत की पकड़ से मुक्त हो वर्तमान संवर साधना में दृढ़ रहे १०६, वर्तमान में दृढ़ वही, जो ज्ञाता-द्रष्टाभाव या आत्म-भाव में स्थिर रहता है १०७, प्राचीन और नवीन सभी समस्याओं का हल : वर्तमान में संवर-निर्जरा में स्थिर रहना १०७, नमिराजर्षि की वर्तमान में स्थिरता का प्रशंसा १०८, जैन-कर्मविज्ञान में कर्म के साथ-साथ धर्म का रहस्य भी १०९, धर्म का प्रयोजन : अतीत के कर्मबन्धनों को तोड़ना एवं नये कर्मों को रोकना ११०।

(७) जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता के मापदण्ड — पृष्ठ १११ से १२४ तक

अन्य दार्शनिकों और विचारकों का कर्म-सम्बन्धी मन्तव्य अधूरा १११, जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता का मूल्यांकन १११, जैन-कर्मविज्ञान ने संसार की सभी आत्माओं को परमात्म सदृश माना है ११२, जैन-कर्मविज्ञान में आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध दोनों स्वरूपों का विशद वर्णन ११२, जैन-कर्मविज्ञान द्वारा जीवों की सभी अवस्थाओं का वर्णन ११३, जैन-कर्मविज्ञान की महत्ता को प्रमाणित करने वाले कार्य ११४, जैन-कर्मविज्ञान द्वारा प्रत्येक जीव की कर्मजन्य सभी अवस्थाओं का वर्णन ११५, जीवों की अनन्त भिन्नता का चौदह मार्गणाओं द्वारा वर्गीकरण ११५, जीवों का आध्यात्मिक विकास-क्रम : चौदह गुणस्थानों में

११६, प्रत्येक जीव की विशेषता बताने के लिए पाँच विषयों का निरूपण ११७, जीवस्थान का चौदह भेदों में वर्गीकरण ११७, जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान एवं भाव में कौन हेय, कौन उपादेय? ११७, गुणस्थान-निरूपण का उद्देश्य ११८, जीवस्थानों में गुणस्थान का, मार्गणास्थानों में दोनों का निरूपण ११९, मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर ११९, जीवस्थान एवं मार्गणास्थान में कौन हेय, ज्ञेय, उपादेय? १२०, अन्य दर्शनों में कर्म-सम्बन्धी वर्णन नाममात्र का है १२०, कर्म-प्रकृतियों के साथ बन्धादि का निरूपण जैन-कर्मविज्ञान में ही १२१, गुणस्थान-क्रम के आधार पर जीव की बन्धादि योग्यता का निरूपण : जैन-कर्मविज्ञान में १२१, जैन-कर्मविज्ञान में कर्म का क्रमबद्ध, व्यवस्थित और विस्तृत चिन्तन १२२, अब से इति तक उठने वाले प्रश्नों का समाधान : जैन-कर्मविज्ञान में १२२, जैन-कर्मविज्ञान भी क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम पर आधारित १२३, संचित कर्मों का क्षय संवर और तप से, वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध है १२४।

(८) जैन-कर्मविज्ञान की विशेषता — पृष्ठ १२५ से १४६ तक

जैन-कर्मविज्ञान : सर्वांगीण जीवन-विज्ञान १२५, जैन-कर्मविज्ञान : कर्मावृत दशा के साथ-साथ कर्ममुक्त दशा का भी प्ररूपक १२५, जैन-कर्मविज्ञान : एकेश्वरवाद के बदले अनन्त परमात्मवाद का समर्थक १२६, जैन-कर्मविज्ञान : अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय-प्राप्ति का प्रेरक १२६, जैन-कर्मविज्ञान : आत्मा को परमात्मा बनाने की कला का शिक्षक १२६, बहिरात्मा से अन्तरात्मा और परमात्मा बनने की प्रक्रिया : जैन-कर्मविज्ञान में १२७, जैन-कर्मविज्ञान कर्म के उभय पक्ष को समुचित स्थान देता है १२७, कर्मविज्ञान ने आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध कार्मणशरीर द्वारा माना १२८, कर्मों का वर्गीकरणपूर्वक विवेचन जैन-कर्मविज्ञान में ही १२९, ऐसा कर्मफल का सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलता १२९, जैन-कर्मविज्ञान का साहित्य : व्यापक एवं विराट् वैज्ञानिक रूप में १२९, जैन-परम्परा में कर्मवाद का सुव्यवस्थित वैज्ञानिक रूप १३०, कर्मविज्ञान की त्रिकालदर्शिता से त्रिकाल कर्म-व्यवस्था १३०, जैन-कर्मविज्ञान की विशेषता : आत्मा के परिणामी नित्य होने का स्वीकार १३१, कर्मविज्ञान की दीर्घदर्शिता से अन्तिम ध्येय-प्राप्ति का विवेक १३१, जैन-कर्मविज्ञान : मानव-जाति से भी आगे प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् भाव का पुरस्कर्ता १३१, जैन-कर्मविज्ञान : भिन्नता में भी एकता का दर्शन कराता है १३२, जैन-कर्मविज्ञान प्राकृतिक नियमवत् नियमबद्ध १३२, कर्मविज्ञानवेत्ता : प्राणि-भिन्नता देखकर भी समभाव रखता है १३२, कर्मविज्ञान : प्राणिमात्र के प्रति सर्वभूतात्मभूत बनने का प्रेरक १३३, जैन-कर्मविज्ञान : प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् भावना का प्रेरक १३३, जैन-कर्मविज्ञान का मन्तव्य : फलदाता स्वयं कर्म ही है १३४, जैन-कर्मविज्ञान की विशिष्ट देन : पूर्वबद्ध संचित कर्मों के फल में परिवर्तन १३५, उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण का रहस्य १३५, जैन-कर्मविज्ञान के नियमानुसार कर्म की फलदान-शक्ति न्यूनाधिक भी हो सकती है १३७, कर्मों की फलदान-शक्ति में तारतम्य : क्यों और किस कारण से? १३८, मनोविज्ञान की तरह कर्मविज्ञान में भी कर्मफल की स्व-संचालित व्यवस्था है? १३८, जैन-कर्मविज्ञान का विशिष्ट नियम : जाति-परिवर्तन : प्रकृति संक्रमण १३९, संक्रमण सिद्धान्त के दो रूप : मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण १४१, संक्रमण सिद्धान्त के कतिपय नियम १४१, संक्रमण का उदात्तीकरणरूप १४२, पूर्वबद्ध कर्मों के उदात्तीकरण का उद्देश्य : दोषों का परिशोधन करना १४२, अनुप्रेक्षा से संक्रमण में बहुत सहायता मिलती है १४३, जीवों की सार्वयोनिकता का सिद्धान्त : जैन-कर्मविज्ञान की देन १४३, उदीरणाकरण का सिद्धान्त भी समय से पूर्व कर्मक्षय करने का उपाय १४४, जैन-कर्मविज्ञान और आधुनिक मनोविज्ञान की उदीरणा-पद्धति प्रायः समान १४४, कर्मों के उदय और उदीरणा में अन्तर १४५, जैन-कर्मविज्ञान की सर्वोत्कृष्ट विशेषता १४६।

(९) जैन-कर्मविज्ञान : जीवन-परिवर्तन का विज्ञान — पृष्ठ १४७ से १५३ तक

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और अंग में कर्म का संचार १४७, जैन-कर्मविज्ञान : गति, प्रवृत्ति आदि में परिवर्तन बताने वाला थर्मामीटर १४७, कर्मविज्ञान के रहस्य श्रवण-मनन से जीवन में अचूक परिवर्तन १४८-१५३।

(१०) कर्मवाद : निराशावाद या पुरुषार्थयुक्त आशावाद? — पृष्ठ १५४ से १७७ तक

कर्मवाद : संसार-समुद्र में प्रकाश-स्तम्भ १५४, अज्ञानी दिङ्मूढ व्यक्ति प्रकाश-स्तम्भ से लाभ नहीं उठा पाते १५४, कर्मवाद-सिद्धान्त से कतराने वाले भ्रान्तिमय मानव १५५, कर्मवाद के सिद्धान्त से लाभ उठाने

वालों का चिन्तन एवं क्षमता १५६, कर्म-सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति की दुर्दशा १५७, कर्म-सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्तियों द्वारा पराजयवाद का आश्रय १५७, कर्म-सिद्धान्त से अनभिज्ञ ही कर्म के विषय में भ्रान्त एवं भयभीत १५८, कर्म की शक्ति के विषय में भ्रान्त धारणा भी निराशावाद की जननी १५८, कर्मवाद : सत्पुरुषार्थयुक्त आशावाद-सूचक १६०, कर्मवाद के रहस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति : निराश, निष्क्रिय और पुरुषार्थहीन १६०, जैन-कर्मवाद ही परिवर्तन-सिद्धान्त का प्रेरक १६०, उदीरणा का पुरुषार्थ : कर्म को उदय में लाकर शीघ्र भोग लेने का उपाय १६१, स्वयं का दोष : कर्म के सिर पर : कर्मवाद की भ्रान्त धारणा, १६१, जैन-कर्मविज्ञान स्वावलम्बी पुरुषार्थ के अनुकूल है १६२, कर्मनिर्जरा-सिद्धान्त पुरुषार्थ-प्रेरक है १६२, कर्मवाद-सिद्धान्त निराशाबोधक नहीं, जीवन-परिवर्तनबोधक है १६३, सच्चा कर्मवादी : प्रत्येक प्राणी में शुद्ध चेतना के दर्शन करता है १६३, जीव के साथ अनादिकाल से लगा कर्म-चक्र १६३, आत्मा कर्माधीन या इच्छा-स्वतंत्र ? १६४, प्राणी कर्म करने में भी स्वतंत्र, फल भोगने में भी कथंचित् स्वतंत्र १६५, कर्मवाद आत्म-शक्तियों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करने का अवसर देता है १६५, इच्छा-स्वातंत्र्य का अर्थ : स्वेच्छाचारिता नहीं १६६, कर्म कितना ही शक्तिशाली हो, अन्त में आत्मा ही विजयी होता है १६६, कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता १६६, ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की साधना से कर्मों के संचित विशाल पुंज को तोड़ सकता है १६७, अपने आन्तरिक वैभव को जानो-देखो १६७, कर्मविज्ञान कर्म की शक्ति-अशक्ति की सीमा का स्पष्ट निर्देशक १६७, बद्ध कर्मों की बन्ध से लेकर मोक्ष तक की ग्यारह अवस्थाएँ १६८, जैन-कर्मवाद का बन्ध से बचने का शुभ सन्देश १६८, प्रदेशोदय और विपाकोदय का रहस्य १७०, आस्रव, बन्ध, सत्ता और उदय में घनिष्ठ सम्बन्ध १७०, उदीरणा : उदय में आने से पूर्व ही कर्मफल भोग का उपाय १७१, उद्वर्तन द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि १७१, अपवर्तना से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में न्यूनीकरण १७३, संक्रमण : कर्मों की स्थिति आदि में परिवर्तन का सूचक १७४, उपशमन : कर्मों के फल देने की शक्ति को अमुक काल तक दबा देना है १७४, निधत्त : उदीरणा और संक्रमण से रहित केवल स्थिति और रस की न्यूनाधिकता का सूचक १७५, निकाचन दशा : जिस रूप में कर्म बँधा है, उसी रूप में भोगने की अनिवार्यता १७५, अबाधाकाल : कर्मों का फल दिये बिना अमुक अवधि तक पड़े रहने की दशा १७५, जैन-कर्मविज्ञानोक्त दस अवस्थाओं की अन्य परम्पराओं से तुलना १७६-१७७।

(११) कर्मवाद और समाजवाद में कहाँ विसंगति, कहाँ संगति ? पृष्ठ १७८ से १९६ तक

कर्मवाद भारतीय जन-जीवन में घुला-मिला १७८, कर्मवाद : आत्मवादरूपी मूल पर स्थित त्रिलोकव्यापी वृक्ष १७८, कर्मवाद का आत्मवाद, लोकवाद एवं क्रियावाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध १७९, कर्मवाद का सम्बन्ध : तीनों कालों और तीनों लोकों से १७९, कर्मवाद में प्ररूपित कर्म का सम्बन्ध अर्थ-काम से, धर्म का धर्म-मोक्ष से १८०, प्राचीनकाल का भारतीय समाज धर्म १८०, समाजवाद के बदले समाज-धर्म का प्रयोग १८०, कर्मवाद द्वारा निरूपित कर्म-विश्लेषण धर्म और कर्म दोनों दृष्टियों से १८१, प्रत्येक वाद के पीछे कर्मवाद का पुट १८१, प्राचीनकालिक समाज-व्यवस्था में अर्थ-काम की प्रधानता १८१, एकांगी अर्थ-काम-प्रधान समाज-रचना के दोष १८२, उपनिषद्कालीन ऋषियों द्वारा परस्पर सहयोगी मानव-समाज की प्रेरणा १८२, भगवान महावीर ने अध्यात्ममूलक समाज-व्यवस्था के सूत्र दिये १८२, वर्तमान समाजवाद : एक समीक्षा १८५, समाजवाद का द्वितीय सिद्धान्त : व्यक्ति का निर्माण परिस्थिति पर निर्भर १८७, समाजवाद का तृतीय सिद्धान्त : समाज-व्यवस्था का परिवर्तन १८७, आन्तरिक वैभव ही वास्तविक वैभव है १९१, जैन-कर्मवाद सत्पुरुषार्थ को रोकता नहीं १९१, कर्मवाद निर्धन को भी विकसित होने का मौका देता है १९१, समाजवाद का तीसरा पक्ष : राजनैतिक क्रान्ति १९२, क्या साम्यवाद आने से कर्मवाद समाप्त हो जाएगा ? १९३, आर्थिक व्यवस्था बदल जाने मात्र से कर्मवाद समाप्त नहीं हो जाता १९३, कर्म की मुख्यतया दो प्रकृतियाँ : जीवविपाकी और कर्मविपाकी १९३, जहाँ शरीरादिगत समानता नहीं, वहाँ कर्म का साम्राज्य है १९४, समाजवाद द्वारा कृत परिवर्तन : आन्तरिक और सर्वांगीण नहीं १९४, राज्य-सत्तारहित राज्य का लक्ष्य : दूरातिदूर १९५, समाजवादी व्यवस्था और कल्पातीत व्यवस्था में अन्तर १९६, आर्थिक समानता का प्रयोग : कर्मवाद-सिद्धान्त का पूरक १९६।

●●

पंचम खण्ड : कर्मफल के विविध आयाम

निबन्ध १३ **पृष्ठ १९७ से ५३८ तक**

(१) कर्म का कर्त्ता कौन, फलभोक्ता कौन ? **पृष्ठ १९७ से २३१ तक**

कर्म का कर्त्ता-भोक्ता कौन ? : एक प्रश्न १९९, जैनदर्शन में कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का दोनों दृष्टियों से समाधान १९९, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकारण नहीं हो सकता २००, प्रत्येक द्रव्य स्वभाव का कर्त्ता है, पर-भाव का नहीं २०१, निश्चयदृष्टि से आत्मा पुद्गल (कर्म) समूह का कर्त्ता नहीं हो सकता २०१, कर्म ही कर्म का कर्त्ता : कैसे ? २०२, कर्म का स्वभाव आत्मा में आने का मानें तो सदा आत्मा में आता रहेगा २०३, जीव का कर्म करने का स्वभाव मानें तो कभी कर्म-मुक्ति नहीं २०३, पुरुष अकर्त्ता है, प्रकृति ही कर्त्री है, यह सांख्य-सिद्धान्त भी ठीक नहीं २०३, सब कुछ कर्त्ता-धर्त्ता-फलदाता ईश्वर है : यह मन्तव्य भी दोषयुक्त २०४, आत्मा सर्वथा अकर्त्ता है, जड़ कर्म ही सब कुछ करता है : यह एकान्त कर्म-कर्तृत्ववाद है २०४, एकान्त कर्म-कर्तृत्ववाद के अनुसार आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानने में दोष २०५, सर्वथा अकर्त्ता होने की स्थिति में आत्मा मोक्ष का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकेगा २०६, कर्म को कर्त्ता मानने से व्यक्ति कृत के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा २०६, आत्मा भेदविज्ञान होने से पूर्व तक कर्मों का कर्त्ता है, सर्वथा अकर्त्ता नहीं २०७, जैनदर्शन आत्मा को कथंचित् कर्त्ता, कथंचित् अकर्त्ता मानता है २०७, आत्मा को शुद्ध निश्चयदृष्टि से कर्म-पुद्गलों का कर्त्ता मानना मिथ्या २०८, शुद्ध निश्चयनय (पारमार्थिक) दृष्टि से आत्मा निज भावों का कर्त्ता है २०८, अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्मों का कर्त्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं : क्यों और कैसे ? २०९, व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है २१०, आत्मा का स्वाभाविक और वैभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व २१०, सांख्यदर्शन का पुरुष को अकर्त्ता और प्रकृति को भोक्ता मानना युक्ति-विरुद्ध है २१३, सांख्यदर्शन द्वारा कृत आक्षेप का निराकरण २१४, जो भोक्ता हो, वह कर्त्ता भी है : इस सिद्धान्त का मण्डन २१४, जैनदर्शन सांख्य की तरह उपचार से नहीं, वास्तविक रूप से आत्मा को भोक्ता मानता है २१४, उपचार से भोक्ता मानने का खण्डन २१५, कर्म का कर्तृत्व-भोक्तृत्व : एक शंका-समाधान २१६, जड़-चेतन-मिश्रित संसारी कर्मबद्ध आत्मा से कर्म का सम्बन्ध है २१६, कर्मफलों को व्यक्तियों के जीवन में देखकर कर्मकर्त्ता का अनुमान २१७, कर्म के साथ कर्त्ता और फलभोक्ता परस्पर सम्बद्ध हैं २१८, आत्मा और पुद्गल दोनों अपने-अपने गुणों के कर्त्ता हैं, किन्तु निमित्तरूप से परिणमनकर्त्ता हैं २१८, कर्म का कर्त्ता होते हुए भी आत्मा कर्मरूप नहीं हो जाता २१९, आत्मा स्वयं ही कर्मकर्त्ता और स्वयं ही फलभोक्ता २१९, आत्मा ही कर्म का कर्त्ता और फलभोक्ता है २२०, आत्मा स्वयं ही कर्त्ता तथा कर्मों की फलोत्पादन शक्ति से स्वयं फलभोक्ता २२१, दुःख जीव के द्वारा प्रमाद के कारण किया गया है २२१, सुख-दुःख का कर्त्ता और विकर्त्ता आत्मा ही है २२१, जीव द्वारा कर्म करने से दुःख होता है, दुःखरूप फल भोगता है २२१, दुःख का उत्पादक तथा फलभोक्ता : स्वयं जीव ही २२२, कर्मबन्धन से बद्ध कर्मबन्ध निष्पादयिता-परिणामयिता ही कर्मभोक्ता है २२२, ईश्वर कर्मफल-प्रदाता नहीं है : क्यों और कैसे ? २२३, ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किस प्रयोजन से किया ? : एक अनुत्तरित प्रश्न २२३, ईश्वर द्वारा करुणा से प्रेरित होकर सृष्टिकर्तृत्व भी प्रत्यक्ष असिद्ध २२४, धार्मिक दृष्टिकोण से भी ईश्वरकर्तृत्व एवं फलदातृत्व असिद्ध है २२५, नैतिक दृष्टिकोण से भी ईश्वरकर्तृत्ववाद असंगत है २२६, फिर तो यंत्रमानववत् मानव भी कृतकर्म के प्रति उत्तरदायी नहीं रहेगा २२६, गीता में ईश्वरकर्तृत्ववाद के बदले आत्म-कर्तृत्ववाद का समर्थन २२७, पापकर्म में बलात् नियुक्त या प्रवृत्त करने वाला अपना भावकर्म ही २२७, भोगों के त्याग करने की असमर्थता : ब्रह्मदत्त चक्री के द्वारा २२८, प्रत्येक आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र है २२९, नैतिक दृष्टि से आत्मा ही कृत का नैतिक जिम्मेदार है २२९, आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा स्वयं विकास करने में प्रभु है २३०, जैनदर्शन द्वारा आत्म-कर्तृत्ववाद ही अभीष्ट है, परमात्म-कर्तृत्ववाद नहीं २३०, तीनों कार्यों में ईश्वर की आवश्यकता नहीं २३०, सृष्टि का स्वयं उत्पाद-व्यय के रूप में परिणमन होता रहता है २३०, सृष्टि का नियंता भी ईश्वर आदि कोई नहीं २३१, सृष्टि का नियमन सार्वभौमिक नियमों द्वारा २३१, ईश्वर को नियंता मानने पर दोषापत्तियाँ २३१।

(२) कर्मों का फलदाता कौन ? पृष्ठ २३२ से २६१ तक

जीव को कर्मों का फल ईश्वर देता है : वैदिक आदि धर्मों का मन्तव्य २३२, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि की बागडोर ईश्वर के हाथों में २३३, वैदिक मान्यता : गर्भ से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सभी कार्य-कलाप ईश्वर-प्रेरित २३३, कर्म जीव के हाथ में : फल ईश्वराधीन २३३, ईश्वर द्वारा कर्मफल-प्रदान में चतुर्थ कारण २३४, ईश्वर ही सबके भाग्य का निर्माता, त्राता एवं विधाता है २३५, न्यायाधीश की तरह ईश्वर सबके कर्मों का न्याय करता है २३५, जैन-कर्मविज्ञान ईश्वर को फलदाता, भाग्यविधाता नहीं मानता २३५, ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता मानने पर अनेक आपत्तियाँ और अनुपपत्तियाँ सम्भव २३६, अशरीरी ईश्वर शरीरधारियों को कैसे कर्मफल दे सकता है? २३६, ईश्वर की सर्वज्ञता केवल जानने रूप होती है, करने रूप नहीं २३७, सर्वज्ञता वीतरागता के बिना सम्भव नहीं २३७, वीतराग कभी दण्ड देने, कर्मफल भुगवाने के चक्कर में नहीं पड़ते २३७, लीला करने वाला या इच्छानुरूप खेल करने वाला ईश्वर मोही होगा, वीतरागी नहीं २३७, शुद्ध तत्त्वरूप ईश्वर परस्पर विरोधी कार्य कैसे कर सकता है? २३८, सारे संसार के कर्म और कर्मफल का हिसाब एवं व्यवस्था रखना ईश्वर के लिए सम्भव नहीं २३८, ईश्वर सीधा कर्मफल नहीं देता, उसकी प्रेरणा से दूसरे जीव देते हैं २३९, ईश्वर को भाग्यविधाता मानने पर दोषापत्ति २३९, ईश्वर ने ऐसा भाग्य क्यों बनाया? २४०, बुद्धि की दुष्टता ईश्वर-प्रदत्त होने से घातकों की दुर्बुद्धिरूप कर्मफलोत्पादक ईश्वर २४०, सांसारिक जीवों का भाग्यविधाता ईश्वर होने से पापप्रवृत्ति-प्रयोजक भी ईश्वर है २४१, पापी पापकर्म करने में ढीठ होकर ईश्वर की दुहाई देता है २४१, जीवों का भाग्य निर्माण करते समय दुर्बुद्धि व घातक मानव क्यों पैदा किये? २४२, तथाकथित परमात्मा द्वारा जैसा भाग्य निर्माण, वैसा ही कार्य दुरात्मा लोग करते हैं २४३, ईश्वर को कर्मफलदाता एवं भाग्यविधाता मानने से दोषापत्ति २४४, परमात्मा को कर्मफलदाता मानोगे तो वह अन्यायी एवं अपराधी सिद्ध होगा २४४, परमात्मारूपी शासक अपराधों को रोकने का कार्य पहले से ही क्यों नहीं करता? २४४, अपराधी के भावों को जानता हुआ ईश्वर उसे क्यों नहीं रोकता? २४५, तथाकथित ईश्वर सुयोग्य शासक के समान प्रभावशाली भी नहीं है २४८, अव्यक्त रूप से दण्ड प्रदान करना भी कृतकृत्य ईश्वर का कार्य नहीं २४८, ईश्वर-प्रदत्त कर्मफल वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा विफल एवं प्रभावहीन २४९, ऐसा परमात्मा पूजनीय एवं सम्मान्य कैसे? २४९, ईश्वर द्वारा कर्मफल सजा के रूप में नहीं, दूसरों के घातरूप में मिलता है २५०, ईश्वर को फलदाता मानने से ऐसी अनेक दोषापत्तियाँ खड़ी होती हैं २५०, कर्मफल निष्फल नहीं, अवश्य सफल होता है २५१, संसार में पापात्मा सुखी और धर्मात्मा दुःखी दिखाई देते हैं : इसका समाधान २५१, पापात्मा की सम्पन्नता, पुण्यात्मा की विपन्नता : पापानुबन्धी पुण्य तथा पुण्यानुबन्धी पाप के कारण २५२, वैदिकधर्म एवं जैनधर्म द्वारा मान्य परमात्मा में परमात्मस्वरूप सम्बन्धी मतभेद २५३, परमात्मा से सम्बन्धित तीन रूप २५३, कर्मविज्ञान-क्षेत्र में ऐसे परमात्मा की क्या उपयोगिता है? २५६, परमात्मा की स्तुति, भक्ति आदि से महान् लाभ २५६, ईश्वर और जीव में अन्तर कर्मों का है २५७, अशुद्ध आत्मा संसारी : शुद्ध आत्मा मुक्त परमात्मा २५७, प्रत्येक जीव कर्म करने, फल भोगने, कर्मनिरोध और कर्मक्षय करने में स्वतंत्र २५८, जड़कर्म अपना फल कैसे देते हैं? : संक्षिप्त समाधान २५८, कर्म कर्त्ता चाहे या न चाहे, कर्म अपना फल अवश्य देता है २५८, जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं ही फल पाता है, कर्म ही फलदाता है २५९, ईश्वर कर्मफलदाता नहीं : एक दृष्टि में २६०-२६१।

(३) कर्म अपना फल कैसे देते हैं ? पृष्ठ २६२ से २७९ तक

जड़कर्म अपना फल कैसे देता है? २६२, कर्म ज्ञानशून्य अवश्य है, शक्तिशून्य नहीं २६२, आहार-ग्रहण करने के बाद की स्वतः प्रक्रिया की तरह कर्म-ग्रहण के पश्चात् फलदान-प्रक्रिया २६३, दवा शरीर में जहाँ रोग है, वहाँ पहुँचकर काम करती है २६३, कर्मपुद्गल भी आकृष्ट होकर आने के पश्चात् स्वतः कार्य करते हैं २६४, कर्मों की फलदान-शक्ति में तरतमता क्यों? २६४, कर्मों की फलदान-शक्ति में तारतम्य क्यों? २६५, मद्य और दूध की तरह ज्ञानशून्य होने पर भी कर्म अपना प्रभाव दिखाता है २६५, ज्ञानशून्य मिर्च और चीनी कैसे मुँह जला देती है और मीठा कर देती है २६६, वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत

जड़ पदार्थों की शक्ति का चमत्कार २६७, जड़-परमाणुओं की विलक्षण शक्ति के चमत्कार २६८, आवाज पर चलने वाला बिजली का पंखा, अद्भुत नल, बिजली का बल्ब, जीवित मानव (शरीर) का रेडियो (यंत्र), टेलीविजन २६८, परमाणु-शक्ति के चमत्कार २६९, टेलीप्रिंटर, बेरोमीटर, कम्प्यूटर, रोबोट (यंत्र-मानव), लोहे की बनी गाय, राडार यंत्र, राकेट (प्रक्षेपणास्त्र), मिसाइल, एपोलो, लूनोखोद २६९, जड़-पदार्थों की शक्ति का प्रकटीकरण आत्म-चेतना का सम्पर्क होने पर ही २७३, उदाहरण द्वारा तथ्य का स्पष्टीकरण २७४, मानसिक (मनोवर्गणा) पुद्गलों का चेतन पर प्रभाव २७५, कर्म अपने आप ही फल दे देते हैं, अन्य नियामक की आवश्यकता नहीं २७६, कर्मफलदात्री शक्ति का आधार : कार्मणशरीर २७७, कर्म के द्वारा फल देना, उस बद्ध कर्म के कषाय पर निर्भर २७९।

(४) कर्मफल : वैयक्तिक या सामूहिक ? पृष्ठ २८० से ३०१ तक

कर्म-सिद्धान्त वैयक्तिक जीवन की तरह सामाजिक जीवन से भी सम्बद्ध २८०, मानव-जाति की पीड़ाओं और दुःखों का कोई कारण नहीं : एक आक्षेप २८०, जैन-कर्मविज्ञान द्वारा इसका समाधान २८१, सामूहिक रूप से बद्ध कर्म का सामूहिक रूप से फल : एक दृष्टान्त २८३, एक साथ पापकर्म का बन्ध कैसे हो जाता है? २८३, सामूहिक हिंसादि पापकर्म का कृत, कारित, अनुमोदित रूप से सामूहिक बन्ध और फल २८४, कृत, कारित, अनुमोदि रूप से पापकर्मों का फल वैयक्तिक भी, सामूहिक भी २८४, मानव-समुदाय को पीड़ा का कारण स्वयं मानव-समुदाय है २८४, ईश्वर भी मानव-समूह की पीड़ा का कारण नहीं : क्यों और कैसे? २८५, प्रकृति मानव-समूह की पीड़ा का साक्षात् कारण नहीं, निमित्तकारण हो सकती है २८५, जैन-कर्मसिद्धान्त संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व द्वारा स्वयं कर्तृत्व का अवसर-प्रदाता २८५, कर्म : कथंचित् वैयक्तिक, कथंचित् सामाजिक २८५, सामुदायिक क्रिया द्वारा सामुदायिक कर्मबन्ध और विपाक २८६, वर्तमान में आये सामूहिक दुःख का कारण भी पूर्वकृत सामूहिक कर्मबन्ध २८७, एक व्यक्ति द्वारा किये हुए दुष्कर्म का फल सारे परिवार को मिलता है २८७, सामूहिक कर्मफल की संगति इस प्रकार होती है २८८, एक शासक के कुकृत्य का फल सारी प्रजा को भोगना पड़ता है २८८, कर्म एक का, फलभोग समूह को : क्यों और कैसे? २८९, कर्म सामूहिक या सामाजिक न होता तो एकमात्र मुख्य कर्मकर्ता ही फल भोगता २९०, कर्म और कर्मफल वैयक्तिक भी है, सामूहिक या सामाजिक भी है २९०, उपादान की दृष्टि से आत्मा स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही फल भोगता है २९०, निमित्तकारण व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक होता है २९१, परिणाम सामूहिक, किन्तु संवेदन व्यक्तिगत २९१, उपादान वैयक्तिक, निमित्त सामूहिक २९२, आचरण व्यक्तिनिष्ठ, व्यवहार समाजनिष्ठ : क्रिया वैयक्तिक, प्रतिक्रिया सामूहिक २९२, कर्म और कर्मफल वैयक्तिक भी, सामाजिक भी : क्यों और कैसे? २९३, वैयक्तिक कर्मों का संक्रमण नहीं, सामाजिक कर्मों में ही संक्रमण २९३, माता-पिता के कर्म का फल संतान को : क्यों और कैसे? २९४, उपादानकारण की अपेक्षा से कर्मफलभोग व्यक्तिगत, निमित्तकारण की अपेक्षा से सामूहिक २९४, कर्म सामूहिक, सुख-दुःख-संवेदन अपना-अपना, फलभोग पृथक्-पृथक् २९५, कर्म सामूहिक, फल भी कथंचित् सामूहिक, कथंचित् व्यक्तिगत : क्यों और कैसे? २९६, कर्म की अशुद्धता दूर हो तो समूह के लिए किये गए शुभ कर्म का फल भी सुखकारक २९७, नेता या अग्रणी का प्रभाव या संक्रमण सामूहिक होता है २९८, कर्म की सामूहिक फल-प्राप्ति : निमित्त की अपेक्षा से २९८, निमित्त की दृष्टि से ही नहीं, उपादान-दृष्टि से भी विचार करो २९८, उपादान पर सारा बोझ न डालो, निमित्त का विचार भी करो २९९, कर्मोदय की दो अवस्थाएँ : स्वयं उदीरित, परेण उदीरित २९९, दो दृष्टान्तों द्वारा वैयक्तिक की तरह सामूहिक कर्मविपाक २९९, I वैयक्तिक कर्मफल, II सामूहिक कर्मफल ३००, भूकम्प आदि आकस्मिक दुर्घटना के निमित्त से हजारों को एक साथ कर्मफल-प्राप्ति ३००, सामूहिक या समाजिक कर्मफल न मानने पर ३०१।

(५) क्या कर्मफलभोग में विनिमय या संविभाग है ? पृष्ठ ३०२ से ३१२ तक

एक के शुभाशुभ कर्मफल को दूसरा कोई भी ले या दे नहीं सकता ३०२, कर्म के फलभोग में कोई भी हिस्सा नहीं करता ३०३, एक व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मफल में दूसरा हिस्सेदार नहीं हो सकता ३०३, कर्मफल मिलने एवं कर्मफल भोगने में अन्तर है ३०४, प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करता है, परकृत का नहीं ३०५, एक के कर्म को दूसरा नहीं भोग सकता, दुःख को भी बाँट नहीं सकता ३११-३१२।

(६) कर्मफल : यहाँ या वहाँ, अभी या बाद में ? पृष्ठ ३१३ से ३४१ तक

जैसा कर्म, वैसा ही फल मिलेगा ३१३, पश्चात्ताप-प्रायश्चित्तादि से कृत पाप कर्मफल से बचाव ३१३, शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य ही मिलता है ३१४, वेदना और निर्जरा का अस्तित्व ३१४, कर्म के फल से बचने या उसका रूपान्तर करने का नियम ३१७, तत्काल फलवादियों का कुतर्क ३१७, कर्म अभी और फल अभी नहीं : कर्मविज्ञान पर आक्षेप ३१८, कर्म के कार्य-कारण-सिद्धान्त के विषय में कुतर्क और समाधान ३१८, चार्वाक और ह्यूम के सिद्धान्त का कर्मविज्ञान द्वारा निराकरण ३१८, जैन-कर्मविज्ञान क्रिया का फल तो तत्काल मानता है, किन्तु ..... ३१९, कर्मबन्ध या कर्मार्जन तो तत्काल, किन्तु फलभोग प्रायः तत्काल नहीं ३१९, कर्म का फलभोग तत्काल नहीं : क्यों और कैसे? ३२०, आक्षेप और समाधान ३२०, कभी-कभी कर्मफलोपभोग तत्काल नहीं : क्यों और कैसे? ३२०, सत्ता में पड़े हुए बद्ध कर्म फलभोग नहीं करा पाते ३२१, कर्मों के अर्जन का कार्य क्षणभर में, किन्तु फलभोग का कार्य काफी बाद में ३२२, कर्मफल और कर्मफलोपभोग में अन्तर क्यों? ३२२, इहलोककृत कर्म का फल : इस लोक में भी, परलोक में भी ३२३, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध से कर्मफलभोग की काल-सीमा तथा तीव्रता-मन्दता का पता चलता है ३२४, कर्ता के परिणानानुसार कर्मफलभोग की काल-सीमा (स्थिति) निर्धारित होती है ३२४, इस लोक में कृत कर्म का इसी लोक में फलभोग : एक सच्ची घटना ३२५, इस लोक में कृत कर्म का फलभोग अगले लोक (जन्म) में ३२८, परलोक में कृतकर्म का फलभोग आगामी जन्म में तथा इस जन्म में भी ३२८, कर्मफल सभी सांसारिक जीवों को अवश्य भोगने पड़ते हैं ३२९, चौथा विकल्प : परलोक कृत कर्म का फलभोग परलोक में ही ३३०, आचार्य रजनीश के एकान्त प्ररूपण का खण्डन ३३०, कर्मफल-विषयक असंगति का निराकरण ३३०, एकान्त तत्काल फलवादी : कर्मविज्ञान के रहस्य से अनभिज्ञ ३३१, जैन-कर्मविज्ञान में कर्म, कर्मफल और कर्मफलभोग में अन्तर ३३२, इसी जन्म में कर्मफलभोग का शास्त्रीय प्रमाण ३३२, तत्काल कर्मफलभोग का एक उदाहरण ३३२, एक महीने बाद ही कुकर्म का फल भोगना पड़ा ३३३, क्रूरकर्मा डोक्यूला को उसी जन्म में कटुफल भोगना पड़ा ३३३, कार्पेज ने अपने कृत पापों का फल इसी जन्म में भोगा ३३४, क्रूरकर्मा इवान को अपनी करणी का फल मिला ३३५, मुसोलिनी के पाप का घड़ा अन्त में फूटकर रहा ३३५, सामूहिक हत्याओं का कुफल हिटलर को भी मिला ३३६, इस जन्म के पापों का फल इसी जन्म में ३३६, कृत कर्मों के फलभोग में काल का अन्तर क्यों? ३३६, कर्मों के फलभोग की काल-सीमा ३३७, कर्मों का फलभोग शीघ्र, देर से और तत्काल : क्यों और कैसे? ३३८, हिंसक की समृद्धि और अर्हद् भक्त की दरिद्रता : पापानुबन्धी पुण्य तथा पुण्यानुबन्धी पाप के कारण ३३९, घोर पापकर्म का फल कई जन्मों के बाद भी, एक जन्म में भी ३३९, दुःखविपाक और सुखविपाक में कर्मफलभोग का सजीव चित्रण ३४०, जैन-कर्मविज्ञान में अनेकान्तदृष्टि से कर्मफलभोग का सिद्धान्त ३४१।

(७) कर्म-महावृक्ष के सामान्य और विशेष फल पृष्ठ ३४२ से ३७५ तक

कर्म-महावृक्ष एक, उसके पुष्प-फलादि असंख्य और अनन्त ३४२, जैन-कर्मविज्ञान : कर्म के मूल से लेकर फल तक का तथा उससे मुक्ति का सांगोपांग प्ररूपक ३४३, कर्मफलभोग के समय अगणित फल वाले वृक्ष के रूप में ३४४, कर्म-महावृक्ष के असंख्य पत्र-पुष्प-फलों की गणना करना अशक्य : क्यों और कैसे? ३४४, सर्वज्ञ आप्त वीतराग परमात्मा द्वारा कर्म के सामान्य और विशेष फलों का निरूपण ३४५, ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्म-प्रकृतियों के फलभोग का निर्देश ३४५, फलदान की दृष्टि से कर्मों का जातिगत अष्टविध वर्गीकरण ३४३, ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों के फल की विचित्रता ३४९, अष्टविध कर्मों के विचित्र विपाक को हृदयंगम करने से लाभ ३४९, अष्टविध कर्मों के विचित्र एवं विभिन्न विपाक कैसे-कैसे, किन निमित्तों से? ३४९, ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फल) दस प्रकार का : कैसे-कैसे? ३५०, ज्ञानावरणीय कर्म के त्रिविध उदय से प्राप्त निरपेक्ष एवं सापेक्ष फल ३५१, दर्शनावरणीय कर्म के नौ प्रकार के अनुभाव (फल) ३५१, गति आदि के निमित्त से कर्मफल का तीव्र विपाक ३५२, फलविपाक की दृष्टि से कर्मों की विचित्रता : कर्मफल की विभिन्नता का आधार ३६०, फलदान-शक्ति की मुख्यता की अपेक्षा पुण्य-पाप फल : मधुर और कटु ३६१, घाति और अघाति के भेद से कर्मों की विविध स्तर की फलदान-शक्ति ३६२, कर्मवृक्ष से सम्बन्धित विशेष फल ३६३, विभिन्न पापकर्मों का विशेष फल ३६३, विविध पुण्यकर्मों के विशेष फल ३७३-३७५।

(८) विविध कर्मफल : विभिन्न नियमों से बँधे हुए पृष्ठ ३७६ से ४११ तक

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि के नियमानुसार वनस्पतिजगत् में फलों की विविधता ३७६, कर्मजगत् में भी द्रव्य-क्षेत्रादि के नियमानुसार कर्मफल की विभिन्नता ३७६, विभिन्न नियमों के आधार पर विविध कर्मों के विचित्र फलों का निरूपण ३७७, कर्मफल का नियन्ता ईश्वर नहीं, स्वयं कर्मफल नियम ३७७, कर्मफल के नियमों को न जानने से हानि ३७८, कर्मविज्ञान नियमों की खोज पर आधारित है ३७८, अपने आप भी सत्य की खोज करो : द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के परिप्रेक्ष्य में ३७९, सत्य की खोज के लिए अनुयोगद्वार में उपक्रम और अनुयोग का आश्रय ३७९, कर्मविपाक के नियम भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की परिधि में ३८०, कर्मफल के नियमों के जानने और न जानने के परिणाम ३८०, कर्मफल का प्रथम नियम : द्रव्यदृष्टि से ३८१, कर्मफल स्वेच्छा से शीघ्र भोगने और अनिच्छा से बाद में भोगने में अन्तर ३८२, द्रव्यदृष्टि से कर्मफल-नियम का विविध पहलुओं से विचार ३८२, एक नियम : सजातीय कर्मप्रकृति का सजातीय कर्मप्रकृति में संक्रमण हो सकता है ३८३, सोलह विशेषताओं से युक्त कर्म ही विपाक (फल-प्रदान) के योग्य ३८४, फल देने (विपाक) योग्य कर्म : स्वयं उदीर्ण, परेण उदीरित तथा उभयेन उदीर्यमाण ३८७, उदय को प्राप्त (उदीर्ण) होने के पाँच निमित्त ३८८, परनिमित्त से उदय को प्राप्त होने के दो निमित्त ३८९, पुद्गल और पुद्गल-परिणाम से उदय को प्राप्त कर्मविपाक ३८९, उदय को प्राप्त कर्म ही विपाक (फल-प्रदान) के योग्य होता है ३९०, विपाकविचय (कर्मफल का अनुप्रेक्षण) : धर्मध्यान का एक अंग ३९१, विपाकविचय का सुगम उपाय ३९१, कर्मविपाक को परिवर्तित करने या रोकने से लाभ ३९२, कर्मविपाक बदला जा सकता है ३९३, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने कर्मविपाक में परिवर्तन करके उसे रोक लिया ३९३, पूर्वबद्ध पाप-पुण्य कर्मों की स्थिति और अनुभाग में संक्रमण का नियम ३९४, कर्मों का फलभोग दो प्रकार से : तथाविपाक और अन्यथाविपाक के रूप में ३९५, कर्मफलवेदन एवम्भूत या अनेवम्भूत? ३९५, उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण के द्वारा भी नियमानुसार कर्मविपाक बदला जा सकता है ३९६, चतुर्विध-संक्रमण के नियम भी कर्मफल के नियम हैं ३९७, कर्मों का उपशमन : फल-प्रदान करने में अमुक काल तक अक्षम : एक नियम ३९७, नियतविपाक और अनियतविपाक : एक चिन्तन ३९८, कर्मविपाक में उपादान की अपेक्षा निमित्त का महत्त्व अधिक ३९९, कर्मविपाक का द्रव्यगत नियम ४००, क्षेत्र के निमित्त से होने वाले कर्मविपाक के नियम ४००, एक क्षेत्र में कर्म का उदय, दूसरे क्षेत्र में कर्म का क्षय ४०१, कर्मविपाक का नियम काल से भी बँधा हुआ है ४०२, ज्ञानवृद्धि करने के निमित्त : दस नक्षत्र तथा अन्य ग्रहादि भी ४०३, प्रत्येक चर्या नियत काल में करने-न करने से लाभ-हानि ४०३, आत्म-सम्प्रेक्षण का समय : कालकृत नियम से बँधा हुआ ४०४, स्वरोदयशास्त्र भी कालकृत नियम को सम्पुष्ट करता है ४०४, कालगत नियमों पर अन्ध-विश्वास, अविश्वास और विश्वास का परिणाम ४०५, नया सम्बन्ध बाँधने में कालगत नियमों का उपयोग ४०६, जीवन के तीन अवस्थागत नियम भी कर्मविपाक को प्रभावित करते हैं ४०६, निद्रा भी कालगत नियम से सम्बद्ध, कर्मविपाक की कारण ४०८, फल दिये बिना भी कर्म आत्मा से अलग हो सकते हैं : कैसे और किस नियम से? ४०८, स्थितिकाल पूरा होने से पहले भी कर्मफल-प्रदान कर सकते हैं : कैसे और किस नियम से? ४०८, भावों के निमित्त से शुभाशुभ कर्मफल या कर्मक्षय भी ४०९, अर्जुन मुनि ने भावों के संक्रमण एवं परिवर्तन द्वारा इस सत्य को साकार कर दिया ४१०, कर्मफल भोगते समय न तो दीन बनो, न ही मदान्ध बनो, किन्तु समभावस्थ रहो ४११।

(९) पुण्य-पापकर्म का फल : एक अनुचिन्तन पृष्ठ ४१२ से ४४८ तक

संसार का चक्र कर्म की धुरी पर चलता है ४१२, जीवरूपी क्षेत्र में बोया गया जैसा बीज, वैसा ही फल ४१२, पुण्य और पाप का फल : सुख और दुःख ४१३, पुण्य और पाप का अस्तित्व : एक अनुचिन्तन ४१४, पुण्य की महिमा ४१४, पुण्यकर्म का सुफल : वैदिक वाङ्मय में ४१५, जैनदृष्टि से पुण्यफल की चर्चा ४१५, पुण्य की महिमा और सुफलता ४१६, पुण्यफल भोगने के बयालीस प्रकार ४१७, पुण्यफल प्राप्त करने के मुख्य स्रोत : नौ प्रकार के पुण्यकर्म ४१७, पूर्वकृत अतिशय पुण्य से सम्पन्न जीव को मनुष्य-जन्म में दशविध भोग-सामग्री ४१८, पापकर्म करने में अन्तरात्मा को कितना दुःख, कितना सुख? ४१८, जैनदृष्टि से पापकर्म के फल ४१९, इहलोक में भी पापकर्म का फल अतीव भयंकर दुःखरूप ४१९, पापकर्मरत मानवों

की बुद्धि तीन मिथ्या मान्यताओं से भ्रष्ट और दुष्परिणाम ४२२, पापकर्मों का दुष्फल : अनेक रूपों में दुःखों का चक्र ४२३, जीव-हिंसा का फल भी उतना ही दुःखद और भयंकर ४२३, पुण्यकर्म और पापकर्म के सुफल और दुष्फल के सर्वज्ञोक्त शास्त्रीय उदाहरण ४२४, अष्टादशविध पापकर्मों के बन्ध का बयासी प्रकार से फलभोग ४२४, पापकर्मजनित दुःखों के लिए व्यक्ति स्वयं ही उत्तरदायी ४२५, अनेक दुःखों से बार-बार त्रस्त होने पर भी पापकर्मों को नहीं छोड़ते ४२६, अज्ञान दूर होने पर ही पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष का ज्ञान सुदृढ़ होता है ४२७, चाहता है सुखरूप पुण्यफल, किन्तु प्रवृत्त होता है दुःखफलदायी पापकर्म में ४२८, पापकर्म के फलस्वरूप सोलह दुःसाध्य रोगों की उत्पत्ति ४२८, पुण्यकर्म भी स्वार्थ-लोभादि से प्रेरित हो तो सात्त्विक सुखरूप फल-प्राप्ति नहीं होती ४२९, वास्तविक पुण्यकर्म में स्वार्थ-त्याग, तप और बलिदान की भावना होती है ४३०, यह पुण्यकर्म नहीं, कल्याणकारक नहीं, व्यवसाय है ४३०, जिससे लौकिक लाभ मिल चुका, उससे फिर पारलौकिक लाभ कैसे मिलेगा? ४३०, शुभाशुभ परिणामों (भावों) के अनुसार ही पुण्यकर्म और पापकर्म का बन्ध व फल ४३१, पापकर्म के दुष्फल से बचाव : सदाचार-सत्कर्म-नीति-परायण रहकर पुण्यकर्म करने से ही ४३१, फल की दृष्टि से पुण्यकर्म और पापकर्म की पहचान ४३२, पापकर्म का फलविपाक : पहले आपातभद्र, किन्तु परिणाम में भद्र नहीं ४३२, पुण्यकर्म का फलविपाक : पूर्व में आपातभद्र नहीं, परिणाम में भद्र ४३३, फलदान-शक्ति की अपेक्षा से पुण्य-पाप कर्मफल के कारणों की मीमांसा ४३४, पुण्य-पाप के फल के सम्बन्ध में भ्रान्ति ४३४, धर्म-पुण्य से अर्थ और काम की प्राप्ति का नारा ४३५, इस भ्रान्ति के कारण कामनामय पुण्योपार्जन ही प्रधान बन गया, धर्म-पुरुषार्थ गौण ४३५, नीतिमय धर्म-पुरुषार्थ प्रत्यक्ष, पुण्य के द्वारा प्राप्तव्य : परोक्ष एवं सन्देहास्पद ४३६, धर्म एवं पुण्य से सुख के साधन मिलते हैं, यह भ्रान्ति है ४३६, शुभाशुभ कर्मफलविपाक भी क्षेत्र, काल, पुद्गल और जीव के आश्रित ४३६, पुण्यकर्म का फल धनादि है तथा धनादि से व्यक्ति सुखी हो जाता है : इस भ्रान्ति का निराकरण ४३७, गृहस्थ श्रावक के धर्म और पुण्य के आचरण में त्याग, तप, मर्यादा का उपदेश ४३८, धनादि पदार्थों के होने से सुखी, न होने से दुःखी : यह भ्रान्ति है ४३८, धनादि साधन स्वयं न तो सुखकर हैं, न ही दुःखकर ४३९, वर्तमान युग में धन कमाने की मूर्च्छा से धनिकों को सुख-शान्ति कहाँ? ४३९, परिग्रह-संज्ञा मोहरूप पापकर्म के उदय से होती है ४३९, पुण्य से विषय में जैन विद्वानों और लेखकों की भ्रान्ति ४३९, एक भ्रान्ति : भाग्य की, विधाता की लिपि को कौन मिटा सकता है? ४४०, जीव स्वयं ही भाग्यविधाता, स्वयं ही अपना पतनकर्ता ४४०, शुभ-अशुभ कर्म शरीरादि कार्यों के प्रति निमित्तकारण, उपादानकारण नहीं ४४१, भोगादि के साधन अधिक होने से पुण्य अधिक नहीं ४४१, इष्ट-अनिष्ट संयोग भी पुण्य-पाप का फल नहीं ४४२, परिग्रहादि की न्यूनता : अधिक पुण्यकर्म का कारण : अधिक परिग्रह पुण्यकारक कैसे? ४४२, जगत् की दो प्रकार की व्यवस्था : शाश्वतिकी और प्रयत्न साध्य ४४३, पुण्यकर्म का फल भौतिक लाभ ही है या आत्मिक लाभ भी? ४४५, पुण्य-पाप कर्म का फल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी मिलता है ४४६, पापकर्मी सभी सुखी और पुण्यकर्मी सभी दुःखी नहीं दिखाई देते ४४७-४४८।

(१०) पुण्य-पाप के फल : हार और जीत के रूप में — पृष्ठ ४४९ से ४६६ तक

पुण्य-पाप के खेल में एक की जीत और एक की हार : क्यों और कैसे? ४४९, हरिकेशबल मुनि ने पापमयी स्थिति पर विजय प्राप्त करके पुण्यमयी और मोक्षसुखमयी बना ली ४४९, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पुण्य-पाप के खेल में हारता ही गया ४५०, संगम ने पापमयी स्थिति से सँभलकर पुण्यराशिबन्ध किया ४५०, कर्म के शुभ-अशुभ फल की दृष्टि से प्ररूपित चतुर्भंगी ४५१, पुण्य-पाप के खेल में हार-जीत के रूप में फल का स्पष्टीकरण ४५२, पापरूप फल को कुशल-अकुशल कर्म-खिलाड़ी द्वारा पुण्य-पाप फल में परिणत ४५३, पुण्य और पाप की क्रिया का फल भावों पर निर्भर ४५६, शुभ-अशुभ कर्मफल के विषय में एक चतुर्भंगी ४५६, पूर्वोक्त चतुर्भंगी का फलितार्थ, निष्कर्ष और रहस्य ४५७, पूर्वोक्त चतुर्भंगी का फलितार्थ ४५७, धन्ना सेठ : पहले पुण्यबन्ध का और बाद में अशुभ भावों के कारण पापफल का प्रतीक ४५८, चण्डकौशिक : पूर्वकृत पापबन्ध, किन्तु इस जन्म में पुण्यकर्म करके शुभ फलभोग का प्रतीक ४५९, श्रीपाल : पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध के कारण अशुभ, किन्तु शुभाचरण द्वारा उनका शुभ फलों में परिवर्तन ४५९, पापकर्म-लिप्त प्रदेशी अरमणीय से रमणीय बनकर शुभ फलभागी बना ४६०, सुबाहुकुमार : प्राप्त भी शुभ, बद्ध कर्म भी शुभ और फलभोग भी शुभ ४६०, कालसौकरिक : बद्ध है अशुभ (पाप) कर्म और

फलभोग भी अशुभ का प्रतीक ४६१, 'जैसा कर्म, वैसा ही फलभोग' में परिष्कार करना उचित ४६१, पूर्वबद्ध कर्मों का फल उसी रूप में भोगना आवश्यक नहीं ४६१, पुण्य-पाप के खेल में अकुशल खिलाड़ी की हार : एक रूपक ४६२, पुण्य और पाप के खेल में एक की हार और दूसरे की जीत : क्यों और कैसे? ४६३, पुण्य-पाप के खेल में करारी हार : दूसरा रूपक ४६४, तीन वणिक्-पुत्रों के समान पुण्य-पाप के खेल में जय, पराजय, अर्ध-पराजय ४६५-४६६।

(११) पुण्य और पाप के फल : धर्मशास्त्रों के आलोक में पृष्ठ ४६७ से ४८९ तक

धर्मशास्त्रों में वर्णित पुण्य-पाप फल का उद्देश्य ४६७, जैनागमों में प्रतिपादित पुण्य-पाप का फल ४६७, चौर्यकर्मों का फल : मूकता और बोधि-दुर्लभता ४६८, सुविनीतता और अविनीतता का फल ४६८, पुण्य-पाप कर्मों से कलुषित मानवों को, उनके कर्मों का सुफल-दुष्फल ४६९, विविध शुद्ध शील-पालन रूप पुण्यकर्म के सुफल ४६९, पापकर्मों से धनोपार्जन का कुफल ४७०, अकाममरण से मृत लोगों के लक्षण और उसका फल ४७१, सकाममरण से मृत पुण्यशाली लोगों के पुण्य का फल ४७२, कामभोगों से अनिवृत्ति और निवृत्ति का फल : नरक-तिर्यंच तथा देव-मनुष्य गति ४७२, अधर्मिष्ठ नरक में और धर्मिष्ठ देवलोक में उत्पन्न होता है ४७२, शरीरासक्त तथा विविध पापकर्मों में आसक्त व्यक्तियों को दुःखद नरक-प्राप्ति ४७३, पापकर्मों के भार से भारी जीव बनते हैं—नरकागारी ४७३, पापमयी परस्पर विरोधी दृष्टियों का फल : नरक एवं सर्वदुःख-अमुक्ति ४७३, कामभोगों में आसक्ति का फल : असुरदेवों और रौद्र तिर्यंचों में उत्पत्ति ४७४, निदान से प्राप्त भोगों में आसक्ति का दुष्परिणाम : नरक-प्राप्ति ४७४, पापकर्मियों को नरक और आर्यधर्मियों को दिव्यगति ४७४, विपरीत दृष्टि वाले उभयभ्रष्ट साधकों का उभयलोक भ्रष्ट ४७५, चोर को मृत्युदण्ड : अशुभ कर्मों का परिणाम ४७५, तीर्थंकर नेमिनाथ का कथन : प्राणिवध-जनित पापकर्म में श्रेयस्कर नहीं ४७५, पशुवध प्ररूपक वेद और यज्ञ : पापकर्मों से रक्षा नहीं कर सकते ४७५, वन्दना, स्तुति, अनुप्रेक्षा, प्रवचन-प्रभावना, वैयावृत्य आदि का सुफल ४७५, पापकर्म के प्रबल कारणभूत प्रमाद का दुष्फल ४७६, स्त्रियों में कामासक्ति का फल ४७६, गुरुकर्मा व्यक्तियों की करुण दशा का निरूपण ४७७, स्वयंकृत दुःखद पापकर्मों का कटुफल ४७७, शरीर-सुख तथा रोगोपचार के लिए नाना प्राणियों के वध का फल ४७७, दूसरों को जिस रूप में पीड़ित करता है, वह उसी रूप में पीड़ा भोगता है ४७८, मुनिधर्मी कामभोगासक्त होकर स्वयं को महादुःख सागर में धकेलता है ४७९, आधाकर्मी आहार-सेवन का दुष्फल ४७९, सभी गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण रूप फल अवश्यम्भावी ४७९, गुरु-साधर्मिक शुश्रूषा से उपार्जित पुण्य का फल ४७९, दोषों की आलोचनारूप पुण्योपार्जन का फल ४८०, पंचेन्द्रिय एवं मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष का प्रतिफल ४८०, कामासक्ति का इहलौकिक-पारलौकिक दुष्फल ४८०, कान्दर्पी आदि पाप भावनाओं से अर्जित पापकर्म का फल ४८१, पौण्डरीक के अयोग्य : चार प्रकार के पुरुष और उनको प्राप्त होने वाला कटुफल ४८२, तीन स्थान : अधर्मपक्ष, धर्मपक्ष एवं मिश्रपक्ष ४८२, अधर्मपक्ष स्थान के अधिकारी तथा उनकी चर्या एवं प्रकार ४८२, अधर्मपक्षीय जनों के विषय में अनार्यों एवं आर्यों का अभिप्राय ४८३, अधर्मपक्षीय स्थान : क्या, कैसा? : और उसके पापकर्मों का इहलौकिक-पारलौकिक फल ४८३, द्वितीय धर्मपक्षीय स्थान : अधिकारी और उनके गुण ४८४, धर्मपक्षीय स्थान के अधिकारियों को उनके प्रशस्त पुण्यकर्मों का प्राप्त होने वाला फल ४८४, तृतीय मिश्रस्थान : अधिकारी और उनके गुण ४८५, मिश्रस्थान : अधिकारी श्रमणोपासकों के गुण, चर्या, व्रत एवं पुण्यकर्म-प्रतिफल ४८५, पृथ्वीकायिक से लेकर वैमानिक देवों तक का आहार, उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि : कर्मों के कारण ४८६, समस्त संसारी प्राणियों को प्राप्त होने वाले जन्म-जरा-मरणादि रूप फल ४८६, पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन कराने के पापकर्म का फल ४८७, नरक-गमनरूप पापफल के चार कारण ४८८, बौद्धभिक्षुओं द्वारा प्रतिपादित अपसिद्धान्तों का सारांश ४८८, बौद्धभिक्षु-निरूपित अपसिद्धान्तों का खण्डन ४८८-४८९।

(१२) कर्मों के विपाक : यहाँ भी और आगे भी पृष्ठ ४९० से ५२४ तक

सुखद-दुःखद फलों का मूल स्रोत : पुण्य-पाप कर्म ४९०, पापकर्मों का दुःखद फल अनेक रूपों में मिलता है ४९०, पुण्यकर्मों के उपार्जकों को उनका अनेकविध सुखद फल एवं आध्यात्मिक विकास भी प्राप्त होता है ४९१, दुःखविपाक और सुखविपाक के कथानायकों के जीवन में क्या विशेषताएँ और अन्तर

है? ४९१, दुःखविपाक में पापकर्मों के कारण प्राप्त दुःखदायक फलों का वर्णन ४९१, सुखविपाक में पुण्यकर्मों तथा धर्माचरण से प्राप्त सुखदायक फलों का वर्णन ४९२, विपाकसूत्र आदि में विभिन्न व्यक्तियों के पाप-पुण्य कर्मों के फलों का ही लेखा-जोखा ४९३, दुःखविपाक में पूर्वभव तथा इहभव में आचरित पापकर्मों तथा उनके फल का वर्णन ४९३, मृगापुत्र का पूर्वभव : पापकर्मलीन इक्काई राठौड़ ४९४, पापकर्मों का तात्कालिक फल : सोलह असाध्य रोगों की उत्पत्ति, बाद में नरकगति ४९४, मृगापुत्र के भव में भी गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक असह्य व्याधि, पीड़ा और ग्लानि का दुःख भोगा ४९४, इक्काई को मृगापुत्र के भव के बाद भी लाखों बार जन्म लेना पड़ा, सद्बोध नहीं मिला ४९५, उज्झितक के द्वारा गोवंश के नाश तथा वेश्यागमनादि कुकर्मों का दुःखद फल ४९५, उज्झितक के भव में माता-पिता के वियोग, तिरस्कार तथा अपमान का दुःख भोगना पड़ा ४९६, आवारा भटकता हुआ उज्झितक कुव्यसनों में रत रहने लगा ४९६, वेश्यासक्त उज्झितक को पापकर्मों के फलस्वरूप दुर्दशापूर्ण मृत्युदण्ड मिला ४९६, अभग्नसेन पूर्वभव में : निर्णय नामक अण्डों तथा मद्य का व्यापारी एवं सेवनकर्त्ता ४९७, अभग्नसेन के भव में नागरिकों को त्रस्त करने और कुव्यसनियों के पृष्ठपोषक बनने का कुफल ४९७, ग्रामवासियों की पुकार पर अभग्नसेन को विश्वास में लेकर जीवित पकड़ा और वधादेश दिया ४९८, बुरी तरह से प्रताड़ित करते हुए सूली पर चढ़ाया गया ४९८, अभग्नसेन का भविष्य ४९९, छण्णिक के भव में विविध पशुओं के मांस का पापपूर्ण व्यापार करने का दुष्फल ४९९, पापकर्म के फलस्वरूप शकट की दुर्गति ५००, गणिका सुदर्शना में आसक्ति, निष्कासन करने पर भी पुनः गाढ़ी प्रीति ५००, पापकर्म के कारण शकट की दुर्दशापूर्ण मृत्यु ५००, शकटकुमार पुनः बहन के साथ दुराचार-सेवन के पापपूर्ण पथ पर ५०१, शकटकुमार का भविष्य भी पापपूर्ण ५०१, लाखों भव करने के पश्चात् शकट का भविष्य उज्ज्वल होगा ५०१, राज्य-शान्ति के लिए अनेक बालकों के हृदय के मांस-पिण्ड को होमने वाला महेश्वरदत्त ५०१, बृहस्पतिदत्त को परस्त्रीगामिता का कटुफल मिला ५०२, उदयन के अन्तःपुर में बेरोकटोक प्रवेश तथा पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध ५०२, परस्त्रीगमन के पापकर्म का इहलोक में ही दुष्फल मिला ५०३, बृहस्पतिदत्त का भविष्य अधिक अन्धकारमय, अन्त में उज्ज्वल ५०३, छठा अध्ययन : नन्दीवर्द्धन का पूर्वभव : दुर्योधन चारकपाल के रूप में ५०३, दुर्योधन चारकपाल द्वारा किया गया अत्याचार पापकर्म-परिपूर्ण ५०३, दुर्योधन के पापकर्मों का दुःखद फल : छठी नरक-भूमि में जन्म ५०४, नन्दीषेण भव में मां पितृवध करके स्वयं राजा बनने का षड्यंत्र रचा ५०४, श्रीदाम-नरेश ने युवराज का अत्यन्त गर्म रसों से राज्याभिषेक करवाकर मरवा डाला ५०५, नन्दीषेण का अन्धकारपूर्ण भविष्य अन्त में उज्ज्वल बनेगा ५०५, उम्बरदत्त : पूर्वभव में धन्वन्तरी नामक कुशल राजवैद्य ५०६, धन्वन्तरी राजवैद्य द्वारा रोगियों को विविध मांस खाने का परामर्शरूप पापकर्म ५०६, पापकर्म के फलस्वरूप छठी नरक में ५०७, उम्बरदत्त की मां को मद्यपान के साथ भोजन करने का दोहद उत्पन्न हुआ ५०७, उम्बरदत्त के मां-बाप मरने से उसे घर से निकाल दिया गया ५०७, उम्बरदत्त के शरीर में सोलह असाध्य रोगों की उत्पत्ति ५०७, उम्बरदत्त का अन्धकारपूर्ण एवं अन्त में उज्ज्वल भविष्य ५०८, आठवाँ अध्ययन : शौरिकदत्त के पूर्वभव का परिचय श्रीद रसोइये के रूप में ५०८, श्रीद रसोइये का मांस-खण्डों को संस्कारित करने का क्रूरतापूर्ण कर्म ५०८, इन पापकर्मों का दुःखद फल : छठी नरक भूमि में जन्म ५०९, मच्छीमार समुद्रदत्त के पुत्र के रूप में जन्म, यौवन में पितृ-वियोग ५०९, शौरिकदत्त विविध मत्स्यों के मांस का व्यापारी बना ५०९, शौरिकदत्त के गले में मछली का कांटा फँस गया : असह्य पीड़ा से आक्रान्त ५१०, शौरिकदत्त का भविष्य अधिक अन्धकारमय : स्वल्प उज्ज्वल ५११, देवदत्ता का पूर्वभव : सिंहसेन के रूप में ५११, श्यामादेवी में आसक्ति : अन्य रानियों की उपेक्षा ५११, श्यामादेवी को मारने की योजना ५११, चिन्तित श्यामादेवी : कोपभवन में ५११, श्यामादेवी को सिंहसेन-नरेश द्वारा आश्वासन ५१२, चार सौ निन्यानवे सासुओं को कूटागारशाला में निवास दिया ५१२, कूटागारशाला के चारों ओर आग लगवाकर उन्हें मरवा दी ५१२, इस क्रूरकर्म के फलस्वरूप सिंहसेन छठी नरक में ५१२, सिंहसेन का जीव देवदत्ता के रूप में : दत्त सार्थवाह की पुत्री ५१२, राजा वैश्रमणदत्त ने अपने पुत्र पुष्यनन्दी के लिए देवदत्ता की मांग की ५१३, वैश्रमणदत्त की ओर से पुष्यनन्दी के लिए देवदत्ता की मांग का प्रस्ताव ५१३, दत्त सार्थवाह द्वारा सहर्ष स्वीकृति ५१३, पुत्री देवदत्ता को पालकी में बिठाकर शोभायात्रापूर्वक वैश्रमण-नरेश को सौंपी ५१३, राजा

वैश्रमण ने दोनों का विधिवत् विवाह सम्पन्न कराया ५१४, राजा पुष्यनन्दी की परम मातृभक्ति ५१४, यह मातृभक्ति देवदत्ता को अपने विषयभोगों में बाधक लगी, अतः श्रीदेवी को मारने का दुर्विचार ५१४, देवदत्ता ने श्रीदेवी को मारकर ही दम लिया ५१४, दासियों द्वारा पुष्यनन्दी को मातृ-हत्या का समाचार मिलते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ५१५, देवदत्ता को राजा पुष्यनन्दी द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया ५१५, देवदत्ता का भविष्य : अधिकतर अन्धकारमय, अन्त में प्रकाशमय ५१५, निष्कर्ष ५१६, दसवाँ अध्ययन : अंजूश्री के पूर्वभव का वृत्तान्त ५१६, राजा विजयमित्र ने अपने लिए अंजूश्री की माँग की ५१६, अंजूश्री योनिशूल की असह्य पीड़ा से व्यथित ५१७, वैद्यादि भी विविध उपचार करके असफल रहे ५१७, अंजूश्री को पापकर्म का दुःखद फल यहाँ भी मिला, आगे भी ५१७, अंजूश्री का भविष्य अधिकतर अन्धकारपूर्ण, अन्त में उज्ज्वल ५१७, दस अध्ययनों में दस कथानायकों के दुःखद फल ५१८, विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुखविपाक का संक्षिप्त परिचय ५१८, सुबाहुकुमार का पूर्वभव : दानशील सुमुख गाथापति के रूप में ५१८, सुमुख गाथापति द्वारा सुदत्त अनगार को विधिपूर्वक आहारदान ५१८, सुमुख गाथापति के सद्गुणों की प्रशंसा ५१९, सुमुख का जन्म : अदीनशत्रु राजा के पुत्र सुबाहुकुमार के रूप में तथा विवाहादि ५१९, सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर का धर्मोपदेश श्रवण किया ५१९, सुबाहुकुमार द्वारा सम्यक्त्व-प्राप्ति तथा श्रावकव्रत ग्रहण ५२०, सुबाहुकुमार की रूप-शरीर-सम्पदा तथा ऋद्धि के विषय में गौतम की जिज्ञासा ५२०, सुबाहुकुमार के उज्ज्वल भविष्य का फलितार्थ ५२०, सुबाहुकुमार का गृहस्थ धर्म से अनगार धर्म में प्रव्रजित होने का संकल्प ५२१, सुबाहुकुमार की दीक्षा, अध्ययन, तपश्चरण एवं समाधिमरण का संक्षिप्त वर्णन ५२१, उज्ज्वल भविष्य : सुबाहुकुमार को अनेक भवों के बाद सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त ५२१, शेष नौ अध्ययनों का संक्षिप्त दिग्दर्शन ५२२, पाप और पुण्य-दोनों के फल में महदन्तर की समीक्षा ५२३, विपाकसूत्र के मूल स्रोत और फलभोग का वर्णन ५२४।

(१३) पुण्य-पाप के निमित्त से आत्मा का उत्थान-पतन — पृष्ठ ५२५ से ५३८ तक

साधनामय जीवन में पुण्य, पाप और धर्म का स्रोत : कहाँ और कैसे? ५२५, पाप-पथ से पुण्य-पथ की ओर मुड़कर आत्मा का उत्थान किया ५२५, निरयावलिका में पापफल के निमित्त आत्म-पतन की कथा ५२६, कल्पावतंसिका में पुण्यफल के निमित्त से कल्पविमानवासी देवत्व का वर्णन ५२६, पुष्पिता में पुण्योपार्जन के फलस्वरूप देवत्व-प्राप्ति ५२६, पुष्पचूलिका में संयम-साधना में उत्तरगुण-विराधना से देवीरूप में ५२७, वृष्णिदशा में वृष्णिवंशीय दस साधकों का वर्णन ५२७, अनुत्तरौपपातिकसूत्र में प्रचुर पुण्यराशि वाले मानवों को अत्यधिक सुखद फल-प्राप्ति ५२७, अनुत्तरौपपातिकसूत्र में तीन वर्ग, तैंतीस अध्ययन ५२७, अनुत्तरौपपातिक कौन-कौन, क्यों और कैसे? ५२८, प्रथम वर्ग : दस अध्ययन ५२८, जालीकुमार द्वारा उपलब्ध पुण्यराशि का फल विजयविमान एवं सिद्धत्व-प्राप्ति ५२८, शेष नौ अध्ययनों के कथानायकों का संक्षिप्त परिचय ५२८, द्वितीय वर्ग : तेरह अध्ययन : संक्षिप्त परिचय ५२९, तृतीय वर्ग : दस अध्ययन : संक्षिप्त नामोल्लेख ५२९, धन्यकुमार : उत्कृष्ट भोग से संयम-तपश्चरण योग में प्रवृत्त ५३०, अनगार धन्यकुमार का संयमी जीवन ५३०, धन्यकुमार अनगार का उत्कट तप : प्रशंसा और अभिनन्दन ५३१, धन्य अनगार द्वारा संलेखनापूर्वक समाधिमरण और मुक्ति ५३१, सुनक्षत्र अनगार का वर्तमान और भविष्य ५३२, अनुत्तरौपपातिक के शेष आठ कथानायकों का संक्षिप्त परिचय ५३२, राजप्रश्नीयसूत्र में प्रदेशी राजा से सूर्याभदेव तक का संक्षिप्त परिचय ५३३, निरयावलिकासूत्र : प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग का संक्षिप्त परिचय ५३३, कल्पावतंसिका : दस अध्ययन : संक्षिप्त नामोल्लेख ५३४, पुष्पिका : दस अध्ययन : संक्षिप्त परिचय ५३४, निरयावलिका : चतुर्थ श्रुतस्कन्ध, चतुर्थ वर्ग : पुष्पचूलिका : दस अध्ययन ५३५, श्रीदेवी का पूर्व जीवन, संयमी जीवन और प्रथम स्वर्ग-प्राप्ति ५३५, शेष देवियों का जीवन : अन्त में पुण्य के सुखद-फल की प्राप्ति ५३६, वृष्णिदशा के कथानायकों का संक्षिप्त परिचय ५३६, निषध द्वारा भोगमार्ग से त्यागमार्ग की साधना से सिद्धि ५३७-५३८।

●●

कर्मविज्ञान : तृतीय भाग

खण्ड ६ कुल पृष्ठ ५३९ से १०५२ तक

कर्मों का आस्रव और संवर

निबन्ध १८ पृष्ठ ५३९ से १०५२ तक

(१) कर्मों का आस्रव : स्वरूप और भेद पृष्ठ ५४१ से ५७१ तक

अथ कर्म-आगमन-जिज्ञासा ५४१, कर्मों को कौन बुलाता है, कैसे बुलाता है? ५४१, कर्मों का प्रवेश किस जीव में और कैसे? ५४२, सरोवर में नाले खुले होने से जलागमन की तरह आत्मा में भी आस्रवद्वारों से कर्मागमन ५४३, आस्रव का व्युत्पत्त्यर्थ और मिथ्यात्वादि स्रोतों से कर्मों का आगमन ५४३, भगवान द्वारा कर्मों के सर्वदिग्व्यापी स्रोतों से सावधान रहने का निर्देश ५४४, अकर्मा का होने का उपाय : भगवान द्वारा प्रतिपादित ५४४, सर्वव्यापी कर्मपुद्गलों को आने से कैसे रोका जाये? : एक चिन्तन ५४४, कर्मों का आस्रव प्रभावित नहीं कर सकेगा : कैसे और किस उपाय से? ५४५, स्निग्ध दीवार की तरह राग-द्वेष स्निग्ध आत्मा पर ही कर्मरज चिपकती है ५४५, अशुभ कर्म से दूर रहें, शुभ कर्म को भी कम से कम प्रवेश कराएँ ५४६, अवांछनीय तत्त्वों की तरह अवांछनीय कर्मों से मुख मोड़ लें ५४६, अवांछनीय कोलाहल का अस्वीकार और वांछनीय के साथ तालमेल ५४७, अवांछनीय तत्त्व को अस्वीकार करने का तात्पर्य ५४७, आवश्यकतानुसार कोलाहल के साथ तालमेल और उपेक्षा ५४७, अशुभ कार्यों का अस्वीकार, शुभ कार्यों के साथ तालमेल : क्यों और कैसे? ५४८, अवांछनीय कर्मों का अस्वीकार या उपेक्षा किस प्रकार हो? ५४९, व्यक्तित्व को ढिलमिल या दुर्बल न बनाएँ ५४९, कर्मों के आस्रव के दो प्रकार और उनका कार्य ५४९, कर्मों के सामान्य आस्रव की प्रक्रिया और लक्षण ५५०, अन्य दर्शनों में भी आस्रव और उसके कारणों का उल्लेख ५५१, भावास्रव और द्रव्यास्रव : स्वरूप, प्रक्रिया और प्रकार ५५२, भावास्रव की दो शाखाएँ : साम्परायिक और ईर्यापथिक आस्रव ५५३, ईर्यापथिक आस्रव का अर्थ, लक्षण एवं कार्य ५५४, साम्परायिक कर्म-आस्रव के उनचालीस आधार ५५५, साम्परायिक आस्रव का प्रथम आधार : अव्रत ५५६, अव्रत के मुख्य पाँच अंग : हिंसादि ५५६, हिंसा : अव्रत का प्रथम अंग : स्वरूप और विश्लेषण ५५७, अव्रत का दूसरा अंग : असत्य : स्वरूप और विश्लेषण ५५८, अव्रत का तृतीय अंग : स्तेय-चोरी : स्वरूप और विश्लेषण ५६०, अव्रत का चतुर्थ अंग : अब्रह्मचर्य-मैथुन : स्वरूप और विश्लेषण ५६०, अव्रत का पंचम अंग : परिग्रह : स्वरूप और विश्लेषण ५६१, अव्रत के ये पाँच अंग : एक विश्लेषण ५६२, साम्परायिक आस्रव का द्वितीय आधार : कषाय ५६२, इन्द्रिय-इन्द्रियों द्वारा विषयों में राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति : साम्परायिक आस्रव का तृतीय आधार ५६४, इन्द्रियों के द्वारा सहज रूप से विषयों में प्रवृत्ति दोषयुक्त नहीं, दोषयुक्त है राग-द्वेष ५६४, साम्परायिक कर्मास्रव का पंचम आधार : चौबीस क्रियाएँ ५६७, सूत्रकृतांगोक्त आस्रवरूप तेरह क्रियाएँ और उनका लक्षण ५७०, साम्परायिक आस्रव के दो भेद : शुभास्रव और अशुभास्रव ५७१।

(२) आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक पृष्ठ ५७२ से ५८५ तक

आस्रव शुद्ध आत्मा को आवृत, विकृत और सुषुप्त कर देता है ५७२, आस्रव का निरोध होने पर ही शुद्ध आत्मिक-सुख की अनुभूति ५७२, आस्रव की आग आत्मा के ज्ञानादि गुणों को विकृत कर डालती है ५७३, आस्रव की आग के उत्पादक एवं उत्तेजक कौन? : यह जानना आवश्यक ५७३, कर्मों के विविध रहस्यों को जानने वाला ही परिज्ञातकर्मा होता है ५७३, कर्मास्रवों का भलीभाँति परिज्ञान क्यों आवश्यक है? ५७३, कुछ आग लगाने वाले, कुछ आग में पूला डालने वाले तत्त्व ५७४, नमिराजर्षि के सामने यही इन्द्र-प्रश्न था : आपके समक्ष भी यही ५७४, मूल आग है-राग-द्वेषरूप आस्रव हेतु की ५७४, आस्रवाग्नि का प्रथम उत्पादक व सहायक : मिथ्यात्व ५७५, आस्रवाग्नि का द्वितीय उत्पादक व सहायक : अविरति या

अव्रत ५७५, अविरति की मुख्य पाँच संतान : अहिंसा प्रथम संतान ५७६, अविरति की दूसरी संतान : मृषावाद ५७७, अविरति की तीसरी संतान : चोरी ५७७, अविरति की चौथी संतान : अब्रह्मचर्य ५७८, अविरति की पाँचवीं संतान : परिग्रह ५७८, आस्रवाग्नि का तृतीय उत्पादक और सहायक : प्रमाद ५७९, प्रमाद के अभिभूत संगी-साथी पाँच हैं ५८०, प्रमाद का प्रथम अंग : मद्य ५८०, प्रमाद का द्वितीय अंग : विषयासक्ति ५८०, प्रमाद का तृतीय अंग : कषाय ५८१, प्रमाद का चतुर्थ अंग : निद्रा ५८१, प्रमाद के पंचम अंग : विकथा की विवेचन कथा ५८२, प्रमाद से हानि, अप्रमाद से लाभ ५८३, कषाय : आस्रवाग्नि का सबसे प्रबल सहायक एवं उत्पादक ५८३, चारों की सम्मिलित आस्रवाग्नि : कर्मपरमाणुरूप ईंधन ५८४, योग : चारों आस्रवाग्नियों को प्रज्वलित रखने वाला वायु ५८५।

(३) कर्म आने के पाँच आस्रवद्वार — पृष्ठ ५८६ से ६०५ तक

भवन के पाँच द्वार खुले रखने का परिणाम ५८६, सांसारिक जीवों द्वारा मिथ्यात्वादि पाँचों आस्रवद्वार खुले रखने का परिणाम ५८६, साधना-परायण व्यक्ति पाँचों आस्रवद्वारों को खोलने में सावधान ५८६, कर्मों के आकर्षण और संश्लेषण के लिए मुख्यतया दो द्वार ५८७, योग-आस्रव की चंचलता का दिग्दर्शन ५८७, चंचलता कौन पैदा करता है? ५८७, योग-आस्रव का स्वरूप ५८८, योगों की चंचलता का प्रेरक है—अविरति आस्रव ५८८, अविरति आस्रव का स्वरूप और कार्य ५८८, मन की चंचलता के पीछे अविरति की ही प्रेरणा है ५८९, वचन की चंचलता भी अविरति-प्रेरित ५८९, काया में चंचलता एवं सक्रियता पैदा करने वाला अविरति आस्रव ५९०, बहिर्मुखी ऋषिगण और अन्तर्मुखी जनक राजा ५९०, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्ति वालों में अन्तर ५९१, अविरति की प्रबलता-मन्दता पर त्रियोग की अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी प्रवृत्ति निर्भर ५९१, अन्तर्मुखी वृत्ति वाला व्यक्ति गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञ ५९२, आत्म-भावों में स्थित साधक की निश्चलता और निःस्पृहता की झाँकी ५९२, स्वयं में अन्तर्लीन होने से ही चंचलता कम होगी ५९२, अन्तर् में आकांक्षाओं की घटा, बाहर से त्याग से चंचलता कम नहीं होती ५९३, आकांक्षा शान्त न होने के पीछे कारण है—मिथ्यात्व-आस्रव ५९३, मिथ्यात्व-आस्रव के कारण समस्त वस्तुओं को विपरीत रूप में जानता-मानता है ५९४, मिथ्यात्व के मुख्य दस प्रकार ५९४, मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति सभी कार्य उलटे करता है ५९५, मिथ्यात्व-आस्रव के कारण : मति-भ्रान्ति और आकांक्षा में वृद्धि ५९५, प्रमाद-आस्रव : स्वरूप और कार्य ५९६, चतुर्थ आस्रवद्वार : कषाय और उसका प्रभाव ५९७, चंचलता को वृद्धिंगत करने में कषाय सब आस्रवों में प्रबल ५९७, कषाय के विभिन्न रूप एवं स्तर ५९८, इन चारों भावास्रवों के बिना अकेला योग चंचलता पैदा नहीं कर सकता ५९८, योगों की चंचलता को रोकने के लिए पूर्वोक्त चारों आस्रवों से सावधान रहना आवश्यक ५९९, योगों की चंचलता को कम करने के लिए प्रतिपक्षी को अपनाना आवश्यक ५९९, पाँच मुख्य-मुख्य आस्रव-संवर द्वारों के बीस-बीस आस्रव-संवर उपद्वार ६००, आस्रवों के बीस द्वार और संवरों के बीस कपाट ६०१, नगर-रक्षा की तरह आत्म-रक्षा के लिए आस्रवद्वारों को भलीभाँति बंद करो ६०१, भीतर प्रादुर्भूत होने वाले आस्रवों को बन्द करने का उपाय : संवरानुप्रेक्षा ६०२, आस्रव और बन्ध में अन्तर तथा दोनों की कार्य-भिन्नता ६०३, पुद्गल कर्मों के आगमन का अभिप्राय : ज्ञानावरणादि पर्याय की प्राप्ति ६०५।

(४) योग-आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य — पृष्ठ ६०६ से ६३० तक

योग-आस्रव : बद्ध अवस्था से जीवन्मुक्त अवस्था तक ६०६, आस्रव में योग की और बन्ध में कषाय की प्रधानता ६०६, योग-आस्रव और बन्ध का अन्तर ६०७, योग को ही आस्रव क्यों कहा गया, शेष आस्रवों को क्यों नहीं? ६०७, योग ही आस्रव कहा जाता है : क्यों और कैसे? ६०८, मिथ्यात्व आदि चारों आस्रवों का योग में अन्तर्भाव ६०८, योग को ही आस्रव कहने का प्रमुख कारण ६०९, योग को ही प्रमुख आस्रवद्वार कहने का कारण ६०९, आत्मा की स्वीकार की स्थिति में बाह्य भावों से जोड़ने वाला : योग ६१०, योग की विशिष्ट प्रक्रियात्मक परिभाषाएँ और लक्षण ६१०, योग के दो रूप : भावयोग और द्रव्ययोग ६११, योग का वैज्ञानिक विश्लेषण ६११, कर्मजनित चैतन्य-परिस्पन्दन (कम्पन) ही योग-आस्रव का हेतु ६१२, कम्पनजनित कर्मों का उद्गम स्थान : कार्मणवर्गणा ६१३, कार्मणवर्गणा ही कर्मशरीर की निर्मात्री ६१३, कार्मणशरीर ही व्यक्ति के मन, बुद्धि, मस्तिष्क को प्रेरित करता है ६१४, आस्रव और योग

की क्रिया-प्रक्रिया ६१४, आत्मा की क्रिया का कर्मपरमाणुओं से संयोग ही योग है ६१५, गति को भी योग नहीं कहा जा सकता ६१५, योग के शुभ-अशुभ रूप का आधार : शुभ-अशुभ भाव ६१६, त्रिविधयोग अकेले सुख-दुःख के कारण नहीं ६१६, आलम्बन-भेद से योग के तीन प्रकार : मनोयोग, वचनयोग, काययोग ६१७, मनोयोग के विभिन्न लक्षण ६१७, मनोयोग के चार भेद ६१७, मनोयोग के चार भेदों का स्वरूप ६१८, भावमन की अपेक्षा से योग के भेदों के लक्षण ६१८, द्रव्यमन की अपेक्षा से योग के भेदों के लक्षण ६१८, मनोयोग के चारों भेदों का वचन-निमित्तक लक्षण ६१९, मनोज्ञान और मनोयोग में अन्तर ६२०, मनोयोग के दो भेद : शुभ मनोयोग, अशुभ मनोयोग ६२०, मनोयोग के दो भेद : शुभ-अशुभ : स्वरूप और लक्षण ६२१, वचनयोग : स्वरूप और लक्षण ६२१, वचनयोग का स्पष्टार्थ तथा सामान्य अर्थ ६२१, वचनयोग के चार भेद : स्वरूप और लक्षण ६२२, चतुर्विध मनोयोग के समान चतुर्विध वचनयोग भी ६२३, वचनयोग के दो भेद : शुभ और अशुभ : स्वरूप और लक्षण ६२३, अमनस्क विकलेन्द्रिय जीवों में अनुभय-वचनयोग पाया जाता है : क्यों और कैसे? ६२३, उपशम और क्षपक जीवों में असत्य और उभय मनोयोग तथा वचनयोग सम्भव है ६२४, निष्कषाय जीवों तथा ध्यानलीन अपूर्वकरण गुणस्थानी में भी वचन-काययोग सम्भव ६२४, काययोग : स्वरूप और लक्षण ६२५, काययोग के सम्बन्ध में कुछ सैद्धान्तिक समाधान ६२६, काययोग के सात प्रकार ६२६, शुभ-अशुभ काययोग : स्वरूप ६२६, काययोग के सात भेद : क्यों और किस अपेक्षा से? ६२७, काययोग के भेद और स्वरूप ६२७, विक्रिया और वैक्रियशरीर ६२८, कायक्लेश काययोग कर्मास्रव नहीं, वह कर्मक्षय का हेतु है ६२८, काययोग ही एकमात्र योग : क्यों और कैसे? ६२९, अध्यवसाय-स्थान असंख्येय, कर्मास्रवरूप योग अनन्त क्यों? ६३०।

(५) पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में — पृष्ठ ६३१ से ६५६ तक

कर्मों का आवागमन : अयोग-अवस्था के पूर्व तक ६३१, शुभाशुभ योगों के आधार पर पुण्यास्रव-पापास्रव ६३१, पुण्य-पापास्रव का लक्षण और विश्लेषण ६३१, पुण्यास्रव के कारण ६३२, किस प्रकार के मन-वचन-काययोग से शुभास्रव होता है? ६३३, शुभ-अशुभ योग के हेतु ही पुण्य-पापास्रव के हेतु हैं ६३३, पुण्यास्रव के विविध हेतु ६३३, शुभ परिणाम पुण्य, अशुभ परिणाम पाप ६३३, पापास्रव के विविध हेतु रूप परिणाम ६३४, पाप विषकुम्भवत्, अपराधमय, पातक एवं हेय तथा अहितकर ६३४, पुण्य-पाप वस्तु या क्रिया के आधार पर ही नहीं, कर्त्ता के परिणाम के आधार पर भी ६३५, सुख या दुःख उपजाने मात्र से ही पुण्य-पाप का निर्णय नहीं होता ६३५, क्रिया की अशुभता के आधार पर पापास्रव का उपार्जन ६३६, अशुभ परिणामों तथा क्रियाओं के आधार पर पापास्रव-निर्देश ६३७, दानादि शुभ क्रियाओं तथा शुभ परिणामों के आधार पर पुण्यास्रव का उपार्जन ६३७, मानसिक-वाचिक-कायिक शुभ-अशुभ आस्रव के लक्षण ६३७, क्रिया के बाह्यस्वरूप और परिणाम (फल) को लेकर भी द्रव्य-भावपुण्य ६३८, जैनदर्शन में पुण-पापकर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय ६३८, बौद्ध-आचारदर्शन में पुण्यकर्म का निरूपण ६३९, कर्मों की शुभाशुभता का आधार राग की प्रशस्तता-अप्रशस्तता भी है ६३९, कर्मों की शुभाशुभता के मापदण्ड पृथक्-पृथक् : क्यों और कैसे? ६४०, कतिपय पाश्चात्यदर्शनों में क्रिया की शुभाशुभता की मान्यता ६४०, जैन-कर्मविज्ञान में भी क्रिया के पीछे प्रकार, पद्धति, भावादि द्वारा शुभाशुभ कर्म की मान्यता ६४२, शुभ-अशुभ योगरूप पुण्य-पापास्रव पुण्य-पापबन्ध के कारण : क्यों और कैसे? ६४३, जैनदर्शन में योगों की शुभाशुभता के आधारभूत तथ्य ६४४, शुभ-अशुभ कार्य से सम्बन्धित अन्य बातें ६४५, जीवाधिकरण की एक सौ आठ अवस्थाएँ ६४५, भाव-अजीवाधिकरण के भेद-प्रभेद ६४६, पुण्य-पाप : आस्रव भी और बन्ध भी ६४७, शुभाशुभ आस्रव और बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर ६४७, अन्तर्भूमि में पुण्य-पाप का देवासुर-संग्राम ६४९, इस देवासुर-संग्राम का प्रारम्भ और अन्त : कब और कैसे? ६४९, पुण्य और पाप दोनों में से किसकी प्रबलता कब तक? ६४९, आगे की भूमिका में उत्तरोत्तर पाप हारता है, पुण्य जीतता है ६५०, पाप पतन के मार्ग पर और पुण्य उत्थान के मार्ग पर ले जाता है ६५०, पुण्य की भ्रान्तिवश पापास्रव का संचय ६५०, पापकर्मों से जुटाये हुए सुख-साधनों से पुण्यलाभ मिलना कठिन ६५१, पुण्य और पाप के अन्तर्द्वन्द्व में आसुरीवृत्ति की प्रबलता ६५१, पापरूप असुरपक्ष के तर्क-कुतर्क ६५१, पापश्रमण : पुण्य से दूर, पापास्रव के निकट ६५२, पापास्रव-परायण लोगों की वृत्ति-प्रवृत्तियाँ ६५२, पापास्रव-परायण : पुण्यफल की भ्रान्ति के शिकार ६५३, पापास्रव-परायण

असुरवर्ग का विकृत चिन्तन ६२३, पापास्रव-परायण पुण्य-सम्पदा से वंचित : क्यों और कैसे? ६५४, पुण्यास्रव-परायण देववर्ग का आत्मौपम्य मूलक चिन्तन ६५४, पुण्यास्रवी व्यक्तियों को पुण्यलाभ और परम्परा से सर्वकर्ममुक्ति की उपलब्धि ६५४, पुण्यशाली देववर्ग का सूझबूझभरा चिन्तन ६५४, पापकर्मास्रव शीघ्र प्रविष्ट होने का स्रोत : तात्कालिक क्षणिक प्रलोभन ६५५, पुण्यास्रव और पापास्रव में बहुत बड़ा अन्तर ६५६, पुण्य और पाप दोनों आस्रवों में से पुण्य का ही चुनाव करो ६५६, संसारयात्रा में पुण्य का आश्रय लेना और मोक्षयात्रा में दोनों का त्याग करना हितकर ६५६।

(६) पुण्य : कब और कहाँ तक उपादेय एवं हेय ? पृष्ठ ६५७ से ६८७ तक

महाव्रत के महायात्री के समक्ष सुखद और दुःखद दृश्य ६५७, संसार-महारण्य के यात्री के समक्ष भी पुण्य और पाप के दृश्य ६५८, संसार-महारण्य के यात्री के समक्ष भी पुण्य-पथ और पाप-पथ ६५९, पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों एक : क्यों और कैसे? ६५९, तत्त्वदृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही बन्धकारक संसार हेतु होने से समान ६६०, अज्ञानी मोहवश पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा कहता है, ज्ञानी के लिए दोनों का संसर्ग निषिद्ध ६६२, पुण्य और पाप दोनों ही आकुलता एवं दुःख के कारण हैं ६६२, परमार्थदृष्टि से पाप की तरह पुण्य को भी हेय माना गया ६६३, ज्ञानी पाप की तरह पुण्य को भी हेय, अनादेय, अनादरणीय समझता है ६६४, परम्परा से पापबन्ध का कारणभूत पुण्य अच्छा नहीं ६६६, मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्टकारक है : क्यों और कैसे? ६६६, पुण्य का निषेध करने का प्रयोजन ६६८, शुभोपयोगरूप पुण्य कहाँ हेय, कहाँ उपादेय? : सम्यक् विवेचना ६६८, शुद्धोपयोग और शुभोपयोग की उपादेयता-हेयता पर विचार ६६९, शुभोपयोग (पुण्य) और अशुभोपयोग (पाप) में अन्तर ६७०, संसार-भ्रमण की दृष्टि से समान, किन्तु आचारदृष्टि से दोनों में दिन-रात का अन्तर ६७०, एकान्त निश्चयवादी शुभोपयोग को भी छोड़कर अशुभोपयोग के दूतों के हाथ में ६७१, शुद्धोपयोग सर्वथा उपादेय है, किन्तु किस क्रम से और किस भूमिका में? ६७२, शुद्धोपयोग की अयोग्यता वाले शुभोपयोग को छोड़कर अशुभोपयोगरूप पापपंक में निमग्न ६७३, भूमिका देखकर ही शुभोपयोग का त्याग कराया जाता है ६७३, अशुभोपयोग से सर्वथा दूर रहने के लिए शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखकर शुभोपयोग में स्थिर होना आवश्यक ६७४, पुण्य और पाप में भिन्नता : व्यवहारदृष्टि से ६७६, अतः पुण्य हेय ही नहीं, उपादेय भी है : क्यों और कैसे? ६७६, पुण्य स्वयमेव पापमल को नष्ट करने के साथ आत्मा से पृथक् हो जाता है ६७७, पूर्वोपार्जित पुण्य सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों, संयोगों और शुभ भावों को उपस्थित करता है ६७८, अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं, शुभ के त्याग से ही शुद्ध की प्राप्ति सम्भव ६७८, शुभ का त्याग होने पर पुण्य और इन्द्रियजनित सुख स्वयं दूर हो जायेंगे ६७८, पुण्य की दो उपलब्धियाँ : कर्ममुक्त सिद्ध-परमात्मा या अल्पकर्मा महर्द्धिकदेव ६७९, पुण्य से प्राप्त होने वाले महालाभ और उसके उपार्जन की प्रेरणा ६७९, सर्वमान्य पूज्य का माहात्म्य ६८०, पुण्यफल और पुण्यफलकथा की उपादेयता पर विचार ६८१, पुण्योपार्जन की प्रेरणा : क्यों और किसलिए? ६८३, सम्यग्दृष्टि का पुण्य ही अभीष्ट एवं उपादेय, मिथ्यादृष्टि का नहीं ६८४, सम्यग्दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबंधी, मिथ्यादृष्टि का पापानुबन्धी ६८४, भोगमूलक पुण्य ही निषिद्ध है, योगमूलक नहीं ६८५, पुण्य की हेयता-उपादेयता पर विहंगावलोकन ६८६, संसार-महारण्य के चार प्रकार के महायात्री ६८६, पुण्य : किसके लिए, कब और कब तक हेय या उपादेय है? : निष्कर्ष ६८७।

(७) आस्रवमार्ग संसारलक्ष्यी और संवरमार्ग मोक्षलक्ष्यी पृष्ठ ६८८ से ७०३ तक

प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग ही आस्रव और संवर का मार्ग ६८८, अदूरदर्शिता और दूरदर्शिता का मार्ग अपनाने वाले वे प्राणी ! ६८९, दूरदर्शिता का पथ अपनाने वाले अपना वर्तमान और भविष्य उज्ज्वल बनाते हैं ६९०, संवरपथ अपनाने वाले नमिराजर्षि की दूरदर्शिता की परीक्षा और प्रशंसा ६९०, आस्रवपथिक स्वयं को बचाने और संवरपथिक स्वयं को मिटाने के लिए उद्यत ६९१, स्वयं को बचाने तथा स्वयं को मिटाने वाले ये बीज ! ६९२, आस्रवदृष्टि अदूरदर्शिता की, संवरदृष्टि दूरदर्शिता की दृष्टि ६९३, अदूरदर्शी आस्रवदृष्टि-परायण लोगों की रीति-नीति ६९३, अदूरदर्शी आस्रवदृष्टि और दूरदर्शी संवरदृष्टि व्यक्तियों द्वारा शक्तिव्यय में अन्तर ६९४, बचपन से ही संवर के प्रशिक्षण-संस्कार जीवन के अन्त तक स्थायी रहते हैं ६९५, संवर की दूरदर्शी दृष्टि की प्रेरणा ६९६, अदूरदृष्टि वाले आस्रवप्रिय व्यक्ति का

रवैया ६९६, सांसारिक अदूरदर्शी लोगों की आस्रवप्रियता ६९७, आस्रवमार्गी व्यक्ति अपनी कामवासना एवं कामना पर निरंकुश ६९७, आस्रवदृष्टि अदूरदर्शी समय-सम्पदा को भी व्यर्थ खो देते हैं ६९८, देवदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी शुभाशुभ कर्मास्रवों के घेरे में घूमते हैं ६९८, दो प्रकार की नौका के रूपक द्वारा आस्रवप्रिय और संवरप्रिय की पहचान ६९९, किम्पाकफलसम कामभोगों के सेवन से जीवन का दुःखद अन्त ७००, भोगासक्त कर्मास्रवलिप्त, भोगविरक्त कर्मास्रवरहित ७०१, आस्रव की पगडंडियों को न खोजें, संवर का राजमार्ग पकड़ें ७०१, जीवन-वन का अभीष्ट राजमार्ग : संवर का शुद्ध पथ ७०२, लुभावने आस्रवमार्ग से बचो, संवरनिष्ठ बनो ७०२-७०३।

(८) आस्रव की बाढ़ और संवर की बाँध — पृष्ठ ७०४ से ७२४ तक

नदी में बाढ़ को रोकने के लिए बाँध का प्रयोग ७०४, सांसारिक आत्म-नदियों में आई हुई बाढ़ से भयंकर क्षति ७०४, कर्मास्रवों की बाढ़ से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्रभावित ७०५, कर्मास्रवों और संवरों का कार्य एक-दूसरे से विरुद्ध ७०७, आस्रव सर्वथा हेय, संवर उपादेय : क्यों और किस प्रकार? ७०७, मिथ्यात्व-आस्रव की बाढ़ : सम्यक्त्व-संवर की बाँध ७०८, अविरति-आस्रव की बाढ़ : विरति (व्रत) संवर की बाँध ७०९, प्रमाद-आस्रव की बाढ़ : अप्रमाद-संवर की बाँध ७०९, कषाय-आस्रव की बाढ़ : अकषाय-संवर की बाँध ७०९, योग-आस्रव की बाढ़ : अयोग-संवर की बाँध ७१०, पंचविध संवरों की सिद्धि : कैसे और किस प्रकार है? ७१०, सम्यक्त्व-संवर की सिद्धि ७११, विरति (व्रत) संवर की सिद्धि ७१२, अप्रमाद-संवर की सिद्धि ७१२, अकषाय-संवर की सिद्धि ७१२, अयोग-संवर की सिद्धि ७१२, अयोग-संवर प्राप्त होते ही पूर्ण संवर की सिद्धि और पूर्ण-मुक्ति ७१३, संवर की बाँध कैसे बाँधें, कौन-से साधन या साधना अपनाएँ? ७१४, संवर की दृढ़ साधना से ही मजबूत बाँध बन सकेगी ७१४, संवर की दृढ़ साधना ऐसे हो सकती है ७१४, नैतिक साहसी व्यक्ति दृढ़तम संवर-साधना कर सकते हैं, साहसहीन नहीं ७१५, संवर-साधकों को भगवान महावीर का आन्तरिक युद्ध का आह्वान ७१६, संवर के लिए भाव-विवेकरूपी शस्त्र ७१७, परिज्ञा के सूत्र ७१७, आस्रवों से संघर्ष करके निरस्त करने पर ही संवर की स्थापना ७१८, संवर में दृढ़तापूर्वक पराक्रम ही साधना को सुदृढ़ बनाने का उपाय ७१८, दुर्बलमना साधक जानते हुए भी संवर-साधना में पराक्रम नहीं कर पाते ७१९, संवरों की भीड़ में आस्रव-चोर संवररूप में ७१९, आस्रवों की जड़ें भी काटनी होंगी ७२०-७२४।

(९) काय-संवर का स्वरूप और मार्ग — पृष्ठ ७२५ से ७४८ तक

काया के प्रति एकांगी और गलत दृष्टिकोण : काय-संवर नहीं ७२५, चार्वाकादि मत-समर्थक अतिभोगवादी दृष्टिकोण : काय-संवर से विपरीत ७२६, हीनताग्रस्त लोगों का काया के प्रति अति असमर्थतामूलक दृष्टिकोण ७२६, ऐसी असमर्थता एवं हीनता से ग्रस्त लोग शरीर से कुछ भी संवर, संयम नहीं कर पाते ७२८, शरीर के प्रति अध्यात्म-साधकों का काय-संवर मूलक स्पष्ट दृष्टिकोण ७२८, प्रवृत्ति-निवृत्तिकर्त्ता शरीर को मारना नहीं, शरीर से संवर धर्म पालना है ७३०, सर्वप्रथम शरीर का संवर-साधना की दृष्टि से अनुप्रेक्षण ७३०, शरीर एक : प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण के दृष्टिकोण अनेक ७३१, काय-संवर की दृष्टि से ही यहाँ शरीर का अनुप्रेक्षण अपेक्षित ७३१, संवर-साधना की दृष्टि से काय-अनुप्रेक्षण : किस-किस आधार पर? ७३२, सभी क्रियाओं का मूल आधार : शरीर ७३२, काय-संवर-कायिक प्रवृत्ति-निरोध : क्यों और कैसे? ७३३ अशुचित्वानुप्रेक्षा से शरीर के प्रति विरक्ति ७३३, संवर-साधना से ममता आदि का व्युत्सर्ग ७३४, स्थूलशरीर में चंचलता क्यों होती है और वह कैसे दूर हो? ७३६, स्थूलशरीर की रक्षा : क्यों और किस प्रकार? ७३८, शरीर सभी शक्तियों का अधिष्ठान : पावर हाउस, उत्पादक यंत्र ७३८, काय-संवर-साधक महर्षियों की अर्हताएँ ७३९, शरीर : तितिक्षा, परीषह-सहन, कायोत्सर्ग आदि : काय-संवरोपयोगी साधना के लिए उपयोगी ७४०, शरीर को अनित्य और अशुचि जानकर इससे धर्माचरण में जरा भी प्रमाद न करो ७४१, (कर्म) शरीर को आत्मा से पृथक् जानकर उसे कृश करो ७४२, भगवान महावीर की काय-संवर-साधना : काया को समाप्त करने के लिए नहीं, साधने के लिए थी ७४३, काय-निरपेक्ष कायोत्सर्ग भी काय-संवर की साधना के लिए ७४४, काय-संवर की साधना के दौरान काया की विस्मृति : क्यों और कैसे? ७४४, कष्ट शरीर को होता है,

आत्मा को नहीं ७४५, तितिक्षा के दृढ़ अभ्यास से शरीर को कष्टों की अनुभूति से बचाया जा सकता है ७४५, काय-संवर की साधना में परिपक्वता के लिए कायगुप्ति ७४६, काय-संवर में कायगुप्ति के द्वारा स्थूलशरीर का द्वार बंद करना अभीष्ट ७४६, स्थूलशरीर का देहाध्यास कैसे समाप्त हो? ७४७-७४८।

(१०) वचन-संवर की महावीथी पृष्ठ ७४९ से ७६९

वाणी का प्रयोग : क्यों और किसलिए? ७४९, वाणी और उसके अन्य समानार्थक लाभ ७४९, वाणी की महिमा और गरिमा ७५०, संसार के समस्त व्यवहारों का मूलाधार : वाणी ७५१, वाणी केवल शब्दोच्चारण नहीं, विभिन्न प्रेरणाओं से परिपूर्ण ७५२, वाणी की सर्वतोमुखी प्रभावक्षमता ७५३, वाणी की आध्यात्मिक शक्ति से दिव्यगुणद्रोही तत्त्वभेद ७५३, वाणी की शक्ति और उपलब्धि का महत्त्व ७५४, उपासनारूप दिव्यवाणी : क्या और कैसी? ७५४, वर्णविन्यास की कुशलता-अकुशलता पर शुभाशुभ परिणाम ७५४, शब्द-शक्ति का चमत्कार : अक्षरयोजक की कुशलता पर निर्भर ७५५, वर्णों के शुभाशुभत्व के आधार पर प्रश्नों के उत्तर ७५५, उपयोग के आध्यात्मिक प्रभाव ७५५, मंत्र-जप द्वारा शब्द-शक्ति के चमत्कार ७५६, टाइपराइटर की तरह क्रमबद्ध मंत्रोच्चारण भी सूक्ष्म चक्रों को जगा देता है ७५७, क्रमबद्ध मंत्र-जप से अलौकिक शक्तियों के जाग्रत होने का चमत्कार ७५७, शब्द-शक्ति की व्यापकता ७५८, मंत्रों के चमत्कार ७५८, सूक्ष्म ध्वनि से आश्चर्यजनक कार्य ७५८, शरीररूपी वाद्ययंत्र का संगीत : नाद ब्रह्म का आनन्द ७५९, सप्त स्वर से शरीर में लगे सूक्ष्म शक्ति-स्रोतों का जागरण ७५९, शब्द की गति धीमी, दृश्य के बाद श्रव्य की पहुँच ७५९, इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों का चमत्कार ७६०, इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों की शक्ति से चिकित्सा-क्षेत्र में चमत्कार ७६०, जपक्रिया के बाद सुपरसौनिक तरंगों का उत्पादन ७६०, शब्दवेधी बाण-प्रयोग की तरह शब्दवेधी मंत्र-प्रयोग प्रयोक्ता के पास वापस लौटते हैं ७६१, वाक्-संवर की आवश्यकता : क्यों और किसलिए? ७६१, शोर-प्रदूषण का तन-मन-जीवन पर दुष्प्रभाव ७६१, कानों से श्रवण-योग्य ध्वनि कितनी डेसीबेल? ७६२, वाक्-संवर की दिशा में जाने के लिए कुछ संयमसूत्र ७६२, वाणी के प्रयोग के दो प्रमुख कारण ७६४, सूक्ष्मतम उच्चारण से वाक्-संवरसिद्धि ७६५, न बोलने से अनेक लाभ ७६५, अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प का निरोध ही वाक्-संवर ७६६, वाक्-गुप्ति से निर्विकारिता ७६८-७६९।

(११) इन्द्रिय-संवर का राजमार्ग पृष्ठ ७७० से ८०४ तक

इन्द्रियों का व्युत्पत्त्यर्थ, स्वरूप और कार्यक्षमता ७७०, प्रकट रूप में ज्ञान कराने के कारण इन्द्रियाँ अक्ष तथा प्रत्यक्ष कहलाती हैं ७७१, इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान : सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ७७२, इन्द्रियों की संख्या और सांसारिक प्राणियों की इन्द्रियों में तारतम्य ७७२, द्रव्येन्द्रिय के दो उपविभाग : निवृत्ति और उपकरण ७७३, भावेन्द्रिय का स्वरूप और प्रकार ७७३, पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति ७७४, पाँचों इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् कुल मिलाकर तेईस विषय ७७४, पंचेन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, बोध, सेवन तथा आत्मा को आकर्षणकरण ७७५, इन्द्रियाँ सांसारिक पदार्थों और विषयों से आत्मा को जोड़ती हैं ७७५, इन्द्रियाँ विषयों के प्रवेश के लिए द्वार हैं, झरोखे हैं, खिड़कियाँ हैं ७७६, इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने से अनेक प्रकार के लाभ ७७६, इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने के बदले इनका निरोध और संवर क्यों? ७७८, इन्द्रियों का सहज स्वभाव भी निरोध या निग्रह से ही बदला जा सकता है ७७८, जीव को विषयासक्ति में फँसाकर आस्रव और बन्ध में आदि निमित्त इन्द्रियाँ बनती हैं ७७८, विषय-सम्पर्क होने पर भी मन में राग-द्वेष न हो तो आस्रव बन्ध नहीं होता ७७९, कर्मास्रवों का मूल कारण इन्द्रियाँ नहीं, मन या आत्मा स्वयं है ७७९, इन्द्रियों को खुराफात की जड़ क्यों मानी गई ७८०, कतिपय हठवादियों का इन्द्रियों के प्रति गलत दृष्टिकोण ७८०, इन्द्रियों को तोड़ने-फोड़ने आदि से इन्द्रिय-संवर नहीं ७८०, एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी इन्द्रिय से हो सकता है ७८१, क्या इन्द्रियों को नष्ट या विकृत कर देने से इन्द्रिय-संवर या इन्द्रिय-निग्रह संभव है? ७८१, इन्द्रिय-विजय या इन्द्रिय-संवर का फलितार्थ ७८२, इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त न होना शक्य नहीं, राग-द्वेष का त्याग करना हितावह ७८३, इन्द्रिय-संवर इसलिए भी आवश्यक है ७८४, इन्द्रियों का संवर या निरोध न करने के दुष्परिणाम ७८६, इन्द्रिय-विषयों में सुखाकांक्षायुक्त प्रवृत्ति अन्ततः दुःखकारी है : क्यों और कैसे? ७८६, इन्द्रिय-विषयों में असावधानी से पतन और दुःख ७८८, विषयों के चिन्तन से सर्वनाश तक का चक्र गीता द्वारा प्रस्तुत ७८८, इन्द्रियाँ असावधान मानव को कैसे

विषयों के घेरे में फँसाती है? ७८९, इन्द्रिय-संवर के साधको ! सावधान !! ७९०, राग-द्वेषरहित होकर विषयोपभोग करने से इन्द्रियाँ वश में, चित्त भी स्वच्छ ७९०, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त बहिरात्मा इन्द्रिय-संवर नहीं करता ७९१, द्रव्य-इन्द्रिय द्वारा हुआ बोध प्रामाणिक और यथार्थ नहीं : क्यों और कैसे? ७९१, दृष्ट पदार्थों के बोध के साथ द्रष्टा की दृष्टि और भावना जुड़ती है ७९२, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा पदार्थ बोध में भी श्रोता की दृष्टि, भावना, संवेदना भी कारण ७९३, मनोयोगपूर्वक श्रवण के बिना श्रोत्रेन्द्रिय से लाभ नहीं उठाया जा सकता ७९३, इन्द्रियों से विशेष ज्ञान कर्मक्षयोपशम, संवेदन आदि पर निर्भर ७९३, इन्द्रिय-द्वारों पर बैठकर साधक पहरेदारी रखे ७९४, इन्द्रियों का वशीकरण : इन्द्रियों और मन के द्वार पर पहरा देने से ७९४, इन्द्रिय-द्वार बंद करने हेतु मन का भीतरी द्वार भी बंद करना जरूरी ७९५, मन और कषायों को जीत लेने पर इन्द्रियाँ स्वयं जीत ली जाती हैं ७९५, आजीवन इन्द्रिय-द्वार बंद करना शक्य नहीं ७९६, इन्द्रिय-संवर के लिए इन्द्रिय-कषायादि को कृश करना है, शरीर को नहीं ७९६, इन्द्रिय-संवर के लिए मन से भी कामभोगों की आकांक्षा न करे ७९६, प्राप्त विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करना कठिन ७९७, मन ही मन विषयभोग-प्राप्ति की आकांक्षा भी रागरूप है ७९७, विषयों से दूर रहने पर भी अन्तर में रस (वासना) रह जाता है ७९८, इन्द्रियों के साथ अवशिष्ट विषय-रस छूटेगा 'पर' के दर्शन से ७९८, 'पर' के दर्शन का अभिप्राय : जैन और वैदिक दृष्टि से ७५८, इन्द्रियों का दमन करने की अपेक्षा विषयों का उदात्तीकरण श्रेष्ठ है ८००, योगदर्शन-सम्मत प्रत्याहार से इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध भी असम्बद्ध-सम हो जाता है ८००, इन्द्रियजय के लिए इस उपाय के अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ उपाय नहीं ८०१, पूर्वोक्त रीति से प्रत्याहार करने पर पूर्ण रूप से इन्द्रियवश्यता ८०१, इन्द्रिय-विषयों के प्रति रस का मार्गान्तरीकरण करना प्राथमिक इन्द्रिय-संवर है ८०२-८०४।

(१२) मनःसंवर का महत्त्व, लाभ और उद्देश्य — पृष्ठ ८०५ से ८३१ तक

कर्मावृत आत्मा के चेतना-नेत्र सम्यक्पदार्थ ज्ञान के लिए मन उपनेत्र है ८०५, आवृत चेतना के प्रगट होने का सशक्त माध्यम : मन ८०५, मन : सचेतन भी और अचेतन भी : कैसे? ८०६, जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी : मन ८०६, मन : बन्ध और मोक्ष का कारण : कैसे? ८०७, उपनिषदों की दृष्टि में मन : बंध और मोक्ष का मूल कारण ८०७, जैनदृष्टि से मन : आस्रव और बंध का तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण ८०७, समस्त शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणामों का आद्य कारण : मन ८०७, मन का निवास-स्थान कहाँ-कहाँ और क्यों? ८०८, वैदिक-परम्परानुसार मन का स्वरूप ८०८, मन : एक पृथक् भीतरी यंत्र ८०९, मन की शक्तियाँ अकल्पनीय ८०९, भौतिक वैज्ञानिकों द्वारा मन की शक्ति का नाप-तौल ८०९, मन की प्रचण्ड विद्युत्-शक्ति का चमत्कार ८१०, मन की शक्ति से मानसिक कल्पना द्वारा किसी भी वस्तु का चित्र लेना ८११, मन की प्रचण्ड शक्ति से भौतिक की तरह आध्यात्मिक पदार्थ प्रभावित ८११, तत्त्वदर्शियों और वैज्ञानिकों द्वारा मन की प्रचण्ड शक्ति का स्वीकार ८१२, प्रचण्ड मनःशक्ति का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोगकर्ता पर निर्भर ८१२, जीवसत्ता और ब्रह्मसत्ता को मिलाने और पृथक् करने वाली सत्ता : मनःशक्ति ८१३, विकृत मनःस्थिति का शरीर पर दुष्प्रभाव ८१३, दूषित मनःस्थिति वाले लोग ही समाज में हत्या, युद्ध आदि के कारण ८१४, क्रूरतापूर्वक हत्या का बालक आरमण्ड के मन पर आजीवन प्रभाव ८१४, बन्ध और मोक्ष की दृष्टि से मन की अगाध शक्ति का परिचय ८१५, मन का योग होने पर ही सम्यग्दर्शन, यथाप्रवृत्तिकरण आदि ८१६, मन, बन्ध और मुक्ति का हेतु : आगमों की दृष्टि से ८१६, विभिन्न दर्शन-परम्पराओं की दृष्टि में मन, बन्धन और मुक्ति का कारण ८१६, मन कब बन्ध का, कब मुक्ति का बाहक? ८१७, मन की चंचलता के कारण ही इसका निरोध करना अभीष्ट ८१८, मन का निरोध क्यों आवश्यक है? ८१८, मनःसंवर के अभाव और सद्भाव में व्यक्ति की स्थिति ८१९, मन पर असंयम से हानियाँ ८२१, मनोनिग्रहरहित व्यक्ति मानसिक सुख-शान्ति से रहित ८२१, मनःसंवर से नाना उपलब्धियाँ ८२२, मनोनिग्रह का अनायास प्राप्त फल ८२२, मनोविजेता आत्म-शक्ति का धनी एवं जगत्-विजेता ८२३, मनःसंवर या मनोनिरोध से प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ ८२३, मन स्थिर एवं शान्त होने पर आत्मा में परमात्म-तत्त्व की झलक ८२३, व्यावहारिक दृष्टि से भी मनोनिरोध आवश्यक ८२४, परिस्थिति का सुधार-बिगाड़ : मनःस्थिति पर निर्भर ८२४, मनोनिरोध न होने पर ..... ८२५, मनुष्य का जैसा मन, वैसा ही बनता है जीवन ८२६, मनोनिरोध से कई उपलब्धियाँ ८२६, मनोनिरोध का वास्तविक

उद्देश्य ८२६, मन की मूलभूत तीन शक्तियों, तीन स्तरों तथा चतुर्विध क्रियावृत्तियों को समझो ८२७, मन के तीन स्तर : चेतन, अवचेतन, अतिचेतन ८२९, क्रियात्मक अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ ८२९, मन को पूर्णतया एकाग्र करने हेतु क्रमशः पाँच अवस्थाएँ ८३०, मनःसंवर की साधना के लिए योग्य-अयोग्य अवस्था ८३०, मनःसंवर के विविध पहलू ८३१।

(१३) मनःसंवर के विविध रूप, स्वरूप और परमार्थ पृष्ठ ८३२ से ८५६ तक

मनःसंवर क्या है, क्या नहीं? : एक विश्लेषण ८३२, क्या इन दोनों प्रक्रियाओं को मनोनिरोध कहेंगे? ८३२, मनोनिरोध की सही और गलत प्रक्रिया के निर्णयार्थ तीन अश्वारोहियों का रूपक ८३२, मनोनिरोधक के ये दोनों ही उपाय अहितकर एवं गलत ८३५, मनोनिरोध या मनःसंवर का सही उपाय ८३५, मनोनिरोध या मनःसंयम क्या नहीं है, क्या है? ८३६, मनोवशीकरण के लिए ज्ञान का अंकुश ८३७, मन का विषयों से (शून्य) रहित हो जाना–मन का मर जाना है ८३७, मन की दो प्रकार की स्थितियाँ ८३८, संसारी अवस्था में स्थूल मन निष्क्रिय होने पर भी सूक्ष्म मन क्रिया करता रहता है ८३८, अमनस्क प्राणियों में भी भावमन के अस्तित्व के कारण कर्मास्रव ८३९, मन को उत्पन्न तथा उत्तेजित व संचालित करने वाले दो तत्त्व ८४०, मन का निरोध : मनोवृत्तियों का निरोध है ८४०, वृत्तियों के माध्यम से ही उलझनें तथा प्रवृत्तियाँ मन में संक्रान्त होती हैं ८४१, वृत्तियों से रिक्त मन ही शून्य या अनुत्पन्न मन है ८४१, मनोनिग्रह या मनोनिरोध का वास्तविक अर्थ ८४२, जैन-परम्परा में मनोनिरोध के लिए उपशम के बदले क्षय का मार्ग श्रेयस्कर ८४२, भगवद्गीता-सम्मत मनोनिग्रह भी मनोदमन नहीं, किन्तु अभ्यास द्वारा मनोविजय ८४२, बौद्ध-परम्परा में भी दमन की प्रक्रिया चित्त-संक्षेप हेतु एवं निषिद्ध ८४३, जैन-परम्परा में मनोनिग्रह का अर्थ : मन का उदात्तीकरण ८४३, मनःसंवर का परमार्थ : मन को राग-द्वेष से विमुक्त–तटस्थ रखना ८४४, प्रत्येक स्थिति में मन को तटस्थ, उदासीन एवं समत्व में स्थिर रखना ही मनःसंवर है ८४४, विषयों में प्रवृत्त हो रहे मन को शुद्ध के चिन्तन में लगा देना मनःसंवर है ८४५, पंचेन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त होते हुए मन में औदासीन्य भाव लाना मनःसंवर है ८४५, आत्मा मन को, मन इन्द्रियों को प्रेरित न करे, तभी मनोविजयरूप मनःसंवर ८४५, परिपूर्ण शुद्ध मनःसंवर का रूप ८४६, मनःसंवर उच्च साधक के लिए भी कठिन, यदि वह सतर्क नहीं है तो ८४७, मनःसंवर में मन की क्रमशः चार या पाँच अवस्थाओं से आगे बढ़ना होगा ८४७, मनःसंवर की सिद्धि के लिए जीवनभर अभ्यास और त्याग आवश्यक ८४९, लक्ष्य के प्रति एकाग्र वीर मनःसंवर का निष्ठावान् साधक ८४९, मृत्युभय से मुक्त साधक ही परम मनःसंवर प्राप्त कर सकता है ८५०, दृढ़ इच्छा-शक्तिपूर्वक अभ्यास करो, तभी मन अनुकूल होगा ८५१, प्रबल इच्छा-शक्ति के बिना मनोनिग्रह का संकल्प शिथिल हो जायेगा ८५२, मनःसंवर में कामेच्छा और भोगेच्छा दोनों प्रबल बाधक ८५२, मनःसंवर का साधक असफलता मिलने पर हताश न होकर प्रबल उत्साह के साथ पुनः जुट जाये ८५३, इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कतिपय कारण ८५३, आत्म-विश्वास की कमी भी दृढ़ इच्छा-शक्ति में बाधक ८५४, स्व-मन से ही मन को निगृहीत करना चाहिए ८५४, मन-संवर कठिन अवश्य है, असम्भव नहीं ८५५, मनःसंवर से विचलित व्यक्ति भी पुनः उसमें सुस्थिर हो सकता है ८५५, मनःसंवर-साधक के लिए स्वाध्याय, सदुपदेश अतीव सहायक ८५५-८५६।

(१४) मनःसंयर की साधना के विविध पहलू पृष्ठ ८५७ से ८९३ तक

मनःसंवर की दुष्कर साधना भी सुकर हो सकती है ८५७, सुखभोग की स्पृहा को कैसे संस्कारित करें, कैसे मोड़ें? ८५७, जैनदृष्टि से मनःसंवर-साधना की दो कक्षाएँ : देशसंयम और सर्वसंयम ८५८, विषय-सुखों को आत्मिक-सुखों में लगाने हेतु : गृहस्थ श्रावक के लिए चार शिक्षाव्रत ८५८, मानसिक सुखोपभोग के समय आत्म-सुख-प्राप्ति की शक्ति सुरक्षित रहे ८५९, अर्थ और काम का सेवन भी धर्म-मर्यादा में हो ८५९, मनोनिग्रह के लिए मन का उन्नयनीकरण ८५९, उन्नयनीकरण का सही अर्थ : आत्म-सुखों की ओर आकर्षण व प्रस्थान ८६०, उच्छृंखल कामसुख-लालसा मनःसंवर में अत्यन्त बाधक ८६०, सांसारिक सुख-कामनाओं को परमात्म-भक्ति या मुक्ति की ओर मोड़ दो ८६१, धर्म-शुक्लध्यानमना साधक की इन बाह्य विषयों में रति-अरति नहीं ८६१, मनोनिग्रह में बाधक बातें ८६२, मनःसंवर मन की पवित्रता और शुद्धि पर निर्भर ८६३, मन की शुद्धि के लिए आहार-शुद्धि आवश्यक ८६४, आहार-शुद्धि

का शंकराचार्यकृत तात्पर्यार्थ ८६४, भगवद्गीतानुसार त्रिविधगुणयुक्त आहार एवं उसकी व्याख्या ८६४, मनोनिग्रह के लिए मन के स्वभाव को बदलना आवश्यक ८६५, भागवत में तीनों गुणों की वृद्धि में कारणभूत दस बातों की समीक्षा और संक्षिप्त व्याख्या ८६५, अपूर्ण मनःशुद्धि के लिए भी दृढ़ इच्छा एवं श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास अनिवार्य ८६६, मनःसंवर-साधना में कतिपय सहायक कारण ८६७, मनोनिग्रह के ज्ञान, वैराग्य एवं अभ्यास में सरलतम सहायक : सत्संग ८६७, आन्तरिक सत्संग मनःसंवर में तत्काल सहायक ८६८, श्रद्धेय-त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा-भक्ति : मनःसंवर की साधना में सहायक ८६८, मन का स्वामी बनने हेतु योगांगों का अभ्यास आवश्यक ८६९, मनःसंवर-साधना में सहायक चार भावनाएँ ८७०, मन की अशुभ से रक्षा करने हेतु विवेक का अभ्यास जरूरी ८७०, मनोनिग्रह हेतु मन को शुद्ध एवं उचित प्रवृत्ति में केन्द्रित करना ८७१, मन को अपने से पृथक् समझने का अभ्यास करना मनःसंवर में सहायक ८७१, मनोविजय के लिए किये गये इस अभ्यास से लाभ ८७२, प्राणायाम का अभ्यास : मनःस्थिरता में सहायक ८७२, मन को बाह्य विषयों से हटाकर लक्ष्य में स्थिर करने हेतु प्रत्याहार का अभ्यास ८७२, अशुभ में जाते हुए मन को प्रतिपक्षी के शुभ भावों में मोड़ना भी मनोनिग्रह का उपाय ८७३, मनोनिग्रह के लिए मन में दुर्भावना के बदले सद्भावना का अभ्यास सहायक ८७४, मनःसंवर का साधक प्रतिक्षण मन की वृत्ति-प्रवृत्तियों से सतर्क रहे ८७६, मन को परमात्मा या शुद्ध आत्मा की ओर मोड़ने का अभ्यास : मनःसंवर-साधक ८७६, आपातकाल में मनोविजय के व्यावहारिक उपाय ८७७, प्रलोभनकारी आस्रवयुक्त विचारों का सामना कैसे करें? ८७८, सतत नाम-जप का अभ्यास भी मनःसंवर में सहायक ८७९, नाम-जप से मन की शुद्धता और निरुद्धता ८८०, प्रभु-प्रार्थना भी मन की शुद्धता और निरुद्धता में सहायक ८८१, सत्क्रियों में तन्मयता का अभ्यास : मनःसंवर में सहायक ८८२, विचारशून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए ८८६, मनोनिग्रह का प्रभावशाली साधन : शुभ ध्यान का अभ्यास ८८७, मनःसंवर में प्रगति के लिए सतत अभ्यास एवं निराशा त्याग आवश्यक ८८७, वैराग्य के अभ्यास के लिए तथागत बुद्ध का पंचसूत्री उपदेश ८९२-८९३।

(१५) प्राण-संवर का स्वरूप और उसकी साधना — पृष्ठ ८९४ से ९३३ तक

कल-कारखाने के संचालन की तरह शरीर-संचालन के लिए भी ऊर्जा-शक्ति अनिवार्य ८९४, प्राणशक्ति ही प्राणी के जीवन में कार्यक्षमता और सक्रियता की उत्पादक ८९५, प्राण क्या करता है? उसके बिना क्या नहीं होता? ८९५, प्राणशक्ति (वीर्य) से सम्पन्न जीतता है, प्राणशक्तिहीन हारता है ८९६, वास्तविक विजेता कौन? युद्धवीर या आत्म-विकारवीर? ८९६, प्राणशक्ति से विहीन व्यक्ति का जीवन ८९७, प्राणशक्तिहीन एवं प्राणशक्ति-सम्पन्न का अन्तर ८९८, प्राणशक्ति विशिष्ट व्यक्ति की पहचान ८९८, प्राणशक्ति की सर्वाधिक उपयोगिता ८९९, शरीरयंत्र की संचार-प्रणाली का मूलाधार : ऊर्जा-शक्ति ८९९, प्राणी के जीवन का मूलाधार : प्राणशक्ति ८९९, सामान्य प्राण एक : विविध क्रियाशीलता के कारण अनेक ९०१, प्राण के अधिकाधिक प्रकट होने का प्रमुख केन्द्र : हृदय ९०२, शरीर में प्राण के प्रकट होने का द्वितीय केन्द्र : अपान ९०३, प्राण के प्रकट होने का तृतीय केन्द्र : समान प्राण ९०३, प्राण का चतुर्थ केन्द्र : उदान प्राण ९०३, प्राण का समग्र शरीरव्यापी केन्द्र : व्यान-प्राण ९०४, पाँच उपप्राणों का कार्यकलाप ९०४, पाँच प्राणों और उपप्राणों का सन्तुलन बिगड़ने का परिणाम ९०५, सामान्य प्राण-तत्त्व के संवर की साधना में सावधानी ९०५, मस्तिष्क : सशक्त प्राण-ऊर्जा केन्द्र ९०५, प्राणों का मूल स्रोत : नाभि से नीचे तैजस् शरीर ९०७, शरीर में पर्याप्त प्राण-ऊर्जा के छह केन्द्र ९०७, दस प्रकार के विशिष्ट प्राण ९०८, दशविध प्राण : शरीर के विभिन्न भागों को शक्ति देने में सहायक ९०८, संसारी प्राणियों में दस प्राणों में से किसमें कितने प्राण? ९०९, प्राण जीवन में अनिवार्य होते हुए भी प्राण-निरोध या प्राण-संवर क्यों? ९०९, प्राणशक्ति का क्षय, अपव्यय एवं अल्पुपयोग रोकने हेतु प्राण-संवर आवश्यक ९१०, श्रवणेन्द्रिय की क्षमता : द्रव्य-श्रोत्रेन्द्रिय-निरोध से ९११, कर्णेन्द्रिय की रचना से कानों की प्राण-ऊर्जा-ग्रहण-शक्ति ९१२, श्रवणेन्द्रिय-क्षमता में वृद्धि कैसे-कैसे सम्भव? ९१३, स्थूल (द्रव्य) श्रोत्रेन्द्रिय का विकास भी बाह्य श्रवण-संवर से साध्य ९१३, कर्ण-पिशाचिनी विद्या-सिद्धि से दूरस्थ श्रवण-क्षमता ९१४, नादयोग की साधना से श्रवण-क्षमता में अपूर्व वृद्धि ९१४, तीर्थंकरों तथा उच्च देवलोक के देवों में बिना बोले ही परस्पर मनोगत वाचा को समझने की क्षमता ९१५, ऐसी संवर-साधना कब और कैसे हो सकती है? ९१६, श्रोत्रेन्द्रिय की

प्राण-ऊर्जा को व्यग्र, विक्षिप्त एवं नष्ट करने वाली बातें ९१६, चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण-संवर की महत्ता और पद्धति ९१७, प्राण-संवर की साधना एवं दृष्टि से युक्त एवं विमुक्त दूरदर्शन-दूरश्रवण का परिणाम ९१७, गांधारी की दिव्यदृष्टि का सुपरिणाम ९१८, चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण-संवर की साधना-पद्धति ९१८, प्राण-संवर की दृष्टि से युक्त होने पर ही यथार्थ देखा-सुना जा सकता है ९१८, घ्राणेन्द्रिय बल-प्राण का संवर : एक चिन्तन ९१९, प्राणशक्ति कैसे निर्बल होती है, कैसे प्रबल? ९१९, घ्राणेन्द्रिय बल-प्राण के संवर की सही पद्धति जानने से लाभ ९१९, रसनेन्द्रिय बल-प्राण का संवर : कब और कब नहीं? ९२०, स्पर्शेन्द्रिय बल-प्राण-संवर की साधना से लाभ ९२०, त्वचा की संवेदनशीलता भी प्रखर बनती है, स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति के निरोध से ९२२, मनोबल-प्राण के संवर की साधना ९२२, प्राणशक्ति समन्वित मनोबल द्वारा प्रबल इच्छा-शक्ति की वृद्धि के चमत्कार ९२३, प्राणशक्तियुक्त मनोबल कैसे प्राप्त होता है? ९२४, मन की प्राण-ऊर्जा का ह्रास और विकास कैसे होता है? ९२४, मन को एकाग्र एवं लक्ष्य में केन्द्रित करने के उपाय ९२५, मन की एकाग्रता कहाँ और किन बातों में? ९२५, मनोबल-प्राण-संवर में सावधानी और जागृति रखना अनिवार्य ९२६, वचनबल-प्राण-संवर की साधना के तथ्य और उपाय ९२६, प्राणवती वाक्शक्ति की क्षमता कैसे प्राप्त हो? ९२७, वाक्शक्ति का माहात्म्य और चमत्कार ९२७, कायबल-प्राण-संवर का रहस्य ९२९-९३३।

(१६) प्राणबल और श्वासोच्छ्वासबल प्राण-संवर की साधना — पृष्ठ ९३४ से ९७३ तक

प्राण : प्राणियों को जीवनदाता, त्राता और क्रियाशीलता का जनक ९३४, प्राणशक्ति का महत्त्व एवं फलितार्थ ९३५, भौतिक विद्युत् से प्राणिज विद्युत् का प्रभाव बढ़कर है ९३५, प्राणिज प्राण की महत्ता एवं विशेषता ९३६, प्राणबल का ही जीवन के सभी क्षेत्रों में चमत्कार ९३६, प्राण संकल्परूप में भी व्याख्यात ९३७, प्राण : विश्वव्यापी समग्र सामर्थ्य, ब्राह्मी-शक्ति एवं ब्रह्म ९३७, प्राणबल का ब्रह्मतेज : जीव के सभी अंगों एवं जीवन के सभी क्षेत्रों में परिदृश्यमान ९३७, प्रसुप्त प्राणबल को जाग्रत किया जाय : असीम क्षमता की प्राप्ति संभव ९३८, प्राणशक्ति के जागरण और रहस्यज्ञान से लाभ ९३९, प्राणशक्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना में सहयोगी ९३९, प्राणशक्ति के विविध चमत्कार ९४०, प्राणबल-संवर के पथिक की पहचान ९४०, प्राणवान साधकों के जीवन में महाशक्ति का अवतरण ९४०, समस्त आध्यात्मिक सिद्धियों का स्रोत : प्राणबल ९४१, प्राणबल-संवर : कितना दुर्गम, कितना सुगम? ९४१, प्राणबल-संवर के साधकों के लिए इतना पराक्रम अनिवार्य ९४२, प्राणवान् व्यक्ति का दूसरों पर प्रभाव और प्राण-जागरण ९४३, प्राणशक्ति की प्रखरता से व्यक्ति ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी एवं तपस्वी बनता है ९४३, शारीरिक और मानसिक क्षेत्र में प्राणशक्ति का प्रभाव ९४४, प्राणशक्ति की अभिवृद्धि से प्राणबल-संवर-साधना : कैसे और क्यों? ९४४, चुम्बक शक्ति से अल्पप्राण व्यक्ति भी प्राण-ऊर्जा-सम्पन्न ९४४, प्राणबल द्वारा सम्प्राप्त उपलब्धियाँ ९४५, चुम्बकीय शक्ति-सम्पन्न में चुम्बक के तीनों गुण ९४५, चुम्बकीय शक्ति का लोप : दुरुपयोग से ९४६, चुम्बकीय शक्ति और प्राणबल-संवर का साधक ९४६, आध्यात्मिक सम्पदाओं की शारीरिक विशेषताओं से एकान्ततः संगति नहीं ९४६, प्राणायाम से प्राणबल का असाधारण विकास : जीवन के सभी क्षेत्रों में सम्भव ९४७, प्राण-तत्त्व की मन्दता एवं लोप होते ही जीवन की मन्दता एवं मृत्यु : वैज्ञानिकों की दृष्टि में ९४७, प्राणशक्ति की हानि-वृद्धि के परिणाम ९४८, वैज्ञानिकों की दृष्टि में प्राणशक्ति के कार्यकलाप ९४९, साहसिकता और क्रियाशीलता : आन्तरिक प्राणबल के परिणाम ९४९, प्राणबल-उपार्जक प्राणायाम से विशिष्ट अन्तःऊर्जा की उपलब्धि ९४९, जीवनी-शक्ति (Life energy) रूप प्राण-तत्त्व के छह प्रकार : वैज्ञानिकों की दृष्टि में ९५०, श्वासोच्छ्वास भी प्राण का आवश्यक अंग ९५१, जीवन को स्थिर रखने वाला प्राण : श्वासोच्छ्वास-बलप्राण : क्यों और कैसे? ९५१, भगवतीसूत्र में प्राणी के जीवन-धारणार्थ उच्छ्वास-निःश्वास का वर्णन ९५२, श्वास के साथ आयु ही नहीं, विद्युत्-तत्त्व का भी आकर्षण और विकर्षण ९५२, श्वास के साथ शरीर में प्राण-तत्त्व का प्रवेश : श्वास-प्रश्वास के घर्षण से ९५३, श्वास-प्रश्वास के साथ प्राण-ऊर्जा : आत्म-बल आदि की उपलब्धि ९५४, अधिक प्राण-ऊर्जा प्राणायाम-प्रक्रिया से ही प्राप्त हो सकती है ९५५, प्राणायाम के मुख्यतः दो उद्देश्य ९५५, स्वास्थ्य-संवर्द्धक प्राणायाम का स्वरूप और उसकी सफलता ९५६, प्राण-तत्त्व ही शरीर के सभी स्व-संचालित अंगों और संस्थानों को प्रभावित करता है ९५७, श्वास-प्रश्वास की गति बन्द : सारे क्रियाकलाप बन्द ९५८, शारीरिक

दृष्टि से श्वासोच्छ्वास बल-प्राण की साधना ९५८, गहरी श्वास से लाभ, न लेने से हानि ९५८, प्राणायाम से गहरे श्वास लेने का लाभ, महत्त्व और उद्देश्य ९५९, गहरी साँस लेने से विभिन्न लाभ : पाश्चात्य डॉक्टरों की राय में ९६०, प्राण और वायु दोनों कितने सम्बद्ध, कितने भिन्न ? ९६०, प्राण-तत्त्व : सूक्ष्मशरीर की नाड़ियों में घुला-मिला ९६१, अध्यात्म-क्षेत्रीय प्राणयाम का दूरगामी प्रभाव ९६१, आरोग्यविज्ञान-क्षेत्रीय प्राणायाम से अध्यात्म-क्षेत्रीय प्राणायाम बढ़कर ९६१, आध्यात्मिक प्राणायाम के दो रूप और उससे लाभ ९६१, आत्म-प्राण और ब्रह्म-प्राण का समन्वय : वैदिक दृष्टि से ९६२, ऐसा अन्तःऊर्जा-उत्पादक प्राणायाम प्राणबल-संवर-साधना में सहायक ९६२, आध्यात्मिक प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास बल-प्राण-संवर में तीव्रता ९६३, अध्यात्म प्राणायाम की चार स्तर के रूप में चार स्थितियाँ ९६४, मिथ्यात्वादि पाँच आस्रवों के निरोधरूप संवर और श्वास-संवर में कितना साम्य, कितना अन्तर ? ९६५, मनःसंवर और श्वास-संवर अन्योन्याश्रित ९६६, वैदिक मनीषियों की दृष्टि में : मन और प्राण (श्वास) के विलय, विजय एवं नियंत्रण का परस्पर सम्बन्ध ९६७, मनःसंवर के लिए श्वास (प्राण) संवर और श्वास-संवर के लिए मनःसंवर अनिवार्य ९६८, दोनों में भाषाभेद है, परिणामभेद या लक्ष्यभेद नहीं ९६८, द्विविध चित्त-शान्ति : श्वास से श्वास को नियंत्रित कीजिए ९६८, श्वास तीव्र होने के कतिपय कारण और उसका परिणाम ९६९, सुखी जीवों में श्वास-क्रिया बहुत ही देर में, दुःखी जीवों की बहुत जल्दी : शास्त्रीय प्रमाण ९७०, श्वास-संवर से कषाय-संवरादि तथा मनःसंवर भी होता है ९७१, श्वास कब तीव्र होता है, कब मन्द ? : संक्षेप में निष्कर्ष ९७१, आसनविजय, निद्राविजय और आहारविजय ९७२, वास्तविक स्वस्थता, प्राणायाम से श्वास-नियंत्रण एवं कायोत्सर्ग : एक ही फलितार्थसूचक ९७२, एक पुद्गल निविष्ट-दृष्टि भी श्वास-संवर से सिद्ध हो सकती है ९७३, शान्त मुद्रा और आवेशग्रस्त मुद्रा के परिणाम में अन्तर ९७३।

(१७) अध्यात्म-संवर का स्वरूप, प्रयोजन और उसकी साधना पृष्ठ ९७४ से १००८ तक

आत्मा अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न होते हुए भी दरिद्र, अभावपीड़ित और पराधीन क्यों ? ९७४, भौतिक सम्पदाओं की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्पदाएँ अत्यधिक सुखकर तथा हितकर ९७६, आत्मा को बहिर्मुखी होने से बचाकर अन्तर्मुखी बनाओ, आत्म-प्रेक्षण करो ९७७, अध्यात्म-संवर से ही आत्म-दर्शन यथार्थरूप से हो सकता है ९७८, अध्यात्म-संवर का पहला पड़ाव : आत्म-दर्शन ९७८, बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी होने से ही आत्मा अपने को देख सकती है ९७९, भ्रान्ति का कारण : आत्मानुभव के रस को छोड़कर विषयरसों का आस्वादन ९७९, अध्यात्म-शक्तियों का प्रयोग अध्यात्म-संवर में हो, तभी आत्मानुभव ९८०, अध्यात्म-संवर से विमुख क्यों ? ९८०, आत्मज्ञानरूपी समुद्र में समस्त ज्ञान-सरिताओं का समावेश सम्भव ९८१, आत्मज्ञान जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है ९८१, आत्मा को आत्मा से जानना अध्यात्म-संवर है ९८२, सच्चा आत्म-ज्ञान या आत्म-दर्शन : कब होता है, कब नहीं ? ९८२, अध्यात्म-संवर : आत्म-भावों से आत्मा को भावित करने से ९८३, वही अध्यात्म-संवर का साधक, जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता, न रमता है ९८४, सर्वत्र सभी अंगों में आत्मा को देखना : आत्म-दर्शन ९८४, एकमात्र शुद्ध आत्मा को जानना-देखना : आत्म-दर्शन ९८५, आत्मा के साथ एकत्व की प्रतीति ही सच्चा आत्म-दर्शन ९८५, भेदविज्ञाता आत्मदर्शी अर्हन्नक श्रावक ज्ञाता-द्रष्टा बना रहा है ९८६, ज्ञानचेतना में सुदृढ़ रहने वाले अध्यात्म-संवर-साधक की वृत्ति या दृष्टि ९८६, सुकरात को आत्मा की अमरता पर दृढ़ विश्वास : आत्म-दर्शन का प्रतीक ९८६, एकमात्र सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा हूँ, अन्य नहीं : यही आत्म-दर्शन की सिद्धि ९८७, आत्म-बाह्यभाव मैं या मेरे नहीं, मैं अन्य हूँ : आत्म-द्रष्टा का चिन्तन ९८७, एकमात्र आत्मा का सम्प्रेक्षण : अध्यात्म-संवर का उत्कृष्ट रूप ९८८, एकमात्र आत्मा की शरण में चले जाने पर कष्ट का आभास नहीं होता ९८९, आत्म-समर्पित साधक बाहुबलि मुनि की अध्यात्म-संवर साधना ९८९, आत्मा में तल्लीन साधक पर सर्प-विष का प्रभाव नहीं ९९०, समाधिमरण की आराधना : अध्यात्म-संवर की प्रक्रिया ९९०, अध्यात्म-संवर का स्वरूप : प्रतिसंलीनता-आत्म-निष्ठा ९९१, आत्मा ही संवर आदि है : अध्यात्म-संवर का एक विशिष्ट रूप ९९१, अर्हत्-सम्प्रेक्षण ही शुद्ध आत्म-सम्प्रेक्षण है : अध्यात्म-संवर के सन्दर्भ में ९९२, अर्हत्-सम्प्रेक्षण से स्वभाव-रमणतारूप संवर, परभाव-रमणता-निरोध ९९२, भगवान महावीर विशुद्ध आत्मज्ञानी-साधक थे, प्रसिद्धि आदि के नहीं ९९३, अध्यात्म-संवर की साधना के साथ प्रसिद्धि, सिद्धि आदि का निषेध ९९४, आत्मवान् और अनात्मवान् की पहचान ९९४, आत्मा और

आत्मवान् की पहचान ९९५, भौतिक धन की अपेक्षा आत्मज्ञानरूपी धन को अपनाओ ९९५, अध्यात्म-संवर की साधना का प्रथम पड़ाव : आत्म-ज्ञान–आत्म-दर्शन ९९६, आत्मज्ञान का तात्पर्य अपने आपको तथा आत्म-गुणों को पहचानना ९९६, आत्मा के अष्टविध रूपों में से कौन-से हेय, कौन-से उपादेय? ९९६, त्रिविध आत्मा में बहिरात्मा का चिन्तन और मनोवृत्ति प्रवृत्तियाँ ९९७, इन्द्र और विरोचन की आत्मज्ञान-पिपासा में अन्तर ९९८, आत्मज्ञान की निष्ठा के अभाव में बहिरात्मा बने हुए व्यक्ति की करुण दशा ९९८, आत्मज्ञानहीन व्यक्ति वृक्ष की तरह स्थिति-स्थापक, आत्मिक उत्क्रान्ति-परायण नहीं ९९९, आत्मज्ञान से विकास की और अज्ञान से विनाश की सम्भावनाएँ १०००, अपनी आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो : यही आत्मज्ञान का रहस्य है १००१, अध्यात्म-संवर की दृष्टि : भौतिकता-प्रधान दृष्टि को बदलने से १००१, अध्यात्म-संवर में बाधक-साधक : अपनी ही विपरीत दृष्टि, मान्यता एवं वृत्ति १००२, असीम सुख अपनी आत्मा में ही है, बाह्य पदार्थों और विषयों में नहीं १००३, आत्मा ही कर्म बाँधती है, वही कर्मों से मुक्त होती है : क्यों और कैसे? १००५, सुख-दुःख, बंध-मोक्ष या उत्थान-पतन, अपने हाथ में १००५, आत्म-निग्रह–अध्यात्म-संवर ही सब दुःखों से मुक्त होने का उपाय १००६, सुख का मूल धर्म है, पर धर्म से हीन लोग स्वच्छन्दाचारी होकर दुःख पाते हैं १००६-१००८।

(१८) अध्यात्म-संवर की सिद्धि : आत्मशक्ति, सुरक्षा और आत्मयुद्ध से

पृष्ठ १००९ से १०४५ तक

प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग या अनुपयोग : दोनों ही शक्तिनाश के कारण १००९, अनन्त शक्तिधन आत्मा की शक्तियों का दुरुपयोग और सदुपयोग : कब और कैसे होता है? १००९, अर्जित या प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग मुख्यतया आठ कारणों से करते हैं १०१०, आत्मशक्ति की आराधना को छोड़कर शरीरादि शक्तियों की आराधना कितनी निकृष्ट? १०१०, आत्मबल की वृद्धि के बजाय शरीरादि बल बढ़ाते हैं १०१२, भौतिक बलों का मनमाना उपयोग : आत्मिक सम्पदा नष्ट करने में १०१२, आत्मा की रक्षा : क्यों और कैसे हो? १०१३, शक्तियों का दुरुपयोग रोकने से आत्मिक-शक्ति संचित–विकसित होती है १०१३, आध्यात्मिक संवर का अभ्यास : सभी शक्तियों का क्षरण रोकने का कारण १०१५, आत्मशक्तियों का संचय : क्यों और किसलिए? १०१५, अध्यात्म-संवर के सन्दर्भ में आत्मशक्ति-संचय के चार मूलाधार १०१६, आत्मशक्ति-संचय का प्रथम मूलाधार : दृढ़ संकल्प १०१६, आत्मशक्ति-संचय का द्वितीय मूलाधार : प्रचण्ड मनोबल १०१६, मनोबल के लिए कठोर आत्मानुशासन की आवश्यकता १०१७, अध्यात्म-संवर के साधक की कठोर अग्नि-परीक्षा : कब और कैसे? १०१७, कषायों तथा विकारों के आस्रव-छिद्रों को प्रचण्ड मनोबल से ही रोका जा सकता है १०१८, आत्मशक्ति-संचय का तृतीय मूलाधार : विश्वास १०१८, आत्मशक्ति-संचय का चतुर्थ मूलाधार : सत्-श्रद्धा १०१९, अध्यात्म-संवर की साधना की सिद्धि के लिए आत्मयुद्ध अनिवार्य १०२०, बाह्ययुद्ध अनर्थकर एवं अनार्ययुद्ध है १०२१, भगवान महावीर ने भी बाह्ययुद्ध को छोड़ आत्मयुद्ध की प्रेरणा दी १०२१, आचारांगसूत्र की दृष्टि से : आत्मयुद्ध : क्यों और किसके साथ? १०२३, आन्तरिक युद्ध के लिए दो अमोघ शस्त्र : प्रज्ञा और विवेक १०२३, आन्तरिक शत्रुओं से लड़ो, बाह्य शत्रुओं से नहीं : मनोविज्ञान और अध्यात्म विज्ञान से सम्मत १०२४, बाह्य संघर्ष की उत्तेजना पैदा करने वाली जैनदर्शन-सम्मत आस्रवबन्धकारिणी पाँच वृत्तियाँ १०२४, बाह्य संघर्ष का प्रमुख कारण : मिथ्यात्ववृत्ति १०२५, बाह्य संघर्ष का द्वितीय कारण : अविरति की वृत्ति १०२५, बाह्य संघर्ष का तृतीय कारण : प्रमादवृत्ति १०२५, बाह्य संघर्ष का चतुर्थ कारण : कषायवृत्ति १०२७, बाह्य संघर्ष का पंचम कारण : मन-वचन-काय (योग) की अशुद्ध प्रवृत्ति १०२७, आत्मदमन : एक प्रकार का आध्यात्मिक आत्मपीड़न १०३१, आत्मयुद्ध का दूसरा उपाय या प्रकार : शमन–उपशम १०३४, शमन की विविध प्रक्रियाएँ और आगमों में यत्र-तत्र शमन-निर्देश १०३५, आत्मयुद्ध का तीसरा प्रकार : उदात्तीकरण १०३७, आत्मयुद्ध का चौथा प्रकार : समत्व में स्थिरीकरण १०३८, आत्मयुद्ध का पाँचवाँ प्रकार : प्रतिक्रमण १०४०, आत्मयुद्ध का छठा प्रकार : प्रत्याख्यान १०४३, आत्मयुद्ध का सप्तम प्रकार : आत्मस्वरूप-स्मृति-जागृति १०४३-१०४५।

● ●

कर्मविज्ञान : चतुर्थ भाग

खण्ड ७ कुल पृष्ठ १ से ५०६ तक

कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या

निबन्ध २४ पृष्ठ १ से ५०६ तक

(१) कर्मबन्ध का अस्तित्व पृष्ठ ३ से १६ तक

सजीव-निर्जीव वस्तुओं का परस्पर बन्ध : प्रत्यक्ष गोचर ३, आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध के विषय में शंकाशील मानव ४, संकटापन्न स्थिति में उनके द्वारा कर्मबन्ध का स्वीकार ४, आप्त सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा कर्मबन्ध का प्रत्यक्षीकरण ५, कर्मबन्ध के विषय में प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों के अनुभूत वचन ५, हठाग्रही और नास्तिक भी परोक्ष बातों को अनुमान से मानने को बाध्य ७, अनुमान आदि प्रमाणों से भी कर्मबन्ध की सिद्धि ७, समस्त संसारी जीवों में कर्मबन्ध का अस्तित्व है ८, उपचार से जीव कर्मबन्ध का कर्ता माना जाता है ९, वर्तमान में आत्मा अकेला न होने से कर्मबन्धयुक्त मानना अनिवार्य १०, संसारी जीव के साथ कर्मबन्ध प्रवाहरूप से अनादि १०, संसारी जीव परतंत्र होने से कर्मबन्धन से बद्ध है ११, कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाण ही कर्मबन्ध के अस्तित्व के साधक ११, कर्मबन्ध के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले चार प्रमुख कारण १२, प्रथम कारण : कर्मपुद्गल और जीव का पारस्परिक प्रभाव १२, द्वितीय कारण : जीव का राग-द्वेषादि युक्त परिणाम १३, तृतीय कारण : योगों की चंचलता १३, चतुर्थ कारण : प्राणियों की विभिन्नता एवं विविधता १३, अन्य दर्शनों में भी कर्मबन्ध के अस्तित्व का स्वीकार १४, कर्मबन्ध के अस्तित्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य लेखकों के विचार १५, संसारी जीव : कर्मबन्ध का जीता-जागता परिचायक १६।

(२) दुःख-परम्परा का मूल : कर्मबन्ध पृष्ठ १७ से २५ तक

संसार के सभी जीवों को दुःख : कर्म-संयोग के कारण १७, कर्मबन्ध को अनुभव से जाना जा सकता है १७, मकान के खरीददार को अचानक दुःख क्यों प्राप्त हुआ? १८, रूपवती धनिकपुत्री पर शारीरिक, मानसिक दुःख क्यों आ पड़ा? १८, दीनता, निर्धनता और असहायता के दुःख का मूल कारण : पूर्व कर्मबन्ध १९, वह करोड़पति से रोडपति क्यों बना? २०, कर्म-संयोग ही दुःख का कारण २२, पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध ही तो कारण था ! २२, दुःख-परम्परा का मूल : कर्मबन्ध २३, प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने बन्धन को दुःखरूप माना २४, कर्मों से मुक्ति ही सर्वदुःखों से मुक्ति है २५, वैषयिक सुख भी दुःखरूप कर्मबन्धक २५, शरीर से सम्बद्ध जन्मादि भी दुःखरूप २५।

(३) कर्मबन्ध का विशद स्वरूप पृष्ठ २६ से ३६ तक

समस्त प्राणियों के लिए दुःखदायक-पीड़ाजनक २६, बाह्य बन्ध का रूप भी कितना वेदनाजनक है? २६, कर्मबन्ध सभी बाह्य बन्धनों से प्रबलतम है : क्यों? २७, कर्मबन्ध आत्मा को परतंत्र, अनाथ एवं विमूढ़ बना देता है २७, कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन बनाकर नाना दुःखभागी बनाता है २८, किसको किसका बन्ध है? २९, कर्मबन्ध के विविध लक्षण : कर्म के साथ संयोग अर्थ में २९, संयोग के विषय में भ्रान्ति और उसका निराकरण २९, आत्मा और कर्म का स्वभाव भिन्न-भिन्न, फिर भी इन दोनों का संयोग ३०, संयोग-शब्दजन्य भ्रान्ति के निवारणार्थ श्लेष-शब्द-प्रयोग ३०, दोनों का संश्लेष-सम्बन्ध होने पर भी स्व-स्वभाव को नहीं छोड़ते ३२, आत्मा और कर्मपुद्गल : बन्ध की अपेक्षा से अभिन्न, लक्षण की अपेक्षा से भिन्न ३२, श्लेषरूप बन्ध में शुद्ध की अपेक्षा बद्ध के द्रव्यादि-चतुष्टय में अन्तर ३३, सभी एक क्षेत्रावगाही वस्तुएँ बन्ध को प्राप्त नहीं होतीं ३३, बन्ध का परिष्कृत लक्षण ३४, पं. सुखलाल जी द्वारा बन्ध के लक्षण

का स्पष्टीकरण ३५, कर्मबन्ध : आत्मा के स्वभाव और स्व-गुणों का अवरोधक ३५, कर्मबन्धों के फल को जानकर उनसे बचो ३६।

(४) कर्मबन्ध : क्यों, कब और कैसे ? पृष्ठ ३७ से ५७ तक

समस्त आत्माएँ अपने मूल स्वभाव में क्यों नहीं रहतीं? ३७, आत्मा शुद्ध से अशुद्ध दशा में कैसे पहुँच जाती है? ३७, दूसरा कोई द्रव्य आत्मा को सुख या दुःख नहीं देता ३८, क्या बिजली की तरह कर्म भी पक्षपाती है? ३८, कर्म कब चिपटता है, कब नहीं ३९, आत्मा में बिगाड़ आता है, विजातीय वस्तु के संयोग से ३९, विजातीय वस्तु के साथ मिल जाने से मूल वस्तु में बिगाड़ ३९, चुम्बक द्वारा सुई को आकर्षित करने के समान जीव और कर्म का आकर्षण ४०, जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से तीसरी वस्तु का निर्माण ४१, रागादि बन्ध हेतु परिणाम : जीव-कर्म-संयोगजनित है ४२, शुद्ध निश्चयनय से दोनों का संयोग ही नहीं बनता ४२, अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ बन्धन कैसे? ४२, मूर्त और अमूर्त का सम्बन्ध : किस माध्यम से? ४३, वैभाविक शक्ति से रूपी पदार्थों को जानने-देखने से आत्मा का मूर्त कर्मों के साथ बन्ध ४३, आत्मा अमूर्त होते हुए भी मूर्त क्यों? : एक युक्तिसंगत समाधान ४४, अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध : ऐसे भी ४५, कर्म मूर्त है, इसमें क्या प्रमाण? ४५, पुण्य-पाप-बन्धन में पड़ा जीव अमूर्तिक भी मूर्तिक हो जाता है ४६, जीव संसारी अमूर्तिक न होकर मूर्तिक ही है ४६, दोनों अनुकूल द्रव्यों का ही बन्ध होता है ४७, बन्ध-प्राप्त दोनों द्रव्यों का परस्पर सापेक्ष होकर ही बन्ध होता है ४७, श्लेषरूप बन्ध केवल क्षेत्रात्मक ही नहीं, द्रव्यादि चतुष्टयात्मक होता है ४७, बन्धावस्था में जीव कर्मनिबद्ध, कर्म जीव से बद्ध हो जाता है ४८, जीव कर्मों को पराधीन करता है, वैसे कर्म भी जीव को करते हैं ४८, बन्ध के ये उभयविध रूप ४८, कर्म आत्मा से ही क्यों चिपकते हैं, वस्त्रादि से क्यों नहीं? ४८, चिपटना ही कर्म का स्वभाव नहीं है ४९, कर्ममुक्त सिद्ध आत्मा के कर्म नहीं चिपटता ४९, संसारस्थ जीव और कर्म का बन्ध अनादि है, प्रवाहरूप से ४९, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की दृष्टि में : संसार और कर्म का अनादि सम्बन्ध ५०, संसारस्थ आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होता रहता है : क्यों और कैसे? ५०, संस्कार के कारण ही अनादिकाल से कर्म बाँधते हैं ५१, क्रिया की प्रतिक्रिया का चक्र ही अनादिकालीन कर्मबन्ध का द्योतक ५२, अनादिकालीन कर्मबन्ध की प्रक्रिया ५३, एक जीव एक साथ सात-आठ कर्मों को कैसे बाँध लेता है? ५३, आत्मा द्वारा गृहीत एवं[1] आकर्षित कर्म ही बद्धकर्म कहलाते हैं, शेष नहीं ५४, आत्मा ही अपनी क्रिया-प्रवृत्ति द्वारा कर्मों को खींचती-चिपकाती है ५४, ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा कर्मों से क्यों बँधता है? ५५, क्रिया-प्रतिक्रिया-जनक संस्कार के कारण कर्मबन्ध होता रहता है ५५, नमक के त्याग की शर्त को तोड़ने का नतीजा ५६, जानबूझकर कर्म बाँधने के पीछे पूर्वोक्त प्रवृत्ति-संस्कार ही कारण है ५६, जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से प्रतिक्षण जुड़े हुए कर्मबन्ध से अनभिज्ञ ५७, मानव कर्मबन्ध का जाल स्वयं बुनता है, स्वयं फँसता है ५७।

(५) कर्मबन्ध का मूल स्रोत : अध्यवसाय पृष्ठ ५८ से ७८ तक

गंगा नदी की विविध धाराओं के स्रोत हिमालयवत् कर्मबन्ध-धाराओं का स्रोत : अध्यवसाय ५८, अध्यवसाय : विभिन्न अर्थों में ५९, भाव, अध्यवसाय या परिणाम से ही बन्ध और मोक्ष ६०, गंगा की शुभ, अशुभ, शुद्ध धारावत् कर्मबन्ध-धाराएँ भी त्रिविध ६०, असंख्यात-अध्यवसाय-धाराएँ-असंख्यात कर्मबन्ध-प्रकार ६१, शुभाशुभ कर्मों का बन्ध : शुभाशुभ अध्यवसायों पर निर्भर ६१, अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध अध्यवसाय का परिणाम ६१, कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, अध्यवसाय से ही ६३, भाव से ही कर्मबन्ध, द्रव्य से नहीं : द्रव्य-भाव-चतुर्भंगी द्वारा स्पष्टीकरण ६३, सत्य-असत्य सम्बन्धित चतुर्भंगी भी इसी प्रकार है ६५, अस्तेय, चौर्य-अदत्तादान-सम्बन्धी चतुर्भंगी ६६, अब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित चतुर्भंगी ६७, परिग्रह-अपरिग्रह-सम्बन्धित चतुर्भंगी ६८, अध्यवसाय बदलते रहते हैं, निमित्त के अवलम्बन से ६९, अमनस्क जीवों के अध्यवसाय कैसे? ६९, निगोद के जीवों में भी अध्यवसाय और कर्मबन्ध ७०, तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में शुभ अध्यवसाय भी सम्भव ७०, अध्यवसायों पर चौकसी रखने से अशुभ से बच सकते हैं ७१, बाहुबलि मुनि के अभिमान का अध्यवसाय केवलज्ञान में बाधक था ७२, अध्यवसाय-सम्बन्धित तीन निष्कर्ष ७२, शुभ या शुद्ध भावों से शून्य क्रिया सुफलवती नहीं होती ७४, साधु-जीवन में अशुभ और

सर्व-जीवन में शुभ अध्यवसाय का फल ७४, अशुभ स्थान में भी शुभ और शुभ स्थान में भी अशुभ अध्यवसाय ७५, अध्यवसाय-परिवर्तन के लिए एक दृष्टान्त ७५, निमित्त महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण है उपादान ७६, अध्यवसायों के आधार पर जीवन का उदय-अस्त ७६, अध्यवसाय के अनुसार स्थितिबन्ध और रसबन्ध ७८, रत्नत्रयरूप भावधर्म के अध्यवसाय शुद्ध हों ७८।

(६) कर्मबन्ध के बीज : राग और द्वेष पृष्ठ ७९ से ९८ तक

कर्मरूप विशाल महावृक्ष के बन्ध के बीज : राग और द्वेष ७९, कर्म का बन्ध : हृदय-भूमि पर रागादि का बीजारोपण होने पर ७९, रागादि होने पर ही कर्मबन्ध होता है, केवल क्रियाओं से नहीं ८०, कर्म राग-द्वेष से बँधते हैं; किसी प्रवृत्ति या क्रियापात्र से नहीं ८१, राग और द्वेष : दो प्रकार की बिजली की तरह ८१, प्रियता-अप्रियता राग-द्वेषमयी दृष्टि पर निर्भर ८२, वस्तु या व्यक्ति पर स्वयं द्वारा ही राग-द्वेषारोपण ८२, पिंगला रानी पर पहले राग, फिर द्वेष, फिर विराग ८३, जड़-पदार्थों की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं, प्रतिक्रिया व्यक्ति की ओर से ही ८३, राग और द्वेष वस्तु पर निर्भर नहीं, ग्राहक पर निर्भर ८४, रागी-द्वेषी की दृष्टि बदलती रहती है ८४, राग-द्वेष : चरण-संलग्न कण्टक ८५, प्रवृत्यात्मक कर्म के साथ राग-द्वेष का मिश्रण होते ही बन्ध ८५, राग-द्वेष का लक्षण और विश्लेषण ८६, राग और द्वेष : दोनों ही पापकर्म-प्रवर्त्तक ८६, मोहकर्मवश रागादि भावों के चक्कर में पड़कर किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ को इष्टानिष्ट मान सकता है ८६, मोहरूपी बीज से राग-द्वेष की उत्पत्ति ८७, राग और द्वेष : दोनों ही आत्मा के लिए बेड़ियाँ ८७, पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष कैसे और कब? ८८, राग-द्वेष के कारण हिंसा-परिग्रहादि और दुःख ८९, कामभोगों का सेवन : राग-द्वेष-मोह का उत्तेजक शत्रु ८९, विषयों का त्याग शक्य नहीं, राग-द्वेष का त्याग ही इष्ट ९०, राग और द्वेष न करने का व्यापक अर्थ ९१, राग और द्वेष के दायरे में कषाय और नोकषाय का समावेश ९२, लोभादि रागात्मक भी, द्वेषात्मक भी ९३, संसारी प्राणियों में द्विविध चेतना ९३, राग और द्वेष दोनों में से रागभाव छोड़ना अतिदुष्कर ९५, रागान्धता कितनी भयंकर? ९६, रागभाव का सर्वथा त्याग : वीतरागता के लिए अनिवार्य ९६, साम्प्रदायिक कट्टरता : अप्रशस्त रागान्धता का प्रतीक ९७, कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग ९७, प्रशस्त और अप्रशस्त राग ९७, प्रशस्त और अप्रशस्त राग : राग के चार प्रकार ९८, राग कभी शुद्ध नहीं होता : एक चिन्तन ९८।

(७) कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व पृष्ठ ९९ से ११९ तक

प्रकाश और अन्धकार ९९, अन्धकार को प्रकाश मानने वाले जीव ९९, संसार के सभी प्राणियों से उनकी स्थिति विपरीत और विचित्र १००, मानव-समुदाय में भी अन्धकार को प्रकाश मानने वाले अधिक १००, भावप्रकाश के बदले भावान्धकार में जीने वाले जीव १००, मिथ्यात्व का दूरगामी दुष्प्रभाव १०१, मिथ्यात्व कर्मबन्ध का प्रबल और प्रथम कारण १०१, मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप १०१, मिथ्यात्व : संसार-परिभ्रमण का जनक १०१, मिथ्यात्व के रहते ज्ञान, चारित्र, तप आदि दूषित १०१, बन्ध के साधक कारणों में मिथ्यात्व की प्रधानता क्यों? १०३, मिथ्यात्व कितनी भयंकर वस्तु है? १०३, मिथ्यात्वी की कोई प्रवृत्ति मोक्षकारक नहीं १०४, मिथ्यात्वी का ज्ञान उन्मत्त व्यक्तितुल्य मिथ्याज्ञान १०४, मिथ्यात्व : सात ज्वालाओं से युक्त १०५, मिथ्यात्व का बन्धन टूटे बिना अविरति आदि के बन्धन नहीं टूटेंगे १०५, मिथ्यात्व : परम्परागत मौलिक कारण १०५, मिथ्यात्व के प्रभाव से सारी चीजें विपरीत दिखाई देती हैं १०५, मिथ्यात्व रहेगा, तब तक अविरति, प्रमाद, कषाय आदि बने रहेंगे १०६, मिथ्यात्व के कारण विपरीत धारणा का गुरुतर प्रभाव १०७, विभिन्न दर्शनों में भी बन्ध का मूल कारण : मिथ्याज्ञान या अविद्या १०७, 'समयसार' में अज्ञान को बन्ध का प्रमुख व प्रबल कारण कहा है १०८, अज्ञान बन्ध का कारण : कब है, कब नहीं? १०८, अज्ञान बन्ध का कारण क्यों है? १०९, अज्ञान का अर्थ : अल्पज्ञान या ज्ञानाभाव नहीं १०९, अज्ञान का अर्थ और रहस्य : मोह विशिष्ट मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान ११०, बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक : सम्यग्ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नहीं ११०, मिथ्यात्व-मोहरहित अल्पज्ञान भी अद्भुत शक्तियुक्त ११०, मिथ्यात्व का लक्षण : विभिन्न दृष्टियों से १११, आन्तरिक मिथ्यात्व का लक्षण और स्वरूप ११२, मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने के दो प्रमुख कारण ११२, विपरीत मान्यता के चार प्रमुख बिन्दु :

मिथ्यात्व के आधार ११३, विपरीत दर्शन का फलित : दो प्रकार का ११३, मिथ्यात्व के उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार : नैसर्गिक और परोपदेश-निमित्तक ११३, परोपदेश-निमित्तक के चार और तीन सौ तिरसठ भेद ११४, क्रियावाद आदि चारों को मिथ्यात्व क्यों कहा जाता है? ११५, ये चारों अभिगृहीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत क्यों? ११५, दृष्टि विपर्यास की अपेक्षा से मिथ्यात्व के पाँच प्रकार ११६, विपरीत मिथ्यात्व की अपेक्षा से मिथ्यात्व के दस भेद ११८, मिथ्यात्व के दस भेदों का विश्लेषण ११९, काल की अपेक्षा मिथ्यात्व के तीन प्रकार ११९।

(८) कर्मबन्ध के मुख्य कारण : एक अनुचिन्तन पृष्ठ १२० से १३३ तक

बन्धरूप रोग के कारणों को जानना आवश्यक : क्यों और कैसे? १२०, कर्मबन्ध को जानने मात्र से कर्मबन्ध से मुक्ति नहीं हो सकती १२१, आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कराने वाले कारणों का जानना अनिवार्य १२२, दुःखमय संसार जानकर बन्ध के कारणों पर विचार करना आवश्यक १२२, बन्ध और बन्ध के कारणों को जानने पर ही कर्मों को तोड़ना सुशक्य १२२, कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या हो सकते हैं? १२३, आस्रव और बन्ध के मिथ्यात्वादि पाँचों कारण समान हैं, फिर अन्तर क्यों? १२३, कर्मबन्ध के हेतुओं की तीन परम्पराएँ और उनमें परस्पर सामंजस्य १२४, कर्मबन्ध के पाँच कारणों के निर्देश के पीछे स्पष्ट आशय १२५, उत्तरोत्तर गुणस्थानों में कर्मबन्ध के हेतु समाप्त होते जाते हैं १२६, ये कर्मबन्ध के हेतु कैसे-कैसे बन जाते हैं? १२६, पाँचों बन्ध हेतुओं का कार्य क्या है? १२७, प्रथम बन्धकारण : मिथ्यात्व और उसका कार्य १२७, मिथ्यात्व का दायरा बहुत व्यापक १२८, कर्मबन्ध का द्वितीय कारण : अविरति १२८, बारह प्रकार की अविरति १२९, मिथ्यात्व से विरत होने पर भी तदनुसार आचरण में बाधक : अविरति १२९, प्रमाद : कर्मबन्ध का तृतीय कारण १३०, कषाय : कर्मबन्ध का चतुर्थ कारण : स्वरूप १३१, चारों कषायों का कार्य और तीव्रता-मन्दता १३१, चारों कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद और स्वरूप १३१, तीव्र-मन्द कषाय का उदय ही सम्यक्त्व आदि में बाधक १३२, नौ नोकषाय : कषायों के उत्तेजक १३२, कर्मबन्ध का पंचम कारण : योग और उसका कार्य १३२, पूर्ववर्ती हो तो पश्चाद्वर्ती बन्धहेतु अवश्य रहता है १३३।

(९) बन्ध के संक्षेप दृष्टि से दो कारण : योग और कषाय पृष्ठ १३४ से १४२ तक

कर्मबन्ध के पाँच कारणों का दो में समावेश १३४, बन्ध के चार अंगों के निर्माण में ये दो ही आधार १३४, योग के द्वारा कर्मों का आकर्षण, कषाय के द्वारा बन्ध १३५, कषाययुक्त सांसारिक जीव के योग द्वारा ग्रहण और आश्लेष द्वारा बन्ध १३५, संसारी जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति कषाययुक्त होने से कर्मबन्धकारक १३६, जहाँ वैभाविक प्रवृत्ति होती है, वहाँ कर्मबन्ध अवश्य होता है १३६, योग का काम है बाहर से कुछ लाना, कषाय का काम है चिपकाकर रखना १३७, चेतना की दीवार कषाय से चिकनी होगी तो कर्मरज अवश्य चिपकेगी १३७, कर्मरूप ईंधन लाने का काम योग का, आग को भड़काने का काम है कषाय का १३७, भावबन्ध न हो तो द्रव्यबन्ध कुछ नहीं कर सकता १३८, आत्मारूपी दीवार पर कर्मरज को योगरूप वायु एवं कषायरूप गोंद चिपकाते हैं १३८, चारों प्रकार के कर्मबन्ध में दो का सद्भाव अनिवार्य १३९, चारों बन्ध-अवस्थाओं के दो घटक १४०, कर्म का सर्वांगीण बन्ध : योगों की चंचलता और कषाय की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर १४०, कर्मों का आकर्षण और श्लेष : योग एवं कषाय-आस्रवों द्वारा १४०, वर्णीजी की दृष्टि में योग और कषाय के बदले योग और उपयोग १४१-१४२।

(१०) कर्मबन्ध की मुख्य चार दशाएँ पृष्ठ १४३ से १५४ तक

कर्मबन्ध की डिग्री के चार मुख्य मापक १४३, कर्मबन्ध की चार अवस्थाओं का चार व्यक्तियों की अपेक्षा से विचार १४३, चारों बन्ध-अवस्थाओं का वस्त्र के दृष्टान्त से विचार १४४, आत्मा के राग-द्वेषादियुक्त परिणामों की तरतमता से कर्मबन्ध में तरतमता १४५, शिथिलता और दृढ़ता से कर्मश्लेष होने के कारण १४५, सुइयों के ढेर के दृष्टान्त से कर्मबन्ध की चारों अवस्थाओं का विश्लेषण १४६, संक्षेप में कर्मबन्ध की दो प्रकार की अवस्था : निकाचित, अनिकाचित १४६, दोनों प्रकार के कर्म चारों अवस्थाओं के रूप में बँधते हैं १४७, अशुभ कर्मबन्ध की चारों अवस्थाओं पर विचार १४७, शुभ कर्मबन्ध

की चारों अवस्थाओं पर विचार १४७, पुण्यानुबन्धी पुण्य कथंचित् उपादेय : क्यों और कैसे? १४८, स्पष्ट रूप से अशुभ कर्मबन्ध व शुभ कर्मबन्ध १४८, पुण्यानुबन्धी पुण्य के कारणरूप धर्मक्रिया से पुण्य भी और निर्जरा भी १४९, चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तक धर्मक्रिया उपादेय : क्यों और कैसे? १४९, स्पष्ट रूप से बाँधे जाने वाले पुण्य तथा पाप का बन्ध १५०, बद्ध रूप से हुए पाप और पुण्य का बन्ध १५१, स्पष्ट रूप से बँधा हुआ बन्ध बद्ध, निधत्त और निकाचित भी हो सकता है १५१, निधत्त रूप (बँधे हुए) शुभ-अशुभ कर्मबन्ध : एक विश्लेषण १५२, निकाचित रूप से बँधे हुए शुभाशुभ कर्मबन्ध का कार्य और सुफल १५३, निकाचित रूप से बँधे हुए पुण्यकर्म की पहचान १५३, निकाचित बँधे हुए शुभ कर्मों का फल भोगते समय सावधान ! १५४, कर्मविज्ञान द्वारा साधक को सावधान करने के लिए बन्ध-चतुष्टयावस्था १५४।

(११) कर्मबन्ध के विभिन्न प्रकार और स्वरूप — पृष्ठ १५५ से १७१ तक

व्यक्ति किसी भी चीज को बाँधने में मन और काया से बाँधता है १५५, हाथ से उठाने की तरह भाव से उठाने से भी बन्ध होता है १५५, केवल वस्तु को सहज भाव से पकड़ने या स्पर्श करने से बन्ध नहीं होता १५६, दो प्रकार की क्रिया से दो प्रकार का बन्ध १५६, जीव के द्वारा पुद्गलों को छेड़े जाने से परस्पर बन्धद्वय होता है १५७, स्पन्दनादि क्रिया धर्मास्तिकाय के निमित्त से और भावरूप क्रिया कालद्रव्य के निमित्त से १५७, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध का लक्षण १५७, जीव और पुद्गल का विशिष्ट संयोग-सम्बन्ध होता है, तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं १५८, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध भी दो-दो प्रकार का १५८, भावबन्ध कैसे? भावबन्ध के कारण द्रव्यबन्ध कैसे? १५९, सजीव-निर्जीव पर-वस्तुओं के प्रति रागादिभाव आते ही ज्ञान खण्डित हो जाता है १५९, द्रव्यबन्ध भावबन्ध का परिष्कृत लक्षण १६०, भावबन्ध की उत्पत्ति का कारण १६०, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध के दो-दो प्रकार १६१, ज्ञान और अज्ञानी के देखने के दो ढंग : इसी पर से अबन्ध और बन्ध १६१, द्रव्यबन्ध की प्रक्रिया १६२, भावबन्ध की प्रक्रिया १६२, द्रव्यकर्मबन्ध और भावकर्मबन्ध का स्पष्टीकरण १६२, परमाणुओं का परस्पर रासायनिक मिश्रण होता है; जीव और कर्म का बन्ध वैसा नहीं १६२, राग और द्वेष पुद्गल की तरह स्निग्ध-रूक्ष होने से बन्ध होता है १६३, कर्म और आत्मा का तीन प्रकार का सम्बन्ध १६४, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध में किसकी मुख्यता और क्यों? १६५, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्तादि का कथन द्रव्यकर्मबन्ध की अपेक्षा से १६५, द्रव्यकर्म के बन्धादि पर से जीव के भावों का अनुमान १६६, दोनों प्रकार के बन्धों में भावबन्ध ही प्रधान : क्यों और कैसे? १६६, रागादि अध्यवसाय के अभाव में बन्ध नहीं, अध्यवसाय निषेध क्यों १६६, जीव और कर्म के सम्बन्ध मात्र से द्रव्यबन्ध नहीं, भाव अपेक्षित १६६, स्निग्ध-रूक्षवत् राग-द्वेष से ही बन्ध, अन्यथा नहीं १६७, भावबन्ध का कारण : रागात्मक अध्यवसाय है, वस्तु नहीं १६७, भावबन्ध का कारण साम्परायिक बन्ध है, ईर्यापथिक नहीं १६७, स्वार्थजन्य फलाकांक्षा भी राग-द्वेष के समान भावबन्ध का प्रबल हेतु १६८, साम्परायिक सकषाय और ईर्यापथिक अकषायवत् सकाम-निष्काम कर्म १६८, इष्ट-प्राप्ति, अनिष्ट-निवृत्ति भी फलाकांक्षारूप भावबन्ध की हेतु १६९, कषायभाव अकषायभाव से क्रमशः साम्परायिक एवं ईर्यापथिक बन्ध : एक चिन्तन १६९, कषायभाव का व्यापक रूप : भावबन्ध का कारण १७०, राग-द्वेषात्मक भावबन्ध के भी दो प्रकार : पापबन्ध, पुण्यबन्ध १७०, कर्मबन्ध के दो प्रकार : द्रव्यबन्ध, भावबन्ध, नोआगमन : द्रव्यबन्ध १७१, भावबन्ध के दो भेद : मूल-प्रकृतिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिबन्ध १७१, विभिन्न पहलुओं से बन्ध के प्रकार १७१।

(१२) कर्मबन्ध के अंगभूत चार रूप — पृष्ठ १७२ से १८४ तक

विभिन्न दवाइयों के स्वभाव-परिमाणादि स्वतः काम करते हैं, वैसे ही कर्मबन्ध के चार रूप १७२, कर्मग्रहण एवं बन्ध के साथ ही उसके परिमाण, स्वभाव, काल और फलदान का निर्णय १७२, कर्मबन्ध की पहली अवस्था : प्रदेशबन्ध १७३, कर्मबन्ध की दूसरी अवस्था : प्रकृतिबन्ध १७३, कर्मबन्ध की तीसरी अवस्था : रसबन्ध १७४, कर्मबन्ध की चौथी अवस्था : स्थितिबन्ध १७४, कर्मबन्ध के साथ ही साथ ये चार अवस्थाएँ स्वतः निष्पन्न होती हैं १७४, बन्ध के चार अंशों का संक्षेप में स्पष्टीकरण १७५, प्रकृति-प्रदेशबन्ध योगाश्रित, स्थिति-अनुभागबन्ध कषायाश्रित १७५, बन्ध के चार रूपों का आधार : योग और कषाय १७५,

कर्मबन्ध प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती : क्यों और कैसे? १७६, बन्ध के ये चारों रूप स्वतः कैसे निष्पन्न हो जाते हैं? १७७, खाये हुए पदार्थ के पचाने, रस बनाने और कमी की पूर्ति करने की प्रक्रिया स्वतः १७७, दवा डालते हैं पेट में, परन्तु ठीक करती है रुग्ण अवयव को १७८, योग और कषायों के निमित्त से स्वतः चारों प्रकार के बन्ध होते हैं १७८, कर्मबन्ध-चतुष्टय विभाग : दो अपेक्षाओं से १७९, बन्ध की चारों अवस्थाओं को समझाने के लिए मोदकों का दृष्टान्त १७९, प्रकृतिबन्ध की विशेषता १८१, स्थितिबन्ध की विशेषता १८१, रसबन्ध कब, कैसे, किस प्रकार का? १८२, क्लिष्ट अध्यवसायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध १८२, प्रदेशबन्ध की विशेषता १८३, चतुःश्रेणी कर्मबन्ध : कर्मद्रव्य के द्रव्यादि स्व-चतुष्टय १८३, कर्मबन्ध के साथ चतुःश्रेणी बन्ध अवश्यम्भावी १८४।

(१३) प्रदेशबन्ध : स्वरूप, कार्य और कारण — पृष्ठ १८५ से १९६ तक

सूत के धागों की संख्या की तरतमता के अनुसार वस्त्र-निर्माण १८५, कर्मवर्गणा के आकर्षण के समय सर्वप्रथम प्रदेशबन्ध होता है १८५, प्रदेश और प्रदेशबन्ध का स्वरूप और कार्य १८६, प्रदेशबन्ध : लक्षण, कार्य और स्वरूप १८६, प्रदेशबन्ध में योगों की तरतमता के अनुसार कर्मपुद्गल-प्रदेशों का बन्ध १८७, प्रदेशबन्ध : आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मप्रदेशों का बद्ध हो जाना १८७, प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध को प्राथमिकता क्यों? १८८, अनन्तानन्त : कर्म-परमाणुओं से गठित स्कन्ध ही प्रदेशबन्ध का विषय १८९, प्रदेशबन्ध अनन्तानन्त प्रदेशों का ही होता है : क्यों और कैसे? १८९, अनन्तानन्त परमाणु-निर्मित स्कन्ध आत्मा के समग्र कार्मणशरीर के साथ मिश्रित होते हैं १८९, प्रदेशबन्ध का परिष्कृत लक्षण १९०, प्रदेशबन्ध के परिष्कृत लक्षण में कर्मस्कन्धों का आत्म-प्रदेश से बन्ध कैसा? १९१, नई कर्मवर्गणाएँ पुराने कर्मों से क्यों और कैसे चिपकती हैं? १९१, प्रदेशबन्ध के परिष्कृत लक्षण में आठ प्रश्नों के उत्तर समाहित १९२, पूर्वोक्त सूत्र में निहित प्रदेशबन्ध से सम्बन्धित आठ प्रश्नों के उत्तर १९२, गृहीत कर्मस्कन्धों का विभाजन, आठ कर्मों में से किसको कितना, किस क्रम से और क्यों? १९३, बद्ध कर्मों का आठ कर्मों में विभाजन क्यों और कैसे होता है? १९३, योगबल के अनुसार ही कर्मों के न्यूनाधिक प्रदेशों का बन्ध १९४, प्रदेशरूप से बद्ध कर्मपुद्गलों में से किस कर्म को कितना भाग मिलता है? १९५, आठ कर्मों में इस प्रकार के विभाजन का रहस्य १९५, गृहीत कर्मदलों का विभाजन किस क्रम से और क्यों होता है? १९६, गृहीत कर्मदलों के बन्ध के अनुसार कर्मों में प्रदेशों का विभाजन १९६, प्रदेशबन्ध से अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों का आठ कर्मों में विभाजन १९६।

(१४) प्रकृतिबन्ध : मूल प्रकृतियाँ और स्वरूप — पृष्ठ १९७ से २०८ तक

अनन्त संसारी जीवों के पृथक्-पृथक् स्वभाव पर से उनकी विशेषता का निर्णय १९७, कर्मों के पृथक्-पृथक् स्वभाव पर से उनका पृथक्करण १९७, प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में प्रकृति के अर्थ और लक्षण १९८, बद्ध कर्मों की प्रकृति पर से मानव-व्यक्तित्व का ज्ञान १९८, कर्मप्रकृति को जानने से स्वभाव और जीवन में परिवर्तन १९९, कर्मप्रकृतियों से अज्ञ : दोहरे व्यक्तित्व से संत्रस्त १९९, कर्मप्रकृतियाँ : आत्मा के मूल स्वभाव की आवारक, सुषुप्तिकारक, मूर्च्छाकारक और प्रतिरोधक २००, कर्म की चार घाति प्रकृतियों में प्रबल : मोहनीय कर्म २०१, आत्मा के आठ गुणों की बाधक : आठ कर्मप्रकृतियाँ २०३, एक ही कर्म : अनेकविध स्वभाव, प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में २०४, गृहीत कर्मपुद्गल-परमाणुओं का आठ प्रकृतियों में परिणमन कैसे? २०४, युगल कर्मप्रकृतियों में से दो में से एक के हिस्से में प्रकृति-परिणमन २०५, जीव के योग-उपयोग द्वारा चित्रविचित्र कर्म : कर्मप्रकृतियों की कर्मशरीर में निष्पत्ति २०५, अदृश्य कर्म के कार्य-विशेष से तत्कारणभूत प्रकृति का अनुमान २०५, कर्म के इतने भेद-प्रभेद क्यों? एक ही कर्म का प्रतिपादन क्यों नहीं? २०६, आठ ही कर्म : सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित : नौवाँ नहीं २०७, आठ मूल कर्मप्रकृतियों का यह क्रम क्यों? २०७, कर्मप्रकृति को पहचानना सर्वप्रथम आवश्यक २०८।

(१५) मूल कर्मप्रकृतिबन्ध : स्वभाव, स्वरूप और कारण — पृष्ठ २०९ से २४६ तक

प्रकृतिबन्ध : गृहीत कर्मपुद्गलों का आठ प्रकृतियों में विभाजन २०९, कर्मवर्गणा-स्कन्धों में विविध फलदान के स्वभाव की उत्पत्ति २०९, आठ कर्मों की प्रकृति का उपमा द्वारा निरूपण २१०, आठ कर्मों का

लक्षण और उनके बन्ध के कारण २११, ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के मुख्य कारण २१२, ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण : आगमों के अनुसार २१३, ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के दुष्परिणाम २१३, ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव : उपमा द्वारा निरूपण २१४, ज्ञानावरणीय कर्म : कुछ शंका-समाधान २१४, ज्ञानावरणीय कर्म के स्वभाव का निर्णय २१५, ज्ञानावरण का प्रभाव : पं. मुनि श्री समर्थमल जी महाराज पर २१५, माषतुष मुनि का उदाहरण : ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव २१५, दर्शनावरणीय कर्म का लक्षण और कारण २१६, ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के विपाक के प्रकार २१६, कर्मग्रन्थ में प्रतिपादित दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु २१७, वेदनीय कर्म का लक्षण और बन्ध के कारण २१७, असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण २१८, कर्मग्रन्थ में उक्त असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण २१८, जीवन में अशान्ति का कारण : असातावेदनीय बन्ध २१९, असातावेदनीय बन्ध का विपाक : आठ दुःखद संवेदनाओं के रूप में २१९, सातावेदनीय : लक्षण, स्वभाव और बन्धकारण २२०, ये सातावेदनीय कर्म से प्राप्त होते हैं २२०, सातावेदनीय कर्म के छह प्रमुख कारण २२१, कर्म-ग्रन्थानुसार आठ कारण २२१, भगवतीसूत्र-प्रतिपादित सातावेदनीय कर्म के कारण २२१, सातावेदनीय के प्रभाव से आठ प्रकार की सुखद संवेदना २२२, कर्मग्रन्थ-वर्णित कारणों का उदाहरण सहित प्रस्तुतीकरण २२२, वेदनीय कर्म के प्रभाव से जीव को कभी सुख तथा कभी दुःख की अनुभूति २२३, वेदनीय कर्मोदय से चारों गतियों के जीवन सुख-दुःख-मिश्रित २२४, वेदनीय कर्मबन्ध : एक ज्वलन्त प्रश्न और समाधान २२४, मोहनीय कर्म : लक्षण, स्वभाव और बन्धकारण २२५, मोहनीय कर्म : सभी कर्मों से प्रबल २२५, सर्व कर्मों में मोहकर्म की प्रधानता २२६, ज्ञानावरण कर्म से मोहनीय कर्म में अन्तर २२६, मोहनीय कर्म का दोहरा कार्य : ज्ञानादि शक्तियों को विकृत और कुण्ठित करने का २२७, मोहनीय कर्म का स्वभाव : मद्यपान से तुलना २२७, मोहनीय कर्म के दो रूप : दर्शनमोह और चारित्रमोह २२८, मोहनीय कर्मबन्ध के सामान्यतया छह कारण २२८, महामोहनीय कर्मबन्ध के तीस कारण २२९, आयुष्यकर्म : लक्षण, स्वभाव और बन्धकारण २३०, आयुष्यकर्म का स्वभाव २३०, आयुष्य कर्मबन्ध के सामान्यकारण २३२, अल्पायु और दीर्घायु-बन्ध के कारण २३२, जीव आयुष्यकर्म कब बाँधता है? : एक धारणा २३३, मध्यम परिणामों में ही आयुष्य का बन्ध होता है २३३, आयुकर्म के दो प्रकार : अपवर्त्य और अनपवर्त्य २३४, अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयुष्य वाले कौन-कौन? २३४, अपवर्त्य और अनपवर्तनीय आयुष्य : लक्षण और स्पष्टीकरण २३४, अकाल में आयुभेद (मृत्यु) के सात कारण २३५, अपवर्तनीय-अनपवर्तनीय आयुबन्ध : परिणाम के वातावरण पर निर्भर २३५, अपवर्तनीय आयु के सम्बन्ध में एक प्रश्न और समाधान २३५, दीर्घकाल-मर्यादा वाले कर्म अल्पकाल में भोग लेने का विश्लेषण २३६, सत्ता की अपेक्षा आयु के दो प्रकार २३७, सामान्य रूप से आयु के दो प्रकार : भवायु और अद्धायु २३७, आयुबन्ध के छह प्रकार २३८, नामकर्म : स्वरूप, स्वभाव, बन्धकारण एवं प्रकार २३८, नामकर्म : व्यक्तित्व का निर्धारक २३९, नामकर्म के दो भेद और उनके बन्धकारण व विपाक-प्रकार २३९, शुभ-अशुभ नामकर्म के विपाक के चौदह-चौदह प्रकार २१९, नामकर्म की देन २४०, गोत्रकर्म : स्वरूप, प्रभाव, स्वभाव और बन्धकारण २४०, गोत्रकर्मबन्ध का मूल कारण २४०, गोत्रकर्मबन्ध का मूल कारण : निरहंकारता-अहंकारता २४१, गोत्रकर्म का स्वभाव २४१, नीचकुल-उच्चकुल : आचरण-अनाचरण पर निर्भर २४२, उच्चगोत्र-नीचगोत्र कर्मबन्ध के हेतु २४२, उच्चगोत्र और नीचगोत्री को स्वकर्मफल २४२, उच्चगोत्र और नीचगोत्र के विविध अधिकारी २४३, उच्चगोत्रकर्म की निष्फलता अथवा सफलता? : समाधान २४३, गोत्रकर्म कभी निष्फल नहीं होता २४४, अन्तरायकर्म : स्वरूप, स्वभाव, बन्धकारण और प्रभाव २४४-२४६।

(१६) उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण-१ पृष्ठ २४७ से २७८ तक

समुद्र से उठने वाली बड़ी-छोटी लहरों की तरह मूल-उत्तर-प्रकृतियाँ २४७, ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप, प्रकार और भेद २४८, मतिज्ञान : स्वरूप, भेद और भेद-ग्रहण विधि २४९, मतिज्ञान के ३४० भेदों का विवरण २४९, अवग्रह आदि पदों का अर्थ और विश्लेषण २५०, पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुरूप मतिज्ञान का भी क्रम संगत है २५०, द्रव्य-पर्याय से अपृथक् होने से वस्तु का ज्ञान पर्याय होता है २५१, वस्तु का सामान्य बोध होने में दो क्रम : पटुक्रम और मन्दक्रम २५१, पूर्वोक्त अट्ठाईस

प्रकार का मतिज्ञान बारह-बारह प्रकार से २५२, बहु-बहुविध आदि के अर्थ और विश्लेषण २५३, मतिज्ञान के ३३६ भेदों का विश्लेषण २५४, मतिज्ञान के ३४०-३४१ भेदों का विवरण २५४, चारों बुद्धियों का स्वरूप २५४, मतिज्ञानावरणीय कर्म का परिष्कृत एवं सामान्य स्वरूप २५५, मतिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण २५५, मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द तथा मतिज्ञानावरणीय का प्रभाव २५५, मतिज्ञान : सम्यक् और मिथ्या, बन्धकारण समान २५६, श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानावरणीय : स्वरूप और लक्षण २५६, मतिज्ञान से श्रुतज्ञान की विशेषता २५७, श्रुतज्ञान के बीस भेद : स्वरूप और निमित्त २५८, मतिश्रुत दोनों सहचारी ज्ञान हैं २५९, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का परिष्कृत लक्षण और कार्य २५९, अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरणीय : स्वरूप और प्रकार २६०, अवधिज्ञान के मूल दो भेद : स्वरूप और अधिकारी २६०, गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह प्रकार २६१, द्रव्यादि की अपेक्षा अवधिज्ञान का निरूपण २६१, प्रतिपाती अवधिज्ञान : एक दृष्टान्त २६२, अवधिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध : स्वरूप और कारण २६२, मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञानावरण : स्वरूप और कार्य २६३, मनःपर्यायज्ञान और अवधिज्ञान में क्या अन्तर है? २६३, द्रव्यादि की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर २६४, मनःपर्यायज्ञान के लिए नौ बातें अनिवार्य २६५, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से मनःपर्यायज्ञान का विषय २६५, मनःपर्यायज्ञान के दो भेद : ऋजुमति और विपुलमति २६५, द्रव्यादि की अपेक्षा से दोनों का विश्लेषण २६६, मनोविज्ञान, मनोविज्ञानी तथा मनःपर्यायज्ञानी में महान् अन्तर २६७, केवलज्ञान तथा केवलज्ञानावरणीय कर्म : स्वरूप, कार्य और स्वामी २६८, केवलज्ञानी भगवान के दस अनुत्तर २६९, केवलज्ञान सर्वोत्तम लब्धि है २६९, केवली द्वारा केवली समुद्घात क्यों और उसकी प्रक्रिया कैसी? २७०, केवलज्ञान की उपस्थिति में अन्य ज्ञानों का सद्भाव या असद्भाव? २७१, एक साथ, एक आत्मा में कितने ज्ञान और कौन-से सम्भव २७१, ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच ही भेद क्यों? २७२, ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के विशिष्ट कारण २७२, बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फलभोग) २७६, बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव : स्वतः या परतः? २७६, ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ सर्वघाती भी और देशघाती भी २७७-२७८।

(१७) उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण-२ पृष्ठ २७९ से २९२ तक

दर्शनावरणीय कर्म : उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप और बन्ध के कारण २७९, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म में अन्तर २७९, दर्शन शब्द का पारिभाषिक अर्थ, दर्शनावरणीय कर्म-स्वरूप २८०, दर्शनावरणीय कर्म का समस्त कथन प्रायः ज्ञानावरणीय कर्म के तुल्य २८१, दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ और उनका स्वरूप २८१, मनःपर्याय-दर्शनावरण कर्म क्यों नहीं? २८३, दर्शन के आवरणरूप निद्रा के पाँच प्रकार २८३, निद्रादि दर्शनावरणीय-पंचक के दो-दो अर्थ सम्भव २८५, दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के प्रमुख कारण २८६, दर्शनावरणीय कर्मफलानुभाव स्वतः या परतः? २८७, वेदनीय कर्म : उत्तर-प्रकृतियाँ, स्वरूप और बन्धकारण २८८, साता-असातावेदनीय का फलानुभाव कैसे-कैसे? २८९, साता-असातावेदनीय कर्मों का फलभोग स्वतः भी, परतः भी २९१, सुख और दुःख स्वकृत कर्मों का ही फल २९२।

(१८) उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वभाव और कारण-३ पृष्ठ २९३ से ३३४ तक

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप, बन्धकारण और फलभोग २९३, मोहकर्म के आगे बड़े-बड़े पराजित हो गये २९३, मोहनीय कर्म सब कर्मों से प्रबल क्यों है? २९३, मोहनीय कर्म क्या करता है? २९४, मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद २९५, दर्शनमोहनीय कर्म : स्वरूप और स्वभाव २९५, दर्शनमोहनीय कर्म का स्वरूप और कार्य २९५, दर्शनमोहनीय का प्रभाव : अनेक रूपों में २९६, सम्यग्दर्शन के बदले दर्शनमोहनीय के शिकार २९७, बहिर्मुखी व्यक्ति दर्शनमोहनीय के प्रभाव में २९७, दर्शनमोहनीय के तीन भेद : कैसे और क्यों? २९८, इन तीन प्रकारों में हीनाधिकता का प्रमाण ३००, इन तीनों में सर्वघातित्व-देशघातित्व का स्पष्टीकरण ३००, मिथ्यात्व मोहनीय : स्वभाव और कार्य ३०१, मिथ्यात्व : स्वरूप और दस प्रकार ३०२, मिथ्यात्व के पाँच भेद ३०४, मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव का मिथ्या, असफल जीवन ३०५, मिश्रमोहनीय कर्म : स्वरूप और कार्य ३०५, सम्यक्त्वमोहनीय कर्म : स्वरूप और कार्य ३०७, कर्मग्रन्थोक्त तत्त्वश्रद्धान् रूप सम्यक्त्वमोहनीय ३०८, नौ तत्त्वों के नाम और स्वरूप तथा प्रकार

३०८, सम्यक्त्व : उसके भेद तथा उनका लक्षण ३११, चारित्रमोहनीय : उत्तर-प्रकृतियाँ, स्वरूप और स्वभाव ३१२, चारित्र के लक्षण और कार्य ३१२, व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र का साधना ३१४, सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र में अन्तर ३१५, कषायमोहनीय : कषायवेदनीय क्या है? ३१६, कषाय का विनाशक रूप ३१७, कषाय के चार प्रकार : स्वरूप और स्वभाव ३१७, चारों मूल कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद : उनकी संज्ञा, स्वभाव और कार्य ३१८, अनन्तानुबन्धी कषाय : स्वरूप, स्वभाव, कार्य ३१९, अनन्तानुबन्धी का रहस्यार्थ ३२०, अनन्तानुबन्धी से संज्वलन तक का प्रतिफल ३२२, अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों को पहचानने के लक्षण ३२३, अनन्तानुबन्धी चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण ३२४, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण ३२५, प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण ३२५, संज्वलन-कषाय-चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण ३२६, अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों से होने वाला रसबन्ध ३२७, नोकषायवेदनीय : प्रकृतियाँ, लक्षण, स्वभाव और कार्य ३२८, चारित्रमोहनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ सर्वघाती, कितनी देशघाती? ३२९, मोहनीय कर्मबन्ध के कारण ३३०, चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध के कारण ३३१, कषायमोहनीय कर्मबन्ध के विषय में आवश्यक सूचना ३३२, नोकषायमोहनीय कर्मबन्ध के कारण ३३२, मोहनीय कर्म के अनुभाव (फलभोग) कैसे-कैसे होते हैं? ३३३, स्पष्ट रूप से मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतियों का फलभोग निर्देश ३३३, मोहनीय कर्म पर विजय कैसे प्राप्त हो? ३३४।

(१९) उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण-४ पृष्ठ ३३५ से ३५६ तक

आयुकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : प्रकार, स्वभाव और बन्धकारण ३३५, आयुष्यकर्म का स्वभाव और कार्य ३३५, आयुष्यबन्ध के छह प्रकार ३३६, आयुकर्म के मुख्य चार भेद ३३७, नरकादि आयुकर्म-चतुष्टय के लक्षण ३३७, चारों प्रकार के आयुष्य कर्मबन्ध के हेतु ३३९, नरकायुष्य कर्मबन्ध के कारण ३३९, तिर्यंचायु कर्मबन्ध के कारण ३४०, मायाशल्य : कपटपूर्वक प्रायश्चित : तिर्यञ्चायु-बन्ध का कारण ३४१, गूढ़ माया के कारण तिर्यंचायु का बन्ध ३८२, मनुष्यायुकर्म का बन्ध ३४३, मनुष्यायुकर्म का बन्ध ३४३, देवायु-कर्मबन्ध के कारण ३४४, देवायु का बन्ध करने वाले जीव ३४५, चारों प्रकार के आयुकर्मों में से कौन, किसको बाँधता है? ३४६, व्रतशीलरहित प्राणी चारों प्रकार की आयु को बाँधते हैं ३४६, नामकर्म के पृथक् अस्तित्व की सिद्धि ३४७, नामकर्म : लक्षण, उत्तर-प्रकृतियाँ, स्वरूप और कार्य ३४७, नामकर्म की दो मुख्य उत्तर-प्रकृतियाँ : शुभ नाम, अशुभ नाम ३४८, शुभ नामकर्मबन्ध के कारण ३४८, शुभ नामकर्म के अन्तर्गत तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के बीस कारण ३४९, प्रकारान्तर से तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के सोलह कारण ३५०, अशुभ नामकर्म के बन्ध के कारण ३५१, अशुभ नामकर्मबन्ध के कारणों से चार बातों की प्रेरणा ३५१, शुभ नामकर्म की सैंतीस, प्रकृतियाँ ३५३, अशुभ नामकर्म की चौंतीस, प्रकृतियाँ ३५४, नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियों की संख्या में अन्तर क्यों? ३५४, पिण्ड-प्रत्येक-त्रस-स्थावर-दशक प्रकृतियाँ मिलकर बयालीस ३५५, चौदह पिण्ड-प्रकृतियों के पैंसठ भेद ३५६, नामकर्म की तिरानवे और एक सौ तीन प्रकृतियाँ : कैसे-कैसे? ३५६।

(२०) उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण-५ पृष्ठ ३५७ से ३९९ तक

नामकर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों का लक्षण, स्वरूप और स्वभाव ३५८, दो प्रकार की विक्रिया : एकत्व और पृथक्त्व ३६२, पाँचों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर क्यों? ३६४, आदि के तीन शरीर एक-दूसरे से असंख्यातगुणे तथा अन्तिम दो अनन्तगुणे ३६५, तैजस, कार्मणशरीर : अप्रतिघाती ३६५, तैजस् और कार्मण : अनादि-सम्बन्धयुक्त शरीर ३६६, शरीरों का प्रयोजन : उपभोग ३६६, चार शरीर सोपभोग हैं, कार्मणशरीर निरुपभोग ३६७, कार्मणशरीर ही सब शरीरों की जड़ और निरुपभोग ३६७, एक जीव में एक साथ कितने शरीर सम्भव? ३६८, छह संहनन और उनके लक्षण ३७१, छह संस्थान और उनके लक्षण ३७३, नामकर्म की आठ प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप ३७८, त्रसदशक की दस प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य ३८०, पर्याप्त जीवों के दो भेद ३८२, छह पर्याप्तियाँ मानने का कारण ३८२, शरीर-पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति अधिक क्यों? ३८३, कितनी पर्याप्तियाँ किसमें और कौन-सी? ३८३, स्थावरदशक की दस प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य ३८४, गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप और

कार्य तथा बन्धकारण ३८६, उच्चगोत्र कर्म का फलभोग : आठ प्रकार से ३८९, नीचगोत्र कर्म का फलभोग : आठ प्रकार से ३९०, उच्चगोत्र कर्म का फलभोग : स्वतः भी, परतः भी ३९१, नीचगोत्र कर्म का अनुभाव भी स्व-परतः दोनों प्रकार से ३७१, अन्तरायकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप, कार्य और बन्धकारण ३९२, अन्तराय की उपमा : राजभण्डारी से ३९३, अन्तरायकर्म का द्विविध प्रभाव ३९३, आत्मा की पंचविध शक्तियों में अवरोधक : अन्तरायकर्म ३९३, दान के प्रकार और दानान्तरायकर्म का स्वरूप ३९३, लाभान्तराय आदि कर्म का स्वरूप ३९४, आध्यात्मिक दृष्टि से वीर्यान्तराय कर्म के तीन भेद ३९५, अन्तराय कर्मबन्ध के कारण ३९५, अन्तरायकर्म का फलभोग : कैसे जानें, पहचानें? ३९७, उपसंहार ३९९।

(२१) घाति और अघातिकर्म-प्रकृतियों का बन्ध पृष्ठ ४०० से ४१६ तक

द्रव्य-विकार की निमित्तभूता प्रकृति : अघातिकर्म ४००, घातिकर्म प्रकृति : भाव विकार की निमित्तभूता ४००, आठ कर्मों की द्विविध प्रकृतियाँ ४०१, आत्मा के मुख्य चार निजी गुणों की घातक : चार घातिकर्म-प्रकृतियाँ ४०१, आत्मा के चार स्व-गुणों का ये चार घातिकर्म कैसे घात करते हैं? ४०१, घातिकर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का सर्वथा नाश नहीं कर सकता ४०२, घातिकर्म-सम्बन्धी विवेचन–कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड में ४०३, घातिकर्मों का मुखिया : मोहनीय कर्म और उसकी प्रबलता ४०३, मोहनीय कर्म की प्रबल घातकता का उदाहरण ४०४, घातिकर्मों के समूल नष्ट हो जाने पर ही केवलज्ञान-दर्शन एवं जीवन्मुक्त वीतराग ४०६, चार घातिकर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ ४०६, सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियाँ ४०७, सर्वघातिनी में सर्वघात शब्द का रहस्यार्थ ४०८, सर्वघातिनी प्रकृतियाँ कैसे सर्वघात करती हैं? ४०८, वेदनीय कर्म : अघाति भी, घाति भी ४०९, अन्तराय कर्म : कथंचित् अघाति ४०९, देशघातिनी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और संख्या ४१०, मतिज्ञानावरणीयादि चार तथा केवलज्ञानावरणीय घाति हैं या अघाति? ४११, सम्यक्मिथ्यात्व-मोहनीय एवं मिथ्यात्व-मोहनीय सर्वघाति हैं या देशघाति? ४११ सम्यक्त्व-मोहनीय प्रकृति देशघाति क्यों? ४११, प्रत्याख्यानावरणीय कषायचतुष्क सर्वघाती कैसे? ४१२, अघातिकर्म का लक्षण, स्वरूप, कार्य और प्रभाव ४१२, अघातिकर्म के प्रकार, नाम और प्रभाव ४१३, अघातिकर्म की मूल-प्रकृतियाँ और उनका कार्य ४१४, अघातिकर्म-प्रकृतियों के बन्धयोग्य भेद ४१४, घाति-अघाति कर्मों की मूल-उत्तर-प्रकृतियों के बन्ध के हेतु ४१४, जीवविपाकी कर्म-प्रकृतियाँ घातिया क्यों नहीं? ४१५, सर्वघाति और देशघाति कर्म-प्रकृतियों की निकृष्ट-उत्कृष्ट शक्ति लतादितुल्य है ४१५, घाति-अघाति कर्म-प्रकृतियों में शुभाशुभ कर्म-प्रकृतियों का वर्गीकरण ४१५, चारों घाति और चारों अघातिकर्मों का समूल उन्मूलन होने पर ···· ४१६।

(२२) पाप और पुण्य कर्म-प्रकृतियों का बन्ध पृष्ठ ४१७ से ४४२ तक

पापकर्म की प्रकृतियाँ और उनका बन्ध ४१७, हिंसादि पापकर्मों का बन्ध सर्वमान्य ४१७, चार कषायों से पापकर्म का बन्ध अवश्यम्भावी ४१७, विभिन्न प्रकार के अप्रशस्त राग और द्वेष से पापकर्म का बन्ध ४१८, अन्य पापस्थानों से पापकर्म का बन्ध ४१९, पापकर्मबन्ध : दुःखफलदायक एवं प्रत्यक्षवत् ४१९, पापकर्म छिपाने से छिप नहीं सकते ४२०, पापकर्मबन्ध के कारण और कटुपरिणाम ४२०, पापकर्मबन्ध का अस्तित्व अनुमान से भी सिद्ध है ४२१, पापकर्म के दो प्रकार : प्रच्छन्न और प्रकट ४२२, पापकर्मबन्ध का फल : किसी न किसी दुःख के रूप में ४२२, पापकर्मबन्ध के मुख्य कारण : हिंसा, ममत्वयुक्त परिग्रह आदि ४२३, पापकर्म के अनेक पर्यायवाची शब्द ४२४, विषयलोलुपता के कारण वैर परम्परा, ताना दुःखों से पीड़ित, आर्त ४२४, अंग विकलता-दुःखदैत्यादि का कारण हिंसाजनित पापकर्मबन्ध ४२५, निर्दोष त्रस प्राणियों के वध से बद्ध पाप का फल : विविध अंग विकलता ४२५, दीन, दुःखी एवं अपमानित होने का कारण : पूर्वबद्ध पापकर्म ४२५, नेत्रेन्द्रियहीनता का कारण : पापकर्मबन्ध ४२६, श्रोत्रेन्द्रियहीनता का कारण : पापकर्मबन्ध ४२६, जिह्वेन्द्रियहीनता का कारण : पापकर्मों का बन्ध ४२७, इन पापकर्मों के बन्ध के कारण मानव अपमानित होता है ४२९, निर्बल पापबन्ध के कारण से होता है? ४२९, कायर और डरपोक किन पापकर्मों के कारण होता है? ४३९, पराधीन होना भी पापकर्म के बन्ध

का कारण है ४२९, दम्भी और धूर्त भी पापकर्मबन्ध के कारण ४३०, चोर किस पापकर्म के बन्ध के कारण बँधता है? ४३०, पापात्मा बँधता है–पापकर्मबन्ध के कारण ४३०, कसाई और हत्यारा भी पापकर्मों के कारण बँधता है ४३०, अनार्यदेश में जन्म लेने के कारण ४३०, पुत्रहीनता भी पापकर्मबन्ध के कारण ४३१, कृपणता, कुपुत्र और कुभार्या की प्राप्ति कैसे? ४३१, सहोदर भाइयों में वैमनस्य का कारण ४३१, अल्पायु होने के ये कारण हैं ४३१, ये दुःसाध्य रोग भी पूर्वकृत पापकर्म के फल ४३२, अष्टादश पापस्थानक : अठारह प्रकार के पापकर्मों के बन्ध के कारण ४३२, पुण्यकर्म की प्रकृतियाँ और उनका बन्ध ४३४, श्रवणेन्द्रिय-नेत्रेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय की प्रबलता का लाभ पुण्यबन्ध से ४३६, पुण्यबन्ध के कारण सुख-शान्ति-सम्पन्न, ऋद्धिमान् और ऋद्धिमान् धनाढ्य ४३८, शुभ-अशुभ बन्ध एवं विपाक : अध्यवसाय पर निर्भर ४३९, पुण्यबन्ध के नौ प्रमुख कारणात्मक प्रकार ४३९, पुण्यकर्म की बन्ध योग्य बयालीस प्रकृतियाँ ४४०, रत्नत्रय : पुण्यबन्ध का कारण नहीं, राग कारण है ४४१, पुण्यबन्ध विषयेच्छा-मूलक न हो ४४१-४४२।

(२३) रसबन्ध बनाम अनुभागबन्ध : स्वरूप और परिणाम पृष्ठ ४४३ से ४७२ तक

रस की संसार में सर्वव्यापकता ४४३, जीवन के समस्त क्षेत्रों में रस का महत्त्व ४४३, सभी क्षेत्रों में रसों को सरसता-निरसता-प्रदाता कार्मिक रसाणु ४४४, कार्मिक रसाणु (बद्धकर्म रस) ही समस्त संसारी जीवों का भाग्य-विधाता ४४४, समग्र विश्व का संचालक सत्ताधीश : कर्मरसाणु ४४४, समग्र विश्व की गतिविधि कर्म-रसाणुओं पर निर्भर ४४५, अनुभाव (रस) बन्ध ही आत्मा के साथ कर्म का खास बन्ध ४४५, केवल प्रकृति-प्रदेशबन्ध से काम नहीं चलता ४४६, मुख्य फलदान-शक्ति का नियामक अनुभागबन्ध है, प्रकृतिबन्ध नहीं ४४६, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कार्य और दोनों में अन्तर ४४७, रस, अनुभाग, अनुभाव, अनुभव आदि एकार्थक हैं ४४८, मूल-प्रकृति, अनुभागबन्ध और उत्तर-प्रकृति अनुभागबन्ध ४४८, अनुभागबन्ध = रसबन्ध का कार्य ४४८, स्वाभाविक रस और कषाय-परिणत रस में अन्तर ४४९, रसबन्ध का लक्षण ४४९, अनुभागबन्ध का स्वरूप ४४९, एक ही प्रकार के कर्म-परमाणु भिन्न-भिन्न रस वाले कैसे हो जाते हैं? ४५०, अनुभागबन्धों के दो प्रकार : तीव्र और मन्द ४५०, तीव्र और मन्द अनुभागबन्ध के कारण ४५०, रसबन्ध : रसाणुओं का, अर्थात् फलदान-शक्ति-अंशों का बन्ध ४५१, कर्मपुद्गलों में सर्वजीवों से अनन्तगुणे भावाणु या रसाणु ४५२, अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग निम्बरस और शुभ प्रकृतियों का इक्षुरस के समान ४५२, द्विविध प्रकृतियों के तीव्र और मन्द रस की चार-चार अवस्थाएँ ४५२, अशुभ और शुभ प्रकृतियों के मन्द रस की चार-चार अवस्थाएँ ४५३, रस के तीव्र-मन्द बन्ध का कारण : कषाय की तीव्रता-मन्दता ४५३, शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों की तीव्रादि तथा मन्दादि अवस्थाएँ ४५३, रसबन्ध के चारों प्रकारों के चार स्थान : दृष्टान्त द्वारा सिद्ध ४५४, रसबन्ध : इक्षुरस या निम्बरस के दृष्टान्त से एक ठाणिया से लेकर चार ठाणिया तक ४५४, रसबन्ध में कषाययुक्त लेश्या के कारण असंख्य स्थान ४५५, अध्यवसाय के कारण हुए रसबन्ध के फलस्वरूप स्थिति और रस का निश्चय ४५६, तीव्र और मन्द अनुभागबन्ध के चार-चार भेदों के कारणों का निर्देश ४५६, किस प्रकृति में, कितने प्रकार का रसबन्ध होता है और क्यों? ४५७, शुभ प्रकृतियों में एक स्थानिक रसबन्ध क्यों नहीं? ४५८, कषायों की तीव्रता-मन्दता से अशुभ-शुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध ४५९, विशुद्ध-संक्लिष्ट परिणामों से शुभाशुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध में अन्तर ४५९, अशुभ और शुभ प्रकृतियों का कटु-मधुर रस कैसे-कैसे चार प्रकार का होता है? ४६०, एकस्थानिक से चतुःस्थानिक रस तक की प्रक्रिया ४६०, अशुभ-शुभ प्रकृतियों में कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार उत्तरोत्तर अनन्तगुणे रसस्पर्द्धक ४६१, पंचसंग्रह में अशुभ-शुभ प्रकृतियों के रस की उपमाएँ ४६१, गोम्मटसार में घाति-अघाति कर्मों के अनुसार विविध उपमाएँ ४६२, (१) प्रथम द्वार : रसबन्ध के चार प्रकार तारतम्यापेक्षा से ४६२, (२) संज्ञा द्वार : रसबन्ध के लिए प्रयुक्त दो संज्ञाएँ ४६३, घातिसंज्ञा-प्ररूपणा द्वारा रसबन्ध के चार प्रकारों का निरूपण ४६३, स्थान-संज्ञा-प्ररूपणा द्वारा चतुःस्थानों का अनुभागबन्ध-निरूपण ४६४, (३) प्रत्यय द्वार : बन्ध हेतुओं की दृष्टि से अनुभागबन्ध-विचार ४६४, (४) विपाक द्वार : कर्म की फलदानाभिमुखता की दृष्टि से बन्ध-विचार ४६५, (५) प्रशस्त-अप्रशस्त द्वार : प्रशस्त-अप्रशस्त रसबन्ध का कारण ४६५,

(६) सादि-अनादि ध्रुव-अध्रुव द्वार : अनुभागबन्ध के परिप्रेक्ष्य में ४६६, निम्नोक्त आठ प्रकृतियों के रसबन्ध-चतुष्टय में सादि-आदि की प्ररूपणा ४६६, वेदनीय और नामकर्म के रसबन्ध की दृष्टि से सादि-आदि प्ररूपणा ४६७, ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के अनुभागबन्ध-चतुष्टय का विचार ४६८, (७) स्वामित्व द्वार : उत्कृष्ट-जघन्य-अनुभागबन्ध के स्वामित्व की प्ररूपणा ४७१, जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी ४७१-४७२।

(२४) स्थितिबन्ध : स्वरूप, कार्य एवं परिणाम पृष्ठ ४७३ से ५०५ तक

न्यायप्रिय शासक : एक को दण्ड, दूसरे को पुरस्कार ४७३, स्थितिबन्ध के रूप में कर्मराज द्वारा भी दण्ड-पुरस्कार की कालसीमा का निर्धारण ४७४, अनुभागबन्ध के अनुसार ही प्रायः स्थितिबन्ध ४७४, स्थितिबन्ध : लक्षण, स्वरूप और कार्य ४७५, स्थितिबन्ध का कार्य और प्रकार ४७५, जैनकालमान का प्ररूपण : समय से लेकर सागरोपम काल तक ४७६, पल्योपम और सागरोपम-कालमान ४७७, स्थितिबन्ध का मुख्य कारण : कषाय ४७७, मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ४७८, आयुकर्म के सिवाय सात मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति : सागरोपम-प्रमाण द्वारा ४७९, कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति ४७९, अबाधाकाल : कर्म के स्थितिबन्ध से लेकर उदय तक का काल तथा स्वरूप ४८१, अबाधाकाल का परिमाण ४८२, स्थिति के दो प्रकार : कर्मरूपता-अवस्थान-लक्षणा अनुभव-योग्य ४८३, अबाधाकाल : विभिन्न कर्मों का ४८३, आयुकर्म के सम्बन्ध में अबाधा स्थिति के अनुपातानुसार नहीं ४८४, आयुकर्म का अबाधाकाल अनिश्चित भी है ४८४, आयुकर्म के त्रिभाग वाले अबाधाकाल का हिसाब ४८५, गति के अनुसार आयु का बन्ध त्रिभाग-प्रमाण ४८५, त्रिभाग से कुछ अधिक शेष रहने पर परभव का आयुष्यबन्ध नहीं ४८५, यह अबाधा अनुभूयमान भव-सम्बन्धी आयु में ही ४८६, निरुपक्रमी और सोपक्रमी आयु द्वारा परभाव का आयुबन्ध ४८६, उत्तर-कर्म-प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध ४८६, अठारह कर्म-प्रकृतियों की जघन्य स्थिति में ४८६, चार उत्तर-प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ४८७, आयुकर्म की चार प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ४८७, तीर्थंकर नाम आदि तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ४८७, वैक्रिय-षट्क की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति ४८७, एक सौ बीस बन्धयोग्य प्रकृतियों में पैंतीस की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति ४८८, शेष पिचासी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का नियम और प्रक्रिया ४८८, वर्ग के अनुसार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का नियम ४८९, कर्म-प्रकृति के अनुसार प्रत्येक वर्ग की जघन्य स्थिति ज्ञात करने का तरीका ४८९, ऐसा करने का कारण ४८९, कर्म-प्रकृत्यनुसार उपर्युक्त वर्गों की जघन्य स्थिति ४९०, एकेन्द्रिय आदि के योग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध ४९०, पिचासी प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध ४९१, द्वीन्द्रिय आदि का उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्ध-प्रमाण ४९१, जघन्य अबाधाकाल का प्रमाण ४९२, उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी ४९३, अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है ४९३, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी ४९४, देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्धक प्रमत्त मुनि की दो अवस्थाएँ ४९४, शेष बन्धयोग्य १४६ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी ४९४, चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव किन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी? ४९५, छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी ४९६, पूर्वोक्त छह प्रकृतियों के विषय में विशेष विवरण ४९७, जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी ४९७, सत्रह प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी ४९८, पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध किस गुणस्थान तक? ४९८, आयुकर्म के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी ४९८, उत्कृष्ट आदि चार भेदों के माध्यम से सादि, ध्रुव आदि स्थितिबन्ध का विचार ४९९, उत्तर-प्रकृतियों में अजघन्य आदि बन्धों में सादि-आदि भंगों का निरूपण ५००, गुणस्थानों में स्थितिबन्ध का विचार ५०१, एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का अल्प-बहुत्व ५०१, स्थितिबन्ध की दृष्टि से शुभ और अशुभ स्थिति की मीमांसा ५०२, कषायजन्य होते हुए भी अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध में महान् अन्तर ५०३, स्थितिबन्ध में कषाय के साथ योग का संयोग ५०४, योगस्थानों के कारण स्थितिस्थानों की उत्तरोत्तर वृद्धि ५०५, स्थितिस्थानों के कारण होते हैं, अगणित अध्यवसायस्थान, जिनसे स्थितिबंध में तारतम्य होता है ५०५।

●●

कर्मविज्ञान : पंचम भाग

खण्ड ८ — कुल पृष्ठ १ से ५९२ तक

कर्मबन्ध की विशेष दशाएँ

निबन्ध २१ — पृष्ठ १ से ५९२ तक

(१) कर्मबन्धों की विविधता एवं विचित्रता — पृष्ठ ३ से ३२ तक

संसार-महायंत्र को बाँधे रखते हैं बन्ध ३, विविध कर्मबन्ध : संसार-महायंत्र को बाँधे रखने वाले ३, प्रकृतिबन्ध आदि बन्ध के मूलभूत अंग ४, घाति-अघाति कर्मबन्धों का विवेचन ४, विविध बन्धों की जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान द्वारा प्ररूपणा ५, पुण्य-पाप कर्मबन्धों की प्ररूपणा अतीव प्रेरणाप्रद ५, चौदह मार्गणाओं के आश्रय से बन्ध की प्ररूपणा ६, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के मार्ग के बन्धों का विधान ६, पाँच भावों के आश्रय से आत्मिक विकास का दिशासूचन ६, कर्मबन्धों की चार दशाएँ : बन्धों को नापने का थर्मामीटर ७, बन्धों की जड़ों को उखाड़ने के लिए राग-द्वेषरूपी बीज न बोएँ ७, मिथ्यात्व के प्रबल बन्धन को तोड़ने के लिए ग्रन्थिभेद का उपाय ८, बन्धों को बदलने का आशास्पद सन्देश ८, बन्धों की विचित्रता और जाल से सावधान ९, चौबीस दण्डकवर्ती जीव कर्मजाल से आवेष्टित-परिवेष्टित १०, कर्मबन्धों के परस्पर सहभाव की प्ररूपणा १०, आठ कर्मों के बन्धस्थान और भूयस्कारादि चार बन्ध १२, मूल कर्मप्रकृतियों के चार बन्धस्थान १२, मूल प्रकृतियों में भूयस्कारबन्ध : किसमें और कितने? १३, अल्पतरबन्ध : स्वरूप और प्रकार १४, अवस्थितबन्ध : स्वरूप और प्रकार १५, अवक्तव्यबन्ध : स्वरूप और प्रकार १५, भूयस्कार आदि बन्धों के विषय में स्पष्टीकरण १५, उत्तर-प्रकृतियों के बन्धस्थान और भूयस्कारादि बन्ध १६, प्रत्येक कर्म की अपेक्षा से भूयस्कार आदि बन्ध-प्ररूपणा : एक स्पष्टीकरण १८, आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों के बन्धस्थान तथा भूयस्कारादि बन्ध का कोष्टक २६, बन्ध के विविध मोर्चों से सावधान २६, पापकर्मबन्ध से कैसे बचे, कैसे प्रवृत्ति करे? २७, ऋणानुबन्ध : परस्परबन्ध को समझना भी आवश्यक २७, पुण्यकर्म भी उपादेय नहीं, इच्छनीय नहीं २९, कर्मबन्ध के विविध पहलू २९, भावबन्ध का कारण : परिणाम २९, आध्यात्मिक दृष्टि से बन्ध का नाम-तौल ३०, चारों ओर से होने वाले कर्मबन्धों से सावधान रहे ३१-३२।

(२) ध्रुव-अध्रुवरूपा बन्ध-उदय-सत्ता-सम्बद्धा प्रकृतियाँ — पृष्ठ ३३ से ६० तक

उदय और सत्ता बन्ध से सम्बद्ध : संसार बन्धमूलक ३३, ध्रुवबन्धिनी-अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का स्वरूप ३४, ध्रुवोदया-अध्रुवोदया प्रकृतियों का स्वरूप ३५, कर्मोदय के पाँच हेतु और उदय का नियम ३५, ध्रुव-अध्रुव सत्ता की प्रकृतियाँ, स्वरूप और कार्य ३५, ध्रुवबन्धिनी कर्मप्रकृतियाँ : कितनी और क्यों? ३६, कर्म की मूल-प्रकृतियाँ और बन्धयोग्य उत्तर-प्रकृतियाँ ३६, सैंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ ३६, ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी : क्यों और कहाँ तक? ३७, जिस प्रकृति का जहाँ तक उदय, वहाँ तक उसका बन्ध ३८, अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे? ३९, पाँच मूल कर्मों के अनुसार अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ ४०, इन प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी क्यों माना गया? ४०, तिहत्तर प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने के कारण ४१, गोत्र और वेदनीय कर्म अध्रुवबन्धी भी, ध्रुवबन्धी भी : कब और क्यों? ४२, मोहनीयकर्म की ये प्रकृतियाँ कब तक अध्रुवबन्धिनी? ४२, आयुकर्म की चारों प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं ४२, नामकर्म की प्रकृतियों में अध्रुवबन्धिनी की पहचान ४३, बन्ध और उदय प्रकृतियों की भंगों के माध्यम से विविध दशाएँ ४३, बन्ध और उदय प्रकृतियों में उक्त भंगों की प्ररूपणा ४४, 'गोम्मटसार' में सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव बन्ध का निरूपण ४५, दो ही भंग क्यों नहीं, अधिक क्यों? : एक शंका-समाधान ४६, चारों भंगों का विशेष स्पष्टीकरण ४७, ध्रुवोदया प्रकृतियों में घटित होने वाले भंग ४८, ध्रुवोदयी

प्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार ४९, अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार ५१, ये पिचानवे प्रकृतियाँ अध्रुवोदयी : क्यों और कैसे? ५१, ध्रुवसत्ताका और अध्रुवसत्ताका प्रकृतियाँ ५३, ध्रुवसत्ताका एक सौ तीस प्रकृतियाँ ५४, अध्रुवसत्ताका अड़ाईस प्रकृतियाँ ५५, बन्ध और उदय से सत्ता में अधिक प्रकृतियाँ क्यों? ५५, ध्रुवबन्धिनी ध्रुवोदया से अध्रुवबन्धिनी अध्रुवोदया की संख्या कम, परन्तु सत्तायोग्य प्रकृतियों में इसके विपरीत ५६, ये एक सौ तीस प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका क्यों? ५६, अनन्तानुबन्धी कषाय-प्रकृतियाँ ध्रुवसत्ताका क्यों, अध्रुवसत्ताका क्यों नहीं? ५७, अड़ाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्तारूप क्यों? ५७, गुणस्थानों में कतिपय प्रकृतियों की ध्रुव-अध्रुवसत्ता-प्ररूपणा ५८, बन्ध के बिना सत्ता और उदय : क्यों और कैसे? : एक अनुचिन्तन ५८, मिश्र-प्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता का विचार ५९-६०।

(३) परावर्तमाना और अपरावर्तमाना प्रकृतियाँ — पृष्ठ ६१ से ६५ तक

घुड़दौड़ के दो प्रकार के घोड़ों की तरह कर्मों की दो प्रकार की प्रकृतियाँ ६१, परावर्तमाना-अपरावर्तमाना प्रकृतियों का स्वरूप ६१, परावर्तमाना प्रकृतियों की संख्या ६२, अपरावर्तमाना प्रकृतियों की संख्या ६३, एक प्रश्न : समुचित समाधान ६३, इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों को जानने से लाभ ६३, कर्मप्रकृतियों के ध्रुवबन्धी आदि भेदों का कोष्टक ६५।

(४) विपाक पर आधारित चार कर्मप्रकृतियाँ — पृष्ठ ६६ से ८१ तक

कर्मों की प्रकृतियाँ : विपाक के आधार पर ६६, विपाक का स्वरूप और परिणाम ६६, अष्टविध कर्म के विभिन्न विपाकों का दिग्दर्शन ६७, गति आदि के निमित्त से कर्मफल का तीव्र-मन्द विपाक ६९, विभिन्न कर्मों का विपाक किन-किन कारणों से हो जाता है? ७०, उपादान के साथ निमित्त का भी विपाक में महत्त्वपूर्ण स्थान ७१, विपाक में त्रिविध निमित्त : स्वतः, परतः और उभयतः ७१, परिस्थिति, वातावरण, विशिष्ट व्यक्ति आदि से प्रभावित हो जाता है ७२, जीव अष्टविध कर्मों के विपाक के योग्य कब और कैसे बनता है? ७३, विपाक के चार हेतु : क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल ७३, विपाक के दो भेदों पर आधारित : हेतुविपाकी और रसविपाकी प्रकृतियाँ ७४, यहाँ हेतुविपाकी कर्मप्रकृतियों की विवक्षा अभीष्ट ७४, क्षेत्रविपाकी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य ७५, जीवविपाकी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य ७५, जीवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ अठहत्तर प्रकार की ७६, भवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार ७६, गतिनामकर्म की प्रकृतियाँ भवविपाकिनी नहीं हैं ७७, क्षेत्रविपाकी ही क्यों, जीवविपाकी क्यों नहीं? ७७, पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और प्रकार ७८, कर्मग्रन्थानुसार पुद्गलविपाकी छत्तीस कर्मप्रकृतियाँ ७८, इन्हें पुद्गलविपाकी मानें या जीवविपाकी? ७९, कर्मप्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेदों का कोष्टक ८०-८१।

(५) कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ-१ — पृष्ठ ८२ से ११७ तक

सूर्य-प्रकाश की प्रतिबद्ध अवस्थाओं की तरह आत्मप्रकाश-प्रतिबद्ध अवस्थाएँ ८२, कर्मबन्ध की परिवर्तनीयता के सम्बन्ध में भ्रान्ति ८३, दूसरी भ्रान्ति : अनादिकालीन कर्मचक्र-परम्परा से छूटना भी कठिन ८३, प्रथम शंका का समाधान ८४, द्वितीय शंका का समाधान ८६, (१) प्रथम अवस्था-बन्ध : स्वरूप, महत्त्व और प्राथमिकता ८८, बन्ध की अवस्था के विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्य ८८, योगास्रव-कर्तव्य : प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ९०, प्रकृतिबन्ध में भी न्यूनाधिकता ९०, कषायभाव-निर्भर : स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ९०, प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध में अन्तर ९१, कषायसहित होने पर ही कर्म में फलदान-शक्ति का प्रादुर्भाव ९१, पूर्वोक्त बन्धद्वय से जनित विविध अवस्थाएँ ९१, कषायभाव कहाँ तक और उसके बाद की अवस्थाएँ कौन-सी हैं? ९२, आयुष्यबन्ध : जीवनभर के शुभाशुभ भावों के आधार पर ९२, कषाय के बहुत्व-अल्पत्व पर स्थिति और अनुभागबन्ध की वृद्धि-हानि ९२, योगों की अतिचंचलता और कषाय की अल्पता का परिणाम ९२, कषाय-बाहुल्य तथा योग के अल्पत्व का परिणाम ९३, योगों की अल्पता, किन्तु कषाय की बहुलता का निदर्शन ९३, योगों का संकोच, किन्तु कषायों की तीव्रता : कर्मबन्ध गाढ़ ९५, आत्मा में कषायभाव की शक्ति कर्मपुद्गलों में संक्रान्त होती है ९६, मुख्य बन्धहेतुक कषायों से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति ९७, बन्ध के भेद : द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ९८, कर्मशास्त्र में द्रव्यबन्ध की अपेक्षा कथन ९८, कर्मसिद्धान्त की पद्धति : द्रव्यकर्म-आश्रयी प्ररूपणा ९८, साम्परायिक बन्ध के दो प्रकार

१०१, दौर्भाग्य को सौभाग्य में बदलने हेतु बन्ध-अवस्था की प्रेरणा १०१, (२) कर्मबन्ध की द्वितीय अवस्था : सत्ता या सत्त्व १०२, सत्ता का कार्य १०२, सत्ता में रहे हुए कर्मों का परिवर्तन शक्य है १०३, सत्तारूप कर्म फलाभिमुख होने से पूर्व तक बदले जा सकते हैं १०४, सत्ता में पड़ा हुआ कर्म भोगा नहीं जाता १०५, अबाधाकाल : क्या, कैसे और कितना-कितना? १०६, (३) उदय-अवस्था : स्वरूप, कार्य और प्रेरणा १०७, बन्ध, सत्ता और उदय : तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध १०८, उदय का फलितार्थ और लक्षण १०८, विपाकोदय और प्रदेशोदय तथा उनका फलितार्थ १०९, सहेतुक और निर्हेतुक उदय : एक चिन्तन १०९, स्वतः उदय में आने वाले सहेतुक उदय १०९, परतः उदय में आने वाले विपाकोदय ११०, प्रदेशकर्म अवश्य भोगे जाते हैं, अनुभागकर्म कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं ११०, किस कर्म के उदय से किन-किन फलों का अनुभाव होता है? १११, कर्मफल की उदयमान अवस्था में साधक क्या करे? १११, उदित कर्म निमित्त प्रस्तुत करता है, बलात् नियोजित नहीं करता ११२, निर्बल आत्मा ही कर्म का आधिपत्य स्वीकारते हैं, बलवान् नहीं ११३, ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के परिणामों में अन्तर ११३, उदय की प्रक्रिया के विषय में कर्मविज्ञान की प्ररूपणा ११४, बन्ध और उदय की प्रक्रिया ११५, पुण्य या पाप के उदय में भी परिवर्तन सम्भव ११६, बन्ध और उदय की समानता-असमानता कहाँ-कहाँ? ११६-११७।

(६) कर्मबन्ध की विविध परिवर्तनीय अवस्थाएँ-२ पृष्ठ ११८ से १४० तक

सम्यक्-पुरुषार्थ से कर्मबन्ध में परिवर्तन सम्भव है ११८, पुरुषार्थ कैसा और कितना हो? ११९, (४) उदीरणाकरण : स्वरूप, हेतु और पुरुषार्थवाद का प्रेरक १२१, उदय और उदीरणा में अन्तर और उदीरणा का स्वरूप १२१, उदीरणा पुरुषार्थ की उद्योतिनी १२१, उदीरणा के योग्य कर्मपुद्गल कौन-से हैं, कौन-से नहीं? १२२, उदीरणा पुरुषार्थवाद की प्रेरणादायिनी है १२२, उदीरणा : कब और कैसे? १२३, उदीरणा का हेतु और रहस्य १२३, प्रत्येक प्राणी के सहज रूप में उदय-उदीरणा प्रायः होती रहती है १२४, विशेष दुष्कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष सत्पुरुषार्थ आवश्यक १२४, ईसाई धर्म में और मनोविज्ञान में भी उदीरणा का रूप १२५, उदीरणा में विशेष सावधानी आवश्यक १२५, (५-६) उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण : स्वरूप और कार्य १२५, उद्वर्तना और अपवर्तना का रहस्य १२६, अपकर्षण और उत्कर्षण का कार्य १२७, अपवर्तनाकरण का चमत्कार : पापात्मा से पवित्रात्मा १२८, अपकर्षण या उद्वर्तनाकरण भी दो प्रकार का १२८, उद्वर्तना में अशुभ परिणामों की प्रबलता होती है १२९, अपवर्तना और उद्वर्तना के नियम और कार्य १२९, (७) संक्रमणकरण : स्वरूप, प्रकार और कर्म १२९, व्यावहारिक क्षेत्र में संक्रमणवत् कर्मसंक्रमण १३०, चार प्रकृतियों का कर्म-संक्रमण १३०, वनस्पति-विज्ञान एवं चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में भी संक्रमण-प्रयोग १३२, कर्मविज्ञानवत् मनोविज्ञान भी सजातीय प्रकृतियों में संक्रमण मानता है १३३, उदात्तीकरण की प्रक्रिया और संक्रमण-प्रक्रिया १३३, रूपान्तरण भी संक्रमणवत् दो प्रकार का १३३, संक्रमण-प्रयोग से विकार का संस्कार में परिवर्तन १३४, मार्गान्तरीकरण भी संक्रमण के तुल्य है : कुछ उपयोगी तथ्य १३४, संक्रमणकरण का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद और प्रेरक १३५, (८) उपशमना (उपशम) करण : स्वरूप और कार्य १३५, उपशमनकरण का भी बहुत बड़ा महत्त्व : क्यों और कैसे? १३६, (९) निधत्तिकरण : स्वरूप और कार्य १३७, (१०) निकाचनाकरण (निकाचित अवस्था) : स्वरूप और कार्य १३८, कर्म बलवान् है या आत्मा? १३९-१४०।

(७) बद्ध जीवों के विविध अवस्थासूचक स्थानत्रय पृष्ठ १४१ से १५० तक

अनन्तानन्त जीवों की कर्म-सम्बन्धित विविध अवस्थाएँ १४१, बाह्याभ्यन्तर अवस्थाओं का तीन स्थानों में वर्गीकरण १४२, सर्वप्रथम जीवस्थान का ही निर्देश क्यों? १४२, समस्त संसारी जीवों के त्रिविध मुख्य रूप १४३, जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान क्यों? १४४, मार्गणास्थान की विशेषता १४४, जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के द्वारा होने वाला बोध १४५, अध्यात्मविद्या में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान का स्थान १४६, जीवों के बाह्याभ्यन्तर जीवन की विभिन्नताएँ चौदह भागों में १४६, गाढ़तम मोहावस्था से पूर्ण मोक्षावस्था तक का विकास-क्रम १४७, मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान का निर्देश इसलिए भी १४७, मार्गणास्थान और गुणस्थान के कार्य में अन्तर १४८, गुणस्थान में आत्मा की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष-अपकर्ष की सूचक अवस्थाएँ १४९, संसारी जीवों के मुख्य तीन रूप, तीन स्थान १५०।

(८) चौदह जीवस्थानों में संसारी जीवों का वर्गीकरण पृष्ठ १५१ से १७१ तक

जीवों की अनन्त विभिन्नताओं का चौदह भागों में वर्गीकरण १५१, जीवस्थान में जीव से सम्बन्धित कुछ प्रश्न और उत्तर १५२, जीव का लक्षण : विभिन्न दृष्टियों से १५५, सभी जीवों में भावप्राण : संसारी जीवों में भावप्राणयुक्त द्रव्यप्राण १५७, जीव की व्याख्या : निश्चयनय-सापेक्ष १५७, संसारी जीव : शुद्ध और अशुद्ध कैसे? १५७, कर्मयुक्त होने से संसारी जीवों की अपेक्षा से जीवस्थान-प्ररूपणा १५८, जीवस्थान का स्वरूप १५८, जीवस्थान का अन्य स्वरूप १५८, जीवसमास का स्वरूप १५९, चौदह जीवस्थान और सबमें जीवत्व-धर्म का सद्भाव १५९, संसारी जीवों के संक्षेप में पाँच प्रकार १६०, इन्द्रियाँ और उनका स्वरूप १६०, द्विविध इन्द्रियों के पाँच-पाँच भेद : स्वरूप और कार्य १६०, द्रव्येन्द्रिय के दो भेद : स्वरूप और कार्य १६१, एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादरपर्याय का स्वरूप १६२, सूक्ष्मशरीर की विशेषता १६३, बादरकाय का स्वरूप और विश्लेषण १६३, एकेन्द्रिय जीवों के सूक्ष्म और बादर भेद मानने के पीछे कारण १६३, षट्कायिक या पंचेन्द्रिय जीवों की पहचान १६४, चौदह प्रकार के जीवस्थानों में संज्ञी-असंज्ञी विचार १६५, संज्ञी-असंज्ञी का प्रचलित अर्थ १६५, आगमों द्वारा प्ररूपित संज्ञा के प्रकार १६५, चैतन्य के उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से चार कोटि की संज्ञाएँ १६६, चौदह प्रकार के जीवस्थानों में पर्याप्ति-अपर्याप्ति-मीमांसा १६८, लब्धि और करण से अपर्याप्त और पर्याप्त के लक्षण १६९-१७१।

(९) जीवस्थानों में गुणस्थान आदि की प्ररूपणा पृष्ठ १७२ से १९६ तक

चतुर्दश जीवस्थानों में गुणस्थान आदि की प्ररूपणा १७२, आठ प्ररूपणीय विषयों का स्वरूप १७३, जीवस्थानों को लेकर प्ररूपणायोग्य पूर्वोक्त विषयों का क्रम १७४, (१) जीवस्थानों में गुणस्थानों की प्ररूपणा १७४, पाँच जीवस्थानों में मिथ्यात्व तथा सास्वादन गुणस्थान : क्यों और कैसे? १७५, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान : क्यों और कैसे? १७५, पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय में सभी गुणस्थान : क्यों और कैसे? १७६, (२) जीवस्थानों में उपयोग की प्ररूपणा १७७, उपयोग को सामान्य-विशेषरूप मानने का कारण १७७, पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों में बारह ही उपयोग क्यों? १७८, केवली भगवन्तों के उपयोग सहभावी हैं या क्रमभावी? : तीन पक्ष १७८, पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी-पंचेन्द्रिय में चार उपयोग : क्यों और कैसे? १८०, सैद्धान्तिकों का कार्मग्रन्थिकों से इस विषय में मतभेद १८१, संज्ञी-पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में आठ उपयोग ही क्यों? १८२, (३) जीवस्थानों में पन्द्रह योगों की प्ररूपणा १८२, पन्द्रह प्रकार के योगों का स्वरूप १८३, चौदह जीवस्थानों में योगत्रय-प्ररूपणा १८४, चौदह जीवस्थानों में पन्द्रह योगों की प्ररूपणा १८४, कार्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिकों में मतविभिन्नता का अभिप्राय १८५, पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों में पन्द्रह ही योग : क्यों और कैसे? १८५, (४) चौदह जीवस्थानों में छह लेश्याओं की प्ररूपणा १८७, (५) चौदह जीवस्थानों में अष्टविध कर्मबन्ध, उदीरणा, उदय-सत्ता की प्ररूपणा १८८, (६, ७, ८) चौदह जीवस्थानों में उदीरणा, सत्ता और उदय की प्ररूपणा १८९, तेरह जीवस्थानों में सत्ता और उदय आठ ही कर्मों का सम्भव १९०, कर्मों का बन्धस्थान : स्थिति और गुणस्थान-प्ररूपणा १९१, गुणस्थानों की अपेक्षा संज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्याप्त के कर्मबन्ध का विचार १९२, कर्मों का सत्तास्थान १९२, कर्मों का उदयस्थान १९३, कर्मों के उदीरणास्थान पाँच : क्यों और कैसे? १९४, अष्टविधयों की प्ररूपणा का उद्देश्य १९५, चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वारों तथा अल्प-बहुत्व का यंत्र १९६।

(१०) मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण-१ पृष्ठ १९७ से २२५ तक

मार्गणा : एक सर्वेक्षण १९७, संसारी जीवों के आध्यात्मिक सर्वेक्षण हेतु : मार्गणास्थान १९७, लौकिक की तरह लोकोत्तर पदार्थों का चतुरंगी मार्गणाकथन १९८, मार्गणा और मार्गणास्थान का अर्थ, फलितार्थ और परिभाषा १९९, मार्गणा का उद्देश्य और मार्गणास्थानों का प्रतिफल १९९, मार्गणास्थान और गुणस्थान में अन्तर २००, मार्गणास्थानों के चौदह भेद २०१, चौदह मार्गणाओं के लक्षण २०१, (१) गतिमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २०६, (२) इन्द्रियमार्गणा के भेद और स्वरूप २०७, (३) कायमार्गणा के भेद और स्वरूप २०७, (४) योगमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २०८, (५) वेदमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २०८, (६) कषायमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २०९, (७) ज्ञानमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २१०, (८) संयममार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २१२,

(९) दर्शनमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २१६, (१०) लेश्यामार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २१६, (११) भव्यत्वमार्गणा के भेदों का स्वरूप २२०, (१२) सम्यक्त्वमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २२०, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के कार्यों में अन्तर २२१, (१३) संज्ञीमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २२३, (१४) आहारकमार्गणा के भेद और उनका स्वरूप २२४, चौदह मार्गणाओं के अवान्तर भेद : बासठ २२४, भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना अभीष्ट २२४, ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा में अज्ञान और असंयम क्यों? २२५, मार्गणास्थानों से प्रेरणा : हेयोपादेय-विवेक २२५।

(११) मार्गणास्थान द्वारा संसारी जीवों का सर्वेक्षण-२ पृष्ठ २२६ से २५८ तक

चौदह मार्गणाओं के बासठ उत्तरभेदों द्वारा जीवस्थान आदि छह का सर्वेक्षण २२६, मार्गणास्थानों में जीवस्थान की प्ररूपणा २२६, मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की प्ररूपणा २३१, अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान या तीन? : एक चिन्तन २३२, मार्गणास्थानों में योगों का सर्वेक्षण २३५, काययोग में ही मन-वचनयोग का समावेश क्यों नहीं? २३५, योगों के पन्द्रह भेद २३७, कार्मण काययोग की तरह तैजस् काययोग क्यों नहीं? २३७, निश्चयदृष्टि से सत्य-असत्य, ये दो योग ही २३८, कार्मण काययोग : अनाहारक अवस्था में २३८, मार्गणास्थानों में उपयोगों का सर्वेक्षण २४३, तीन योगों में उपयोगों की प्ररूपणा : विशेषापेक्षा से २४६, मार्गणाओं में लेश्याओं की प्ररूपणा २४८, चौदह मार्गणाओं में अल्प-बहुत्व-प्ररूपणा २४९, इस सर्वेक्षण से प्रेरणा और प्रगति का लाभ २५३, मार्गणाओं में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग और लेश्यादर्शक यंत्र २५४-२५८।

(१२) मार्गणाओं द्वारा गुणस्थानापेक्ष या बन्ध-स्वामित्व-कथन पृष्ठ २५९ से २९५ तक

मार्गणा : संसारी जीवों की विविध अवस्थाओं का अन्वेषण २५९, गुणस्थान : जीवों के आध्यात्मिक विकास-क्रम के सूचक २६०, गुणस्थान की विशेषता २६०, मार्गणाओं और गुणस्थानों के कार्य में अन्तर २६०, चौदह मार्गणाओं के नाम २६१, चौदह मार्गणाओं में सामान्यतया गुणस्थान-प्ररूपणा २६२, (१) गतिमार्गणा के माध्यम से बन्ध-विधान २६४, नरकगति के अधिकारी नारकों के लक्षण २६५, नरकगति में सामान्यतया कितनी प्रकृतियों का बन्ध? २६५, नरकगति में सामान्यतया ये उन्नीस प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधतीं? २६५, प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक में सौ प्रकृतियों का बन्ध २६६, सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक छियानवे प्रकृतियाँ बाँधते हैं २६६, मिश्र एवं अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती में सत्तर और बहत्तर प्रकृतियों का बन्ध २६७, अविरत सम्यग्दृष्टि नारक जीव के बहत्तर प्रकृतियों का बन्ध : क्यों और कैसे? २६८, सप्तनरकभूमि-स्थित नारकों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २६८, सातवें नरक में पहले से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती नारकों का बन्धस्वामित्व २६९, तिर्यंचगति में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७१, पर्याप्त-तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७१, पर्याप्त-तिर्यंचों के एक सौ सत्रह प्रकृतियों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७१, सास्वादन गुणस्थान में पर्याप्त-तिर्यंचों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७१, तृतीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्त-तिर्यंचों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७२, तृतीय गुणस्थानवर्ती पर्याप्त-तिर्यंचों की अबन्धयोग्य प्रकृतियाँ २७२, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती पर्याप्त-तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७२, पंचम गुणस्थानवर्ती पर्याप्त-तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७२, अपर्याप्त-तिर्यंच में प्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा २७३, पर्याप्त-मनुष्यों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७५, देवगति में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७५, देवगति में सामान्य से तथा कल्पद्विक में बन्ध-प्ररूपणा २७६, भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों में बन्धप्ररूपणा २७६, सनत्कुमार कल्प से पाँच अनुत्तरविमानवासी देवों के बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २७७, सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७७, आनत से नव-ग्रैवेयक और पंच-अनुत्तरवासी देवों की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७८, (२, ३) इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७८, इन्द्रिय का स्वरूप और प्रकार २७८, काय का स्वरूप और प्रकार २७९, इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा द्वारा बन्धस्वामित्व-कथन २७९, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक एवं तीन कायों में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २७९, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८०, (४) योगमार्गणा द्वारा बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८१, योग : स्वरूप, प्रकार और भेद २८१, काययोग के शेष भेदों का बन्धस्वामित्व २८२, कार्मण काययोग में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८३, आहारकद्विक में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८४, वैक्रिय काययोग में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८४, वैक्रियमिश्र काययोग में

बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८५, (५) वेदत्रय में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८६, (६) सोलह कषायों में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २८६, (७, ८) ज्ञानमार्गणा और दर्शनमार्गणा द्वारा बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८७, तीन अज्ञानों में बन्धस्वामित्व-निरूपण २८७, पाँच ज्ञान और चार दर्शनों में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २८८, (९) पंचविध संयम में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८९, (१०) सम्यक्त्वमार्गणा में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २८९, (११) आहारकमार्गणा में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २९१, (१२, १३) भव्यत्वमार्गणा तथा संज्ञित्वमार्गणा में बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २९२, (१४) लेश्याओं में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २९२, कृष्णादि तीन लेश्याओं में बन्धस्वामित्व की प्ररूपणा २९३, देवों और नारकों में द्रव्यलेश्याएँ अवस्थित, किन्तु भावलेश्याओं में परिवर्तन २९३, तेजोलेश्या से शुक्ललेश्या तक की बन्धस्वामित्व-प्ररूपणा २९४-२९५।

(१३) मोह से मोक्ष तक की यात्रा की चौदह मंजिलें पृष्ठ २९६ से ३३९ तक

वस्तुतः गुणस्थान मोह के तापमान की डिग्रियों को बताने वाला थर्मामीटर है २९६, चौदह गुणस्थानों का स्वरूप, स्वभाव, कार्य और गुण-प्राप्ति २९७, (१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी २९७, मिथ्यात्व गुणस्थान के अधिकारी कौन-कौन? २९८, मिथ्यात्व गुणस्थान को गुणस्थान क्यों कहा गया? २९८, मिथ्यात्व गुणस्थान को गुणस्थान क्यों कहा गया? ३००, अधःस्थिति से ऊपर उठने की शक्यता होने से गुणस्थान कहा गया ३०१, प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों की आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती ३०१, प्रथम गुणस्थान के काल की दृष्टि से तीन रूप ३०१, (२) सास्वादन गुणस्थान : लक्षण, महत्त्व और अधिकारी ३०२, (३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान ३०३, मिश्र गुणस्थान की विशेषताएँ ३०४, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३०६, इसे अविरत क्यों कहा गया? ३०६, सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाने से उत्क्रान्ति की ओर मुख ३०७, चतुर्थ गुणस्थान की कुछ विशेषताएँ ३०७, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि में अन्तर ३०८, अविरत सम्यग्दर्शन की उपलब्धि और उसका हेतु ३०९, सम्यग्दर्शन के विविध अपेक्षाओं से अनेक भेद ३०९, (५) देशविरत गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और विकास ३११, (६) प्रमत्त-संयत गुणस्थान : स्वरूप, कारण और अधिकारी ३१२, छठे गुणस्थान से आगे उत्तरोत्तर विशुद्धि ३१४, छठे गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एवं स्वामित्व ३१४, प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती ३१५, (७) अप्रमत्त-संयत गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३१५, छठे से सातवें और सातवें से छठे गुणस्थान में उतार-चढ़ाव : क्यों और कैसे? ३१६, पूर्व गुणस्थानापेक्ष या सप्तम गुणस्थान में अधिकाधिक विशुद्धि ३१६, सप्तम गुणस्थान के दो प्रकार ३१७, अप्रमत्त-संयत गुणस्थान से आरोह और अवरोह की स्थिति में ३१७, वर्तमानकाल में सातवें से ऊपर में गुणस्थानों की पात्रता नहीं ३१८, (८) अपूर्वकरण : निवृत्तिबादर गुणस्थान : एक चिन्तन ३१८, निवृत्तिबादर : अध्यवसायों के असंख्यात भेद होने से ३१९, स्थितिघात आदि पाँचों अपूर्वों का स्वरूप ३२१, स्थितिघातादि पाँचों का विधान अपूर्व होने से अपूर्वकरण नाम ३२२, इस गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की तैयारी ३२३, (९) अनिवृत्तिबादर-सम्पराय गुणस्थान (अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान) ३२३, आठवें और नौवें गुणस्थान में अन्तर ३२५, नवम् गुणस्थान के अधिकारी ३२६, (१०) सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३२६, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३२८, उपशान्तकषाय, वीतराग और छद्मस्थ गुणस्थान कैसे सार्थक? ३२८, इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति ३३०, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३३०, उपशान्तमोह एवं क्षीणमोह गुणस्थान में अन्तर ३३१, विशेषणों की सार्थकता ३३१, (१३) सयोगीकेवली गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३३२, (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान : स्वरूप, कार्य और अधिकारी ३३५, गुणस्थानक्रम : गाढ़ कर्मबन्ध से पूर्ण मोक्ष तक ३३७, आत्मा के विकास-क्रम की सात क्रमिक अवस्थाएँ ३३७, गाढ़ कर्मबन्ध से घातिकर्म-मुक्ति तक संवर और निर्जरा से विकास ३३८, चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर असंख्यगुणी निर्जरा ३३८, उत्तरोत्तर निर्जरा करने में कम समय लगता है ३३८, चौदह गुणस्थानों में शाश्वत-अशाश्वत कौन? ३३९।

(१४) गाढ़ बन्धन से पूर्ण मुक्ति तक के चौदह सोपान पृष्ठ ३४० से ३७९ तक

बन्ध से मुक्ति तक पहुँचने के लिए पर्वतारोहणवत् गुणस्थानारोहण आवश्यक ३४०, गुणस्थान क्रमारोहण कठिन है, पर असम्भव नहीं ३४१, गुणस्थान क्या है, क्या नहीं? ३४१, कर्म से सम्बद्ध होने से गुणस्थान क्रम को जानना आवश्यक ३४१, गुणस्थान से अनन्त संसारी जीवों की बन्धादि योग्यता नापी जा

सकती है ३४२, गुणस्थान-क्रम से जीव की आन्तरिक शुद्धि-अशुद्धि की नाप-जोख ३४२, गुणस्थान का तात्पर्यार्थ एवं शास्त्रीय अर्थ ३४३, गुणस्थानों का यह क्रम क्यों? ३४३, गुणस्थानों की सीमा : एक-दूसरे से सम्बद्ध : चौदह भागों में विभक्त ३४४, चौदह गुणस्थान चौदह श्रेणियों में विभाजित ३४५, मन्द-तीव्र पुरुषार्थी जीवों द्वारा गुणस्थानों का अवरोह-आरोह ३४६, मोक्ष-प्रासाद पर पहुँचने के चौदह सोपान : चौदह गुणस्थान ३४७, गुणस्थानों की क्रमिक अवस्थाएँ : मोहकर्म की प्रबलता-निर्बलता पर आधारित ३४७, गुणस्थानों का आधार ३४८, चौदह गुणस्थानों में उत्तरोत्तर दर्शन-चारित्रशक्ति की विशुद्धि ३४९, दुःख से पूर्ण-मुक्ति के हेतु रत्नत्रयोपलब्धि के लिए चौदह सोपान ३५०, गुणस्थान के ओघ, संक्षेप, गुण, जीवस्थान और जीवसमास नाम भी ३५०, चौदह गुणस्थानों के नाम ३५१, प्रथम गुणस्थान : स्वरूप, कार्य, प्रभाव ३५२, प्रथम गुणस्थान के अधिकारी कौन-कौन? ३५३, मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव : तीन कोटि के ३५३, मिथ्यात्व गुणस्थान में ही अभव्य, अपरिपक्व, तथाभव्य और परिपक्व तथाभव्य ३५३, परिपक्व तथाभव्यत्व की प्रक्रिया और उसका स्वरूप ३५४, परिपक्व तथाभव्य ओघदृष्टि से योगदृष्टि की ओर ३५५, मिथ्यादृष्टि होते हुए भी स्वल्पमात्र बोध-प्राप्ति ३५५, स्वल्पमात्र बोध के कारण श्रवण-सम्मुख और धर्म-सम्मुख होता है ३५५, दर्शनमोह की तीव्र एवं गाढ़ गाँठ : कितनी दुर्भेद्य, कैसे सुभेद्य? ३५६, ग्रन्थिभेद का कार्य कठिनतम : परन्तु असम्भव नहीं ३५७, मानसिक विकारों के साथ द्वन्द्व युद्ध के लिए उद्यत तीन प्रकार के विकासगामी जीव ३५७, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में त्रिविध वृत्तियों का अनुभव ३५८, त्रिविध विकासगामियों के मनोभावों का रूपक द्वारा स्पष्टीकरण ३५८, तीन व्यापारी मित्रों के समान तीन करणों का स्वरूप ३५९, दर्शनमोहमुक्तिपूर्वक सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए त्रिकरण करना अनिवार्य ३६०, तीनों करणों का ग्रन्थिभेद करने में क्या-क्या कार्य एवं उपयोग है? ३६१, चींटियों के रूपक द्वारा तीन करणों का स्पष्टीकरण ३६१, यथाप्रवृत्तिकरण का परिष्कृत रूप ३६२, गिरि-नदी-पाषाण-न्यायवत् आत्म-परिणामों की स्वल्प शुद्धि ३६२, यथाप्रवृत्तिकरण के दो प्रकार : सामान्य और विशिष्ट ३६३, अपूर्वकरण : स्वरूप और विशेषता ३६४, तीन करणों में अपूर्वकरण की दुर्लभता और महत्ता ३६५, अपूर्वकरण राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रन्थिभेदन में सर्वाधिक उपयोगी ३६५, अपूर्वकरण में बलप्रयोग ही प्रधान क्यों? : एक चिन्तन ३६५, अनिवृत्तिकरण : कब, कैसा और कैसे-कैसे? ३६६, अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया के बीच में अन्तरकरण : स्वरूप और कार्य ३६६, तीनों करणों के माध्यम से आध्यात्मिक विकास के प्रथम सोपान पर ३६७, चतुर्थ गुणस्थान की भूमिका में विपर्यासरहित सच्ची अध्यात्मदृष्टि ३६७, चतुर्थ गुणस्थान : अविरत सम्यग्दृष्टि-प्राप्ति का अवर्णनीय आनन्द ३६८, चतुर्थ गुणस्थान-प्राप्ति से आगे की भूमिका द्वारा स्वरूप-स्थिरता-प्राप्ति का विश्वास ३६९, पंचम देशविरति गुणस्थान से छठे सर्वविरति गुणस्थान-प्राप्ति की चेष्टा ३७०, उपशमश्रेणी का स्वरूप और कार्य ३७२, क्षपकश्रेणी का स्वरूप और कार्य ३७२, दोनों श्रेणियों में अन्तर ३७३, तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान में आत्मा की सभी शक्तियों का पूर्ण विकास ३७४, चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान का स्वरूप और कार्य ३७४, द्वितीय-तृतीय गुणस्थान का स्वरूप और विश्लेषण ३७५, तृतीय गुणस्थान का स्वरूप और कार्य ३७६, चौदह गुणस्थानों में क्रमिक आत्मिक उत्कर्ष का विहंगावलोकन ३७६, निष्कर्ष ३७८-३७९।

(१५) विविध दर्शनों में आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाएँ पृष्ठ ३८० से ३९४ तक

आत्मिक गुणों की शुद्धि की तरतमतानुसार कर्मबन्ध से उत्तरोत्तर मुक्ति ३८०, आत्मा का विकास-क्रम : कर्मक्षय-पुरुषार्थ का फल ३८०, आध्यात्मिक विकास-क्रम : संक्षेप में तीन अवस्थाओं में ३८१, प्रारम्भ के गुणस्थानत्रयवर्ती जीवों की बहिरात्म संज्ञा ३८२, अन्तरात्मभाव का प्रारम्भ और उसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था ३८२, परमात्मदशा : दो गुणस्थानों में ३८३, आध्यात्मिक विकास-क्रम का निष्कर्ष ३८४, चौदह गुणस्थानों में से किसमें कौन-सा ध्यान? ३८४, गुणस्थानों और ध्यानों के वर्णन से आगे बढ़ने की प्रेरणा ३८५, अन्य दर्शनों में आत्मिक विकास-क्रम का निरूपण ३८५, योगवेत्ता जैनाचार्यों की दृष्टि में तीन अवस्थाएँ ३८८, योगदर्शन की दृष्टि में चित्त की पाँच अवस्थाएँ ३८८, चित्त की पाँच अवस्थाओं और गुणस्थानों में कितना सादृश्य, कितना विसादृश्य? ३९०-३९४।

(१६) गुणस्थानों में जीवस्थान आदि की प्ररूपणा पृष्ठ ३९५ से ४२० तक

गुणस्थान का उद्देश्य, स्वरूप और कार्य ३९५, गुणस्थान : विकास-क्रम की उपलब्धियों के सूचक

३९५, गुणस्थान : मोहकर्म की न्यूनाधिकताएँ : गुणों की शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता के मापक ३९६, गुणस्थानों में जीवस्थान आदि प्ररूपणीय विषय ३९६, (१) गुणस्थानों में जीवस्थान की प्ररूपणा ३९७, (२) गुणस्थानों में योगों की प्ररूपणा ३९७, (३) गुणस्थानों में उपयोगों की प्ररूपणा ३९९, (४) गुणस्थानों में लेश्या की प्ररूपणा ४००, (५) गुणस्थानों में बन्धहेतु प्ररूपणा ४०१, जितने अधिक बन्धहेतु, उतने अधिक कर्मबन्ध ४०१, बन्धहेतुओं के रहने तक उन-उन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता रहता है ४०२, कर्मों के मूल-बन्धहेतु और उनका स्वरूप ४०२, मूल-बन्धहेतु : उनके भेद और स्वरूप ४०३, गुणस्थानों में मूल-बन्धहेतु की प्ररूपणा ४०४, एक सौ बीस प्रकृतियों के यथासम्भव मूल-बन्धहेतु ४०४, गुणस्थानों में उत्तर-बन्धहेतुओं की सामान्य और विशेष प्ररूपणा ४०७, गुणस्थानों में उत्तर-बन्धहेतुओं की संख्या ४०७, (६) गुणस्थानों में मूल कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा ४१०, (७, ८) गुणस्थानों में सत्ता और उदय की प्ररूपणा ४११, (९) गुणस्थानों में उदीरणा की प्ररूपणा ४११, (१०) गुणस्थानों में अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा ४१३, अल्प-बहुत्व : उत्कृष्ट संख्या पर आधारित ४१४, (११) गुणस्थानों में पाँच भावों की प्ररूपणा ४१५, चौदह गुणस्थानों में पाँच भावों के मूल भेदों की प्ररूपणा ४१६, चौदह गुणस्थानों में पाँच भावों के उत्तरभेदों की अपेक्षा से प्ररूपणा ४१७, एक जीवाश्रित भावों के उत्तरभेदों की प्ररूपणा ४१८-४१९। गुणास्थानों में जीवस्थान आदि की प्ररूपणा का यंत्र ४२०।

(१७) गुणस्थानों में बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा प्ररूपणा — पृष्ठ ४२१ से ४६३ तक

आत्मा पर लगे बन्धादि के संयोग-वियोग का गुणस्थानों द्वारा लेखाजोखा ४२१, (१) बन्धाधिकार ४२२, कर्मबन्धयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे? ४२२, बन्धयोग्य एक सौ बीस, उत्तर-कर्मप्रकृतियाँ : एक दृष्टि में ४२२, गोम्मटसार के अनुसार भेदविवक्षा से एक सौ छियालीस भेद ४२३, एक सौ बीस प्रकृतियाँ ही बन्धयोग्य क्यों, शेष क्यों नहीं? ४२३, बन्ध की उत्तरोत्तर न्यूनता और बन्धशून्यता ही जीवन का लक्ष्य ४३२, (२) सत्ताधिकार ४३२, चौदह गुणस्थानों (कर्म) सत्ता की प्ररूपणा ४३२, बन्ध और सत्ता में अन्तर ४३२, सत्ता का स्वरूप और दो रूप ४३३, सत्ता का परिष्कृत स्वरूप और प्रकार ४३४, सत्ता के दो प्रकार : सद्भावसत्ता, सम्भवसत्ता ४३४, दोनों का उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण ४३४, सत्ता के अन्य प्रकार ४३४, सत्तायोग्य एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियाँ : कौन-कौन-सी? ४३५, दूसरे-तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले से ग्यारहवें गुणस्थान में सत्ता की प्ररूपणा ४३६, दूसरे-तीसरे गुणस्थान में सत्ता की प्ररूपणा ४३७, ग्यारहवें गुणस्थान तक एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों की सत्ता : क्यों और कैसे? ४३७, सामान्य की अपेक्षा प्रथम से ग्यारहवें तथा दूसरे-तीसरे गुणस्थान में सत्ता-प्ररूपणा ४३७, चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक में सत्ता-प्ररूपणा ४३८, उपशमश्रेणी वाले चार गुणस्थानों में सत्ता की प्ररूपणा ४३८, क्षपकश्रेणी वाले चार गुणस्थानों में सत्ता की प्ररूपणा ४३८, नौवें गुणस्थान के दूसरे से नौवें भाग तक में सत्ता की प्ररूपणा ४४०, (३, ४) उदयाधिकार और उदीरणाधिकार ४४३, उदय और उदीरणा के स्वरूप में अन्तर ४४३, जिस कर्म का बन्ध, उसी का फलभोग : अन्य का नहीं ४४३, सामान्यतया उदययोग्य प्रकृतियाँ : कितनी और कैसे? ४४४, प्रथम गुणस्थान में उदययोग्य एक सौ सत्रह प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे? ४४४, द्वितीय गुणस्थान में उदययोग्य एक सौ ग्यारह प्रकृतियाँ : क्यों और कैसे? ४४५, चौदहवें गुणस्थान में तीस प्रकृतियों का उदय-विच्छेद और बारह प्रकृतियों का उदय ४५३, उदय से उदीरणा में विशेषता ४५४, छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणा में समानता ४५४, उदय की अपेक्षा उदीरणा में विशेषता : सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक ४५४ (१) बन्धयंत्र ४५६, (२) सत्तायंत्र ४५८, (३) उदययंत्र ४६०, (४) उदीरणायंत्र ४६२-४६३।

(१८) औपशमिकादि पाँच भावों से मोक्ष की ओर प्रस्थान — पृष्ठ ४६४ से ५०३ तक

जीव के औपशमिकादि पाँच भाव ४६४, समुद्र और उसकी लहरों की तरह जीव और उसके पंच भाव ४६४, जीव के पाँच भाव ४६४, आत्मा के स्वतत्त्वरूप पंचविध भाव जीवद्रव्य में, जीवद्रव्य से ही उठते हैं ४६५, पाँचों भाव जीव के स्वतत्त्व : असाधारण गुण : तात्पर्यार्थ ४६५, जीवद्रव्य : औपशमिकादि पाँचों भावों से युक्त ४६६, पाँच भाव : आत्मा की पंचविध पर्यायें या अवस्थाएँ ४६६, जीवों में पाँचों भाव, पुद्गलादि द्रव्यों में नहीं ४६७, पाँचों में से किस जीव में कितने भाव? ४६७, आत्मा के स्वरूप के विषय में अन्य दर्शनों और जैनदर्शन का मन्तव्य ४६७, पाँच भावों की उत्पत्ति में साधन ४६८, पाँच भावों को

जानने-पहचानने से लाभ ४६८, पाँच भावों को जानना आवश्यक : क्यों और कैसे? ४६९, पाँच भाव : जीव की पाँच अवस्थाएँ ४६९, पाँच भावों में स्वाभाविक-वैभाविक, शुद्ध-अशुद्ध, बन्धक-अबन्धक : कौन-कौन? ४७०, औपशमिक को प्राथमिकता क्यों, औदयिक को क्यों नहीं? ४७०, औपशमिक भाव : स्वरूप, फल और कार्य ४७१, उपशम किस कर्म का, कौन-कौन-सा और क्यों? ४७२, औपशमिक भाव का परिष्कृत लक्षण तथा उपलब्धि ४७३, औपशमिक भाव का फल ४७३, औपशमिक भाव का कार्य ४७३, औपशमिक भाव से मोक्षाभिमुख गति-प्रगति और पराक्रम ४७४, औपशमिक भाव के भेद-प्रभेद और उसका महत्त्व ४७४, औपशमिक भाव द्वारा मोक्ष के शिखर के निकट पहुँचने का पराक्रम ४७५, क्षायिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल ४७६, औपशमिक और क्षायिक भाव में अन्तर ४७७, क्षायिक भाव की नौ विशिष्ट उपलब्धियाँ ४७८, क्षायिक भाव भी उपचार से कर्मजनित है ४७९, केवलज्ञानी का औदयिक भाव बन्ध का कारण नहीं है ४७९, अर्हत भगवान की क्रियाएँ औदयिक होते हुए भी क्षायिक हैं ४८०, क्षायोपशमिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल ४८०, क्षायोपशमिक भाव का रहस्यार्थ और कार्य ४८१, चार घातिकर्मों के क्षायोपशम से निष्पन्न क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद ४८२, ये अठारह भेद क्षायोपशमिक क्यों? ४८३, क्षायोपशमिक भाव के तीन कार्य : कौन-कौन-से? ४८४, ये और ऐसे क्षायोपशमजनित भाव क्षायोपशमिक हैं ४८५, चार घातिकर्मों में से किस-किस कर्म में किन-किन भावों का प्रादुर्भाव? ४८६, औदयिक भाव : स्वरूप, कार्य और फल ४८६, सामान्य रूप से औदयिक भाव के अनन्त और मुख्य रूप से इक्कीस प्रकार ४८७, अज्ञानादि पर्याय : किन-किन कर्मों के उदय से? ४८८, इन सबको भी औदयिक भाव में समझने चाहिए ४८८, औदयिक भाव का कार्य और फल ४८८, मोहजनित भाव ही औदयिक भाव है, शेष औपचारिक ४८९, पारिणामिक भाव : स्वरूप, कार्य, प्रकार और फल ४८९, साधारण-असाधारण पारिणामिक भाव-निर्देश ४९०, आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिक भाव ४९१, औदयिक आदि पाँच भावों के दो-दो भेद और प्रभेद ४९२, सान्निपातिक भाव : स्वरूप, प्रकार और कार्य ४९६, पाँच भावों के कुल तिरेपन भेद ४९६, सान्निपातिक भाव के विविध संयोगी छब्बीस भेद ४९७, ये मुख्य भाव कितने-कितने, किस-किस में प्राप्त होते हैं? ४९८, गुणस्थानों के साथ भावों की योजना ४९९, प्रथम गुणस्थान में दर्शनमोह का उदय भी, आंशिक क्षयोपशम भी ५००, पाँच भावों में से प्रत्येक कर्म में प्राप्त भाव का निर्देश ५००, पाँच भावों की प्ररूपणा क्यों और प्रेरणा क्या? ५०१, कर्ममुक्ति की ओर बढ़ने के लिए औपशमिकादि तीन भावों को अपनाओ ५०२, गुणस्थानों में औपशमिक आदि भावों की प्ररूपणा का यंत्र ५०३।

(१९) ऊर्ध्वारोहण के दो मार्ग : उपशमन और क्षपण — पृष्ठ ५०४ से ५२७ तक

दो प्रकार के पर्वतारोही के तुल्य : दो प्रकार के श्रेणी-आरोहक ५०४, मोक्षशिखर पर पहुँचने के लिए दो प्रकार का श्रेणी-आरोहण ५०५, उपशमश्रेणी आरोहण का अभ्यास-क्रम ५०५, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के आरोहकों में अन्तर ५०६, दोनों श्रेणियों का दो प्रकार का कार्य और क्रम ५०६, उपशमश्रेणी द्वारा ऊर्ध्वारोहण का मार्ग ५०६, उपशमश्रेणी का स्वरूप, प्रारम्भ और पतन-क्रम ५०६, उपशमश्रेणी का प्रस्थान : चौथे गुणस्थान से या सप्तम गुणस्थान से? ५०७, उपशमश्रेणी-प्रस्थापक द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायोपशम किस क्रम से? ५०७, यथाप्रवृत्तकरण का कार्य ५०७, अपूर्वकरण का कार्य ५०८, चारित्रमोह के सर्वांगीण उपशम का क्रम ५१०, अन्तरकरण के नियम ५१०, क्रमशः नोकषायों और कषायों के उपशमन की क्रम-प्ररूपणा ५१२, कुछ शंकाएँ : कुछ समाधान ५१४, उपशमश्रेणी में मोहनीय कर्म की सर्वप्रकृतियों का उपशम : लाभ-हानि ५१५, उपशमश्रेणी के पश्चात् शान्त कषाय, पुनः उत्तेजित और पतन ५१६, क्षपकश्रेणी द्वारा ऊर्ध्वारोहण का मार्ग ५१८, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के कार्य और फल में अन्तर ५१८, क्षपकश्रेणी में क्षय होने वाली तिरेसठ प्रकृतियाँ ५१९, क्षपकश्रेणी में प्रकृतियों के क्षय का क्रम ५१९, सयोगीकेवली अवस्था की स्थिति तथा केवली भगवान का कार्य ५२४, योगनिरोध का क्रम ५२५, सयोगी से अयोगीकेवली होने के लिए अवशिष्ट प्रकृतियों के क्षय का पुरुषार्थ ५२५, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों की मोक्ष की ओर दौड़ ५२७।

(२०) ऋणानुबन्ध : स्वरूप, कारण और निवारण — पृष्ठ ५२८ से ५५६ तक

दीर्घमार्ग-यात्री के समान दीर्घसंसार-यात्री को भी कटु-मधुर अनुभव ५२८, ऋणानुबन्ध या बन्ध-परम्परा का कारण और स्वरूप ५२९, ऋणानुबन्ध नाम की सार्थकता ५२९, ऋणानुबन्ध कैसे-कैसे

चुकता है, कैसे बँधता है? ५३०, शुभ ऋणानुबन्ध की कुछ विशेषताएँ ५३१, व्यवहार से एक भव परिमित सुख का लाभ, परमार्थ से सिद्धिलाभ ५३१, शुभ ऋणानुबन्ध से व्यवहार की अपेक्षा परमार्थ में विशेष लाभ ५३२, अमुक व्यक्ति के प्रति ही अमुक का आकर्षण, शुभ ऋणानुबन्ध के कारण ५३२, एक ही भव में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के ऋणानुबन्ध का उदय ५३२, ऋणानुबन्ध निकाचित होने पर तीव्रता से कार्यान्वित होता है ५३३, ऋणानुबन्ध से मुक्ति : एक ही भव में दुष्कर ५३३, अधिक शुभ ऋणानुबन्धी भवों की बड़ी संख्या लाभदायी, किन्तु अशुभ की संख्या पीड़ाकारी ५३४, भवों की संख्या अधिक हो तो बल और फल भी अधिक, संख्या कम हो तो दोनों कम ५३४, प्रत्येक गति के जीव का तथा एक गति के जीव का अन्य गति के जीव के साथ ऋणानुबन्ध के अनुसार सम्बन्ध ५३४, मनुष्य-मनुष्य के बीच ऋणानुबन्ध का उदय ५३५, मनुष्य का तिर्यंच के साथ शुभ-अशुभ ऋणानुबन्ध का उदय ५३९, मनुष्य और देव के बीच परस्पर ऋणानुबन्ध का उदय ५४४, तिर्यंच और देव के बीच भी ऋणानुबन्ध का उदय ५४९, ऋणानुबन्ध के उदय में आने पर कर्मों की निर्जरा ५५१, ऋणानुबन्ध का नियम अटल और अबाधित ५५२, ऋणानुबन्ध के नियमों को जानने से बद्ध कर्मों का निरोध और क्षय आसान ५५३, उदाहरणों पर मनन करके स्थिर बुद्धि बनें ५५३, ऋणानुबन्ध के नियमों को जानने से लाभ ५५३, ऋणानुबन्ध के अशुभ उदय को अप्रभावी, शान्त और क्षीण करने के उपाय ५५५, विशेष संकट उपस्थित होने पर शान्ति का उपाय ५५५-५५६।

(२१) रागबन्ध और द्वेषबन्ध के विविध पैंतरे पृष्ठ ५५७ से ५९२ तक

राग और द्वेष : दो प्रकार की विद्युत् के समान ५५७, राग और द्वेष सम्बन्ध जोड़ता है, वही बन्धन है ५५८, राग-द्वेष : दुःखवर्द्धक, चारित्रनाशक, सद्गुण-शत्रु ५५८, राग-द्वेष और कर्मबन्ध : एक ही सिक्के के दो पासे ५५९, विषयों के निमित्त से राग-द्वेष, उनके कारण कर्मबन्ध और फिर दुःख ५६०, राग-द्वेष की तीव्रता : भव-परम्परा का कारण ५६०, राग-द्वेष जितना उत्कट, उतना ही दुःखदायी ५६५, कषायों के समान राग-द्वेष की भी छह डिग्रियाँ ५६५, राग हो या द्वेष : अन्त में दुःखदायी ही है ५६६, राग-द्वेषयुक्त कोई भी प्रवृत्ति परिणाम में दुःखदायी होगी ५६६, द्वेष भी विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, परिणाम में दुःखदायी है ५६६, राग और द्वेष, दोनों की परिणति दुःखदायी : क्यों और कैसे? ५६७, जहाँ राग, वहाँ द्वेष और जहाँ द्वेष, वहाँ राग प्रायः होता ही है ५६८, राग और द्वेष के विविध रूपान्तर और विकल्प ५६८, राग और द्वेष की चतुर्भंगी ५६९, प्रथम विकल्प : राग से राग की वृद्धि ५६९, द्वितीय विकल्प : राग का द्वेष में रूपान्तर ५७०, तीसरा विकल्प : द्वेष का राग में रूपान्तरण ५७२, चतुर्थ विकल्प : अल्प-द्वेष से अधिक द्वेष ५७३, द्वेष की मात्रा में वृद्धि के अन्य कारण भी ५७४, संसार में राग की अधिकता है या द्वेष की? ५७५, राग ज्यादा खतरनाक है या द्वेष? ५७९, राग की अपेक्षा द्वेष शान्त न किया जाए तो अकल्प्य हानि ५७९, राग-द्वेष से समस्त आत्म-साधनाओं की क्षति ५८०, राग-द्वेष से तपस्या निरर्थक हो जाती है ५८०, ज्ञानादि पंचाचार की साधना तीव्र राग-द्वेष सहित है तो निरर्थक है ५८१, राग-द्वेष से सर्वाधिक हानियों के विविध पहलू ५८२, ग्रन्थिभेद से प्राप्त सम्यक्त्व-रत्न को राग-द्वेष पुनः बढ़ाते ही खो देता है ५८३, राग-द्वेष आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं : क्यों और कैसे? ५८३, राग-द्वेष : सम्यक्त्वगुणघातक, आत्म-गुणघातक, स्व-विकासघातक ५८३, राग-द्वेष करने से कर्ता का ही नुकसान, सामने वाले का नहीं ५८३, राग-द्वेष-प्रेरित व्यक्ति समभावी वीतरागों का कुछ भी नुकसान न कर सके ५८४, मंदरागी के लिए कौन-सा पथ उपयोगी? ५८४, राग कहाँ तक व्यक्त, अव्यक्त या क्षीण? ५८५, रागभाव बन्ध का कारण और मोक्ष का प्रतिबन्धक ५८५, नीचे की भूमिका में अप्रशस्त राग-द्वेष को छोड़कर प्रशस्त राग-द्वेष अपनाएँ ५८६, प्रशस्त राग अपनाने से पहले ५८९, प्रशस्त राग मन्द बुद्धि श्रद्धालुओं के लिए कैसे प्रादुर्भूत हो? ५९०, प्राथमिक भूमिका में राग या रागी का त्याग, त्यागी या त्याग का आश्रय लेने से होता है ५९०, प्रशस्त द्वेष : स्वरूप और अध्यवसाय ५९१, प्रशस्त या अप्रशस्त राग-द्वेष व्यक्ति के शुभाशुभ अध्यवसायों पर निर्भर ५९१-५९२।

●●

कर्मविज्ञान : छठा भाग

खण्ड ९ — कुल पृष्ठ १ से ५२८ तक

संवर तत्त्व के विविध स्वरूपों का विवेचन

निबन्ध २४ — पृष्ठ १ से ५२८ तक

(१) कर्ममुक्ति के लिए चार तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक — पृष्ठ १ से १० तक

बन्ध एवं मुक्ति का विज्ञान है कर्मविज्ञान १, साधक को चार तथ्यों का ज्ञान आवश्यक २, सर्वप्रथम आस्रव और बन्ध को जानना आवश्यक २, ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से तोड़ो ३, कषाय, नोकषाय आदि राग-द्वेष के ही बेटे-पोटे ४, कर्ममुक्ति और उसके हेतु को जानना आवश्यक ४, तनाव आदि मानसिक रोग : कारण और निवारण ५, मनोरोगचिकित्सा के लिए भी चार बातों का ज्ञान आवश्यक ५, कर्मरोग-मुक्ति के उपाय : संवर और निर्जरा ७, आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा क्या है? ७, पातंजल योगदर्शन में भी दुःखत्रयमुक्ति का उपाय ८, बौद्धदर्शन में दुःखमुक्तिरूप निर्वाण के उपाय ९-१०।

(२) धर्म और कर्म का कार्य, स्वभाव और प्रभाव — पृष्ठ ११ से २५ तक

धर्म और कर्म : परस्पर विरोधी या संवादी? ११, धर्म और कर्म का कार्यक्षेत्र ११, संवर-निर्जारूप धर्म का प्रभाव १२, शुभ कर्मफल को धर्मफल मानना : महाभ्रान्ति १२, पुण्यफल को धर्म का फल मानने से आत्मिक हानि १४, धर्म और पुण्य को एक मानने से शुद्ध धर्ममूल्यों की हानि १४, धर्म की उपासना करने पर भी जीवन में परिवर्तन क्यों नहीं? १५, धर्म के नाम से नाना भ्रान्तियाँ : धर्म की आत्मा लुप्त १५, धर्म करने और न करने वाले में क्या अन्तर है? १९, धर्म करने और न करने वाले दोनों पर भी कष्ट आता है २०, धार्मिक और अधार्मिक के कष्ट भोगने में अन्तर २०, शुद्ध धर्म का कार्य कर्म के कार्य से भिन्न है २२, धर्म से आन्तरिक चेतना में परिवर्तन होना चाहिए २३, विपत्ति दोनों पर आती है : क्यों और कैसे? २३, धर्म करने वाले की दृष्टि में धर्म का उद्देश्य २४, धर्माराधना और कर्माराधना करने वाले की विशेषता में अन्तर २५।

(३) धर्म और कर्म : दो विरोधी दिशाएँ — पृष्ठ २६ से ३८ तक

धर्म और कर्म का केन्द्र-बिन्दु और कार्य भिन्न-भिन्न हैं २६, मोहनीय कर्म आदि क्या-क्या करते हैं? २६, मोहनीय कर्म का कार्य मूर्च्छित, मूढ़ और विकृत करता है २७, चारित्रमोहनीय कर्म और संवर-निर्जरारूप धर्म का फल २७, मोहकर्म के विरोध में धर्म क्या कर सकता है? २८, धर्म का केवल उपासनात्मक रूप अपनाने से हानि २८, ये भय और प्रलोभन के आधार पर धर्म करने वाले २९, धर्म-पालन के प्रति कुतर्क और यथार्थ समाधान २९, धार्मिक के समक्ष दो ही तथ्य, अधार्मिक के समक्ष तीन तथ्य २९, धार्मिक व्यक्ति की तीन विशेषताएँ ३०, कर्मजनित सुख एवं धर्मजनित सुख में अन्तर ३१, सुख और दुःख में राग-द्वेष से हानि ३१, अन्तराय कर्म : स्वरूप, कार्य, निरोध और क्षय का उपाय ३३, नामकर्म : कार्य और स्वरूप ३४, गोत्रकर्म के आस्रव और बन्ध से संवर-निर्जरा द्वारा मुक्ति सम्भव ३५, आयुष्य कर्म का कार्य और उसका क्षय आदि ३६, धर्म की शक्ति त्रिवेणी द्वारा आठों ही कर्मों से मुक्ति सम्भव ३७-३८।

(४) संवर और निर्जरा : एक विश्लेषण — पृष्ठ ३९ से ५६ तक

सिंह और कुत्ते की दो प्रकार की वृत्ति ३९, जीव भी दो प्रकार की वृत्ति वाले हैं ३९, सिंहवृत्ति वाले उपादान को, श्वानवृत्ति वाले निमित्त को पकड़ते हैं ३९, श्वानवृत्ति वालों की प्रवृत्ति कैसी होती है? ३९,

ऐसी प्रतिक्रिया का दुष्परिणाम ४०, निर्बल व्यक्ति भी निमित्त के प्रति दुष्प्रतिकार या दुर्भावना करता है ४१, कष्ट के समय निमित्तों के प्रति प्रतिक्रिया करने वालों को चेतावनी ४२, श्वानवृत्ति का त्याग करने से संवर और निर्जरा का उपार्जन ४३, सिंहवृत्ति वाला साधक दुःख के मूल कारणरूप को पकड़ता है ४३, महासती सीता का सिंहवृत्तिमूलक चिन्तन ४४, सीता जी ने संवर-निर्जरा की साधना का अवसर नहीं चूका ४४, कैदी की मनोवृत्ति निमित्तों को दोष देने की नहीं होती ४६, संवर और निर्जरा की साधना तुम्हारी मुट्ठी में ४६, निमित्त तो कर्मसत्ता के आदेश का पालन करने वाला है ४७, संवर-निर्जरा-साधक के समक्ष तथ्य : सुख-दुःखकर्ता स्वयं आत्मा ही ४७, कर्मसत्ता को चुनौती देने की क्षमता किसी में भी नहीं ४७, अनिकाचित कर्मों को उदय में आने से पहले बदला जा सकता है ४८, निकाचित कर्मों को सम्यग्दृष्टि और समभावी बनकर भोगो ४८, हत्या करने का किसी का षड्यंत्र कर्मसत्ता विफल बना देती है ४८, कर्मसत्ता के द्वारा दिये गए दण्डादेश को टालना अशक्य ४९, कर्मसत्ता द्वारा दिये गए दण्डादेश को टालने वाले या उसके विरोधकर्ता को अधिक दण्ड ४९, तत्त्वज्ञ सम्यग्दृष्टि द्वारा समभाव से दण्ड भोगने पर सजा कम या माफ भी हो सकती है ५०, कर्म का दण्ड भुगताने वाले निमित्त को वह शत्रु नहीं मानता ५०, वह माध्यम (निमित्त) से लड़ता-भिड़ता नहीं ५१, सहन करो, प्रतिकार या मुकाबला मत करो ५१, प्रतिक्रिया-विरति के लिए इस प्रकार शीघ्र प्रतिक्रमण करो ५२, हिंसक-प्रतिकार का विचार आए तो अग्निशर्मा और गुणसेन के चरित्र को याद करो ५३, तीसरे मास के उपवास का पारणा टल जाने पर अग्निशर्मा का कोप और नियाणा ५४, अग्निशर्मा तापस की भयंकर भूल ने संवर-निर्जरा का अवसर खो दिया ५५, संवर और निर्जरा के साधक ने अन्त तक समभाव से कष्ट सहे ५५, कर्मसत्ता निमित्त पर प्रहार करने को सहन नहीं करती ५६, निमित्त को दण्ड देने का विचार तक न आने दो ५६।

(५) समस्या के स्रोत : आस्रव, समाधान के सोत : संवर — पृष्ठ ५७ से ७३ तक

समस्याओं का जाल क्यों और कौन बुनता है? ५७, आस्रव और संवर : समस्याओं तथा उनके समाधान का मूल स्रोत ५८, आस्रव की पाँच पुत्रियाँ ५८, प्रथम समस्या जननी : मिथ्यादृष्टि आस्रवसुता ५८, मिथ्यात्व का स्वरूप और तात्पर्यार्थ ५९, मिथ्यात्व के कारण अगणित समस्याएँ पैदा होती हैं ५९, मिथ्यात्व के कारण समस्याएँ समझ में ही नहीं आतीं ६०, यह सब मिथ्यात्व के नशे का ही प्रभाव है ६०, स्वयं के सम्बन्ध में अज्ञानता ही मिथ्यादृष्टि है ६१, अविद्या का स्वरूप और मिथ्यादृष्टि से सदृशता ६१, बहुकर्ममलिप्त मूढ़ व्यक्तियों को स्वरूप-बोध अतिदुर्लभ ६१, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से मिथ्यात्व का दायरा ६२, मिथ्यात्व के कारण नाना दुःखोत्पादक समस्याएँ ६२, वस्तुतः मिथ्यात्व मकड़ी के जाल के सदृश है ६२, द्वितीय समस्या-जननी : अविरतिरूप आस्रव ६३, प्रमाद-आस्रव : समस्याओं का विशिष्ट जनक ६४, कषाय-आस्रव : समस्याओं का अचूक उत्पादक ६४, समस्याओं की पंचम जननी : योगों की चंचलता ६५, ये समस्याएँ पत्तों की समस्याएँ हैं, जड़ की नहीं ६५, मूल समस्या क्या है? उसको कैसे पहचानें? ६६, अपनी आत्मा को अपने आप से देखो-परखो ६६, जो एक को जानता है, वह सर्व को जान लेता है ६६, मूल पाँच समस्याएँ आस्रव की पाँच पुत्रियाँ हैं ६७, क्या गरीबी, अभाव आदि के कारण ये समस्याएँ खड़ी होती हैं? ६७, पूर्वोक्त समस्याओं का समाधान भी यथार्थ नहीं ६८, समाधान का स्रोत : संवर, उसके पाँच घटक ६८, मिथ्यादृष्टि से उत्पन्न समस्याओं का एकमात्र समाधान : सम्यग्दृष्टि ६८, अविरति से उत्पन्न समस्याओं का समाधान : विरतिरूप संवर ६९, अप्रमाद से अनेक समस्याओं का समाधान : कैसे और क्यों? ६९, योगत्रय की चंचलता कम होने पर ही आत्म-समाधि की सक्षमता ७०, सम्यग्दर्शन-संवर से पंचविध उपलब्धियाँ ७०, संसारी जीवन में आस्रव रहेगा : संवर ही उसे रोकने का उपाय है ७०, आस्रव और संवर : अपने हाथ में ७१, समस्याओं का एक और समाधान : रत्नत्रय-साधना ७१, समस्या को असली रूप में पकड़ने पर ही सही समाधान मिल जाता है ७२-७३।

(६) पहले कौन ? संवर या निर्जरा ? — पृष्ठ ७४ से ८९ तक

पहले क्या करें? ७४, पहले आस्रवों का निरोध ७४, पहले अशुभ कर्म-प्रवाह को रोकना होगा ७५, प्रथम संवर, फिर निर्जरा उपादेय है ७५, जैनागमों द्वारा संवर को प्राथमिकता देने का सयुक्तिक समाधान

७५, गलत पटरी पर आती हुई ट्रेन सर्वप्रथम रोकी जाती है ७७, पहले नये आते हुए पानी को रोकना जरूरी है ७७, सहसा पहले संवर और फिर निर्जरा कैसे करे? : एक उदाहरण ७८, आँधी के समय पहले द्वार और खिड़कियाँ बंद की जाती हैं ७९, 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' का रहस्य ८०, चिकित्सा-क्षेत्र में रोग को दबाने और मिटाने की उभयदृष्टि ८१, कभी-कभी रोग को तत्काल दबाना आवश्यक होता है ८१, कामरोग-पीड़ित के लिए सर्वप्रथम संवर मार्ग श्रेयस्कर ८२, सर्वप्रथम काम का उपशमन आवश्यक है ८३, इन्द्रियों को खुली छूट दे देने का दुष्परिणाम ८३, वृत्ति को सहसा शमित करने से क्या हानि, क्या लाभ? ८४, सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए पहले संवर आवश्यक ८५, आध्यात्मिक जगत् में दो दृष्टियाँ ८५, साधक की दृष्टि उपादान तक पहुँचे ८६, क्षपकश्रेणी के प्रयोग में असंख्यगुणी निर्जरा ८७, अपरिपक्व-साधक निर्जरा की भ्रान्ति में ८७, परिपक्व-साधक की दृष्टि एवं लगन ८७, साधक की प्रज्ञा संवर-साधना के साथ-साथ निर्जरा पर भी टिके ८८, परिपक्व-साधक संवर एवं निर्जरा दोनों को अपनाता है ८८, सामान्य-साधक की शुभयोग-संवररूप चर्या से उत्तरोत्तर विकास ८९।

(७) संवर और निर्जरा का प्रथम साधन : गुप्तित्रय — पृष्ठ ९० से ११० तक

आत्मारूपी गाड़ी के लिए सक्षमता आदि का विचार आवश्यक ९०, संवर और निर्जरा के उपार्जन के लिए सात प्रबल साधन ९०, संवर के मुख्य दो भेद : द्रव्य-संवर और भाव-संवर : लक्षण और कार्य ९१, संवर निवृत्तिपरक है ९२, संवर और सकामनिर्जरा की अर्हता : कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे? ९२, संवर के सत्तावन भेद : मुख्यतया निवृत्तिपरक ९२, संवर के पूर्वोक्त सत्तावन भेदों से संवर के साथ निर्जरा भी होती है ९३, संवर-निर्जरा-सेनानी कैसे कर्मशत्रुओं को प्रवेश से रोकते हैं? ९३, संवर का प्रथम साधन : गुप्तित्रय का प्रयोग ९४, तीन गुप्तियों के लक्षण ९५, गुप्तित्रय : सच्चे अर्थों में गुप्ति कब? ९६, गुप्तियों को क्रियान्वित करने के उपाय और लाभ ९७, मनोगुप्ति के दो रूपों से साधना में सरलता ९७, धर्मध्यान के चार अवलम्बनों पर मन की एकाग्रता ९७, मनोगुप्ति के लिए तीन स्वरूपों का चिन्तन ९७, मनोगुप्ति की साधना में सफलता के लिए तीन चिन्तन-बिन्दु ९८, मनोगुप्ति की साधना के दो मुख्य सोपान ९८, मनोगुप्ति से दो लाभ : एकाग्रता और विशुद्ध संयमाराधना ९८, संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ का लक्षण ९९, मनोगुप्ति की सम्यक् साधना के लिए ९९, मनोगुप्ति के चार प्रकार ९९, वचनगुप्ति के दोनों रूपों की साधना : संवर-निर्जरा की कारण १००, कब वचनगुप्ति, कब वचनगुप्ति नहीं? १०१, वचनगुप्ति के चार प्रकार और उनसे संवर कब तथा कैसे? १०१, वचनगुप्ति के लिए तीन प्रकार के वचनों से बचना, हटना १०१, वचनगुप्ति से आध्यात्मिक लाभ १०२, कायगुप्ति : क्या, क्यों और उसकी सफलता कैसे? १०२, शरीर को महत्त्व इतना क्यों? इसकी रक्षा क्यों? १०३, कायगुप्ति कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे की जाए? १०५, कायगुप्ति के दो रूप : साधना की सफलता के लिए १०५, कायगुप्ति के दो रूप : दूसरी अपेक्षा से १०६, आगमों में कायगुप्ति के प्रेरक कुछ रूपक १०६, कायगुप्ति का लक्ष्य : संवर और निर्जरा का अर्जन १०६, यह कायगुप्ति नकली या असली? १०६, गुप्ति-पालक के लिए संवर के तत्काल प्रयोग का निर्देश १०७, गुप्ति-पालन में सावधानी न रखे तो शीघ्र पतन १०८, समिति और गुप्ति दोनों प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप हैं १०९, तीनों गुप्तियों का व्यवहारदृष्टि से संक्षिप्त लक्षण १०९-११०।

(८) संवर और निर्जरा का द्वितीय साधन : पंच-समिति — पृष्ठ १११ से १३३ तक

प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर शुद्धता ही कर्ममुक्ति की यात्रा में उपयोगी १११, सम्यक् प्रवृत्ति मुक्तियात्रा में सहायक कैसे बनती है? १११, समिति क्या है? उससे संवर-निर्जरा कैसे हो सकती है? ११२, समिति का व्यवहार और निश्चयदृष्टि से अर्थ ११२, समितियाँ पाँच ही क्यों? ११३, सम्यक् विशेषण जोड़ने से ही वास्तविक समिति ११४, गुप्ति और समिति में अन्तर ११४, समिति का सम्यक् प्रयोजन : प्रमादरहितता तथा प्राणि-पीड़ा-परिहार ११५, पाँच समितियों का प्रयोजन, लाभ तथा संयमविशुद्धि ११५, ईर्यासमिति का लक्षण एवं विशेषार्थ ११६, ईर्यासमिति की परिशुद्धि के चार कारण तथा विशेष यतना ११७, ईर्यासमितिपूर्वक गमन में सावधानी ११८, चर्या करते समय साधक को दशवैकालिकसूत्र की चेतावनी ११८, ईर्यासमिति-पालन में कुछ सावधानी रखनी चाहिए १२०, ईर्यासमिति के कतिपय अतिचार : दोष

१२०, भाषासमिति : संवर और निर्जरा दोनों की कारण १२१, भाषासमिति : मौनरूप या व्यक्त भाषारूप? १२१, भाषासमिति का दोहरा कार्य १२२, भाषा : उत्थान की भी कारण, पतन की भी १२३, भाषासमिति और असमिति में अन्तर १२३, भाषासमिति : विभिन्न अर्थों में १२४, भाषासमिति की शुद्धि के लिए सुझाव १२४, वाक्य-शुद्धि कैसे-कैसे हो? १२५, भाषासमिति के अतिचार १२५, एषणासमिति : स्वरूप, उद्देश्य और तात्पर्य १२६, एषणासमिति का तीन एषणाओं द्वारा परिशोधन १२७, एषणासमिति के विवेकपूर्वक पालन से संवर और निर्जरा १२७, साधुवर्ग को आहार लेने और छोड़ने का विधान १२८, एषणासमिति के अतिचार १२९, आदान-निक्षेप-समिति : स्वरूप और विधि १२९, आदान-निक्षेप-समिति के अतिचार १३०, पंचम परिष्ठापनासमिति : स्वरूप, विधि और शुद्धि १३१, परिष्ठापन-शुद्धि : विवेक तथा अतिचार १३२, इन अष्ट-प्रवचन माताओं से संवर और निर्जरा कैसे? १३३, महाव्रती और अणुव्रती दोनों के लिए उपादेय, पालनीय १३३।

(९) संवर और निर्जरा का स्रोत : श्रमणधर्म — पृष्ठ १३४ से १६५ तक

शुद्ध धर्म ही इन सब दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय १३४, धर्म क्या है, क्या नहीं? १३७, क्षमादि दशविध धर्म कौन-कौन से? १३९, क्षमादि दशविध धर्म को उत्तम क्यों कहा गया? १३९, क्षमादि उत्तम धर्म श्रावकवर्ग और सम्यग्दृष्टिवर्ग के लिए भी है १३९, (१) उत्तम क्षमा : क्या, क्यों और कैसे? १४०, क्षमा क्या है? कैसे और कब हो सकती है? १४०, मिथ्यादृष्टि में अनन्तानुबन्धी क्रोध, सम्यग्दृष्टि आदि में क्यों नहीं? १४१, उत्तम क्षमा की सात कसौटियाँ १४१, क्षमा से अपार आत्मिक लाभ और क्रोध से अपार क्षति १४३, कायरता और क्षमा में बहुत अन्तर है १४४, उत्तम क्षमा : किसमें प्रगट हो सकती है, किसमें नहीं? १४४, श्रमणवर्ग को उत्तम क्षमा के लिए कैसे उद्बोधन करना चाहिए? १४५, वृद्ध पिता द्वारा युवक पुत्र से क्षमायाचना १४९, व्रतबद्ध क्षत्रिय गणाधिप चेटक की क्षमा १४९, (२) उत्तम मार्दव : क्या, क्यो और कैसे? १५०, धर्म की जन्म-भूमि : कोमल एवं मृदु मन १५०, मार्दव का स्वरूप १५०, मार्दव धर्म का अधिकारी कौन? १५०, जातिमद के कारण हरिकेशबल चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुए १५१, मार्दव धर्म से अनुपम लाभ १५१, मार्दव धर्म और मानकषाय : दोनों ही विरोधी १५१, क्रोध और मान दोनों ही पापजनक १५२, पर-पदार्थों के संयोग होने मात्र से अहंकार नहीं होता १५२, मार्दव धर्म : किस-किस भूमिका वाले में? १५३, मार्दव धर्म-प्राप्ति के लिए विविध उपाय १५३, अनन्तानुबन्धी कषाय वाले में मार्दव धर्म नहीं १५४, मार्दव धर्म-प्राप्ति के लिए देहादि के प्रति पर-बुद्धि, मानकषायादि के प्रति हेय बुद्धि आवश्यक १५५, मानकषाय के प्रति उपादेय बुद्धि के कारण रावण आदि नरकगामी बने १५५, (३) उत्तम आर्जव : धर्म, स्वरूप और उपाय १५५, सरलता है सिद्धि का मार्ग १५५, आर्जव क्या है, क्या नहीं? १५५, जहाँ माया कषाय नहीं, वहीं आर्जव धर्म है १५६, मायाचार से दुर्गति एवं जन्म-मरण की वृद्धि १५६, सरलता और वक्रता की चौभंगी १५७, सिद्धों में तथा एकेन्द्रियादि में मन-वचन-काया की एकरूपता क्या है? १५८, विपरीत रूप में मन-वचन-काया की एकरूपता से आर्जव धर्म नहीं होता १५८, निश्चयदृष्टि से उत्तम १५९, वस्तुस्वरूप को अन्यथा मानना अनन्त कुटिलता है १५९, चार प्रकार की माया में किसमें कितनी? १५९, आर्जव धर्म की उपलब्धि के लिए क्या होना चाहिए, क्या नहीं? १६०, (४) उत्तम शौच : धर्म १६०, तन-मन की पवित्रता का साधक १६०, लोभकषायवश सब प्रकार के पाप करने में तत्पर हो जाता है १६१, शौच धर्म कब प्रगट होता है? १६१, सामान्य पवित्रता शौच धर्म नहीं १६२, अन्य कई प्रकार के लोभ : एक चिन्तन १६२, शौच धर्म के साधक के लिए विचारणीय १६३, शौच धर्म की प्राप्ति के लिए उपाय १६४, स्वभाव से पवित्र आत्मा का आश्रय लेने पर ही शुचिता प्रगट होगी १६५।

(१०) दशविध उत्तम धर्म — पृष्ठ १६६ से १७८ तक

उत्तम आत्म-धर्म सीमाओं में बँधा हुआ नहीं १६६, (५) उत्तम सत्य : स्वरूप तथा साधनामार्ग १६६, सत्य ही भगवान है १६६, सत्य केवल वाणी का विषय नहीं १६७, सत्य : संवर-निर्जरा की साधना के लिए अनुपम १६७, सत्य को प्रायः जैनाचार्यों ने वाणी तक ही सीमित रखा है १६७, सत्याणुव्रत के लक्षण १६८, सत्य को जीवन में उतारने के लिए चार स्थानों से बाँधा गया है १६८, निश्चयदृष्टि से सत्य धर्म का

लक्षण १६८, (६) उत्तम संयम-धर्म : स्वरूप, प्रकार और उपाय १६९, संयम का लक्षण १७०, पंच-अनुत्तरवासी देवों के संयम क्यों नहीं? १७२, आन्तरिक वृत्ति की पवित्रता ही संयम, बाह्य प्रवृत्ति कम करना मात्र नहीं १७२, (७) उत्तम तप : स्वरूप, प्रकार और उपाय १७३, (८) उत्तम त्याग : एक अनुचिन्तन १७४, त्याग धर्म की महिमा और परिभाषा १७४, त्याग क्या है, क्या नहीं? : दान और त्याग में अन्तर १७४, त्याग धर्म के अन्तर्गत विविध प्रत्याख्यान १७५, (९) उत्तम आकिंचन्य-धर्म : एक अनुचिन्तन १७५, आकिंचन्य धर्म का अर्थ और तात्पर्य १७५, वस्तु परिग्रह नहीं, वस्तु के प्रति मूर्च्छा परिग्रह है १७६, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य : एक अनुचिन्तन १७७, ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक जीवन के विकास का मेरुदण्ड है, इसके बिना दूसरे व्रत निःसार हैं, फीके हैं १७७, व्यवहारदृष्टि से ब्रह्मचर्य का लक्षण १७८, निश्चय-ब्रह्मचर्य-सापेक्ष व्यवहार-ब्रह्मचर्य-साधना से संवर-निर्जरा १७८।

(११) संवर और निर्जरा की जननी : भावनाएँ और अनुप्रेक्षाएँ — पृष्ठ १७९ से १९४ तक

सुविचारों और कुविचारों की क्षमता एवं महत्ता १७९, सुविचारों का पुनः-पुनः आवर्तन, भावन एवं अनुप्रेक्षण १७९, जैन-कर्मविज्ञान में भावना, अनुप्रेक्षा आदि शब्द एकार्थक हैं १८०, अनुप्रेक्षा के विविध अर्थ और लक्षण १८०, अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन और अभ्यास का फल एवं माहात्म्य १८२, अनुप्रेक्षा से विशिष्ट आध्यात्मिक लाभ १८२, कर्मबन्ध के चार प्रकार और उनकी अनुप्रेक्षा से परिवर्तन १८४, गाढ़बन्धन कैसे शिथिलबन्धन हो जाता है? १८४, अनुप्रेक्षा से स्थितिघात और रसघात कैसे हो जाता है? १८५, सभी भावनाओं से रासायनिक परिवर्तन १८६, अनुप्रेक्षा मानसिक चिन्तन-सापेक्ष होती है १८६, अनुप्रेक्षा की भावना-शक्ति १८८, प्रबल भावना की धारा से दुःसाध्य रोगी को स्वस्थ कर दिया १८८, अनुप्रेक्षा आध्यात्मिक सजेस्टोलोजी है १८८, अनुप्रेक्षा ब्रेनवाशिंग का काम कैसे करती है? १८९, शुभ भावनात्मक प्रार्थना या जाप से हृदय-परिवर्तन १८९, भावनात्मक अनुप्रेक्षा का माहात्म्य १९०, अनुप्रेक्षा का अपर नाम सखी भावना १९१, सामान्य भावना का भी जादुई असर १९२, भावना के प्रभाव से विष भी अमृत हो गया १९२, भावना से सर्दी-गर्मी में तथा गर्मी-सर्दी में परिवर्तित १९२, साधक की प्रबल भावना से आक्रामक बैल भी शान्त हो जाता है १९२, संत तुकाराम की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना १९३, भावना, भावितात्मा और भावनायोग की साधना १९३, भावना की सफल साधना के लिए सावधानी और अर्हताएँ १९४।

(१२) कर्ममुक्ति में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ — पृष्ठ १९५ से २२० तक

अनुप्रेक्षा के द्वारा ज्ञान आत्मसात् हो जाता है १९५, बारह अनुप्रेक्षाएँ : भवभ्रमण से मुक्ति-प्रदायिनी १९६, (१) अनित्यानुप्रेक्षा : स्वरूप, प्रयोजन और लाभ १९६, शरीर की आसक्ति सभी आसक्तियों का मूल है १९७, अमूढ़दृष्टि दुःख को जानता है, भोगता नहीं; मूढ़दृष्टि जानता भी है, भोगता भी है १९७, अनित्यता को जानने से लाभ १९८, अनित्यता को मानने की अपेक्षा जानना महत्त्वपूर्ण है १९९, भरत चक्रवर्ती द्वारा अनित्यानुप्रेक्षा से केवलज्ञान और सर्वकर्ममुक्ति १९९, निश्चयनय की दृष्टि से अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन २००, कार्लाइल को अनित्यानुप्रेक्षा से शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान २०१, (२) अशरणानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे? २०१, अशरणानुप्रेक्षा से संवर और निर्जरा का लाभ २०२, आत्मा के गुण ही जीव के लिए त्रैकालिक शरण हैं २०३, जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि दुःखों से कौन बचा सकता है? २०३, आत्मा के सिवाय कोई भी शरण या त्राण नहीं दे सकता २०४, अनाथी मुनि ने आत्मा की शरण कैसे स्वीकार की? २०६, हम आत्मा की ही शरण ग्रहण कर रहे हैं, दूसरे की नहीं २०७, अशरणानुप्रेक्षा के चिन्तन से आध्यात्मिक लाभ २०८, (३) संसारानुप्रेक्षा : स्वरूप और उपाय २०८, संसार क्या है, कैसा है, क्यों है? २०८, संसार की विचित्रता के स्वभाव का चिन्तन : संसारानुप्रेक्षा २०९, संसारानुप्रेक्षा का साधक अनुप्रेक्षा किस प्रकार करता है? २१०, पाँच प्रकार का संसार : संसारानुप्रेक्षा के लिए २११, संसारानुप्रेक्षा का फल : संवर, निर्जरा और मोक्ष २१२, संसार को दुःखनिधान भयंकर अरण्य मानकर चिन्तन २१३, संसारानुप्रेक्षा से थावच्चापुत्र ने महाश्रमण बनकर मोक्ष प्राप्त किया २१३, (४) एकत्वानुप्रेक्षा : स्वरूप, उपाय और परिणाम २१५, सहायक के परित्याग से एकत्वानुभूति का परिणाम

२१५, निश्चयदृष्टि से एकत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन कैसे करें? २१७, दो का संयोग दुःखकारक, एकाकी में कोई दुःख नहीं २१८, क्या अकेला रहना व्यवहार्य होगा? २१८, समूह में रहता हुआ भी अकेला रहे तो कैसे रहे? २१९, एकत्वानुप्रेक्षक कर्त्तव्य और दायित्व से भागे नहीं २१९, एकत्वानुप्रेक्षा का ठोस परिणाम २२०।

(१३) आत्म-रमण में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ पृष्ठ २२१ से २४२ तक

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा : स्वरूप, उपाय और परिणाम २२१, शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं २२१, शरीरादि का अभिमान समझने से हानि २२२, शरीरादि को आत्म-बाह्य कैसे समझें? २२२, आत्मा को शरीरादि से भिन्न मानने पर भी शरीरादि के प्रति उपेक्षा नहीं २२३, नौका और नाविक है-शरीर और आत्मा : एक चिन्तन २२३, शरीर और आत्मा को भिन्न और अभिन्न मानने की दृष्टि २२४, अन्यत्वानुप्रेक्षा से संवर और निर्जरा का लाभ २२५, अन्यत्वानुप्रेक्षा के लिए जागृति और सावधानी की प्रेरणा २२५, स्वजन भी स्व-जन नहीं, ममत्व के कारण दुःखभाजन २२५, आत्म-बाह्य कोई भी पदार्थ मेरा नहीं, अन्यत्व-चिन्तन है २२६, मृगापुत्र ने अन्यत्वभावना से आत्मा को भावित कर लिया था २२६, अन्यत्वानुप्रेक्षक के आध्यात्मिक व्यक्तित्व में भौतिक व्यक्तित्व से अन्तर २२७, शरीर को अन्य समझने पर निर्जरा लाभ २२७, (६) अशुचित्वानुप्रेक्षा : एक चिन्तन २२७, अशुचित्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन २२७, अशुचिमय यह शरीर प्रीति योग्य कैसे हो सकता है? २२७, शरीर की अशुचिमयता २२८, अशुचित्वानुप्रेक्षा का विधायक रूप २२९, शरीर के ऊपरी भाग को न देखकर आन्तरिक भाग को देखो २३०, सूक्ष्मशरीर के दुरुपयोग और सदुपयोग से हानि-लाभ २३०, कार्मणशरीर का रहस्य जान लेने पर बन्ध भी कर सकता है, संवर भी २३१, सनत्कुमार चक्रवर्ती की अशुचित्वानुप्रेक्षा २३१, (७) आस्रवानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे? २३२, आस्रव का स्वरूप, प्रकार और अनिष्टकारकता २३२, साम्परायिक आस्रव से होने वाली आत्म-गुणों की भयंकर क्षति २३२, त्रियोगों की तीव्र चंचलता के कारण कर्मबन्ध : एक उदाहरण २३३, आस्रव के बयालीस भेद और अशुभास्रवों से विविध दुःख-प्राप्ति २३४, आस्रवों से संचालित कितना परवश? २३५, आस्रवानुप्रेक्षा से अनन्त चतुष्टयी का प्रकटीकरण २३५, समुद्रपाल मुनि द्वारा आस्रवानुप्रेक्षा से कर्ममुक्ति २३६, (८) संवरानुप्रेक्षा : स्वरूप, लाभ और उपाय २३६, कर्मों से आत्मा की रक्षा करना संवर है २३६, भेदविज्ञान सिद्ध होने पर शुद्ध चैतन्यानुभूति २३७, आत्म-ज्ञानरमणता ही संवर का विधेयात्मक कार्य २३७, शुद्ध उपयोग में रहने से संवर की स्थिति सुदृढ़ २३८, व्यवहारदृष्टि से आस्रवों का निरोध : संवर २३८, संवर-साधना का चरम शिखर : अयोग-संवर २३९, अयोग-संवर आदि के लिए सुगम उपाय २४०, मनोगुप्ति से सर्वांगीण संवर की प्राप्ति २४१, संयम से संवर की उत्कृष्ट आराधना २४१, संवरानुप्रेक्षा का सुफल हरिकेशबल मुनि ने प्राप्त किया २४२।

(१४) भाव-विशुद्धि में सहायिका : अनुप्रेक्षाएँ पृष्ठ २४३ से २६८ तक

(९) निर्जरानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे? २४३, संवरानुप्रेक्षा के पश्चात् निर्जरानुप्रेक्षा : क्यों, कैसे? २४३, निर्जरानुप्रेक्षा से सर्वतोमुखी शुद्धि २४४, अवचेतन मन में संचित रागादि संस्कारों का रेचन निर्जरा द्वारा ही संभव २४४, निर्जरा का विशद स्वरूप, कार्य और प्रकार २४५, उसी की निर्जरा सार्थक होती है २४५, निर्जरा के प्रकार, स्वरूप और निर्जरानुप्रेक्षा २४६, निर्जरा के मूल कारण : द्वादशविध तप २४७, उत्कृष्ट निर्जरा : कैसे-कैसे और किस क्रम से? २४७, अधिकाधिक निर्जरा के अवसर २४८, पापिष्ठ अर्जुनमाली ने निर्जरानुप्रेक्षा से मोक्ष प्राप्त किया २४८, आलोचना-निन्दना-गर्हणा एवं आत्म-चिन्तन से महानिर्जरा २४९, (१०) लोकानुप्रेक्षा : एक अनुचिन्तन २५०, लोकानुप्रेक्षा : क्यों, क्या और कैसे? २५०, लोकानुप्रेक्षा का उद्देश्य २५०, लोकानुप्रेक्षा से लाभ २५१, शिवराजर्षि को लोकस्वरूपभावना से मोक्ष की उपलब्धि २५५, (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा : एक चिन्तन २५६, इस जगत् में दुर्लभतम वस्तु बोधि है २५६, बोधिदुर्लभतम : क्यों और कैसे? २५७, बोधि : जीवन का परम ध्येय : किसको सुलभ, किसको दुर्लभ? २५८, बोधि के विविध अर्थ और विशेषार्थ, परमार्थ २५९, भगवान ऋषभदेव के अट्ठानवे पुत्रों द्वारा की गई बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा २६०, (१२) धर्मानुप्रेक्षा : क्या, क्यों और कैसे? २६१, धर्म की

आवश्यकता और उपयोगिता २६१, धर्म के नाम पर चलने वाले धर्म-भ्रम २६२, धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? २६२, धर्म क्या है, क्या करता है? २६३, धर्म ही संवर, निर्जरा और मोक्ष का अवसर देने में समर्थ २६३, संकटों के समय सहन-शक्ति देने वाला धर्म ही है २६४, संवेग के विभिन्न प्रसिद्ध अर्थ और धर्मश्रद्धारूप अनुप्रेक्षा का अनन्तर-परम्पर फल २६५, धर्मानुप्रेक्षक क्या चिन्तन करें? २६५, धर्मानुप्रेक्षक का विशिष्ट धर्म-चिन्तन २६६, अर्हन्नक और धर्मरुचि : धर्मानुप्रेक्षा की प्रखर निष्ठा के ज्वलन्त उदाहरण २६७-२६८।

(१५) मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव पृष्ठ २६९ से २९४ तक

मैत्री आदि चार भावनाओं की उपयोगिता क्या? २६९, समूहबद्ध होने पर अनेक दोषों का उत्पन्न होना सम्भव २६९, विषमतामय संसार में चार कोटि के जीवों का संसर्ग व सम्पर्क २७०, चार कोटि के जीवों के साथ सम्पर्क होने पर चित्त में राग-द्वेषादि कालुष्य की उत्पत्ति २७०, चित्त की प्रसन्नता और निर्मलता के लिए चार भावनाएँ २७१, आत्मा को समभावनिष्ठ बनाने हेतु चार भावनाओं की अभ्यर्थना २७१, चार भावनाओं की उपयोगिता : अहिंसादि व्रतों की सुरक्षा के लिए २७२, चारों भावनाओं से आध्यात्मिक और सामाजिक लाभ २७३, मैत्रीभावना का प्रभाव २७४, हृदय में मैत्री की स्थापना से अलभ्य लाभ २७४, अपने आप से सत्य को खोजो, किसी को शत्रु मत मानो २७५, प्राणिमात्र को अपना मित्र मानो, किसी को शत्रु मानो ही मत २७५, समस्त जीवों के लिए मैत्री के द्वार खुले रखो २७६, सभी प्राणी हमें व हम सर्वप्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें २७७, मैत्रीभावना क्यों करें? २७७, मैत्रीभावना का उद्देश्य २७८, मैत्रीभावना का स्वरूप और उपाय २७८, मैत्री का फलितार्थ २७९, मैत्री का लक्षण और उद्देश्य २७९, विश्वमैत्री कि सिद्धि २८०, विश्वमैत्री साधक की उन्नत मनःस्थिति और उसका प्रभाव २८०, विश्वमैत्री के आदर्श तक पहुँचने का क्रम २८१, प्रमोदभावना का स्वरूप, व्यापकता और रहस्य २८१, यह प्रमोदभावना नहीं, प्रमोदभावना का नाटक है २८२, प्रमोदभावना से दूर व्यक्ति का मानस २८२, बाहर से प्रशंसा और अन्तर में दोषदृष्टि प्रमोदभावना नहीं २८३, गुणग्राहकता और चापलूसी में महान् अन्तर है २८३, जो जिसके विशिष्ट गुणों का चिन्तन करता है, वह एक दिन वैसा बन पाता है २८३, गुणग्राही व्यक्ति का हृदय : लोहचुम्बक के समान २८४, गुणानुरागी नहीं है तो सब जप, तप आदि निरर्थक हैं २८४, गुणान्वेषी दृष्टि विकसित होने पर अनेक आध्यात्मिक लाभ २८४, प्रमोदभावना में सर्वाधिक बाधक : दोषदृष्टि २८५, प्रमोदभावना के अधिकारी की अर्हताएँ २८५, करुणा मैत्रीभावना का ही विशिष्ट सक्रिय रूप है २८६, करुणाभावना का लक्षण २८६, मानवता के नाते भी करुणापूर्ण हृदय होना अनिवार्य २८६, करुणा आत्मा का स्वाभाविक गुण तथा धर्मवृक्ष की जड़ है २८७, ये सब करुणाभावना के ही अंग हैं २८७, करुणा की होली : हृदयहीनता और क्रूरतापूर्ण तर्क २८८, दुःखार्त्तों पर करुणा करने से व्यक्ति कर्मफलभोग में बाधक नहीं होता २८८, करुणाभावना के साधक को अनायास ही पुण्य का लाभ २८८, करुणापूर्ण हृदय भय और प्रलोभनों से विचलित नहीं होता २८९, सच्ची विश्वव्यापी करुणा से सामाजिक और आध्यात्मिक लाभ २८९, माध्यस्थ्यभावना क्यों और क्या है? २९०, ऐसे दुष्टों, दुर्जनों के प्रति माध्यस्थ्यभावना की कर्मबन्ध से बचने का मार्ग २९०, माध्यस्थ्यभाव का फलितार्थ मौनभाव है २९१, उनके प्रति न तो राग रखें, न द्वेष; मौन या उपेक्षाभाव ही हितावह २९१, माध्यस्थ्यभाव की सार्थकता २९२, दूसरों को गलत मान बैठना भी माध्यस्थ्यभावना में बाधक २९२, माध्यस्थ्यभावना का विवेकसूत्र : घृणा पाप से हो, पापी से नहीं २९३, माध्यस्थ्य गुणी-साधक सुधारने में विफल होने पर क्षुब्ध न हो २९३, प्रत्येक प्राणी स्वकृत कर्मानुसार सुनने को तैयार न हो तो द्वेषभाव न लाए २९४, माध्यस्थ्य गुण की परीक्षा २९४।

(१६) आत्म-मैत्री : कर्मों से मुक्ति का ठोस कारण पृष्ठ २९५ से ३१४ तक

अपने सुखों और दुःखों के कर्तृत्व और विकर्तृत्व के लिए स्वयं जिम्मेदार २९५, व्यवहार में मैत्री की छह कसौटियाँ २९५, ऐसी व्यावहारिक मैत्री प्रायः विश्वसनीय और चिरस्थायी नहीं २९६, व्यावहारिक जगत् में मैत्री और वैर के लिए दूसरा चाहिए २९६, व्यावहारिक जगत् में वैर-विरोध के मुख्यतया छह कारण २९६, अपराध के प्रतिशोध से वैर-परम्परा बढ़ती है २९८, वैरभाव के उद्गम स्थान : कषाय और

नोकषाय २९९, वैर से नहीं, अवैर (मैत्रीभाव) से ही वैर शान्त होता है २९९, मैत्रीभाव में प्रवृत्त होने के लिए पाँच चिन्तनसूत्र ३०३, पाँच चिन्तनसूत्रों पर विश्लेषण ३०३, महात्मा गांधी जी के जीवन में पाँचवाँ चिन्तनसूत्र था ३०५, गांधी जी के दाक्षिण्य गुण का एक उदाहरण ३०५, सहजमित्र और कृतमित्र ३०६, आध्यात्मिक जगत् में मैत्री के लिए दूसरे की जरूरत नहीं ३०६, दूसरों का अहित सोचने वाली आत्मा अपना ही अहित ज्यादा करती है ३०७, हिंसा आदि करके आत्मा स्वयं अपनी ही हिंसा करती है ३०७, हिंसादि करने वाले आत्मा को शत्रु बनाकर अपना ही अनिष्ट करते हैं ३०७, सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से समान ३०८, आत्मा को कब मित्र मानें, कब शत्रु मानें? ३०९, अपनी आत्मा की शुद्धि या अशुद्धि अपने हाथ में ३०९, गीता की दृष्टि में आत्मा ही आत्मा का बन्धु और शत्रु है ३१०, गजसुकुमार मुनि ने आत्मा को शत्रु होने से बचाकर मित्र बनाया ३१०, आत्मा को मित्र बनाने हेतु अपनी दृष्टि आदि बदलनी है ३११, आत्म-मैत्री का रहस्यार्थ ३११, सभी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ या विभाव आत्म-बाह्य हैं, उनके साथ मैत्री कैसी? ३१२, आत्मा से मैत्री-सम्बन्ध ही इष्ट ३१२, संयोग-सम्बन्धजनित मैत्री कितनी दुःखदायी, कितनी आत्म-मैत्री विस्मृतिकारिणी? ३१३-३१४।

(१७) विविध दुःखों के साथ मैत्री आत्म-मैत्री है — पृष्ठ ३१५ से ३३८ तक

आत्मा को मित्र बनाने के बजाय शत्रु क्यों बना लेता है? ३१५, ऐसी स्थिति में आत्म-मैत्री कैसे हो सकती है? ३१५, चिकित्सा क्षेत्र में दबा पीड़ा शान्त करने का अस्थायी उपचार है ३१६, दुःख क्यों आते हैं? उन्हें कौन देता है? ३१६, स्वाश्रित सुख-दुःख को पराश्रित मानने से दुःख बढ़ता है ३१६, सुख-दुःख स्वकृत मानने से लाभ : कैसे और किस उपाय से? ३१७, दुःख को अन्य कृत मानने वाले के प्रयत्न ३१८, सुख-दुःखानुभव अपने दोषों के कारण होता है ३१८, आत्मा शत्रु और मित्र : स्व-दोषों के कारण ३१९, दुःख का कारण स्वयं को मानने से दुःख-मैत्री ३१९, अपने दुःखों का कारण 'स्व' को मानिये ३१९, विपरीत परिस्थितियों में भी आत्म-मैत्री कायम रखने का उपाय ३२०, जो भी परिस्थिति प्राप्त है, उसी का सदुपयोग कर आगे बढ़ना है ३२१, दुःख-मैत्री- साधक द्वारा संवर-निर्जरा धर्म का अनुप्रेक्षण ३२२, अहंकारवश जीने वाले ये पापकर्म के प्रति निःशंक लोग ३२२, पापकर्म उदय में आने पर उन्हें नानी याद आ जाती है ३२३, पापकर्मियों की अन्तिम समय में करुण मृत्यु से बोध पाठ लो ३२३, सुख के प्रचुर साधन होने से कोई सुखी नहीं हो जाता ३२५, दुःख वस्तुओं के अभाव में नहीं, कामनोत्पत्ति में है ३२६, संसार में अनेक प्रकार के दुःख, उनके विभिन्न रूप और प्रकार ३२६, समस्त दुःखों के मूल कारण और उनके निवारण के दो मुख्य उपाय ३२७, सुख और दुःख राग और द्वेष के कारण : क्यों और कैसे? ३२७, राग-द्वेष का क्षय करना ही एकान्त मोक्ष-सुख का कारण ३२८, दुःखों के साथ मैत्री का फलितार्थ : वीतरागभाव या समभाव ३२८, चार दुःखों में अन्य सभी दुःखों का समावेश ३२९, जन्म दुःखमय है, इसे सुखमय बनाने हेतु जन्म-मरण का अन्त करो ३२९, रोगादि दुःखों को मित्र बनाने की पद्धति ३३०, रोग के साथ मैत्री करने के लिए चिन्ता आदि से छुटकारा ३३१, अभय और निश्चिन्तता से आत्माभिमुखी मैत्री ३३१, दृढ़ आस्थापूर्वक जप से कैंसर रोग मिट गया ३३२, आस्था के साथ भावना से रोग के साथ मैत्री स्थापित होती है ३३३, संकल्प-बल भी रोग के साथ मैत्री का अद्भुत उपाय ३३३, कष्ट-सहिष्णुता भी रोग के साथ मैत्री करने का अचूक उपाय ३३३, शुभ ध्यान से दुहरा लाभ ३३४, वृद्धावस्था के साथ मैत्री : एक अनुचिन्तन ३३४, बुढ़ापे के साथ मैत्री करने के पाँच मुख्य सूत्र ३३५, अनाग्रहीवृत्ति : बुढ़ापे के साथ सुखद मैत्री का उपाय ३३५, प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं को एडजस्ट करना मैत्री का मंत्र ३३५, बुढ़ापे में गृह-परिवार की चिन्ता से मुक्त होकर समाज-सेवा में लगे ३३५, इन्द्रिय-संयम, ज्ञाता-द्रष्टाभाव : बुढ़ापे के साथ मैत्री का एक सूत्र ३३६, बुढ़ापे के साथ मैत्री के लिए आहार-विहार संयम जरूरी ३३६, बुढ़ापे को मधुर के बजाय दुःखद और कटु न बनाएँ ३३७, मृत्यु के साथ मैत्री : एक अनुचिन्तन ३३७-३३८।

(१८) परीषह-विजय : उपयोगिता, स्वरूप और उपाय — पृष्ठ ३३९ से ३६१ तक

दुःखमुक्ति का राजमार्ग ३३९, दुःखमुक्ति : कब और कब नहीं? ३३९, परीषह-विजय का रहस्य ३३९, सुख-सुविधावादी का उभयलोक दुःखकर ३४०, स्वैच्छिक कष्ट-सहन : सुखद जीवन का नुस्खा

कर्मविज्ञान : सातवाँ भाग

खण्ड १० कुल पृष्ठ १ से ४८५ तक

संवर एवं निर्जरा तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

निबन्ध १६ पृष्ठ १ से ४८५ तक

(१) अप्रमाद-संवर का सक्रिय आधार और आचार पृष्ठ १ से २४ तक

प्रमाद से हुई ट्रेन-बस टक्कर से मृत्यु का भयंकर ताण्डव १, प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत्यु (जीवन) : क्यों और कैसे? २, जीवन में प्रमाद साधना को दूषित कर देता है ३, जान-बूझकर किये गये प्रमाद से साधना नष्ट ४, भगवान महावीर का उपदेश : समयमात्र भी प्रमाद मत करो ५, अप्रमाद के लिये मोहनिद्रा में सुप्त लोगों के बीच रहते हुए भी सर्वथा जाग्रत रहो ६, मृत्यु को साक्षात् खड़ी देख साधक प्रमाद नहीं कर पाता है ७, जीव अपने ही प्रमाद से दुःख पाता है ८, प्रमाद कर्म है और अप्रमाद धर्म : क्यों और कैसे? ९, प्रमाद-निरोध के मुख्य दो उपाय १०, इन्द्रिय-विषयों के प्रति प्रमाद के कारण जीवों की दुर्दशा ११, प्रमादी को सब ओर से भय, अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं १२, प्रमाद-सेवन के कारण और निवारणोपाय १२, अप्रमाद-संवर के लिए : इन्द्रियों के उपयोग में सावधान रहें १३, शरीर, इन्द्रियों आदि का स्वरूप समझकर प्रमाद में न फँसो १४, शरीरादि के साथ रहते हुए भी अप्रमत्त रहकर पराक्रम करें १४, प्रमादाचारी : स्वजनों के साथ रहते हुए भी उनमें आसक्त न हो १५, ऐसा अप्रमादाचारी साधक बार-बार जन्म-मरण करता है १६, अप्रमाद-संवर-साधक कैसे प्रमाद से बचकर चर्या करे? १६, प्रमाद का मोर्चा कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे? १६, यतनाशील अप्रमत्त-साधक की विशेषता १८, अप्रमाद-संवर के साधक की भावचर्या और द्रव्यचर्या कैसी हो? १९, अप्रमाद का स्वरूप, प्रकार और प्रयोग १९, अप्रमत्तता के दृढ़ अभ्यासी आत्मवान् के लिए छह बातें २०, प्रमाद-निरोध का एक प्रेक्टिकल पाठ २०, शुभ योग-संवर के रूप में अप्रमाद-संवर की एक सरल उदात्तीकरण-प्रक्रिया २३-२४।

(२) अकषाय-संवर : एक सम्प्रेरक चिन्तन पृष्ठ २५ से ५५ तक

रसबन्ध और स्थितिबन्ध कषाय से होता है २५, भगवान महावीर को भी दीर्घकाल तक वेदना भोगनी पड़ी २६, कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध-स्थितिबन्ध और संसार में स्थिति २६, कषाय का अर्थ ही संसार-वृद्धि है २६, अरिहन्त भी कषाय-रिपुओं का क्षय करके ही बनते हैं २७, अकषाय-संवर का तीव्र पराक्रम नहीं किया २८, क्या कषायों को अपनाए बिना काम नहीं चलता २८, कषाय आत्मा का स्व-भाव नहीं, विभाव है २८, अकषाय-संवर कैसे हो सकेगा, कैसे नहीं? २९, कषाय से आत्मा की तथा आत्म-गुणों की हानि ही हानि है २९, कषाय-सेवन से इहलोक और परलोक सर्वत्र सन्ताप २९, अधिक सुख किसमें है? : कषाय-सेवन से या अकषाय से? ३०, कषाय-सेवन से सुख-शान्ति नहीं ३०, कषायों के बिना भी जीवन-व्यवहार चल सकता है ३१, कषायों से दूर रहने का स्वभाव बनाने पर ही जीवन की सार्थकता ३१, कषायों का आश्रय लेने पर संसार बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं ३२, कषाय के निरोध या त्याग से आवृत्त आत्म-गुण प्रकट होंगे ३२, कषाय-त्याग से परम लाभ ३३, कषायों पर विजय कैसे प्राप्त हो? ३३, कषायों से अधोगति तथा अल्पलाभ : अनेकगुणी हानि ३३, वातादि विकारों से उन्मत्त की अपेक्षा कषायों से अधिक उन्मत्त ३४, साधकों के जीवन में कषायों का जबर्दस्त घेराव और परिणाम ३५, कषाय के कुचक्र में फँसा हुआ साधक ३६, कषायों का आक्रमण दसवें गुणस्थान तक होता रहता है ३८, पापकर्मजनित दुःखों से बचने का उपाय ३९, कषाय करने की आदत प्रायः बदलती नहीं ३९, कषायों के चक्कर में फँसकर स्वयं अशान्ति मोल लेना है ४०, क्रोधादि कषाय क्यों उत्तेजित होते हैं? ४०, कषाय के

हुआ ४५१, बालमुनि अतिमुक्तक केवलज्ञानी हुए ४५२, जीव-हिंसा के इन सब पापों को त्यागने से पापकर्म से मुक्ति ४५२, सुलसकुमार जीवहत्या के व्यवसाय से सर्वथा मुक्त रहा ४५३, श्रेणिक राजा को नरक-प्राप्ति क्यों? ४५३, (२) दूसरा मृषावाद नामक पापस्थान : क्या और कैसे-कैसे ? ४५४, असत्य के विभिन्न रूप और उनका फल दुर्गतिगमन ४५५, असत्य-सेवन का दुष्परिणाम : नरकगमन ४५६, असत्य-सेवन से विरत होने का सुफल ४५६, (३) तृतीय पापस्थान : अदत्तादान क्या है ? ४५६, चौर्यकर्म के भयंकर परिणाम ४५६, चोरी वही करता है, जिसकी आत्मा के प्रति वफादारी नहीं है ४५७, चोरी करने वाला अशान्ति फैलाता है ४५७, सभ्यतापूर्ण चोरियाँ भी होती हैं ४५७, अदत्तादान के मुख्य आठ प्रकार ४५८, स्वामि-अदत्त आदि का भावार्थ, तात्पर्यार्थ ४५८, अभग्नसेन चोर को चौर्यकर्म की भयंकर सजा ४५९, चौर्यकर्म से विरत होने वाले ऊर्ध्वारोही हुए ४५९, (४) चतुर्थ अब्रह्मचर्य (मैथुन) पापस्थान : स्वरूप और उत्पत्ति ४६१, अब्रह्मचर्य पापस्थान : स्व-धर्म को छोड़कर पर-धर्म में रमण करने से ४६१, ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है ४६२, निर्ग्रन्थ मुनिवर अब्रह्मचर्य का त्याग क्यों करते हैं? ४६२, ब्रह्मचर्य से सभी प्रकार से लाभ ४६३, ब्रह्मचर्य एक : लक्षण अनेक ४६४, मैथुन-सेवनरूप अब्रह्मचर्य के आठ अंग ४६५, अब्रह्मचर्य का फलितार्थ ४६५, एक अब्रह्मचर्य के सेवन से अन्य अनेक पाप ४६६, अब्रह्मचर्य से विरत होकर आध्यात्मिक विकास में ऊर्ध्वारोहण ४६६, (५) पंचम परिग्रह नामक पापस्थान : क्या और किस कारण से ? ४६७, पर-पदार्थों पर मूर्च्छा, आत्म-दृष्टि से विमुखता ४६७, पर-भावों में आसक्तिपूर्वक झुकाव ही परिग्रह का कारण है ४६८, परिग्रहवृत्ति के कारण सभी पाप किये जाते हैं ४६८, अतिपरिग्रही सुख-शान्तिपूर्वक जीवन-यात्रा नहीं कर पाता ४६८, तीव्र परिग्रह-पापस्थान से नरकगामिता अवश्यम्भावी ४६९, पर-पदार्थों के प्रति परिग्रहवृत्ति होने से दुर्गतिगामी बनना पड़ा ४६९, परिग्रह : पापकर्मबन्धक और दुःख का कारण ४७०, साधुवर्ग के पास धर्मोपकरण होने पर भी परिग्रह नहीं ४७१, वस्तु को ममता-मूर्च्छापूर्वक रखने या संग्रह करने की वांछा ४७१, सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक वस्तुएँ रखते हुए भी अन्तर से निर्लिप्त ४७२, समय आने पर त्याग करते नहीं हिचके ४७२, श्रावक मुख्यतः बाह्य परिग्रह की मर्यादा करता है ४७३, बाह्य पदार्थ परिग्रहरूप कब? ४७३-४७४।

(२३) अविरति से पतन, विरति से उत्थान-२ पृष्ठ ४७५ से ५०९ तक

(९-९) चार कषायरूप चार पापस्थान : क्या, क्यों और कैसे ? ४७५, (१०-११) राग-द्वेष आदि सब पर-भावोपजीवी विभाव हैं ४७७, आत्म-द्रष्टा क्रोधादि अनिष्ट परिणामों से बचता है ४७७, (१२) कलह भी दूसरों की ओर देखने से होता है ४७८, कलह सभी कषायों आदि पापों का सामूहिक रूप है ४७८, कलह से घोर पापकर्मों का बन्ध और उसका कटुफल ४७९, कलह दूसरों के साथ रागादियुक्त सम्बन्ध जोड़ने से होता है ४७९, कलह से बचने के लिए सुन्दर सुझाव ४८०, (१३) अभ्याख्यान भी परदोष-दर्शन से होता है ४८०, महासती सीता पर लगे अभ्याख्यान से कितनी हानि? ४८१, अभ्याख्यान पाप से बचने के लिए सुझाव ४८१, अभ्याख्यान के पाप से बचने का सुपरिणाम ४८१, धार्मिक-साम्प्रदायिक क्षेत्रों में भी अभ्याख्यान भयंकर है ४८२, अभ्याख्यानी द्वारा घोर कर्मबन्ध तथा कटुफल भोग ४८२, (१४) पैशुन्य नामक पापस्थान : क्या और क्यों होता है ? ४८३, अभ्याख्यान और पैशुन्य में अन्तर ४८३, पैशुन्यवृत्ति का दुर्व्यसन जीवन को नरक बना देता है ४८४, पैशुन्यवृत्ति के साथ-साथ अनेकों पाप और दुर्गुण ४८४, पैशुन्य पाप-सेवन का भयंकर दुष्परिणाम ४८५, चुगलखोरी से हानि ४८६, अभ्याख्यान और पैशुन्य से बचने के उपाय ४८६, (१५) पर-परिवाद भी भयंकर पापस्थान ४८६, पर-निन्दा के साथ कई दुर्गुण, कई पापस्थानों की वृद्धि ४८७, वीतराग परमात्मा की महानिन्दा, धर्मनिन्दा और गुरुनिन्दा के दुष्परिणाम ४८८, पर-निन्दा के पापकर्म से छूटने का एक उपाय : गुणानुराग ४८९, गुण-दोषदृष्टि-परायणता की अपेक्षा से चार कोटि के मानव ४९०, आत्म-निन्दा से आत्म-शुद्धि, पर-निन्दा से पापकर्मवृद्धि ४९०, आत्म-निन्दा करने का उत्तम तरीका ४९१, विधिवत् आत्म-निन्दा से आत्म-शुद्धि ४९१, (१६) सोलहवाँ पापस्थान : रति-अरति : एक भयंकर पापचक्र ४९२, रति-अरति-पापस्थान मनःकल्पित है, मनोगत है ४९३, रति-अरति तत्त्वविरुद्ध चिन्तन = अशुभ चिन्तन से होती है ४९३, पौद्गलिक पदार्थ के बनने-बिगड़ने से रति-अरतिभाव ४९४, कर्मसिद्धान्त का ज्ञान न होने से रति-अरति पाप का सेवन होता है ४९५, शरीर की

उत्पत्ति में रति और नष्ट होने पर अरति क्यों? ४९५, रति-अरति दोनों पृथक्-पृथक् क्यों नहीं, एक क्यों? ४९५, रति-अरति को पापस्थान क्यों माना गया? ४९६, रति-अरति के साथ अनेकविध पापकर्मों का संचय ४९६, रति-अरति की परिवर्तनशीलता में न बहकर व्यक्ति दृष्टि बदले ४९७, वस्तुस्वरूप का ज्ञान होने से रति-अरतिभाव नहीं होता ४९८, रति-अरति की पाप-प्रवृत्ति बंद करने से इस पापकर्मबन्ध से बच जायेगा ४९९, रति-अरति राग-द्वेष की पूर्वावस्था है ४९९, रति-अरति पापस्थान से बचने का सरल उपाय ४९९, सुलसा समता की साधना से रति-अरति दोनों ही प्रसंगों पर इनसे बच गई ५००, आत्मरति-परायण समत्व के साधक के लिए क्या रति और क्या अरति? ५००, मनरूपी पक्षी को समाधिरूपी पिंजरे में बंद रखो ५०१, मन को समाधि में स्थिर करने के लिए ध्यानरूपी वृक्ष पर आरूढ़ करो ५०१, (१७) सत्रहवाँ पापस्थान : माया-मृषावाद : एक अनुचिन्तन ५०२, माया-मृषावादी वारांगना के समान अनेकरूपता से युक्त ५०२, महात्मा और दुरात्मा में अन्तर : एकरूपता और विपरीतता ५०२, जान-बूझकर अपने बोले हुए वचन को भंग करने वाले भी माया-मृषावादी ५०३, माया-मृषावादी कैसा होता है, कैसा नहीं? ५०३, माया-मृषावादी की पहचान के लक्षण ५०५, बाघ का चमड़ा ओढ़े हुए गधे के समान माया-मृषावादी ५०५, माया-मृषावाद से विरत होने के उपाय ५०६, (१८) अठारहवाँ पापस्थान : मिथ्यादर्शनशल्य : एक चिन्तन ५०६, मिथ्यादर्शन का अर्थ और स्वरूप ५०६, मिथ्यादर्शन को शल्य क्यों कहा गया? ५०७, मिथ्यादर्शन में शेष सत्रह ही पापस्थानों का समावेश हो जाता है ५०७, युद्ध में अन्धे की तरह अज्ञानी मिथ्यात्वी भी विकारों के साथ युद्ध में विजयी नहीं हो पाता ५०८, मिथ्यादर्शन को पाप क्यों कहा गया? ५०८, मिथ्यादर्शनशल्य को निकालने के उपाय ५०९।

(२४) पतन और उत्थान का कारण : प्रवृत्ति और निवृत्ति पृष्ठ ५१० से ५२८ तक

जीव अठारह पापस्थानों से भारी होते हैं ५१०, आत्मा के अधोगमन के कारण : अठारह पापस्थान ५११, जीव पापों के सेवन से भारी और विरति से हलके होते दिखाई क्यों नहीं देते? ५११, तुम्बे पर लेप के रूपक द्वारा पापस्थानों से गुरुत्व-प्राप्ति का बोध ५१२, पापस्थानों से मुक्त मानव ऊर्ध्वगमन करता है, ५१२, पापकर्म न करने का भगवान का उद्‌बोधन ५१४, फिर भी पापकर्म क्यों और किसलिए करते हैं? ५१४, पापकर्मों के फल से कोई भी बच नहीं सकता ५१५, जिनके लिए पापकर्म करता है, फल भोगने में वे हिस्सा नहीं बँटाते ५१५, अविवेकी सुख-दुःख के मूल को नहीं सोचता ५१७, धर्मस्थानों में क्रिया करने से पाप नहीं धुल सकते ५१७, भय से पापकर्म न करने वाले भी पाप के फल से नहीं बच सकते ५१८, पापकर्म का भय नहीं, पापकर्म कोई देख न ले, यह भय है ५१८, अन्तर में पापकर्म-त्याग की प्रेरणा नहीं जगी, वहाँ पापकर्म-त्याग सच्चा नहीं ५१८, पापभीरु का पाप-त्यागी की पहचान ५१९, पापकर्म के फल से छुटकारा अन्यान्य उपायों से नहीं, स्वयं पापकर्म छोड़ने से ही सम्भव है ५१९, पूर्वकृत पापकर्मों का फल देर-सबेर से भोगना ही पड़ता है ५२०, भगवान महावीर को भी अनेक भवों तक पापकर्मों का फल भोगना पड़ा ५२०, पापकर्मों से कौन बच सकता है? ५२०, अपने आप को न देखने से मनुष्य पापस्थानों की ओर बढ़ता है ५२१, पापस्थानों से विरत होने का दूसरा मूलमंत्र ५२१, आत्मा से आत्मा को सम्यक् प्रकार से देखो-जानो ५२२, आत्मा को आत्मा से देखने का रहस्यार्थ ५२२, पर-पदार्थ और उन्हें देखने से पापस्थानों की उत्पत्ति कैसे? ५२३, पर-भावों की ओर देखने वाला अभव्य कालसौकरिक ५२४, कालसौकरिक-पुत्र सुलसकुमार की हिंसादि पापों से विरति ५२४, यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से पापकर्म से बचाव हो सकता है ५२५, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का आत्म-दृष्टि-साधक पापकर्मों से सहज विरत हो जाता है ५२५, रागादियुक्त सम्बन्ध जोड़ने से नरक का निर्माण होता है ५२७, पर-पदार्थों की ओर नहीं झाँकने वाले को आध्यात्मिक विकासारोहण ५२७, पापस्थान अगणित, किन्तु उन सब का अठारह में परिगणन ५२७-५२८।

●●

कर्मविज्ञान : सातवाँ भाग

खण्ड १० कुल पृष्ठ १ से ४८५ तक

संवर एवं निर्जरा तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

निबन्ध १६ पृष्ठ १ से ४८५ तक

(१) अप्रमाद-संवर का सक्रिय आधार और आचार पृष्ठ १ से २४ तक

प्रमाद से हुई ट्रेन-बस टक्कर से मृत्यु का भयंकर तांडव १, प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत्यु (जीवन) : क्यों और कैसे? २, जीवन में प्रमाद साधना को दूषित कर देता है ३, जान-बूझकर किये गये प्रमाद से साधना नष्ट ४, भगवान महावीर का उपदेश : समयमात्र भी प्रमाद मत करो ५, अप्रमाद के लिये मोहनिद्रा में सुप्त लोगों के बीच रहते हुए भी सर्वथा जाग्रत रहो ६, मृत्यु को साक्षात् खड़ी देख साधक प्रमाद नहीं कर पाता है ७, जीव अपने ही प्रमाद से दुःख पाता है ८, प्रमाद कर्म है और अप्रमाद धर्म : क्यों और कैसे? ९, प्रमाद-निरोध के मुख्य दो उपाय १०, इन्द्रिय-विषयों के प्रति प्रमाद के कारण जीवों की दुर्दशा ११, प्रमादी को सब ओर से भय, अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं १२, प्रमाद-सेवन के कारण और निवारणोपाय १२, अप्रमाद-संवर के लिए : इन्द्रियों के उपयोग में सावधान रहें १३, शरीर, इन्द्रियों आदि का स्वरूप समझकर प्रमाद में न फँसो १४, शरीरादि के साथ रहते हुए भी अप्रमत्त रहकर पराक्रम करें १४, प्रमादाचारी : स्वजनों के साथ रहते हुए भी उनमें आसक्त न हो १५, ऐसा अप्रमादाचारी साधक बार-बार जन्म-मरण करता है १६, अप्रमाद-संवर-साधक कैसे प्रमाद से बचकर चर्या करे? १६, प्रमाद का मोर्चा कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे? १६, यतनाशील अप्रमत्त-साधक की विशेषता १८, अप्रमाद-संवर के साधक की भावचर्या और द्रव्यचर्या कैसी हो? १९, अप्रमाद का स्वरूप, प्रकार और प्रयोग १९, अप्रमत्तता के इच्छुक अध्यात्मी आत्मवान् के लिए छह बातें २०, प्रमाद-निरोध का एक प्रेक्टिकल पाठ २०, शुभ योग-संवर के रूप में अप्रमाद-संवर की एक सरल उदात्तीकरण-प्रक्रिया २३-२४।

(२) अकषाय-संवर : एक सम्प्रेरक चिन्तन पृष्ठ २५ से ५५ तक

रसबन्ध और स्थितिबन्ध कषाय से होता है २५, भगवान महावीर को भी दीर्घकाल तक वेदना भोगनी पड़ी २६, कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध-स्थितिबन्ध और संसार में स्थिति २६, कषाय का अर्थ ही संसार वृद्धि है २६, अरिहन्त भी कषाय-रिपुओं का क्षय करके ही बनते हैं २७, अकषाय-संवर का तीव्र पराक्रम नहीं किया २८, क्या कषायों के अपनाए बिना काम नहीं चलता २८, कषाय आत्मा का स्व-भाव नहीं, विभाव है २८, अकषाय-संवर कैसे हो सकेगा, कैसे नहीं? २९, कषाय से आत्मा की तथा आत्म-गुणों की हानि ही हानि है २९, कषाय-सेवन से इहलोक और परलोक सर्वत्र सन्ताप २९, अधिक सुख किसमें है? : कषाय-सेवन से या अकषाय से? ३०, कषाय-सेवन से सुख-शान्ति नहीं ३०, कषायों के बिना भी जीवन-व्यवहार चल सकता है ३१, कषायों से दूर रहने का स्वभाव बनाने पर ही जीवन की सार्थकता ३१, कषायों का आश्रय लेने पर संसार बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं ३२, कषाय के निरोध या त्याग से आवृत्त आत्म-गुण प्रकट होंगे ३२, कषाय-त्याग से परम लाभ ३३, कषायों पर विजय कैसे प्राप्त हो? ३३, कषायों से अधोगति तथा अल्पलाभ : अनेकगुणी हानि ३३, वातादि विकारों से उन्मत्त की अपेक्षा कषायों से अधिक उन्मत्त ३४, साधकों के जीवन में कषायों का जबर्दस्त घेराव और परिणाम ३५, कषाय के कुचक्र में फँसा हुआ साधक ३६, कषायों का आक्रमण दसवें गुणस्थान तक होता रहता है ३८, पापकर्मजनित दुःखों से बचने का उपाय ३९, कषाय करने की आदत प्रायः बदलती नहीं ३९, कषायों के चक्कर में फँसकर स्वयं अशान्ति मोल लेना है ४०, क्रोधादि कषाय क्यों उत्तेजित होते हैं? ४०, कषाय के

प्रत्येक पहलू को जानना और उस पर विजय पाना है ४१, कषायमुक्ति : परिणाम, उपाय और कारणों का दिग्दर्शक यंत्र ४२, अकषाय-संवर का एक उपाय : उदासीनता-अलिप्तता ४३, पृथ्वीचन्द्र की सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति निर्लिप्तता कैसी थी? ४३, भरत चक्रवर्ती की कषायों से निर्लिप्तता का रहस्य ४४, भरत चक्रवर्ती का अकषाय के विषय में चिन्तन ४५, कषाय-विजय के लिए प्रति क्षण जागृति आवश्यक ४६, प्रवृत्तियों में सर्वत्र कषाय-विजय का ध्यान रहे ४६, अकषाय-संवर की साधना के लिए दो उपाय ४७, अन्तर में उदित कषाय को निष्फल करने का स्पष्टीकरण ४७, क्रोध को कैसे सफल कर देता है मानव? ४७, क्रोध का तत्काल शमन करने के बजाय सफल करने का दुष्परिणाम ४८, सामान्य क्रोध भी विचारणा की खुराक देने से प्रबलतर हो जाता है ४९, क्रोध को सफल करने से नये कर्मों के उदय को अवकाश ४९, विभिन्न कषायों की गुलामी से आत्मघातक पुरुषार्थ का सिलसिला ४९, कषाय-निरोध का दूसरा उपाय ५०, प्रदेशोदय का चमत्कार ५१, छद्मस्थों के लिए कषायों के क्षय आदि का उपाय ५१, विपाकोदय को रोकना कैसे हो? ५१, कषायकर्मों के विपाकोदय को रोकना कषाय को जाग्रत होने से रोकना है ५१, कुछ अनुप्रेक्षाओं, भावनाओं से कषाय कर्मों का निरोध सम्भव ५२, दूसरों के प्रति क्रोधादि करके अपने अन्तर को मत बिगाड़ो ५३, क्रोधादि करने से सामने वाले में असद्भाव, अप्रीति और सेवाभाव हानि होती है ५३, क्षमादि की आराधना करके दुर्लभतम जिन-वचन-प्राप्ति को सफल करना चाहिए ५३, पद-पद पर क्रोधादि करने वाले में वीतराग धर्म की समझ कहाँ? ५४, पुण्य बेचकर कषायों को खरीदने से सावधान ५४-५५।

(३) कषायों और नोकषायों का प्रभाव और निरोध — पृष्ठ ५६ से ९९ तक

कषाय और नोकषाय क्या हैं? वे क्या अनिष्ट करते हैं? ५६, कषाय और नोकषाय के प्रकार ५७, क्रोध : प्रत्यक्ष ही सब कुछ बदलने वाला तस्कर ५७, शूद्र जन्मजात चाण्डाल, पर क्रोधी कर्म से चाण्डाल ५८, अकषाय-संवर को अपनाने से क्रोध शान्त हो गया ५९, एक क्षण का तीव्र क्रोध करोड़ पूर्व में अर्जित तप और चारित्र को नष्ट कर डालता है ६०, उत्पन्न क्रोध स्वयं का भी नाश करता है और दूसरों का भी ६०, तीव्र क्रोध से सारी आत्म-शक्ति और ऊर्जा-शक्ति नष्ट कर दी ६१, अग्निशर्मा क्रोधी और क्षमावीर गुणसेन ६१, अकषाय-संवर ने स्वयं को तथा क्रोधी गुरु को केवली बनाया ६२, प्रचण्ड क्रोध से वैर-परम्परा और क्रूर कर्मबन्ध ६३, अकषाय-संवर एवं समभाव से कर्मक्षय ६४, मान कषाय : आत्म-गुणों के विकास में कितना बाधक? ६५, बाहुबली मुनि मान कषाय में कैसे लिप्त हुए? ६५, मान कषाय को कौन पण्डित आश्रय देगा? ६६, मान कषाय की पहचान ६७, मान कषाय से कितनी हानि, कितना पतन? ६७, धन-सम्पत्ति आदि सब पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप मिलते हैं? ६८, मद करने वाले को हीन या विपरीत दशा प्राप्त होती है ६९, मान कषाय की उत्पत्ति में निमित्त कारण ७०, जात्यभिमान से नीच गोत्र का बन्ध ७०, जातिमद के कारण मेतार्य चाण्डाल जाति में उत्पन्न हुए ७१, कुलाभिमान के कारण भगवान महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पड़ा ७१, बलमद के कारण शक्ति का दुरुपयोग करने वाले नरकगामी होते हैं ७२, बाहुबली ने अपनी शक्ति का आत्म-हित में सदुपयोग किया ७२, रूपमद का दण्ड : सनत्कुमार चक्री ७२, तपोमद भी कितना अनिष्टकारक? ७३, लाभमद : जीवन को दुर्गति और आर्तध्यान में डालने वाला ७३, ज्ञान का मद भी मनुष्य को ज्ञानवृद्धि से वंचित कर देता है ७४, ऐश्वर्यमद का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ७४, मान विजय से संवर और निर्जरा का लाभ ७५, माया कषाय के अनेक रूप और स्वरूप ७५, माया से घोर पापकर्मबन्ध तथा दुर्गति-प्राप्ति ७५, बहुधा स्त्रियाँ माया-कपट करने में चतुर ७६, माया कषाय से आत्म-गुणों की कितनी हानि? ७६, सरल आत्मा शुद्ध होती है, उसी में धर्म टिकता है ७७, माया कषाय से बचने के उपाय और लाभ ७७, लोभ कषाय : समस्त दुर्गुणों और दोषों की खान ७७, पाप का बाप लोभ : एक ज्वलन्त दृष्टान्त ७८, लोभ विजय के अनूठे उपाय ७९, कपिल ने लोभ पर विजय प्राप्त करके केवलज्ञान पाया ७९, लोभ विजय से आत्म-शान्ति, सन्तोष ८०, नोकषाय : स्वरूप और अर्थ ८१, हास्य नोकषाय : स्वरूप और कटु फल ८१, रति-अरति-नोकषाय : क्या और कैसे? ८२, शोक नोकषाय : स्वरूप और हानि ८३, भय नोकषाय : क्या, कितने प्रकार एवं बचने का उपाय? ८४, भय मोहनीय कर्म : संवर और निर्जरा में बाधक ८४, भय से साधना में कितनी हानि, कितनी क्षति? ८५, भय के मुख्य सात निमित्त कारण ८६, मरणभय : किसको होता है, किसको नहीं? ८७, सत्यनिष्ठ

साधक मरणभय से नहीं डरता ८८, जुगुप्सा : अर्थ, स्वरूप एवं कारण ८९, वेदत्रय नोकषाय : क्या और कैसे? ९०, वेदत्रय नोकषाय बन्ध (आस्रव) के कारण ९१, वेद नोकषाय से बचने के उपाय : संवर-निर्जरा का लाभ ९१।

(४) कामवृत्ति से विरति की मीमांसा पृष्ठ ९२ से ११७ तक

क्या कामवृत्ति मौलिक मनोवृत्ति है? ९२, जैनदृष्टि से काम के दो रूप ९२, कामवासना से जीवन का सर्वनाश सम्भव ९२, उच्छृंखल कामभोगों पर नियंत्रण अत्यावश्यक ९२, कामवृत्ति के प्रमुख उत्पादक ९३, कामवृत्ति को जगाने में मूल कारण : आन्तरिक ९३, कामवासना के भड़काने में कारण : अशुभ संस्कार और निमित्त ९४, निमित्त मिलते ही कामवासना के संस्कार भड़कते हैं ९४, जैमिनी ऋषि को निमित्त ने पछाड़ दिया ९५, सिंह-गुफावासी मुनि को रूप का निमित्त ले डूबा था ९६, कोमल केश-स्पर्श अधःपतन का कारण बना ९६, अन्तर्मन में निहित काम-संस्कार निमित्त मिलते ही भड़क उठे ९६, अज्ञात मन में निहित कुसंस्कारों ने कामोत्तेजित किया ९७, निमित्त ने सुकुमालिका साध्वी की कामाग्नि प्रज्वलित की ९७, ब्रह्मचर्य-सिद्धि के लिए नौ गुप्तियाँ, दसवीं कोट ९८, इन निमित्तों से न बचने का दुष्परिणाम ९८, कामोत्तेजक के दृश्य निमित्तों से बचना आवश्यक ९९, काम-संवर-साधक इन निमित्तों से बचे ९९, अपरिपक्व-साधक के लिए अशुभ निमित्तों से बचना आवश्यक १००, उपादान शुद्ध व दृढ़ हुए बिना निमित्तों की उपेक्षा करना ठीक नहीं १००, उपादान शुद्ध व दृढ़ हुए बिना कामवृत्ति पर विजय पाना कठिन १००, कामवृत्ति पर विजय पाने के मुख्य दो उपाय १०१, साधनाकाल में भ्रान्तिवश निमित्ताधीन न हो १०१, कामविकार के निमित्त कहीं भी मिल सकते हैं १०१, उपादान को शुद्ध एवं सुदृढ़ बनाने के उपाय १०२, साध्य पर दृढ़ रहें : मोक्षलक्ष, धर्मपक्ष १०२, संवर और निर्जरा दोनों उपादान शुद्धि के लिए अपेक्षित हैं १०३, कामवृत्ति पर विजय के लिए निरोध और शोधन दोनों जरूरी १०३, शुद्ध उपादान वाला व्यक्ति कामवृत्ति का तुरन्त संवर कर लेता है १०३, रामकृष्ण परमहंस की कामवृत्ति-निरोध की परीक्षा १०३, विभूतानन्द जी ने तुरन्त काम-संवर कर लिया १०४, कामविजेता स्थूलिभद्र उत्तेजक निमित्तों के मिलने पर भी न डिगे १०४, विजय सेठ-विजया सेठानी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहे १०५, सुदर्शन सेठ कामोत्तेजक निमित्त मिलने पर तुरन्त सँभल गए १०५, इन आदर्श साधकों का अनुकरण नहीं करना है १०५, काम-संवर का तृतीय उपाय : परलोकदृष्टि एवं पापभीरुता १०५, काम-संवर का चौथा उपाय : परमेष्ठी-शरण १०६, काम-संवर का पंचम उपाय : दुष्कृतगर्हा, आलोचना, निन्दना १०६, इनसे वेदमोहनीय कर्म की निर्जरा होने से आत्म-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त १०६, आत्म-निन्दना एवं गर्हा के सुपरिणाम १०७, उत्कृष्ट पश्चात्ताप और प्रायश्चित से आत्मा शुद्ध हो गई १०७, काम-संवर का छठा उपाय : सुकृतानुमोदना १०७, उपादान शुद्ध होने पर भी निमित्त मिले तो प्रायश्चित से शुद्ध हो १०८, निमित्तों से बचने के लिए निम्नोक्त नियमों का पालन करे १०८, विजातीय के विकारी दर्शन से ब्रह्मचर्य-भंग होना सम्भव १०८, ब्रह्मचर्यनिष्ठ संन्यासी त्रिलोकनाथ जी का निमित्त मिलते ही पतन १०८, कामराग से सर्वथा निवृत्ति के लिए आध्यात्मिक उपायों का आलम्बन १०९, परमात्म-भक्ति से अकामसिद्धि और कषाय-नोकषाय नाश १०९, रामदुलारी परमात्म-भक्ति से पवित्र बनी १०९, नरसी मेहता को पत्नी-वियोग का दुःख परमात्म-भक्ति से मिटा ११०, त्रिविध सत्संग से कामवासना से विरति ११०, कामवृत्ति-निरोध का अमोघ उपाय : भावनाओं से आत्मा को भावित करना ११०, अकामसिद्धि के कतिपय प्रयोग १११, कामवृत्ति-नियंत्रण : इन्द्रिय और मन के विषयों पर राग-द्वेष न करने से ११२, ध्यानयोग द्वारा कामवृत्ति पर नियंत्रण ११२, योग-साधना की दृष्टि से कामवृत्ति-नियंत्रण : एक अनुचिन्तन ११२, ये निर्दोष चिकित्साएँ : काम-नियंत्रण में सहायक ११३, बाह्य-आभ्यन्तरतप भी कामवृत्ति पर नियंत्रण में सहायक ११४, तप और आहार-शुद्धि से कामोत्तेजना पर नियंत्रण ११४, कामवृत्ति का दमन या शमन करने में उपयोगी सूत्र ११४, लज्जा से भी कामवासना पर नियंत्रण सम्भव ११५, कुतूहलवृत्ति : काम की जननी ११५, मनोनीत सत्कार्य में मन लगाने से कामवासना शान्त होती है ११५, अब्रह्म-सम्बन्धी कृत पापों का पुनः-पुनः स्मरण उचित नहीं ११६, कामवासना दुष्कृत्य का तुरन्त या उसी दिन प्रतिक्रमण करो ११६, गुरु-कृपा भी काम-शमन में सहायक ११६।

(५) योग का मार्ग : अयोग-संवर की मंजिल पृष्ठ ११७ से १४७ तक

त्रिविध योग से जीवन नैया को खेने वाला नाविक ११७, योग से अयोग की मंजिल तक पहुँचने योग्य संसार-यात्रा ११७, सत्यद्रष्टा महर्षि ही संसार-समुद्र को पार कर सकते हैं ११८, उपयोग लक्षण जीव योग द्वारा क्यों और कब प्रवृत्त होता है? ११८, संसारी जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति त्रिविध योगों के संयोग से ११८, शरीर संयोगवश क्रिया, कर्म और लोक, तीनों का भोक्ता आत्मा ११९, योग द्वारा बाह्य स्थिति और उपयोग द्वारा आध्यात्मिक स्थिति ११९, संसारी आत्मा की प्रवृत्ति के लिए त्रियोग की आवश्यकता १२०, तीनों योग विवेकी के लिए कर्ममुक्ति में सहायक १२०, जहाँ योग है, वहाँ आस्रव है; अयोग है, वहीं संवर १२१, चौथे से तेरहवें गुणस्थान तक शुभ योग-संवर १२१, सर्वप्रथम प्रवृत्ति का विचार प्रायः मन में प्रादुर्भूत होता है १२४, मन में प्रादुर्भूत अन्तरंग भावधाराएँ : अशुभ, शुभ, शुद्ध १२४, अशुभ भावधाराओं से अशुभास्रव पापकर्मबन्ध और कटुफल १२४, शुभ भावधारा से शुभास्रव, पुण्य कर्मबन्ध और शुभ योग-संवर १२५, शुभ योग के दो प्रकार : प्रशस्त और अप्रशस्त : स्वरूप और अन्तर १२६, अप्रशस्त शुभ योग और अशुभ योग में अन्तर १२६, प्रशस्त शुभ योग-संवर से अयोग-संवर की भूमिका १२७, प्रशस्त शुभ योग-संवर की धारा का प्रतिफल १२७, गीतादर्शन और जैनदर्शन का योग के सम्बन्ध में मन्तव्य १२७, कर्मयोगी को अन्तिम समय तक कर्म न छोड़ने का निर्देश १२८, भगवान महावीर ने योग को मार्ग और अयोग को मंजिल कहा १२८, अन्य दर्शनों और जैनदर्शन की दृष्टि में अन्तर १२९, प्रशस्त शुभ योग के साथ-साथ शुद्धोपयोग, निर्जरा और अयोग-संवर की स्थिति १३०, प्रशस्त शुभ योगी त्रियोग को प्रशस्त शुभ योग में स्थिर रखने के लिए क्या करे? १३१, शरीर का मूल्यांकन और प्रयोग : सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि द्वारा १३२, शरीर का मूल्यांकन : विभिन्न दृष्टि वाले व्यक्तियों द्वारा १३२, विवेकी सम्यग्दृष्टि और अविवेकी असम्यग्दृष्टि द्वारा संसार परिशोषित और परिपोषित १३३, मानव-शरीर में शक्ति के तीन स्थान १३४, तीन कोटि के व्यक्ति १३४, शरीर का आध्यात्मिक मूल्यांकन १३५, सम्यक्त्वयुक्त शुभ योग-संवर की स्थिरता के लिए १३५, त्रियोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का सन्तुलन : शुभ योग-संवर के लिए आवश्यक १३७, योगों को सन्तुलित करने हेतु स्थिरता का अभ्यास करो १३८, प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ यतना को सम्पन्न करने की विधि १३८, भावक्रिया और द्रव्यक्रिया : स्वरूप, अन्तर और निष्पत्ति का उपाय १३९, भावक्रिया की निष्पत्ति के लिए तीन तत्त्वों पर ध्यान देवें १४०, त्रिविध योगों से समस्त प्रवृत्तियों संयम के हेतु से हों १४१, स्वरूपलक्षिता से अयोग-संवर की पूर्ण स्थिति प्राप्त होती है १४१, आत्म-स्थिरता होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति अयोग-संवर का रूप ले लेती है १४२, आत्म-स्थिरता प्रतिक्षण रखने के लिए मुख्य तीन उपाय १४४, निःस्वार्थभाव से संयम हेतु से की जाने वाली प्रवृत्ति भी निर्दोष है १४५, भगवदाज्ञा समझकर अनासक्त, निःस्पृह एवं समर्पणभाव से कार्य करने वाला संवर का आराधक है १४५, पनिहारिनों की तरह लक्ष्य में एकाग्रता हो तो अयोग-संवर सहज हो जाता है १४६, विधायक दृष्टिकोण के अभ्यासी साधक के लिए अयोग-संवर सुलभ १४६, संत एकनाथ के विधायक दृष्टिकोण से महिला की वृत्ति का परिवर्तन १४७, प्रतिक्रिया-विरति से भी अयोग-संवर सुलभ १४७।

(६) वचन-संवर की सक्रिय साधना पृष्ठ १४८ से १६६ तक

वाहनों की गति पर ब्रेक लगाने की तरह योगत्रय पर भी आवश्यक १४८, वचन पर ब्रेक न लगाने का दुष्परिणाम १४८, ब्रेक होने पर भी गाड़ी को अन्धाधुंध चलाने का परिणाम १४८, पुण्य और धर्म के बदले पाप और अशुभ बन्ध का उपार्जन १४९, योगत्रय-संवर परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध १४९, शुभ योग-संवर : कब होगा, कब नहीं? १४९, वचन-संवर आदि जीवन में कैसे क्रियान्वित हों? १५०, दूसरों की भूल देखने में शूरवीर : स्वयं की भूल देखने में कायर १५०, स्वयं की गलती को दबाने की कोशिश १५१, परिस्थितिवश हुई दूसरे की गलती के प्रति असहिष्णु १५१, सारी दुनिया की भूल सुधारने का ठेका अहंकारीवृत्ति है १५१, अनिवार्य परिस्थिति में दूसरे की भूल देखें, कहें या नहीं? १५२, भूल देखने, जानने और कहने का अधिकारी कौन? १५२, भूल किसे, कैसे और किस प्रकार कहना? १५३, भगवान महावीर ने गौतम स्वामी की भूल सुधारी १५३, भगवान ने महाशतक श्रावक की भूल सुधारी १५४, मेघ मुनि को

संयम में स्थिर और समर्पित कर दिया १५५, संघ-समर्पित साधु-साध्वियों को निर्याणा करने से रोका १५५, गोशालक को भूल बताने-कहने से भगवान क्यों विरत हो गए? १५५, विद्वेषी और झगड़ालू को भूल न बताकर मौन रहना श्रेयस्कर १५६, भूल बताना अनिवार्य हो तो किसको, कब, कैसे बताई जाय? १५६, स्थिरीकरण और उपबृंहण का रहस्य १५७, बार-बार टोकने की आदत से भी वैरानुबन्ध की संभावना १५८, बार-बार टोकने का दुष्परिणाम : अतिरोषवश मरकर सर्पयोनि में १५८, 'टक-टक' और 'टकोर' में बहुत अन्तर १५९, चैन-स्मोकर को बार-बार 'टक-टक' करने की पत्नी की प्रवृत्ति १६०, वाक्-संवर के इच्छुक को तुरन्त वहीं पर नहीं कहना चाहिए १६१, मालिक की हर बात पर डाँट-फटकार से नौकर नहीं सुधरता १६२, मालिक का तुरन्त आक्रोश नौकर को विद्रोही बना सकता है १६२, अहंकारग्रस्त व्यक्ति भूल कबूलवाने के चक्कर में १६२, वचन से तीखे प्रहार बनाम मधुर और सीमित शब्द १६२, दोनों पक्षों को कई प्रकार से संवर-लाभ : क्यों और कैसे? १६३, अत्यंकारी को कर्मास्रव-निरोधरूप संवर एवं शान्त जीवन का महालाभ १६४, सहृदयतापूर्ण शब्दों में उपालम्भ से उभय पक्ष को लाभ १६५, अभ्याख्यान, पैशुन्य और पर-परिवाद : वाक्-संवर में अत्यन्त बाधक १६६।

(७) योग्य क्षेत्र में पुण्य का बीजारोपण — पृष्ठ १६७ से १९८ तक

जैसा बीज : वैसा फल १६७, बीज बोने से पहले और पीछे : फल मिलने तक रखी जाने वाली सावधानी १६७, जीवन-क्षेत्र में आत्म-भूमि पर शुभाशुभ कर्मबीज का भी फल मिलता है १६८, पुण्य बीज के नौ प्रकार १६८, अशुभ योग से निवृत्त होने की अपेक्षा से शुभ योग-संवर कहा है १६८, पुण्य बीज बोते समय भी पात्रता और योग्यता का विचार करना अनिवार्य १६९, अनुकम्पापात्र, मध्यम सुपात्र और उत्कृष्ट सुपात्र : कौन-कौन, किस अपेक्षा से? १६९, पात्र का विचार करने के साथ देय वस्तु का भी विचार करना चाहिए १७०, दान : स्वरूप, विशेषता और उससे पुण्य, संवर और निर्जरा १७०, पात्र-अपात्र का विवेक अवश्य करना चाहिए १७२, देय वस्तु तथा विधि का विवेक भी दान में अनिवार्य है १७२, दान में उपर्युक्त विवेक से अफल-सुफल का विचार १७२, ये अन्ध-विश्वासयुक्त या परम्परागत अशुभ प्रवृत्ति, अशुभ भावात्मक हैं, शुभ भावात्मक नहीं १७३, चिकित्सक और वधक का कृत्य एक-सा होने पर भी शुभ-अशुभ भावों के कारण पुण्य-पाप १७४, वस्तु या पात्र मुख्य नहीं, दाता के भाव मुख्य हैं : कुछ ज्वलन्त उदाहरण १७४, इस सूत्रपाठ का 'परमार्थ' १७५, 'तथारूप' तथा 'पडिलाभेमाणस्स' शब्दों का रहस्ययुक्त फलितार्थ १७६, 'तथारूवं' तथा 'पडिलाभेमाणस्स' शब्दों से रहस्य फलित होता है १७७, अनुकम्पापात्र जीवों पर भी शुभ भावों से अनुकम्पा की वृत्ति-प्रवृत्ति करने से पुण्यबन्ध होता है १७७, सम्यग्दृष्टि और व्रती श्रावक भी स्वाश्रित जीवों या दुःखित-पीड़ितों की सहायता से पुण्य बाँधता है १७८, संसार के समस्त अनुकम्पनीय प्राणियों पर अनुकम्पा करने से पुण्यबन्ध और सातावेदनीय फल प्राप्त होता है १७९, मनुष्येतर जीव भी पुण्योपार्जन कर सकता है १८०, पंचस्थावर-कायिक जीव भी पुण्य उपार्जित करके सातावेदनीय का बन्ध कर सकते हैं १८०, नारक और निगोद के जीव भी पुण्योपार्जन कर सकते हैं १८१, मानवेतर प्राणी भी मानवों और अन्य प्राणियों को साता उपजाकर पुण्यबन्ध करते हैं १८१, एक आगमिक पुण्यकथा : मृग द्वारा मुनि को आहार दिलाने की १८२, नवविध पुण्य-प्राप्ति के विषय में भगवतीसूत्र के दो निर्जरापरक पाठ प्रस्तुत किये जाते हैं १८२, दोनों सूत्रपाठों को नवविध पुण्यपरक मानना भ्रान्ति है : क्यों और कैसे? १८३, पुण्य और निर्जरा को या पुण्य और धर्म को एक मानना भी भ्रान्तियुक्त है १८४, पुण्य और निर्जरा में भी महान् अन्तर है १८४, तथारूप श्रमण और माहन को दान देने से निर्जरा के साथ पुण्यबन्ध भी होता है १८५, श्रमण-निर्ग्रन्थ को आहारादि दान देने से उत्कृष्ट पुण्य एवं निर्जरा दोनों फल प्राप्त होते हैं १८६, पुण्य किस भूमिका में हेय है, किस भूमिका में उपादेय? १८७, पूर्वबद्ध कर्म और उसके उदयकाल के बीच के लम्बे सत्ताकाल में कर्मफल-परिवर्तन सम्भव १८७, घोर मिथ्यात्वी पापात्मक कर्मों को पुण्यात्मक रूप में बदल नहीं पाते १८८, एक बार भी पापात्मक कर्म-संस्कार पुण्योन्मुख होने पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुण्यात्मक होते जाते हैं १८८, पुण्य की उपादेयता और सार्थकता किस भूमिका में और क्यों? १८९, पापबन्ध में बन्ध से छूटने का अवकाश नहीं, पुण्यबन्ध में अवकाश है १८९, पुण्य के मुख्यतया दो प्रकार : लौकिक और पारमार्थिक १९०, अधिकांश लोग पुण्य

का फल पाना चाहते हैं; शुद्ध पुण्य अर्जित करने का प्रयत्न नहीं करते १९०, सुख-शान्ति के लिए पुण्याचरण करना वर्तमान युग में भी अनिवार्य है १९१, पापकर्मों के आचरण से आनन्द की अपेक्षा पुण्यकर्मों के आचरण में अधिक आनन्द है १९१, पुण्याचरण से उभयलोक में मिलने वाली भौतिक उपलब्धियाँ १९२, पुण्याचरण के नौ माध्यम, उनका स्वरूप और आचरण का निदर्शन १९३, नौ प्रकार के पुण्यों के निष्कामभाव से आचरण से महान् फल १९८।

(८) निर्जरा : अनेक रूप और स्वरूप — पृष्ठ १९९ से २३६ तक

कर्मों का बन्ध होने वाला तत्त्व बन्ध और छूटने वाला तत्त्व निर्जरा है १९९, कर्मनिर्जरा : लक्षण, स्वरूप और प्रयोजन १९९, निर्जरा का सामान्य लक्षण २००, निर्जरा का लक्षण : समस्त जीवों की दृष्टि से २००, मुमुक्षुओं के लिए निर्जरा क्यों आवश्यक है? २००, कर्मनिर्जरा क्यों और कैसे-कैसे होती है? २०१, निर्जरा की प्रक्रिया २०२, अनुभाव कर्म के स्वभावानुसार होता है २०२, वेदना और निर्जरा एक नहीं है २०३, निर्जरा : आत्मा से कर्म-परमाणुओं का विलग हो जाना है २०४, महावेदना वाले सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते २०४, श्रमण महावेदना या अल्पवेदना होने पर भी महानिर्जरा वाले क्यों? २०४, महावेदना और महानिर्जरा से सम्बन्धित चौभंगी २०६, चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में से कौन, कब महावेदना और अल्पवेदना से युक्त? २०७, जीव महाकर्मादि के कारण दुःखी और अल्पकर्मादि के कारण सुखी होते हैं २०८, मायि-मिथ्यादृष्टि नैरयिक महाकर्मादियुक्त २१०, मिथ्यादृष्टि अकामनिर्जरा कर पाते हैं, सम्यग्दृष्टि सकामनिर्जरा २१०, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव असंज्ञी होने से अकाम-निकरण वेदना वेदते हैं २१०, संज्ञी और समर्थ जीव भी अकाम-निकरणक तथा प्रकाम-निकरणक वेदना वेदते हैं २११, जिसकी निर्जरा प्रशस्त, वही श्रेयस्कर है २१२, ईश्वर किसी के कर्म लगाता-छुड़ाता नहीं २१३, स्वकृत कर्म : स्वयं ही फल भोगकर निर्जरा २१३, कोई भी शक्ति दूसरे के कर्मों का कर्ता नहीं २१४, केवली की चरमनिर्जरा के सूक्ष्म पुद्गलों को कौन जान-देख पाता है? २१५, संज्ञीभूत और उपयोगयुक्त मनुष्य ही उस निर्जरा को जान-देख सकते हैं २१६, आत्मा से कर्मों को पृथक् करने का ठोस उपाय २१८, अब तक सब कर्मों का क्षय क्यों नहीं? २१८, अकामनिर्जरा से कष्ट-सहन अधिक, कर्मक्षय कम : कैसे? २१९, अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मक्षय करने में अन्तर २१९, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव भी अकामनिर्जरा वाले होते हैं २२३, ये मनुष्य भी अकामनिर्जरायुक्त होते हैं : क्यों और कैसे? २२४, विविध व्रतधारी तथा विविध प्रकार के तापस भी अकामनिर्जरायुक्त २२५, पूरण बाल-तपस्वी द्वारा कृत अकामनिर्जरा का फल २२६, आचार्यादि के प्रत्यनीक श्रमण भी अकामनिर्जरा वाले हैं २२७, आत्मोत्कर्षाभिलाषी श्रमण भी अकामनिर्जरा से युक्त अनाराधक २२८, निह्नव श्रमण भी अकामनिर्जरायुक्त एवं अनाराधक २२९, परिव्राजक आदि भी अकामनिर्जरा करते हैं २२९, अनिच्छापूर्वक ब्रह्मचर्यादि पालने वाली महिलाएँ भी अकामनिर्जरा से युक्त २३०, तथाकथित कान्दर्पिक श्रमण : अकामनिर्जरा से युक्त अनाराधक २३०, प्रकृतिभद्र उपशान्त गृहस्थ भी अकामनिर्जरा के कारण अनाराधक २३१, निर्जरा के दो प्रकार : अकामनिर्जरा का फलितार्थ २३१, सकामनिर्जरा का स्वरूप २३२, सकामनिर्जरा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-साधक के लिए अभीष्ट २३२, सकामनिर्जरा : कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे? २३३, विशिष्ट सकामनिर्जरा की व्याख्या २३४, सकामनिर्जरा और मोक्ष में अन्तर २३४।

(९) निर्जरा के विविध स्रोत — पृष्ठ २३५ से २६१ तक

निर्जरा एक : अनेक रूप और अनेक प्रकार २३५, पात्रों की स्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा २३६, दिगम्बर-परम्परा में सविपाक-अविपाक निर्जरा : एक अनुचिन्तन २३८, सरागसम्यग्दृष्टि या सरागसंयमी के अशुभ कर्मों की महानिर्जरा कैसे? २३९, सकामनिर्जरा सम्यग्ज्ञानपूर्वक संवरसहित होती है २४०, सम्यग्ज्ञानसहित संवरपूर्वक सकामनिर्जरा के शास्त्रीय प्रमाण २४१, अम्बड़ परिव्राजक तथा उसके शिष्यों की सकामनिर्जराराधना २४२, निर्ग्रन्थ श्रमणों की महानिर्जरा, महापर्यवसान के रूप में सर्वकर्ममुक्ति २४३, भोगों का सर्वथा त्याग : महानिर्जरा का कारण कब? २४३, प्रशस्त त्रियोग से तीन-तीन मनोरथ से महानिर्जरा २४४, बाधनारूप स्वाध्याय से महानिर्जरा और महापर्यवसान : क्यों

और कैसे? २४५, सकामनिर्जरा के विभिन्न स्रोत २४५, सकामनिर्जरा के विभिन्न रूप २४७, सकामनिर्जरा के अन्य स्रोत २४८, तथारूप श्रमण-माहन को आहारादि देने से निर्जरा कैसे हुई? २४९, श्रमण-माहन को दान देने से कौन-सी समाधि प्राप्त होती है? २५१, पापकर्म से दुःख और उसकी निर्जरा करने से सुख २५२, कर्मनिर्जरा करने में सफल कौन, असफल कौन? २५२, सकामनिर्जरा : कर्मफल भोगने की कला २५३, सकामनिर्जरा के विविध अवसर आने पर निर्जरा कैसे करें २५४, बुद्ध शिष्य का उपसर्ग को समभाव से सहने का विधायक चिन्तन २५६, वीतराग केवली द्वारा निर्जरा का प्रस्तुत आदर्श : कैसे और क्यों? २५६, चतुर्थ सुखशय्या : परीषह-उपसर्ग-सहन से होने वाली एकान्त निर्जरा २५८, राजर्षि उदायी ने समभाव से उपसर्ग सहकर महानिर्जरा की २५८, महापापी दृढ़प्रहारी निर्जरापेक्षी सर्वकर्ममुक्त हो गया २६०, कष्ट और आत्म-शुद्धि की अपेक्षा से चौभंगी २६१।

(१०) सकामनिर्जरा का एक प्रबल कारण : सम्यक्तप पृष्ठ २६२ से ३०४ तक

ये बीजें तपने पर ही सारभूत, परिष्कृत और उपयोगी बनती हैं २६२, निर्विकारता के लिए तपश्चर्या का ताप २६३, जीवन में तप की आवश्यकता और उपयोगिता २६३, समस्याओं पर विजय पाने का एकमात्र उपाय : सम्यक्तप २६४, तप दुःखात्मक है, मोक्षांग नहीं : आक्षेप का समाधान २६५, सम्यक्तप असातावेदनीय-बन्धकारक व दुःखोत्पादक नहीं २६६, सम्यक्तप से योगों और इन्द्रियों को हानि नहीं होती २६७, स्थूलशरीर को तपाने से तैजस्-कार्मणशरीर पर अचूक प्रभाव २६८, दुःख-दर्द उत्पन्न होता है कर्मशरीर में, प्रकट होता है स्थूलशरीर में २६९, स्थूलशरीर के माध्यम से कर्मशरीर को तपाया जाता है २६९, अज्ञानतप और सम्यक् (सज्ञान) तप में भारी अन्तर २७०, सम्यक्तप का उद्देश्य स्थूलशरीर के माध्यम से कर्मशरीर को तपाना है २७०, सम्यक्तप का निर्युक्त, अर्थ, लक्षण और उद्देश्यात्मक परिभाषा २७२, सम्यक्तप का फल है–व्यवदान = कर्ममल को दूर करना २७३, सम्यक्तप तन, मन को तपाकर आत्म-शुद्धि करता है २७३, सम्यक्तप का उद्देश्य और लाभ : वही उसका लक्षण २७४, सम्यक् निर्निदान तप से आत्मा की परिशुद्धि कैसे-कैसे? २७४, सम्यक्तप से आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया २७५, मन, इन्द्रियाँ स्वस्थ और समाधिस्थ रहें, वहीं तक तप करना हितावह है २७५, सम्यक्तप का उद्देश्य सिद्धियों के चक्कर में फँसना नहीं है २७७, इहलोक-परलोक-प्रशंसा-पूजादि के लिए तप न करो २७७, तप निर्जरा का कारण : कैसे और कब? २७८, अल्पतम सिद्धि के लिए महान् साध्य को मत खोओ २७८, सम्यक्तप का एकमात्र उद्देश्य : आत्म-शुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति २७८, सम्यक्तप के साथ निदान से आत्म-शुद्धि की साधना नष्ट हो जाती है २७९, निदानकरण से कितनी हानि, कितना लाभ? २८०, भगवान महावीर ने श्रमण-श्रमणियों को निदान से विरत किया २८०, नौ प्रकार के निदान में कितनी अध्यात्म हानि, कितना भौतिक लाभ? २८३, सर्वत्र निदानरहित तप आदि साधना प्रशस्त एवं विहित २८४, ऐसे बाह्यतप को बालतप नहीं कहा जा सकता : क्यों और कैसे? २८५, सम्यक्तप और बालतप में बहुत अन्तर : समुचित समाधान २८६, बालतप संसारवृद्धि का कारण : क्यों और कैसे? २८८, बाह्य-आभ्यन्तरतप से असमाधि या समाधि? : एक अनुचिन्तन २९०, आहारग्रहण से शक्ति और ऊष्मा के उपरान्त उत्तेजना भी होती है २९०, स्थूलशरीर को ही क्यों तपाया जाए? २९१, स्थूलशरीर को तपाने से कितना लाभ, कितनी हानि? २९१, तप के पैंतीस प्रकार : कौन-से और कैसे-कैसे? २९२, सम्यग्ज्ञानयुक्त तप भगवदाज्ञा में और अज्ञानयुक्त तप आज्ञाबाह्य २९३, अज्ञानतप : संवर, निर्जरा और मोक्ष में बाधक : क्यों और कैसे? २९३, अशुद्ध तप और शुद्ध तप का विवेक २९४, बाह्यतप के छह प्रकार और उनका स्वरूप २९५, स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप क्या और कर्मशरीर पर उसका प्रभाव कैसे? २९६, तप से होने वाले परम लाभ के मुकाबले में कष्ट नगण्य २९७, किस बाह्यतप से क्या-क्या प्रयोजन सिद्ध होते हैं? : एक आकलन २९८, देहासक्ति तोड़ने के लिए स्थूलशरीर द्वारा बाह्यतप करना आवश्यक २९९, बाह्यतप से देहासक्ति कैसे छूटती है, कैसे नहीं? ३००, समाधिमरण-संलेखना के लिए भी अनशनादि बाह्यतप का अभ्यास ३०१, समाधिमरण का सुपरिणाम और उससे सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष-प्राप्ति ३०२, यावज्जीव अनशन में आहारादि-त्याग के साथ देहासक्ति-त्याग आवश्यक ३०२, संलेखना-संथारे के समय देहासक्ति का पूर्णतः त्याग करने का पाठ ३०३, देहासक्ति-त्याग के लिए इन आशंसाओं और अतिचारों से बचना आवश्यक ३०४।

(११) प्रायश्चित्त : आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय पृष्ठ ३०५ से ३४३ तक

सम्यक्तप की महिमा ३०५, तपःसमाधि कब और कब नहीं? ३०५, बाह्य-आभ्यन्तर दोनों तपश्चरणों का लक्ष्य आत्म-शुद्धि ३०६, बाह्यतप : आभ्यन्तरतप का प्रवेश-द्वार ३०६, बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का लक्षण ३०७, रुचि, क्षमता और योग्यता के अनुसार : बाह्य-आभ्यन्तरतप ३०७, बाह्यतप का महत्त्व, आभ्यन्तरतप से कम नहीं ३०८, आभ्यन्तर तपश्चरण के साथ बाह्यतप भी आवश्यक ३०९, बाह्य और आभ्यन्तरतप दोनों एक-दूसरे के पूरक ३०९, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तप अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष हैं ३१०, मन की दुष्प्रवृत्तियों को सुप्रवृत्तियों में बदलना ही आभ्यन्तरतप ३११, सम्यक् आभ्यन्तरतप : लक्ष्य और उससे आध्यात्मिक गुणों का लाभ ३१२, प्रशम-सुख में लीन होना ही सम्यक्तप का उद्देश्य ३१२, मुमुक्षु के लिए बाह्य-आभ्यन्तरतप द्वारा साधना अनिवार्य ३१३, षड्विध आभ्यन्तरतप से मन का सर्वांगीण परिवर्तन ३१३, आभ्यन्तरतप में प्रायश्चित्त को ही प्राथमिकता क्यों? ३१४, अभिवर्धन से पहले आत्म-शोधन करना अनिवार्य ३१५, प्रायश्चित्त का अर्थ और स्वरूप ३१५, अन्तःकरण की शुद्धि के बिना आत्म-साधना में सिद्धि सम्भव नहीं ३१६, अन्तर्मल को प्रायश्चिततप द्वारा शीघ्र दूर करना आवश्यक ३१७, पाप-शोधनरूप प्रायश्चित्त न करने पर जन्म-मरणादि का भयंकर दुःख ३१८, प्रायश्चित्त-प्रक्रिया के चार मुख्य चरण ३१८, पापनाश से चित्त-शुद्धि के लिए चार प्रक्रियाएँ ३१९, आलोचना के दो रूप और आत्मालोचना की प्रक्रिया ३१९, प्रतिक्रमण का माहात्म्य, उद्देश्य, स्वरूप और त्रिकाल-विषयत्व ३२०, द्रव्य और भाव से प्रतिक्रमण का आशयार्थ एवं फलितार्थ ३२१, भाव-प्रतिक्रमण से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति ३२१, प्रतिक्रमण से आत्मा निर्दोष एवं समाधियुक्त हो जाती है ३२२, पंचविध प्रतिक्रमण ३२२, ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण : क्या और कैसे? ३२२, अतिचारों का प्रतिक्रमण : पाठ द्वारा ३२३, दोष-शुद्धि करने का सरलतम अहिंसक उपाय : आत्मालोचना ३२४, प्रायश्चित्त का तृतीय चरण : निन्दना : स्वरूप और उपयोगिता ३२४, निन्दना के प्रयोग से भविष्य में उक्त पाप से पूर्ण विरक्ति ३२५, प्रायश्चित्त का चतुर्थ चरण : गर्हणा : पापविशोधन का तीव्रतम उपाय ३२६, निन्दना की अपेक्षा गर्हणा में अधिक मनोबल अपेक्षित ३२६, गर्हा के विभिन्न रूप और प्रकार ३२७, प्रयोग की अपेक्षा से गर्हा के तीन-तीन प्रकार और स्वरूप ३२८, गर्हा से आत्म-शुद्धि की एक सच्ची घटना ३२८, आलोचनादि कौन करता है, कौन नहीं करता? ३२९, गर्हणा से प्रशस्त योगों का तथा घातिकर्म-क्षय का महालाभ ३३०, सुव्रत मुनि को स्वयंकृत आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त से केवलज्ञान ३३०, जो दीर्घकालिक कठोर अनशनादि तप नहीं कर सकते, उनके लिए प्रायश्चिततप में पराक्रम उचित ३३२, हार्दिक पश्चात्ताप : उदय में आने से पहले कर्मदहन करने का उपाय ३३२, आलोचना-निन्दना-गर्हणापूर्वक प्रायश्चित्त का शुभ परिणाम ३३३, गुरु आदि की साक्षी से की जाने वाली आलोचना का स्वरूप ३३३, आलोचना किस विधि से, किस प्रकार करनी चाहिए? ३३४, आलोचना करने वाले की अर्हताएँ ३३४, आलोचनादि-सम्मुख व्यक्ति भी आराधक है : क्यों और कैसे? ३३५, आलोचना से आध्यात्मिक उपलब्धियाँ ३३५, आलोचनादि प्रायश्चित्त एक प्रकार की आध्यात्मिक चिकित्सा है ३३६, प्रायश्चित्त चिकित्सा और मनोकायिक चिकित्सा की प्रक्रिया ३३६, मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी मनोरोगी से सब कुछ खुलवाता है ३३७, थॉम्पसन का मनोरोग डॉ. ग्रोसमैन ने उनकी मानसिक चिकित्सा करके मिटाया ३३७, आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त देने वाले गुरु की आठ गुणात्मक अर्हताएँ ३३८, प्रायश्चित्ततप के दस प्रकार और उनका स्वरूप ३४२, जाहिर सभा में आलोचना प्रायश्चित्त की प्रक्रिया ३४३।

(१२) निर्जरा, मोक्ष या पुण्य-प्रकर्ष के उपाय : विनय और वैयावृत्यतप पृष्ठ ३४४ से ३७६ तक

प्रायश्चित्त के पश्चात् विनयतप का क्रम क्यों? ३४४, विनय का अर्थ और परिष्कृत लक्षण ३४४, विनय के तीन अर्थ प्रतिफलित होते हैं ३४५, अहं की गाँठ खुले बिना कोई तार नहीं सकता ३४६, विनय के सात प्रकार और इन सब में अहंकार बाधक ३४६, ज्ञानादि सप्तविध विनय का स्वरूप एवं फलितार्थ ३४७, दर्शनविनय का परिष्कृत स्वरूप ३४८, दर्शनविनय के मूल और उत्तर भेद ३४८, दर्शनविनय से संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य-वृद्धि का सरलतम उपाय ३४९, अनाशातनाविनय का स्वरूप और आचरण

३५३. लोकोत्तर उपचारविनय के प्रकार ३५५, ये विनय नहीं, विनयाभास है, मोक्षविनय ही ग्राह्य ३५५. विनय : धर्मरूपी वृक्ष का मूल, मोक्षरूप फल का दाता ३५६. विनय : समस्त गुणों का मूलाधार; अविनय : दोषों का भण्डार ३५६. वैयावृत्यतप की आवश्यकता और उपयोगिता ३५७. सेवा के ये अगणित प्रकार वैयावृत्य की कोटि में नहीं आते ३५७. समाज में परस्पर उपकारयुक्त सेवा के विविध प्रकार ३५८. पूर्वोक्त सेवा पुण्यबन्ध का कारण है और वैयावृत्य है तप ३५९. वैयावृत्य की मुख्य पाँच क्रियाएँ ३५९. वैयावृत्य का व्यवहारस्वरूप : पूर्वोक्त पंचप्रक्रिया से युक्त ३६०. वैयावृत्य के पात्रों और पूर्वोक्त सेवापात्रों में अन्तर ३६१. वैयावृत्यकर्त्ता की हार्दिक भावना ३६२. इसीलिए वैयावृत्य आभ्यन्तरतप है ३६२. वैयावृत्यकर्त्ता की कतिपय विशेषताएँ ३६३. वैयावृत्य का प्रयोजन और सुफल ३६३. त्रिविध वैयावृत्य आत्म-वैयावृत्य में ही गतार्थ ३६४. उत्कृष्ट पात्रों की अपेक्षा दशविध वैयावृत्य ३६५. दशविध उत्तम पात्रों की वैयावृत्य से महालाभ ३६८. तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के अधिकांश गुणों का वैयावृत्ययोगयुक्तता में अन्तर्भाव ३६९. वैयावृत्य का महान् पुण्यफल : तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पद ३७०. भरत और बाहुबली को वैयावृत्यतप से विशिष्ट उपलब्धि ३७०. वैयावृत्य से उत्कृष्ट पुण्योपार्जन तथा संवर-निर्जरा : एक चिन्तन ३७३. तीर्थंकर और चक्रवर्तीपद की प्राप्ति में कर्मनिर्जरा भी होती है ३७३. वैयावृत्य से संवर, निर्जरा, महानिर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति भी सुलभ ३७३. वैयावृत्यतप सामान्य आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है ३७४. भगवान की शारीरिक सेवा से भी ग्लान की सेवा बढ़कर है ३७५. आत्म-वैयावृत्य और पर-वैयावृत्य से सम्बन्धित आठ शिक्षाएँ ३७५. वैयावृत्य से विमुख साधक गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित का भागी ३७६।

(१३) स्वाध्याय और ध्यान द्वारा कर्मों से शीघ्र मुक्ति — पृष्ठ ३७७ से ४१७ तक

विनय, वैयावृत्य के बाद स्वाध्याय, ध्यान का निर्देश क्यों? ३७७. स्वाध्याय : अंदर का चेहरा देखने के लिए दर्पण है ३७७. स्वाध्याय आन्तरिक तप क्यों है? ३७७. स्वाध्याय : अन्तर्निहित ज्ञान को प्रकाशित करने हेतु दीपक है ३७८. स्वाध्याय : नन्दनवन के समान आनन्ददायक है ३७८. स्वाध्याय : अज्ञानमूलक दुःखों के निवारण का उपाय बताता है ३७९. स्वाध्याय : अज्ञान से आवृत आत्म-ज्ञान को अनावृत करने का माध्यम ३८०. स्वाध्याय से क्लिष्ट चित्तवृत्ति-निरोधक योग की प्राप्ति ३८०. स्वाध्याय और ध्यान, दोनों परस्परआश्रित हैं ३८०. स्वाध्याय और ध्यान का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध ३८०. स्वाध्याय से श्रुतसमाधि की उपलब्धि ३८१. स्वाध्याय से अन्य अनेक लाभ ३८१. शास्त्र-अध्यापन के रूप में स्वाध्याय करने से पाँच महालाभ ३८२. स्वाध्याय से सात आध्यात्मिक लाभ ३८२. स्वाध्याय का विशिष्ट फल ३८३. स्वाध्याय के उत्तम फल ३८३. स्वाध्याय के लौकिक और लोकोत्तर फल ३८५. नियमित स्वाध्याय से श्रुतदेवता द्वारा पाँच वरदानों की उपलब्धि ३८५. स्वाध्याय आत्मिक-विकास के लिए व्यायाम और भोजन ३८७. स्वाध्याय में प्रमाद मत करना ३८७. स्वाध्याय अद्भुत तप : क्यों और कैसे? ३८७. स्वाध्याय के विभिन्न अर्थ और स्वरूप ३८८. अश्लील या हिंसादि-प्रेरक साहित्य पढ़ना स्वाध्याय नहीं है ३८९. सम्यग्दर्शन और आत्म-भावों से रहित स्वाध्याय कर्मनिर्जरा का कारण नहीं ३८९. बाहर की चाँदनी को छोड़ भीतर की चाँदनी विरले ही देखते हैं ३९०. भीतर की चाँदनी अन्तःस्वाध्याय से देखने वाले ये महाभाग ३९०. स्वाध्याय के पाँच प्रकार ३९१. वाचना-स्वाध्याय में तीन बातों का ध्यान रखना अत्यावश्यक ३९२. वाचना देने-लेने के अयोग्य व योग्य कौन-कौन? ३९२. स्वाध्यायकर्त्ता को इन दोषों और अतिचारों से बचना आवश्यक है ३९६. स्वाध्याय और ध्यान दोनों परस्पर सहायक, परन्तु ध्यान बढ़कर ३९६. द्वादशतप के शेष सब प्रकार ध्यानद्वय के साधनमात्र हैं ३९७. स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान का अधिक महत्त्व ३९७. ध्यान क्यों किया जाए? ध्यान का प्रयोजन क्या है? ३९८. ध्यान-साधना के मुख्य हेतु ३९९. ध्यान का महत्त्व : विभिन्न दृष्टिकोणों से ४००. व्यवहारदृष्टि से ध्यान की परिभाषाएँ ४०१. क्या इन्हें भी ध्यान कहेंगे? ४०२. ध्यान के दो प्रकार व चार भेद ४०२. प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान : स्वरूप और अन्तर ४०३. अशुभ ध्यान : तप के कारण नहीं, न ही मोक्ष के हेतु ४०३. जीवों के आशय की अपेक्षा से ध्यान के तीन प्रकार ४०३. निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से ध्यान के दो प्रकार ४०४. शुद्ध ध्यान एवं उसके परम्परागत फल ४०४. प्रशस्तध्यान के लिए अप्रशस्तध्यान के स्वरूपादि को

जानना आवश्यक ४०५, आर्त्तध्यान का अर्थ ४०५, आर्तध्यान की उत्पत्ति के चार कारण ४०५, आर्तध्यान के चार लक्षण ४०५, रौद्रध्यान : स्वरूप, चार कारण एवं चार लक्षण ४०६, ये अशुभ ध्यान भी सर्वथा त्याज्य हैं ४०६, धर्मध्यान : स्वरूप और चार प्रकार ४०७, धर्मध्यान के चार लक्षण ४०८, धर्मध्यान के चार आलम्बन और चार अनुप्रेक्षाएँ ४०८, परवर्ती ध्यानयोगी विद्वान् ने विविध विधियाँ प्रचलित कीं ४०८, ध्यान करने में मुख्य तीन तथ्यों पर विचार करना आवश्यक ४०८, ध्यान का चयन : स्व-भूमिका के अनुरूप ४०९, ध्येय के तीन प्रकार : स्वरूप और विश्लेषण ४१०, स्वरूपावलम्बन ध्येय में इनका भी समावेश हो सकता है ४११, स्वरूपावलम्बन ध्येय में सहायक पिण्डस्थ आदि ध्यान ४११, इस ध्येय में चित्त को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने हेतु पाँच धारणाएँ ४१२, शुक्लध्यान : स्वरूप, भेद और प्रकार ४१३, शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग (चिह्न) ४१५, शुक्लध्यान के चार आलम्बन ४१५, शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ ४१५, किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन-सा ध्यान होता है? ४१६, ध्यान के ज्ञातव्य चार अधिकारों में चौथा ध्यानफल ४१६, धर्म-शुक्लध्यान के लोकोत्तर और लौकिक सात्त्विक फल ४१६, ध्यान-साधना में अन्य आवश्यक बातें ४१७।

(१४) व्युत्सर्गतप : देहातीत भाव का सोपान — पृष्ठ ४१८ से ४४७ तक

व्युत्सर्गतप क्या है, क्या नहीं है? ४१८, व्युत्सर्ग कब त्याग है, कब नहीं? ४१९, व्युत्सर्ग : आभ्यन्तरतप : क्यों और कैसे? ४१९, व्युत्सर्ग की विविध परिभाषाएँ ४२०, व्युत्सर्गतप की निष्पत्ति ४२०, व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग की उपयोगिता और प्रयोजन ४२२, व्युत्सर्गतप के दो मुख्य प्रकार ४२३, व्युत्सर्गतप के दो प्रकारों में त्याज्य वस्तुएँ मुख्यतया सात ४२३, व्युत्सर्गतप के दो प्रकारों के क्रमशः चार और सात भेद ४२३, काय-व्युत्सर्ग अपरनाम कायोत्सर्ग : स्वरूप और विश्लेषण ४२४, पूर्ण कायोत्सर्ग : योगत्रय के ध्यानपूर्वक होता है ४२४, ध्यान की पूर्व भूमिका के लिए द्रव्य-कायोत्सर्ग अनिवार्य ४२४, कायोत्सर्ग के दो रूप : द्रव्य और भाव ४२५, द्रव्य-भाव-कायोत्सर्ग की दृष्टि से चार प्रकार के कायोत्सर्ग ४२६, कायिक और मानसिक कायोत्सर्ग की विधि ४२७, कायोत्सर्ग : क्यों और कैसे? ४२८, शरीरादि पर-पदार्थ पर ममत्वादि होने से ही बन्धरूप हैं ४३०, शरीर को कायोत्सर्ग-योग्य बनाने हेतु शरीर और आत्मा की पृथक्ता का अभ्यास ४३०, कायोत्सर्ग में देह का नहीं, देहाध्यास का त्याग करें ४३१, शुद्ध कायोत्सर्ग का मापदण्ड ४३२, राजा चन्द्रावतंस की कायोत्सर्ग में दृढ़ता और शुद्धता ४३३, ये वीरतापूर्वक शरीर का व्युत्सर्ग करने वाले कायोत्सर्ग वीर ४३४, कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण अंग : अभय ४३४, महामुनि स्कन्धक के शिष्यों द्वारा वीरतापूर्वक हँसते-हँसते कायोत्सर्ग ४३५, भेदविज्ञान से प्राप्त सहिष्णुता भी कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण अंग ४३५, शरीर के प्रति अपनापन छोड़ने वाले कायोत्सर्ग वीर सुकौशल मुनि ४३६, कायोत्सर्ग में साधक का चिन्तन ४३७, प्रतिक्रमण तथा अन्य चर्या के समय भी कायोत्सर्ग की भावना रहे ४३७, कायोत्सर्ग के दैनिक अभ्यास के समय साधक की भावना ४३८, कायोत्सर्ग के दो रूप : चेष्टा-कायोत्सर्ग और अभिभव-कायोत्सर्ग ४३८, कायोत्सर्ग के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वार्थों का बलिदान जरूरी है ४३९, प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग : प्रयोजन और परिणाम ४३९, बिना भोगे भी पापकर्मों की शुद्धि हो सकती है ४४०, प्रायश्चित्तरूप कायोत्सर्ग से पापों-दोषों का विशोधन ४४१, गण-व्युत्सर्ग का फलितार्थ ४४१, गण साधना में उपकारी है तो इसे क्यों त्यागा जाय? ४४२, गण-व्युत्सर्ग के सात कारण ४४२, उपधि-व्युत्सर्ग : क्या और कैसे? ४४३, भाव-व्युत्सर्ग के प्रकार और स्वरूप ४४४, क्रोध-व्युत्सर्ग का ज्वलन्त उदाहरण : चण्डकौशिक सर्प का ४४४, अहंकार-व्युत्सर्ग का प्रभाव ४४५, संसार-व्युत्सर्ग : क्या और कैसे हो? ४४५, द्रव्य-संसार और भाव-संसार को कम करने के अचूक उपाय ४४६, कर्म-व्युत्सर्ग : क्या और कैसे-कैसे? ४४६-४४७।

(१५) भेदविज्ञान की विराट् साधना — पृष्ठ ४४८ से ४७० तक

मुख्यता किसकी और किसकी नहीं? ४४८, हम किसकी मुख्यता दे रहे हैं? : देहरूपी देवालय को या आत्म-देव को? ४४८, शरीर की चिन्ता : आत्म-देवता की उपेक्षा ४४९, आत्मा की सार-सँभाल की कोई चिन्ता नहीं ४४९, आत्म-देव की उपेक्षा करने से असन्तोष ४५०, अविनाशी आत्मा के प्रति लापरवाही की

४५१, शरीरादि साधनों की चिन्ता : साध्य–आत्म-देव की उपेक्षा ४५२, शरीर और आत्मा के गुणधर्म में अन्तर है ४५३, वीतराग प्रभु से भेदविज्ञान की प्रार्थना ४५३, शरीरादि को आत्मा से अभिन्न मानने पर अनेक आपत्तियाँ ४५३, शरीर से आत्मा को पृथक् करने का तात्पर्य ४५४, भेदविज्ञान का स्पष्ट और विशद अर्थ ४५६, भेदविज्ञान न होने पर आत्मा की कितनी अधोगति? ४५६, भेदविज्ञान का दीपक जले बिना आत्मा को कर्मबन्धक विकार घेर लेंगे ४५७, शरीरदृष्टि बहिरात्मा कर्मलिप्त एवं दुर्लभबोधि बन जायेंगे ४५८, भेदविज्ञान से रहित और युक्त के आवरण में कितना अन्तर? ४५८, मन और वचन भी शरीर के ही अन्तर्गत हैं : क्यों और कैसे? ४६०, भेदविज्ञान से अनभिज्ञ शरीर के लिए ही सारी कमाई खर्च डालता है ४६१, शरीरासक्त मानव का सारा जीवन शरीर-चिन्तन में ४६२, शरीरवादी की मनोवृत्ति ४६२, शरीर को आत्मा से अभिन्न मानने वाले लोगों का चिन्तन और कर्तृत्व ४६३, अयोग-संवर और कषायमन्दता के लिए भेदविज्ञान ४६४, भेदविज्ञानी बड़े-से-बड़े संकट पर समभावपूर्वक विजय पा सकता है ४६४, भेदविज्ञानी का चिन्तन और आचरण ४६४, मन से पर-भावों से आत्म-द्रव्य का सम्बन्ध तोड़ना ही भेदविज्ञान है ४६५, भेदविज्ञान-साधक पर-भावों से बचकर संवर लाभ करता है ४६५, भेदविज्ञान का एक प्रक्रिया ४६६, जब काशी-नरेश देहभाव से ऊपर उठ गये थे ४६७, भेदविज्ञान का आसान तरीका : अन्य विचारों में मग्न हो जाना ४६७, आत्म-भावों में निमग्न होने से शरीर की आवश्यकताओं से मन हट जाता है ४६७, रोग, आतंक या पीड़ा की स्थिति में भेदविज्ञानी का चिन्तन ४६७, भेदविज्ञान से सर्वकर्ममुक्ति व सिद्धि कैसे प्राप्त होती है? ४६८, भेदविज्ञान 'अ स्व' को 'स्व' से पृथक् करने या होने से दुःखी नहीं होता ४६८, भेदविज्ञानी का कर्म और कर्मपर्याय से पृथक्ता का स्पष्ट अनुभव ४६९, भेदविज्ञान जीवन में परिपक्व हो जाने पर ४६९, प्रदेशी राजा ने भेदविज्ञान के प्रकाश में समाधिमरण प्राप्त किया ४६९, भेदविज्ञान के अभ्यास से संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति ४७०।

(१६) शीघ्र मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय : अविपाक निर्जरा — पृष्ठ ४७१ से ४८५ तक

संसार-बन्धनों से बद्ध आत्मा क्या कभी मुक्त हो सकता है? ४७१, कुछ दार्शनिकों का मत : जन्म-मरण चक्र से आत्मा कभी मुक्त नहीं हो सकेगा ४७१, केवल नरक में जाना ही बन्धन नहीं, स्वर्ग में जाना भी बन्धन है ४७२, मोक्ष के लिए पाप की तरह पुण्य भी, तज्जनित सुख भी त्याज्य है ४७२, सांसारिक सुख और दुःख दोनों ही बन्धनरूप हैं, अहितकर हैं ४७३, साधारण आत्मा कभी परमात्मा या बन्धन-मुक्त कभी हो नहीं सकता : एक भ्रान्ति ४७३, भयंकर बन्धन में जकड़ा हुआ आत्मा एक दिन सर्वथा बन्धन-मुक्त हो सकता है ४७४, बद्ध कर्मबन्धन से मुक्त होना आत्मा का सहज स्वभाव है ४७४, प्रत्येक प्राणी बन्धन-मुक्त होना पसंद करता है ४७५, सम्यग्दृष्टि मुमुक्षुसाधक के समक्ष शुभ कर्मों को क्षय करने की समस्या नहीं ४७५, जैन-कर्मविज्ञान बद्ध दशा और मुक्त दशा दोनों को मानता है ४७६, निर्जरा के प्रकार : सविपाक और अविपाक ४७६, सविपाक निर्जरा का लक्षण, स्वरूप और कार्य ४७६, अविपाक निर्जरा का लक्षण, स्वरूप और कार्य ४७७, अविपाक निर्जरा का लक्षण और स्वरूप ४७७, संवर के साथ निर्जरा हो, तभी उभयविध निर्जरा कृतकार्य ४७८, मोक्ष की कारणभूत निर्जरा कौन-सी और कौन-सी नहीं? ४७९, सम्यग्दृष्टि द्वारा संवरपूर्वक अविपाक निर्जरा ही शीघ्र मोक्ष की कारण ४८०, सकामनिर्जरा और मोक्ष में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ४८०, पूर्वोक्त अविपाक निर्जरा द्वारा शीघ्र ही, कदाचित् उसी भव में मोक्ष सम्भव ४८०, अविपाक निर्जरा के द्वारा शीघ्रतर मोक्ष-प्राप्ति के ज्वलन्त उदाहरण ४८३, अविपाक निर्जरा : कब और कैसे-कैसे? ४८५।

● ●

कर्मविज्ञान : आठवाँ भाग

खण्ड ११ कुल पृष्ठ १ से ५११ तक

मोक्ष-तत्त्व का स्वरूप और विवेचन

निबन्ध १८ पृष्ठ १ से ५११ तक

(१) निर्जरा का मुख्य कारण : सुख-दुःख में समभाव पृष्ठ १ से १६ तक

एकान्त सुख और एकान्त दुःख किसी जीवन में नहीं आता १, सुख-दुःखरूप फल के समय आसक्ति से कर्मबन्ध करता है १, कर्मबन्ध को कैसे तोड़े, कैसे निर्जरा करे? २, सुख-दुःख का वेदन न करे, तभी आंशिक मुक्ति पाता है २, धर्मकला से अव्याबाध सुख-प्राप्ति ३, भरत चक्रवर्ती की निर्लिप्तता और सुखभोग में समता ३, सब व्यवहार करता हुआ भी मैं अलिप्त रहता हूँ ४, सुखरूप फल प्राप्त होने पर सुखासक्त होने का परिणाम ४, सुखभोगासक्त होने से अन्त में नरक-दुःखों की प्राप्ति ४, सुखरूप फल भोगते समय सुखासक्त होना दुःख को आमंत्रित करना है ५, सुख-सुविधावादी लोगों का कुतर्क उन्हें दुःख के गर्त में डालता है ५, सनत्कुमार चक्रवर्ती को भयंकर रोगरूप-दुःख प्राप्त हुआ ६, रोगरूप दुःख को समभाव से सहने से कर्मनिर्जरा का अलभ्य लाभ ६, आज के अधिकांश मानव धर्मकला से अनभिज्ञ ७, धर्मकला : कब और कब नहीं? ८, मन के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सुख-दुःख की कल्पना करना मिथ्या है ८, कोई भी जीव किसी दूसरे को सुख या दुःख नहीं दे सकता ८, गाली स्वीकार ही न करे तो गाली देने वाला उसे दुःखी नहीं कर सकता ९, दुःख के वातावरण में समभाव रखे तो संवर-निर्जरा कर सकता है १०, स्थूलदृष्टि से तथा प्रतिशोधदृष्टि से देखने वालों की मिथ्या भ्रान्ति ११, सुख के साधन जुटा देने पर भी दूसरे व्यक्ति उसे सुखी न बना सके ११, स्थूलदृष्टि वाले लोग शरीरलक्षी, समतादृष्टि वाले आत्मलक्षी १२, सुख-दुःख में समभावी साधक द्वारा कर्ममुक्ति का संगीत १२, सुख-दुःख में ज्ञानी समभावी और अज्ञानी विषमभावी हो जाते हैं १३, जीवन में सुख की अधिकता होने पर भी अज्ञानतावश दुःख को आमंत्रण १३, सेठ ने दुःखकर प्रसंग को भी सुखरूप मान लिया १३, सुख-दुःख के सभी प्रसंगों में समभाव से अभ्यस्त व्यक्ति का जीवन १४, पुण्योपार्जन के साथ-साथ निर्जरा कैसे? १५, दुःख में दैन्य न हो सुख में गर्व न हो, यही समभावी का लक्षण १५, कर्म-परवश जीव के सत्पुरुषार्थ से आत्मा स्वतंत्र हो सकती है १५, स्वेच्छा से और अनिच्छा से कर्मफल भोगने में अन्तर १६।

(२) समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल पृष्ठ १७ से ३९ तक

अध्यात्मयात्री की रीति-नीति १७, अध्यात्मयात्री मोहजाल में नहीं फँसता १७, अध्यात्मयात्री समतायोग के सहारे मोक्ष की मंजिल तक पहुँचता है १८, समतायोग में अविनाशी के साथ योग है १८, समतायोग आत्मा को परमात्मा से या मोक्ष से जोड़ता है १९, समतायोग से भी शान्ति, विरक्ति, सहिष्णुता एवं सर्वकर्ममुक्ति १९, समतायोग के अभाव में दुःख, पीड़ा, असन्तोष और अशान्ति १९, समतायोग स्वीकार करने पर ही समाधि, मुक्ति या सुगति २०, अतीत, अनागत और वर्तमान में समतायोग के प्रभाव से ही मोक्ष २०, समता के बिना जप, तप, क्रियाकाण्ड आदि अकिंचित्कर २१, समता से श्रमण और श्रमणोपासक होता है २१, समतायोग का अभ्यास न होने पर फलाकांक्षा दोष आ सकता है २२, समतायोग के बिना स्थायी रूप से कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती २२, समतायोग के बिना ये सब व्यर्थ हैं २३, सामायिक की शुद्ध साधना : कब और कैसे? २३, आत्म-स्थिरतारूप समतायोग के अभाव में २३, समतायोग का उद्देश्य और प्रयोजन २४, समतायोग का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप ही उसका उद्देश्य २४, समतायोग का मूल्य २५, समत्वचेतना जाग्रत होने से शान्ति, समाधि और आनन्दानुभूति २५, समत्वयोगी

की विशेषता २७, राग-द्वेषरूपी दो छोरों के बीच में समत्वयोग का पथ है २८, चित्त या बुद्धि की स्थिति समताभय होने पर ही विषमता मिट सकती है २८, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में समभाव में स्थित रहे तभी समतायोगी २८, संसार-जीवन द्वन्द्वयुक्त, अध्यात्म-जीवन समतायुक्त २९, लाभ-अलाभ के द्वन्द्व में ग्रस्त होने से कितनी समस्याएँ पैदा होती हैं? ३०, सम्मान-अपमान तथा निन्दा-प्रशंसा का द्वन्द्व भी विषमतावर्द्धक ३०, जीवन और मरण का द्वन्द्व भी विषमता का उत्पादक ३१, अन्य द्वन्द्वों में भी विषमता न लाने की प्रेरणा ३२, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की सुख-दुःख विषयक मान्यता में बहुत ही अन्तर ३२, भौतिक-सुख पराधीन है, आत्मिक-सुख स्वाधीन है ३३, समतायोगी साधक में दुःख को सुखरूप में परिणत करने की कला ३४, समतायोग के मार्ग से मोक्ष की मंजिल पाने के पाँच उपाय ३५, प्रतिक्रिया-विरति : क्या, क्यों और कैसे? ३५, समतायोग से मोक्ष की मंजिल पाने का दूसरा उपाय : सर्वभूतमैत्री ३६, मोक्ष की मंजिल प्राप्त करने का तीसरा उपाय : सर्वक्रियाएँ उपयोगयुक्त हों ३७, भावक्रिया और द्रव्यक्रिया के स्वरूप और परिणाम में अन्तर ३७, धर्म-शुक्लध्यान की स्थिरता से सर्वकर्ममुक्ति ३७, ज्ञाता-द्रष्टाभाव : मोक्ष की मंजिल के निकट पहुँचाने वाला ३८-३९।

(३) समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल — पृष्ठ ४० से ६६ तक

समतायोगरूप वृक्ष के चार रूपों की आराधना ४१, समतायोग का प्रथम रूप : भावनात्मक समभाव ४१, भावनात्मक समतायोग का स्वरूप और मूल्य ४१, मैत्रीभावना-साधक समतायोग को कैसे समृद्ध करे? ४५, चार कोटि के प्राणियों के साथ समतायुक्त व्यवहार कैसे-कैसे हो? ४५, केवल मैत्री नहीं, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावना भी आवश्यक है ४५, मध्यस्थ द्वारा माध्यस्थ्यभाव की विचारणा, भावना और सार्थकता ४५, माध्यस्थ्यदृष्टि से प्रत्येक धर्म, शास्त्र, दर्शन या मत पर विचार करो ४८, माध्यस्थ्यभाव से शाश्वत परब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति ४९, अनेकान्तवादी मध्यस्थ माध्यस्थ्यभाव के दोषों से बचे ४९, माध्यस्थ्यभाव का विवेकसूत्र : घृणा पाप से हो, पापी से नहीं ५०, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग में समभाव रखना है ५१, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग सर्वकालस्थायी या अपरिवर्तनीय नहीं ५२, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग : कैसे-कैसे, किस-किस रूप में? ५३, अमनोज्ञ-मनोज्ञ शरीरादि मिलने पर समता में रहे ५४, मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों के संयोग-वियोग में समभाव रखे ५४, द्वन्द्वों तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव कैसे रखे? ५५, परिस्थिति के अनुकूल मनःस्थिति बना लेना ही समतायोग है ५५, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर कार्य करने वाला समतायोगी कर्मबन्ध से युक्त नहीं होगा ५५, अनुकूल हो या प्रतिकूल क्षेत्र : समतायोगी समभाव में स्थिर रह सकता है ५६, महल हो या जंगल, समतायोगी के लिए दोनों समान हैं ५६, भेदविज्ञान होने पर ही समत्व में ऊर्ध्वारोहण सम्भव ५७, शरीरदृष्टि बहिरात्मा समतायोग की साधना नहीं कर पाता ५७, ममत्व और समत्व परस्पर विरुद्ध हैं ५८, समतायोग का द्वितीय रूप : दृष्टिपरक समभाव ६०, दृष्टिपरक समभाव : स्वरूप, फलितार्थ ६०, समतामयी सम्यग्दृष्टि-साधक की दृष्टि कैसी होती है? ६०, एकान्त एकांगी दृष्टिकोण समतामय नहीं होता ६१, समतायोग का तृतीय रूप : साधनात्मक समभाव ६२, अनगार सामायिक और आगार सामायिक : स्वरूप और प्रयोग ६२, आत्म-साधना और सामायिक दोनों अन्योन्याश्रित हैं : क्यों और कैसे? ६२, आत्म-साधना क्या है? वह समतायोग-साधना को कैसे परिष्कृत करती है? ६३, व्यवहारदृष्टि से सामायिक-साधना का लक्षण और फलितार्थ ६३, समतायोग का आदर्श : वीतरागता : क्या, क्यों और कैसे? ६४, समत्वयोग की प्रज्ञा का जागरण ६५, जिसमें क्षमता हो, उसमें ही समत्वचेतना का पूर्ण जागरण ६५, समतायोग का चतुर्थ रूप : क्रियात्मक व्यावहारिक समभाव ६६, सर्वागीण समभाव ही समतायोग के पौधे को पुष्पित-फलित करने में सफल ६६।

(४) मोक्ष से जोड़ने वाले : पंचविध योग — पृष्ठ ६७ से १०२ तक

भवरोगनाशक मोक्षप्रापक योग का माहात्म्य ६७, मोक्ष से जोड़ने वाला योग ही यहाँ विवक्षित है ६८, योगबिन्दु में मोक्ष-प्राप्ति के अन्तरंग-साधक पंचविध योग का महत्त्व ६८, (१) अध्यात्मयोग ६९, अध्यात्म शब्द का अर्थ और फलितार्थ ६९, चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दशम् गुणस्थान तक उत्तरोत्तर शुद्ध अध्यात्म

माना गया है ६९, सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्ध क्रियाएँ अध्यात्मरूप हैं ७०, अध्यात्मयोग की क्रियान्विति कैसे हो? ७१, अमूर्त आत्मा से प्रत्येक प्रवृत्ति को कैसे जोड़ा जाए? ७२, समाधान : आत्मा के शुद्ध निर्मल ज्ञान के प्रकाश में ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहूँ ७३, अध्यात्मयोगी इसके अभ्यास प्रारम्भ कहाँ से करे? ७४, अध्यात्मयोग का ज्ञान क्यों आवश्यक है? ७४, अध्यात्मयोग की फलश्रुति ७५, (२) भावनायोग ७७, भावनायोग क्या है? ७७, अध्यात्म-तत्त्व को चित्त में स्थिर करने के लिए भावनायोग आवश्यक ७७, भावनायोग के दो छोर : अध्यात्मयोग और ध्यानयोग ७८, भावनायोग का मुमुक्षु जीवन में सर्वाधिक महत्त्व ७८, भावनायोग : संसार-समुद्र का अन्त कराने वाला ७९, भावना का स्वरूप, महत्त्व और विविध अंग ७९, भावनाओं की ऊर्जा-शक्ति का माप ८०, भावनायोग के मुख्य विषय और उनका सुपरिणाम ८१, भावनायोग की उपलब्धि के मुख्य तीन पहलू ८१, भावनायोग की सिद्धि के लिए तीन भावनाएँ आवश्यक क्यों और कैसे? ८१, (३) ध्यानयोग ८४, ध्यान का अर्थ, लक्षण और स्वरूप ८४, ध्यान में चित्त और चिन्तन की स्थिरता के लिये तीन बातें अपेक्षित ८४, ध्यान की परिभाषाएँ ८४, ध्यानयोग की साधना क्यों करें? ८५, ध्यानयोग की साधना में मोक्ष-प्राप्ति तक डटा रहे ८५, ध्यानयोग द्वारा आत्म-भक्ति में प्रवृत्ति करने का तात्पर्य ८५, ध्यानयोग का अभ्यासी सिद्धियों और लब्धियों के चक्कर में नहीं पड़े ८६, छद्मस्थ और केवली के ध्यान का कालमान ८६, ध्यानयोग की साधना का सुफल ८६, योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान में ८७, धर्मध्यान के अधिकारी एवं उसके ध्याता के प्रकार ८७, धर्मध्यान ध्याता की लेश्या ८८, धर्मध्यान का फल ८८, धर्मध्यान सालम्बन भी, निरालम्बन भी ८८, शुक्लध्यान की प्रक्रिया, लक्षण आदि का संक्षिप्त परिचय ८९, शुक्लध्यान का स्वरूप और लक्षण ८९, प्राथमिक दो शुक्लध्यान श्रुतावलम्बी ८९, गुणस्थान और योग की अपेक्षा शुक्लध्यान के अधिकारी ८९, (४) समतायोग ९०, समतायोग की महत्ता और उपयोगिता ९०, समतायोग से आत्मा में परमात्म-स्वरूप प्रकट हो जाता है ९०, समतायोग की साधना के बिना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव ९०, सामायिक का लाभ और महत्त्व ९१, समतायोग की साधना से पूर्व उसका सम्यग्ज्ञान एवं उसके प्रति श्रद्धा आवश्यक ९१, समता का लक्षण और समता के एकार्थक शब्द ९१, समतायोग की साधना और फलश्रुति ९२, समतायोग की महत्ता और आवश्यकता ९२, समतायोग क्या करता है? ९३, समता के बिना ध्यान परिपूर्ण नहीं होता ९४, समतायोग से अवलम्बन से अर्द्ध-क्षण में पूर्वबद्ध कर्मों का नाश ९४, समतायोग ही मुक्ति का अन्यतम उपाय ९५, समतायोगी को प्राप्त तीन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ ९५, साधकों को समतायोग में प्रवृत्ति और प्रचार की प्रेरणा ९६, (५) वृत्तिसंक्षययोग ९६, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा वृत्तिसंक्षययोग में ९६, वृत्तिसंक्षय अथवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण : क्यों और कैसे? ९७, अध्यात्म आदि चतुर्विध योग का सम्प्रज्ञात में और वृत्तिसंक्षय का असम्प्रज्ञात में समावेश ९७, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में अन्तर ९७, जैनदृष्टि से दो प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि ९७, वृत्तिसंक्षययोग में ही सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात दोनों का अन्तर्भाव : क्यों और कैसे? ९८, असम्प्रज्ञात समाधि और वृत्तिसंक्षययोग में नाम का अन्तर है ९९, पंचविधयोग का आगमसम्मत पंचविध संवरयोग में अन्तर्भाव ९९, पंचविधयोग का अन्तर्भाव मनःसमिति और मनोगुप्ति में भी १००, चतुर्विध योगों के बावजूद भी १००, चतुर्विधयोगों के बावजूद भी पंचमयोग की आवश्यकता क्यों? १००, वृत्तिसंक्षययोग का विशुद्ध स्वरूप और उसका प्रतिफल १०१, योगदर्शनोक्त द्विविध वृत्तियों का निरोध भी वृत्तिसंक्षययोग से १०१, वृत्तिसंक्षय : मनोविज्ञान की दृष्टि से १०२।

(५) बत्तीस योग-संग्रह : मोक्ष के प्रति योग, उपयोग और ध्यान के रूप में पृष्ठ १०३ से १२३ तक

साधन ठीक न हो तो साध्य-प्राप्ति नहीं हो सकती १०३, जैनदर्शन में योग का प्रचलित अर्थ और उसके दो रूप १०३, स्वकीय शुभ पुरुषार्थ के बिना अनायास कुछ भी प्राप्त नहीं होता १०४, प्राप्त साधनों के दुरुपयोग या अनुपयोग से साध्य-प्राप्ति संभव नहीं १०५, तीन कोटि के मानव : पतित, यान्त्रिक और समुन्नत १०५, साध्य-प्राप्ति के लिये आत्म-साधना का अधिकारी कौन और क्यों? १०५, प्राप्त साधनों का सदुपयोग या शुद्धोपयोग ही साध्य-प्राप्ति कराता है १०६, इन्होंने त्रिविधयोगरूप साधनों के सही उपयोग से साध्य-प्राप्ति की १०७, योग का आध्यात्मिक समाधि के अर्थ में प्रयोग १०७, मोक्ष के साधन योग्य : बत्तीस योग-संग्रह १०८, ये बत्तीस योग-संग्रह : संवर-निर्जरा-मोक्षप्रापक १०९, योग शब्द समाधि और

संयोग दोनों अर्थों में १०९, परम साध्य की प्राप्ति की दृष्टि से समाधि और संयोग, ये दोनों अर्थ साध्य-साधनरूप हैं ११०, आगमों और योग-ग्रन्थों में दोनों अर्थों के प्रमाण ११०, समाधि और संयोग : ये दोनों योगरूप एक ही पदार्थ के दो रूप १११, वैदिक विद्वानों द्वारा भी योग शब्द समाधि और संयोग अर्थ में प्रयुक्त १११, योग-संग्रह के बत्तीस भेद : धर्म-शुक्लध्यान के रूप में ११२, योग के अष्टांगों में ध्यान का महत्त्व ११३, प्रबलता से कर्मक्षय करने में ध्यान ही सक्षम ११३, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का संक्षिप्त परिचय ११३, धर्मध्यान का स्वरूप और चार प्रकार ११३, आज्ञाविचय का स्वरूप और चिन्तन की पद्धति ११४, अपायविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति ११४, विपाकविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति ११५, संस्थानविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति ११५, भगवान महावीर द्वारा किया गया संस्थानविचय ध्यान का प्रयोग ११६, धर्मध्यान के चारों भेदों को क्रियान्वित करने के लिए सहायक बारह प्रकार ११६, धर्मध्यान का महत्त्व, लाभ, शुक्लध्यान-योग्य बनने से पूर्व उपादेय ११७, धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान का अभ्यास क्यों? ११७, शुक्लध्यान का अधिकारी साधक कौन? ११७, शुक्लध्यान के प्रारम्भिक अभ्यासी साधक की अर्हता ११८, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का फल ११८, शुक्लध्यान का स्वरूप, अर्थ और लक्षण ११८, शुक्लध्यान के चार प्रकार और उनका स्वरूप ११९, शुक्लध्यान के आदि के दो भेद सालम्बन और अन्तिम दो भेद निरालम्बन १२०, किस शुक्लध्यान में कितने योग? १२०, प्रथम ध्यान दूसरे ध्यान का पूरक और साधक तथा विशेष सामान्यगामी दृष्टि १२०, द्वितीय शुक्लध्यान की उपलब्धियाँ १२१, चारों शुक्लध्यानों में योग-निरोध का क्रम १२२, अयोगी होने से लेकर निर्वाणपद तक १२३, धर्म-शुक्लध्यान के मिलकर बत्तीस प्रकार के योग मोक्ष-प्राप्ति में साधक होते हैं १२३।

(६) मोक्ष : क्यों, क्या, कैसे, कब और कहाँ ? पृष्ठ १२४ से १५० तक

मोक्ष-बन्धन-सापेक्ष १२४, ये भाव-बन्धन हैं, इसीलिए मोक्ष का विचार अत्यावश्यक है १२४, संसार भी एक प्रकार का बन्धन : उससे छूटना मोक्ष है १२५, आत्मा की अशुद्ध स्थिति संसार है, विशुद्ध स्थिति मोक्ष है १२६, भावसंसार के विनाश से इस संसार में रहते हुए भी मोक्ष हो सकता है १२६, सदैव कर्मबद्ध रहना आत्मा का स्वभाव नहीं १२७, आत्मा स्वयं ही बँधा है, इसलिए मुक्त भी स्वयं ही हो सकता है १२८, बुद्धिजीवी एवं अज्ञानी लोगों की मोक्ष के विषय में ऊटपटांग कल्पनाएँ १२८, ऐसा मोक्ष नहीं चाहिए मुझे १२९, मोक्ष के विषय में असंगत कल्पनाएँ १२९, क्या इतनी दीर्घकालिक तपःसाधना के बाद रूखा-सूखा मोक्ष मिलेगा? १३०, चार्वाक तो आत्मा और मोक्ष दोनों को नहीं मानता १३०, मोक्ष की अशरीरी अवस्था : शरीर की भोगावस्था से बिलकुल भिन्न १३०, मोक्ष अशरीरी अवस्था है, शरीरादि से बिलकुल मुक्त १३१, भोगवादी वीरों से मोक्ष को तथा मोक्ष के स्वरूप को न तोलें १३२, जन्म-मरणादिरहित मोक्ष कितना अधिक सुखमय? १३२, मुक्त आत्माओं का परम सुख वास्तविक १३४, शरीरवादी लोगों का मोक्ष में ऊब और युक्तिपूर्वक खण्डन १३५, संसार-सुख और मोक्ष-सुख में महान् अन्तर १३६, संसार सुख-दुःख संस्पृष्ट होता है, मोक्ष सुख-दुःखों से सर्वथा असंस्पृष्ट १३७, मोक्षवादी और स्वर्गवादी धाराओं में महान् अन्तर १३७, मोक्ष के अस्तित्व के विषय में शंका और समाधान १३८, कर्म और आत्मा के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर मोक्ष कैसे प्राप्त हो? १३८, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध परम्परा से अनादि, किन्तु सादि-सान्त भी १३९, निर्वाण के पर्यायवाचक शब्द १४०, बौद्धदर्शन-मान्य अभाववाचक निर्वाण और उसका निराकरण १४१, जैनदृष्टि से आत्मा के समग्र अस्तित्व को प्रकट करना निर्वाण है १४१, भगवान महावीर द्वारा निर्वाण-विषयक समाधान १४२, निर्वाण के सिद्धि-स्वरूप की व्याख्या १४३, निर्वाण का पारिपार्श्विक वातावरण १४३, सांख्यदर्शन-मान्य मोक्ष का स्वरूप यथार्थ क्यों नहीं? १४३, मोक्ष में अतीन्द्रिय आत्मिक और अव्याबाध-सुख का उच्छेद नहीं १४४, नैयायिक-वैशेषिकों की मोक्ष की कल्पना १४५, योग-वाशिष्ट मत में बन्ध और मोक्ष का लक्षण कितना संगत? १४६, अद्वैत वेदान्तदर्शन में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप १४६, वल्लभवेदान्त मत में भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर-कृपा अनिवार्य १४८, रामानुज आदि भक्तिमार्गीय आचार्यों की दृष्टि में मोक्ष १४८, योगी अरविन्द-मान्य मोक्ष : स्वरूप और विश्लेषण १४९, आत्मा का स्वरूप में अवस्थान भावमोक्ष तथा कर्मों से पृथक्त्व द्रव्यमोक्ष १५०, मोक्ष का कोई स्थान-विशेष नहीं १५०।

(७) मोक्षमार्ग का महत्त्व और यथार्थ स्वरूप पृष्ठ १५१ से १८८ तक

मंजिल और मार्ग का निश्चय करना आवश्यक १५१, यात्रा और भटकने में क्या अन्तर है? १५१, विवेक से रहित और सहित की यात्रा में बहुत अन्तर १५१, कौन-सी और कैसी है यह यात्रा? १५२, अध्यात्मयात्री को मोक्ष का यथार्थ मार्ग पाना अत्यावश्यक है १५३, सूत्रकृतांग-प्रतिपादित प्रशस्तभाव (मोक्ष) मार्ग का विश्लेषण १५३, प्रशस्त भावमार्ग (मोक्षमार्ग) की पहचान के लिए तेरह पर्यायवाची शब्द १५४, निर्वाणमार्ग : माहात्म्य, द्वीपसम आधारभूत, साधना के लिए उपादेय १५५, मोक्षमार्ग की विशेषता एवं सर्वकर्मक्षय कराने में सफलता १५६, मोक्षमार्ग पर श्रद्धापूर्वक गति-प्रगति करना मुमुक्षु का कर्तव्य १५८, मोक्षमार्गी : साध्य की सिद्धि के लिए साधना के तेरह सूत्र १५८, साधन शुद्ध होने पर ही शुद्ध साध्य प्राप्त किया जा सकता है १५९, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, इन चारों का समायोग ही मोक्षमार्गी १६१, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्व सम्यक् शब्द क्यों? १६२, प्रत्येक आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की त्रैकालिक सत्ता है १६२, ज्ञानादि गुण और गुणी आत्मा का अविनाभावी सम्बन्ध है १६३, ज्ञान से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का कारण १६३, दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का कारण १६४, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के अंग या साधन नहीं हैं १६५, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान : पहले कौन, पीछे कौन? १६५, मोक्ष के तीनों साधनों की परिपूर्णता कब और कैसे? १६७, मोक्षमार्ग के विषय में अन्य दर्शनों और जैनदर्शन का दृष्टिकोण १६८, केवल श्रद्धा व ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं १६८, तीनों का समन्वय एवं सम्यक्ता आवश्यक १६९, सम्यग्दर्शन क्या है, क्या नहीं? १७१, सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में धर्म आत्म-दृष्टिपरक धर्म है १७१, एकान्त ज्ञानवाद मोक्ष-प्राप्ति का साधन नहीं : क्यों और कैसे? १७२, एकान्त ज्ञान और तप दोनों ही मोक्ष-प्राप्तिकारक नहीं १७३, ज्ञान और क्रिया दोनों संयुक्त होने पर मोक्ष के साधन हैं १७४, अकेला सम्यक्चारित्र या समत्व भी मोक्ष का मार्ग है : क्यों और कैसे? १७५, मोक्ष-साधक-चारित्र गुणों के विषय में त्रैकालिक तीर्थंकरों का एकमत १७६, सम्यक्चारित्र के व्यवहारदृष्टि से लक्षण १७६, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में एषणासमिति विवेक-निर्देश १७७, मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में भाषासमिति विवेक-निर्देश १७८, चारित्र-शुद्धि के लिए विवेकसूत्र १७८, मोक्षमार्ग से भ्रष्ट या विचलित करने वाले मतवादी १७९, सस्ते, सुगम, आकर्षक मोक्ष-प्राप्ति के ये मार्ग १८१, सचित्त जल-स्नान एवं जल-प्रयोग से मोक्ष नहीं होता : क्यों, किसलिए? १८२, अग्निहोत्रक्रिया से भी मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती १८३, जल-स्नान और अग्निहोत्र आदि संसार के मार्ग हैं, मोक्ष-प्राप्ति मार्ग नहीं १८४, केवल स्व-मत स्वीकार से सर्वदुःख-मुक्ति का आश्वासन कितना झूठा? १८५, मुक्ति का सस्ता नुस्खा : स्व-पर-वंचनामात्र है १८६, केवल तत्त्वज्ञान से कैसे मुक्ति सम्भव? १८६, कर्मबन्ध के कारणों को दूर किये बिना सर्वदुःख-मुक्ति कैसे होगी? १८७, प्रथम प्रबल कारण : सन्धि की अनभिज्ञता १८७, द्वितीय प्रबल कारण : धर्म-विषयक अज्ञान १८८।

(८) निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : क्या, क्यों और कैसे? पृष्ठ १८९ से २२० तक

निश्चय मोक्षमार्ग है–आत्मा का दर्शन, ज्ञान और आचार में परिणमन १८९, विभिन्न धर्मग्रन्थों में आत्म-प्रधान निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग के लक्षण १८९, आत्मा को सर्वथा विस्मृत करके केवल दूसरों को मानने, जानने और सुधारने का प्रयत्न मोक्षमार्ग नहीं १९१, निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : स्वरूप, उद्देश्य और भेदविज्ञानरूप १९१, मोक्षमार्ग के दो रूप : स्वरूप, समन्वय, साध्य-साधनरूप और एकान्तवाद से हानि १९२, मोक्षमार्ग में आत्मा (जीव) की ही प्रमुखता और प्राथमिकता क्यों? १९४, अन्य सभी तत्त्वों का मूलाधार जीव ही है १९६, जीव के ज्ञान के साथ अजीव का बोध आसान १९६, जीव से पहले अजीव को स्थान क्यों नहीं? : एक शंका-समाधान १९७, सभी शुभाशुभ क्रियाओं का आधार जीव है १९७, आत्मा अच्छा-बुरा, पुण्य-पाप करने में स्वतंत्र १९८, आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का रहस्य १८९, कर्मबन्ध से छुटकारा दिलाने हेतु निश्चय मोक्षमार्ग पर दृष्टि जरूरी १९९,जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मार्ग और मोक्ष रहना चाहिए २००, बाह्य क्रियाएँ या बाह्य तप आदि साक्षात् मोक्ष के अंग नहीं हो सकते २०२, शुद्धोपयोग से ही मोक्ष-प्राप्ति, शुभ-अशुभ उपयोग से नहीं २०२, निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन : आत्म-स्वरूप पर श्रद्धान या विश्वास २०२, स्व-स्वरूपोपलब्धि की पहचान : भेदविज्ञान से ही २०२, जैनदृष्टि से

सम्यग्दर्शन का सामान्य अर्थ–सम्यक्श्रद्धा या विश्वास २०३, किस तत्त्वभूत पदार्थ पर श्रद्धा से शुद्ध सम्यग्दर्शन सम्भव? २०३, व्यवहार सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत दशविध रुचि २०५, वे मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति आत्म-धर्म से, ज्ञान-आचरण से दूर हैं २०६, एकान्त नियतिवाद की प्ररूपणा २०८, एकान्त नियतिवादी : मोक्षमार्ग के मिथ्याप्ररूपक २०८, एकान्त नियति सर्वदुःखान्तरूप मोक्ष का कारण नहीं : क्यों और कैसे? २०८, अज्ञानवाद : संसार-परिभ्रमण का कारण है २०९, तृतीय प्रकार का अज्ञानवाद : स्वरूप एवं प्रकार २१०, 'संजयवेलट्ठिपुत्त' का अज्ञानवाद भी सर्वदुःखनाशक मोक्ष का कारण नहीं २१०, तथागत बुद्ध का अस्थिर उत्तर भी अज्ञानवाद का अंग है २११, अज्ञानवादी कहाँ हैं : सुखी, सन्तुष्ट, कुशलक्षेमयुक्त? २११, अज्ञानश्रेयोवादी अपने सिद्धान्त का निरूपण ज्ञान द्वारा क्यों करते हैं? २१२, अज्ञानवादियों का ज्ञानवादियों पर आक्षेप और समाधान २१२, अज्ञानवादी-साधक मोक्षमार्ग से दूर, संसारमार्ग के पोषक २१३, एकान्त विनयवाद से भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता २१४, एकान्त विनयवादी : सत्यासत्य विवेक से रहित २१४, विनयवादियों में सत्-असत् विवेकशून्यता २१४, विनयवाद के गुण-दोष की समीक्षा २१५, बौद्धों द्वारा अक्रियावाद की प्ररूपणा करने पर प्रकारान्तर २१५, एकान्त क्रियावाद के एक सौ अस्सी भेद २१६, एकान्त क्रियावाद के गुण-दोष की समीक्षा २१७, एकान्त अक्रियावाद भी मोक्ष का कारण नहीं २१७, अक्रियावाद के कुल चौरासी भेद २१७, एकान्त अक्रियावादी मुख्यतः तीन और उनकी प्ररूपणा २१८, तीनों क्रिया करते हैं, फिर भी अक्रियावादी कैसे? २१९, बौद्धों के कर्मोपचय निषेधरूप क्रियावाद से मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती २१९, कर्मबन्ध कब होता है, कब नहीं? : बौद्धमत विचार २१९, भाव विशुद्ध हों, वहाँ कर्मोपचय नहीं होता, यह तथ्य युक्ति-विरुद्ध है २२०।

(९) भक्ति से सर्वकर्ममुक्ति : कैसे और कैसे नहीं? पृष्ठ २२१ से २५१ तक

विस्मृत परमात्म-तत्त्व को पुनः पाने का उपाय परमात्म-भक्ति है २२१, परमात्म-भक्ति से स्व-स्वभाव-परिवर्तन २२१, भक्ति से परमात्म-विमुख परमात्म-सम्मुख हो सकता है : कैसे-कैसे? २२२, अपने स्वरूप को भूला हुआ मानव प्रभु-भक्ति से शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान कर लेता है २२२, परमात्म-भक्ति से वायरलैस सैट के समान परमात्मा से सम्पर्क संभव २२४, विनाशी को छोड़कर अविनाशी के साथ प्रीति-भक्ति में भय, दुःख, क्लेश दूर हो जाता है २२४, परमात्म-भक्ति के अमृत के आस्वाद में मस्त आकांक्षाओं पर निर्वेद २२५, परमात्म-भक्ति से सार्थक आत्म-शक्ति, मनःशक्ति प्राप्त होती है २२५, परमात्म-भक्ति बाह्यकरणों और अन्तःकरणों को शक्ति और आनन्द से भर देती है २२६, परमात्म-भक्ति से सहिष्णुता, निर्भयता और आनन्द का उल्लास २२६, सर्वस्व न्योछावर करने की शक्ति तथा सहन-शक्ति मिलती है परमात्म-भक्ति से २२८, परमात्म-भक्ति में भक्त के जीवन-परिवर्तन का अपूर्व सामर्थ्य २२९, ऐसे उदासीन या विमुख परमात्मा की भक्ति क्यों करें? २२९, यह भक्ति नहीं, भक्ति का नाटक है, सौदेबाजी है २३०, निष्काम-भक्ति और सकाम-भक्ति में दिन-रात का अन्तर २३०, ऐसी तामसिक अन्ध-भक्ति तो सर्वथा त्याज्य है २३२, जैन और वैदिकादि परम्परा की परमात्म-भक्ति में मूलभूत अन्तर २३२, ईश्वर-कर्तृत्ववादी परम्परा की परमात्म-भक्ति : पराश्रयी और परापेक्ष २३२, परमात्म-सत्ता का 'स्व' में अनुभव करना भक्ति है, जो आनन्दरूपा है २३३, क्रिया और भक्ति में अन्तर : निःस्वार्थ प्रीतिरूप-भक्ति का फल २३४, नमन-स्तवन गुणोत्कीर्तनरूप निष्काम-भक्ति से अलभ्य लाभ २३४, परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति की दो परख २३६, परमात्मा के प्रति अनन्य भक्तिमान् के लक्षण २३६, वीतराग परमात्मा के प्रति अनन्य-भक्ति कैसी होती है? २३७, आगमों की दृष्टि में परमात्मा की अनन्य-भक्ति की साधना २३८, आराधनारूप अनन्य-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण २३९, प्रभु की अनन्य-भक्ति से अलभ्य लाभ २४०, सुलसा श्राविका अनन्य-भक्ति की परीक्षा में उत्तीर्ण २४०, अनन्य-भक्तिमान् व्यक्ति की परख २४१, अनन्य-भक्तिमान् व्यक्ति प्रभु को अपने से दूर नहीं मानता २४१, भक्ति का महत्त्वपूर्ण अंग : उपासना : अर्थ, स्वरूप और परिणाम २४२, उपास्य की उपासना से उपासक का तादात्म्य : क्यों और कैसे? २४३, उपासना श्रेष्ठ चिन्तन और व्यक्तित्व निर्माण का माध्यम २४३, पर्युपासना में कतिपय सावधानियाँ २४३, पर्युपासना का परम्परागत फल सिद्ध (मोक्ष) गति २४५, भक्ति शब्द एक : अर्थ, लक्षण और परिभाषाएँ अनेक २४५, रागात्मक भक्ति से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष या संवर-निर्जरा कैसे? २४७, प्रशस्त

राग को भक्ति में स्थान देने के दो कारण २४८, भेद-भक्ति और अभेद-भक्ति का रहस्य, महत्त्व और उपादेयत्व २४९-२५१।

(१०) शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता — पृष्ठ २५२ से २६९ तक

चार प्रकार के पुरुषार्थ : रहस्यार्थ २५२, साधु-श्रावकवर्ग के लिए अर्थ और काम-पुरुषार्थ २५२, दोनों वर्गों का अन्तिम लक्ष्य या ध्येय मोक्ष-प्राप्ति है २५४, धर्मादि पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति के लिए है २५४, धर्म-पुरुषार्थ सर्वपुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल कारण २५४, मोक्ष-पुरुषार्थी-साधक की शीघ्र सफलता के सूत्र २५५, मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि कैसे और कब होती है? २५६, मोक्ष-पुरुषार्थी सतत अप्रमत्त होना चाहिए २५६, मोक्ष-प्राप्ति के लिए दुर्लभ क्रमशः पन्द्रह अंग २५६, मोक्ष के प्रति पुरुषार्थ मोक्ष के स्वरूप को जानते हुए भी क्यों नहीं होता? २६१, शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए चारों का समन्वित पुरुषार्थ जरूरी २६१, कोरे ज्ञान से आचरण में बाधा डालने वाली बातें दूर नहीं होतीं २६२, ज्ञान और आचरण की दूरी का एक कारण : मूर्च्छा का चक्र २६२, चारों आवरणों को मिटाने के लिए २६३, मोक्ष का स्वरूप जानते हुए भी कर्मक्षय का पुरुषार्थ नहीं कर पाते २६३, मोक्ष के लिए सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ का महत्त्व २६४, मोक्ष-पुरुषार्थी का ध्येय, आदर्श तथा पुरुषार्थ में सफलता के मूलमंत्र २६६, ईश्वर या अवतार के हाथ में मोक्ष नहीं, मोक्ष स्व-पुरुषार्थ के हाथ में है २६७, भाग्य भरोसे न रहकर मोक्ष के लिए शुद्ध पुरुषार्थ करना जरूरी २६७, सर्वज्ञप्रभु के ज्ञान के भरोसे न बैठकर मोक्षानुकूल पुरुषार्थ करना चाहिए २६७, मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ में सफलता के लिए पंचकारण समवाय अनिवार्य २६८, मोक्ष-पुरुषार्थ में बाधक और साधक तत्त्व २६८, धर्म-पुरुषार्थ : कुछ भ्रान्तियाँ और निराकरण २६९, अर्थ और काम-पुरुषार्थ भी धर्मलक्षी हो, मोक्षाशामूलक हो २६९।

(११) शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट सूत्र — पृष्ठ २७० से ३०९ तक

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुराने बोल : नये मोल २७०, मोक्षमार्ग के चार अंगों में इन बोलों का वर्गीकरण २७०, सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त किये बिना कृतकृत्यता नहीं २७१, उन्नीस बोलों का मोक्ष के चार अंगों में वर्गीकरण : कैसे-कैसे? २७१, सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में प्रथम महत्त्वपूर्ण बोल : मोक्ष की इच्छा २७२, मोक्ष और उसकी इच्छा : क्या, क्यों और कैसे? २७२, मोक्ष की इच्छा लोकोत्तर होने से कथंचित् उपादेय २७२, निश्चयदृष्टि से मोक्ष की इच्छा हेय, किन्तु व्यवहारदृष्टि से कथंचित् उपादेय २७३, मोक्ष की इच्छा : अन्य सांसारिक इच्छाओं के शमन के लिए २७३, सांसारिक इच्छाएँ बहिर्मुखी : मोक्ष की इच्छा अन्तर्मुखी २७३, मोक्ष की इच्छा से पारमार्थिक लाभ २७४, मोक्ष की इच्छा का तात्कालिक फल २७४, मोक्ष की इच्छा के बाह्य हेतु २७५, मोक्ष की इक्षा के आभ्यन्तर हेतु २७५, संसारानुप्रेक्षा मुमुक्षा का कारण २७५, शरीरानुप्रेक्षा भी मोक्ष में पुरुषार्थ करने की तमन्ना जगाती है २७६, एकत्वानुप्रेक्षा भी मुमुक्षा के अन्तरंग कारण २७६, अशरणानुप्रेक्षा मुक्ति-प्राप्ति में पुरुषार्थ करने की भावना जगाती है २७७, षट्स्थान चिन्तन से मोक्ष की प्रतीति और रुचि जाग्रत होती है २७७, मोक्ष के अंगभूत सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित तीन बोलों का विश्लेषण २७८, पहला बोल–गुरुमुख से सूत्र-सिद्धान्तों का वाचन-श्रवण करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २७८, दूसरा बोल–स्वयं ज्ञान सीखने और दूसरों को सिखाने से, ज्ञान में तन्मयता से जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २७८, तीसरा बोल–पिछली रात्रि में धर्मजागरणा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २७९, मोक्ष के अंगभूत सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित आठ बोलों का विश्लेषण २८०, पहला बोल–सूत्र-सिद्धान्त सुनकर वैसी (सम्यक्) प्रवृत्ति करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८०, दूसरा बोल–गृहीत व्रतों का शुद्ध (निरतिचार) पालन करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८१, तीसरा बोल–संयम का दृढ़ता से पालन करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८१, चौथा बोल–शुद्ध मन से शील (ब्रह्मचर्य) पाले तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८३, शील का स्वरूप, अर्थ और विश्लेषण २८३, ब्रह्मचर्य-सम्बन्धित मन:शुद्धि के कतिपय उपाय २८३, ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानों का सम्यक्पालन हो २८३, पाँचवाँ बोल–शक्ति होते हुए भी क्षमा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८४, क्षमा : स्वरूप, दुष्करता शक्तिशाली के लिए २८४, शक्ति के दो प्रकार और स्वरूप २८४, बाह्यशक्ति : स्वरूप, प्रकार, सदुपयोग-दुरुपयोग २८४, छठा

बोल-कषाय को पतली करके निर्मूल करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८७, मोक्षपथिक के लिए कषाय-त्याग जरूरी २८७, कषाय-विजय और कषाय-क्षय के लिए विभिन्न द्वार-निर्देश २८७, सातवाँ बोल-षड्जीव-निकाय की रक्षा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २८८, जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह संयमाराधक नहीं हो सकता २८८, व्यवहारदृष्टि से जीव को दशविध प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है २८९, हिंसा के पाँच कारण : अशुभ कर्मबन्ध के हेतु २८९, हिंसा कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे? जीवरक्षा के अमोघ उपाय और भाव २९०, आत्मा कब हिंसारूप बन जाती है, कब अहिंसारूप? २९०, जीवरक्षा के लिए उत्कृष्ट करुणाभाव से सर्वकर्ममुक्त होने वाले २९०, आठवाँ बोल-सुपात्रदान तथा अभयदान देवे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २९१, अभयदान का माहात्म्य, स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण २९३, मोक्ष के चतुर्थ अंग : सम्यक्तप के सन्दर्भ में सात बोल २९४, पहला बोल-(मोक्षदृष्टि से) उग्रतप करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय २९४, भोगजनित ताप पीड़ाकारक : उग्रतप अल्पपीड़ाकारक परिणाम में सुखदायक २९५, आत्म-शुद्धि और गुणवृद्धि के लिए उग्रतप करना आवश्यक २९६, ये भी उग्रतप में समाविष्ट हैं २९६, बाह्य और आभ्यन्तरतप : प्रकार, परस्परपूरक, सहायक, संरक्षक २९७, बाह्य और आभ्यन्तरतप के मुख्य प्रयोजन २९७, उग्रतप : क्या और कैसे-कैसे? २९८, सम्यक्आचरित बाह्याभ्यन्तरतप : शीघ्र भवभ्रमण से मुक्ति २९८, सम्यक्तप : निश्चय-व्यवहारदृष्टि से तथा द्रव्य-भावदृष्टि से २९८, सम्यग्ज्ञानयुक्त तप और अज्ञानतप तथा अशुद्धतप और शुद्धतप का अन्तर २९८, ऐसे घोर पापकर्म-बन्धक तपों से मुमुक्षु दूर रहे २९९, दूसरा बोल-पाँचों इन्द्रियों को वश करे, अन्तर्मुखी करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३००, इन्द्रिय-विषय : प्रकार तथा विषयाधीनता के तीन स्तर ३०१, इन्द्रिय-निग्रह के चार प्रकार ३०१, विषयासक्ति निवारणार्थ : विषयों के प्रति निर्वेद और उसके लिए पाँच अनुप्रेक्षाएँ ३०१, विषयों का ज्ञान होने पर वेदन और विकार न आने दे ३०२, प्रत्येक कार्य में जिनाज्ञा और वीतराग-आत्मा के आदेश का स्मरण करे ३०२, विषय-सुखों की दुःखरूपता आदि का भी स्मरण करे ३०२, इन्द्रिय-निग्रह के लिए आत्म-जागृति और सावधानी आवश्यक है ३०३, इन्द्रिय-निग्रह का शीघ्र मुक्तिरूप फल ३०३, तीसरा बोल-दस प्रकार की वेयावच्च करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३०३, चौथा बोल-उत्तम ध्यान करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३०४, पाँचवाँ बोल-लगे हुए पापों की तुरंत आलोचना करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३०६, आलोचना से शीघ्र मुक्ति : कैसे-कैसे? ३०६, छठा बोल-यथासमय आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) करने से जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३०७, सातवाँ बोल-अन्तिम समय में संलेखना-संथारासहित पण्डित-मरण प्राप्त करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय ३०८-३०९।

(१२) मोक्ष अवश्यम्भावी : किनको और कब ? पृष्ठ ३१० से ३३१ तक

मोक्ष की अवश्यम्भाविता के अधिकारी का विचार करना आवश्यक ३१०, विभिन्न पहलुओं और दृष्टियों से मोक्ष की अवश्यम्भाविता ३११, जिनको पर-भव से मुक्तिरूप फल मिलना निश्चित है ३११, निश्चयदृष्टि से मोक्ष की अवश्यम्भाविता का आश्वासक सूत्र ३१२, आराधक सरागसंयमी, अनुत्तरौपपातिक देवलोक के बाद अगले भव में मुक्त ३१३, संयमासंयमी श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकाएँ ३१४, दान की उत्कृष्ट भावना से जीर्ण सेठ बारहवें देवलोक में, वहाँ से अगले भव में मोक्ष प्राप्त करेगा ३१४, आहार-शरीरादि में दृढ़ संयमी ब्रह्मचर्यनिष्ठ जुड़ुल श्रावक ३१५, अकामनिर्जरा और बालतप से देव-भव मिल सकता है ३१५, प्रदेशी राजा भी श्रावकव्रती बनकर समाधिमरणपूर्वक सूर्याभदेव बना ३१५, अम्बड़ परिव्राजक श्रावकव्रतों का पालन कर ब्रह्मलोक में देव बना ३१६, संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक के द्वारा द्वितीय भव में मोक्ष-प्राप्ति ३१६, सप्त लव कम आयु वाले मानव को भी सर्वार्थसिद्ध देवलोक में जाना पड़ा ३१८, आराधक श्रमण निर्ग्रन्थों और श्रमणोपासकों को उत्तम देवलोक या मोक्ष की प्राप्ति ३१९, अग्रग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ को महानिर्जरा और महापर्यवसान की उपलब्धि ३१९, प्रासुकभोजी मृतादी निर्ग्रन्थ : कौन भवान्तकारक, कौन भवभ्रमणकारी? ३२१, एषणीय आहारादि भोजी श्रमण निर्ग्रन्थ संसार पारगामी ३२१, क्षीणकांक्षा-प्रदोष श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम शरीरी हो जाता है ३२२, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य आराधना का फल ३२२, कर्त्तव्य-दायित्व वहनकर्ता आचार्य और उपाध्याय कितने भवों में मुक्त होते हैं? ३२२, संवेग आदि कतिपय गुणों से मोक्षफल-प्राप्ति ३२३,

संवेग-निर्वेदादि उनपचास (४९) पदों का अन्तिम फल : सिद्धि-मुक्ति ३२४, त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा उक्त चारित्रगुणों से सम्पन्न सिद्ध-बुद्ध-मुक्त ३२५, तीन स्थानों से सम्पन्न अनगार : संसार-अरण्य से पार हो जाता है ३२५, एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा के सम्यक् पालन का फल ३२५, शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका को भविष्य में मानव-भव पाकर मोक्ष-प्राप्ति ३२७, विराधक अवीचिकुमार वैरानुबन्ध के कारण असुरकुमार देव बना ३२८, दस कारणों से जीव आगामी भद्रता के कारण शुभ कर्म का उपार्जन करता है ३३०, दस बातें प्रशस्त एवं अन्तकर ३३१।

(१३) मोक्ष-सिद्धि के साधन : पंचविध आचार पृष्ठ ३३२ से ३५५ तक

यंत्रचालक पुर्जों और मशीन को चलाये नहीं तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक ३३२, मुमुक्षु आत्मा भी ज्ञानादि पंचाचारयुक्त आचारयंत्र को क्रियान्वित न करे तो हानि ही ३३२, आधाररूपी यंत्र को चलाते समय उपयोगशून्य ३३३, ये पाँच आचार केवल नाम, स्थापना, द्रव्यरूप में रहें तो भी मोक्षलक्ष्य की सिद्धि सम्भव नहीं ३३३, अथवा पंच-आचार को विपरीतरूप में अविधिपूर्वक क्रियान्वित करे तो भी कर्ममुक्तिरूप मोक्ष लाभ नहीं ३३४, पंचविध आचार के नाम पर अनाचार में पुरुषार्थ : कैसे-कैसे ? ३३४, पंचविध आचार का पालन केवल वीतरागता-प्राप्ति के लिए करे ३३६, दोषदूषित पंचाचार-पालन से वीतरागतारूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती ३३६, पंचाचार-साधना का विशिष्ट उद्देश्य : परमात्म-स्वरूप पाना ३३६, ऐसे सम्यक्आचार की क्या आवश्यकता है, क्या महत्त्व है? ३३७, आदर्श सम्यक्आचार ही सर्वकर्ममुक्ति-प्रापक ३३८, आचारहीन व्यक्ति आदरणीय नहीं माना जाता ३३८, जो विचार या ज्ञान आचरण में नहीं है, वह बाँझ है, उससे कर्ममुक्ति नहीं हो पाती ३३९, केवल पाठ बोलना आचरणहीन तोतारटन है ३४०, आचारधर्म : सिर्फ उपासनात्मक न होकर जीवन में आचरणात्मक हो ३४०, धर्म क्या है, क्या नहीं? ३४१, आत्मा का स्वभाव ही उसका धर्म है ३४१, आत्मा के चार निजी गुणों में रमण करने, पर-भावों से विरत और स्वभाव में स्थित होने हेतु पंचाचार हैं ३४२, आत्मा के निजी गुण = स्वभाव में आचरण करना ही धर्म है, पर-भावों में रमण करना नहीं ३४२, इसी आत्म-धर्म की साधना के लिए ज्ञानादि पंचाचार हैं ३४२, ऐसे सम्यक्आचार के पाँच प्रकार ३४२, इन्हीं पाँच आचारों को पृथक्-पृथक् समझाने हेतु संख्या-भेद ३४३, आचार के पाँच भेद आत्मा के चार निजी गुणों को आत्मसात् करने के लिए हैं ३४३, चार आचार ही पर्याप्त हैं; पाँचवें वीर्याचार के कथन का क्या प्रयोजन? ३४४, केवल ज्ञानाचार ही मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं, अन्य चार आचार भी अनिवार्य हैं ३४४, ज्ञानाचार को ही सर्वाधिक महत्त्व और प्राथमिकता क्यों? ३४६, सम्यक् पंच-आचारों का प्रयोजन ३४७, ज्ञानाचार : स्वरूप तथा ज्ञान-अज्ञान का अन्तर ३४९, ज्ञानाचार के आठ अंग : लक्षण और परिणमन ३४९, निश्चय ज्ञानाचरण का लक्षण ३५२, दर्शनाचार : लक्षण और अंग ३५२, निश्चय दर्शनाचार का लक्षण ३५३, व्यवहारदृष्टि से चारित्राचार : लक्षण और भेद ३५३, निश्चय चारित्राचार का लक्षण ३५४, तपाचार : लक्षण और भेद ३५४, वीर्याचार का स्वरूप और कार्य ३५५, पंचविध आचार : सभी वर्गों के लिए पालनीय ३५५।

(१४) मोक्ष के निकट पहुँचाने वाला : उपकारी समाधिमरण पृष्ठ ३५६ से ३९३ तक

जीवन और मरण दोनों साथ-साथ चलते हैं ३५६, प्रतिक्षण होने वाले द्रव्य-भावमरण के प्रवाह में मत बहो ३५६, जीवन के दर्शन की तरह मरण के दर्शन को भी गहराई से समझो ३५७, मृत्यु के बिना जीवन की कोई मूल्यवत्ता नहीं है ३५७, जीवन को सुखद बनाने का जितना ध्यान है, उसका शतांश भी मृत्यु का नहीं ३५८, जीवन सबको प्रिय है, मृत्यु नहीं : क्यों और किसलिए? ३५८, मृत्यु के पीछे जो अच्छाई है, उसे भी समझो ३५९, मृत्यु का आगमन निश्चित है ३५९, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मृत्यु से घबराते नहीं ३६०, मृत्यु से भयभीत होने का कारण ३६०, जीवनकला की तरह मृत्युकला में पारंगत हो सच्चा कलाकार ३६१, जिसके पास धर्म पाथेय है, वह मोक्षयात्री मृत्यु से घबराता नहीं, प्रसन्न होता है ३६१, मृत्यु की बात को टालने या भूलने से मृत्यु टल नहीं सकती ३६२, मृत्यु के प्रति भीति या भ्रान्ति, दोनों जीवन के प्रति आसक्ति और मोह बढ़ाती हैं ३६२, मृत्यु शान्तिदात्री, दयालु, महानिद्रा और नवजीवनदायिनी है, उससे डर कैसा? ३६३, मृत्यु के स्मरण से अनेक लाभ ३६३, मृत्यु के आगमन से पूर्व ही हम उसके स्वागतार्थ क्यों न तैयार रहें? ३६३, मृत्यु लाभदायक या हानिकारक? किसके लिए और क्यों? ३६४, उसके लिए मृत्यु

दुःखदायक या भयोत्पादक नहीं होती ३६५, शरीर-कर्म-कारावास से मुक्त होने में डर किसका? : एक चिन्तन ३६५, दो प्रकार के मरण : सकाममरण और अकाममरण ३६६, बालमरण : अकाममरण या असमाधिमरण ३६६, बालमरण से मरने वालों का निकृष्ट जीवन और चिन्तन ३६७, सकाममरण का लक्षण और फल ३६७, सकाममरण का उत्तम फल : मोक्ष या उच्च देवलोक ३६८, मुख्यतया दो प्रकार के मरण : बालमरण और पण्डितमरण : स्वरूप और प्रकार ३६८, एकान्त बाल, एकान्त पण्डित और बाल-पण्डित का आयुष्यबन्ध ३६९, ज्ञानी साधक की सकाममरणीय दशा ३७१, अज्ञानी जीव की अकाममरणीय दशा ३७१, सकाममरणयुक्त पण्डितमरण का स्वरूप, महत्त्व और आराधकत्व ३७१, पण्डितमरण का सच्चा आराधक ३७२, सभी मरणों के मुख्य दो प्रकार : समाधिमरण और असमाधिमरण ३७२, समाधिमरण की सफलता के लिए तीस भावनाएँ—अनुप्रेक्षाएँ ३७२, मनुष्य-भव और अच्छे संयोग प्राप्त होने पर भी लापरवाही क्यों? ३७७, मृत्यु के समय समाधि रखने की प्रेरणा ३७८, मृत्यु के समय समाधि कैसे रहे? ३७८, समाधिमरण-साधक का चिन्तन और समाधिभाव की प्रेरणा ३७९, समाधिमरण के लिए मृत्यु-महोत्सव-भावना ३८०, समाधिमरण में सबसे बड़ी तीन बाधाएँ ३८२, समाधिमरण में असफलता का कारण : देहादि के प्रति मूर्च्छा ३८३, कुसंस्कार : समाधिमरण की साधना में बाधक ३८३, अजागृति : समाधिमरण की सबसे बड़ी बाधा ३८४, समाधिमरण-साधक मृत्यु के प्रति सदा आशंकित, जाग्रत और सतर्क रहता है ३८४, मृत्यु की वेला में कठोर परीक्षा में कौन सफल, कौन असफल? ३८५, समाधिमरण की प्रबल कसौटी : मृत्यु ३८५, आराधना-विराधना की प्रबल कसौटी भी मृत्यु है ३८६, मृत्यु के प्रकार : निमित्त और समाधि-असमाधिपूर्वक मरण ३८७, व्याधि के निमित्त से मरण में समाधिभाव कैसे और कैसे नहीं? ३८७, आकस्मिक मरण क्या, कैसे-कैसे और समाधिभाव कैसे? ३८८, उपसर्ग से मृत्यु होने में निमित्त और समाधिपूर्वक मरण-वरण ३८९, देवकृत उपसर्ग के समय समभाव-समाधिभाव रखना कठिन ३८९, मनुष्यकृत उपसर्ग के समय समाधिभाव रखना कितना कठिन, कितना आसान? ३८९, उपसर्ग के समय निर्भय होकर देहोत्सर्ग करना समाधिमरण है ३९०, मनुष्य द्वारा मनुष्यों-तिर्यञ्च पशुओं पर होने वाले उपसर्गकृत मरण ३९१, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग के समय प्रायः असमाधिमरण, क्वचित् समाधिमरण ३९२, समाधिमरण की तैयारी के लिए चिन्तन-बिन्दु ३९२-३९३।

(१५) संलेखना-संथारा : मोक्षयात्रा में प्रबल सहायक पृष्ठ ३९४ से ४२९ तक

स्वेच्छा से होने वाले मरण के दो प्रकार : आत्महत्या से और संलेखना-संथारे से ३९५, आत्महत्या से होने वाले मरण : कारण और दुःखद फल ३९५, स्वेच्छा से मरण का दूसरा प्रकार : संलेखना-संथारा : स्वरूप ३९६, संलेखना और संथारे में अन्तर ३९७, विभिन्न विमोक्षों के रूप में संलेखना-संथारा की साधना और उनका प्रतिफल ३९७, संलेखना के दो प्रकार : काय-संलेखना और कषाय-संलेखना ३९८, त्रिविध संलेखना की विधि और अवधि ३९९, संलेखना-साधक संथारा-ग्रहण से पहले क्या करे? ४००, संलेखना-संथारा की पूर्व तैयारी है भी, नहीं भी ४०१, पूर्व तैयारी के रूप में संलेखना और मारणान्तिकी संलेखना में अन्तर ४०१, संलेखना-संथारा कब करना चाहिए, कब नहीं? ४०२, संलेखना-संथारा में अन्तिम समय की प्रधानता क्यों? ४०३, जिन्दगीभर की हुई आराधना मृत्युकाल में विराधना में परिणत हो सकती है ४०४, जिंदगी में की हुई अनाराधना, मृत्युकाल में आराधना में परिणत हो सकती है ४०५, शरीर-कषाय-संलेखना पहले से ही क्यों? ४०७, संलेखना की भावना भी भव-भ्रमणनाशिनी है ४०८, कभी-कभी तत्काल संथारे का निर्णय करना होता है ४०९, संलेखना-संथारा और आत्महत्या में महान् अन्तर ४१०, ये सब प्राणोत्सर्ग-प्रयोग समाधिमरण नहीं हैं ४११, संलेखना-संथारा स्व-हिंसा नहीं, स्व-पर-दया है ४१२, संलेखना-संथारा मृत्यु को अमरता में बदलने के लिए किया जाता है ४१२, संलेखना-संथारा : जीवन की अन्तिम आवश्यक अध्यात्म-साधना ४१४, संलेखना-संथारा बहुत ही भावना और विचार के पश्चात् होता है; आत्महत्या में ऐसा नहीं होता ४१४, संलेखना-संथारा और आत्मघात में आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अन्तर ४१५, संलेखना-संथारे में पाँच अतिचारों से बचने का निर्देश ४१६, संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक ४१९, भ्रान्तियुक्त सम्बन्ध क्या और किन-किन से? ४१९, इन तीनों सम्बन्धियों से सम्बन्ध छोड़कर जाना

पड़ेगा ४२०, शरीर के रहते-रहते इन सम्बन्धियों से सम्बन्ध नहीं तोड़ने पर ४२०, मृत्यु के बाद भी सम्बन्ध क्यों और कैसे रहता है? ४२०, अन्तिम सम्बन्ध-विषयक स्मृति आगामी जन्म एवं शरीर की कारण ४२१, पूर्वोक्त सांसारिक सम्बन्धियों से, सम्बन्ध-विच्छेद करने में मुख्य हितायतें ४२१, संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व क्षमापना और आत्म-शुद्धि भी अनिवार्य ४२२, संलेखना-संथारा से पूर्व जीवन-मरण की अवधि जानना भी आवश्यक ४२३, भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिणीमरण और पादपोपगमन : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण ४२३, सागारी संथारा : स्वरूप और प्रकार ४२४, सुदर्शन श्रमणोपासक ने सागारी संथारे का आदर्श प्रस्तुत किया ४२५, सागारी संथारे का दूसरा प्रकार : संथारा पोरसी ४२५, यावज्जीवन अनागारी संथारा की विधि ४२६-४२९।

(१६) मोक्षप्रापक विविध अन्तःक्रियाएँ : स्वरूप, अधिकारी, योग्यता पृष्ठ ४३० से ४६० तक

विविध अन्तःक्रियारूपी सरिताएँ : मोक्षसागर में अवश्य विलीनता ४३०, अन्तःक्रिया का स्वरूप : लौकिक और लोकोत्तरदृष्टि से ४३१, लोकोत्तर अन्तःक्रिया और उसके चार प्रकारों का निरूपण ४३१, प्रज्ञापनासूत्रोक्त मरणार्थक अन्तःक्रिया के वर्णन का भी आशय शुभ ४३१, लौकिक अन्तःक्रिया की प्ररूपणा क्यों? ४३२, अन्तःक्रिया : स्वयं पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है, माँगने से नहीं ४३३, संज्ञी मनुष्यपर्याय में ही मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया सम्भव ४३४, मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया का स्वरूप और प्राप्ति-अप्राप्ति का रहस्य ४३४, नारक और देव अपनी-अपनी पर्याय में अन्तःक्रिया क्यों नहीं कर सकते? ४३४, मनुष्यपर्याय में सर्वकर्मक्षयकर्त्ता ही अन्तःक्रिया करता है ४३५, देव सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर सकते : क्यों और कैसे? ४३६, मनुष्य-भव में धर्माराधना की पूर्ण सामग्री सम्भव ४३६, धर्माराधना न करने वाले को सम्बोधि और शुभ लेश्या की प्राप्ति अति दुर्लभ ४३७, अन्तःक्रिया (सर्वकर्मों का अन्त) करने के बाद पुनः जन्म-मरणादि नहीं होता ४३७, अन्तःक्रिया करने वाले पुनः संसार में लौटकर नहीं आते ४३८, मोक्ष-प्राप्तिरूपा : अन्तःक्रिया करने वालों की अर्हताएँ ४३९, ऐसा मोक्षाभिमुख-साधक ही अन्तःक्रिया करने में सफल होता है ४३९, अन्तःक्रिया करने वाले मोक्षाभिमुख-साधक की पहचान ४४०, मोक्ष-प्रापिणी अन्तःक्रिया करने वाले साधक के विशिष्ट गुण ४४०, छिन्न स्रोत, खेदज्ञ एवं सर्वजीवों का आलोक ही अन्तःक्रिया करने में सक्षम ४४१, वह मोक्ष या संसार के अन्त तक पहुँच जाता है ४४२, वे संसार का तथा समस्त दुःखों का अन्त कैसे कर देते हैं? ४४२, अन्तःक्रिया करने वाले अन्तकृत् महापुरुषों के जीवन अन्तकृद्दशा में वर्णित ४४३, प्रथम अन्तःक्रिया ४४७, दूसरी अन्तःक्रिया ४४९, गजसुकुमाल की अन्तःक्रिया का संक्षिप्त वर्णन ४५०, तृतीय अन्तःक्रिया ४५१, सनत्कुमार चक्रवर्ती : दीर्घकर्मा-दीर्घसंयमकाल वाला ४५१, चतुर्थ अन्तःक्रिया ४५३, सर्वकर्ममुक्त चारों अन्तःक्रियाओं में से किसी एक से हुए हैं, होंगे ४५४, कर्मविदारण में वीर साधक भी मोक्षाभिमुखी बनकर अन्तःक्रिया करते हैं ४५४, सर्वोत्तम संयम की आराधना करके कतिपय उच्च साधक अन्तःक्रिया कर लेते हैं ४५५, ये विशुद्ध आत्मा भी अन्तःक्रिया करके उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं ४५५, मनुष्य के सिवाय दूसरे जीवों में भी अन्तःक्रिया की योग्यता : अनन्तरागत और परम्परागत ४५५, कौन अनन्तरागत अन्तःक्रिया करता है, कौन परम्परागत? ४५६, तीर्थंकरपद-प्राप्ति किनको होती है, किनको नहीं? ४५८, किनकी, कहाँ उत्पत्ति और क्या उपलब्धि सम्भव/असम्भव? ४५८, अनन्तरागत या परम्परागत अन्तःक्रिया करने वालों की योग्यता, क्षमता और उपलब्धि का क्रम ४५९-४६०।

(१७) मुक्ति के आध्यात्मिक सोपान पृष्ठ ४६१ से ४८५ तक

मुक्ति की साधना के सोपान : एक चिन्तन ४६१, मुक्ति के सोपानों पर आरोहण करने की योग्यता किसमें? ४६२, प्रथम सोपान–बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता : सर्वसम्बन्धों के बन्धन को उच्छेदक ४६३, बन्धनों को तोड़ने के लिए ग्रन्थमुक्त होने के विवेकसूत्र ४६३, निर्ग्रन्थता के अभ्यास में विवेक करना चाहिए ४६४, बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ : स्वरूप, प्रकार और ग्रन्थों से मुक्ति का उपाय ४६४, बाह्य परिग्रह का त्याग होने पर मन में ग्रन्थों को पाने की ललक ४६५, धर्माचरणी के लिए पंच आश्रयस्थान भी बन्धनकारक न बन जाएँ ४६७, द्वितीय सोपान–सर्वभावों के प्रति उदासीनता, विरक्ति एवं निर्लिप्तता ४६७, मोक्ष के भावों से भावित

सम्यग्दृष्टि के पाँच लक्षण ४६७, निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिए वृत्तियों का ऊर्ध्वमुखीकरण ४६८, तृतीय सोपान–शरीर के प्रति किंचित् भी मूर्छा : निर्ग्रन्थता में बाधक ४६८, चतुर्थ सोपान–दर्शनमोह का सागर पार होने से केवल चैतन्य का बोध ४६९, दर्शनमोह दूर होने पर सम्यग्ज्ञान के विचार-विवेकरूप नेत्रद्वय खुल जाते हैं ४७०, देह से भिन्न एकमात्र चैतन्य के दर्शन कितने दुर्लभ, कितने सुलभ? ४७१, देह से भिन्न केवल चैतन्य का अनुभवात्मक ज्ञान सुदृढ़ होने पर ४७१, दृष्टिमोह दूर होने पर ही चारित्रमोह की क्षीणता सम्भव ४७१, केवल चैतन्य के ज्ञान का फल शुद्ध स्वरूप का ध्यान है ४७२, पंचम सोपान–योगत्रय में आत्म-स्थिरता ४७३, आत्म-स्थिरता यानी सतत आत्म-स्मृति या आत्म-जागृति से लाभ ४७३, आत्म-स्थिरता वाला साधक घोर उपसर्ग-परीषहों के समय भी अविचल रहता है ४७४, मुमुक्षु जीवन में आत्म-स्थिरता की आवश्यकता क्यों? ४७४, आत्म-स्थिरता की कसौटी : परीषह और उपसर्ग ४७५, छठा सोपान–निज-स्वरूप में लीनता के लिए संयम हेतु से योगप्रवृत्ति और स्वरूपलक्षी जिनाज्ञाधीनता ४७५, आत्म-स्थिरता से आगे की भूमिका : संयम हेतु योगों की प्रवृत्ति ४७६, आत्म-स्थिरता वाले मुमुक्षु का प्रभाव और अभ्यास की परिपक्वता कब? ४७७, वैराग्य-विवेकयुक्त सम्यग्ज्ञान होने से संयम में वृद्धि व सुदृढ़ता ४७८, सागारी और अनगारी दोनों के जीवन में संयम का अमोघ प्रभाव ४७९, संयम स्वरूपलक्षी होगा, तभी उसका सुपरिणाम दिखाई देगा ४८०, संयम स्वरूपावस्थानरूप साध्य का साधन है, साध्य नहीं ४८०, स्वरूपलक्षी संयम कैसा होता है, कैसा नहीं? ४८१, छठे सोपान का उत्तरार्द्ध : स्वरूपलक्षी संयम भी जिनाज्ञाधीन है ४८२, भेद-भक्ति से अभेद-भक्ति की ओर प्रस्थान करने के लिए ४८३, निज-स्वरूपलीनता की शुद्ध प्रक्रिया का निष्कर्ष ४८४-४८५।

(१८) मुक्ति के अप्रमत्तताभ्यास के सोपान

पृष्ठ ४८६ से ५११ तक

सप्तम सोपान–अप्रमत्तता तथा अप्रतिबद्धता का अभ्यास ४८६, राग-द्वेषरहितता का तात्पर्य, अभ्यासविधि, जागृति ४८६, शब्दादि विषयों के प्रति राग-द्वेषरहितता से अलभ्य लाभ ४८७, राग-द्वेषविरहितता के लिए विरक्ति और जागृति आवश्यक ४८८, प्रमाद : साधक के सुदृढ़ जीवन भवन को प्रकम्पित करने वाला ४८९, पंच-प्रमाद : स्वरूप, विश्लेषण और विवेक ४८९, प्रमाद का प्रथम अंग : मद या मद्य ४८९, प्रमाद का द्वितीय अंग : विषय ४९०, प्रमाद का तृतीय अंग : कषाय ४९०, प्रमाद का चतुर्थ अंग : निन्दा या निद्रा ४९१, प्रमाद का पंचम अंग–विकथा ४९१, चारों प्रकार के प्रतिबन्ध भी वीतरागता-प्राप्ति में बाधक ४९२, अप्रतिबद्ध दशा-प्राप्ति के लिए उदयाधीन विचरण ४९३, अष्टम सोपान–कषाय और नोकषायों पर विजय के लिए तैयारी ४९४, कषायों से शुद्ध आत्मा की रक्षा कैसे करें? ४९४, क्रोध के प्रति स्वभाव-रमणता का जोश कैसे रहे? ४९५, क्षपकश्रेणी पर चढ़ गया, वह अवश्य ही कषायों पर विजय प्राप्त करेगा ४९६, लोभ जीतने पर सर्वस्व जीत लिया, नहीं तो क्रोधादि मूल से क्षीण नहीं हुआ ४९६, चारों कषायों में लोभ का प्रभाव सर्वाधिक : क्यों और कैसे? ४९७, उपशमश्रेणी वाले साधक के लिए कितनी सावधानी की जरूरत? ४९८, सूक्ष्म मान कैसे पकड़ता है, उससे छुटकारा कैसे हो? ४९९, सूक्ष्म माया कैसे पकड़ती है, उससे छुटकारा कैसे हो? ५००, सूक्ष्म लोभ की पकड़ से कैसे छूटें? ५०१, अष्टम सोपान का उत्तरार्द्ध ५०२, एक-एक कषाय नष्ट होने की क्रमशः कसौटी कैसे होती है? ५०२, गजसुकुमार मुनि की उपसर्ग के समय आत्म-स्थिरता ५०३, अनुकूल-प्रतिकूल मान-उपसर्ग के समय मन में दृढ़ समभाव रहे ५०३, सूक्ष्म माया नाश की प्रतीति कैसे हो, कैसे नहीं? ५०४, माया के चार अर्थ और उन पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण : सुदर्शन सेठ का ५०४, लोभ रूप महाशत्रु पर विजय की प्रतीति कैसे हो? ५०५, प्रलोभन के दो अंग : लौकिक और सिद्धियों का आकर्षण ५०६, प्रथम प्रलोभन पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण : सती राजीमती का ५०६, प्रलोभन का दूसरा बड़ा अंग : निदानशल्य ५०६, निदानशल्यरूप लोभ पर हार और जीत ५०६, निदान से भौतिक विकास के साथ घोर आध्यात्मिक पतन ५०७, नवम सोपान–द्रव्य-भावमय संयमरूप पूर्ण निर्ग्रन्थ-साधना की सिद्धि ५०८, निर्ग्रन्थता : आत्मा के निजी स्वाभाविक गुणों को प्रकट करने का पुरुषार्थ ५०८, क्या इन साधारण जीवों को भी नग्न या मुण्डित मान लिया जाए? ५०९-५११।

● ●

कर्मविज्ञान : नौवाँ भाग

खण्ड १२ कुल पृष्ठ १ से २७४ तक

सर्वकर्ममुक्त परमात्मपद : स्वरूप, अर्हता और प्राप्त्युपाय

निबन्ध ८ पृष्ठ १ से २७४ तक

(१) मोक्ष के निकटवर्ती सोपान पृष्ठ १ से ३५ तक

दशम सोपान–उच्चकोटि की विशुद्ध एवं पूर्ण समता की प्रतीति के चार चिह्न १, विशुद्ध समता द्वारा सिद्धि के तट पर पहुँची हुई साधना नौका २, पूर्ण समदर्शिता का प्रथम चिह्न : शत्रु और मित्र पर समदर्शिता २, समभाव की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई साधकदशा ३, भगवान महावीर के जीवन में पूर्ण समदर्शिता की पराकाष्ठा ३, पूर्ण समदर्शिता-प्राप्ति का द्वितीय चिह्न : मान-अपमान में पूर्ण समता ४, समभाव की उत्कृष्ट साधना का उपाय ५, पूर्ण समदर्शिता का तृतीय चिह्न : जीवित और मरण में न्यूनाधिकता का अभाव ६, पूर्ण समदर्शिता का चतुर्थ चिह्न : भव और मोक्ष के प्रति शुद्ध स्वभाववर्तिता ६, एकादशम सोपान–समता की सिद्धि के लिए पूर्ण निर्भयता का अभ्यास आवश्यक ७, एकाकी विचरण : क्यों, कब और कैसे? ८, एकाकी विचरण का रहस्यार्थ : उदान ध्येय-सिद्धि ९, एकाकी विचरण किसके लिए योग्य, किसके लिए अयोग्य? १०, श्मशान में निवास : निर्भयता की सिद्धि के लिए आवश्यक ११, निर्जन पर्वतीय प्रदेश में वन्य क्रूर प्राणियों के सम्पर्क में दया और निर्भयता रहे ११, निर्भयता की सिद्धि के लिए : अडोल आसन और मन में अक्षोभ आवश्यक १२, निर्भयता की सिद्धि के लिए : उन वन्य प्राणियों का समागम परम मित्र का समागम जानो १३, बारहवाँ सोपान–घोर तप, सरस अन्न, रजकण-वैमानिक ऋद्धि : इन द्वन्द्वों में मन की समता १५, घोर तपस्या इसे कहें या उसे? १५, सरस अन्न मिलने पर संयम रखना अतिकठिन १६, स्वादविजय : कामविजय और कामनाविजय का महत्त्वपूर्ण अंग १७, सिद्धियों के प्रलोभन पर विजय : वासनाविजय का महत्त्वपूर्ण अंग १८, समतायोगी रजकण और वैमानिक देव की ऋद्धि दोनों को समान पुद्गल माने १८, समतामयी तपःसाधना का दिग्दर्शन १९, तेरहवाँ सोपान–क्षपकश्रेणी पर आरोहण चारित्रमोहविजय २०, चारित्रमोह पर विजय का स्थायी फल : अपूर्वभावकरण सिद्धि २०, बारहवें गुणस्थान में पहुँचने से पहले तक के खतरे और सावधानी २१, उपशमश्रेणी में प्रविष्ट होने पर पतन अवश्यम्भावी क्यों? २२, अपूर्वकरण की अवस्था के बाद चैतन्य प्रकाश का अतीन्द्रिय अनुभव २२, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने की स्थिति और उपलब्धि २३, चारित्रमोह के महासागर के मन्थन से समता (वीतरागता) सुधा प्राप्त हुई २३, क्षीणमोह होने के बाद केवलज्ञान का प्रकटीकरण २४, मोहबीज के जल जाने पर भववृक्ष के उगने की सम्भावना नहीं २४, अज्ञान व मोह के आत्यन्तिक विनाश से आत्मा को अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति २४, इस गुणस्थान में चार घातिकर्म तो एक साथ ही छूट जाते हैं २५, चौदहवाँ सोपान–आत्म-विशुद्धिपूर्वक अनन्त ज्ञान-दर्शन आयुष्यपूर्ण होने तक चार अघातिकर्म की अवशिष्टता २५, कालदृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है तेरहवें गुणस्थान की भूमिका २६, वेदनीयादि चार अघातिकर्म : जली हुई रस्सी के समान अकिंचित्कर २७, चार घातिकर्मों की तरह चार अघातिकर्म नामशेष क्यों नहीं हुए? २७, चार अघातिकर्मों के टिके रहने से विशिष्ट लाभ २७, इस उच्चतर भूमिका में साधक की देहातीत दशा २८, यथाख्यातचारित्र-प्राप्त महापुरुष का स्वरूप और उसकी दो कोटियाँ २९, शरीरादि के साथ स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं तथा नया देह धारण करने की योग्यता समाप्त २९, पन्द्रहवाँ सोपान–सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध होने की स्थिति, गति और प्रक्रिया ३०, अयोगीकेवली महापुरुष के चार अघातिकर्म कैसे छूटते हैं? ३०, एकमात्र आत्मा ही आत्मा होती है सर्वत्र ३२, तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान की विशेषता ३३, शेष चार अघातिकर्मों का क्षय होने के पश्चात् ऊर्ध्वगमन ३३, शुद्ध सिद्ध आत्मा सिद्धालय

के लिये ऊर्ध्वगमन कैसे और किस प्रकार करती है? ३३. शरीर-कर्मादि छूटने के साथ ही तीन घटनाएँ घटित होती हैं ३४. शरीर छूटने के बाद मुक्त आत्मा का ऊर्ध्वगमन कैसे और क्यों होता है? ३४. सर्वकर्ममुक्त सिद्ध आत्मा का ऊर्ध्वगमन कहाँ तक होता है? ३४. सिद्धस्थान को पाने के बाद आत्म-दशा कैसी होती है? ३५।

(२) अरिहन्त : आवश्यकता, स्वरूप, प्रकार, अर्हता, प्राप्त्युपाय पृष्ठ ३६ से ६० तक

अरिहन्त की आवश्यकता : क्यों और किसलिए? ३६. अपनी शक्तियों से अपरिचित मनुष्यों को अरिहन्त से प्रेरणा ३७. अरिहन्त परमात्मा की आराधनादि करने की क्या आवश्यकता? ३७. अरिहन्त की मूक प्रेरणा : अपनी अक्षय शक्तियों को जानो ३८. संसारी आत्मा और परमात्मा में अन्तर और उसके निवारण का उपाय ३८. सर्वकर्ममुक्ति का सक्रिय ज्ञान अरिहन्त के द्वारा पथ-प्रदर्शन से होता है ३९. अरिहन्त परमात्मा साधक को कैसे गति या प्राण-शक्ति देते हैं? ४०. अरिहन्त कुछ देते-लेते नहीं, तब उनकी आराधना से क्या लाभ? ४०. अरिहन्त की आराधना अपनी ही, अपने आत्म-स्वरूप की ही आराधना है ४०. आराधक को आराध्य से माँगने से नहीं मिलता, स्वतः मिलता है ४१. वीतराग अरिहन्त किसी कार्य के कर्ता या कारण नहीं होते ४१. वीतराग परमात्मा अपनी निन्दा-प्रशंसा से रुष्ट या तुष्ट नहीं होते ४२. अरिहन्त की आराधना अपनी आत्मिक पूर्णता की आराधना चार चरणों में ४३. अरिहन्त का ध्यान अपने आत्म-स्वरूप का अपना ध्यान है ४३. बाह्य अरिहन्त को आन्तरिक कैसे बनाया जा सकता है? ४४. अरिहन्त दर्शन ही वस्तुतः आत्म-दर्शन है : क्यों और कैसे? ४५. ध्यान में अरिहन्त की विशुद्ध चेतना में साधक की चेतना का प्रवेश ४७. भक्ति और अनुभूति : अरिहन्त की आराधना के दो सिरे ४८. वीतराग अरिहन्त परमात्मा के ध्यान से ध्याता भी तद्रूप बन जाता है ४८. वीतराग अरिहन्त के ध्यान या सान्निध्य से वीतरागता के संस्कार पैदा होते हैं ५०. अरिहन्त का विराट् रूप और स्वरूप ५१. अरिहन्त कौन है, क्या है? इसे प्रथम स्थान क्यों? ५१. अरिहन्त का विभिन्न दृष्टियों से लक्षण ५२. 'अरहन्त' के लक्षण : विभिन्न दृष्टियों से ५३. अरिहन्त के अन्य अनेक रूप और स्वरूप ५४. तीर्थंकर अरिहन्त और सामान्यकेवली अरिहन्त में समानता ५५. केवली का स्वरूप और प्रकार ५७. तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनों में पाये जाने वाले बारह विशिष्ट गुण ५९. अरिहन्त भगवन्तों में नहीं पाये जाने वाले अठारह दोष ५९-६०।

(३) विशिष्ट अरिहन्त तीर्थंकर : स्वरूप, विशेषता, प्राप्ति-हेतु पृष्ठ ६१ से १०३ तक

विशिष्ट पुण्यातिशययुक्त महापुरुष ही तीर्थंकर होते हैं ६१. तीर्थंकर और सामान्य अरिहन्त (केवली) में अन्तर ६१. तीर्थंकर अरिहन्त का लक्षण ६४. तीर्थ और तीर्थंकर : स्वरूप और कार्य ६५. तीर्थंकर अरिहन्तों का महिमासूचक लक्षण ६६. तीर्थंकरों की परमोपकारिता-प्रकटकारिणी कतिपय विशेषताएँ ६८. बीस और एक सौ सत्तर तीर्थंकर : कहाँ-कहाँ, कब और कैसे-कैसे? ६९. तीर्थंकर भगवान के स्व-पर-उपकारक जीवन के विशेष गुण ७४, ऐसे तीर्थंकर जिन या जिनेन्द्र भी कहलाते हैं : क्यों और कैसे? ७५. तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त 'जिन' शब्द का रहस्य ७६. महतो महायान् उपकारी तीर्थंकर अरहन्त देव ७७. तीर्थंकर देवाधिदेव क्यों कहलाते हैं? ७८. अन्य देवों से देवाधिदेव बढ़कर क्यों होते हैं? ७८. तीर्थंकर बनने से पूर्व उनमें वीतरागता और सर्वज्ञता का होना जरूरी है ७८. तीर्थंकर का अर्हन्त नाम क्यों सार्थक है? ७९. अर्हन्त भगवान का पूजातिशय : क्या और किस रूप में? ८०. ज्ञानातिशय क्या और किस रूप में? : उसकी अर्हता कब? ८१. तीर्थंकर की सर्वज्ञता : पूर्वकृत उत्कृष्ट पुण्यवश आत्मौपम्यभाव की चरितार्थता ८१. सर्वज्ञता की सार्थकता का व्यावहारिक फलितार्थ ८२. तीर्थंकर की प्रत्येक प्रवृत्ति पुण्यफलस्वरूप सहजभाव से होती है ८३. वचनातिशय-प्राप्ति : क्यों, किस कारण से और कितने प्रकार से? ८३. तीर्थंकर की वचनातिशय की उपलब्धि के पैंतीस प्रकार ८४. अपायापगमातिशय : क्या, कैसे और किस प्रकार से? ८८. चौंतीस अतिशयों के नाम और संक्षिप्त अर्थ ८९. अर्हन्त तीर्थंकर में पाये जाने वाले चारों अतिशय अन्य लोगों में भी : एक चिन्तन ९०. वचनातिशय में भी भगवान महावीर के समकक्ष तीर्थंकर ९१. तीर्थंकर की परीक्षा चार अतिशयों के आधार पर करने में कठिनाई ९१. तीर्थंकरों की अलग

पहचान के लिए बारह गुणों का प्रतिपादन ९२, आप्त-परीक्षा में तीर्थंकरत्व की परीक्षा के लिए आध्यात्मिक गुण ही उपादेय ९२, वास्तविक तीर्थंकर अष्टादश दोषों से रहित होने पर ही ९४, जैनधर्म ईश्वरकर्तृत्ववादी या अवतारवादी नहीं है : क्यों और कैसे? ९५, वैदिक एकेश्वरवाद और जैनदृष्टि से यथार्थ एकेश्वरवाद ९५, जैनमान्य तीर्थंकर अवतारवाद का नहीं, उत्तरवाद का प्रतीक है ९६, तीर्थंकर बनने से पूर्व और पश्चात् तीर्थंकर नामकर्मबन्ध, उदय और भावतीर्थंकर तक का क्रम? ९७, तीर्थंकरपद : कब प्राप्त होता है, कब नहीं? ९८, किस भव से तीर्थंकर होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ? ९९, तीर्थंकर नामकर्म अनिकाचित रूप से बँध जाने पर सफलता नहीं मिलती ९९, निकाचित रूप से बँध जाने पर तीसरे भव में अवश्य तीर्थंकरत्व-प्राप्ति १००, निकाचित रूप तीर्थंकरत्व-उपार्जन की अर्हताएँ १०१, निकाचन तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के बीस मूलाधार १०२-१०३।

(४) विदेह-मुक्त सिद्ध-परमात्मा : स्वरूप, प्राप्ति, उपाय पृष्ठ १०४ से १४३ तक

अरिहन्त और सिद्ध दोनों देवाधिदेव परमात्मा कोटि में १०४, अरिहन्त और सिद्ध में मौलिक अन्तर १०४, सर्वकर्मों से मुक्त होने की प्रक्रिया १०४, अकर्मा होने के बाद अयोगी, शैलेशी और सिद्ध अवस्था का क्रम १०५, सिद्ध-परमात्मा : कैसे हैं, कैसे नहीं? १०६, शुद्ध आत्मा (सिद्ध-परमात्मा) का स्वरूप १०७, शवादि गुणों से युक्त सिद्धगति को सम्प्राप्त : सिद्ध-परमात्मा १०७, सिद्ध-परमात्मा का आत्मिक स्वरूप १०८, मुक्तात्मा : कहाँ रुकते हैं, कहाँ स्थिर होते हैं और क्यों? १०८, कर्मबन्धन छूटते ही चार बातें घटित होती हैं १०९, मुक्तात्मा के शीघ्र ऊर्ध्वगमन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर १०९, सर्वकर्ममुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन : छह कारणों से १०९, मुक्तात्मा लोक के अग्र भाग में ही क्यों स्थित हो जाते हैं? १११, सिद्धगति की पहचान १११, सिद्धशिला : पहचान, बारह नाम, सिद्धों का अवस्थान ११२, एक स्थान में अनेक सिद्ध कैसे रहते हैं? ११२, सिद्ध-मुक्त आत्माओं को अनन्त ज्ञान : कैसे होता है, कैसे नहीं? ११३, सिद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व दैहिक अर्हताएँ ११४, अनेक सिद्धों की अपेक्षा सिद्ध अनादि-अनन्त, एक सिद्ध की अपेक्षा सादि-अनन्त ११५, मुक्त आत्मा न तो कर्मबद्ध होता है और न पुनः संसार में आता है ११६, मुक्तात्मा का संसार में पुनरागमन के लिए विचित्र तर्क और खण्डन ११७, ईश्वरकर्तृत्ववादियों की मान्यता के अनुसार भी अनन्त संसार का कभी अन्त नहीं होता ११७, सर्वकर्मों से मुक्त होने वाले साधकों की चार श्रेणियाँ ११८, मोक्ष में मुक्त आत्माएँ अनन्त आत्म-सुखों में लीन रहती हैं ११८, परिपूर्ण सर्वकर्ममुक्त आत्माओं के पूर्ण आध्यात्मिक विकास का क्रम ऐसा ही क्यों? ११९, सिद्ध-परमात्मा की मौलिक पहचान : आठ आत्मिक गुणों द्वारा १२१, अष्ट कर्मों के पूर्ण क्षय से सिद्ध-परमात्मा में कौन-कौन-से आठ गुण प्रकट होते हैं? १२४, सिद्ध भगवान में ये आठ गुण गुणस्थान क्रम से कैसे-कैसे प्रगट होते हैं? १२५, सिद्ध-परमात्मा में प्रादुर्भूत होने वाले इकतीस गुणों का विवरण १२६, सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) के विषय में जैनधर्म की उदारता १२७, मोक्ष-प्राप्ति के विषय में जैनधर्म की उदारता : पन्द्रह प्रकार से सिद्ध हो सकता है १२९, विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना १३३, जैनधर्म ईश्वरवादी है, किन्तु ईश्वरकर्तृत्ववादी या एकेश्वरवादी नहीं है १३४, सभी आत्माओं में ईश्वरत्व : किन्तु पूर्ण प्रकट, अर्ध प्रकट, यत्किंचित् प्रकट १३४, सिद्ध ईश्वर के स्वरूप में कोई भेद नहीं १३५, जैनमान्य और वैदिकमान्य ईश्वर जन्म से ही अजन्मा नहीं, पुरुषार्थ से ही होता है १३५, परमैश्वर्य-सम्पन्नता समस्त सिद्ध-मुक्त ईश्वरों में एक समान, सभी समान कोटि के हैं १३६, मुक्तात्मा न किसी दूसरी शक्तियों में विलीन होते हैं, न किसी के अंश होते हैं १३६, सर्वकर्ममुक्त सिद्ध ईश्वर जगत् का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता : क्यों और कैसे? १३७, संसार की समस्त आत्माएँ ईश्वर हैं; वे अपनी शुभाशुभ कर्मसृष्टि का स्वयं सृजन करती हैं १३८, सिद्ध-मुक्त परमात्मा के स्मरण-नमन-उपासनादि से क्या लाभ? १३९, बहिरात्मा और अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा की उपासनादि से सर्वकर्ममुक्ति कैसे? १३९, सिद्ध या अरिहन्त परमात्मा के वन्दनादि से ध्येय तक कैसे पहुँच सकता है? १४०, वीतराग प्रभु को ध्येय बनाने वाला ध्याता ध्यान-बल से शीघ्र कर्ममुक्ति कर सकता है १४०, सिद्ध-परमात्मा के भावसान्निध्य से अनेक लाभ १४१, परमात्मा की आज्ञाराधना से और विराधना से अपना ही लाभ, अपनी ही हानि १४१, वीतराग के ध्यान से रागरहित कर्ममुक्त तथा सराग के ध्यान से रागादि विभावयुक्त १४१, वीतराग के ध्यान व सान्निध्य से आत्मा में

वीतरागभाव का संचार १४२, सोये हुए परमात्मभाव को जगाने का अपूर्व साधन : शुद्ध भाव में रमणता १४२, गुणों की उपलब्धि के लिए वन्दना या स्तुति १४३।

(५) परमात्मपद-प्राप्ति का मूलाधार : आत्म-स्वभाव में स्थिरता पृष्ठ १४४ से १६८ तक

परभाव में रमण से कर्मबन्ध और स्वभाव में रमण से कर्ममुक्ति १४४, आत्मा और परमात्मा के स्वभाव में बहुत अन्तर १४४, व्यवहारदृष्टि से परमात्मा और आत्मा का स्वभाव भिन्न-भिन्न, किन्तु निश्चयदृष्टि से समान १४४, स्वभाव में साम्य होने से ही आत्मा परमात्मा बन सकती है १४५, प्रत्येक आत्मा परमात्मस्वरूप है, विभिन्नता या अपूर्णता उसका शुद्ध स्वभाव नहीं है १४५, बहिरात्मा ही परभावों-विभावों को अपने मानकर कर्मबन्ध करता है, अन्तरात्मा नहीं १४६, सिद्ध-परमात्मा में और मेरी (शुद्ध) आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा विश्वास करें १४६, ऐसा मुमुक्षु भविष्य की अपेक्षा से सिद्ध-परमात्मा है १४७, आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है, शरीरादि में नहीं १४८, ऐसी अभेद ध्रुवदृष्टि वाले को अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति की विना नहीं होती १४८, आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता भी है १४९, योग्यता होते हुए भी अभेद ध्रुवदृष्टि न हो, वहाँ तक परमात्मा नहीं हो सकता १५०, परभाव और विभाव : क्या है, किस प्रकार के हैं, क्या करते हैं? १५१, स्वभाव की निश्चित प्रतीति कैसे हो, कब मानी जाए? १५१, स्वभाव के निर्णयकर्ता को पर-पदार्थों या विभावों से कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती १५२, सम्यग्दृष्टि आत्मा के मूल स्वरूप को देखता है, विकार और मलिनता को नहीं १५३, शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा में कर्मरज प्रविष्ट नहीं हो सकती १५४, स्वभावनिष्ठा की सुदृढ़ता ऐसे हो सकती है १५४, स्वभावनिष्ठा के लिए परभावों के प्रति सतत उदासीनता आवश्यक १५४, परभावों और विभावों से सतत उदासीनता और विरक्ति ऐसे रह सकती है १५६, आत्म-स्वभाव में प्रतिक्षण जाग्रत साधक सतत परभावों और विभावों से उदासीन और विरक्त रहते हैं १५७, आत्म-स्वभावनिष्ठ साधक की परमार्थ दशा १५८, आत्म-स्वभावनिष्ठ संसार को नहीं, सिद्धालय को अपना घर समझता है १५९, परभावों से मुक्ति का उल्लास होना चाहिए १६०, अनादिकालीन विभाव क्षणभर में दूर हो सकता है : कैसे और किसकी तरह? १६१, स्वभाव में स्थिर होने का अर्थ : अपने ज्ञान में स्थिर होना १६२, ज्ञान की भूमिका अस्वीकार की है, संवेदन की है—स्वीकार की १६३, आत्मा ज्ञान की भूमिका में ही स्वभावनिष्ठ रह सकती है, संवेदन की भूमिका में नहीं १६४, ज्ञान की यानी स्वभाव की अखण्ड अनुभूति केवलज्ञान होने पर ही होती है १६४, स्वभावनिष्ठ की स्वभाव में स्थिरता क्रमशः तीन धाराओं में १६५, प्रथम धारा : निवृत्ति के क्षणों में अनुभवधारा १६६, दूसरी धारा : प्रवृत्ति के क्षणों में लक्ष्यधारा १६६, सम्यग्दृष्टि के व्यावहारिक जीवन में भी लक्ष्यधारा स्पष्ट होती है १६७, तीसरी धारा : सुषुप्त अवस्था में भी आत्मा की प्रतीतिधारा १६७, निष्कर्ष १६८।

(६) चतुर्गुणात्मक स्वभाव-स्थितिरूप परमात्मपद-प्राप्ति पृष्ठ १६९ से १९९ तक

सामान्य आत्मा में चतुर्गुणात्मक शुद्ध स्वभाव की परमात्मा के समान शक्ति तो है, अभिव्यक्ति नहीं १६९, सामान्य आत्मा और परमात्मा में अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव लब्धि में है, उपयोग में नहीं १६९, अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव पर आवरण क्यों और कैसे हो? १७०, सामान्य आत्मा का स्वभाव-सूर्य परभावरूपी राहु और विभावरूपी केतु द्वारा ग्रसित है १७०, आत्मा के चारों गुणात्मक स्वभाव आवृत और मूर्च्छित क्यों? १७१, आत्मा के मौलिक और अभिन्न गुणात्मक ज्ञान-स्वभाव में शेष तीनों गुणों का समावेश १७१, ज्ञान ही श्रद्धारूप है : कैसे, कितना लाभ, कितना बल? १७२, ज्ञान (तीव्र दशा में चारित्र) गुणरूप है १७३, ज्ञान सुख (आनन्द) रूप है : कैसे-कैसे? १७४, ज्ञान शक्तिरूप है १७५, आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में विकृति या मलिनता क्यों आ जाती है? १७६, आत्मा का शुद्ध स्वभाव कैसा होता है, कैसा नहीं? १७६, शुद्ध ज्ञानी या केवलज्ञानी दर्पणवत् तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहता है १७६, साधारण आत्मा ज्ञान-स्वभाव से डिगती क्यों है? १७७, ज्ञान-स्वभाव में स्थिर स्थितात्मा या स्थितप्रज्ञ की पहचान १७७, ज्ञान-स्वभाव में स्थिर साधक की अर्हता के आधारसूत्र १७८, भरत चक्रवर्ती को ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता से केवलज्ञान-प्राप्ति १७८, ज्ञान किसी परभाव या विभाव के अवलम्बन से प्रगट नहीं होता, वह स्वतः प्रकट

होता है १७९, छद्मस्थ मुमुक्षु साधक की ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता और अखण्डता कैसे रहे? १८०, ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता के अभ्यासी के लिए विचारणीय बिन्दु १८१, ज्ञान-स्वभाव में एक बार स्थिर हो जाने पर फिर अनावृत होकर ज्ञान सदैव प्रकाशमान रहता है १८१, एक बार ज्ञान-ज्योति सुसज्ज होकर निकलने पर केवलज्ञान-समुद्र में अवश्य मिलती है १८१, आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्र होने की प्रेरणा १८२, सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादि से या कर्ममल से मलिन आत्मा को भेदविज्ञानरूपी फिटकरी से पृथक् कर लेता है १८२, सम्यग्ज्ञान (ज्ञान) और मिथ्याज्ञान (अज्ञान) में अन्तर १८३, ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने वाले व्यक्ति की वृत्ति-प्रवृत्ति १८३, शास्त्राध्ययन या शास्त्र-स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य १८४, आत्म-ज्ञान : कैसा हो, कैसा नहीं? १८४, सम्यग्ज्ञान और संवदेन का पृथक्करण करने वाला साधक ज्ञान-समाधि प्राप्त कर लेता है १८५, चतुश्चरणात्मक ज्ञान-समाधि से ज्ञान-स्वभाव में पूर्ण स्थिरता १८५, परमात्मभाव का द्वितीय गुणात्मक स्वभाव : अनन्त दर्शन : क्या और कैसे? १८५, दर्शन : क्या है, क्या नहीं? १८६, दर्शन और ज्ञान की कार्य-प्रणाली में अन्तर १८६, आत्मा के दर्शन-स्वभाव का उपयोग और लाभ १८६, दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण सद्दर्शन न होना १८७, चक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल १८८, अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल १८९, अवधिदर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु और फल १९०, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के आवरण में मोहकर्म का हाथ १९०, आवृत और सुषुप्त केवलदर्शन को जाग्रत एवं अनावृत करने के उपाय १९१, सामान्य आत्मा को केवलदर्शन की शक्ति प्राप्त है, पर अभिव्यक्ति क्यों नहीं और कैसे होगी? १९१, आत्म-दर्शनरूप स्वभाव की निष्ठा अनन्त (केवल) दर्शन तक पहुँचा सकती है १९२, परमात्मा का तृतीय आत्म-स्वभाव : अनन्त आनन्द (अव्याबाध-सुख) १९२, बाह्य सुख पराधीन और आत्मिक-सुख स्वाधीन है १९३, आत्मिक-सुख से सम्पन्न वीतरागी पुरुषों की निष्ठा, वृत्ति-प्रवृत्ति और समता १९४, पौद्गलिक सुख क्षणिक है, बाधायुक्त दुःखबीज है, कालान्तर में दुःखरूप है १९५, सुख-दुःख देने वाला न तो सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ है, मनुष्य की अपनी तदनुरूप कल्पना ही होती है १९६, सब तरह से धन-वैभवादि समृद्ध होते हुए भी अन्तर में व्याकुलता के कारण मनुष्य दुःखी होता है १९७, स्वभावनिष्ठ सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य संयोगों से सुखी-दुःखी नहीं होता १९७, आत्मार्थी पर-पदार्थों से सुख नहीं चाहता १९७, सम्यग्दृष्टि प्रतिकूल संयोगों में भी आत्मानन्द में रहता है १९८, यों आ सकती है आत्मा के अनन्त अखण्ड आनन्द-स्वभाव में स्थिरता १९८-१९९।

(७) परमात्मभाव का मूलाधार : अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति पृष्ठ २०० से २३६ तक

परमात्मा की तरह सामान्य मानवात्मा में भी अनन्त आत्मिक-शक्ति २००, इन आध्यात्मिक शक्तियों का मूल स्रोत : आत्मा २००, आत्म-शक्तियों से अपरिचित; जाग्रत करने में रुचि नहीं २०१, वे प्रायः निःसार बाह्य पदार्थों को पाने-खोजने में अपनी शक्ति लगाते हैं २०१, बौद्धिक आदि शक्तियों को जगाने में तत्पर विविध वैज्ञानिक आदि २०२, हमारे पूर्वज महापुरुषों ने सुषुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को कैसे जाग्रत किया था? २०३, सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन में आत्म-शक्ति-संवर्द्धन, जागरण का मार्गदर्शन २०३, आत्म-शक्ति किनकी अभिव्यक्त होती है, किनकी नहीं? : भगवत्-प्रेरणा २०४, कौन आत्म-शक्ति से समृद्ध बनते हैं और कौन बनते हैं आत्म-शक्ति से हीन? २०५, आत्म-शक्तियों का सदुपयोग न करने वाले : चार प्रकार के व्यक्ति २०५, प्रथम प्रकार : शक्तियाँ शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगी, इस भय से उनका उपयोग न करने वाले २०६, शक्तियों का उपयोग करते रहने से वे घटती नहीं, बल्कि बढ़ती-विकसित होती हैं २०६, बुढ़ापे में शक्तियों का ह्रास हो जाता है, फिर शक्तियों का दोहन व उपयोग व्यर्थ है २०७, शास्त्रज्ञ और विद्वान् भी शक्ति का यथोचित उपयोग करने से कतराते हैं २०७, आत्म-शक्तियों के दुरुपयोग, अपव्यय, असुरक्षा और अजागृति से वे प्रगट नहीं हो पातीं २०८, मोक्षपथ में आत्म-शक्तियाँ प्रकट करने के अवसरों को यों खो देते हैं २०९, तथाकथित आत्मार्थी साधक भी अपनी आत्म-शक्तियों के जागरण के प्रति असावधान २०९, चार घातिकर्म किस प्रकार आत्म-शक्तियों को प्रकट नहीं होने देते? २१०, आत्म-शक्तियाँ कहाँ लगनी चाहिए थीं, कहाँ लग रही हैं? २१४, आत्म-शक्ति जाग्रत होने के क्षणों में कषायों आदि से उसकी रक्षा करना कठिन २१४, आत्म-शक्ति की साधना : परमात्म-शक्तिरूप स्वभाव को

जगाने के लिए है २१६, पुरुषार्थ से घबराने वाले लोग आत्म-शक्तियों को कैसे जगा सकते हैं? : एक चिन्तन २१७, पहले विपरीत दिशा में नियोजित शक्तियों को अध्यात्म दिशा में कैसे नियोजित कर सकते हैं : एक समाधान २१७, विपरीत दिशा में स्फुरायमाण वीर्य (शक्ति) अध्यात्म दिशा में स्फुरायमाण हो तो बेड़ा पार हो सकता है २१९, परमात्म-शक्ति आत्मा में से ही प्रकट होगी २२०, आत्म-शक्तियों को जाग्रत करने में मुख्य पाँच आयामों का विचार करना आवश्यक २२१, आत्म-शक्ति जाग्रत होने के पश्चात् मार्गदर्शन, शुद्ध उपादान न रहे तो सब तरह से बर्बादी २२३, अर्जित महामूल्य आत्म-शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करके आसुरी शक्ति में बदल दी विश्वभूति ने २२३, पौद्गलित वीर्य (शक्ति) का मूल स्रोत आत्मा है २२६, बालवीर्य और पण्डितवीर्य की परिभाषाएँ २२६, आध्यात्मिक वीर्य (शक्ति) के मुख्य दस प्रकार २२७, 'सूत्रकृतांग' में बालवीर्य (सकर्मवीर्य) की पहचान के कुछ संकेत २२८, प्रमादी अज्ञजन बालवीर्य (अज्ञानयुक्त शक्ति) का प्रयोग कैसे करते हैं? २२९, अकर्मवीर्य = पण्डितवीर्य की साधना के उनतीस प्रेरणासूत्र २२९, मनोबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) का विकास और जागरण कैसे हो? २३०, वचनबलप्राण द्वारा पण्डितवीर्य कैसे अभिव्यक्त और जाग्रत हो? २३१, कायबलप्राण द्वारा पण्डितवीर्य का प्रकटीकरण कैसे हो? २३२, पंचेन्द्रियबलप्राण, श्वासोच्छ्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति का विकास कैसे हो? २३२, श्वासोच्छ्वासबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति (पण्डितवीर्य) का विकास और जागरण कैसे हो? २३३, आयुष्यबलप्राण द्वारा आत्म-शक्ति का विकास और जागरण कैसे हो? २३४, अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम (वीर्य) से बालवीर्य और पण्डितवीर्य की पहचान २३४, आत्मिक-शक्तियों के क्रमशः पूर्ण विकास का उपाय २३५-२३६।

(८) मोक्ष की अवश्यम्भाविता का मूल : केवलज्ञान : क्या और कैसे-कैसे ?

पृष्ठ २३७ से २७४ तक

मोक्ष-प्राप्ति का मूल क्या, क्यों, कैसे और किसको? २३७, केवलज्ञानी होने पर ही निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो सकता है २३७, छद्मस्थ और केवली में अन्तर २३८, छद्मस्थ और केवली के आचरण में सात बातों का अन्तर २३९, केवली में दस अनुत्तररूप विशेषताएँ २४०, ये पाँच कारण केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने में बाधक नहीं २४०, केवली पाँच कारणों से परीषहों-उपसर्गों को समभाव से सहते हैं २४१, केवलज्ञानी के अन्य कुछ लक्षण २४२, केवली के परिचय के लिए अन्य विशेषताएँ भी २४२, प्रथमसमयवर्ती केवली के चार घातिकर्म क्षीण हो जाते हैं, चार अघातिकर्म शेष रहते हैं २४२, केवली कदापि यक्षाविष्ट नहीं होते, न ही सावद्य या मिश्र भाषा बोलते हैं २४३, तीर्थंकर की अपेक्षा से परम अवधिज्ञानी और मनःपर्यायज्ञानी भी केवली, जिन, अर्हन्त कहे जाते हैं २४३, सामान्य (भवस्थ) केवली और सिद्ध केवली में मूलभूत अन्तर २४४, सयोगी केवली योगों का पूर्ण निरोध किये बिना अयोगी केवली नहीं बन सकते २४६, सिद्ध केवली की विशेषताएँ-अर्हताएँ २४६, अन्तकृत् केवली और सामान्य केवली में अन्तर २४७, अन्तकृत केवली चरमशरीरी भी कहलाता है २४८, चरमशरीरी को ये सत्तरह बातें प्राप्त हो जाती हैं २४८, भोगों का त्रिविध योगों से परित्याग करने पर ही ये उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं २५०, तीर्थंकर केवली और प्रत्येकबुद्ध केवली आदि में अन्तर २५०, तीर्थंकर केवली की ये विशेषताएँ सामान्य केवली में नहीं होतीं २५२, भगवान महावीर के शासन में तीर्थंकर नामगोत्र बाँधने वाले नौ व्यक्ति २५३, निर्ग्रन्थ और स्नातक (निर्ग्रन्थ) केवली २५३, गृहस्थ केवली भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं, होते हैं २५४, अन्यलिंग केवली की प्ररूपणा २५५, असोच्चा केवली : स्वरूप तथा तत्सम्बन्धित ग्यारह प्रश्न और समाधान २५५, असोच्चा केवली को निर्भगज्ञान से अवधिज्ञान और उससे केवलज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया २५७, असोच्चा केवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या-प्रदान, सर्वकर्ममुक्ति तथा उनके निवास तथा संख्या के विषय में २५९, सोच्चा केवली : स्वरूप, केवलज्ञान-प्राप्ति : कैसे-कैसे और कब? २६०, केवली होने वाले सोच्चा साधक को अवधिज्ञान की प्राप्ति का क्रम २६१, केवली होने वाले सोच्चा अवधिज्ञानी में लेश्या, योग, उपयोग, संहनन, वेद, कषायादि की प्ररूपणा २६१, सोच्चा अवधिज्ञान को केवलज्ञान-दर्शन-प्राप्ति तक की प्रक्रिया २६१, सोच्चा केवली का अवस्थान तथा एक सामयिक संख्या २६२, केवलज्ञान : स्वरूप और उसकी प्राप्ति के मुख्य और अवान्तर कारण २६२, भरतचक्री का

शरीरमोह नष्ट होते ही केवलज्ञान प्रगट हो गया २६४, गणधर गौतम स्वामी को रागभाव दूर करने का संकेत २६५, केवलज्ञान दीर्घकालिक साधकों को दीर्घकाल में और अल्पकालिक साधकों को अल्पकाल में क्यों? २६५, रूपासक्त इलायचीकुमार को केवलज्ञान कैसे हुआ? २६६, क्षुधा-असहिष्णु कूरगडूक मुनि केवलज्ञान से सम्पन्न क्यों हो गए? २६७, मन्द बुद्धि मापतुष मुनि को केवलज्ञान किस कारण से हुआ? २६८, अर्जुन मुनि को कैवल्य और मोक्ष कैसे हो गया? २६८, हत्यारा दृढ़प्रहारी कैसे केवलज्ञानी बना? २६९, सामायिकव्रती केशरी चोर का हृदय-परिवर्तन और केवलज्ञानार्जन कैसे हुआ? २७०, चण्डरुद्राचार्य के नवदीक्षित शिष्य को और उस निमित्त से आचार्य को केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? २७१, मृगावती साध्वी और उसके निमित्त से आर्या चन्दनबाला को केवलज्ञान-प्राप्ति २७२, केवलज्ञान की ज्योति किसको प्राप्त हो सकती है, किसको नहीं? २७३, पापी और नरकगति की सम्भावना वाले को भी वीतरागोपदेश क्रियान्वित करने से मुक्ति संभव है २७३, उच्च साधना तथा क्रियापात्रता होते हुए भी राग-द्वेष कषायादि क्षीण न हों तो केवलज्ञान नहीं २७४।

●●

परिशिष्ट २

कर्मविज्ञान का पारिभाषिक शब्द-कोष

(अ)

अकर्म–कर्मरहित, या अबन्धक कर्म।

अकर्मक–मुक्त-सिद्ध-परमात्मा।

अकर्मता–आत्मा के साथ कर्म का बन्ध न होना।

अकर्मभाव–कर्मरूप में परिणत होने के दूसरे समय में ही उन कर्मों का अकर्मभाव को प्राप्त हो जाना।

अकृतकर्म–जिस कर्म का, जिसने बन्ध नहीं किया है, वह।

अकल्प्य–अग्राह्य (विशेषतः श्रमणवर्ग के लिए)।

अकर्मभूमि–असि-मसि-कृषि आदि कर्मों से रहित भूमि = भोगभूमि।

अकषाय–राग-द्वेषरूप उत्तापरहित, क्रोधादि कषायरहित जीव की अवस्था, या ईर्यापथिक क्रिया।

अकषाय-संवर–कषायों से होने वाले कर्मास्रव का निरोध करना।

अकर्मा–बन्धकारक कर्मों से रहित होना।

अकषायत्व–चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय से प्राप्त लब्धि से होने वाली अवस्था।

अकरण वीर्य–जो वीर्य (शक्ति) केवल लब्धिरूप में हो, क्रियारूप में नहीं।

अकामनिर्जरा–कर्मनाश की अनिच्छा से, निरुद्देश्य क्षुधा आदि कष्टों को विषमभाव से ही सहन करना, भोगना।

अकाममरण–बालमरण, अज्ञानपूर्वक विषयासक्ति आदि से होने वाला मरण।

अकाल मृत्यु–असमय में = बद्ध आयु स्थिति का अकस्मात् पूर्ण हो जाना, या आयुकर्म की उदीरणा होना। दुर्घटना आदि से मृत्यु हो जाना।

अक्रिया–क्रिया का सर्वथा अभाव हो जाना।

अक्रियावाद–जीवादि पदार्थों में क्रिया या उनके अस्तित्व का एकान्तरूप से अभाव मानने वाला एक वाद, मिथ्यात्व का एक भेद। परलोकविषयक क्रिया को न मानने वाला वाद।

अकुशल (कर्म)–दुःख देने वाले या दुःखहेतुक पापकर्म।

अकुशल मनोनिरोध–आर्त्तध्यान आदि से युक्त मन का निग्रह करना, या पापासक्त मन का निरोध करना।

अकुतोभय–अभय, या जिसे किसी से भी भय न हो, अथवा भयमोहनीय कर्म से रहित क्षीणमोही केवली।

अक्ष–जीव, आत्मा या इन्द्रिय।

अक्षय–जिसका कभी नाश न हो, शाश्वत हो वह। सिद्धगति-स्थान का विशेषण।

अक्षय स्थिति–आयुकर्म के क्षय से होने वाली अजर-अमर स्थिति।

अक्षर (श्रुत)–श्रुतज्ञान का एक भेद, वर्ण (स्वर-व्यंजनात्मक)।

अक्षिप्र–मतिज्ञान का एक भेद।

अगमिक श्रुत–श्रुतज्ञान का एक भेद।

अगर्हित–अनिन्दित, शुद्ध।

अगार (अगारी = आगारी)–छूट (आगार) रखना। अणुव्रती गृहस्थ।

अगाढ–सम्यग्दर्शन का एक दोष, जिसके कारण सम्यक्त्व में दृढ़ता न रहे।

अगुरुलघु नामकर्म–नामकर्म का एक भेद, जिसके उदय से जीव अत्यन्त भारी भी नहीं और अत्यन्त हल्का भी नहीं, ऐसा शरीर प्राप्त करता है। अपने शरीर के अनुपात में गुरुता और लघुता का न होना।

अगुरुलघु गुण–गोत्रकर्म के क्षय से सिद्ध-परमात्मा में प्रकट होने वाला गुण, जिसके प्रभाव से उच्चता-नीचता (गुरुता-लघुता) का अभाव होता है। अथवा द्रव्य की वह शक्ति या गुण, जिसकी वजह से सब यथारूप बना रहे।

अगृहीत मिथ्यात्व–एकेन्द्रियादि घोर अज्ञान-तिमिर में पड़े जीवों का मिथ्यात्व। अथवा परोपदेश के बिना अनादि परम्परा से प्रवर्तमान अतत्त्व-श्रद्धानरूप परिणति।

अग्निकाय–जिन जीवों का शरीर अग्निरूप है, वे अग्निकाय या अग्निकायिक या तेजस्कायिक कहलाते हैं।

अग्निकुमार–भवनपति देवों की एक जाति, जिनके अंग अग्नि के समान स्वर्णादि आभूषणों से चमकते हैं।

अग्निभूति–इन्द्रभूति गौतम गणधर के दूसरे नम्बर के सहोदर भ्राता भगवान् महावीर के गण (संघ) के द्वितीय गणधर।

अगीतार्थ–आचारांगादि अंगशास्त्रों तथा छेदसूत्रों का विधिवत् अपाठी।

अगोचर–इन्द्रियों से अग्राह्य।

अग्र (कर्म)–प्रधान कर्म (मोहनीय कर्म का विशेषण)।

अग्रबीज–जिस वनस्पति में बीज पहले ही उत्पन्न हो जाता है, या जिसकी उत्पत्ति में उसका अग्रभाग ही कारण होता है। जैसे–आम आदि।

अज्ञान–मिथ्याज्ञान, दूषितज्ञान, या संशय, विभ्रम और विमोह से युक्त ज्ञान। अथवा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से युक्त ज्ञान।

अज्ञान-परीषह–जय–यह अज्ञ है, पशु है, इस प्रकार के तिरस्कार-वचन सुन कर भी समभाव से अज्ञानता के कष्ट को सहना, प्रतिक्रिया न करना।

अज्ञानमिथ्यात्व–जो हिताहित की परीक्षा से रहित हो, ऐसी दृष्टि। अज्ञानरूप मिथ्यादर्शन से युक्त अथवा मिथ्यात्वभाव-विशिष्ट ज्ञान अज्ञानमिथ्यात्व है।

अज्ञानवाद–अज्ञान (न जानना) ही श्रेयस्कर है, ऐसा मूढ़तापूर्वक एकान्तरूप से मानने वाला एक मिथ्यात्वगृहीतवाद, अथवा जिनका ज्ञान कुत्सित है या मिथ्या है, उनका मत।

अंग–जैनागमों का प्रमुख भाग, जिसके अर्थ-प्ररूपक तीर्थंकर तथा सूत्र- रचयिता गणधर होते हैं।

अंग-प्रविष्ट–तीर्थंकर के द्वारा प्ररूपित अर्थ की गणधरों द्वारा जिन आचारांग आदि शास्त्रों के रूप में अंगशास्त्ररचना की जाती है, वे अंगप्रविष्ट हैं। ये गणिपिटक भी कहलाते हैं।

अंगबाह्य–गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आरातीय पूर्वधर आचार्यों के द्वारा रचित शास्त्र।

अंगार–आहार से सम्बन्धित परिभोगैषणा-सम्बन्धी दोष।

अंगोपांग नामकर्म–जिस कर्म के उदय से हाथ, पैर, सिर आदि अंगों और नासिका आदि उपांगों की निष्पत्ति होती है।

अघातिकर्म–जो सीधे आत्म-गुणों की घात न करके शरीर-सम्बद्ध इष्टानिष्ट भौतिक पदार्थों की उपलब्धि-अनुपलब्धि में कारण हों। वे चार हैं–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म।

अचल–पर्वत, परब्रह्म, सिद्धगति का विशेषण, आत्मा।

अचलभ्राता–भगवान् महावीर का नौवाँ गणधर।

अचक्षुदर्शन–चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन से होने वाला सामान्य प्रतिभास या अवलोकन (दर्शन)।

अचक्षुदर्शनावरण (कर्म)–अचक्षुदर्शन को आवृत करने वाला कर्म।

अचित्त–प्रासुक, निर्जीव, अचेतन।

अचित्त परिग्रह–रत्न, वस्त्र, सोना, चाँदी आदि का ममत्वपूर्वक ग्रहण या संग्रह करना।

अचेतन–जड़, चेतनारहित, निर्जीव।

अचेलक–निर्वस्त्र, जीर्ण या अल्प सादे वस्त्रधारी।

अचेल-परीषह–वस्त्र की अल्पता जीर्णता या रहितता का कष्ट समभावपूर्वक सहना। छठा परीषह।

अचौर्य महाव्रत–त्रिकरण-त्रियोग से चौर्यकर्म का त्यागरूप महाव्रत।

अचौर्य अणुव्रत–स्थूलरूप से अदत्तादानविरमणरूप त्याग।

अच्युत–बारहवाँ वैमानिक देवलोक; अभ्रष्ट, स्थिर, परमेश्वर, नारायण।

अच्छेद्य–जो छिन्न न हो सके, ऐसा। आत्मा का विशेषण।

अयतना–अजयणा, उपयोगरहितता, असावधानी, अविवेक।

अजर–जिसे बुढ़ापा न आये। देव। सिद्धों का विशेषण।

अजित–जिसे जीता नहीं गया, अपराजित।

अजितनाथ–भरतक्षेत्र की प्रचलित चौबीसी में तीसरे तीर्थंकर का नाम।

अजीव–जीवरहित। अजीव नामक द्वितीय तत्त्व। जड़-पुद्गल।

अजीवकाय-संयम–अजीव होने पर भी जिन वस्त्र, पात्र, बहुमूल्य पदार्थों से असंयम हो, उन्हें ग्रहण न करना।

अजीव क्रिया–अचेतन पुद्गलों का कर्मरूप में परिणत होना।

अटल अवगाहना–आयुकर्म के क्षय से सिद्धों को प्राप्त होने वाला शाश्वत स्थिरत्व गुण।

अणु–पुद्गल का अविभागी अंश।

अणिमा–अत्यन्त सूक्ष्म शरीर के रूप में विक्रिया की जा सके; ऐसी ऋद्धि।

अणुव्रत–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन स्थूल पापों का त्याग।

अतिक्रम–व्रत के अतिक्रमण = उल्लंघन का मन में विचार आना। इसके साथ ही आगे का कदम है–व्यतिक्रम = व्रत को उल्लंघन करने हेतु साधन जुटाना।

अतिचार–अतिक्रम से आगे का कदम। आंशिक रूप से व्रत का उल्लंघन करना–दोष लगाना।

अतिक्रमण–उल्लंघन करना।

अतिक्रान्त-प्रत्याख्यान–पर्युषणा के समय गुरु, वृद्ध, तपस्वी, ग्लान श्रमण की वैयावृत्य आदि करने के कारण जिस स्वीकृत तप को न कर सके, उसे बाद में यथावसर करना।

अतिथि-संविभागव्रत–श्रावक का बारहवाँ व्रत, जिसके आने की कोई तिथि, पर्व आदि निश्चित न हो। ऐसे भिक्षाव्रती उत्कृष्ट अतिथि-श्रमण, मध्यम अतिथि- श्रावकवर्ग, जघन्य अतिथि-किसी भी भूखे-प्यासे अनुकम्पापात्र को यथाविधि अपने आहारादि में से अमुक अंश निःस्वार्थभाव से देना।

अतिभार–प्रथम अणुव्रत का अतिचार। यह दोष तब लगता है, जब द्विपद, चतुष्पद जितना बोझ उठा सके, उससे अधिक बोझ उन पर लाद दे।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष–इन्द्रिय-व्यापार से निरपेक्ष, देश-काल आदि के व्यवधान से रहित अभ्रान्त, निर्मल, यथार्थ, अतिशयस्वरूप ज्ञान। समस्त लोक में उत्कृष्ट स्व और (बाह्य) पर दोनों को विषय करने वाला ज्ञान।

अतीन्द्रिय-सुख–इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रख कर आत्मा की अपेक्षा प्राप्त होने वाला निर्बाध-सुख, अथवा आत्मिक-सुख।

अतीर्थसिद्ध–तीर्थ के न होते हुए भी तीर्थान्तर से सिद्ध होने वाले मानव।

अतीर्थंकरसिद्ध–सामान्यकेवली हो कर सिद्ध होने वाले जीव।

अतीर्थसिद्ध केवलज्ञान–तीर्थ की स्थापना न होने पर या उसके विच्छेद हो जाने पर सिद्ध होने से पूर्व हुआ केवलज्ञान।

अत्यन्ताभाव–जिसका सद्भाव त्रिकाल में भी सम्भव न हो, ऐसा अभाव। जैसे–खर-सींग।

अतिव्याप्ति दोष–लक्षण का एक दोष; जो लक्ष्य में रहता हुआ अलक्ष्य में भी रहता है।

अदत्तादान–दूसरों के द्वारा बिना अनुमति, सम्मति या दिये हुए किसी पदार्थ को अपने अधिकार में लेना, उसका मालिक बन जाना। उसे अदत्तग्रहण, चोरी, अपहरण आदि भी कहते हैं।

अदर्शन-परीषह-विजय–चिरकाल तक व्रत, तप आदि का आचरण करने पर भी ज्ञानातिशय या लब्धि-विशेष प्राप्त न होने पर झुँझला कर 'व्रतों का धारण करना व्यर्थ है' ऐसा विचार न करके उपादान का विचार कर सम्यग्दर्शन को शुद्ध बनाये रखना।

अद्धाकाल–चन्द्र, सूर्य आदि की गति (क्रिया) से परिलक्षित हो कर ढाई द्वीप में समयादि के रूप में प्रवर्तमान काल है, वह।

अद्धापल्य–उद्धारपल्य के प्रत्येक रोमखण्ड को प्रति सौ वर्ष काल में निकाला जाये, वह जितने वर्षों में पूरा ठसाठस भर जाये, उतने सौ वर्षों से गुणित करने पर जितना काल हो, वह।

अद्धापल्योपम काल–अद्धापल्य में से एक-एक समय में एक-एक रोमखण्ड को निकालते-निकालते पूरा निकालने में जितना समय लगे, उतना समय लगने वाला काल।

अद्धासागरोपम काल–दस कोटाकोटि अद्धापल्योपम प्रमाण काल का एक सागरोपम काल होता है।

अद्वेष–तत्त्व-सम्बन्धी अरुचि, घृणा या अप्रीति न होना, या उसे दूर करना।

अदृष्ट–भाग्य, प्रारब्धकर्म, वेदाती या मीमांसक जिसे अपूर्व कहते हैं। नहीं देखा हुआ। दैवी भय।

अदेव–जिनमें अरिहन्त देव के लक्षण न हों।

अदुष्ट–जो दोषदूषित न हो या जो दुष्ट न हो, वह।

अद्वैतवाद–वेदान्तदर्शनमान्य सिद्धान्त।

अधर्म–जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि न हो; अथवा मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान व चारित्र का आत्म-परिणाम।

अधर्मास्तिकाय–जीवों और पुद्गलों की स्थिति (ठहरने) में सहायक द्रव्य।

अधर्मदान–दुर्जनों एवं दुर्व्यसनियों एवं पापियों को पापवृद्धि के लिए दिया गया दान।

अधिकरण–जीव और अजीव के प्रयोजन (हिंसादिभाव) का आश्रय, साधन या उपकरण। किसी वस्तु या सम्यक्त्व का आधार।

अधिगम–जिससे जीवादि पदार्थ जाने जायें, ऐसा ज्ञान।

अधिकरण क्रिया–हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना।

अधिगमज सम्यग्दर्शन–परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न हो। उसका दूसरा नाम अधिगम है।

अधःप्रवृत्तकरण–वे परिणाम, जो अधस्तन समयवर्ती परिणाम, उपरितन परिवर्ती परिणामों के साथ कदाचित् समानता रखते हैं। इसका अपरनाम 'यथाप्रवृत्तकरण' भी है। यह परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाया जाता है।

अधःप्रवृत्तकरण-विशुद्धि–प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण में उन परिणामों में समयोत्तर-क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि को अधःप्रवृत्तकरण-विशुद्धि कहते हैं।

अधिष्ठाता–नियंता। इन्द्रियों का अधिष्ठायक देव। उचित-अनुचित कार्य-पर्यवेक्षक।

अधोगति–दुर्गति। नरकादिगति।

अधोलोक–पुरुषाकार लोक में (इस पृथ्वी के) नीचे का भाग, जो वेत्रासन-सदृश है।

अध्ययन–जो पठन चित्त को शुभ अध्यात्म में लगाता है, जिसके पठन-पाठन से चित्तवृत्ति निर्मल होकर तत्त्वबोध, संयम और मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त होती है। अभ्यास। अध्याय।

अध्यवसाय–मनोभाव, स्थितिबन्ध के कारणभूत कषायजन्य आत्म-परिणाम। ये तीन प्रकार के होते हैं–शुभ (प्रशस्तरागयुक्त), अशुभ (अप्रशस्तरागादियुक्त) और शुद्ध (रागादिरहित ज्ञाताद्रष्टाभावयुक्त) परिणाम। निश्चय करना, संकल्प करना। इसे अध्यवसान भी कहते हैं।

अध्यवसाय-स्थान–जीवों के परिणामों के अनुसार अध्यवसायों के असंख्य स्थान।

अध्यास–मिथ्याज्ञान। जो गुण जिसमें नहीं है, उसका आरोपण करना। जैसे–देहाध्यास।

अध्याहार–जो पद मूल में नहीं है, उसका अर्थानुसार ऊपर से ले आना।

अध्यात्म–समस्त विकल्पों से रहित हो कर आत्मा में ही अवस्थित होना। मोहरहित हो कर एकाग्रचित्त से आत्मा को अधिकृत करके की जाने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ।

अध्यात्मविद्या–आत्मा-विषयक ज्ञान, ऐसी विद्या, जिससे संकल्प-विकल्परहित निर्मल, अन्तरंग हो।

अध्यात्मयोग–मन को विषयों से मोड़ कर आत्मा में जोड़ना।

अध्यात्मशास्त्र–आत्मा, परमात्मा का स्वरूप समझाने वाला या आत्मा को परमात्मपद या मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताने वाला शास्त्र।

अध्रुव–मतिज्ञान का एक भेद।

अध्रुवबन्ध–बन्ध के कारणों का सद्भाव होने पर भी जिस कर्म-प्रकृति का कभी बन्ध होता है, कभी नहीं होता।

अध्रुवबन्धिनी–बन्ध के कारणों के होने पर भी जो कर्मप्रकृति कदाचित् बँधती है, कदाचित् नहीं बँधती, वह।

अध्रुवोदया–अपने उदयकाल के अन्त (व्युच्छित्ति) तक जिस प्रकृति का उदय लगातार (अविच्छिन्न) नहीं रहता। कभी उदय होता है, कभी नहीं होता। उदय-व्युच्छेद-काल तक में जिसके उदय का नियम न हो, विच्छेद हो जाने पर भी जिसका उदय पुनः सम्भव हो। जैसे–सातावेदनीयादि।

अध्रुवसत्ताकी–मिथ्यात्व-दशा में जिस कर्मप्रकृति की सत्ता का नियम नहीं होता, यानी कभी सत्ता में हो, और कभी सत्ता में न भी हो, वह।

अनक्षरश्रुत–बिना अक्षर का श्रुत, यथा–उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठ्युत (थूक), काक्षित (छींक), अव्यक्त शब्द और संकेत।

अनगार–महाव्रती श्रमण, जिनका अपना कोई अगार (घर) नहीं होता।

अनगारधर्म–पंचमहाव्रतों का तीन करण, तीन योग से पालन, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म आदि का पालन जिसमें हो तथा जो २७ गुणों से युक्त हो, वह।

अनंगक्रीड़ा–श्रावक के चतुर्थ अणुव्रत का एक अतिचार। काम-सेवन के अंगों के अतिरिक्त अंगों से कामक्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

अनंगप्रविष्ट–जो आगम-साहित्य स्थविरों द्वारा रचित है।

अनंगश्रुत–धवलानुसार–सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार आदि १४ प्रकार के अनंगश्रुत हैं।

अनतिचार–प्रमाद के आत्यन्तिक अभाव से दोष न होना।

अनध्यवसाय–'यह ऐसा ही है', इस प्रकार के निश्चय का अभाव।

अनन्त–अपरिसमाप्त राशि, जिसका कभी अन्त न हो। इसके आश्रित ४ भंग– अनादि-अनन्त–जिसकी आदि और अन्त न हो। अनादि-सान्त–आदि न हो, पर अन्त हो। अनादिकाल से प्रवृत्त होकर भविष्य में विच्छेद को प्राप्त होने वाले कर्मबन्धादि। सादि-सान्त–जिसकी आदि भी हो और अन्त भी हो। सादि-अनन्त–जिसकी आदि तो हो, पर अन्त न हो।

अनन्त-चतुष्टय–केवलज्ञानी वीतराग अर्हन्तों और सिद्धों में व्यक्तरूप से और संसारी जीवों में निश्चयदृष्टि से अव्यक्तरूप से पाया जाने वाला आत्मा का निजी गुण। यथा– अनन्त ज्ञान (केवलज्ञान, सर्वज्ञता), अनन्त दर्शन (केवलदर्शन), अनन्त अव्याबाध-सुख (अनाकुलतारूप अनन्त आनन्द) और अनन्त वीर्य (अनन्त आत्म-शक्ति; (वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होने पर प्रकट होने वाला अप्रतिहत सामर्थ्य)।

अनन्तानुबन्धी कषाय–अनन्त भवों की परम्परा चालू रखने वाली कषाय। जिसके कारण अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है, ऐसा मिथ्यात्व। यानी जिन कषायों का सम्बन्ध मिथ्यात्व से है, वे कषाय। इस कषाय का उदय होने पर सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, यदि उत्पन्न हो गया हो तो चला जाता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ–पर्वतराजि या पाषाण रेखा के समान कठिनता से नष्ट होने वाला क्रोध अनन्तानुबन्धी क्रोध है। शैल स्तम्भ के समान अत्यन्त कठोर परिणाम वाला अहंकार अनन्तानुबन्धी मान है। बाँस की जड़ के समान अतिशय कुटिलता की कारणभूत माया अनन्तानुबन्धी माया है। कृमि-राग से रँगे हुए वस्त्र के रंग के समान दीर्घकाल तक किसी भी प्रकार से न छूटने वाला लोभ अनन्तानुबन्धी लोभ है।

अनन्तकाय–जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो। जैसे–निगोद, जमीकन्द वगैरह।

अनन्तावधि-जिन–जिस ज्ञान की अवधि उत्कृष्ट अनन्त है; जो ज्ञान अनन्त वस्तुओं को विषय करता है। ऐसा ज्ञान जिन कर्म-विजेताओं (जिनेन्द्रों) के होता है, वे अनन्तावधि-जिन कहलाते हैं।

अनवद्य–निरवद्य, निष्पाप, सावद्ययोग से रहित, निर्दोष।

अनर्थक्रिया–प्रयोजनरहित क्रिया।

अनर्थदण्ड–बिना प्रयोजन के की जाने वाली हिंसादि-पाप-संचयिनी क्रिया। श्रावक का आठवाँ अनर्थदण्डविरमणव्रत भी है।

अनपवर्तन–पूर्व-जन्मबद्ध कर्म की स्थिति का ह्रास न हो कर उतने ही स्थितिरूप कर्म का अनुभव करना।

अनपवर्तनीय–अनपवर्त्य–आयुकर्म की जितनी स्थिति बाँधी गई है उतनी स्थिति के वेदन करने को अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। इसे अनपवर्त्य या निरुपक्रमी आयु भी कहते हैं।

अनशन–केवल सकामनिर्जरा के उद्देश्य से स्वेच्छा से आहार-त्याग करना। आमरण (समाधिमरणरूप) अनशन का लक्षण भी यही है।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व–परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्वकर्म के उदय से तत्त्वों का अश्रद्धान। इसे 'अनाभिग्रहिक' भी कहते हैं।

अनाकार–आकार और विकल्प से रहित उपयोग, अर्थात् दर्शनोपयोग। अथवा निराकार परमात्मा।

अनाकारोपयोग–दर्शनोपयोग।

अनाकांक्षा क्रिया–आलस्य, धूर्त्तता या मूर्खता के कारण आगमोक्त आवश्यक क्रियाओं को करने में अनादरभाव रखना।

अनाशंसा–किसी प्रकार की आकांक्षा रखे बिना समाधिमरण प्राप्त करना। मुख्य पाँच प्रकार की आशंसाओं से रहित होना–इहलोकाशंसा, परलोकाशंसा, जीविताशंसा, मरणाशंसा और कामभोगाशंसा।

अनाचार–दूषित या खराब आचरण। व्रत भंग कर देना। विषयों में अत्यधिक आसक्ति।

अनाकुलता–आकुलता-व्यग्रता-उद्विग्नता से रहितता। एकाग्रता, स्थिरता, निश्चिंतता।

अनाक्रान्त–जो आक्रान्त या दबा हुआ न हो।

अनात्मा–आत्मा से विहीन शरीरादि जड़ पदार्थ।

अनाथ–स्वामी (मालिक या माता-पिता) से रहित, आश्रयरहित।

अनाथता–जो संयम ग्रहण करके पर-पदार्थों, कामभोगों एवं सुख-सुविधाओं के आश्रित हो गये हैं, उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति।

अनामय–रोग-व्याधि से रहित। स्वस्थ, निरोग।

अनादिकरण–धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्यों के परस्पर व्याघात के बिना सदा एक साथ अवस्थान।

अनादेय–जिसके वचन युक्तिसंगत होने पर भी अशुभ नामकर्म के उदय से प्रामाणिक या आदरणीय न माने जायें, शिरोधार्य न हों।

अनुगम–सूत्र की व्याख्या, सूत्र के अर्थ का स्पष्टीकरण, अन्वय, अनुसरण, जानना, ठीक-ठीक निश्चय करना, समझना।

अनुगामिक (अवधिज्ञान)–(जो ज्ञान) जीव के अन्य क्षेत्र में जाने पर भी अथवा दूसरे जन्म में भी साथ चलता है, ऐसा अवधिज्ञान।

अनानुगामिक–ऐसा अवधिज्ञान, जो जीव के साथ नहीं चलता।

अनाभोग–उपयोग का अभाव या असावधानी अनाभोग है। बिना देखे, बिना पूंजे उठना-बैठना आदि शारीरिक क्रिया अनाभोग क्रिया है तथा आगमों का पर्यालोचन किये बिना अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना अनाभोग मिथ्यात्व है। बिना सोचे-विचारे सहसा शरीर और उपकरण आदि को विभूषित करने वाला साधु अनाभोग-बकुश कहलाता है।

अनावृत–आवरण से रहित।

अनात्मा–आत्मारहित शरीरादि जड़ वस्तु।

अनार्य–जिसका आचरण श्रेष्ठजन-सम्मत नहीं है, जो पापाचार-परायण है, वह।

अनाश्रव–हिंसादि पंच-आश्रवों से रहित, कषाय से रहित तथा पंचमहाव्रत व पंचसमिति से युक्त।

अनादि-निधन–जिसका आदि और अन्त न हो ऐसा। नवकार मंत्र का एक विशेषण।

अनाहार–औदारिकादि तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण न करना। अथवा निराहार (उपवाससयुक्त) रहना।

अनाहारक–विग्रहगति को प्राप्त चारों गति के जीव या समुद्घातगत सयोगीकेवली, अयोगीकेवली तथा सिद्ध-परमात्मा अनाहारक हैं।

अनिकाचित–जिनका निकाचित बन्ध न हुआ हो, ऐसे कर्मप्रदेश, जिनका उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण या उदीरणा की जा सके।

अनित्य–समस्त आत्म-बाह्य पौद्गलिक वस्तु, जो विनश्वर, क्षणिक हैं; नित्य नहीं हैं।

अनित्यानुप्रेक्षा–शरीर, इन्द्रियाँ आदि सब अनित्य हैं, इसका पुनः-पुनः चिन्तन करना अनित्यभावना या अनित्यानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा–शरीरादि अन्य हैं, आत्मा (आत्म-गुण) अन्य हैं, इस प्रकार दोनों की भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना।

अनिधत्त–जिन कर्मप्रदेशों का अपकर्षण, उत्कर्षण और प्रकृति-संक्रमण किया जा सकता है और जो उदय में आता है।

अनिश्रित–अनासक्त, अप्रतिबद्ध।

अनिन्द्रिय–इन्द्रियों के समान दृष्टिगोचर न हो कर जो इन्द्रियों के कार्यों में सहायक व प्रेरक है, वह अन्तःकरणरूप मन। इन्द्रियों से युक्त होते हुए भी जो पदार्थों को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करते, वे अनन्तज्ञानधारक जीवन्मुक्त अरिहन्त केवली।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अभिनिबोध (अनुमान) और तर्क से होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अनिर्हारिम (अनशन)–पर्वत की गुफा आदि में पादप के समान निश्चेष्ट हो कर समाधिमरण प्राप्त करना अनिर्हारिम पादपोपगमन या पादोपगमन समाधिमरण है।

अनिवृत्तिकरण–जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन करके सम्यक्त्व-प्राप्ति होने तक निवृत्त नहीं होता हो, वह।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान–जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के भीतर वर्तमान सभी जीवों के परिणाम परस्पर भिन्न न हो कर समान हों, वह।

अनिह्नव-आचार–जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा हो, उसी के नाम को प्रगट करना, या जिस आगम या ग्रन्थ को पढ़ कर ज्ञानवान् हुआ हो, उसी ग्रन्थ का नाम बताना। ज्ञानाचार का एक अंग।

अनुकम्पा–दुःखित-पीड़ित प्राणी को देख कर उसके अनुकूल कम्पन होना–मन में खेद होना, उसके उद्धार की चिन्ता करना।

अनुज्ञा–दूसरे जिज्ञासुओं को स्वयं सूत्र और अर्थ पढ़ाना (प्रदान करना) तथा अन्य प्रदान करने वालों की अनुमोदना करना। गुरु आदि से आज्ञा प्राप्त करना।

अनुत्तरौपपातिक (सूत्र)–उपपात-जन्म ही जिनका प्रयोजन है, वे औपपातिक (देव)। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में उत्कृष्ट (अनुत्तर) तप की साधना करके पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले महाभाग महामुनियों के चरित्र का वर्णन करने वाला नौवां अंगसूत्र।

अनुदय बन्धोत्कृष्ट–जिन कर्मप्रकृतियों की विपाकोदय के अभाव में बन्ध के बाद उत्कृष्ट स्थिति (दीर्घकाल) तक सत्ता पाई जाती है।

अनुपक्रम–आयु के अपवर्तन के कारणभूत विष, शस्त्र, अग्नि आदि की दुर्घटना उपस्थित होने पर भी आयुष्य पूर्ण न होना–मृत्यु न होना। अथवा आयुष्य टूटने के कारणों का उपस्थित न होना।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय–(I) वस्तु की आन्तरिक शक्ति-विशेष से निरपेक्ष हो कर सामान्यरूप से निरूपण करने वाला नय। (II) उपाधिरहित गुण–गुणी के भेद को विषय करने वाला नय। जैसे–जीव के केवलज्ञानादि गुण।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय–(I) जो नय संक्लेश (संयोग) युक्त वस्तु के सम्बन्ध को विषय करता है, वह। जैसे–जीव का शरीर। (II) अबुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादि भावों में जीव के भावों की विवक्षा करना।

अनुपयोग–उपयोग का अभाव। उपयोग से रहित हो वह।

अनुपरति–उपरति = निवृत्ति (विषयाभिलाषाओं) का अभाव। अशान्ति।

अनुपलब्धि–उपलब्धि = प्राप्ति (लाभ) का अभाव, अथवा प्रत्यक्ष का अभाव।

अनुभव–(I) (वेदनरूप) कर्मफल का वेदन करना, भोगना। (II) वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि, पर-पदार्थों से विरक्ति, आत्म-स्वरूप में रमण और हेय-उपादेय-विवेक को अनुभव कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान।

अनुभाव–अनुभाग–जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस के दूध के रस में अपेक्षाकृत न्यूनाधिक मधुरता हुआ करती है, उसी प्रकार कर्मपुद्गलों में अपनी फलदान-शक्ति में जो अपेक्षाकृत न्यूनाधिकता होती है, वह अनुभव अनुभाव या अनुभाग कहलाता है।

अनुभाग–कषायजनित अध्यवसायों (परिणामों) के अनुसार कर्मों में जो शुभ या अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, उसका नाम अनुभाग है। उसे अनुभाव, स्वभाव, प्रभाव, माहात्म्य, शक्ति कहते हैं।

अनुभागबन्ध–जिस प्रकार मोदकों में स्निग्ध व मधुर आदि रस एकगुणे, दुगुणे व तिगुणे आदि रूप में रहते हैं, उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ व अशुभ, तथा तीव्र, मन्द आदि रस (अनुभाग) का बन्ध होता है, वह अनुभागबन्ध है।

अनुभाग-संक्रमण–अनुभाग का अपकर्षण, उत्कर्षण या अन्य प्रकृति के रूप में परिणमन होना।

अनुभागोदीरणा–वीर्य-विशेष से उदय-प्राप्त रस के साथ अनुदय-प्राप्त रस का वेदन होना।

अनुगमन–अनुसरण करना, पीछे-पीछे चलना। जैसे–पूर्वकृत कर्म कर्त्ता का स्वयं अनुगमन करते हैं।

अनुमति–कार्य को स्वयं न करना, न कराना, किन्तु करते हुए की मन से अनुमोदना या प्रशंसा करना। इसे अनुमोदना या अनुमति भी कहते हैं।

अनुमान–साध्य के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान।

अनुप्रेक्षा–शरीरादि के अनित्यादि स्वभाव का पुनः-पुनः चिन्तन करना।

अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय)–स्वाध्याय का चौथा अंग। पठित अर्थ का मन से चिन्तन-मननपूर्वक अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षक–अनुप्रेक्षाओं पर गहराई से बार-बार चिन्तन करने वाला।

अनुप्रेक्षण–अनुप्रेक्षाओं पर बार-बार चिन्तन करना।

अनुराग–विषय, व्यक्ति या भाव के अनुकूल प्रशस्त या अप्रशस्तराग। अनुराग के चार प्रकार–भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग और धर्मानुराग।

अनुपपत्ति–युक्ति का अभाव। असंगति।

अनुग्रह–कृपा या उदारभाव। उपकार।

अनुत्तर–सर्वश्रेष्ठ (सिद्धान्त), सर्वोत्तम। अनुत्तरज्ञानी (केवलज्ञानी)।

अनुदय–कर्मोदय का अभाव, कर्मफल के अनुभव का अभाव।

अनुदित–जिसका उदय न हुआ हो।

अनुदीर्ण = अनुदीरित–जिसकी उदीरणा दूर भविष्य में हो, या जिसकी उदीरणा न हुई हो, जिसकी उदीरणा भविष्य में न हो।

अनुवीक्षण–अनुवीचि (अनुविचिन्त्य)–पर्यालोचन करना, विचार करना।

अनुपर्यटन–परिभ्रमण करना।

अनुयोग–अर्थ के साथ सूत्र की अनुकूल योजना। व्याख्या, टीका, सूत्र का विस्तार से अर्थ-प्रतिपादन।

अनुद्घात–गुरुप्रायश्चित्त, उद्घातरहित, निशीथसूत्र का वह भाग जिसमें अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का विचार है।

अनुक्रम–क्रम; परिपाटी से।

अनुपालना–प्रतिपालन करना, सुरक्षण करना।

अनुलोम–अनुक्रम, सीधा, अनुकूल।

अनुश्रेणी–सीधी पंक्ति, पंक्ति-अनुसार। लोक के मध्य भाग से ले कर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में अवस्थित आकाश-प्रदेशों की पंक्ति।

अनुश्रोतःपदानुसारिणी बुद्धि–किसी अन्य से प्रथम पद के अर्थ और ग्रन्थ को श्रवणकर अन्तिम पद तक उस अर्थ और ग्रन्थ के विचार में समर्थ अतिशय निपुण बुद्धि।

अनुसारी (बुद्धि)–गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त के एक बीज पद को सुन कर उससे ऊपरिवर्ती ग्रन्थ को जान लेने वाली बुद्धि।

अनुभवगोचर–अनुभव का विषय।

अनुभाव–कर्मफलभोग। वे पाँच प्रकार के निमित्त से प्राप्त होते हैं–गति प्राप्त कर, स्थिति प्राप्त कर, भव प्राप्त कर, पुद्गल प्राप्त कर तथा पुद्गल परिणाम को प्राप्त कर।

अनेकसिद्ध-एकसिद्ध–एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना अनेकसिद्ध है, और एक व्यक्ति का सिद्ध होना एकसिद्ध है।

अनेकान्त–एक ही वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्व आदि विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अन्तकृत्–जो केवलज्ञान होने के साथ ही कर्मों का, जन्म-मरण का और सर्वदुःखों का अन्त कर देता है। अन्तकर इसी का पर्यायवाची शब्द है।

अन्तकृद्दशांगसूत्र–अष्टम अंग आगम। इसमें भगवान् नेमिनाथ और भगवान् महावीर के शासन के ९० महापुरुषों का वर्णन है, जिन्होंने कर्मों आदि का सर्वथा अन्त कर दिया है।

अन्तक्रिया–जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने वाली तथा सर्वकर्मक्षय (अन्त) करके योगनिरोध करने की क्रिया लोकोत्तर अन्तक्रिया है।

अन्तरकरण–विवक्षित कर्मों की अधस्तन और ऊपरी स्थितियों को छोड़ कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त्त-प्रयाण स्थितियों के निषेकों का परिणाम-विशेष से अभाव करना।

अंतरंग क्रिया–स्व-समय और पर-समय को जानने रूप ज्ञान-क्रिया।

अन्तरात्मा–बहिरात्मा से आगे की और परमात्मा से पहले की अवस्था। आठ मदों से रहित हो कर देह और आत्मा के भेद को जानने वाला। शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में जिन्हें आत्म-बुद्धि प्रादुर्भूत हुई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थान से ले कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान वाले जीव।

अन्तराय–किसी के ज्ञान, दान आदि में बाधा पहुँचाना।

अन्तरायकर्म–जो कर्म दाता और देय के बीच में बाधा बन कर आता है। जो कर्म दान आदि में रुकावट डालता है।

अन्तरिक्ष महानिमित्त–आकाशगत सूर्य, चन्द्र, तारा इत्यादि के उदय-अस्त अवस्था-विशेष को देख कर भूत-भविष्य-काल-सम्बन्धी फल को जानने की विद्या।

अन्तर्गति–एक गति को त्याग कर जीव जब तक दूसरी गति में नहीं पहुँच जाता, तब तक जन्म लेने से पहले जीव की मध्यवर्ती गति को अन्तर्गति कहते हैं। इसे विग्रहगति भी कहते हैं।

अन्तर्धान–अदृश्य होना।

अन्तर्मल–अन्तरंग का मल। आत्मा का अन्तर्मल कर्म है। कषायादि भी अन्तर्मल है।

अन्तर्नेत्र–दिव्य नेत्र, अन्तश्चक्षु, विवेकचक्षु।

अन्तर्जल्प–अव्यक्तरूप से बोलना।

अन्तर्मुहूर्त्त–एक समय अधिक आवली से लगा कर एक समय कम मुहूर्त्त (४८ मिनट) का काल।

अन्तःकरण–इन्द्रियों से अधिक विवेक करने वाले मन, बुद्धि, चित्त और हृदय, ये चार अन्तःकरण हैं।

अन्तःशल्य–(I) दुष्प्रवृत्तियों को छिपाने पर होने वाली आन्तरिक चुभन। (II) अन्तःकरण में काँटे की तरह चुभने वाले दोषों की आलोचना अस्मिता के कारण न करना।

अन्तःशुद्धि–आलोचना एवं प्रायश्चित्त करके आत्मा की शुद्धि करना।

अन्त्यसूक्ष्म–परमाणुगत सूक्ष्मता।

अन्त्यस्थूल–जगद्व्यापी महास्कन्धगत स्थूलता।

अन्ध–अकार्यरत, अज्ञानान्ध, विवेकचक्षुरहित।

अन्य-तीर्थसिद्ध–जैनसंघ के सिवाय अन्य संघ में रह कर जिसने रत्नत्रय की साधना से सिद्धि-मुक्ति (सर्वकर्मक्षय) प्राप्त की हो।

अन्यलिंगसिद्ध–जैनधर्मीय श्रमण-वेश के सिवाय अन्य किसी वेश में साधना करके जो सिद्ध–सर्वकर्ममुक्त हुआ हो।

अन्यदृष्टि-प्रशंसा–विपरीत (मिथ्या) दृष्टि जनों की मन से, वचन से प्रशंसा करना, उन्हें जाहिर में सम्मानित करना, प्रतिष्ठा देना।

अन्यदृष्टि-संस्तव–मिथ्यादृष्टियों का अत्यधिक परिचय–संसर्ग करना।

ये दोनों सम्यक्त्व के दोष (अतिचार) हैं।

अन्यत्वभावना–अन्यत्वानुप्रेक्षा–आत्मा के साथ शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों की भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना।

अन्यथानुपपत्ति–साध्य (पक्ष) के अभाव में हेतु का घटित न होना अन्यथानुपपत्ति है।

अन्नपुण्य–भूखे (क्षुधा-पीड़ित) व्यक्ति को निःस्वार्थभाव से अन्न से, भोजन से व आहार से तृप्त करना अन्नपुण्य है।

अन्नग्लायक–ऐसा साधक जो सरस या नीरस जैसा भी अन्न मिले, उसे समभावपूर्वक निगल जाता है, उसी में तृप्त हो जाता है।

अन्वय–अवस्था, देश और काल के भेद होते हुए जो कथंचित् तादात्म्य की व्यवस्था देखी जाती है, उसे व्यवहार के लिए अन्वय माना जाता है।

अन्वय-व्यतिरेक–उसके होने पर दूसरे का होना अन्वय है। उसके अभाव में दूसरे का भी अभाव होना व्यतिरेक है।

अपकर्षण–जिस क्रिया या प्रवृत्ति से सत्ता में पड़े हुए पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और रस में कमी हो जाये। इसे श्वेताम्बर परम्परा में अपवर्तनाकरण कहा जाता है। सम्यग्दर्शनादि से पूर्व-संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को तीव्र अध्यवसायविशेष के द्वारा क्षीण या न्यून कर देना अपकर्षण है। इसके ठीक विपरीत है उत्कर्षण–सत्ता में पड़े हुए पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में किसी तीव्र अध्यवसाय से वृद्धि कर देना उत्कर्षण है।' इसे श्वेताम्बर परम्परा में उद्वर्तनाकरण कहा जाता है। इन्हें क्रमशः अपवर्तन और उद्वर्तन भी कहते हैं।

अपध्यान–राग-द्वेष के वशीभूत हो कर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन, परस्त्री-हरण, ठगी, लूट, धनादि का संरक्षण–संग्रहण आदि का चिन्तन करना, प्लान बनाना रौद्रध्यान है, तथा इष्ट-वियोग–अनिष्ट-संयोग के कारण चिन्ता, उद्विग्नता, रुदन, विलाप आदि करना आर्त्तध्यान है, ये दोनों ध्यान कुध्यान = अपध्यान हैं, त्याज्य हैं।

अपरविदेह–मेरुपर्वत के पश्चिम की ओर से विदेह क्षेत्र का आधा भाग।

अपरिग्रह–अमूर्च्छा, अनासक्ति, चल-अचल पदार्थों व शरीर आदि पर भी ममत्व न होना।

अपरिगृहीता–पति-विहीन, किसी के द्वारा अपरिणीत स्त्री, वेश्या या बदचलन, पुंश्चली नारी, जो परपुरुष-गमन करती है।

अपरिग्रह महाव्रत–साधुवर्ग का अपरिग्रह महाव्रत, तीन करण, तीन योग से ममत्व त्याग।

अपरिग्रहवृत्ति–मोहकर्मोदयवश 'पर' में होने वाली ममत्व बुद्धि से निवृत्त होना। इसे अपरिग्रहता भी कहते हैं।

अपरीत संसार–जिसने सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके संसार (जन्म-मरण) को परिमित नहीं किया है, वह। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अपरीत-संसार कहलाता है। इसके दो प्रकार हैं–अनादि-अपर्यवसित अपरीत-संसार तथा अनादि-सपर्यवसित अपरीत-संसार।

अपर्याप्त-आहारादि छह पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्द्धपूर्णता।

अपर्याप्त–जो पृथ्वीकायिकादि जीव अपर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त होते हैं।

अपर्याप्ति नाम (कर्म)–जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों को यथायोग्य पूरा न कर सके।

अप्रमाद–अष्टविध या पंचविध प्रमाद से रहित, प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रमाद, असावधानी या अविवेक का अभाव।

अप्रमत्त–जो मुनि या साधक अप्रमादयुक्त रहे। मद्य (मद) आदि पंचप्रमादों का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त संयत कहलाते हैं। सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि या सप्तम गुणस्थान।

अप्रमादाचारी–अप्रमादपूर्वक आचरण करने वाला साधक। आत्म-जागृतिपूर्वक चलने वाला।

अप्रमाद-संवर–प्रत्येक प्रवृत्ति में मन-वचन-काया से प्रमादरूप आस्रव का निरोध करना। यतनापूर्वक चलना भी अशुभ आस्रव का निरोधरूप संवर है।

अप्रत्याख्यानावरण (कषाय)–जिस कषाय के उदय से देशविरतिरूप अल्प प्रत्याख्यान तथा व्रती श्रावकधर्म की प्राप्ति न हो सके। इसे अप्रत्याख्यानी कषाय भी कहते हैं।

अप्रतिबद्ध–जो विहार, आचरण या साधना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रतिबद्ध, न हो।

अप्रतिहत–किसी से नहीं रुका हुआ, अबाधित, अखण्डित या विसंवादरहित।

अपलाप–किसी के पास से शास्त्र या ग्रन्थ पढ़कर उसके नाम को छिपाना, अन्य गुरु या अध्यापक का नाम बताना। अथवा मूल सिद्धान्त को छिपाकर मनगढ़न्त प्ररूपणा करना अपलाप है।

अपरावर्तमाना (कर्मप्रकृति)–जो कर्मप्रकृतियाँ अन्य प्रकृतियों के बन्ध, उदय या दोनों को न रोककर अपने बन्ध, उदय या दोनों को प्राप्त होती हैं, परिवर्तित नहीं होतीं, वे अपरावर्तमाना कहलाती हैं। इसके विपरीत जो बन्ध, उदय और बन्धोदय में दूसरी प्रकृतियों को रोककर स्वयं का बंधादि करती हैं, वे परावर्तमाना कहलाती हैं।

अपरिवर्तनीय कर्मबन्ध–ऐसा निकाचित या निधत्त कोटि का बन्ध, जिसमें अशुभ को शुभ में या शुभ को अशुभ में बदलने अथवा स्व-सजातीय उत्तरप्रकृति में संक्रमण करने की गुंजाइश न हो।

अपरिखेदित्व (वचनातिशय)–अनायास (बिना परिश्रम के) ही जिस अतिशय के प्रभाव से वचन का निर्गमनरूप चौंतीसवाँ वचनातिशय।

अपवर्ग–जहाँ जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों तथा अज्ञानादि दोषों का पूर्णतः विनाश हो जाता है, ऐसी स्थिति यानी सर्वकर्ममुक्ति।

अपवर्तना-संक्रमण–आत्मा के विशिष्ट अध्यवसायों के प्रभाव से किसी कर्मप्रकृति को (कुछ अपवादों के सिवाय) अपनी सजातीय शुभ प्रकृति में रूपान्तरण या उदात्तीकरण या परिवर्तन करना।

अपर्यवसित श्रुत–श्रुतज्ञान का १०वाँ भेद। शाश्वत श्रुतज्ञान।

अपयशभय–निन्दा, बदनामी, अपकीर्ति होने का भय।

अपवाद–सामान्य विधि का निर्देश कर देने के पश्चात् आवश्यकतानुसार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि देख कर उसमें यथायोग्य विशेषता (छूट) का विधान किया जाता है, वह अपवाद है। किन्तु वह अपवाद उत्सर्ग-सापेक्ष होना आवश्यक है।

अपात्र–जो हिंसादि पंच पापकृत्यों में रत, मद्य-माँसाहारी, महारम्भी- महापरिग्रही, व्यभिचारी, तीव्र कषायी हो, अथवा जो दुर्लभबोधि, मिथ्यात्वी एवं क्रूर हो, वह कुपात्र या अपात्र है।

अपाय–अभ्युदय और निःश्रेयस-साधक क्रियाओं का विनाशक प्रयोग। अथवा इहलोकभय आदि सात प्रकार का भय भी अपाय कहलाता है। पापवर्द्धक अनिष्ट या अनिष्ट फल।

अपायदर्शी–इहलोक-परलोक में पाप के फलरूप अपाय (विनाश) के देखने वाले पुरुष को अपायदर्शी कहते हैं।

अपायविचय–मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योगजनित कर्मबन्ध के फलस्वरूप जन्म-जरा-मरण-व्याधि-वेदनाओं रूप अपायों से रहित होने के उपाय का चिन्तन करना, अथवा मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का अपाय = विनाश कैसे हो? इस प्रकार का चिन्तन, या राग-द्वेष-मोहादि से जनित शुभाशुभ कर्मों से जीवों का अपाय (छुटकारा) हो सकता है, ऐसा चिन्तन अपायविचय है। हिंसादिरूप आस्रवद्वारों से उत्पन्न होने वाले अनर्थों–अनिष्टों का बार-बार चिन्तन करने रूप अपायानुप्रेक्षा भी इसी के अन्तर्गत है।

अपार्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल–सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति से हुए परीतसंसारी जीव के संसार-परिभ्रमण की लगभग अनन्तकाल-समकक्ष उत्कृष्ट अवधि।

अपूर्वकरण–मोहकर्म के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ करते हुए अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त प्रतिसमय होने वाले अपूर्व-अपूर्व अध्यवसाय। अपूर्व गुणस्थान में विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के न पाये जाने वाले भाव। आत्मा के ऐसे परिणाम, जिनके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ देता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान–आठवाँ गुणस्थान, जिसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं।

अपोह–जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प को दूर किया जाये, ऐसे ज्ञान-विशेष को अपोह या अपोहा कहते हैं।

अप्काय–अप् यानी जल ही जिनका शरीर हो, वे जीव; यथा–ओस, बर्फ, शुद्ध जल आदि। इन्हें अप्कायिक भी कहते हैं।

अपुनरागमन–जहाँ से लौटकर जीव का वापस आना नहीं होता। इसे अपुनरागमन तथा अपुनरावृत्ति नामक सिद्धिगति भी कहते हैं।

अपुरस्कार–आत्मगर्व का परित्याग करके आत्म-लघुता = नम्रता प्रगट करना।

अप्रतिपाती (अवधिज्ञान)–जो अवधिज्ञान बिजली के प्रकाश के समान विनश्वर या प्रतिपाती (पतन होने वाला) नहीं है, किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहने वाला है तथा जो अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है।

अप्रतिघाती (अप्रतिघात) ऋद्धि (लब्धि)–आकाश के समान पर्वत, शिला, दीवार, वृक्ष आदि किसी भी ठोस पदार्थ के भीतर से बिना किसी व्याघात (रुकावट) के निकल जाने की शक्ति (क्षमता) वाली ऋद्धि (लब्धि)।

अप्रतिबुद्ध–कर्म और नोकर्म को आत्मा और आत्मा को कर्म-नोकर्म समझने वाला जीव अप्रतिबुद्ध (बहिरात्मा) कहलाता है। अथवा संसार से अविरक्त–अजाग्रत आत्मा अप्रतिबुद्ध होता है।

अप्रशस्त ध्यान–पापास्रव का कारणभूत आर्त्त-रौद्ररूप ध्यान अप्रशस्त ध्यान है।

अप्रशस्त निदान–मानकषाय से प्रेरित हो कर परभव में उत्तम कुल, जाति एवं रूपादि या प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि-वैभवादि पाने की आकांक्षा से आचार्य, गणधर या तीर्थंकरादि पदों के पाने का निदान (नियाणा = दु:संकल्प) करना।

अप्रशस्त प्रभावना–मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्ध-विश्वास आदि भावों की प्रभावना करना (प्रचार-प्रसार करना)।

अप्रशस्त प्रतिसेवना–बल, वर्ण आदि की प्राप्ति के लिए साधक के द्वारा अप्रासुक आहार भी सेवन करना अप्रशस्त प्रतिसेवना है।

अप्रशस्तभाव-संयोग–क्रोध, मान, माया और लोभ के संयोग से क्रमशः जो क्रोधी, मानी, मायी और लोभी कहलाता है, वह अप्रशस्तभावों के संयोग से जनित माना जाता है।

अप्रशस्तराग–जिस राग के पीछे तीव्र आसक्ति, लोभ, ममत्व, मोह या स्वार्थ हो, वह। अथवा स्त्री, शासक, चोर या भोजनादि की विकथाओं के कहने-सुनने का कुतूहल होना, व्यर्थ की गप्पें हाँकने का चस्का हो, वह।

अप्रशस्त वात्सल्य–धर्मानुराग के सिवाय गृहस्थों के प्रति साम्प्रदायिक, कषाय-नोकषायोत्तेजक मोह-मूढ़तावश रागभाव रखना।

अप्रशस्त विहायोगति (अशुभ विहायोगति-नामकर्म)–जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ एवं शृगाल आदि प्राणियों के समान अशुभ (बेढब या निन्द्य) चाल (गमन-क्रिया) प्राप्त हो।

अप्रशस्त उपबृंहण–मिथ्यात्व आदि में उद्यत प्राणियों का उत्साह बढ़ाना, बढ़ावा देना अप्रशस्त उपबृंहण या अप्रशस्त उपबृंहा है।

अप्रवीचार–कामवेदना के प्रतीकार का नाम प्रवीचार है। उससे रहित ग्रैवेयकादिवासी देवों द्वारा कामवेदना का प्रतीकार न करना अप्रवीचार कहलाता है।

अप्रतिक्रम–पादपोपगमन संथारे में द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं होना अप्रतिक्रम है।

अपरिकर्म–शरीर को स्नानादि से नहा-धो कर शुद्ध करना, शृंगारित, सुसज्जित करना, चंदनादि से सुगन्धित करना आदि परिकर्म से रहित, अथवा परिकर्म न करना।

अपेक्षावाद–स्याद्वाद व अनेकान्तवाद से मिलता-जुलता आइंस्टीन का अपेक्षावाद है, इसे सापेक्षवाद भी कहते हैं।

अप्रिय वचन–कर्कश, कठोर, निष्ठुर, अरतिकर, भीतिकर, खेदकर, वैर-विरोध-शोक-कलहकर तथा छेदन-भेदनकर वचनों को अप्रिय वचन कहते हैं। यह असत्य भाषा का प्रकार है।

अबद्ध श्रुत–द्वादशांगरूप बद्ध श्रुत से भिन्न श्रुत अबद्ध श्रुत है।

अबन्ध (अबन्धक)–(I) राग-द्वेष या कषाय से रहित योगों से होने वाले कर्म (क्रिया या प्रवृत्ति) से स्थितिबन्ध-अनुभागबन्ध नहीं होता। प्रदेशबन्ध-प्रकृतिबन्ध भी नाममात्र का होता है। इन्हें अबन्धक कर्म या शुद्ध कर्म भी कहते हैं। (II) सिद्ध जीव तथा अयोगी जिन भी बन्ध के कारणों से सर्वथा रहित होने से अबन्ध या अबन्धक हैं। वे मोक्ष के कारणों से युक्त होते हैं।

अबद्ध नोकर्म–जो शरीर आदि की तरह आत्मा के साथ सदैव, सर्वत्र, सम्पृक्त-संयुक्त नहीं रहते, न ही आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो कर रहते हैं; वे धन, सम्पत्ति, परिवार, मकान आदि अबद्ध नोकर्म हैं। चारों शरीर आत्मा से बँधे हुए होने के कारण, दूध-पानी की तरह परस्पर मिले हुए हैं। इसलिए शरीरादि बद्ध-नोकर्म हैं।

अबाध–निर्वाण (मोक्ष) का एक नाम। 'अनाबाध' भी एक नाम है। दोनों का अर्थ एक ही है–बाधा-पीड़ारहित स्थान।

अबाधा–अबाधाकाल–कर्म बँधने के पश्चात् जितने काल तक उदय में नहीं आता, सत्ता में पड़ा रहता है, उतने काल तक वह आत्मा को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता, अतः उस दशा को अबाधा कहा जाता है तथा कर्मबन्ध होने से लेकर उदय में आकर वह शुभाशुभ फल चखाने यानी फल का वेदन कराने को उद्यत नहीं होता, तब तक का बीच का काल अबाधाकाल कहलाता है। जिस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितने कोटाकोटि सागर-प्रमाण होती है, उस कर्म का उतने ही सौ वर्ष का उत्कृष्ट अबाधाकाल होता है।

अबुद्ध जागरिका–ईर्यासमिति और भाषासमिति से युक्त गुप्त ब्रह्मचारी (नौ ब्रह्मचर्यगुप्तियों से संरक्षित) साधु अबुद्ध जागरिका से जाग्रत होते हैं।

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा–नरकादि गतियों में कर्मों के उदय से फल को भोगते हुए जो कर्म झड़ते हैं, उसे अबुद्धिपूर्वा या अकुशलानुबन्धा निर्जरा कहते हैं।

अब्रह्म–अब्रह्मचर्य–वेदनोकषाय मोहनीय कर्मोदय से स्त्री-पुरुष-नपुंसक में जो परस्पर स्पर्शादि की इच्छा, तदनुरूप वचनप्रवृत्ति तथा क्रिया होती है, उस मैथुन (मिथुन-कर्म) को अब्रह्म कहते हैं। उक्त अब्रह्म (ब्रह्म = आत्मा के अतिरिक्त इन्द्रिय-मन के विषयों) में आसक्तिपूर्वक रमण करना अब्रह्मचर्य है।

अबहुश्रुत–जिसने आचारकल्प का अध्ययन नहीं किया है या पढ़कर भी भुला दिया है, वह अबहुश्रुत कहलाता है।

अभयदान–सूक्ष्म और बादर जीवों की अपनी शक्ति-प्रमाण रक्षा करना, उन्हें कष्ट न पहुँचाना अभयदान है।

अभ्युदय–पूजा-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन और कामभोग आदि का प्रचुरता से प्राप्त होना।

अभव्य–ऐसे जीव, जिन्हें कदापि सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष- प्राप्ति के अयोग्य जीव।

अभिगम रुचि–जिसने अर्थरूप में ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवादरूप सकल श्रुतज्ञान का अभ्यास रुचिपूर्वक किया है।

अभिगृहीत–दूसरों के उपदेश से ग्रहण किया हुआ मिथ्यात्व।

अभिध्या–प्राणियों के विषय में सदैव अभिद्रोहपूर्वक चिन्तन करना अभिध्या है। जैसे–'इसके मर जाने पर हम सुख से रह सकते हैं।'

अभिनिबोध (ज्ञान)–अर्थाभिमुख होकर नियत विषय का बोध = ज्ञान होना।

अभिमान–मानकषायोदयवशात् अन्तःकरण में उदय होने वाला अहंकार, गर्व या मद।

अभिन्नदशपूर्वी–जिन्हें दशपूर्वों तक का ज्ञान सूत्र, अर्थ और व्याख्या-सहित कण्ठस्थ हो।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–जीवादि पदार्थों के स्व-स्वरूप को जानने रूप सम्यग्ज्ञान में सतत उपयोगयुक्त रहना।

अभेद भ्रम–शरीर और आत्मा में अभेद (भिन्नता नहीं) है, ऐसी भ्रान्ति।

अभेद ध्रुवदृष्टि–द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से ग्रहण की हुई सत्ता (सामान्य) से अभिन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करने की ध्रुव (निश्चल) दृष्टि।

अभ्याहृत (आहार-दोष)–अपने ग्राम, घर आदि से साधु के निमित्त लाया हुआ उक्त दोषयुक्त आहार।

अभ्याख्यान–जिसमें जो दोष नहीं है, उसका उसमें झूठमूठ आरोपण–मिथ्या दोषारोपण, कलंक अभ्याख्यान है।

अभ्युत्थान–गुरु आदि के आने-जाने पर उनके सम्मानार्थ अपना आसन छोड़ कर खड़े हो जाना, सामने जाना।

अभ्युत्थित–जागरूक, उद्यत, तैयार रहना, तत्पर रहना।

अभौतिक–भौतिकतारहित आध्यात्मिक पदार्थ।

अमर–जो जन्म-मरण से रहित हों, ऐसे सिद्ध-परमात्मा। देव का पर्यायवाचीशब्द।

अमनस्क (जीव)–द्रव्य-मनरहित असंज्ञी जीव।

अमनोज्ञ–विष, कण्टक शत्रु आदि-आदि बाधा के कारण अप्रिय पदार्थ या व्यक्ति।

अमनोज्ञ-सम्प्रयोग-सम्प्रयुक्त आर्त्तध्यान–अनिष्ट वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना कि 'इन अनिष्ट वस्तुओं से संयोग कब छूटेगा?'

अमित्रक्रिया–पिता आदि के द्वारा स्वल्प अपराध होने पर भी तीव्र दण्ड देना द्वेषलक्षणा अमित्रक्रिया है।

अमूढ़दृष्टि–(I) देव, गुरु और धर्म के प्रति जिसकी दृष्टि मोह–मूढ़ता से रहित, तत्त्वार्थदर्शिनी है, वह अमूढ़दृष्टि है। दोषदृष्ट शास्त्रों, तपस्वियों और देवों तथा अन्य वादियों-मतावलम्बियों का आडम्बर देख कर जिसकी दृष्टि, चित्त, बुद्धि मोहित नहीं होती, वह। (II) जो सन्मार्गसम प्रतीत होने वाले, मिथ्यादर्शनादियुक्त मिथ्या मार्गों में परीक्षारूप नेत्रों के द्वारा युक्तिहीन जान कर उनमें मुग्ध नहीं होता, वह।

अमूर्त्त–(I) अल्पज्ञ जिन विषयों को इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं, वे मूर्त्त और उनसे भिन्न शेष सब अमूर्त्त जानने चाहिए। (II) नाम और गोत्रकर्मों का क्षय हो जाने पर रूपादिमयी मूर्ति (शरीरादि आकृति) से रहित मुक्त जीव भी अमूर्त्त कहलाते हैं।

अमूर्त्तत्त्व–मूर्त्तता का अभावरूप गुण अमूर्त्तत्त्व है। अर्थात् जिसमें रूपरहितता और निराकारता हो, वह अमूर्त्तत्त्व है।

अमूर्तिक–अरूपी पदार्थ, जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते; ऐसे अपौद्गलिक पदार्थ।

अमृतस्रावी (लब्धि)–जिनके हाथ का स्पर्श पाते ही नीरस आहार भी अमृत-सदृश सरस बन जाता है तथा जिनके मधुर वचन प्राणियों के लिए अमृत-सम हितकारी, अनुग्रहकारक होते हैं, ऐसी लब्धि वाले श्रमण। इसे अमृतास्रवी ऋद्धि भी कहते हैं।

अमायी (सम्यग्दृष्टि)–जिनके मन-वचन-काया के योग तथा सभी व्यवहार सरल, सुसंगत हों। जिसकी काया, भाषा तथा भावों में सरलता हो, अवक्रतापूर्ण त्रिविधयोग हो, वह अमायी सम्यग्दृष्टि होता है। इसके विपरीत मायी मिथ्यादृष्टि होता है।

अयोगकेवली, अयोग–जो शुक्लध्यानरूप अग्नि से घातिकर्मों को नष्ट करके त्रिविधयोगों से रहित हो जाता है, वह अयोग या अयोग (अयोगी) केवली होता है।

अयोगीकेवली गुणस्थान–चौदहवाँ गुणस्थान, जिसमें जीव समस्त योगों से तथा अन्तिम समय में समस्त कर्मों से रहित हो जाता है।

अयोगसंवर–दो प्रकार-पूर्ण अयोगसंवर और आंशिक अयोगसंवर। पूर्ण अयोगसंवर १४वें गुणस्थान में होता है, जहाँ योगों का पूर्णतः निरोध हो जाता है, जबकि आंशिक अयोगसंवर तब होता है, जब साधक शुभ और अशुभ से निवृत्त हो कर शुद्धोपयोग में स्थिर रहे।

अयशःनामकर्म–जिस कर्म के उदय से लोग निन्दा, बदनामी, या अपकीर्ति करते हैं।

अरति–जिस नोकषाय कर्म के उदय से तप-संयम आदि के प्रति अरुचि या उपेक्षा होना अरति है तथा बाह्य पदार्थों या विषयों के प्रति आसक्ति होना रति है। इन्हीं दोनों अर्थों के परिप्रेक्ष्य में १८ पापस्थानों (पाप के कारणों) में से १६वें पापस्थान–रति-अरति के अर्थ समझने चाहिए।

अरति-परीषहजय–मनोज्ञ विषयों के प्रति रुचि के बदले अरुचि, नृत्य-गीत- वाद्यादि से विहीन जनशून्य निर्जन गृह में अरुचि के बदले एकान्त में स्वाध्याय, ध्यानादि साधना में रुचि, कामकथादि श्रवण आदि में अनुरक्ति के बदले विरक्ति, यही है–महाव्रती का अरति-परीषहजय।

अरूप (रूपातीत) ध्यान–रूपरहित निर्मल सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिए रूपादि से रहित, पापपंक से विमुक्त सिद्धस्वरूप का संवेदनात्मक ध्यान करना रूपातीत = अरूप धर्मध्यान है।

अरूपी–जो द्रव्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित हैं, वे अरूपी कहलाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव (आत्मा) ये ५ द्रव्य अरूपी हैं। पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

अरिहन्त–चार घातिकर्मों से रहित तथा चार भवोपग्राही अघातिकर्मों से युक्त, केवलज्ञानी-केवलदर्शी वीतराग अरिहन्त, अरहन्त या अर्हन्त कहलाते हैं। तीर्थंकर अरिहंत और सामान्यकेवली अरिहन्त में अन्तर है। तीर्थंकर १८ दोषरहित तथा १२ आत्मिक-गुणों से युक्त होते हैं।

अर्थावग्रह–व्यंजनावग्रह–ये दोनों मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के द्वारा जानने के स्तर हैं। पदार्थ का अव्यक्त ज्ञान अर्थावग्रह है। व्यंजनावग्रह के अन्तिम समय में गृहीत शब्दादि अर्थ के अवग्रहण (बोध) = सामान्य अवबोध को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थापत्ति–प्रत्यक्षादि ६ प्रमाणों के द्वारा जाना गया अर्थ जिस अदृष्ट पदार्थ के बिना सम्भव न हो, उस अदृष्ट की कल्पना जिस प्रमाण में की जाती है, उसका नाम अर्थापत्ति है। जैसे–नीचे जलप्रवाह देखकर ऊपर हुई अदृष्ट वृष्टि की कल्पना।

अर्द्धनाराच–चतुर्थ संहनन। जिस शरीर-रचना में एक ओर मर्कट -ध हो और दूसरी ओर कील हो, वह अर्धनाराच होता है।

अर्थक्रियाकारिता–पूर्व आकार का परित्याग (व्यय), उत्तर आकार का ग्रहण (उत्पाद) और अवस्थान (ध्रौव्य)–स्वरूप परिणाम के कारण प्रत्येक वस्तु में अर्थक्रियाकारिता होती है।

अर्थदण्ड–क्षेत्र, वास्तु, धन, शरीर और परिजन आदि से सम्बन्धित गृहस्थ का जो प्रयोजन (अर्थ) होता है, उसे सिद्ध करने हेतु प्राणिपीड़ाजनक आरम्भ (दण्ड) होता है, वह अर्थ (सार्थक–सप्रयोजन) दण्ड कहलाता है।

अलाभ-परीषहजय–अन्तराय कर्म के उदय से आहारादि का लाभ न होने पर भी लाभवत् सन्तुष्ट हो कर उसे समभाव से सहन करना अलाभ-परीषह-विजय है।

अलीक–जो सच्चे साधु को असाधु और असाधु को साधु कहता है, वह अलीकरूप असत्य वचनभाषी होता है। इसी प्रकार सिद्धान्त या जिन-वचन से निरपेक्ष, एकान्त कथन करना, उत्सूत्र भाषण करना, सद्भाव-प्रतिषेध, अभूतोद्भावन, गर्हा-असत्य, भूत (अतीत में घटित) को छिपाना (निह्नव करना), मिथ्या अर्थ बताना, अनुमान से भी असत्य कथन आदि सब असत्य (अलीक) के प्रकार हैं। स्थूल मृषावाद के भी पाँच कारण हैं–कन्यालीक, गवालीक, भूम्यलीक, न्यासापहार एवं कूटसाक्षी।

अलेश्य–कृष्णलेश्या आदि षड्विध लेश्याओं से रहित जीव (अयोगीकेवली और सिद्ध) अलेश्य या अलेश्यी हैं।

अलोक–लोक से बाहर सब ओर जितना भी अनन्त आकाश है, वह सब अलोकाकाश कहलाता है।

अल्पतर बन्ध, उदय, उदीरणा–वर्तमान में जितनी प्रकृतियों की बन्ध, उदय, उदीरणा हो रही है, अनन्तर समय में परिणाम-विशेष से एक आदि से न्यून प्रकृतियों का बन्ध, उदय और उदीरणा-विशेष का होना।

अवाय–मतिज्ञान का भेद, जिसमें ईहा से जाने हुए पदार्थ में यह वही है, दूसरा नहीं, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान होना।

अवग्रह–मतिज्ञान का भेद। विषय और विषयी (ज्ञाता) के सम्बन्ध से नाम, जाति आदि विशेष बोध से रहित सामान्य सत्तामात्र का स्वरूपमात्र बोध या आभास होना अवग्रह कहलाता है।

अवगाढ़–ढका हुआ, आच्छादित, आश्रित, अधिष्ठित या व्याप्त।

अवगाढ़ रुचि–आचारांगादि द्वादशांग के अध्ययन से जो दृढ़ श्रद्धान होता है, वह अवगाढ़ रुचि या अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

अवधिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो ज्ञान मूर्त पदार्थों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा में जानता है, वह अवधिज्ञान है।

अवमौदर्य (ऊनोदरी)–छह प्रकार के बाह्य तपों में से दूसरा तप। स्वाभाविक आहार से क्रमशः एक, दो आदि ग्रास कम ग्रहण करना। भोजन की तरह वस्त्र, पात्र तथा उपकरण आदि तथा कषायादि की न्यूनता के रूप में भाव-अवमौदर्य तप भी हो सकता है।

अवर्णवाद–देव, गुरु, धर्म या अन्य किसी भी व्यक्ति की निन्दा, पर-परिवाद करना। महान् गुणीजनों में जो दोष नहीं हैं, उनको अन्तरंग कलुषता से प्रगट करना अवर्णवाद है। इस पापकर्म से महामोहकर्म बँधता है।

अवसन्न–(I) समाचारी के विषय में प्रमादयुक्त साधु या साध्वी। (II) जिन-वचन से अनभिज्ञ होकर ज्ञान और चारित्र (आचरण) से भ्रष्ट होता हुआ इन्द्रिय-विषयासक्त श्रमण अवसन्न है।

अवगाहना–(I) आधारभूत आकाशक्षेत्र, (II) शरीर-परिमाण, (III) शरीर की ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई, (IV) अवस्थान-अवस्थिति।

अवगाहना नामकर्म–नामकर्म का एक भेद, जिसके उदय से जीव को कर्मोदयानुसार अवगाहना मिले।

अवतार–(I) नीचे उतरना, या उतारना, (II) अवतार, (III) देहान्तर धारण, (IV) उत्पत्ति या जन्म, (V) समावेश।

अवतारवाद–ऊपर से सीधे ही जीव का ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में नीचे उतरना = जन्म लेना और बिना ही करणी के श्रेष्ठ मानव के रूप में माना जाना।

अवतीर्ण–नीचे उतरा हुआ, जन्मा हुआ।

अवसर्पिणी (कालचक्र के छह आरों का एक विभाग)–जिस काल में जीवों के अनुभव, आयु, शरीरपरिमाण, बल, बुद्धि आदि घटते जाते हैं, वह काल।

अवधारणा–दीर्घकाल तक याद रखने की शक्ति। अवधारण = निश्चय या निर्णय करना।

अविद्या–अनित्य, अनात्म (आत्म-बाह्य = अचेतन), अशुचि और दुःखरूप समस्त पदार्थों में नित्य,सात्म, शुचि और सुखरूप विपरीत बुद्धि या विपरीत मान्यता अविद्या है।

अविग्रहगति–विग्रहगति–विग्रह का अर्थ है–रुकावट, मोड़ या वक्रता (कुटिलता)। जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से युक्त होती है, वह विग्रहगति है, और इसके विपरीत जो मोड़ या वक्रता से रहित एक समय वाली ऋजुगति या इषुगति हो, वह अविग्रहगति होती है।

अविचार (ध्यान)–जो ध्यान व्यंजन, अर्थ और योग के परिवर्तन से रहित होता है, वह अविचार या अवीचार नामक ध्यान है।

अविच्युति–मतिज्ञान के अन्तर्गत धारणा का एक प्रकार। अवायज्ञान के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त तक निश्चय किये गये पदार्थ के स्मरण (स्मृति) या उपयोग से च्युत न होने यानी धारणा बनी रहने को अविच्युति कहते हैं। इसे धारणा, वासना या स्मृति भी कहते हैं।

अविपाक निर्जरा–जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उसे तपश्चरण आदिरूप औपक्रमिक क्रिया-विशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावलिका में प्रविष्ट कराके उसके विपाक (फल) को वेदन करना (भोग लेना) अविपाक निर्जरा है।

अविभाग-प्रतिच्छेद–(I) सयोगी जीव के करणवीर्य गुण को बुद्धि से तब तक छिन्न करते जाना, जब तक कि उसके आगे और कोई विभाग उत्पन्न न हो सके, ऐसे अन्तिम अविभागी अंश का नाम अविभाग-प्रतिच्छेद है। (II) एक परमाणु में जो जघन्य अनुभाग की वृद्धि हो, उसे भी अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं।

अविरति–हिंसादि पापों से विरत होना विरति है, ऐसी विरति का अभाव अविरति है। अविरति और असंयम अथवा अव्रती ये समानार्थक शब्द हैं। लोभ-परिणाम को भी प्रकारान्तर से अविरति कहा जाता है।

अविरत-सम्यग्दृष्टि–जो इन्द्रिय-विषयों से बिलकुल विरत = (बिलकुल नियमबद्ध या व्रतबद्ध) नहीं है, त्रस एवं स्थावर जीवों का रक्षण करने में जिसका ध्यान नहीं है। केवल जिन-वचनों पर या देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा रखता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव है। इसे ही दूसरे शब्दों में असंयत (अविरत) और 'असंयत सम्यग्दृष्टि' कहते हैं।

अव्यक्त दोष–मेरा अपराध भी इसके अपराध के सदृश ही है। इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है, वही मेरे लिए है; इस प्रकार अपने अपराध को प्रगट न करना, यह आलोचना का अव्यक्त नामक दोष है।

अव्यक्त–(I) अगीतार्थ, शास्त्र-रहस्यानभिज्ञ साधु, (II) अथवा गुरु या आचार्य का प्रत्यनीक, वाद-विवाद करने वाला साधु, (III) अव्यक्त मत या उसका प्रवर्त्तक जैनाभास साधु, (IV) अस्पष्ट, (V) छोटी उम्र का बालक। अव्यक्त मिथ्यात्व–मोहरूप मिथ्यात्व। (VI) सांख्यमतप्रसिद्ध प्रकृति को भी अव्यक्त कहते हैं।

अव्याबाध–(I) जहाँ किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा न हो उस मुक्ति-स्थान का नाम अव्याबाध है। (II) जिनके काम-विकारादि बाधाएँ नहीं होतीं, ऐसे लोकान्तिक देवों को भी अव्याबाध कहा जाता है।

अव्याबाध-सुख–कर्मफल के सम्बन्ध से रहित, अनुपम, अपरिमित (अनन्त), अविनश्वर तथा जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-भय आदि से रहित संसार से अतीत, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक, बाधारहित मुक्ति-सुख अव्याबाध-सुख है।

अविज्ञप्ति–बौद्धधर्म-दर्शन-विहित कर्म का पर्यायवाची शब्द, जिसमें चैतसिक तत्त्वों (भावकर्म) और भौतिक तत्त्वों (द्रव्यकर्म) में कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध को अविज्ञप्ति कहा गया है।

अविनाभाव–व्याप्ति, अथवा व्यापक के बिना जिसकी स्थिति न हो। एक के बिना दूसरा न रह सके, वह (तादाम्य) सम्बन्ध अविनाभाव कहलाता है।

अविनाशी–अविनश्वर, जो विनाशशील नहीं है। जैसे–आत्मा, परमात्मा। अथवा कूटस्थ परमेश्वर।

अविसंवाद–दूसरे किसी प्रमाण से बाधा न पहुँचना और पूर्वापर विरोध की सम्भावना न रहना आगम-विषयक अविसंवाद है।

अशरीरी–शरीरादि से रहित सिद्ध-परमात्मा।

अशरणानुप्रेक्षा (अशरणभावना)–जन्म-मरणादि भय से व्याप्त इस संसार में कर्मबन्धनादि से रहित अपनी आत्मा के सिवाय रक्षा करने वाला कोई नहीं है, इस प्रकार बार-बार विभिन्न पहलुओं से चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा (अशुचित्वभावना)–वीर्य और रुधिर से वृद्धिंगत यह शरीर पुरीषालय के समान मल-मूत्रादि भरा अपवित्र है। चर्म से मढ़े हुए इस शरीर की अपवित्रता स्नान व सुगन्धित उबटन आदि से भी दूर नहीं हो सकती। आत्मा की आत्यन्तिक शुद्धि तो सम्यग्दर्शनादि ही प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार निरन्तर विचार करना।

अशुद्धोपयोग-शुद्धोपयोग–परद्रव्य के संयोग के कारणभूत जीव का उपयोग अशुद्धोपयोग है, इसके विपरीत स्वात्म-द्रव्य या आत्म-गुणों में आत्मलक्षी उपयोग शुद्धोपयोग है।

अशुभ नामकर्म–जिस नामकर्मोदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हों।

अशुभ काय-वचन-मनोयोग–हिंसादि काय से सम्बन्धित अशुभ क्रियाएँ, असत्य, कठोर, असभ्य भाषा का प्रयोग तथा मन से दूसरे के वध-बंधनादि का विचार करना क्रमशः अशुभ काययोग, अशुभ वचनयोग और अशुभ मनोयोग है।

असंख्येय–जो राशि संख्या से रहित, गणनातीत हो, वह असंख्येय या असंख्यात है।

असंज्ञी–जो जीव द्रव्य-मन से रहित होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि को ग्रहण न कर सके।

असंप्राप्त उदय–जो कर्मदलिक अभी तक उदय को प्राप्त नहीं हुआ है, उसका वीर्य विशेष रूप उदीरणा के प्रयोग से अपकर्षण करके उदय-प्राप्त दलिक के साथ वेदन करना असंप्राप्त उदय है।

अश्रुतनिश्रित (मतिज्ञान)–शास्त्राभ्यास के बिना ही स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के द्वारा औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी, इन चार से बुद्धिस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अश्रुतनिश्रित आभिनिबोधिक मतिज्ञान कहलाता है।

असंख्यातप्रदेशी–वस्तु जीव शरीरप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हो जाता है। लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी होता है। जिसका विभाग न हो सके, ऐसा सूक्ष्म अवयव प्रदेश कहलाता है।

असंयम–षट्कायिक जीवों का घात करना तथा इन्द्रिय और मन को नियंत्रित न रखना।

असंविग्न–पार्श्वस्थ (पाशस्थ) और शिथिलाचारी श्रमण।

असात–रोग आदि के होने से होने वाली शारीरिक, मानसिक पीड़ा।

असातावेदनीय–असाता का अर्थ दुःख है। उस दुःख का वेदन = अनुभव जिस कर्म के उदय से परिताप के साथ किया जाता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

अस्तिकाय–जिनका गुणों और अनेकविध पर्यायों के साथ अस्ति-स्वभाव = अभेद = तद्रूपत्व है, अथवा जिन द्रव्यों के प्रदेश या परमाणु रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् न होकर अभिन्न हों, वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जैसे–धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं।

अस्तेय महाव्रत–क्षेत्र, मार्ग, कल (कीचड़) आदि में स्थित, नष्ट, विस्मृत, पराधिकृत = परस्वामित्वकृत, दूसरे की वस्तु को मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से ग्रहण न करना।

अस्थिर-नामकर्म–स्थिर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से नाक, भौं, जीभ आदि शरीर के अवयव अस्थिर यानी चपल होते हैं, वह। इसके विपरीत है–स्थिर- नामकर्म।

अस्मिता–'मैं' सत्व और पौरुष दोनों से सम्पन्न हूँ, इस प्रकार का अभिमान = अहंकार 'अस्मिता' है।

असद्वेद्य (असातावेदनीय या अशुभ वेदनीय)–जिस कर्म के उदय से नरकादि गतियों में शारीरिक, मानसिक आदि नाना प्रकार के दुःखों का वेदन हो, भोगा जाये।

असंवृत–(I) पापकर्मों से अनिवृत, (II) आस्रवों का निरोध न किया हुआ, (III) सत्रह प्रकार के संयम तथा संवर का जिसमें अभाव हो।

अहंकार–जो कर्मजनितभाव या पर-पदार्थ वस्तुतः आत्मा से (अपने से) भिन्न हैं, उनमें अपनेपन का दुराग्रह होना अहंकार है, इसे अहंत्व भी कहते हैं।

अहिंसा महाव्रत–प्रमत्त योग से त्रस और स्थावर जीवों का तीन करण, तीन योग से प्राणातिपात न करना।

अहिंसा अणुव्रत–मन-वचन-काया से, दो करण, तीन योग से त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का परित्याग करना।

(आ)

आकाश-आकाशास्तिकाय–सभी जीवों और पुद्गलों को तथा धर्मास्तिकायादि शेष द्रव्यों को जो अवकाश = स्थान देता है, वह आकाशद्रव्य या आकाशास्तिकाय है।

आकाशप्रदेश–आकाश के दो प्रकार–लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश के असंख्यात और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। प्रदेश और परमाणु में अन्तर है। प्रदेश स्कन्ध से जुड़ा रहता है, अलग नहीं होता, जबकि पुद्गल-परमाणु परस्पर मिलकर एकरूप भी होते हैं और फिर अलग-अलग भी हो जाते हैं।

आकिंचन्य–दशविध श्रमणधर्म का एक प्रकार। जो श्रमण बाह्य-आभ्यन्तर समस्त परिग्रह से रहित होकर राग-द्वेष का निग्रह करता है तथा सर्व संक्लेशरहित होकर निराकुलभाव में रहता है, वह अकिंचन है, उसका धर्म है–आकिंचन्य।

आक्रोश-परीषह-विजय–क्रोधवृद्धिकारक, अपमानकारक कर्कश एवं निन्द्य वचनों को सुनकर तथा प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी उस ओर ध्यान न देना, पापकर्म का फल जानकर समभाव से सहना।

आकांक्षा-कांक्षा–इस लोक या परलोक के सुखों की इच्छा, भोगाभिलाषा, जीवित रहने और मरने की आकांक्षा, फलाकांक्षा, आशंसा आदि एकार्थक हैं।

आकुट्टी–प्राणियों की छेदन-भेदनादिरूप प्रवृत्ति तीव्र द्वेषपूर्वक करना आकुट्ट है, ऐसी प्रवृत्ति करने की बुद्धि आकुट्टी की बुद्धि, तथा ऐसी दुष्प्रवृत्ति का कर्ता भी आकुट्टी कहलाता है।

आगति–एक गति से कर्मानुसार दूसरी गति में जाना गति है और वहाँ से आना आगति है।

आगम–(I) पूर्वापर विरोधादिरहित शुद्ध आप्त वचन आगम है। (II) वीतराग सिद्धान्त-सम्मत अंगबाह्य-अंगप्रविष्ट शास्त्रसूत्र सिद्धान्त आदि।

आगम-व्यवहार–पंचविध व्यवहारों में से एक, जिसका अर्थ है सिद्धान्तानुसार व्यवहार।

आगार–(I) गृह, घर, आगारी = गृहस्थ, आगारस्थ। (II) आगार = छूट, अपवाद।

आचार–(I) आयारो = आचारांगसूत्र। निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार-विचार का तथा आध्यात्मिक साधना का जिसमें वर्णन है, वह सूत्र। (II) पंचविध आचार = आचरण, यथा–ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। (III) आचार = धर्माचरण, व्रताचरण, अनुष्ठान आदि।

आचार्य (धर्माचार्य)–पंचविध आचार का, या व्रतों का स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं, उपदेश देते हैं, जो सर्वशास्त्रविद् धीर, इन्द्रियविजयी एवं छत्तीस गुणों से युक्त हों।

आक्षेपणी कथा–भव्य प्राणियों को मोह से हटा कर तत्त्वज्ञान के प्रति आकर्षित करने–मोड़ने वाली कथा। अथवा अनेकविध एकान्तदृष्टियों–मान्यताओं और अन्यमतीय विपरीत सिद्धान्तों के निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्यों तथा नौ तत्त्वों आदि के स्वरूप का उपदेश करने वाली कथा।

आजीविका भय–आजीविका के नष्ट होने का भय।

आज्ञा–आज्ञा से अभिप्राय है–जिन-आज्ञा। हित-प्राप्ति, अहित-परिहाररूप से जो सर्वज्ञोपदेश है, आप्तवचन है, वह आज्ञा है। आज्ञा, सिद्धान्त, प्रवचन, आगम या जिनवाणी ये एकार्थद्योतक हैं।

आज्ञापनी भाषा–स्वाध्याय करो, असंयम से विरत होओ, इत्यादि प्रकार की अनुशासनात्मक भाषा।

आज्ञारुचि–सम्यक्त्व का एक प्रकार। अर्हत्-सर्वज्ञ-प्रणीत आगममात्र के निमित्त से होने वाली श्रद्धा, रुचि, प्रतीति आज्ञारुचि है। ऐसे श्रद्धावान् को भी आज्ञारुचि कहते हैं।

आज्ञाविचय–आज्ञा = जिन-प्रवचन, उसका विचय निर्णय करना आज्ञाविचय है, या स्वसिद्धान्तोक्त मार्ग से तत्त्वों का चिन्तन, शास्त्रों के अर्थ का चिन्तन अथवा पंचास्तिकाय, षट्काय जीव, नौ तत्त्व आदि जिनाज्ञानुसार प्ररूपित पदार्थ जैसे बताये हैं, वैसे ही ग्रहणयोग्य हैं, उनका उसी प्रकार से विचार करना आज्ञाविचय है।

आज्ञाव्यवहार–देशान्तर-स्थित गुरु को अपने दोषों की आलोचना करने हेतु किसी अगीतार्थ के द्वारा आगमिक भाषा में पत्र लिख कर भेजने और गुरु द्वारा भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में जिनाज्ञानुसार प्रायश्चित्त लिख भेजने को आज्ञाव्यवहार (प्रायश्चित्त) कहते हैं।

आतप–आतप-नामकर्म–सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर स्वयं अनुष्ण होते हुए भी उसमें उष्ण प्रकाशरूप आतप हो, अथवा जो आतप का निष्पादक हो, उसे आतप-नामकर्म कहते हैं।

आत्म-ज्ञप्ति–'मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति का उत्पन्न होना।

आत्म-तत्त्व–मन की विक्षेपरहित अवस्था का नाम आत्म-तत्त्व = आत्म-स्वरूप है।

आत्म-प्रभावना–मोहकर्म का उत्तरोत्तर विनाश करते हुए आत्मा को शुद्ध से शुद्धतर और शुद्धतर से शुद्धतम बनाना आत्म-प्रभावना है।

आत्मा–ज्ञान-दर्शनस्वरूप जीव ही आत्मा है। वह परिणामी नित्य है, निश्चयदृष्टि से शाश्वत है।

आत्मवाद–संसार में सर्वत्र व्यापक, एक ही महान् आत्मा है, वही देव, गुरु, प्रभु, भगवान् है, वही चेतन (शुद्ध आत्मा), निर्गुण, सर्वोत्कृष्ट एवं उपादेय है, उसी को लक्ष्य में रखकर हेय, उपादेय तत्त्वों का विचार व तदनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति करनी चाहिए ऐसा मन्तव्य आत्मवाद है। इस प्रकार जिसकी समस्त प्रवृत्ति व चिन्तनधारा आत्म-लक्ष्यी हो, वह आत्मवादी है, आत्मार्थी है।

आत्मवान्–जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप, स्वभाव और गुणों का ज्ञान-भान हो, जो प्रत्येक कार्य में अप्रमादभाव से शुद्ध आत्मा की दृष्टि से सोचता है, जिसका अहंत्व-ममत्व नष्ट या मन्द हो गया हो, वह आत्मवान् है, इसके विपरीत लक्षण वाला अनात्मवान् है।

आत्म-विस्मृति–पाँचों इन्द्रियों तथा मन आदि अन्तःकरण के द्वारा मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रिय-अप्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष आदि होने पर शुद्ध आत्मा का ज्ञाता-द्रष्टापन भूल जाना आत्म-विस्मृति नामक प्रमाद है।

आत्म-स्वातंत्र्य–कर्मों के आस्रव और बन्ध से दूर रहने से कर्मोदय के समय समभाव से सहने से, तप, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग आदि द्वारा कर्मनिर्जरा करने से आत्म-स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

आत्माराम–आत्मा में ही सर्वतोभावेन रमण करने वाला अथवा आत्मा ही जिसके विश्राम करने हेतु आराम = उद्यान है, वह आत्माराम है।

आत्म-प्रतिष्ठित–जो क्रोध, मान, माया और लोभ अपने ही निमित्त से होता है, वह आत्म-प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार दूसरे के निमित्त से होने वाला कषाय पर-प्रतिष्ठित होता है। तथैव स्व और पर दोनों के निमित्त से होने वाला क्रोधादि कषाय उभय-प्रतिष्ठित कहलाता है। जब बिना ही किसी स्व, पर या उभय कारण से अकारण ही क्रोधादि कषाय उत्पन्न होता है, वह अप्रतिष्ठित कषाय है।

आदाननिक्षेप-समिति–चतुर्थ समिति, जिसमें श्रमणवर्ग द्वारा किन्ही सजीव-निर्जीव वस्तुओं–उपकरणों आदि को उठाना-रखना, देखभाल कर, जीव-जन्तुओं का निरीक्षण करके यतनापूर्वक उठाना-रखना आदाननिक्षेप-समिति है।

आधाकर्मिक दोष–श्रमणवर्ग के लिए आरम्भ करके बनाये हुए आहार का ग्रहण करना आधाकर्मी दोष है।

आदानभय–ग्रहण की हुई वस्तु के चुराये जाने, छीने जाने आदि का भय।

आदेय नाम–जिस कर्म के उदय से जीव ग्राह्य, उपादेय या बहुमान्य होता है, उसके वचन या व्यवहार को लोग प्रमाण मानते हैं, वह आदेय-नामकर्म है।

आधिकरणिकी क्रिया–किसी को तलवार, भाला आदि हिंसा के उपकरण देना या उससे लेना आधिकरणिकी क्रिया है।

आध्यात्मिक ऐश्वर्य–शुद्ध आत्मा में निहित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध-सुख एवं अनन्त आत्मिक-शक्ति ये चारों आत्मिक ऐश्वर्य हैं।

आध्यात्मिक चेतना–आत्मा और ज्ञान दोनों में अभिन्नता है, तादात्म्य है। अतः प्रत्येक कार्य में ज्ञानचेतना यानी ज्ञाता-द्रष्टाभाव में स्थिरता रहना आध्यात्मिक चेतना है।

आन्तरिक युद्ध–युद्ध के दो प्रकार–बाह्य और आन्तरिक। बाह्य युद्ध में दूसरों के साथ लड़ने में संवर की अपेक्षा आस्रव ही अधिक होता है, जबकि आन्तरिक युद्ध में आत्मा आत्मा के साथ युद्ध करता है, आत्मा में घुसे हुए राग-द्वेष, काम, क्रोधादि शत्रुओं को परास्त करके खदेड़ना होता है। आत्म-युद्ध में आत्मा को ही विजयी बनाना होता है।

आभिग्रहिक–एकान्ततः पूर्वाग्रह, हठाग्रह हो, तथा आत्मा, परमात्मा आदि तत्त्वों के स्वरूप के विपर्यास हो, वहाँ आभिग्रहिक मिथ्यात्व होता है। इसके विपरीत अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में सतत मूढ़दशा ही बनी रहती है, किसी प्रकार की विचारदशा नहीं रहती।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व–ऐसा मताग्रह या हठवाद, जिसमें सच्चा मार्ग जान-समझ लेने पर भी व्यक्ति अपनी मिथ्या मान्यताओं या गलत परम्परा को पकड़े रहते हैं, छोड़ते नहीं।

आभिनिबोधिक–अभिमुख और नियत पदार्थ को इन्द्रिय और मन से जानना। इसे मतिज्ञान भी कहते हैं।

आभियोगिक–अभियोग का अर्थ है–पराधीनता। जिनका प्रयोजन ही पराधीनता है, यानी दूसरों के अधीन रहकर उनकी आज्ञानुसार सेवा-कार्य करते हैं, वे आभियोगिक देव होते हैं।

आभियोगिक भावना–कौतुक, भूतिकर्म व शरीरगत चिह्नों के शुभाशुभ फलादि बता कर आजीविका करना आभियोगिक भावना है।

आभ्यन्तर तप–तप के दो भेद–बाह्य और आभ्यन्तर। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, ये छह आभ्यन्तर या आन्तर तप हैं, क्योंकि ये सर्वकर्ममुक्ति के अन्तरंग कारण हैं, इन्हें स्थूलदृष्टि वाले, तथा लौकिक जन देख नहीं पाते, मिथ्यात्ववश इनकी सम्यक् आराधना नहीं कर पाते।

आनुपूर्वी-नाम–जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव आकाशप्रदेशों की श्रेणी (पंक्ति) के अनुसार गमन करके उत्पत्ति-स्थान (गन्तव्य नरकादि गति) में पहुँच जाता है, उसे आनुपूर्वी-नामकर्म कहते हैं।

आप्त–अभिधेय वस्तु को जो यथावस्थित जानता है, यथाज्ञात प्रतिपादन करता है।

आमर्शौषधि-प्राप्त–आमर्श का अर्थ है–स्पर्श। जिन महर्षियों के हाथ-पैर आदि का स्पर्श औषधि को प्राप्त हो गया है, और जिनके स्पर्शमात्र से दुःसाध्य रोग मिट जाते हैं, ऐसी लब्धि के धारक।

आयु–आयुकर्म–नारकादि भव को प्राप्त कराने वाला कर्म आयु है। इस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, देव आदि के रूप में जीवित रहता है और इसके क्षय होते ही वह दूसरी पर्याय में चला जाता है, अर्थात् मर जाता है। वह चार प्रकार का है–नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

आरम्भ–उपक्रम, शुरूआत। प्राणियों को पीड़ा देने हेतु किया गया व्यापार।

आरम्भजा हिंसा–कृषि, आहार बनाने, या आजीविकार्थ कोई प्रवृत्ति करने में जो प्राणियों की विराधना होती है, वह आरम्भजा हिंसा है।

आरम्भ-समारम्भ–(I) आरम्भ का यहाँ अर्थ है–जीव, उनका समारम्भ = उत्पीड़न। (II) कृषि, रसोई आदि प्रवृत्ति से होने वाला प्राणिविघात, आरम्भ-समारम्भ है।

आराधना–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप के आचरण, उद्योतन, उद्यापन, निर्वहन, साधना, निस्तरण एवं भावान्तर-प्रापण को आराधना कहते हैं।

आराधक–अपने द्वारा गृहीत व्रत, प्रत्याख्यान, नियम, आचार आदि में कोई अतिचार (दोष) लगा हो, उसकी आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त, संलेखना-संथारा आदि करके आत्म-शुद्धि करने वाला आराधक होता है।

आर्जव धर्म–ऋजु = सरलभाव, ऋजु कर्म, भाव-विशुद्धि, कुटिलभाव छोड़कर निर्मल हृदय से विचरण आर्जव धर्म है। मन-वचन-काययोगों की अवक्रता आर्जव है।

आर्त्तध्यान–अनिष्ट-संयोग को दूर करने तथा इष्ट-वियोग को प्राप्त करने के लिए और आगामी काल में सुख-प्राप्ति की आकांक्षा, भोगाकांक्षा आदि निदान के लिए बार-बार चिन्तन करना आर्त्तध्यान है।

आर्यकर्म–जो गुणों से युक्त हो, या गुणीजन जिसकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, जो पापवर्द्धक हेय कार्यों से दूर रहता है, वह आर्य है, आर्य का कर्त्तव्यकर्म आर्यकर्म है, श्रेष्ठकर्म है। उदार आचरण।

आर्यस्थान–श्रेष्ठ या उत्तम जनों के रहने योग्य स्थान।

आलम्बन–ध्यान का आधारभूत कोई भी एक पदार्थ या पुद्गल आलम्बन कहलाता है। अथवा पंचसमिति के पालन के लिए चार निर्देश हैं–आलम्बन, काल, मार्ग और यतना। यहाँ भी समिति-पालन के लिए कोई न कोई आलम्बन होना आवश्यक है।

आलोचना–प्रायश्चित्त तप का एक प्रकार। जिसमें साधक या तो प्रतिक्रमण के समय स्वयं प्रमादजनित दोषों की आलोचना (आत्म-निरीक्षण) करता है, या वह गुरु आदि के समक्ष दस दोषों से रहित होकर अपने प्रमादजनित दोषों का सरल निश्छल होकर निवेदन करता है।

आलोचनार्ह–ऐसा प्रायश्चित्त, जिसमें अपराधों की शुद्धि केवल आलोचना (माया और मद से रहित होकर सरलतापूर्वक) करने से ही हो जाती है, उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं।

आलोचना-शुद्धि–क्रोधादि कषाय, इन्द्रिय-विषय, तीनों प्रकार का गौरव एवं राग-द्वेष से दूर हो कर आलोचना–यानी माया-मृषारहित आलोचना करने को आलोचना-शुद्धि कहते हैं।

आवलिका–असंख्यात समय-समूह की एक आवलिका होती है।

आवश्यक–श्रमणवर्ग और श्रावकवर्ग द्वारा दिन और रात में प्रमादवश हुए दोषों के निवारणार्थ जो षट् आवश्यकरूप धर्मक्रिया अवश्य की जाती है, उसे आवश्यक कहते हैं।

आवीचिमरण–वीचि का अर्थ है–तरंग। तरंग के समान निरन्तर जो आयुकर्म के निषेकों का प्रतिक्षण क्रमशः उदय होता है, उसका अनुभव करना आवीचिमरण है। प्रतिक्षण भयंकर भावमरण भी आवीचिमरण है।

आस्रवभावना–आस्रवानुप्रेक्षा–समस्त संसारी जीवों के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और शुभाशुभ योग; इन पाँच आस्रवद्वारों एवं आर्त्त-रौद्रादि ध्यानों से निरन्तर कर्मों का आगमन होता रहता है, मुझे इन (दोनों ही लोकों में दुःखदायक आस्रवजन्य दोषों से बच कर रहना या उनका निरोध करना चाहिए, तभी मेरी आत्मा कर्मावरणों से रहित हो सकेगी, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना आस्रवभावना (अनुप्रेक्षा) है।

आसुरिकीभावना–जन्म-जन्मान्तर तक क्रोध रखना, आसक्तियुक्त होकर तप करना, ज्योतिष आदि निमित्त बताकर जीविका करना, दयारहित होकर क्रियाएँ करना, तथा प्राणि-पीड़न करके भी पश्चात्ताप न करना, ये सब आसुरिकीभावना के लक्षण हैं।

आसेवना-कुशील–निर्ग्रन्थ का एक प्रकार, जो संयम की विपरीत आराधना करता है, या असंयम-सेवना करता है, वह आसेवना-कुशील कहलाता है।

आस्रव–मिथ्यात्वादि पंचविध कारणों से कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) का आगमन द्वार आस्रव है। मन-वचन-काया के क्रियारूप योग को आस्रव कहते हैं। इसके दो प्रकार–द्रव्यास्रव और भावास्रव। जीव का मिथ्यात्वादि परिणाम भावास्रव है, और उनके कारण शुभाशुभ कर्मपुद्गलों का आगमन द्रव्यास्रव है।

आस्तिक्य–सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में से एक लक्षण। जीव आदि तत्त्व (पदार्थ) यथायोग्यरूप से अपने-अपने स्वभाव से युक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि, सम्यग्दृष्टि को आस्तिक्य कहते हैं। इसे ही आस्था (देव-गुरु-धर्म और तत्त्व पर श्रद्धा) कहते हैं।

आस्तिकदर्शन–जो दर्शन आत्मा, परमात्मा में मानते हैं, इसके अतिरिक्त पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, तथा स्वर्ग-नरकादि लोक, कर्म-कर्मफल आदि में मानते हैं, वे आस्तिकदर्शन हैं।

आहार–औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का आहरण = ग्रहण करना आहार है। अथवा औदारिक शरीर के योग्य अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार है। इसके अतिरिक्त ओज आहार, लोम (रोम) आहार भी है।

आहारकशरीर–सूक्ष्म पदार्थों के विषय में शंका-समाधान या जिज्ञासा-शान्ति के लिए अथवा असंयम के परिहार की इच्छा से प्रमत्त संयत द्वारा जो शरीररचना की जाती है, वह। जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के स्कन्ध आहारकशरीर के रूप में परिणत होते हैं, उसे आहारकशरीर-नामकर्म कहते हैं।

आहारक-समुद्घात–अल्प पाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधारणरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले आहारकशरीर की रचना के लिए जो समुद्घात (आत्म- प्रदेश-बहिर्गमन) होता है, वह आहारक-समुद्घात है।

आहार-पर्याप्ति–आहारवर्गणा के परमाणुओं को खल और रसभागरूप से परिणमन कराने की शक्ति को आहार-पर्याप्ति कहते हैं।

आहारकत्व मार्गणा–शरीर-नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और द्रव्यमनोरूप बनने योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं, अथवा ओज आहार, लोम आहार, कवलाहार आदि में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है। उसकी मार्गणा (अन्वेषण) करना आहारकत्व मार्गणा है।

आहारसंज्ञा–आहार की ओर देखने से, उसकी ओर उपयोग जाने से तथा पेट के खाली होने पर जो आहार की अभिलाषा होती है, उसे आहारसंज्ञा कहते हैं।

(इ)

इंगिणीमरण–समाधिमरण का एक भेद, जिसमें दूसरे की सेवा-शुश्रूषा न लेते हुए, स्वयं ही शरीर की सेवा करते हुए, जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसे इंगिणीमरण कहते हैं।

इच्छाकार–दशविध समाचारी का एक प्रकार जिसमें साधक को बलपूर्वक न कहकर 'आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करिए' ऐसा कहा जाता है। अभीष्ट सम्यग्दर्शनादि, व्रतनियमादि या तप-संयमादि सहर्ष, चढ़ते परिणामों से स्वेच्छा से सहर्ष स्वीकार करना, उसका पालन करना, इच्छानुसार उस सत्कार्य में प्रवृत्त होना इच्छाकार है, इच्छायोग है।

इत्वरिक अनशन–यावज्जीवन तक अनशन स्वीकार न करके परिमित काल तक आहार का त्याग करना इत्वरिक अनशन है। यह नवकारसी से लेकर छह महीने या इससे भी अधिक तक अभीष्ट है।

इन्द्र–अन्य देवों में न पाई जाने वाली असाधारण अणिमा-महिमादि ऋद्धियों के धारक विशिष्ट देवों के अधिपति को इन्द्र कहते हैं। ये चौंसठ होते हैं, ये सभी सम्यग्दृष्टि एवं तीर्थंकर-भक्त होते हैं।

इन्द्रिय–परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और उसके चिह्न या लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होती है, वह इन्द्रिय है। इन्द्रिय के मुख्यतया दो प्रकार हैं–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की हैं–निर्वृत्ति और उपकरण। शरीर में दिखाई देने वाली इन्द्रियों सम्बन्धी पुद्गलों की विशिष्ट रचना निर्वृत्ति है और उपकरण वह है जो निर्वृत्तिरूप रचना को हानि नहीं पहुँचने देता, उसका रक्षक और बाह्य ज्ञान में सहायक होता है। भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की हैं–लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ है–शक्ति-प्राप्ति क्षमता। स्पर्शक आदि इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव की जो शक्ति अनावृत होती है, वह लब्धि है तथा उपयोग है– उक्त लब्धि का उपयोग–अमुक-अमुक इन्द्रियों के द्वारा विषयों में प्रवृत्त होकर प्राणी द्वारा करना। यह प्रवृत्ति भी दो प्रकार की है–जानना और सुख-दुःख आदि का वेदन करना। लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से इन्द्रिय के पाँच भेद हैं– श्रोत्रेन्द्रिय आदि। वैदिकदर्शन में इन्द्रियों के दो भेद किये गए हैं–ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। विकलेन्द्रिय–

पाँचों इन्द्रियों से कम हों, वे विकलेन्द्रिय हैं। उनके तीन प्रकार हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय। जिन जीवों के स्पर्शन और रसन हो, वे द्वीन्द्रिय; जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राण, ये तीन इन्द्रिय हों, वे त्रीन्द्रिय जीव; और स्पर्शन, रसन और घ्राण तथा चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ हों, वे चतुरिन्द्रिय होते हैं। एकेन्द्रिय–जिनके केवल एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय हों, वे एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रिय में पंचस्थावर जीव हैं–पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। पंचेन्द्रिय–जिनके पाँचों इन्द्रियाँ हों, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं। उनके चार प्रकार हैं–नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

इन्द्रियजय–चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रिय-विषयों को ज्ञान, वैराग्य और तपरूप अंकुश के प्रहारों द्वारा वश में करना।

इन्द्रिय-पर्याप्ति–योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करने रूप शक्ति की प्राप्ति। अथवा उक्त शक्ति की उत्पत्ति के निमित्तभूत पुद्गल-प्रचय की प्राप्ति।

इन्द्रिय-विषय–इन्द्रियों के पाँच विषय हैं–स्पर्श न, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। ये विषय अपने आप में अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय नहीं हैं। इनके प्रति होने वाले राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं, त्याज्य हैं।

इन्द्रिय-संयम–पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को इन्द्रिय-असंयम कहते हैं, उन विषयों पर नियंत्रण करने को इन्द्रिय-संयम कहा है। इसी को इन्द्रिय-निग्रह भी कहा जा सकता है।

इन्द्रिय-संवर–इन्द्रियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के प्रति होने वाले राग-द्वेष आदि से आने वाले कर्मों के आस्रव (आगमन) का निरोध करना इन्द्रिय-संवर है।

इष्ट-वियोग–पुत्र, पत्नी और धनादि सजीव-निर्जीव इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए जो बार-बार चिन्ता होती है, वह इष्ट-वियोगज आर्त्तध्यान कहलाता है। इसी के प्रतिपक्ष में इष्ट-संयोग, अनिष्ट-वियोग में हर्षानुभूति या रागभाव लाना भी कर्मबन्ध का कारण है।

इहलोकाशंसा-प्रयोग–इस लोक के विषय में अभिलाषा का प्रयोग। संलेखना का एक अतिचार।

(ई)

ईहा (मतिज्ञान भेद)–अवग्रह से जाने गए पदार्थ के विशेष जानने की इच्छा ईहा है। ऊहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा इसके नामान्तर हैं।

ईषत्प्राग्भार–सिद्धशिला का दूसरा नाम। समस्त कल्पविमानों के ऊपर ४५ लाख योजन विस्तार व आयाम वाली, खुले हुए छत्रसमान ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी है।

ईर्यापथ कर्म–कषायरहित कर्म ईर्यापथिक कर्म है। १३वें गुणस्थान में ईर्यापथिक क्रिया होती है। मात्र योग द्वारा कर्म आता है, उसे ईर्यापथ कर्म कहते हैं।

ईर्यापथ-शुद्धि–जीवस्थान एवं जीवयोनि का ज्ञाता साधक द्वारा प्राणिपीड़ा परिहार का प्रयत्न करते हुए ज्ञान व सूर्यप्रकाश से आलोकित मार्ग पर द्रुत-विलम्बित, संभ्रान्त, विस्मय तथा परितः अवलोकन आदि दोषों से रहित हो कर चलना ईर्यापथ-शुद्धि है।

ईर्यासमिति–गमनागमनादि प्रत्येक चर्या करते हुए एकाग्रता और अचपलतापूर्वक दिन-रात में प्रासुक-जीवजन्तु रहित मार्ग पर चार हाथ (युगमात्र) भूमि को देख कर यतनापूर्वक गमनागमन करना।

ईश्वर–जो आठों कर्मों जन्म-मरणादिरूप संसार तथा सर्वदुःखों से मुक्त, निरंजन-निराकार होते हैं, ऐसे सिद्ध-परमात्मा पूर्ण ईश्वर हैं। जिन्होंने चार घातिकर्मों से रहित होकर केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर लिये वे वीतराग-जीवन्मुक्त ईश्वर हैं और आठों ही कर्मों से युक्त बद्ध ईश्वर हैं। किन्तु निश्चयदृष्टि से आत्मा के अनन्त चतुष्टयरूप आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं, किन्तु ये चारों गुण अभी तक व्यक्त नहीं, अव्यक्त हैं, वे बद्ध ईश्वर हैं। जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता कोई ईश्वर जैनदर्शन नहीं मानता। वह आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न को ईश्वर मानता है।

(उ)

उच्चगोत्र–जिस कर्म के उदय से धर्मसंस्कारी लोकपूजित कुल में जन्म हो।

उच्चार-प्रस्रवण-समिति–प्रासुक, द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित तथा अंकुरोत्पादनविहीन भूमि पर यतनापूर्वक मल, मूत्र, कफ, भुक्तशेष अन्नादि, नासिकामल आदि का परिष्ठापन = विसर्जन करना। इसे उत्सर्ग-समिति भी कहते हैं। इसका पूर्ण नाम 'उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति' है।

उच्छ्वास–संख्यात आवलिका प्रमाण काल उच्छ्वास है।

उच्छ्वास-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास लेने में समर्थ हो, उसे उच्छ्वास-नामकर्म कहते हैं।

उच्छ्वास-पर्याप्ति–जिस शक्ति से उच्छ्वास योग्य वर्गणाद्रव्य ग्रहण करके तथा उसे उच्छ्वास के रूप में परिणमा कर छोड़ता है, उसे उच्छ्वास-पर्याप्ति कहते हैं।

उत्कालिकश्रुत–जिस अंग बाह्यश्रुत के स्वाध्याय का काल नियत नहीं है, वह उत्कालिक कहलाता है।

उत्तरप्रकृति–पर्यायार्थिकनय के आश्रय से किये जाने वाले पृथक्-पृथक् कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के नाम का निरूपण।

उत्सर्पिणी (काल)–जिस काल में जीवों की आयु, शरीर की ऊँचाई, तल-विभूति आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। कालचक्र का आधा भाग।

उत्सूत्र–तीर्थंकर और गणधरों के उपदेश के विपरीत तत्त्व का स्वमति से कथन करना।

उत्सर्ग–बाल, वृद्ध, शान्त और रुग्ण साधु मूलभूत आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर संयम का आचरण करता है, वह संयमपरिपालन उत्सर्ग-मार्ग है।

उत्कर्षण–कर्मप्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना। श्वेताम्बर परम्परा में इसका दूसरा नाम उद्वर्तन है।

उग्रतप–एक से लेकर १५ दिन तक या एक मास आदि का प्रारम्भ करके मरण पर्यन्त उससे च्युत न होना।

उत्कटिकासन–नितम्ब और एड़ियों के मिलने पर उत्कटिकासन होता है।

उदीरणा–अधिक स्थिति और अनुभाग को लिये हुए जो कर्म स्थित हैं, उनकी उक्त स्थिति व अनुभाग को न्यून करके फल देने के उन्मुख करना उदीरणा है।

उदय–कर्म-विपाक (फलदान) का प्रकट होना। पूर्वबद्ध कर्मों की द्रव्यादि निमित्तवश फल-प्राप्ति का परिपाक होना उदय है।

उदयनिष्पन्न–कर्म के उदय से जीव और अजीव में जो अवस्था प्रादुर्भाव होती है, वह उदयनिष्पन्न कहलाती है। जैसे–नरकगति-नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की नारक अवस्था।

उदयवती (कर्मप्रकृतियाँ)–जिन-जिन कर्मप्रकृतियों के दलिक का स्थिति के अन्तिम समय में अपना फल देते हुए वेदन किया जाता है, उन कर्मप्रकृतियों को उदयवती कहते हैं।

उदानवायु–कण्ठप्रदेश में स्थित रहने वाली प्राण-वायु, जो रस आदि को ऊपर ले जाती है। वह वर्ण से लाल होती है, तथा हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रुकुटि-मध्य और सिर में स्थित रहती है।

उदीरणा–अधिक स्थिति और अनुभाग को लिए जो कर्म अभी उदय में नहीं आए हैं, उनकी तप-संयम आदि से स्थिति व अनुभाग को कम करके उदयावलिका में प्रविष्ट करा कर फल देने के उन्मुख करना–फल देने से पहले ही फल भोग लेना उदीरणा है। जिन कर्मपुद्गलों का उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है, उनको उदय में स्थापित करना उदीरणाकरण है। यह उदय की ही एक विशेष अवस्था है।

उदासीन–तटस्थ, मध्यस्थ, पृथक् रहने वाला, उपेक्षा करने वाला। सांसारिक प्रपंचों या विषयों से निरपेक्ष, संसारमार्ग से विरक्त।

उदात्तीकरण–ऊर्ध्वीकरण या विकारों या पतन की ओर जाती हुई इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की प्रवृत्तियों-वृत्तियों को उदात्त = शुद्ध, पवित्र ध्येय या वृत्ति-प्रवृत्ति की ओर मोड़ देना।

उदधिकुमार–भवनपति देवों का एक प्रकार।

उष्ण-परीषह-सहन–निर्वात, निर्जल, ग्रीष्मकालीन, सूर्यताप, लू, दावाग्नि से युक्त प्रदेश में प्रासुक जल के अभाव में दाह एवं प्यास से पीड़ित होने, स्वेदमग्नहोने पर भी प्राणिपीड़ापरिहार में दत्तचित्त साधुवर्ग द्वारा उष्णता के कष्ट को समभाव से सहन करना।

उद्योत-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत (प्रकाश) होता है।

उन्मत्त–भूतादि ग्रस्त व्यक्ति। यह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

उपकरण-संयम–अजीवकाय पुस्तक आदि के ग्रहण, धारण, रक्षण में संयम रखना, असंयम से बचना।

उपघात-नामकर्म–(I) जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर में बढ़ने वाले प्रति जिह्वा, चोरदंत, अधिकांगुली आदि के अवयवों के द्वारा स्वयं घात (घर्षणादि) होता है, उसे उपघात-नाम कहते हैं। (II) अथवा जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बन्धन अथवा पर्वतपात आदि द्वारा अपना ही उपघात (मरण) हो, वह भी उपघात-नामकर्म है।

उपगूहन–बाल एवं अशक्त साधक द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग की होने वाली हीलना-निन्दा आदि को दूर करना। यह सम्यक्त्व के आठ अंगों में से एक अंग है। इसके बदले कहीं-कहीं उपबृंहण नामक अंग है। जिसका अर्थ है–(I) उत्तम क्षमा आदि की भावना से सद्धर्म-वृद्धि करना। (II) अथवा साधर्मी भाई-बहनों के समीचीन गुणों की प्रशंसा द्वारा उन्हें प्रोत्साहित करना–आगे बढ़ाना।

उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत–श्रावक का सातवाँ व्रत, जिसमें जीवनभर के लिए अन्न-पानादि उपभोग्य और वस्त्रालंकारादि परिभोग्य वस्तुओं का परिमाण (मर्यादा) किया जाता है।

उपचय–चित्त (गृहीत या संचित) कर्मपुद्गलों के अबाधाकाल को छोड़कर आगे ज्ञानावरणादि स्वरूप से निःसिंचन करना–क्षेपण करना।

उपचार-विनय–आचार्यादि के सामने आने पर खड़ा होना, उनके सामने जाना तथा हाथ जोड़कर प्रणामादि करना।

उपदेशरुचि–तीर्थंकर एवं बलदेवादि के उत्तम चरित के सुनने से जिसे तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न हुई हो, उसे उपदेशरुचि कहते हैं। यह व्यवहार-सम्यक्त्व का एक प्रकार है।

उपधि–जीवन-निर्वाह के या सुखोपभोग के जितने भी साधन हैं, वे उपधि हैं। अथवा मुनियों की संयम-यात्रा के लिए जो भी उपकरण आदि हैं, वे उपधि हैं। उपधि का अर्थ माया–कपट भी है। वह दो प्रकार की है–औधिक और औपग्राहिक (कारणवशग्राह्य)।

उपाधि–(I) परिग्रह के अर्जन और संरक्षणादि की चिन्ता और आसक्ति। (II) उपाधि = पदवी, पद। (III) अन्य प्रकार से रही हुई वस्तु को दूसरे ढंग से देखने रूप कपट। (IV) कुटुम्ब में प्रसिद्ध उपनाम। (V) धर्म-चिन्ता।

उपादेय–ग्रहण करने योग्य, उपादानकारण से सम्बन्धित, अतएव उससे अभिन्न कार्य। इसलिए उपादान–उपादेयभाव को कारण-कार्यभाव भी कहते हैं।

उपादानकारण–जो कारण कार्य के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध रखता है, तथा जिसके विनष्ट होने पर विवक्षित कार्य उत्पन्न नहीं होता है।

उपाध्याय–जिनके पास सविनय जा कर मोक्ष (सर्वकर्मक्षय) के उद्देश्य से शास्त्र पढ़े जाते हैं तथा जो रत्नत्रय से युक्त हैं, मार्गभ्रष्ट जीवों के पथ-देशक हैं यानी निरीह वृत्ति से जिनोक्त–पदार्थोपदेशक हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। इन्हें वाचक, उवज्झाय, पाठक आदि भी कहते हैं। ये २५ गुणधारक होते हैं।

उपायविचय–धर्मध्यान का एक भेद। (I) मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्तियों = पुण्यक्रियाओं का आत्मसात् करना उपाय है। वह उपाय मुझे किस प्रकार से प्राप्त हो, इस प्रकार का चिन्तन उपायविचय है। (II) जो लोग दर्शनमोह के उदय से सन्मार्ग से विमुख हो रहे हैं, उन्हें सन्मार्ग की प्राप्ति कैसे हो? इस प्रकार का चिन्तन भी उपायविचय है।

उपासक–देव, गुरु और धर्म की बहुमान एवं तीव्र श्रद्धापूर्वक भक्ति, उपासना करने वाला उपासक या श्रमणोपासक है।

उपांशुजप–ऐसा मंत्रोच्चारणरूप जप जो अन्तर्जल्प हो, जिसकी ध्वनि दूसरे को सुनाई न दे।

उपधान-ज्ञानाचार–'जब तक अनुयोगद्वार आदि शास्त्र में से कोई एक अमुक शास्त्र समाप्त नहीं होगा, तब तक मैं अमुक वस्तु का उपयोग नहीं करूँगा।' इस प्रकार का संकल्प उपधान-ज्ञानाचार है।

उपधान–आगाढ़ादि रूप तपोयोग-विशेष उपधान-तप है, जो श्रुतग्रहण (शास्त्राध्ययन) की सफलता के लिए अवश्यकरणीय है। जिस शास्त्र या अध्ययन के लिए विहित जो तप = उपधान तप है, उसे अवश्य करना चाहिए।

उपपात–(I) देव और नारकों के जन्म का क्षेत्र उपपात कहलाता है यानी देवों का सम्पुटशय्या (पुण्य-शय्या) में तथा नारकों का उष्ट्रमुखी कुम्भीपाक में उपपात (जन्म) होता है। (II) विवक्षित गति से निकलकर अन्य गति में जन्म लेना भी उपपात या उपपाद कहलाता है।

उपमान (प्रमाण)–प्रसिद्ध अर्थ की समानता से साध्य के सिद्ध करने को उपमान–प्रमाण कहते हैं। यथा–गोसदृशो गवयः।

उपयोग–(I) जीव का ज्ञान-दर्शनरूप लक्षण उपयोग है। ज्ञान चैतन्य। (II) ध्यान। (III) सावधानी। (IV) प्रयोजन। (V) आवश्यकता। (VI) जीव का शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम भी उपयोग है। (VII) क्रोधादि कषायों के साथ जीव का सम्प्रयोग होना भी उपयोग है।

उपयोग-शुद्धि–गमनागमन करते समय पैरों को उठाते-रखते हुए तद्देशवर्ती जीवों की रक्षा में चित्त की सावधानता को उपयोग-शुद्धि कहते हैं।

उपवास–विषयों, कषायों तथा त्रिविध या चतुर्विध आहार का सूर्योदय से दूसरे दिन के सूर्योदय तक त्याग करना उपवास है।

उपशम–आत्मा में कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति का प्रकट न होने देना, अथवा कर्म के उदय का अभाव, यानी कर्म का अनुदयरूप उपशम है।

उपशमक–अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसम्पराय, ये तीन गुणस्थान वाले उपशमक हैं। यानी नौवें, दसवें गुणस्थानवर्ती जीव उपशमक हैं, अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपचार से उपशमक कहे जाते हैं।

उपशम-निष्पन्नभाव–क्रोधादि कषायों के उदय का अभाव होने से जीव के जो परम शान्त अवस्थारूप परिणाम-विशेष होता है, उसे उपशम-निष्पन्नभाव कहते हैं।

उपशमनाकरण–कर्मों को उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचनाकरण के अयोग्य करना उपशमनाकरण है।

उपशमश्रेणी–जहाँ (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थान में) जीव मोहनीय–चारित्रमोहनीय को क्रमशः उपशान्त करता हुआ आरोहण करता है।

उपशान्त–कषाय–सम्पूर्ण मोहकर्म का उपशमन करने वाला ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव।

उपेक्षा–(I) सुख और दुःख में साम्यभाव से रहना, समचित्तता रखना। (II) सुख में अराग और दुःख में अद्वेष उपेक्षा है। (III) दूसरों के दोषों के प्रति दृष्टि न रखना उपेक्षा है। (IV) इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष न करना उपेक्षा है। (V) राग और मोह का अभाव उपेक्षा या उदासीनता है।

उष्णस्पर्श-नाम–जिस कर्म के उदय से प्राणी का शरीर अग्नि के समान उष्ण होता है, वह उष्णस्पर्श-नामकर्म है।

उपेक्षासंयम–असंयमयोग्य कार्यों में प्रवृत्त न होना, संयमयोग्य कार्यों में प्रवृत्त होना उपेक्षा संयम है, अथवा देशकालज्ञ एवं त्रिगुप्ति–गुप्त श्रमण में राग-द्वेष का अभाव भी उपेक्षासंयम है।

(ऊ)

ऊनोदरी तप–द्रव्य ऊनोदरी–आहार, वस्त्र, उपकरण, योगों की चपलता में कमी करना। भाव ऊनोदरी–क्रोधादि चार कषायों, राग-द्वेष, क्लेश, वाणी प्रयोग कम करना।

ऊर्ध्वलोक–मध्यलोक के ऊपर खड़े किये हुए मृदंग के समान लोक को ऊर्ध्वलोक कहते हैं।

ऊर्ध्वदिग्व्रत–ऊर्ध्वदिशा-सम्बन्धी (पर्वत आदि पर आरोहणवत्) प्रमाण का जो नियम किया जाए, वह।

ऊसर–जिस भूमि पर घास आदि कुछ भी उत्पन्न न हो, ऐसी बंजर भूमि को ऊसर भूमि कहते हैं।

ऊह–ऊहा–(I) अवग्रह से गृहीत पदार्थ का जो विशेष अंश नहीं जाना गया है, उसका विचार करना ऊहा है, यह ईहा मतिज्ञान का ही नामान्तर है। (II) उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाले–'यह (धूम) इसके (अग्नि के) होने पर ही होता है, और उसके न होने पर नहीं होता', इस प्रकार के व्याप्तिज्ञान को ऊह या ऊहा कहते हैं।

(ऋ)

ऋणानुबन्ध–वैदिक-परम्परा का पारिभाषिक शब्द। जैन-परम्परानुसार इसे जन्म-जन्मान्तर से परम्परागत पारस्परिक बन्ध कहा जा सकता है। जैसे–गजसुकुमाल मुनि के जीव का, सोमल ब्राह्मण के जीव के साथ ९९ लाख भवों पूर्व बँधा हुआ परम्परागत कर्मबन्ध।

ऋजुमन (ऋजुकमन)–जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसका उसी रूप में चिन्तन करने वाला मन ऋजुमन या ऋजुकमन कहलाता है।

ऋजुता–सरलता। मायाचार से रहित मन, वचन, काया की सरल प्रवृत्ति ऋजुता है। योगवक्रताविहीनता।

ऋजुमति (मनःपर्यायज्ञान का भेद)–दूसरे के मन में स्थित तथा मन-वचन-काय से किये गए अर्थ के ज्ञान से निष्पन्न सरल बुद्धि या बोध को ऋजुमति मनःपर्याय या मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।

ऋजुसूत्र (नय का एक भेद)–तीनों कालों के पूर्वापर विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमानकालभावी विषय को ग्रहण करता है, वह भी वर्तमान में एक समयमात्र को विषय करता है। क्योंकि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में भूत और भविष्य दोनों ही व्यवहारयोग्य नहीं हैं। अतीत पदार्थ नष्ट हो चुकते हैं, भविष्य पदार्थ अभी अनुत्पन्न हैं।

ऋद्धि–भोगोपभोग सम्पदा के साधनों–कारणों को ऋद्धि कहते हैं।

ऋद्धिगारव (ऋद्धिगौरव)–नरेन्द्र-देवेन्द्र आदि से पूज्य आचार्य आदि पदों की प्राप्तिरूप ऋद्धि का गर्व (अहंकार) करना। अथवा शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, वौद्धिक वैभव, प्रतिभा, प्रवचनपटुता, आडम्बर-बहुलता, प्रसिद्धि आदि का बड़प्पन प्रगट करना भी ऋद्धिगारव है। अथवा ऐसी ऋद्धि की अप्राप्ति के निमित्त से मन में अशुभ भावों (ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि कुत्सित भावों की गुरुता से होती है, वहाँ ऋद्धिगौरव नामक दोष है, घोर कर्मबन्ध का कारण है वह।

ऋतंभरा प्रज्ञा–जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में धारण–ग्रहण कर लेने वाली योगज प्रज्ञा। योगदर्शन-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द।

ऋषभनाराच–छह संहननों में दूसरा संहनन। कीलिकारहित संहनन।

ऋषि–(I) क्लेशराशि का रेषण = शमन करने वाले मनीषी का नाम ऋषि है। (II) चारित्रसार के अनुसार–ऋद्धि-प्राप्त साधुओं को ऋषि कहते हैं। वे चार प्रकार के हैं–

(१) राजर्षि–विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि-प्राप्त ऋषि, (२) ब्रह्मर्षि–बुद्धि व औषधि ऋद्धि-प्राप्त ऋषि, (३) देवर्षि–आकाशगमन की ऋद्धि से युक्त, और (४) परमर्षि–केवलज्ञानी।

(ए)

एकत्व-अनुप्रेक्षा–एकत्वभावना–जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता है, जन्म-जरा-मरणादि दुःखों का भोक्ता भी अकेला है। पुनःपुनः ऐसा चिन्तन करना।

एकत्व-वितर्क-अविचार–शुक्लध्यान का एक भेद। क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती श्रमण के जो निश्चल शुक्लध्यान होता है, वह एकत्व-वितर्क-अविचार ध्यान है जिसमें एक द्रव्य, एक गुण और एक पर्याय का चिन्तन किया जाता है।

एक-रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा–गाँव के बाहर श्मशान आदि में एक पुद्गल पर दृष्टि टिका कर कायोत्सर्ग में रात्रिभर स्थित रहना। देव, मनुष्य या तिर्यञ्चकृत कोई भी उपसर्ग आए, उसे समभाव से सहन करना।

एकेन्द्रिय–वह जीव जो एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा सुख-दुःख का संवेदन करता है। इन्हें पंचस्थावर भी कहते हैं।

एकविध बन्ध–एकमात्र सातावेदनीय प्रकृति के बन्ध को एकविध बन्ध कहते हैं। यह एकमात्र बन्ध ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थान में होता है।

एकाग्रचिन्तननिरोध–अनेक विषयों के आलम्बन से अवश्य चलायमान होने वाली चिन्ता को एक प्रमुख विषय की चिन्ता में निरुद्ध करना ध्यान का लक्षण है।

एकादशी प्रतिमा–प्रतिमाधारी श्रावक की ११ प्रतिमाओं में से अन्तिम प्रतिमा, जिसमें श्रावक साधु की तरह केशलोच या मुण्डन करे, ब्रह्मचर्य से रहे, उद्दिष्ट आहार का त्याग करे, तथा भिक्षा करके आहार करे।

एकेन्द्रिय जातिनाम–जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहलाता है, वह है–एकेन्द्रिय जातिनाम।

एकान्तवाद–एकान्तमिथ्यात्व–अनेकान्त-निरपेक्ष होकर 'यह पदार्थ ऐसा ही है, वैसा नहीं' इस प्रकार का एकान्त आग्रह पकड़ना अथवा काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, इन पाँच वादों में से एकान्तरूप से एक को ही पकड़ना एकान्तवाद या एकान्तमिथ्यात्व है।

एकाशन-एकासन–जिस तप-विशेष में एक बार भोजन करना, अथवा एक ही आसन पर स्थिर होकर आहार करना।

एवम्भूतनय–जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो, उसका उसी प्रकार से निश्चय कराने वाला अन्तिम नय।

एषणा–(I) भिक्षाचरी के समय आहारविधि के अनुसार भिक्षा ग्रहण करना। (II) अशनादि चतुर्विध आहार को एषण कहते हैं।

एषणा-शुद्धि–साधुवर्ग द्वारा उद्गमादि ४२ या ४७ दोषों से रहित आहार, पुस्तक, उपधि या वसति आदि का शोधन करना।

एषणा–अभिलाषा या इच्छा। सांसारिक एषणाएँ मुख्यतया तीन हैं–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। ये कर्मक्षयार्थी साधक के लिए त्याज्य हैं।

एषणासमिति–अशनादि चार प्रकार के आहार की भिक्षाचरी के समय गवेषणा और ग्रहणैषणा करना तथा आहार करते समय परिभोगैषणा करना एषणासमिति है।

एकक्षेत्रावगाही–बन्ध-प्रायोग्य वस्तुएँ सभी एकक्षेत्रावगाही हो जाती हैं, किन्तु सभी एकक्षेत्रावगाही वस्तुएँ बन्ध को प्राप्त हो जाएँ, यह आवश्यक नहीं।

एकेश्वरवाद–जिन धर्म-सम्प्रदायों में एकमात्र एक ही ईश्वर को जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता माना जाता है, वह एकेश्वरवाद कहलाता है।

(ओ)

ओघ–(I) सामान्य श्रुत का कथन ओघ कहलाता है। (II) द्रव्यार्थिकनय के आश्रय से किया गया कथन ओघ कहलाता है। (III) ओघ अर्थात् सामान्य से या अभेद से निरूपण करना ओघ-प्ररूपणा है।

ओघसंज्ञा–ज्ञानावरणकर्म के अल्प क्षयोपशम से जो अव्यक्त ज्ञानोपयोगरूप संज्ञा होती है, वह ओघसंज्ञा कहलाती है।

ओज–शरीर में शुक्र नामक धातु ओज है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा, और मज्जा से शुक्र अमुक परिमित काल के पश्चात् उत्पन्न होता है। यह शुक्र ही एक प्रकार का ओज है।

ओज-आहार–उत्पत्ति-स्थान में प्राप्त हुए जीव के प्रथम-द्वितीयादि समय में तैजसशरीर से जो आहार होता है, वह ओज-आहार कहलाता है।

ओषधदान–रुग्ण साधकों या सामान्य रोगियों के लिए निःस्वार्थभाव से स्वेच्छा से जो ओषधदान दिया जाता है, वह पुण्य-लाभ का कारण है तथा मोक्ष हेतु से निर्जरा का भी कारण सम्भव है।

ओम्–परब्रह्म, पंचपरमेष्ठी तथा तीन लोक एवं ऊपर सिद्धशिला का भी वाचक है। तथैव दिगम्बर-परम्परा में भगवन्मुख-निःसृतवचन (ॐ) का सूचक है। तथा वैदिक-परम्परा में सर्व-वर्णमाला (मातृकाओं) का मूल व सृष्टिकारणसूचक ओम् शब्द माना जाता है। ॐभी इसी का आकार है।

(औ)

औपचारिक (विनय)–श्रद्धापूर्वक किया गया विशिष्ट क्रियारूप व्यवहार उपचार है, उपचाररूप प्रयोजन से कर्मक्षयार्थ किया जाने वाला विनय।

औदारिक–स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक है। यह मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है। यह औदारिक शरीर-नामकर्म के उदय से होता है।

औत्पातिकी (औत्पत्तिकी) बुद्धि–पढ़े, सुने और पूछे आदि बिना ही सहजभाव से प्रकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होना।

औदयिकभाव–कर्म के उदय से उत्पन्न भाव।

औद्देशिक–किसी एक या अनेक साधुओं के उद्देश से बनाया गया आहार।

औपक्रमिकी (वेदना)–स्वयं समीप में होना, अथवा उदीरणाकरण के द्वारा समीप में ले आना, इसे उपक्रम कहते हैं। इस उपक्रम से होने वाली वेदना औपक्रमिकी वेदना कहलाती है।

औपशमिकचारित्र–१६ कषाय और ९ नोकषायों (समस्त चारित्र-मोहनीय कर्म) के उपशम से जो चारित्र (यथाख्यात) प्रादुर्भूत होता है, वह औपशमिकचारित्र है।

औपशमिकभाव–(I) आत्मा में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत होना–सत्ता में रहते हुए भी उदय-प्राप्त न होना। (II) जिस भाव का प्रयोजन प्रकृत उपशम हो, उसे औपशमिकभाव कहते हैं।

औपशमिक-सम्यक्त्व–दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी चार, इन ७ प्रकृतियों के उपशमन से होने वाला सम्यक्त्व।

औपाधिक–औपाधिक का यहाँ अर्थ है–आध्यात्मिक अस्वस्थता (असमाधि) उपाधि आत्मा पर मोहादि कर्मों के आवरण के आ जाने से होती है; जो उपाधिजनित हो, वह औपाधिक है। तात्पर्य यह है कि जो कर्मोपाधिजन्य व्याधि हो, वह औपाधिक कहलाती है। समस्त संसारी जीव कर्मोपाधि से युक्त हैं। संसारी प्राणियों की विविधताएँ, विचित्रताएँ या विसदृशताएँ, विलक्षणताएँ कर्मोपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं।

औपपातिक–उपपात से जिनका जन्म हो, ऐसे देव तथा नारक सभी औपपातिक (उपपातज) कहलाते हैं।

(क)

कन्दर्प–रागभाव की तीव्रतावश हास्य-मिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। श्रावक के आठवें व्रत (तृतीय गुणव्रत) का एक अतिचार।

कन्दर्प देव–कान्दर्पीभावना के कारण कन्दर्पजाति के आभियोगिक देवों में उत्पन्न देव। इस जाति के देवों का गमनागमन अच्युतकल्प-पर्यन्त है।

कथा–मोक्ष-पुरुषार्थ में उपयोगी धर्म, अर्थ और काम का कथन करना कथा है। कथा के मुख्यतया तीन भेद हैं। सत्कथा, धर्मकथा और विकथा। सामान्य कथा जिसका पुण्य–शुभ कर्मफल से सम्बन्ध हो, वह सत्कथा है, जिसमें धर्म का विशेष निरूपण हो। जिससे जीवों को आराधक बनने से स्वर्गादि अभ्युदय अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है, अथवा जिससे संवर और निर्जरा हो, वह धर्म है, उससे सम्बन्धित कथा धर्मकथा है। धर्मकथा के चार प्रकार हैं–आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी, निर्वेदिनी। जिससे हिंसादि अठारह पापस्थानों की वृद्धि हो, उसकी उत्तेजना मिले, ऐसी कथा विकथा है। विकथा मुख्यतया चार हैं–स्त्रीकथा (कामवासनोत्तेजककथा), भक्तकथा (भोजनादि की कथा = कथन), राजकथा–(राजाओं या शासनकर्त्ताओं के भोगविलास की कथा या युद्धकथा), और देशकथा (देश-विदेश के रीति-रिवाजों आदि की कथा)। इसके अतिरिक्त भाण्ड, नर, चोर, वैर, द्वेष, पर-पाषण्ड, पैशुन्य, पर-निन्दा, जुगुप्सा, परिग्रह, पर-पीड़ा, कलह, उपन्यास आदि की हिंसोत्तेजक, कामोत्तेजक, विकारवर्द्धक, कषायवर्द्धक, चौर्यादि-प्रेरक कथाएँ भी विकथाएँ हैं।

कटुक-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल कड़वे रसरूप में परिणत हो, वह।

कदलीघात (मरण)–कदली (केले के स्तम्भ) के समान जो विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश, आहार और श्वास के निरोध आदि के द्वारा सहसा आयु का घात (मरण) होता है, उसे कदलीघातमरण कहते हैं।

कनकावली तप–इस तप में पहले उपवास, बेला, फिर ९ तेले, तत्पश्चात् १ उपवास से लेकर १६ उपवास तक क्रमशः करना, तदनन्तर ३४ तेले, फिर १६ उपवास से ले कर १ उपवास तक उतरना; फिर ९ तेले, फिर बेला और उपवास, इस प्रकार विगयसहित पारणायुक्त प्रथम परिपाटी में तपस्या के १ वर्ष, २ मास और १४ दिन एवं पारणा के ८८ दिन होते हैं। दूसरी, तीसरी और चौथी परिपाटी में तपस्या का क्रम तो पहली परिपाटी के समान ही होता है, किन्तु पारणा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिपाटी में क्रमशः विगई-वर्जित, लेपमात्र- वर्जित और आयम्बिलयुक्त होता है। यों इस तप की चारों परिपाटियों में ५ वर्ष, ९ महीने और १८ दिन लगते हैं।

करण–आत्मा का उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम यहाँ 'करण' नाम से विवक्षित है। ये मोहकर्म की ग्रन्थि को तोड़ने के पराक्रम में सहायक बनते हैं। पूर्वोक्त आत्म-परिणामों की विशुद्धिरूप करणों के उत्तरोत्तर तीव्र तीन क्रम हैं–यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण; ये सम्यक्त्वादि के अनुगुण विशुद्धिरूप परिणाम हैं।

पूर्व के दोनों करणों के प्राप्त होने पर भी जीव को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो जाता। तीसरे अनिवृत्तिकरणरूप आत्मा के तीव्र परिणामों से मिथ्यात्व की ग्रन्थि टूट कर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

करण–आत्मा के शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम जो कर्म के फल को तथारूप बदलने–परिणमन करने में समर्थ हैं, वे भी करण हैं, उक्त करण के १० या ११ प्रकार हैं–(१) बन्ध या बन्धन, (२) सत्ता या सत्त्व, (३) उद्वर्तन या उत्कर्ष, (४) अपवर्तन या अपकर्ष, (५) संक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमना या उपशमन, (९) निधत्ति या निधत्तकरण, (१०) निकाचित या निकाचनाकरण। और (कहीं-कहीं) (११) अबाधाकाल या अबाध। इन सबके पीछे 'करण' शब्द संलग्न है।

करण–चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि के माध्यम से आत्मा के कार्यों की अभिव्यक्ति की जाती है, इसलिए इन्हें भी कार्यसाधकतम करण कहा जाता है। इनके दो प्रकार हैं–अन्तःकरण और बाह्यकरण। बाह्यकरण इन्द्रियाँ हैं और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि हैं।

करण (त्रिक)–हिंसादि की प्रवृत्ति करने अथवा उनका त्याग-प्रत्याख्यान करने में तीन सहायक करण हैं–कृत, कारित और अनुमोदित। अर्थात् करना, कराना और अनुमोदन करना = करते हुए को अच्छा जानना-मानना।

करणसत्य–जैसा कहा है, तदनुसार करना, अथवा त्रिकरण से सत्य होना, स्वीकृत महाव्रतों के प्रति पूर्ण वफादार होना। साधुवर्ग के २७ गुणों में से करणसच्चे (करणसत्य) नामक एक गुण भी है। आगमानुसार समस्त धर्मक्रियाएँ उपयोगपूर्वक करना भी करणसत्य है। अथवा करना, कराना और अनुमोदनरूप त्रिकरण कहलाते हैं; त्रिकरण से भी हिंसादि-निवारण करणसत्य है।

करणानुयोग–लोक और अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के स्वरूप को स्पष्ट बताने वाला ज्ञान करणानुयोग कहलाता है।

करुणाभावना–(I) दीन, आर्त, दुःखित, पीड़ित, शोषित, पददलित, भयभीत और त्रस्त तथा प्राणों की याचना करने वाले प्राणियों के प्रति अनुकम्पा-बुद्धि, उपकार-बुद्धि, दुःख मिटाने की इच्छा, सहानुभूतिभावना करुणाभावना है। (II) कारुण्यपात्रों के प्रति बार-बार अनुप्रेक्षण करना, निःस्वार्थभाव से उनको दुःख मिटाने का अनुपम निरवद्य, सात्त्विक, अहिंसक उपाय बताने की भावना करना भी करुणाभावना है।

कर्कशनाम–जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में पाषाणवत् कर्कशता = कठोरता उत्पन्न होती है, वह।

कर्म–काजल से ठसाठस भरे हुए डिब्बे के समान सूक्ष्म और स्थूल अनन्त पुद्गलों से परिपूर्ण लोक में जो कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गल हैं, उनका जीव के राग-द्वेषादि परिणामों के अनुसार आकर्षित हो कर बन्ध को प्राप्त होना कर्म कहलाता है। मिथ्यात्वादि पंचविध कारणों से जीव के द्वारा त्रिविध योग से जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।

कर्म-प्रकार–वह कर्म दो प्रकार का है–द्रव्यकर्म और भावकर्म। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से आकर्षित कार्माण जाति के पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म तथा तज्जनित जीव के राग-द्वेषादि परिणामों को भावकर्म कहते हैं। भावकर्म क्रिया है, द्रव्यकर्म उसका फल है।

पुण्यकर्म-पापकर्म–शुभ कर्म-अशुभ कर्म–मन, वचन और काया के द्वारा होने वाली शुभ प्रवृत्ति (योग) पुण्य है और अशुभ प्रवृत्ति पाप है। प्राणी के शुभ अध्यवसाय से पात्रानुसार अन्नादि प्रदान करने से नौ प्रकार के पुण्य निष्पन्न (अर्जित) होते हैं। तथैव अशुभ अध्यवसाय से हिंसादि के द्वारा दूसरों के दुःखित–पीड़ित करने से १८ प्रकार के पापकर्म अर्जित होते हैं। इन्हीं को कुशल कर्म, अकुशल कर्म कहा गया है।

घातिकर्म-अघातिकर्म–आत्मा के मूल गुणों के घातक (आवारक, विकारक, कुण्ठितकारक) कर्म घातिकर्म और इसके विपरीत स्वभाव वाले कर्म, जो आत्मा के मूल गुणों का घात या ह्रास नहीं करते, अपितु उसके प्रतिजीवी गुणों का कथंचित् ह्रास करते हैं, वे अघातिकर्म कहलाते हैं। घातिकर्म चार हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म। अघातिकर्म भी चार हैं–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म।

जीवकर्म-अजीवकर्म–जो मिथ्यात्व, अविरति और योग अजीव हैं, पौद्गलिक हैं, वे अजीव से सम्बद्ध होने से अजीवकर्म हैं। तथैव जो मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान जीव से सम्बद्ध हैं, वहाँ उपयोगरूप राग-द्वेषादिक जीवकर्म हैं। इन्हीं दोनों को क्रमशः द्रव्यरूप एवं भावरूप होने के कारण द्रव्यकर्म और भावकर्म कहा जा सकता है।

बन्धककर्म-अबन्धककर्म–जिसमें किसी क्रिया या प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष (कषाय) नहीं होता, व्यक्ति केवल उसका ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे तो ऐसा शुद्ध कर्म अबन्धक है, आत्मा को बन्धन में नहीं डालता, इसके विपरीत शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों प्रकार के कर्म बन्धककर्म हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ये दोनों प्रकार के कर्म बन्धनकारक अशुद्ध कर्म एवं हेय हैं। बौद्धदर्शन में शुभ को शुक्लकर्म और अशुभ को कृष्णकर्म तथा इन दोनों से ऊपर उठ कर शुद्ध (अशुक्ल-अकृष्ण) कर्म को प्राप्त करने का निर्देश है। यही कर्म के शुभ, अशुभ और शुद्धरूप का मूलाधार है।

कृतककर्म-अकृतककर्म–कर्म का बन्धात्मक स्वरूप पृथक् न बताया जाए तो प्रत्येक क्रिया कर्म हो जायेगी। तब तो श्वास-भोजनादि स्वतःसंचालित क्रियाएँ भी कर्म हो जायेंगी, जिनका त्याग शरीरधारी के लिए असम्भव है। अतः कर्मविज्ञों ने कर्म के दो भेद किये हैं–कृतककर्म और अकृतककर्म। 'मैं यह करूँ', इत्याकारक-संकल्पपूर्वक किया गया कर्म कृतककर्म है। भगवद्गीता में कृतककर्मों के त्याग का उपदेश है। जबकि पूर्वोक्त प्रकार के संकल्प से निरपेक्ष, जो कर्म स्वतः होता है या ज्ञाता-द्रष्टाभावपूर्वक होता है, वह अकृतककर्म है, उसका त्याग नहीं किया जाता, ऐसे सहजरूप से होने वाला कर्म अकृतककर्म है। भगवद्गीता में इसे सहजकर्म कहकर त्याज्य नहीं बताया गया है। कृतककर्म मुख्यतः तीन प्रकार का है–ज्ञातृत्वरूप, कर्तृत्वरूप और भोक्तृत्वरूप।

सकामकर्म-निष्कामकर्म–सकाम का अर्थ है–काम्य या कामनामूलक कर्म। जिन कर्मों के पीछे कोई न कोई काम यानी स्थूल कामना, वासना, रागभाव, आकांक्षा, इच्छा, लालसा, आसक्ति, तृष्णा आदि या एकमात्र काम-सुखानुभव की स्मृति निहित है, वे सकामकर्म हैं। दूसरे शब्दों में फलाकांक्षायुक्त स्वार्थकृतकर्म सकाम है, और उससे निरपेक्ष परार्थ,

परहितार्थ, परोपकारार्थ, पुण्यार्थ, पर-सुखार्थ, पर-प्रसन्नार्थ किया गया कर्म निष्काम है। गीता के शब्दों में फलभोग की आकांक्षा से युक्त कर्म सकाम है। उससे निरपेक्ष कर्म निष्काम है। तथैव अहंकार-ममकार से एवं फल-प्राप्ति, फलाशंका, फलाकांक्षा, फलभोगाकांक्षा, आदि दोषों से रहित कर्म निष्काम है। इनसे युक्त कर्म सकाम हैं।

कर्म, विकर्म, अकर्म–राग-द्वेष, कषाय, प्रमाद आदि से प्रेरित हो कर की जाने वाली साम्परायिक क्रिया कर्म है, जबकि कषाय, प्रमाद, राग-द्वेष, मोह आदि से रहित होकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टाभाव से ईर्यापथिक क्रिया की जाए तो प्रदेशबन्ध-प्रकृतिबन्ध नाममात्र का होने से अथवा आठों की कर्मों से रहित सिद्धों के द्वारा स्वभावरमण होने से उनके कर्म को अबन्धककर्म अथवा अकर्म कहते हैं। अथवा कर्म के दो विभाग हैं–विकर्म कर्म में से ही प्रादुर्भूत होता है। अतः कर्म और विकर्म क्रमशः शुभ और अशुभ हैं, यानी शुभयोगरूप पुण्यास्रव को कर्म और अशुभयोगरूप पापास्रव को विकर्म कहा जा सकता है। निष्क्रिय होने मात्र से कर्म अकर्म नहीं हो जाता।

शुभ-अशुभ-शुद्धकर्म–पूर्वोक्त लक्षणानुसार कर्म को शुभ कर्म, विकर्म को अशुभ कर्म और कर्म करते हुए भी निर्लिप्त ज्ञाता-द्रष्टा रहने वाले अकर्म को शुद्ध कर्म कहते हैं। कार्य मांगलिक होते हुए भी हिंसादियुक्त हो तो अशुभ है, परोपकार भी निष्काम एवं निःस्वार्थ होने से शुभ है, अन्यथा अशुभ। इसलिए शुभ-अशुभ की एक कसौटी यह भी है–जो आत्मानुकूल हो, वह शुभ और आत्म-प्रतिकूल हो, वह अशुभ और अनिष्ट है।

कर्म, नोकर्म–कर्म बनने योग्य पुद्गल-परमाणु को कार्मण-वर्गणा कहते हैं। ये ही कार्मण-वर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोह चुम्बकवत् आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, आत्मिक स्वतंत्रता को रोक देते हैं। इसलिए औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीरों में से कार्मणशरीर को उपचार से कर्म कहा जाता है, शेष चार प्रकार के शरीर नोकर्म रूप हैं। नोकर्म कर्म के फल-प्रदान में या कर्म के उदय में सहायक हैं। कर्म की तरह नोकर्म आत्म-गुणघातक या बन्धनकारक नहीं हैं। पूर्वोक्त शरीरों से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव सभी पर-पदार्थों को नोकर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि संसारी जीवों के कर्मों के उदय से उनके अंगादि की वृद्धि-हानि के रूप में जो पुद्गल-परमाणुओं का समूह परिणत (निर्मित) होता है, वह नोकर्म कहलाता है। अतः नोकर्म कर्मविपाक में सहायक सामग्री है। नोकर्म क अवलम्बन हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

अष्टविध कर्म : कर्म की मूलप्रकृतियाँ–आत्मा के मूल स्वभाव की आवारक, सुषुप्तिकारक, मूर्च्छाकारक या विकारक एवं शक्ति-प्रतिरोधक कर्मप्रकृतियाँ। कर्मों के पृथक्-पृथक् स्वभाव पर से उनका पृथक्करण करना प्रकृतिबन्ध है। मूल में ८ कर्म शुद्ध आत्मा के ८ गुणों को आवृत, कुण्ठित आदि करते हैं। वे इस प्रकार हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म।

महाकर्म-अल्पकर्म–जो जीव कर्मों की दीर्घकालिक स्थिति वाले हों, कायिकी आदि प्रबल महाक्रियाओं वाले हों, कर्मबन्ध या कर्मास्रव के हेतुभूत मिथ्यात्व आदि भी प्रचुर एवं

गाढ़ हों, तो महास्रव वाला जीव महाकर्म हो जाता है, वह महापीड़ा व महावेदना वाला होता है। इसके विपरीत जो कर्म, अप्रबल क्रिया, अल्प एवं अगाढ़ आस्रव एवं शिथिलतर पीड़ा (वेदना) वाले, अल्पस्थितिक, अप्रचुर एवं अगाढ़ हों तो अल्पकर्म होता है।

उत्तरकर्मप्रकृतियाँ–मूलकर्मप्रकृतियों की सहायक उनकी सजातीय कर्मप्रकृतियाँ उत्तरकर्मप्रकृतियाँ कहलाती हैं। आठों ही कर्मों की कुल उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीयकर्म की मुख्य दो, तथा उनकी अवान्तर प्रकृतियाँ ३ + २५ = २८, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ९३ या १०३, गोत्रकर्म की २ और अन्तरायकर्म की ५; यों कुल उत्तरप्रकृतियाँ १४८ या १५८ होती हैं।

कर्मबन्ध–आत्मा और कर्म का स्वभाव भिन्न-भिन्न होने पर भी राग-द्वेषादिवश परस्पर दूध-पानी की तरह दोनों का संश्लिष्ट हो जाना कर्मबन्ध है। यह भी दो प्रकार का है–द्रव्यकर्मबन्ध और भावकर्मबन्ध।

कर्मबन्ध के चार प्रकार–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

कर्मबन्ध के चार स्तर–कर्मबन्ध के शिथिलतर, शिथिल, गाढ़ और गाढ़तर के क्रम से चार प्रकार हैं–स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित।

क्रियमाण, संचित, प्रारब्ध कर्म : बध्यमान, सत्ता-स्थित, उदयागत–राग-द्वेष या कषाय से प्रेरित होकर वर्तमान में किये गये या बँधने वाले कर्म जैनदृष्टि से बध्यमान और वैदिकदृष्टि से क्रियमाण कहलाते हैं। तथा किसी प्राणी के द्वारा जन्म-जन्मान्तर से ले कर इस क्षण तक किये हुए वे कर्म, जिनको बँधने के बाद तुरन्त या अब तक उदय में आ कर फल नहीं भोगा गया है, वे स्टॉक में जमा पड़े हैं, उन्हें जैनदृष्टि से सत्ता-स्थित और वैदिकदृष्टि से संचित कर्म कहते हैं। जिन संचित कर्मों का फल मिलना अमुक समय के बाद प्रारम्भ हो गया है, उन्हें वैदिकदृष्टि से प्रारब्ध कर्म कहते हैं, जैनदृष्टि से वे जन्म-जन्मान्तर से सत्ता में पड़े हुए कर्म अमुक समय के बाद उदय में आ कर जब फल देना (भुगताना) प्रारम्भ कर देते हैं, तब वे उदयागत कर्म कहलाते हैं। अतः त्रिविध कालकृत कर्मों से छुटकारा पाये बिना मोक्ष नहीं होता।

कर्मपुद्गल–जीव के राग-द्वेषादि परिणामों के द्वारा आकर्षित होकर श्लिष्ट होने वाले कर्मवर्गणा या कार्मणवर्गणा के चतुःस्पर्शी पुद्गल कर्मपुद्गल हैं।

कर्मवर्गणा-नोकर्मवर्गणा–समान गुणयुक्त सूक्ष्म, अविच्छेद, अविभागी समूह को वर्गणा कहते हैं। कर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में ऐसी कुल २३ वर्गणाएँ बताई गई हैं। उनमें से कार्मणवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा; ये चार प्रकार की वर्गणाएँ कर्मवर्गणाएँ हैं। शेष १९ प्रकार की वर्गणाएँ नोकर्मवर्गणाएँ हैं। अथवा कर्मरूप में परिणत होने वाला कर्मसमूह कर्मवर्गणा है। या अष्टविध कर्मस्कन्धों की भेदभूत वर्गणा कर्मवर्गणा है।

कर्मपरमाणु–कर्मरूप में परिणत होने वाले पुद्गल-परमाणु, जिनका विभाग न हो सके, वे कर्मपरमाणु हैं।

कर्मकरण–कर्म-विषयक बन्धन।

कर्मकिल्विष–कर्मचाण्डाल। खराब कर्म करने वाला।

कर्मस्कन्ध–कर्मपुद्गलों का पिण्ड।

कर्मस्थिति–कर्मपुद्गलों के अवस्थान की कालावधि।

कर्मनिषेक–कर्मपुद्गलों की रचना-विशेष।

कर्म-परिशाटना–कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशों से पृथक्करण। निर्जरा का लक्षण-विशेष।

कर्मशरीर = कार्मणशरीर–कर्मपुद्गलों का बना हुआ अत्यन्त सूक्ष्म शरीर-विशेष। इसे कार्मणशरीर या कर्मजशरीर भी कहते हैं। यह एक प्रकार का कम्प्यूटर है, जो प्रत्येक संसारी प्राणी के कर्म के आस्रव, बन्ध और क्षय का हिसाब रखता है।यह भविष्य में मरणोपरान्त भी आत्मा के साथ भवान्तर या जन्म-जन्मान्तर में साथ रहता और जाता है।

कर्मजा-बुद्धि–अभ्यास से उत्पन्न होने वाली अनुभवयुक्त बुद्धि। इसे कार्मिकी, कर्मिका या कार्मिका-बुद्धि या प्रज्ञा भी कहते हैं।

कर्मविपाक–कर्मपरिणाम, उदयागत कर्म का फल। कर्मविपाक का प्रतिपादक ग्रन्थ (कर्मग्रन्थ)।

कर्मलेश्या–कर्म द्वारा होने वाला जीव का परिणाम।

कर्मभूमि–भरतक्षेत्र आदि कर्म-प्रधान भूमि। कर्मभूमिज–कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाला।

कर्मदलिक–कर्मबन्ध की क्वांटिटी (परिमाण) बताने वाला समूह, जो स्थिति या रस की अपेक्षा के बिना कर्म होने वाला कर्मवर्गणा का जत्था, जो प्रदेशबन्ध है, वह कर्मदलिकरूप है।

कर्मोदय–कर्मबन्ध होने के पश्चात् सत्ता में पड़े हुए कर्मों का फलोन्मुख होने के लिए उद्यत होना कर्मोदय है।

कर्मसंग–राग-द्वेष या आसक्तिरूप भावकर्मरूप परिणाम।

कर्मफल–कर्म के उदय में आने पर उसका शुभ या अशुभ फल अथवा उदीरणा द्वारा उदय में ला कर प्राप्त किया जाने वाला शुभाशुभ फल।

कर्मफलभोग–पूर्वबद्ध कर्म का शुभ या अशुभ फल भोगना या सुख या दुःखरूप में कर्मफल वेदन।

कर्मोपार्जन–कर्मों के मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों में से किसी या किन्हीं कारणों से कर्मबन्ध करना। अथवा त्रिविध योग द्वारा कर्मों को आकृष्ट करके कषायाविष्ट हो कर आत्मा का कर्म से श्लिष्ट होना।

निकाचित कर्म-अनिकाचित कर्म–कर्मों का इतना प्रगाढ़ बन्ध, जिनकी कालमर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (तीव्ररसमात्रा) में कोई परिवर्तन या समय से पूर्व उसका फलभोग

नहीं किया जा सकना निकाचित कर्म है। अर्थात् बद्ध कर्म की वह अवस्था, जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा नहीं हो सकती, वह निकाचित कर्मबन्ध है। निकाचित रूप से बद्ध कर्म का फल जिस रूप में बाँधा है, उसी रूप में अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। बद्ध कर्म की निकाचित अवस्था चार प्रकार की है–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप में। इसके विपरीत शेष सभी अनिकाचित कर्म कहलाते हैं; जिनके बन्ध के बाद उदय में आने से पूर्व तक उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण तथा उदीरणा एवं परिवर्तन प्रायः हो सकते हैं।

कर्मवाद–जिसमें शुभ, अशुभ, घाति, अघाति आदि कर्मों के आस्रव, बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक, स्थिति, अनुभाग, शुभाशुभ फल तथा कर्मों के निरोध, संवर, निर्जरा, सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की चर्चा है, आत्मा से परमात्मा बनने का विभिन्न शास्त्रीय पहलुओं से प्रतिपादन है, वह कर्मवाद है।

कर्मविज्ञान–कर्मवाद से भी अधिक स्पष्ट, प्रांजल तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष की सक्रिय साधना और उसके आधार का निरूपण है। कर्म का अथ से इति तक सुस्पष्ट प्रतिपादन है, वह कर्मविज्ञान है।

कर्मचेतना–अपने स्वभावभूत ज्ञान को छोड़ कर अन्यत्र-पर में-'मैं करता हूँ', इस प्रकार का जो अनुभव होता है, इसे कर्मचेतना कहते हैं।

कर्मफलचेतना–उदयागत कर्मफल को भोगता (वेदन करता) हुआ जीव शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करके इन्द्रियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के निमित्त से स्वयं को सुखी-दुःखी अनुभव करता हुआ, प्राधान्यतः कर्मफल का ही वेदन करता है, वहाँ कर्मफलचेतना है।

कर्मप्रवादपूर्व–जिस पूर्व श्रुत में कर्म की बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, निर्जरा, संवर आदि अवस्था-विशेषों का अनुभव तथा प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग एवं स्थितिरूप में बँधने वाले कर्म का विस्तृत वर्णन है, वह कर्मप्रवादपूर्व है।

कर्मोपाधिक–जीवों की जो विभिन्नता कर्मजनित रागादि भावों के कारण दृश्यमान होती है, वह कर्मोपाधिक कहलाती है।

कल्प–(I) कुशल परिणाम से विवेकपूर्वक सावधानी के साथ बाह्य वस्तुओं का सेवन करना कल्प है। (II) कल्प का अर्थ आचार-मर्यादा है। इसलिए बृहत्कल्प एवं कल्पसूत्र भी हैं। (III) कल्प का एक अर्थ है–वैमानिक देव, जो सौधर्म से ले कर अच्युत पर्यन्त हैं, वे कल्प हैं, उन देवों के विमानों की भी कल्प संज्ञा है। इस कारण सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त १२ देवलोकों के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं और इससे आगे के नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तरविमानवासी देव कल्पातीत कहलाते हैं, क्योंकि वे इन्द्र, सामानिक आदि १० भेदों की कल्पना से रहित हैं, तथा अहमिन्द्र हैं। कल्पातीत उनको भी कहते हैं, जो साधक कल्प यानी आचार-व्यवहार की कल्पना से रहित हैं।

कल्प्य (कल्प) व्यवहार–साधुवर्ग के लिए किस काल में कौन-सी वस्तु ग्राह्य है, कौन-सी अग्राह्य है? इसका विवेक करके भी अपवादिक परिस्थिति में अग्राह्य के सेवन तथा ग्राह्य के असेवन से अत्यन्त दोष के प्रायश्चित्त की जिसमें प्ररूपणा की जाती है, वह कल्प्य-व्यवहार है। इसका अपर नाम कल्प्याकल्प्य भी है।

कषाय–(I) कष का अर्थ है–कर्म या संसार, जो कर्म या संसार को प्राप्त कराया करते हैं, वे कषाय हैं। वे चार हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से १६ प्रकार हैं–४ अनन्तानुबन्धी, ४ अप्रत्याख्यानी, ४ प्रत्याख्यानी और ४ संज्वलन। (II) चारित्रमोहनीय के भेदभूत कषायवेदनीय के उदय से आत्मा में जो क्रोधादि रूप कलुषता उत्पन्न होती है, जो आत्म-गुणों का न्यूनाधिक रूप से विघात (ह्रास) करती है, उसे भी कषाय कहा जाता है। इसे कषायवेदनीयकर्म भी कहते हैं।

कषायकुशील (निर्ग्रन्थ)–एक प्रकार के निर्ग्रन्थ, जिन्होंने अनन्तानुबन्धी आदि तीन प्रकार के कषायों के उदय पर विजय पा लिया है, केवल संज्वलन कषाय के वशीभूत होते हैं, उन्हें कषायकुशील कहते हैं।

कषाय-समुद्घात–तीव्र कषायोदयवश कषाय की तीव्रता से मूल शरीर को न छोड़ कर पर का घात करने हेतु आत्म-प्रदेशों के शरीर से बहिर्भूत हो कर तीन गुणे फैल जाना कषाय-समुद्घात है। यही प्रबलता से घात है।

कषायात्मा–जिसमें चारों कषायों का उदय पाया जाए, वह।

कषाय-विवेक–द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। द्रव्यतः वचन और काया से क्रोधादि सूचक विविध प्रवृत्ति न करना द्रव्यतः कषाय-विवेक है तथा मन में भी दूसरों के परिभव आदि का विचार न आने देना भावतः कषाय-विवेक है।

कषाय-संलेखना–(I) परिणामों = अध्यवसायों की विशुद्धि करना। (II) तथा शुभ ध्यानों के द्वारा कषायविषयक संलेखना = अल्पीकरण = कृशीकरण करना। (III) अथवा क्रोधादि कषायों का सर्वथा संन्यास = परिहार करना कषाय-संलेखना है।

कांक्षा–(I) कांक्षा का अर्थ है–गृद्धि, आसक्ति, लोलुपता या तीव्र इच्छा। (II) इस लोक-परलोक सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति की इच्छा करना कांक्षा है। (III) व्रत, तपश्चरण आदि से उपार्जित पुण्य के बदले में लौकिक-पारलौकिक वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा करना कांक्षा है। (IV) अथवा आडम्बर आदि देख कर पर-दर्शन या पर-मत को ग्रहण करने की इच्छा करना भी कांक्षा है। (V) कांक्षा सम्यग्दर्शन का एक अतिचार (दोष) है।

कापोतलेश्या–दूसरों पर क्रोध करना, निन्दा करना, उन्हें दुःख देना, वैर-विरोध करना, शोक और भय से ग्रस्त रहना, दूसरों के ऐश्वर्य आदि को सहन न करना, दूसरे का तिरस्कार करना, स्व-प्रशंसा-पर-निन्दा करना, दूसरों का कतई विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को भी बेईमान समझना, स्व-हानि-वृद्धि को न समझना, रण में मरण चाहना, कार्य-अकार्य न गिनना इत्यादि प्रकार की मनोवृत्ति या भावों की कलुषता कापोतलेश्या है।

काम (पुरुषार्थ)–धर्म-मर्यादा के विरुद्ध इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति की निरंकुश कामना–अभिलाषा या प्राप्ति–प्रयत्न करना (निरंकुश) काम-पुरुषार्थ है। यह इच्छा-काम है।

काम–दूसरा मदनकाम है। पर-स्त्री या अविवाहित स्त्रियों, विधवाओं के विषय में अष्टविध मैथुन-सेवन की अभिलाषा करना मदनकाम है।

कामसंवर–वेद-मोहनीय-कर्मोदयवश उत्पन्न कामवृत्ति का सम्यक् निरोध करना।

कामभोग-तीव्राभिलाष–यह श्रावक के चतुर्थ अणुव्रत का अतिचार है। मदनकामविषयक तीव्र (उत्कट) इच्छा रखना, अथवा शब्द और रूप को काम तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहते हैं, इन पाँचों विषयों की प्राप्ति की तीव्र इच्छा रखना भी काम-भोग-तीव्राभिलाष है। इसे कामभोग-तीव्राभिनिवेश भी कहते हैं।

कामराग–मनोज्ञ स्त्री आदि कामभोग के साधनभूत अभीप्सित वस्तुओं के प्रति राग होना।

काय–(I) जाति-नामकर्म के उदय का अविनाभावी त्रस-स्थावर-नाम- कर्मोदयजनित आत्मा का त्रस या स्थावरपर्याय काय कहलाता है, अथवा पृथ्वीकाय आदि नामकर्म-विशेष के उदय से प्राप्त अवस्था-विशेष को काय कहते हैं। (II) औदारिकादि शरीर नामकर्मोदयवश उन-उन पुद्गलस्कन्धों (पिण्डों) का संचित होना काय है, इसे शरीर या देह भी कहते हैं।

कायक्लेश–वीरासन, पल्यंकासन आदि योगासनों, आतापना, परीषह-सहन, विविध प्रतिमा (प्रतिज्ञा) आदि द्वारा धर्मपालन के लिए काया को कसना, कष्ट सहने योग्य बनाना, देह-दुःख को समभावपूर्वक सहन करना, सुखविषयक आसक्ति को, सुखशीलता को, एवं सुख-सुविधाओं को कम करना, तथा प्रवचन (धर्मतीर्थ) की प्रभावना करना कायक्लेश नामक बाह्य तप है। शीत, उष्ण, आतप तथा विकृष्ट तप के द्वारा, क्षुधा आदि बाधाओं के निरोध द्वारा, आसनाभ्यास द्वारा ध्यान अडोल हो सके; यह भी कायक्लेश तप का प्रयोजन है।

कायगुप्ति–(I) काया से सावद्य क्रियाओं का त्याग करना। (II) अथवा काया से बन्धन, छेदन, मरण, आकुंचन, प्रहार, प्रसारण आदि काय-क्रियाओं से निवृत्ति करना तथा शयन, आसन, आदान निक्षेपादि में यतनापूर्वक जीवरक्षा करते हुए चेष्टाएँ करना कायगुप्ति है। (III) उन्मार्ग में गमन करती हुई काया की गुप्ति = रक्षा करना भी कायगुप्ति है। (IV) प्राणिपीड़ाकारिणी कायक्रिया से निवृत्ति।

कायसंयम–आवश्यक क्रियाओं को छोड़कर अन्य कार्यों के करने में कछुए के समान इन्द्रियों को गोपन–संकुचन करना तथा हाथ-पैर आदि अवयवों को शान्त रखना कायसंयम है।

कायस्थिति–औदारिक आदि शरीर को न छोड़ कर उसके रहने तक नाना भवों को ग्रहण करते हुए जितना काल बीतता है, उसका नाम कायस्थिति है।

काय-स्वभाव–अनित्यता, निःसारता, अपवित्रता तथा जन्म-मरणादि दुःखहेतुता काय (शरीर) का स्वभाव है।

कायिक शुभाशुभ योग–काया से निरवद्य प्रवृत्ति या शुभ भावों से पुण्यादि प्रवृत्ति करना कायिक शुभयोग है तथा हिंसादि अशुभ या सावद्य प्रवृत्ति करना कायिक अशुभयोग है।

कायिकी क्रिया–काया से दुष्टतापूर्वक या दुष्ट अध्यवसायपूर्वक उद्यम (चेष्टा) करना कायिकी क्रिया है।

कायोत्सर्ग–विभिन्न अनुष्ठानों तथा आवश्यक क्रियाओं में जिन- गुणस्मरणपूर्वक काया और काया से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं पर ममत्व का त्याग; ममत्वविसर्जन कायोत्सर्ग है। यह खड़े हो कर, बैठ कर सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन से भी किया जाता है। निर्विण्ण साधु द्वारा खड़े हो कर या बैठ कर कषायरहित हो कर देह का परित्याग करना भी कायोत्सर्ग है। इसे काय-व्युत्सर्ग भी कहते हैं। आभ्यन्तर तप का यह अन्तिम भेद है।

कारक-सम्यक्त्व–जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव आगमोक्त व्रततपादि-अनुष्ठान तदनुसार ही करता-कराता है, उसे कारक-सम्यक्त्व कहते हैं।

कारण–जिसके होने पर ही जो होता है, वह कार्य और इतर–जिसके सद्भाव में कार्य होता है, वह कारण कहलाता है। कारण के मुख्यतया दो प्रकार हैं–उपादान और निमित्तकारण। वैसे प्रत्यय, कारण, निमित्त, ये एकार्थवाची हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से भी हेतु (साधन या कारण) दो प्रकार का है। ये दोनों फिर आत्मभूत, अनात्मभूत के रूप में दो-दो प्रकार के हैं। उपादानकारण ही कार्यरूप होता है, निमित्तकारण कार्य से अभिन्न नहीं होता। उपादानकारण के बिना निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता। सहकारी कारण तो निमित्त का ही एक प्रकार है।

कारण-परमात्मा–जो निरावरण (स्वाभाविक) ज्ञान-दर्शन से युक्त हो, उसे कारण-परमात्मा कहते हैं।

कारुण्य (करुणाभावना)–शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के प्रति अनुग्रहरूप परिणाम होना कारुण्य है, निःस्वार्थ निष्काम करुणा लाना करुणाभावना है।

कार्मणशरीर–(I) जो समस्त शरीरों का बीजभूत शरीर है, उनका कारण है, वह कार्मणशरीर है। (II) कर्म के विकारभूत या कर्मरूप शरीर का नाम कार्मणशरीर है।

कार्मण काययोग–मन, वचन और काय वर्गणाओं के निमित्तभूत परिस्पन्दन, कम्पन या व्यापार (प्रवृत्ति) का नाम योग है। कार्मणशरीर द्वारा जो योग किया जाता है, वह कार्मण काययोग है। अथवा कार्मणशरीर के साथ वर्तमान जो संयोग है, अर्थात् आत्मा का कर्मों को आकर्षण करने की शक्ति से संगत प्रदेश- परिस्पन्दनरूप योग है, वह कार्मण काययोग है।

कार्मणशरीरबन्धन-नाम–जिस कर्म के उदय से कार्मणशरीर गत परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसे कार्मणशरीरबन्धन-नामकर्म कहते हैं।

कार्मणशरीरसंघात-नाम–जिस बन्धननामकर्म के उदय से एकबन्धनबद्ध हो कर शरीररूपता को प्राप्त कार्मणशरीर के स्कन्ध जिस कर्म के उदय से मृष्टता = चिक्कणता या एकरूपता को प्राप्त होते हैं, उसे कार्मणशरीरसंघात-नामकर्म कहते हैं।

काल–(I) छह द्रव्यों में से एक द्रव्य। (II) ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श से रहित और छह प्रकार की हानि-वृद्धिस्वरूप अगुरुलघु गुण से संयुक्त हो कर वर्तना–स्वयं परिणमते हुए द्रव्यों के परिणमन में जो सहकारिता–लक्षण वाला है, वह काल नामक द्रव्य है। (III) काल का अर्थ समय, वक्त, परिस्थिति भी है। (IV) काल का अर्थ मृत्यु भी है। जिससे भूत, भविष्य, वर्तमान का व्यवहार होता है, घड़ी, घंटा, क्षण, लव, पक्ष, सप्ताह, मास, वर्ष आदि का व्यवहार होता है, वह काल है।

काल-ज्ञानाचार–ज्ञानाचार का एक अंग, जिसका अर्थ है–अंग प्रविष्ट आदि जिस श्रुत का जो स्वाध्यायकाल कहा गया है, उसी में उसका स्वाध्याय करना, अन्य काल में न करना।

कालातिक्रम–श्रावक के १२वें व्रत का एक अतिचार। उत्कृष्ट अतिथिरूप साधु को आहार देने का जो (भिक्षा-समय) काल है, उसका उल्लंघन करके स्वयं आगे या पीछे आहार कर लेना और बाद में भिक्षार्थ आने पर निषेध कर देना।

कांक्षामोहनीय–मोहकर्मवश मतान्तर, अर्थान्तर आदि की आकांक्षा करना।

किल्विषिक–किल्विष कहते हैं पाप को। पाप से युक्त अन्त्यवासियों या अन्त्यजों के समान देव किल्विषिक कहलाते हैं।

किल्विषिक भावना–केवलज्ञानी, श्रुत (शास्त्र), धर्मसंघ, अरिहंत-सिद्ध देवाधिदेव या पंचविध देव, आचार्य एवं धर्म का अवर्णवाद (निन्दा) करना, इनका प्रत्यनीक (विरोधी), कुटिल (मायायुक्त), औपचारिक विनयभक्ति का दिखावा, दोषदर्शन या दोषाविष्करण, ये किल्विषिक भावनाएँ हैं। इन और ऐसे किल्विषिक भावनायुक्त कर्म से जीव किल्विषिक देवों में उत्पन्न होता है।

कीलिकासंहनन–मर्कटबन्ध (नाराचबन्ध) के बिना जिसकी हड्डियों के मध्य में सिर्फ कील होती है, उसे कीलिकासंहनन कहते हैं।

कुदृष्टि–(I) जो अपने मति-श्रुतज्ञान के दर्प से अपने कथन को जिनोक्त कह कर स्वच्छन्द कथन करे, उसे कुदृष्टि कहते हैं। (II) जो सात भयों से युक्त हो। (III) या मिथ्यादृष्टि हो, वह कुदृष्टि है।

कुदेव–जो राग-द्वेष-मोह के चिह्नभूत स्त्री, शस्त्र, अक्षसूत्र (जपमाला) और राग-द्वेषादि से कलंकित हो कर दूसरों का निग्रह और अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं, वे कुदेव हैं, जो सर्वकर्ममुक्ति के कारण नहीं हो सकते।

कुधर्म–मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्ररूपित, हिंसादि पापाचरणों के विधान से मलिन, मूढ़ बुद्धि लोगों में क्रियाकाण्ड या कर्मकाण्डरूप कामनामूलक धर्म से प्रसिद्ध हो कर भी वस्तुतः धर्म नहीं है। वह संसार-परिभ्रमण का कारण हो सकता है।

कुपात्र–जो घोर मिथ्यात्व के वशीभूत हो कर दुष्कर तपश्चरण करते हैं। द्रव्यरूप से अहिंसादि पाँच व्रतों को ग्रहण करते हैं, बाह्यरूप से संयम, नियम और शील से युक्त हैं, कषायों और इन्द्रियों के विजेता हैं, वे मिथ्यादृष्टि होने से सुपात्र नहीं हैं। अथवा गृहस्थ में रह कर भी जो मद्य-माँसादि सप्त कुव्यसनों का सेवन करते हैं, पापाचारी हैं, वे भी कुपात्र हैं।

कुव्यसन–जुआ, चोरी, माँसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन और शिकार आदि सात महापापवर्द्धक कुव्यसन हैं।

कुप्यप्रमाणातिक्रम–आसन, शय्या आदि घर के उपस्कर (साधन-सामग्री) को कुप्य कहते हैं। परिग्रहपरिपाणव्रत में गृहीत कुप्य के परिमाण (मर्यादा) का उल्लंघन करना कुप्यप्रमाणातिक्रम अतिचार है।

कुल–(I) गच्छों के समुदाय को कुल कहते हैं। (II) अथवा एक ही आचार्य की शिष्य-परम्परा को कुल कहते हैं। (III) पिता-पितामहादि पूर्व पुरुषों के वंश को कुल कहते हैं।

कुलकर–भोगभूमि की समाप्ति पर कर्मभूमि के प्रारम्भ में कुलों की व्यवस्था करने में कुशल तथा कुलों को धारण करने के कारण ये कुलधर या कुलकर तथा प्रजा के जीवनोपायों पर मनन करने वाले युगादिपुरुष मनु कहलाते थे।

कूटतुलामान–यह तृतीय अणुव्रत का अतिचार है। तोलने के तराजू और नापने के बाँटों को हीनाधिक रखना। कम तौल वाले बाँट से देना, अधिक तौल वाले से लेना, यह है–कूटतुलामान नामक अतिचार।

कूटलेख–बनावटी हस्ताक्षर करना, जालसाजी करना, बनावटी लेख लिखना, दस्तावेज बनाना, कूटलेख नामक श्रावक के द्वितीय अणुव्रत का अतिचार। द्वितीय सत्य-अणुव्रत का अतिचार है।

कूटस्थ नित्य–जिसमें किसी प्रकार का हलन-चलन न हो सके।

कूटसाक्ष्य–झूठी साक्षी = गवाही देना। रिश्वत, मात्सर्य या अन्य लोभवश असत्य बयान देना, झूठी गवाही देना।

कृष्णपाक्षिक–दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव।

कृष्णवर्ण-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत परमाणुओं का वर्ण काला हो, वह कृष्णवर्ण-नामकर्म है।

केवलज्ञान–जो ज्ञान केवल (मतिज्ञानादि से रहित) यानी असहाय हो, परिपूर्ण, असाधारण (अनुपम), विशुद्ध सकलपदार्थ-प्रकाशक, समस्त लोक-अलोकज्ञाता हो।

केवलज्ञानावरण–जो कर्म लोक-अलोकगत सर्व तत्त्वों के प्रत्यक्ष दर्शक और अतिशय निर्मल केवलज्ञान को आवृत करता है, वह केवलज्ञानावरण है।

केवलदर्शन–दर्शनावरण कर्म का पूर्णतया क्षय हो जाने पर दूसरे किसी की सहायता के बिना समस्त मूर्त-अमूर्त द्रव्यों को सामान्य से जानता–देखता है, वह केवलदर्शन है।

केवलदर्शनावरणीय–जो केवलदर्शन को आच्छादित करता है, उसे केवलदर्शनावरणीय कहते हैं।

केवलि-समुद्घात–आयुकर्म की स्थिति अल्प और वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति अधिक होने पर उसे अनाभोगपूर्वक (उपयोग के बिना ही) आयु के समान करने के लिए केवली भगवान् अपने आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकालते हैं, उसे केवलि-समुद्घात कहते हैं।

कोष्ठबुद्धि–उत्कृष्ट धारणायुक्त जो पुरुष गुरु के उपदेश से अनेक ग्रन्थों से विस्तार से शब्दरूप बीजों को स्वबुद्धि से ग्रहण करके मिश्रण के बिना पृथक्-पृथक् अपने बुद्धिरूप कोठे में स्थापित कर लेता है; उसकी उस बुद्धि को कोष्ठबुद्धि कहते हैं।

कौत्कुच्य–भाण्ड या विदूषक की तरह भ्रू, मुख, नेत्र, कान, ओठ, हाथ, पैर आदि द्वारा इस प्रकार की चेष्टा करना, जिसे देख कर अन्य जन हँसने लगें, पर स्वयं न हँसे, यह कायकौत्कुच्य है, इसी तरह वाणी से पशु-पक्षियों के स्वर का अनुकरण करना वाक्कौत्कुच्य है। यह श्रावक के आठवें अनर्थदण्डविरमणव्रत का एक अतिचार भी है।

क्रिया–जीव के मन-वचन-काया से होने वाली कोई भी प्रवृत्ति, हलचल, स्पन्दन क्रिया है, वह दो प्रकार की है–साम्परायिकी और ईर्यापथिकी। साम्परायिकी क्रिया कषाययुक्त होती है, जबकि ईर्यापथिकी कषायरहित होती है, इसलिए स्थितिबन्ध और रसबन्ध नहीं होता। साम्परायिकी क्रिया कायिकी आदि के भेद से २४ प्रकार की है। ईर्यापथिकी क्रिया का एक प्रकार है। इस प्रकार कुल २५ क्रियाएँ हैं।

क्रिया–(I) देशान्तर-प्राप्तिरूप परिस्पन्दनरूप द्रव्य की पर्याय क्रिया कहलाती है। मन-वचन-काया के व्यापार का नाम क्रिया है। (II) क्रिया नाम गति का भी है, जो प्रयोगगति, विस्रसागति और मिश्रिकागति के भेद से तीन प्रकार की है। (III) शास्त्रोक्त अनुष्ठान या धर्मानुष्ठान को भी क्रिया कहते हैं।

क्रियारुचि–व्यवहार-सम्यक्त्व का एक भेद। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति और गुप्ति के अनुष्ठान में जिसकी भावपूर्वक रुचि होती है, उसे क्रियारुचि कहते हैं।

क्रियावादी–(I) जीव (आत्मा) आदि पदार्थों का अस्तित्व है, ऐसा जानने-मानने-कहने वाले क्रियावादी (आस्तिक) होते हैं। (II) केवल क्रिया से ही मोक्ष होता है, ऐसा एकान्तरूप से मानने वाला (मिथ्यात्वी)।

क्रियास्थान–कर्मबन्ध का कारण।

क्लिष्ट–(I) क्लेशयुक्त। (II) कठिन, विषम। (III) क्लेशजनक।

कुप्रवचन–दूषित शास्त्र।

कुप्रावचनिक–दूषित सिद्धान्त का अनुसरण करने वाला।

क्रोध–(I) मोहनीय कर्म के उदय से अप्रीतिरूप, द्वेषमय परिणाम उत्पन्न होना। (II) स्व-पर के उपघात व अनुपकार के विचार से क्रूरतारूप परिणाम उत्पन्न होना।

क्लिश्यमान–असातावेदनीय के उदयजनित पीड़ा के अनुभव से दुःखी हुए जीव क्लिश्यमान कहलाते हैं।

(क्ष = क्ष)

क्षपक–चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने वाला साधक।

क्षपकश्रेणी–मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ अप्रमत्त साधक जिस श्रेणी–अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-सम्पराय और क्षीणमोह, इन चार गुणस्थानों रूप निसैनी पर आरूढ़ होता है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। इसे क्षपणदृष्टि या क्षायिकीश्रेणी भी कहते हैं।

क्षपण–(I) क्रोध, मान, माया और मद का क्षय करने वाले जीव की यह सार्थक क्षपण संज्ञा है। (II) आठों कर्मों की मूल और उत्तरकर्मप्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्धों का पृथक्भाव = निर्मूल विनाश होना।

क्षमण–दूसरों के द्वारा किये हुए अपराधों को स्वयं क्षमा करना।

क्षमा–(I) क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी जरा भी क्रोध-रोष-आवेश न करना। (II) प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी अपकार को सहन करना। (III) दशविध उत्तम धर्मों (श्रमणधर्मों) में सर्वप्रथम धर्म 'क्षमा' है।

क्षमापण–(I) आचार्य आदि की क्षमा का ग्रहण करना। (II) आचार्यादि से क्षमा माँगना क्षमापण है।

क्षमापना–सर्व जीवों से अपने द्वारा किये गए अपराध के लिए क्षमा माँगना और उन जीवों द्वारा किये गए अपराध के लिए क्षमा करना–अर्थात् क्षमा लेना और क्षमा देना–क्षमापना है। सांवत्सरिक पर्व दिवस को क्षमापर्व, क्षमापना दिवस भी कहते हैं।

क्षय–कर्मों की आत्यन्तिकी निवृत्ति अर्थात् कर्म का सर्वथा नष्ट हो जाना क्षय है।

क्षयोपशम–(I) सर्वघातिस्पर्द्धक अनन्त गुणहीन होकर देशघातिस्पर्द्धकरूप से परिणत होते हुए उदय को प्राप्त होते हैं, उनकी अनन्त गुणहीनता का नाम क्षय है, उन्हीं का देशघातिरूप में अवस्थित रहना उपशम है। इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ जो उदय होता है, वह क्षयोपशम कहलाता है। (II) परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षयोपशम है। (III) कर्मों के क्षय और उपशम से उत्पन्न हुआ गुण क्षायोपशमिक कहलाता है।

क्षायोपशमिकभाव–पूर्वोक्त क्षयोपशम के लिए जो भाव होते हैं, वे क्षायोपशमिकभाव कहलाते हैं।

क्षयोपशमसम्यक्त्व–जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है, वह क्षीण और जो उदय को अप्राप्त है, वह उपशान्त है। इस प्रकार क्षय के साथ उपशमरूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना क्षयोपशम है, इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थश्रद्धान को क्षयोपशम या क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। उन-उन कर्मों के क्षयोपशम से निष्पन्न ज्ञान, संयम तथा लब्धि को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

क्षान्ति–(I) क्रोधादि कषायों की शुभ परिणामभावनापूर्वक निवृत्ति–अभाव का नाम क्षान्ति (क्षमा) है। (II) आक्रोशादि सुन कर भी क्रोध-त्याग करना। क्षान्ति–सहिष्णुता, धैर्य, तितिक्षा और क्षमा, इन अर्थों में भी प्रयुक्त होता है।

क्षायिक–उन-उन कर्मों के अत्यन्त क्षय (नाश = निवृत्ति) से निष्पन्न भाव को क्षायिकभाव कहते हैं। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक चारित्र, क्षायिक अभयदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य–ये सब उन-उन कर्मों के आत्यन्तिक क्षय हो जाने से निष्पन्न होते हैं।

क्षायिकभाव–ज्ञानादि के विघातक पुद्गलों–ज्ञानावरण आदि कर्मस्कन्धों के आत्यन्तिक नाश से जो अध्यवसाय आत्म-परिणाम होता है, वह क्षायिकभाव कहलाता है।

क्षायिकसम्यक्त्व–अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय तथा दर्शनमोहनीय की तीन, यों ७ प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से प्रादुर्भूत होने वाला सम्यक्त्व।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि–दर्शनमोहनीय का आत्यन्तिक क्षय का नाम क्षय है, उसमें उत्पन्न जीव–परिणाम है–क्षयलब्धि या क्षायिकलब्धि। उस लब्धि में क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

क्षिप्रावग्रह–मतिज्ञान का एक भेद। पदार्थ को शीघ्रता से ग्रहण करना क्षिप्रप्रत्यय या क्षिप्रावग्रह है।

क्षीणकषाय–जिसका समस्त मोह (कषाय-नोकषाय) सर्वथा क्षीण हो चुका है, अतएव जो स्फटिक–मणिमय पात्र में स्थित जल के समान निर्मल मन की परिणति से युक्त हो गया है, उसे क्षीणकषाय कहते हैं। इसे क्षीणमोह भी कहते हैं। यह बारहवें गुणस्थान का भी नाम है।

क्षुधा (वेदना तथा परीषह)–असातावेदनीय कर्म के तीव्र या मन्द उदय से जो तीव्र या मन्द संक्लेश को उत्पन्न करती है उसे क्षुधावेदना कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि साधक उदर और आँतों को संतप्त करने वाली क्षुधावेदना को भलीभाँति सहता हुआ आगमोक्त विधि से प्राप्त आहार के द्वारा उसे शान्त करता है, किन्तु अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करता, वह क्षुधा परीषह-विजयी है।

क्षेत्रज्ञ–जो आत्म-स्वरूप को अथवा षड्द्रव्यात्मक लोक–क्षेत्र को जानता है, वह।

क्षेत्रज्ञान–यह क्षेत्र सुलभ, सरल या साधुजनाधिष्ठित या साधुसेवित है या इन गुणों से विहीन है, इसका विवेक करना। यह आचार्य की अष्टविधगणिसम्पदा के अन्तर्गत प्रयोगमतिसम्पदा के चार भेदों में से तीसरा है।

क्षेत्रवृद्धि–श्रावक के छठे दिशापरिमाणव्रत का एक अतिचार। जिस क्षेत्र में श्रावक ने जितने योजन क्षेत्र तक गमनागमन की मर्यादा की है, उसमें बढ़ाना, दूसरे क्षेत्र में घटा कर उस क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि-दोष है।

क्षेत्र-संसार–(I) सहज शुद्ध लोकाकाश के प्रदेश-प्रमाण जो शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं, उनसे भिन्न कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जिसे व्याप्त करके यह जीव अनेक या अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त न हुआ हो, यही क्षेत्र-संसार है। (II) चौदह राजू-परिमित क्षेत्र में जीव और पुद्गलों का परिभ्रमण होना क्षेत्र-संसार है।

क्षेत्र-सामायिक–ग्राम, नगर, खेड़ा, बंदरगाह आदि में से कोई भी अनुकूल या प्रतिकूल क्षेत्र मिले, उसमें समभाव रखना, राग-द्वेष न करना अथवा निवास-स्थानविषयक कषाय को दूर करना क्षेत्र-सामायिक है।

क्षेत्रातिक्रम–रहने के स्थान, खेत या अन्य स्थान की परिग्रहपरिमाणव्रत में जो क्षेत्र-मर्यादा रखी है, लोभवश उससे अधिक बढ़ाने की लालसा या आसक्ति रखना क्षेत्रातिक्रम अतिचार है।

क्षेत्रार्य–पन्द्रह कर्मभूमियों में अथवा भरत क्षेत्रवर्ती २५॥ देशों में उत्पन्न होने वाले क्षेत्रार्य माने गए।

क्षेत्रोपक्रम–क्षेत्र या खेत का परिकर्म (संस्कार) या विनाश किया जाए, उसे क्षेत्रोपक्रम कहते हैं।

क्षेम–(I) प्राप्त हुए संयमादि का रक्षण करना क्षेम है। (II) सिद्धशिला का अथवा मुक्त जीवों के निवास-स्थान का एक नाम भी क्षेम है।

क्षोभ–निर्विकार और निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्र के विनाशक चारित्रमोह को क्षोभ कहते हैं।

खेलौषधिलब्धि (ऋद्धि) = क्ष्वेडौषधिलब्धि–जिस लब्धि या ऋद्धि के प्रभाव से कान, आँख और नाक का मल आदि, जीवों के किसी भी रोग को दूर करने में समर्थ हों, वह लब्धि या ऋद्धि।

(ग)

गगनगामिनी (आकाशगामिनी) लब्धि या ऋद्धि–जिसके प्रभाव से आकाश में गमन किया जा सके, वह।

गच्छ–एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधु-साध्वियों के समूह को गच्छ कहते हैं।

गण–(I) जो साधु स्थविर या श्रुत स्थविर होते हैं, उनका समूह। (II) विविध साधु-समुदाय के कुलों का समूह गण कहलाता है। (III) मल्ल, लिच्छवी आदि जातियों का समूह भी गण कहलाता है। भगवान महावीर के युग में ९ मल्लइ, ९ लिच्छवी, इन १८ देश के राजाओं का गणराज्य था। वर्तमान युग में सम्प्रदाय, पंथ या मार्ग शब्द प्रचलित हैं।

गणधर–(I) जो गण का परिरक्षण करता है। (II) गणों को धारण करता है–कराता है; उन्हें दुर्गति मार्ग से या मिथ्या श्रद्धान आदि से हटा कर मोक्षमार्ग में तथा सम्यग्दर्शनादि में स्थापित करता है वह गणधर है। (III) अनुत्तर ज्ञान-दर्शनादि धर्मगण को धारण करता है, वह भी गणधर है।

गति–(I) गति-नामकर्म के उदय से जो चेष्टा = देशान्तर–गमनरूप क्रिया निर्मित होती है, वह गति है। (II) गति-नामकर्म के उदय से आत्मा को एक पर्याय को छोड़ कर दूसरी पर्याय प्राप्त होती है, उसे गति कहते हैं। वे गतियाँ चार हैं–नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

गति-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव अन्य भव को जाता है या प्राप्त करता है अथवा नरकादि गति के लिए गमन होता है, वह।

गन्ध-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से शरीर में सुगन्ध या दुर्गन्ध उत्पन्न हो, उसे गन्ध-नामकर्म कहते हैं।

गमिक श्रुत–श्रुतज्ञान का एकभेद। अर्थ की भिन्नता होते हुए भी अक्षरों की समानता रखने वाले पाठों से युक्त शास्त्र।

गरिमा–(I) गुरुता-महत्ता। (II) जिस ऋद्धि (सिद्धि) के प्रभाव से वज्र से भी गुरुतर शरीर बनाया जा सके उसे गरिमा नाम की ऋद्धि या सिद्धि कहते हैं।

गर्भज–गर्भजन्मा–गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव।

गर्हा–(I) हिंसा, कठोरता तथा निर्दयता एवं पैशुन्ययुक्त वचन को गर्हित या गर्हायुक्त कहते हैं, जो सत्य होने पर भी गर्हित होते हैं। (II) गुरु, आचार्य या बड़ों के समक्ष जो आत्म-निन्दा या आत्म-दोष प्रकट किया जाय, उसे गर्हा कहते हैं। (III) प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तर तप का एक प्रकार। इसे गर्हणा भी कहते हैं।

गवालीक–गाय या गोवंश से सम्बन्धित असत्य बोलने अथवा उपलक्षण से गाय आदि सभी चतुष्पदों के विषय में असत्य बोलना गवालीक नामक श्रावक के द्वितीय व्रत का अतिचार है।

गवेषणा–(I) आहारादि एषणीय हैं या अनैषणीय? इस विषय में दाता से पूछताछ करना गवेषणा है। (II) निर्दोष आहार आदि के ग्रहण का एक उपाय। (III) ईहा मतिज्ञान का पर्यायवाचक शब्द भी है।

गारव–ऋद्धि, रस और सात (सुख-सामग्री) में आसक्ति रखना।

गुण–(I) द्रव्य के आश्रित रहने वाले तथा अन्य गुणों से रहित हों, वे गुण कहलाते हैं। (II) जो द्रव्य के साथ रहता है, वह गुण है। (III) जैसे–जीव (आत्मा) के सहभावी गुण हैं–ज्ञानादि तथा पुद्गल के सहभावी गुण हैं–रूप, रस आदि। (IV) शील, सदाचार आदि विशेषताओं को भी गुण कहते हैं।

गुणव्रत–अणुव्रतों के उपकारक तथा उनमें विशेषता पैदा करने वाले होने से ये (श्रावक के तीन) गुणव्रत कहलाते हैं। यथा–दिशापरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत और अनर्थदण्ड-विरमणव्रत।

गुणगुरु–जो तप, व्रत, संयमादि गुणों में महान् हैं, हमसे आगे बढ़े हुए हैं, वे गुणगुरु कहलाते हैं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान–सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत-महाव्रतादि गुण जिस अवधिज्ञान के उत्पन्न होने के कारण हैं, उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। देवों और नारकों को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।

गुणवत्प्रतिपत्ति–ज्ञानादि गुणों अथवा मूलगुण-उत्तरगुणों से युक्त गुणवान् को वन्दना-नमस्कारादिरूप आदर-सत्कार करना गुणवत्प्रतिपत्ति है। यह तीसरे आवश्यक का पर्यायवाची शब्द है।

गुणश्रेणि–परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्त्तनाकरण के द्वारा उपरितन स्थिति से न्यून करके अन्तर्मुहूर्त्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असंख्यातगुणित वृद्धि के क्रम से कर्मप्रदेशों की निर्जरा के लिए जो रचना होती है, उसे गुणश्रेणि कहते हैं।

गुणसंक्रम–(I) अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बन्ध से रहित प्रकृतियों का गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम होता है। (II) विशुद्धि के वश प्रतिसमय असंख्यातगुणित वृद्धि के क्रम से अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों के द्रव्य को जो शुभ प्रकृतियों में संक्रमण (प्रवेश) किया जाता है, इसका नाम गुणसंक्रम है।

गुणस्थान–गुण हैं–ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप, जोकि जीव के स्वभाव-विशेष हैं, उन गुणों की शुद्धि-अशुद्धि, प्रकर्ष-अपकर्षकृत स्वरूपभेद, जिसमें गुण रहें, वह गुणों का स्थान गुणस्थान है। वे १४ हैं, जिनमें उत्तरोत्तर मोह उपशान्त, क्षीण, क्षयोपशान्त होते हैं।

गुणाधिक–सम्यग्ज्ञानादि गुणों में जो अपने से अधिक हैं, उन्हें गुणाधिक कहते हैं।

गुप्ति–(I) सम्यग्दर्शनपूर्वक त्रिविध योगों (मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों) का निग्रह करना। (II) संसार के मिथ्यात्वादि कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) करना गुप्ति है। (III) जिनसे सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र का गोपन-रक्षण किया जाये, वे गुप्तियाँ हैं। ये तीन हैं–मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

गुरु–(I) जो शास्त्रों के अर्थ को ग्रहण कराता है, उपदेशादि देता है; वह गुरु है। (II) जो दीक्षा देता है, अध्यापन कराता है, आचार्यादि से वाचना लिया हुआ (गीतार्थ) है, निर्दोष हो कर आभ्यन्तर प्रयोजन को सिद्ध करता है, वह गुरु है।

गुरु-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में भारीपन हुआ करता है, वह गुरु-नामकर्म है।

गुह्यभाषण–(I) दो के बीच में प्रीति-सम्बन्ध को नष्ट करने के लिए एक दूसरे की चुगली करना। (II) अपनी धर्मपत्नी की गुप्त (रहस्यगत) बात को प्रकट करना। यह 'गुह्यभाषण' अथवा 'स्वदारमंत्रभेद' है; जो सत्य-अणुव्रत का एक अतिचार है।

गृद्ध-पृष्ठ-मरण–मृत शरीर में प्रविष्ट हो कर गिद्धों के द्वारा अपना भक्षण कराने से जो मरण होता है, उसे गृद्ध-पृष्ठ-मरण कहते हैं।

गृहमेधी–गृहस्थश्रावक–जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो कर ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों को धारण करते हुए आंशिक रूप से पाप से विरत होते हैं, उन्हें गृहमेधी या गृहस्थश्रावक कहते हैं।

गृहिधर्मयोग्य गृही–त्याग-सम्पन्न वैभव वाला इत्यादि ३५ मार्गानुसारी के गुणों से युक्त गृहस्थ गृहिधर्मयोग्य गृही कहलाता है।

गृहिलिंग-सिद्ध–गृहस्थ वेश में स्थित होते हुए जिन्होंने सिद्ध (अष्टविध कर्ममुक्त) पद प्राप्त किया है, करते हैं, वे गृहिलिंग-सिद्ध कहलाते हैं।

गृहीत-मिथ्यादर्शन–दूसरे के उपदेश से तत्त्वार्थ के प्रति अश्रद्धान होना।

गोचर, गोचरी–(I) जैसे गाय घास डालने वाली ललना के अंगगत सौन्दर्य आदि को न देख कर केवल घास का ही भक्षण करती है, अथवा विभिन्न देशों में जो भी, जैसा भी तृणसमूह उपलब्ध होता है, उसका उपभोग कर लेती है, उसकी संयोजना-विशेष को नहीं देखती, उसी प्रकार साधु भी आहारदात्री महिला के अंगोपांग, सौन्दर्य, वेशभूषा आदि पर दृष्टि न रख कर जैसा भी, जो भी आहार प्राप्त होता है, उसे ग्रहण करते हैं। इसलिए गौ के समान वृत्ति होने से इसे गोचर या गोचरी वृत्ति कहते हैं। इसे 'भिक्षाचरी' नामक बाह्यतप भी कहा गया है।

गोत्र-गोत्रकर्म–(I) जिस कर्म के उदय से जीव उच्च, नीच कहा जाता है, वह गोत्रकर्म है। (II) मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त जो कर्मपुद्गल-स्कन्ध उच्च या नीच (लोकगर्हित) कुल में उत्पन्न कराता है, उसे गोत्र कहते हैं। इस कर्म के दो भेद हैं–उच्चगोत्र और नीचगोत्र। (III) सन्तानक्रम से आये हुए आचरण (संस्काररूप आचार) को भी गोत्र कहते हैं। (IV) तथाविध एक पूर्वजपुरुष से प्रचलित वंश भी गोत्र कहलाता है।

ग्रन्थि–जिस प्रकार किसी वृक्ष-विशेष की कठोर गाँठ अतिदुर्भेद्य होती है, उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गाँठ के समान दुर्भेद्य होते हैं, उन्हें ग्रन्थि कहते हैं।

ग्रहण–(I) शास्त्र के अर्थ का उपादान = सम्यक्रूप से ग्रहण (आत्मसात्) करना ग्रहण है। यह बुद्धि के आठ गुणों में से एक है। (II) चन्द्र या सूर्य की आड़ में जब पृथ्वी आ जाती

है, तब उसे ग्रहण (चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण) कहा जाता है। यह तो द्रव्यग्रहण है। भावग्रहण वह है, जिसमें आत्मा या जीवरूपी चन्द्र या सूर्य को कर्मरूपी राहु या केतु ग्रस लेता है।

ग्राहकशुद्ध दान–(I) दान लेने वाला चारित्र गुणों से युक्त हो, वह दान ग्राहकशुद्ध दान है। (II) जो सर्वसावद्ययोग से विरत, तीन प्रकार से गौरव से रहित, तीन गुप्तियों और पंच समितियों से युक्त, राग-द्वेषरहित, नगर, वसति, शरीर और उपकरणादि-विषयक ममता से रहित, अष्टादशसहस्र शीलांगरथ-धारण में कुशल, रत्नत्रयधारक, सुवर्ण और ढेले को समान समझने वाला, दो उत्तम ध्यानों का ध्याता, यथाशक्ति नाना तप में विरत, सत्रह प्रकार के संयम का धारक, अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालक, ऐसा साधु जिस दान का ग्राहक हो, वह ग्राहकशुद्ध दान है, उत्कृष्ट सुपात्रदान है।

ग्रैवेयक (देवलोक)–लोकरूप पुरुष के ग्रीवास्थान पर अवस्थित विमानों को ग्रैवेयक विमान और उनमें वास करने वाले देवों को ग्रैवेयक देव कहते हैं।

ग्लान–(I) जिसका शरीर रोग आदि से अभिभूत हो, उस साधु या श्रावक को ग्लान कहते हैं। ग्लान की वैयावृत्य करना वैयावृत्य तप के १० प्रकारों में से एक प्रकार है। (II) जो मन्द, अपटु या किसी व्याधि, पीड़ा से क्लिष्ट, पीड़ित या पराभूत है, वह भी ग्लान कहलाता है।

(घ)

घातिकर्म–क्रमशः केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र तथा वीर्यरूप आत्म-गुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, ये चार घातिकर्म हैं। इनके अतिरिक्त चार कर्म–वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म–अघाति हैं। घातिकर्मों के भी दो भेद हैं–सर्वघाती और देशघाती। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्राएँ, तीन कषायचतुष्क (अनन्तानुबन्धी से प्रत्याख्यानावरण तक) और मिथ्यात्व, ये २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं तथा २६ प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं–ज्ञानावरणीयादि ४, दर्शनावरण की ३, संज्वलन-कषायचतुष्क, हास्यादि ९ नोकषाय और ५ अन्तरायकर्म तथा सम्यक्त्वमोहनीय।

घ्राणेन्द्रिय–जिसके द्वारा आत्मा वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और अंगोपांग-नामकर्म की सहायता से वस्तुगत सुगन्ध या दुर्गन्ध को ग्रहण करती है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियनिरोध (निग्रह)–जीव या अजीव के प्राकृतिक या प्रयोगरूप सुगन्ध में राग न करने तथा दुर्गन्ध में द्वेष न करने को घ्राणेन्द्रियनिरोध या घ्राणेन्द्रियनिग्रह कहते हैं। यह इन्द्रियसंवर का एक प्रकार भी है।

घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह–घ्राणेन्द्रिय का विषय है–नाना प्रकार की सुगन्ध और दुर्गन्ध। सुगन्ध-दुर्गन्धरूप पुद्गलों के अतिमुक्तक पुष्प के आकारस्वरूप घ्राणेन्द्रिय के भीतर प्रविष्ट होने पर जो सुगन्ध-दुर्गन्धविषयक प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह कहते हैं। यह मतिज्ञान का एक भेद है। इस प्रकार के ज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म को घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रहावरणीय कर्म कहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह–उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त घ्राणेन्द्रिय से अमुक प्रमाण मात्र क्षेत्र का अन्तर करके स्थित द्रव्य के गन्ध का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह कहते हैं। उक्त प्रकार के ज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म को घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रहावरणीय कर्म कहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय-ईहाज्ञान–घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का अवग्रह करके यह गन्ध गुणरूप है या अगुणरूप? दुष्ट स्वभाव वाला है या अदुष्ट स्वभाव वाला? या जात्यन्तर स्वभाव को प्राप्त है? इन ५ विकल्पों में से किसी एक विकल्प के हेतु को ले कर यह गुण-अगुणादिरूप होना चाहिए, इस प्रकार का अन्त में जो ज्ञान होता है, उसे घ्राणेन्द्रिय-ईहाज्ञान कहते हैं। घ्राणेन्द्रियजनित-ईहाज्ञान को जो आच्छादित करता है वह घ्राणेन्द्रियेहावरणीय कर्म है।

घ्राणेन्द्रियावायज्ञान–घ्राणेन्द्रियेहाज्ञान से अवगत लिंग के बल से एक विकल्प में उत्पन्न हुए निश्चय का नाम घ्राणेन्द्रिय-अवाय है। घ्राणेन्द्रियावायज्ञान के आवारक कर्म को घ्राणेन्द्रियावायावरणीय कर्म कहते हैं।

(च)

चक्रवर्ती–षट्खण्ड भरतक्षेत्र के अधिपति और ३२ हजार मुकुटबद्ध राजाओं आदि के स्वामी चक्रवर्ती होते हैं। चक्रवर्ती यदि संयम लें तो देवलोक में या मोक्ष में जाते हैं और सांसारिक विषयभोगों में फँस जायें तो नरक में जाते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय–वीर्यान्तराय और चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग-नामकर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है, वह चक्षुरिन्द्रिय है।

चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह–चक्षुरिन्द्रिय से इतने (यथासम्भव ४७२६३$^{७}/_{२०}$ आदि) योजन के अन्तर से स्थित द्रव्य के विषय में जो ज्ञान (अवग्रह) उत्पन्न होता है, उसे चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय-ईहाज्ञान–चक्षुरिन्द्रिय अवग्रह द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय में जो विशेष आकांक्षा–विशेष ज्ञान का कारणभूत विचार होता है, उसका नाम चक्षुरिन्द्रिय-ईहाज्ञान है।

चक्षुरिन्द्रियावायज्ञान–चक्षुरिन्द्रिय-ईहाज्ञान से जाने गये लिंग के आश्रय से जो एक-विकल्प-विषयक निश्चय उत्पन्न होता है, उसे चक्षुरिन्द्रिय-अवायज्ञान कहते हैं।

चक्षुःदर्शन–(I) चाक्षुषज्ञान के पूर्व में ही जो चाक्षुषज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त अपनी सामान्य स्व-संवेदनरूप शक्ति का अनुभव होना। (II) चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम और द्रव्येन्द्रिय के अनुपघात में जो तत्परिणामवाद–चक्षुदर्शनगुण-परिणामयुक्त–आत्मा को सामान्य का ग्रहण होना चक्षुदर्शन है।

चक्षुःदर्शनावरण–चक्षुरिन्द्रिय से होने वाले सामान्य उपयोग को जो आवृत करता है, वह चक्षुःदर्शनावरण है।

चतुरस-नाम–(I) पैर के अँगूठे से ले कर सिर के बालों तक जितना ऊँचाई का प्रमाण हो, उतना ही प्रमाण दोनों भुजाओं के फैलाने पर तिरछा भी हो, वह चतुरस्र कहलाता है। (II) अथवा जिस कर्म का उदय होने पर इस प्रकार के आकार वाला जीव का शरीर होता है उसे चतुरस्र-नामकर्म कहते हैं।

चतुरिन्द्रिय जाति-नाम–(I) स्पर्शनादि चार इन्द्रियों से युक्त जीव चतुरिन्द्रिय कहलाता है। (II) स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण और नोइन्द्रियावरण कर्म का उदय होने पर स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण को जानने वाले जीवों को चतुरिन्द्रिय जाति-नामकर्म कहलाते हैं। चतुरिन्द्रिय जीव स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों से युक्त होते हैं, वे द्रव्यमान से रहित होते हैं। टिड्डी, पतंगे, मक्खी, मच्छर, भौंरा, बिच्छू आदि इस कोटि के जीव हैं।

चतुरिन्द्रियलब्धि–जिह्वा, स्पर्श, घ्राण और चक्षुरिन्द्रियावरणों के क्षयोपशम से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह।

चतुर्दशपूर्वित्व–समग्र श्रुत = चौदह पूर्वों के पारगामी हो कर जो श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध हैं, उनकी बुद्धि-ऋद्धि (या लब्धि) को चतुर्दशपूर्वित्व कहते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव–ऋषभदेव से ले कर महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक पूजा व प्रणाम करने को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

चरणकुशील–जो श्रमण कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीविका, कल्ककुरुका, लक्षण और विद्यामंत्रादि का आश्रय लेता है, वह।

चरणपुलाक–मूलगुण व उत्तरगुणों की प्रतिसेवना के साथ चारित्र की विराधना करने वाला श्रमण।

चरणानुयोग–गृहस्थ और अनगारों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं।

चरमशरीर–चरमशरीरी–संसार के अन्त में वर्तमान तथा घातिकर्म-अघातिकर्म का क्षय करके तत्काल, तद्भव मोक्षगामी, वज्रऋषभनाराचयुक्त शरीर वाले रत्नत्रय के आराधक चरमशरीर या चरमशरीरी कहलाते हैं।

चर्या-परीषहजय–जो साधु श्रमणचर्या के अनुसार अप्रतिबद्ध हो कर मार्ग के परीषहों, नंगे पैर से चलने आदि से होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है वह चर्या-परीषह पर विजय प्राप्त कर लेता है।

चारण (लब्धि-सम्पन्न) साधु–(I) जिस चारणलब्धि के प्रभाव से साधु अतिशययुक्त गमन में समर्थ हो। (II) जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणि (आकाश-प्रदेश की पंक्ति) और अग्निशिखा आदि का अवलम्बन ले कर गमन में समर्थ साधु।

चारित्र–अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति (व्यवहार) चारित्र है। स्वरूपरमण निश्चय चारित्र है। यही एक प्रकार से चरणविधि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह-त्याग, इनका तीन करण–तीन योग से आचरण करना चारित्र है। समतारूप धर्म चारित्र है, जिसमें सर्वसावद्ययोगों से विरतिरूप सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त होता है, मिथ्याचारित्र इनसे रहित होता है। चारित्र के दो भेद हैं–सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। इसी प्रकार अनगारों के चारित्र के ५ प्रकार हैं–सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यातचारित्र। चारित्रधर्म वह है जो मोह-क्षोभरहित समता और शमता से युक्त हो।

चारित्राचार–(I) पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणति। (II) निश्चयचारित्र को लक्ष्य में रखकर व्यवहारचारित्र का निरतिचार आचरण करना।

चारित्रमोहनीय–जो बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्तिरूप चारित्र को मोहित करता है, वह।

चारित्रविनय–इन्द्रियों और कषायों के प्रसार को रोकना तथा गुप्तियों और समितियों के पालन में प्रयत्नशील रहना।

चार दुर्लभ अंग–मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम, ये चार अंग अतिदुर्लभ हैं।

चारित्रसंवर–मन-वचन-काया द्वारा इन्द्रियों के गोप्ता, त्रिगुप्ति-परिपालक, समितियों के अप्रमत्त पालक, चारित्रवान् साधु के आस्रवों का निरोध हो जाने पर नये कर्मों का आस्रव रुकता है, इसका नाम चारित्रसंवर है।

चारित्राराधना–पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप १३ प्रकार के चारित्र का भावशुद्धिपूर्वक आचरण करना, तथा इन्द्रिय-असंयम एवं प्राणि-असंयम का परित्याग करना चारित्राराधना है।

चेतना–प्रत्यक्षरूप से वर्तमान पदार्थ के ग्रहण करने का नाम चेतना है। इसे चेतन (सजीव) भी कहते हैं।

चैतन्य–तीनों कालों को विषय करने वाले अनन्त-पर्याय-स्वरूप जीव के स्वरूप का जो अपने क्षयोपशम के अनुसार संवेदन होता है, उसका नाम चैतन्य है।

च्युत–च्यावित–आयुष्यक्षय होने के बाद कर्मोदयवश कदली फल के बिना पके हुए फल के समान जो शरीर स्वयं छूटता है, वह च्युत है, और आयुक्षय से देवता आदि के द्वारा भ्रष्ट कराये गया शरीर च्यावित है, अथवा कदलीघात, विषभक्षण, वेदना या रक्तक्षय आदि से खण्डित हुई आयु के क्षय से नष्ट हुए शरीर का नाम च्यावित शरीर है।

च्यवन–वैमानिक और ज्योतिष्क देवों के मरण को च्यवन कहते हैं। इसे च्युति भी कहते हैं। च्यवन, उद्वर्तन और मरण, ये समानार्थक शब्द हैं।

(छ)

छद्म–यथावस्थित आत्म-स्वरूप को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों को छद्म कहते हैं।

छद्मस्थ–ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है। इस छद्म में जो स्थित है, वह छद्मस्थ है। अर्थात् जब तक केवलज्ञान-केवलदर्शन न हो, तब तक मनुष्य छद्मस्थ कहलाता है सर्वज्ञता प्राप्त न हो, वहाँ तक छद्मस्थ अवस्था है।

छन्दना–दशविध समाचारी का एक प्रकार। मैं यह आहार आदि लाया हूँ, आपमें से किसी की इच्छा हो तो ग्रहण करें, इस प्रकार से शेष साधुओं को छन्दना (विनति) करना।

छंदोनिरोध–(I) स्वच्छन्दता का निरोध करना। (II) गुरु-आज्ञा (छन्द) के अनुसार इन्द्रियों और मन का निग्रह करना। (III) छन्द = आज्ञा के अनुसार आचरण करना, यह छन्दोनिरोध का अभिप्राय है। गुरु के छन्द (अभिप्राय) के अनुसार वर्तन (सेवादि) करना छन्दोऽनुवर्तन नामक औपचारिक विनय का प्रकार है।

छविच्छेद–करवत आदि से या किसी शस्त्र से निष्प्रयोजन ही अपने अधीनस्थ पशु या मानव के शरीर के अवयव का छेदन करना। यह श्रावक के प्रथम अणुव्रत का अतिचार है।

छेद–जिस साधु ने महाव्रत स्वीकार किये हैं, उससे कोई बड़ा अपराध (महाव्रत-भंग आदि) किया हो, उस साधु का दिन, पक्ष या मास आदि के विभाग से एक दिन से ले कर उत्कृष्ट छह मास तक की दीक्षा-पर्याय का छेद करना (काट लेना, कम कर देना) छेद प्रायश्चित्त कहलाता है।

छेदार्ह (प्रायश्चित्त का एक भेद)–जिस प्रकार अनेक प्रकार की व्याधि से दूषित शरीर के किसी अवयव का शेष शरीरावयवों के रक्षणार्थ छेद किया जाता है, उसी प्रकार जिसका सेवन करने पर दूषित हुई पूर्व पर्याय में–श्रामण्य काल का कुछ अंश में–दिन, पक्ष, मास आदि के क्रम से छेद कर दिया जाता है–कम कर दिया जाता है, वह छेदार्ह प्रायश्चित्त है। यह दस प्रकार के प्रायश्चित्त में से एक है।

छेदोपस्थापन चारित्र–जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेद कर महाव्रतों को स्थापित किया जाता है, अथवा व्रत का भंग होने पर पुनः पुनः व्रत या व्रतों का उप स्थापन करके चारित्र की विशुद्धि की जाती है।

(ज)

जगत्–(I) जो चराचर (स्थावर-जंगम) पदार्थों से परिपूर्ण है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अवस्था जिसका लक्षण है, उसे जगत् कहते हैं। (II) चेतन-अचेतन द्रव्यों के समुदाय को जगत् कहते हैं।

जगत्स्वभाव–देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक आदि अवस्थाओं का बार-बार प्राप्त किया जाना जगत् (संसार) है, उसमें प्राणियों का इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, इच्छित

वस्तु का अलाभ, दुर्भाग्य, दारिद्र्य, दुष्ट विचार, वध, बन्धन, अभियोग और असमाधिरूप दुःखों का जो अनुभव होता है, वह जगत्स्वभाव है; जो वैराग्य और संवेग का उत्पादक है।

जंघाचारण–जंघाचरण–जिसके प्रभाव से साधु पृथ्वी से ४ अंगुल ऊपर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना बहुत योजन तक गमन करने में समर्थ हो, वह ऋद्धि (लब्धि) जंघाचारण कहलाती है, उस ऋद्धि से सम्पन्न साधक को जंघाचरण कहते हैं।

जन्म–केवल शुभ कर्म, केवल अशुभ कर्म, माया और शुभाशुभमिश्र कर्म, इनके द्वारा क्रमशः देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों में जो उत्पत्ति होती है उसका नाम जन्म है।

जम्बूद्वीप–मनुष्यलोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला समान गोल जम्बूद्वीप है।

जरायु–गर्भ में शरीर को आच्छादित करने वाला जो विस्तृत रुधिर और माँस रहता है, उसे जरायु कहते हैं। जरायु में जो उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं।

जल्ल (परीषह)–पसीने के आश्रय से जो धूलि-समूह चिपक जाता है, उसका नाम जल्ल है। उसे दूर करने के लिए स्नानादि न करना, मन में ग्लानि न लाना जल्ल-परीषहजय है।

जल्लौषधि-प्राप्त–जिस महर्षि के तपोबल से जल्लरूप बाह्य अंगमल औषधित्व को प्राप्त है, अर्थात् उस महाभाग का जल्ल लगाने से रोग नष्ट हो जाता है, वह जल्लौषधि (लब्धि या ऋद्धि) को प्राप्त है, या जल्लौषधि-ऋद्धिधारक है।

जाति–(I) नरकादि गतियों में जिस निर्बाध सदृशता के द्वारा अनेक पदार्थों में एकरूपता होती है, उसे जाति कहते हैं। ऐसी जाति पाँच हैं–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। (II) मातृपक्ष से या माता की वंश-शुद्धि से जाति कहलाती है।

जाति-नाम (कर्म)–जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय आदि जाति में उत्पन्न होता है, उसे जाति-नामकर्म कहते हैं।

जाति-स्थविर–साठ वर्ष के वृद्ध को जाति-स्थविर या वयःस्थविर कहते हैं।

जातिस्मरण (मतिज्ञान का विशिष्ट प्रकार)–पूर्वजन्म की स्मृति कराने वाला ज्ञान, जिससे जीव को एक भव से लगा कर निरन्तर नौ भवों तक का ज्ञान हो सकता है।

जात्यार्य–क्षत्रियादि उच्चवंशीय मनुष्य।

जितमोह–जो मोह को जीत कर ज्ञायक स्वभाव से अधिक–उससे परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करता है, वह साधक जितमोह है।

जितेन्द्रिय–(I) जो इन्द्रियों को जीत कर ज्ञान-स्वभाव से अधिक–तत्स्वरूप आत्मा को जानता है, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं। (II) इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष न करने वाला।

जिन–जिनेन्द्र–(I) जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है, वे। (II) राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग तथा अष्टविध कर्मों को जिन्होंने जीत लिया है; वे जिनदेव, अरिहन्त, जिनेश आदि भी कहलाते हैं।

जिनकल्प–जो उत्तम संहननधारक मुनि राग-द्वेष-मोह-विजेता होते हैं। उपसर्ग-परीषहों को सहन करते हैं, एकाकी, असहाय, संघरहित हो कर विहरण करते हैं। वे शिष्य नहीं बनाते, ग्यारह अंगशास्त्रों के धारक, धर्म-शुक्लध्यान में रत, मौनव्रती, निःस्पृह व बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित होते हैं।

जिह्वेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह–मतिज्ञान का एक भेद। जिस इन्द्रिय द्वारा बद्ध, स्पृष्ट और प्रविष्ट हो कर अंग-अंगीभावगत सम्बन्ध को प्राप्त हुए तीखे, कड़वे, कसैले, आम्ल और मधुर रस वाले पदार्थों के रस का ज्ञान होता है, उसे जिह्वेन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

जिह्वेन्द्रिय-व्यंजनावग्रहावरणीय–जिह्वेन्द्रिय का आवरक कर्म।

जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह–(I) उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुई जिह्वेन्द्रिय से इतने अध्वान का अन्तर करके संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि जीवों में यथासम्भव उक्त इन्द्रिय के विषयभूत क्षेत्र की दूरी पर स्थित द्रव्य के रसविषय का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह। (II) मतिज्ञान का एकभेद।

जिह्वेन्द्रिय–अर्थावग्रहावरणीय–जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह का आवरक कर्म।

जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञान–मतिज्ञान का एक भेद। जिह्वेन्द्रिय द्वारा रस को ग्रहण करके–वह मूर्त्त है या अमूर्त्त? दुःस्वभाव है या अदुःस्वभाव? क्या वह जात्यन्तर अवस्था को प्राप्त है? इस प्रकार के विचार के आश्रित जो ज्ञान होता है, वह जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञान है।

जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञानावरण–जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञान का आवरक कर्म।

जिह्वेन्द्रियावायज्ञान–जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञान से जाने गए हेतु के बल से किसी एक ही विकल्प-विषयक निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पन्न होना।

जिह्वेन्द्रियावायज्ञानावरणीय–जिह्वेन्द्रिय-अवायज्ञान का आवरक कर्म।

जीतव्यवहार–जीत कहते हैं–परम्परागत आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, प्रथा या रूढ़ि को, अथवा प्रायश्चित्त से सम्बद्ध एक प्रकार के रिवाज, या जैनसूत्रोक्त रीति से विभिन्न प्रकार के परम्परागत आचार को। व्यवहार कहते हैं–उक्त परम्परागत आचारानुसार वर्तन या व्यवहार को।

जीव–(I) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण है। (II) द्रव्यप्राण, भावप्राण को धारण करने में समर्थ सचेतन द्रव्य। (III) (संसारी जीव) द्रव्यभाव कर्मों के आस्रवादि का स्वामी (प्रभु), कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता, प्राप्त शरीर के प्रमाण, कर्म के साथ होने वाले एकत्व-परिणाम की अपेक्षा मूर्त्त और कर्म से संयुक्त है। (IV) ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से लक्षित होने के कारण जीव का लक्षण उपयोग है। (V) इसे आत्मा, चेतन, प्राणी भी कहते हैं।

जीवास्तिकाय–जीवराशि, जीव-समूह। जीवद्रव्यों का समूह।

जीव-निकाय–जीवराशि।

जीवस्थान–कर्मविशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से जीवों के उत्तरोत्तर विशुद्ध १४ स्थान, जिन्हें गुणस्थान भी कहते हैं।

जीवाणु–आँखों से न दिखाई देने वाले क्षुद्र प्राणी, जो अणुवीक्षण यंत्र से दिखाई देते हैं।

जीव-पुद्गलबन्ध–औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मणवर्गणाओं का और जीवों का जो बन्ध होता है, वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है।

जीवबन्ध–(I) जिस कर्म के निमित्त से एक शरीर में स्थित अनन्तानन्त निगोद जीवों का जो परस्पर बन्ध होता है, उसे जीवबन्ध कहते हैं। (II) अमूर्त्त ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्यादि स्वभाव वाले जीव का जो राग-द्वेष-मोहरूप पर्यायों के साथ औपाधिकरूप से एकत्व-परिणाम होता है, उसे (केवल) जीवबन्ध कहते हैं।

जीवाजीवविषयबन्ध–जीव के साथ कर्म और नोकर्म के बन्ध को जीवाजीव-विषयबन्ध कहते हैं।

जीवसमास–(I) जीवों का जहाँ संक्षेप (संक्षिप्त विश्लेषण) किया जाता है, वे (चौदह गुणस्थान) जीवसमास कहलाते हैं। (II) जिनके द्वारा अनेक प्रकार के वर्गीकरण का तथा उनकी विविध जातियों का परिज्ञान होता है, उन अनेक अर्थों के संग्राहकों को जीवसमास कहते हैं।

जीवविचय (धर्मध्यान का एक प्रकार)–जिसमें विविध पहलुओं से जीव के स्वभाव का चिन्तन किया जाता है।

जीव-अदत्त–स्वामी के द्वारा दिया गया भी स्वयं जीव के द्वारा नहीं दिया गया हो, वह जीव-अदत्तादान नामक दोष है।

जीविताशंसा–संलेखना-संथारा कर लेने पर भी लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, कीर्ति आदि सुन कर अधिक जीने की–अपने नश्वर–हेय शरीर को स्थिर रखने की आकांक्षा, वृत्ति या उत्सुकता को जीविताशंसा या जीविताशंसा-प्रयोग कहते हैं। यह संलेखनाव्रत का एक अतिचार है।

जुगुप्सा–(I) जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का संवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है, उसे जुगुप्सा-नोकषाय (मोहनीय) कर्म कहते हैं। (II) जिस कर्म के उदय से आभ्यन्तर–बाह्य दुर्गन्धयुक्त या मलिन द्रव्यों अथवा अशुचि पदार्थों के प्रति या शुभ-अशुभ पदार्थों के प्रति जुगुप्सा (घृणा) की जाती है, उसे भी जुगुप्सा कहते हैं। यह सम्यक्त्व का एक अतिचार भी है।

(ज्ञ-ज्ञ)

ज्ञान–(I) जिससे जाना जाए, ऐसा विशेषबोध ज्ञान है, सामान्यबोध दर्शन है। (II) हेयोपादेय तथा हिताहित-प्राप्ति-परिहार-विषयक बोध। (III) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से होने वाला तत्त्वावबोध ज्ञान है। (IV) स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है, उसके दो भेद हैं–प्रत्यक्षज्ञान और परोक्षज्ञान। ज्ञान दो प्रकार का है–सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान। सम्यग्दर्शनयुक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादृष्टियुक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के मति-श्रुतादि ५ भेद हैं। इनके अनेक भेद-प्रभेद हैं। वस्तु को यथावस्थित रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है।

ज्ञानाचार–(I) काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय, इन ज्ञानांगों सहित ज्ञान का विधिपूर्वक सविनय अभ्यास करना ज्ञानाचार है। (II) वस्तु के यथार्थस्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान में जो परिणति होती है, वह ज्ञानाचार है। (III) पंचविध ज्ञान के निमित्त शास्त्राध्ययनादि क्रिया करना ज्ञानाचार है। (IV) ज्ञायकभाव में या ज्ञाता-द्रष्टाभाव में रहना और परभावों में–राग-द्वेषादि विभावों में न जाना भी ज्ञानाचार है।

ज्ञानातिचार–ग्रन्थ या शास्त्र के अक्षर, पद आदि में कमी करना, बढ़ाना, विपरीत रचना करना, पूर्वापर-विरोधी व्याख्या करना, विपरीत अर्थ निरूपण करना, विनयरहित हो कर अध्ययन करना, योग, घोष आदि का ध्यान रखे बिना उच्चारण करना, जिज्ञासु को अध्ययन न करा कर अजिज्ञासु या अपात्र को ज्ञान देना। इत्यादि ज्ञान के १४ अतिचार हैं।

ज्ञानानुभूति–शुद्धनयस्वरूप जो आत्मा का अनुभवन है, वही ज्ञानानुभूति है।

ज्ञानावरण–ज्ञानावरणीय–ज्ञान के आवरक कर्म को ज्ञानावरण या ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

ज्ञानकुशील–जो काल, विनय आदि अष्टविध ज्ञानाचार की विराधना करता है, वह ज्ञानकुशील है।

ज्ञानचेतना–प्राणों का अतिक्रमण करके एकमात्र ज्ञान का ही जो अनुभव किया जाए, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का क्षय हो जाने पर कृतकृत्य हो कर चेतक स्वभाव से अपने (आत्मा) से अभिन्न स्वाभाविक ज्ञान–केवलज्ञान–का अनुभव करना, यह विशुद्ध ज्ञानचेतना का लक्षण है।

ज्ञान-विराधना–ज्ञान का अपलाप करना, गुरु आदि ज्ञान-दाता के नाम को छिपाना इत्यादि निह्नवादिरूप ज्ञान-प्रतिकूल आचरण करना ज्ञान-विराधना है।

ज्योतिष्क–लोक को प्रकाशित करने वाले विमानोत्पन्न सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि देवों को ज्योतिषी या ज्योतिष्क देव कहते हैं।

(ट)

टंकोत्कीर्ण–वस्तुतः क्षायिक (केवल) ज्ञान, अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार–टंकोत्कीर्ण न्याय से स्थित होने से, जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है।

(त)

तत्त्व–(I) जिस वस्तु का जो भाव है, वह तत्त्व है। (II) अपना तत्त्व स्व-तत्त्व है, स्वभाव यानी असाधारण धर्म। अर्थात् वस्तु के असाधारणरूप स्व-तत्त्व को तत्त्व कहते हैं। (III) तत्त्व, परमार्थ, ध्येय, द्रव्य-स्वभाव, शुद्ध, परम ये सब एकार्थक हैं। (IV) तत्त्व का लक्षण सत् है। ये तत्त्व ७ या ९ हैं–जीव, अजीव से ले कर मोक्ष तक। (V) जो भाव जिस रूप में अवस्थित है, वह तत्त्व है।

तत्त्वार्थ–तत्त्वभूत जो अर्थ-पदार्थ है, वह तत्त्वार्थ है। जीव, पुद्गलकाय धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये तत्त्वार्थ हैं, जो गुण-पर्यायों से युक्त हैं।

तत्त्वज्ञ–वस्तु-तत्त्व का ज्ञाता।

तथाकार–दशविध समाचारी का एक प्रकार। आपका कथन यथार्थ (तहत्ति) है, इस प्रकार विनयपूर्वक बड़ों के कथन का स्वीकार करना।

तदाहृतादान–चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु का ग्रहण करना या खरीदना। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

तदुभयार्ह–जिस दोष का सेवन कर के साधक गुरु के समक्ष आलोचना करता है, गुरु-सन्देश पा कर प्रतिक्रमण करता है, तथा बाद में मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इस प्रकार कहता है, उसे तदुभयार्ह नामक प्रायश्चित्त कहते हैं।

तज्जीव-तच्छरीरवाद–जो जीव (आत्मा) है, वह शरीर है। शरीर से अलग कोई आत्मा (जीव) नहीं है, ऐसा वाद (मत)।

तद्भव-मरण–(I) जो जिस भवग्रहण में मरता है, वह तद्भवमरण है। (II) भवान्तर-प्राप्ति के पश्चात् पूर्वभव का विनाश हो जाता है, उसे भी तद्भवमरण कहते हैं। (III) जो जीव मरकर पुनः उसी भव में उत्पन्न होते हैं, उनका वह मरण भी तद्भवमरण कहलाता है।

तप–(I) विषय-कषायादि का विनिग्रह करके ध्यान एवं स्वाध्याय में निरत होते हुए आत्म-चिन्तन करना तप है। (II) जो आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को संतृप्त करता है, वह तप है। जो शरीर, मन और इन्द्रियों को संतृप्त करके–परभावों से हटा कर अन्तर्मुखी हो कर कर्मों को नष्ट करता है, वह तप है। तप के मुख्य दो भेद हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। इन दोनों के प्रत्येक के छह-छह भेद हैं।

तप-आचार–अनशनादि छह बाह्य और प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तर, इस प्रकार बारह ही प्रकार के तप में उत्साहपूर्वक अथवा अनाजीवक (निःस्पृह) हो कर प्रवृत्त होना।

तप-आराधना का भी फलितार्थ यही है। दशविध उत्तम (श्रमण) धर्म का भी एक प्रकार है–तप।

तपः-प्रायश्चित्त–अनशनादिरूप छह प्रकार के बाह्यतप से गृहीत प्रायश्चित्त को क्रियान्वित करना।

तपोविद्या–छट्ठ, अट्ठम आदि तप करके जो विद्याएँ सिद्ध की जाती हैं, वे तपोविद्याएँ कहलाती हैं।

तपोविनय–उत्तरगुणों के परिपालन में उत्साह रखना, बारह प्रकार के तप को श्रद्धा-निष्ठा, उत्साह-सत्कारपूर्वक आराधना करना, तप का, तपस्वियों का भक्ति, बहुमान व अनुमोदन करना, तप में होने वाले परिश्रम को निराकुलतापूर्वक सहन करना, यह सब तपोविनय है।

तपःसमाधि–जो अनेक गुणयुक्त तप में सदा रत रहता है, इहलोकादि की आकांक्षा से रहित केवल कर्मनिर्जरा का ही एकमात्र लक्ष्य ले कर विशुद्ध तप से पुराने कर्मों को क्षय करता है, नये कर्मों को नहीं बाँधता, वह साधक तपःसमाधि से युक्त कहलाता है।

तपोऽर्ह–प्रायश्चित्त का एक प्रकार, जिसमें किसी आराधक के सेवन करने पर निर्विकृति (निविगई) आदि छह माह तक चलने वाला तप प्रायश्चित्त के रूप में दिया जाए, वह प्रायश्चित्त तप के योग्य (तपोऽर्ह) होता है।

तर्क–प्रमाण का एक प्रकार। जिसमें व्याप्ति से साध्य-साधनरूप अर्थों के सम्बन्ध का निश्चय करके अनुमान-प्रमाण में प्रवृत्ति होती है, वह तर्क कहलाता है।

तटस्थ–(I) जो न पक्ष में हो, न विपक्ष में, वह। (II) विपरीत वृत्ति वाले को समझाने में तटस्थता धारण करना।

ताटस्थ्य–जो किसी को प्रेरणा देने में केवल तटस्थनिमित्त हो, अथवा जिसका किसी के साथ तटस्थता-सम्बन्ध हो। जैसे–आत्मा और कर्म का।

तटस्थनिमित्त–दूर से ही जिससे प्रेरणा मिलती हो, ऐसा निमित्त। जैसे–सूर्य।

तादात्म्य–गुण और गुणी का या द्रव्य और गुण का सम्बन्ध तादात्म्य होता है। जैसे–ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य-सम्बन्ध है।

तिक्त-नाम–जिस नामकर्म के उदय से शरीर के पुद्गल तिक्तरसरूप से परिणत होते हैं, वह तिक्त-नामकर्म कहलाता है।

तिर्यगतिक्रम–भूमिगत बिल, पर्वतीय गुफा आदि में प्रविष्ट होकर दिग्व्रत की सीमा का उल्लंघन करना, तिर्यगतिक्रम नामक दिग्व्रत का अतिचार है।

तिर्यंचायु–जिस कर्म के उदय से जीव का तिर्यञ्च पर्याय में अवस्थान होता है, उसे तिर्यंचायु कर्म कहते हैं।

तिर्यग् = तिर्यंच–जो कुटिलता-मन-वचन-काया की वक्रता या विरूपता को प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ प्रगट हैं, जो अत्यन्त अज्ञानी हैं तथा जिन्हें पाप, पुण्य, धर्म का विवेक नहीं है, वे तिर्यंच या तिर्यग् कहलाते हैं।

तिर्यग्गति–(I) तिर्यग्गति-नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली तिर्यञ्च-अवस्थाओं के समूह को तिर्यग्गति कहते हैं। (II) अथवा तिर्यंच जीवों की गति को तिर्यंचगति कहते हैं।

तिर्यग्योनि–तिर्यग्गति-नामकर्म के उदय से प्राप्त जन्म को तिर्यंचयोनि कहते हैं।

तिर्यग्गति-नाम–जिस नामकर्म के उदय से जीवों को तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है, उसे तिर्यग्गति-नाम कहते हैं।

तिर्यग्लोक–एक लाख योजन के सातवें भाग मात्र सूचि-अंगुल के बाहुल्यरूप जगत्प्रतर को तिर्यग्लोक कहते हैं, इसे तिरछालोक भी कहते हैं। इसमें मनुष्य, एकेन्द्रिय तिर्यञ्च से ले कर पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक तथा व्यन्तरजाति के देव एवं मध्यलोक के अन्त में ज्योतिष्क देव भी निवास करते हैं।

तीर्थ–(I) साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चातुर्वण्य संघ को तीर्थ कहते हैं। (II) संसार-समुद्र से दुःखी प्राणियों को पार उतारने वाला श्रेष्ठ मार्ग। (III) प्रवचनरूप चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ अथवा प्रथम गणधर को भी तीर्थ कहते हैं।

तीर्थंकर–जो अनुपम-पराक्रमधारक क्रोधादि कषायों के उच्छेदक, अपरिमित ज्ञान = केवलज्ञान से सम्पन्न, संसार-समुद्र के पारंगत, उत्तमगति (सिद्धगति) को प्राप्त करने वाले और सिद्धिपथ के उपदेशक, जीवन-मुक्त हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। वे अठारह दोषरहित, बारह गुणसहित तथा चौंतीस अतिशय से सम्पन्न होते हैं। ३५ प्रकार के वाणी के अतिशय से भी युक्त होते हैं। तीर्थंकर-नामगोत्र बाँधने के २० मुख्य कारण हैं।

तितिक्षा–समभावपूर्वक कष्ट सहना।

तीर्थंकर-नाम = तीर्थंकरत्व–(I) जो कर्म अरहन्त अवस्था की प्राप्ति का कारण है, वह तीर्थंकर-नामकर्म कहलाता है। (II) जिस कर्म के उदय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्गप्रापक तीर्थ का प्रवर्तन किया जाता है, आक्षेप, संक्षेप, संवेग, निर्वेद के द्वार से भव्यजनों को सर्वकर्ममुक्ति के लिए साधुधर्म एवं गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाता है तथा सुरासुरेन्द्र-नरेन्द्रादि द्वारा पूजित होता है, उसे तीर्थंकर-नाम कहते हैं।

तीर्थंकर-सिद्ध–तीर्थंकर होकर सिद्ध होने वाले जीव।

तीर्थ-सिद्ध–चतुर्विध श्रमणसंघरूपी तीर्थ के उत्पन्न (प्रवर्तन) होने पर जो सिद्ध होता है, वह नरपुंगव।

तीव्रभाव–अन्तरंग और बहिरंग कारणों की उदीरणावश उत्पन्न होने वाले उत्कट परिणाम।

तीव्र-मन्दभाव–परिणामों की प्रकर्षता के साथ अपकर्षता का आना।

तृणसंस्तर–गाँठ से रहित, निश्छिद्र एवं अखण्डित तृणों से निर्मित बिस्तर (शय्या), जो साधुजीवन में उत्तम माना है।

तृण-स्पर्श-परीषह-जय–सूखे तृण, कठोर कंकड़, काँटे, तीखी मिट्टी, ऊबड़खाबड़ जगह, कील आदि के चुभने से शरीर के किसी अंग में वेदना होने पर भी उस ओर ध्यान न देकर प्राणिरक्षा का ध्यान रखते हुए चर्या (निषद्या, गमन, शय्या आदि) करना वह तृण-स्पर्शबाधा-परीषह-विजयी होता है।

तृषा-परीषह-जय–(I) संतापजनक ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य का ताप, रूखे भोजन से उत्पन्न ताप, अचित्त-प्रासुक पानी न मिलने से कण्ठ सूखना, तीव्र प्यास लगना आदि के रूप में होने वाले तृषा-परीषह को समभाव से सहना। (II) निःस्पृहता, शान्ति एवं धैर्यरूपी अमृत से तृषा शान्त करना।

तेजस्काय-तेजस्कायिक–(I) तैजस् नाम अग्नि का है, उष्ण का है, वही जिनका शरीर है, वे तेजस्काय या तेजस्कायिक जीव कहलाते हैं। (II) अथवा अग्निकायिक जीवों द्वारा छोड़े गए भस्म आदिरूप काय को भी तेजस्काय कहते हैं।

तेजोलेश्या–(I) दृढ़ मित्रता, दयार्द्रता, सत्यभाषित्व, दानशीलता, आत्मिक कार्य में कुशलता, विवेकिता, सर्वधर्म-समदर्शिता आदि तेजोलेश्या के लक्षण हैं। (II) इसे पीतलेश्या भी कहते हैं। छह लेश्याओं में से यह चौथी शुभ लेश्या है।

तैजसशरीर–(I) समस्त प्राणियों के आहार का पाचक, जो उष्णता, ऊर्जा, प्राण-शक्ति आदि तैजस् का केन्द्र है, वह। (II) अथवा विशिष्ट तप से उत्पन्न लब्धि-विशेष से निकलने वाली तेजोलेश्या का स्रोत तैजसशरीर है। (III) जिस कर्म के उदय से तैजसवर्गणा के स्कन्ध के निःसरण-अनिःसरण तथा प्रशस्त-अप्रशस्त तैजसशरीररूप में परिणत होते हैं, उसको तैजसशरीर-नामकर्म कहते हैं। इसी से सम्बद्ध तैजसशरीरबन्धन, तैजसशरीरसंघातनाम है।

तैजस्-समुद्घात–जीवों के अनुग्रह-निग्रह करने में समर्थ तैजसशरीर के कारणभूत समुद्घात को तैजस्-समुद्घात कहते हैं। ये दो प्रकार का होता है–शुभ तैजस्-समुद्घात तथा अशुभ तैजस्-समुद्घात।

तिर्यञ्चायु–जिस कर्म के उदय से शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि के अनेक उपद्रवों के सहन करने वाले तिर्यंचों में रहना पड़ता है, उसे तैर्यग्योन या तिर्यञ्चायु कहते हैं।

त्याग–(I) समस्त पदार्थों के प्रति मोह छोड़ कर संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्ति का चिन्तन करना। (II) आहार, शरीर और उपधि के प्रति होने वाले भावदोषों का परित्याग करना त्यागधर्म है।

त्रस–त्रस-नामकर्म के उदय से जो जीव स्वतः हलन-चलन करते हैं, त्रास पाते हैं, वे इस प्रकार हैं–अण्डज, पोतज, रसज, संस्वेदज, जरायुज आदि। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसजीवों में परिगणित होते हैं।

त्रस-नाम–जिस नामकर्म के उदय से द्वीन्द्रिय आदि में जन्म होता है, स्वतः चलन-स्पंदन होता है, जो कर्म त्रसभाव (त्रसपर्याय) को उत्पन्न करने वाला है, वह त्रस-नामकर्म है।

त्रीन्द्रिय जीव–स्पर्शन, रसना और घ्राण, इन त्रीन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा शेष इन्द्रियावरण और नोइन्द्रियावरण कर्म का उदय होने पर जो जीव स्पर्श, रस और गन्ध को जानते हैं, वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

त्रीन्द्रिय जाति-नाम–जिस कर्म के उदय से जीवों की त्रीन्द्रिय अवस्था से समानता होती है, उसे त्रीन्द्रिय जाति-नामकर्म कहते हैं।

त्रिस्थान-बन्धक–असातावेदनीय के अनुभाग को श्रेणी के आकार से स्थापित कर चार भाग करने पर प्रथम स्थान नीम के समान, दूसरा कांजीर के समान, तीसरा विष के समान और चौथा हलाहल के समान है। इन चार स्थानों में से तीन स्थान जिस अनुभाग-बन्ध में होते हैं, वह त्रिस्थान (तीन ठाणिया) बन्ध और उसके बन्धक को त्रिस्थान-बन्धक कहते हैं।

(द)

दन्तवाणिज्य–(I) हाथीदाँत या दूसरे पशुओं के दाँत का व्यवसाय करना। (II) दंत, केश, नख, खाल, हड्डी, रोम आदि अवयवों का व्यवसाय करना भी दन्तवाणिज्य है।

दम–(I) इष्ट-अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करना दम (संयम) है। (II) इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना भी दम है। इसे दमन भी कहते हैं। आत्म-दमन ही श्रेष्ठ है, पर-दमन नहीं।

दया–प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करना, उनके दुःखों को देख कर स्वयं दुःखानुभव करना दया है।

दशविध श्रमणधर्म–क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस प्रकार का संवर-निर्जरा-कारणक दस प्रकार का उत्तमधर्म श्रमणधर्म है।

दर्प–(I) बलकृत अहंकार का नाम दर्प है। (II) निष्प्रयोजन उछल-कूद कर, युद्धादि करके या लड़-भिड़ कर स्व-बल-प्रदर्शन करना दर्प है।

दर्पिका–विना किसी गाढ़ कारण के, अकुशल परिणाम से, प्रमादपूर्वक, अविरति आदि भाव से अपवादमार्ग का सेवन करना दर्प-प्रतिसेवना या दर्पिका है।

दर्शन (सम्यग्दर्शन, श्रद्धा)–(I) देव, गुरु और धर्म के प्रति, अथवा आप्त, आगम और (नौ) पदार्थों के प्रति श्रद्धा, रुचि (व्यवहार) सम्यग्दर्शन है। (II) इसी प्रकार "तत्त्वभूत (नौ या सात) पदार्थों के प्रति श्रद्धान, रुचि, प्रत्यय (प्रतीति), श्रद्धा या दर्शन (दृष्टि) सम्यग्दर्शन है। (III) दर्शनविशोधकशास्त्र या सूत्र भी दर्शन कहलाता है। (IV) दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से आविर्भूत तत्त्वार्थश्रद्धानरूप आत्म-परिणामदर्शन है। (V) वस्तु का याथात्म्य श्रद्धान दर्शन है।

दर्शन (उपयोग)–(I) वस्तु का सामान्य ग्रहण करना दर्शन है। (II) अनाकार बोध दर्शन है। (III) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो निराकार आलोचन मात्र आविर्भूत होता है, उसका नाम दर्शन है। (IV) निश्चय से आत्म-विषयक उपयोग दर्शन है।

दर्शनमोह = दर्शनमोहनीय–(I) जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन को मोहित कर देता है, वह दर्शनमोह है। (II) दर्शनमोह का उदय होने पर निश्चय से शुद्ध आत्मा के प्रति रुचि से रहित तथा व्यवहार रत्नत्रय एवं तत्त्वार्थ के प्रति रुचि से रहित जो विपरीताभिनिवेशरूप परिणाम होता है, वह दर्शनमोह कहलाता है। इसके तीन प्रकार हैं–सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय।

दर्शनविनय–(I) चूँकि आगमों में कहा है–आप्त (जिन) प्ररूपित पदार्थों का स्वरूप अन्यथा हो नहीं सकता। अतएव निःशंकित आदि सम्यक्त्व के आठ अंगों सहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना दर्शनविनय है। (II) तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन के प्रति तथा निश्चय-व्यवहार-सम्यक्त्व के प्रति निःशंकितादि दोषरहित रहना, या स्व-स्वरूप–शुद्ध-बुद्ध-एकमात्र आत्मा में श्रद्धा, रुचि रखना दर्शनविनय है।

दर्शनविशुद्धि–(I) दर्शन यानी सम्यग्दर्शन, उसकी विशुद्धता अर्थात् तीन प्रकार की मूढ़ता, अष्टमद तथा अष्टमल से रहित सम्यग्दर्शन का भाव दर्शनविशुद्धता है। (II) जिनेन्द्रदेवप्ररूपित निर्ग्रन्थतारूप मोक्षमार्ग के विषय में रुचि होना दर्शनविशुद्धि है।

दर्शनसमाधि–धर्मध्यानादि के आश्रय से जीव का मोक्ष या मोक्षमार्ग में अपने आपको स्थित कर देना समाधि है। जिसका अन्तःकरण जिनागमरूप दर्शन में समाधिस्थ हो चुका है, वह दर्शनसमाधि से युक्त है।

दर्शनाचार–निःशंकिता, निष्कांक्षितता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, इन आठ अंगों से युक्त सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का पालन करना दर्शनाचार है।

दर्शनावरणीय = दर्शनावरण–(I) दर्शनगुण के आवरक कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। (II) जो कर्म पदार्थ के सामान्य ज्ञान या अवलोकन में–दर्शन में बाधक हो, वह दर्शनावरणीय कर्म है। इसके नौ भेद हैं।

दर्शनार्य–सम्यग्दर्शन से सम्पन्न आर्य (हेय धर्मों से निवृत्त, अथवा गुणीजनों द्वारा आदरणीय, सेव्य) दर्शनार्य कहलाते हैं। दर्शनार्य–आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि आदि के भेद से दस प्रकार के हैं।

दर्शनोपयोग–अन्तरंग = आत्म-विषयक-उपयोग का नाम दर्शनोपयोग है।

दर्शनमार्गणा–वस्तु के सामान्य अंश को जानने-देखने वाले चेतना-शक्ति के उपयोग या व्यापार के विषय के निमित्त से जीवों की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक भिन्नताओं का सर्वेक्षण करना दर्शनमार्गणा है।

दंश-मशक-परीषह-जय–डांस, मच्छर, पिस्सू, खटमल, मधुमक्खी, कीट, चींटी, बिच्छू आदि के द्वारा की हुई बाधा को बिना किसी प्रतीकार के सहते हुए उनको मन-वचन-काया से पीड़ा न पहुँचाना दंश-मशक-परीषह-जय है।

दान–स्व-परानुग्रह बुद्धि से स्वद्रव्य-समूह का पात्र में त्याग (विसर्जन) करना दान है।

दाता–भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, संतोष, विज्ञान (विवेक), अलोभ और क्षमा, इन सात गुणों से युक्त, नवधाभक्ति से समन्वित दान देने वाला व्यक्ति (यथार्थ) दाता है।

दातृविशेष (विशिष्ट दाता)–पात्र के विषय में असूयारहित, क्षमाशील, प्रसन्नचित्त, त्याग में अखिन्न, आदरबुद्धि, दान देने की तीव्रता, वर्तमानकालीन तथा भूतकालीन दाता के प्रति अनुरागी, कर्मक्षयदृष्टि, सांसारिक फलाकांक्षा से रहित, निष्कपट और निर्निदान दाता, विशिष्ट दाता माना गया है।

दानान्तराय–(I) जिस कर्म के उदय से योग्य (दातव्य) वस्तु तथा पात्र-विशेष के उपस्थित रहने पर भी तथा दान के फल को जानते हुए भी देने का उत्साह नहीं होता, उसे दानान्तराय कहते हैं। (II) जो कर्म दान देने में विघ्न करता है, वह दानान्तराय है।

दान्त–इन्द्रिय और मन को वश में रखने वाला पुरुष।

दाक्षिण्य–गम्भीरता और धीरता को धारण करके जो दूसरों के कार्यों में मात्सर्यरहित हो कर निर्मल अभिप्राय से उत्तम उदार प्रयत्न किया जाता है, उसे दाक्षिण्य गुण कहते हैं।

दीपक-सम्यक्त्व–जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होते हुए भी धर्मकथा आदि के द्वारा दूसरों के सम्यक्त्व को दीप्त = प्रकाशित करता है, उसे कारण में कार्य के उपचार से दीपक-सम्यक्त्व कहा जाता है।

दुरभिगन्ध-नाम–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल दुर्गन्धयुक्त होते हैं, उसे दुरभिगन्ध या दुर्गन्ध-नामकर्म कहते हैं।

दुर्ध्यान–जो ध्यान विकृत है, अनिष्ट है, अभीष्ट नहीं है, ऐसे ध्यान को दुर्ध्यान कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं–आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। इसे अपध्यान या अशुभ ध्यान भी कहते हैं।

दुष्पक्वाहार–ठीक से न पके, अधपके या अधिक पक कर जले हुए आहार का नाम दुष्पक्वाहार है। यह श्रावक के सातवें उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत का अतिचार है।

दुष्प्रतिलेखन = दुष्प्रत्युपेक्षण–भलीभाँति देखे और पूंजे बिना उक्त भूमि पर गमनागमन, शयन आदि करना, अपना शय्या-संस्तर बिछाना, मल-मूत्रादि का परिष्ठापन करना, जिससे जीवों का विघात हो, उन्हें पीड़ा पहुँचे इसका नाम दुष्प्रतिलेखन है तथा व्याकुलचित्त या व्यग्रचित्त से देखी गई भूमि पर गमनागमन- शय्यादि करना दुष्प्रत्युप्रेक्षण है। इसे 'दुष्प्रतिलेखाऽसंयम' भी कहते हैं।

दुष्प्रमार्जन–भलीभाँति देखकर प्रमार्जन न करते हुए किसी वस्तु को उठाना, रखना या लेना दुष्प्रमार्जन दोष है। ये तीनों ही पौषधोपवासव्रत के अतिचार हैं।

दुष्प्रयुक्त-कायक्रिया–प्रमत्तसंयत के द्वारा अनेक कर्त्तव्यों, कार्यों, चर्याओं, या प्रवृत्तियों में योगों की दुष्प्रवृत्ति होना दुष्प्रयुक्त-कायक्रिया है।

दुःख–अन्तरंग में असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर बाह्य सजीव-निर्जीव पदार्थों का निमित्त या संयोग मिलने पर चित्त में परिताप (पीड़ा) का अनुभव (वेदन) होना दुःख है। एक दुःख समाप्त हुआ नहीं कि दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है, इस प्रकार पर-वस्तु के संयोग (आसक्तिपूर्वक संयोग) से दुःख-परम्परा बढ़ती है।

दुषम-दुषमा–अवसर्पिणी काल का छठा आरा, जो इक्कीस हजार वर्ष का है।

दुषमा–इसी कालचक्र का पंचम आरा, जो इक्कीस हजार वर्ष का है।

दुषम-सुषमा–४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल इस आरे का होता है।

दुःस्वर-नाम–जिस कर्म के उदय से सुस्वर के विपरीत गधे या ऊँट के समान अमनोज्ञ स्वर उत्पन्न होता है, वह।

दुर्भग-नाम–जिस कर्म के उदय से जीव सौभाग्य के विपरीत दुर्भाग्य से ग्रस्त रहे, वहाँ दुर्भग-नामकर्म है।

दृष्टिराग–३६३ प्रवादियों का अपने-अपने दर्शन-विषयक जो राग होता है, एकान्तरूप से हठाग्रह होता है, उसे दृष्टिराग कहते हैं।

दृष्टिवाद–जिसमें क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, विनयवादियों के ३२, अज्ञानवादियों के ६७; यों कुल ३६३ दृष्टियों की प्ररूपणा और उनका निग्रह किया जाए, उसे दृष्टिवाद कहते हैं।

दृष्टिमूढ़–मिथ्यात्व के कारण जिसका ज्ञान आवृत हो जाता है, फलतः जानता तो है, परन्तु सम्यक् नहीं जान पाता, बहुत-सा ज्ञान लुप्त भी हो जाता है, वह दृष्टिमूढ़ जीव है।

द्रव्यार्थिकनय–(I) जिसका प्रयोजन द्रव्य है, अर्थात् जो द्रव्य (सामान्य) को विषय करता है, वह। (II) जो विविध पर्यायों को भूतकाल में प्राप्त कर चुका है, वर्तमान में प्राप्त करता है और भविष्य में प्राप्त करेगा, उसे द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय है।

द्रव्यास्रव–(I) आत्मा में समवाय को प्राप्त हुए जो कर्म-पुद्गल रागादि परिणामरूप से अभी उदय को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। (II) ज्ञानावरणीयादि कर्मों के योग्य पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय–पुद्गलों के द्वारा जो बाहरी आकार की रचना (निर्वृत्ति) होती है, उसे तथा कदम्ब-पुष्प आदि के आकार से युक्त उपकरण (ज्ञान-प्राप्ति के साधन) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

द्विचरम–जो जीव विजयादि विमानों से च्युत होते हुए दो बार मनुष्य-जन्म ले कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं, वे।

द्वीन्द्रियजाति-नाम–जिस कर्म के उदय से जीवों के द्वीन्द्रियरूप से समानता होती है, उसे द्वीन्द्रिय जाति-नामकर्म कहते हैं।

द्वीन्द्रिय जीव–जो जीव स्पर्शन-रसन-ज्ञानावरण के क्षयोपशम के स्पर्श और रस-विषयक ज्ञान से युक्त होते हैं, वे।

द्वेष–(I) द्वेष-वेदनीय कर्म के उदय से जो अप्रीतिरूप परिणाम उत्पन्न होता है, उसे द्वेष कहते हैं। (II) क्रोध, मान (अहंकार), अरति, शोक, जुगुप्सा, घृणा, अरुचि और भय आदि द्वेष के ही रूप हैं।

देशविरत–हिंसादि से आंशिकरूप से विरत, आंशिकरूप से अनिवृत्त श्रावक।

(ध)

धर्म–(I) मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का शुद्ध परिणाम। (II) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म है, अथवा धर्म श्रुत-चारित्रात्मक है, जो जीव का आत्म-परिणाम है, कर्मक्षय का कारण है। (III) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि (प्राप्ति) हो, वह। (IV) वस्तु का स्वभाव धर्म है। (V) मिथ्यात्व-रागादिसंसरणरूप भावसंसार में गिरते हुए प्राणियों का वहाँ से उद्धार करके जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धरता है–स्थापित करता है, वह। (VI) क्षमादि दशविध उत्तमधर्म हैं, जो नीचे गिरते हुए जीवों को उच्चपद पर प्रतिष्ठित करते हैं।

धर्मकथा–(I) सर्वज्ञोक्त अहिंसादि-स्वरूप धर्म का कथन करना। (II) जिससे जीवों का अभ्युदय और निःश्रेयस प्रयोजन सिद्ध हो, ऐसी सद्धर्मनिबद्ध कथा करना धर्मकथा है। (III) स्वाध्याय तप का पाँचवाँ अंग धर्मकथा है।

धर्मतीर्थ–धर्मरूप, रत्नत्रयादि धर्मप्रधान तीर्थ (धर्मसंघ या चातुर्वर्ण्य धर्मसंघ)। ऐसे धर्मप्रधान तीर्थ की स्थापना (प्रवर्तन) करने वाले महापुरुष को धर्मतीर्थंकर कहते हैं।

धर्मदेव–ईर्यासमिति से युक्त होकर, यावत् ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने वाले अनगारों (साधुओं) को धर्मदेव कहा गया है।

धर्मद्रव्य = धर्मास्तिकाय–जो ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ प्रकार के स्पर्श से रहित तथा जीवों और पुद्गलों के गमनागमन आदि में सहायक हो, लोकप्रमाण हो, असंख्यात प्रदेशों वाला हो, उसे धर्मास्तिकाय या धर्मद्रव्य कहते हैं।

धर्मध्यान–(I) आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय (विवेक या विचारणा) के द्वारा बार-बार स्मृति को उसी ओर लगाया जाना, मन को उसी में एकाग्र करना धर्मध्यान है। धर्मध्यान के लक्षण हैं–आर्जव (सरलता), मृदुता, जाति आदि अष्टविध मद का अभाव, लघुता (अभिमानशून्यता या अपरिग्रहवृत्ति) और कषायों की उपशान्ति।

धर्मरुचि–(I) जो जिन-प्रज्ञप्त अस्तिकाय धर्म, श्रुत-चारित्रधर्म आदि पर श्रद्धान करता है, वह धर्मरुचि (सराग) सम्यग्दर्शनी है। (II) धर्मरुचि नामक एक अनगार हुए हैं

जिन्होंने कड़वे तुम्बे का साग उदरस्थ करके जीवों की दया के लिए अपना देह-व्युत्सर्ग कर दिया था।

धर्मानुप्रेक्षा–अहिंसा जिसका लक्षण है, सत्य से जो अधिष्ठित है, विनय जिसका मूल है, क्षमा बल है, ब्रह्मचर्य से जो सुरक्षित है, उपशमनप्रधान है, और जिसका आलम्बन अपरिग्रहता है, इत्यादि रूप जिनोपदिष्ट धर्म है। इसके बिना जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं, और उसे पा कर वे अनेक अभ्युदय के साथ मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार बार-बार अनुचिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

धर्म के प्रकार–(I) उपासनात्मक धर्म–धर्म की केवल उपासना धर्मक्रियादि द्वारा कर लेना आचरण में लाने का कोई विचार न हो, वह। (II) आचरणात्मक धर्म–धर्म के अहिंसादि विविध अंगों का सम्यग्ज्ञान-दर्शनपूर्वक आचरण हो, साथ में यथाशक्य उपासना भी हो। (III) द्रव्यधर्म–भाव = अध्यवसाय परिणाम से रहित धर्मपालन करना, भावधर्म–अध्यवसायों की शुद्धिपूर्वक रत्नत्रयादि धर्म का आचरण। भोगमूलक धर्म–सत्य-अहिंसादि या सामायिक, पौषध, व्रत आदि धर्माचरण फलाकांक्षा, भोगाकांक्षा के निदानपूर्वक करना भोगमूलक धर्म है, जबकि सम्यग्दृष्टि द्वारा निदान तथा फलाकांक्षारहित हो कर कर्मक्षय–कर्मनिरोध की दृष्टि से संवर-निर्जरायुक्त धर्म का आचरण मोक्षमूलक धर्म है।

धर्म-भ्रान्ति–शुद्ध धर्म और पुण्य को एक समझने से धर्म-भ्रम या धर्म-भ्रान्ति होती है। धर्म कर्मक्षय या कर्मनिरोध का कारण है, पुण्य संसार का मार्ग है, शुभ कर्मों के आस्रव और बंध का कारण है।

धर्ममूढ़ता–कट्टरता, साम्प्रदायिकतावश दूसरे धर्म-सम्प्रदायों की निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष करना, अपने धर्म-सम्प्रदायों की झूठी प्रशंसा करना, धर्म के नाम पर हिंसा, झूठ, व्यभिचार, पशुबलि, नरबलि, अन्ध-विश्वास, खोटे रीति-रिवाज आदि चलाना धर्ममूढ़ता है।

धर्मास्तिकाय देश-प्रदेश–धर्मद्रव्य के बुद्धि से कल्पित दो आदि प्रदेशस्वरूप विभाग को धर्मास्तिकाय-देश कहते हैं। इसी के निर्विभागी अंशों को धर्मास्तिकाय- प्रदेश कहते हैं।

धारणा–(I) अवाय से जाने हुए पदार्थ (गृहीत पदार्थ) को कालान्तर में नहीं भूलने का जो कारण (स्मृति-हेतु) है, वह धारणा है। (II) विषय के अनुसार प्रतिपत्ति–गृहीत अर्थ-विषयक उपयोग के अविनाश, मति में अवस्थान, अन्यत्र उपयोग जाने पर लब्धिरूप में धारणारूप मति की विद्यमानता और अवधारण को धारणा कहते हैं। (III) धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा, प्रतिष्ठा और धारण, ये सब समानार्थक शब्द हैं। (IV) मतिज्ञान का एक भेद।

धारणावरणीय कर्म–इस धारणारूप मतिज्ञान का आच्छादन करने वाला कर्म धारणावरणीय कर्म है।

धारणा-व्यवहार–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुष-प्रतिसेवना के विषय में अवलोकन करके भवभीरु गीतार्थ (आगमों या छेदसूत्रों के विज्ञों या आचार्य के द्वारा

जिस अपराध के होने पर जो प्रायश्चित्त दिया गया है, तदनुसार विचार करके जो उक्त द्रव्यादि के आश्रित वैसे अपराध के होने पर वही प्रायश्चित्त दिया जाये या दिया जाना चाहिए, इसका नाम धारणा-व्यवहार है।

धार्मिक और धर्मानुयायी में अन्तर–श्रुतचारित्रधर्म को जो जीवन में आचरित करता है, उपासनात्मक धर्म को शेष जीवन-व्यवहार में क्रियान्वित करता है, वह सच्चा धार्मिक है, उसमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं होती। हठाग्रह-पूर्वाग्रह नहीं होता, वह आत्मशुद्धि-साधनलक्षी धर्म को जीवन में आचरित करता है, परन्तु धर्मानुयायी केवल उस धर्म-सम्प्रदाय का सदस्य होता है, कदाचित् सामायिक, प्रतिक्रमण आदि उपासनात्मक धर्म क्रियाकाण्ड कर लेता है, उसके जीवन में अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, समता, अनेकान्त और दया आदि प्रायः नहीं होते। उसमें साम्प्रदायिक कट्टरता होती है, पंथवादी सम्यक्त्वधारी होता है वह। उसमें धर्मान्धता भी होती है।

धूमदोष–आहार का परिभोग करते समय भिक्षा में प्राप्त आहार की निन्दा, दाता की निन्दा, आहार के प्रति घृणा, अरुचि दिखाते हुए आहार-सेवन करना धूमदोष नामक परिभोगैषणा के ५ दोषों में से एक है।

धृति–मोक्षप्रापक धर्म की भूमिका का एक कारण है–धृति = धैर्य। मन में एकाग्रता, चित्त में स्वस्थता, समाधि, मन का प्रणिधान, ये सब धृति के पर्यायवाचक हैं।

धृतिमान्–संयम में रति या अनुराग करने वाला धृतिमान् कहलाता है।

ध्याता–(I) मैं 'पर' (अन्य) का नहीं हूँ और न ही मेरे 'पर' हैं। मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ। इस प्रकार ध्यान में जो आत्म-चिन्तन करता है, वह यथार्थ ध्याता है। (II) कषायों की कलुषता, मन की आकुलता से रहित हो कर जो विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोक कर स्वभाव में स्थित होता है, वह ध्याता कहलाता है।

ध्यानयोग–चित्तनिरोधलक्षण धर्मध्यानादि में मन-वचन-काया का योग (व्यापार) जोड़ना ध्यानयोग है।

ध्यान–(I) स्थिर अध्यवसाय = आत्म-परिणाम ध्यान है। (II) किसी पदार्थ में एकाग्र होकर यथावस्थित रूप से चिन्तनरूप निरोध करना ध्यान है। (III) अध्यात्मलक्षीदृष्टि से किसी एक विषय में मन को एकाग्र करके चिन्तन में एकतान हो जाना ध्यान है।

ध्येय (ध्यान के विषय = ध्यातव्य)–केवलज्ञानादि रूप अनेक उत्तम गुणों से सम्पन्न वीतराग जिन तथा उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय = ध्यान करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त द्वादश अनुप्रेक्षा, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने की विधि, तेईस वर्गणाएँ, मार्गणाएँ, पंच-परिवर्तन और प्रकृति-स्थिति आदि बन्धभेद भी ध्येय = ध्यातव्य हैं।

ध्रुवस्थान–मोक्ष का एक नाम है–ध्रुवस्थान, क्योंकि वह सदैव शाश्वत स्थान है।

ध्रुवबन्धिनी (प्रकृतियाँ)–जिस कर्मप्रकृति का बन्ध जिस किसी भी जीव में अनादि व ध्रुवरूप से पाया जाता है, उसे ध्रुवबन्ध-प्रकृति कहते हैं। इसके विपरीत कई कर्मप्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी होती हैं।

ध्रुवोदया–जिन कर्मप्रकृतियों का उदय उदित रहने के काल तक नष्ट नहीं होता, उन्हें ध्रुवोदया कर्मप्रकृतियाँ कहते हैं। इसके विपरीत कतिपय प्रकृतियाँ अध्रुवोदया होती हैं।

ध्रुवसत्ताकी–सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व मिथ्यात्वदशा में जो प्रकृतियाँ सदैव सत्ता में विद्यमान रहती हैं, वे। जैसे–अनादि मिथ्यादृष्टि जीव। इसके विपरीत अध्रुवसत्ताकी प्रकृतियाँ हैं, जिनके लिए यह विषय नहीं है कि विच्छेदकाल तक प्रतिसमय सत्ता में ही हो। अतः अध्रुवसत्ताकी कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रह भी सकती हैं, नहीं भी रह सकतीं।

ध्रौव्य–अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा व्यय और उत्पाद संभव न होने से द्रव्य की स्थिरता का नाम ध्रौव्य है।

(न)

नपुंसक–चारित्रमोह के विकल्परूप नोकषाय के भेदभूत नपुंसकवेद और अशुभ नामकर्म के उदय से जो न स्त्री होते हैं, न पुरुष, वे नपुंसक कहे जाते हैं।

नपुंसकवेद–(I) जिस (वेद-नोकषाय कर्म) के उदय से जीव नपुंसक के भावों को प्राप्त होता है, उसे नपुंसकवेद (नौ नोकषाय का एक प्रकार) जानना चाहिए। (II) जिसके उदय से स्त्री और पुरुष के ऊपर नगर के महादाह के समान रागभाव उत्पन्न होता है, उसे नपुंसकवेद जानना चाहिए।

नभ = आकाशास्तिकाय–जो समस्त द्रव्यों का भाजन (आधार) है, तथा जिसका स्वभाव अवकाश देना है, उसे नभ (आकाश) या आकाशास्तिकाय कहते हैं।

नमस्कार–अरहन्त आदि के गुणों में अनुराग रखने वाला जो जीव मन से भक्तिभाव, वचन से स्तुति और काया से पंचांग नमा कर प्रणाम क्रिया करता है, उसे नमस्कार कहते हैं।

नमस्कारमंत्र–नवकारमंत्र–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के स्वरूप, गुण और उनकी आराधना की विधि जान कर उसका मनन करने, जप एवं स्मरण करने से सब प्रकार से त्राण = रक्षण (आत्मा एवं शरीरादि की सुरक्षा) होती है, इस कारण इस महामंत्र को या नवकार या नमस्कार महामंत्र कहते हैं।

नवपद–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये नौ पद प्रत्येक अध्यात्मपिपासु आत्म-विकासेच्छुक भक्त के लिए आराध्य हैं, ध्येय हैं, इनके जाप्य-मंत्र का जाप करने योग्य है।

नवपद-मंत्र–नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, नमो नाणस्स, नमो दंसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स; ये नवपदों के नौ नमस्कारमंत्र हैं। इसकी आराधना-साधना विधिपूर्वक करने से पुण्य तथा संवर-निर्जरारूप धर्म का लाभ होता है।

नमस्कार-पुण्य–पुण्य-उपार्जन के नौ भेदों में से अन्तिम भेद। श्रद्धा-भक्ति, बहुमान एवं समर्पणपूर्वक नमस्कार करने, स्तुति-स्तवन करने, गुणगान करने से, अपने जीवन में उनके गुणों को धारण करने की तीव्र भावना करने से पुण्य-लाभ होता है। उत्कृष्टभाव-रसायन आने से निर्जरा भी हो सकती है।

नय–(I) विविध प्रकार से अर्थ (पदार्थ) विशेष को अपने-अपने अभिप्राय से ग्रहण कराने वाला नय कहलाता है। (II) ज्ञाता के अभिप्राय का युक्ति से अर्थपरिग्रहण कराना नय है। (III) अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अनेक अंशों के प्रति विरोध के बिना एक अंश का विशेषरूप से ज्ञान कराने वाला नय है। (IV) प्रमाण से परिगृहीत अर्थ के एक देश से वस्तु का निश्चय करना नय है। (V) अनेक धर्मात्मक वस्तु के विषय में विरोध न करते हुए हेतु की मुख्यता से साध्य-विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग का नाम नय है। (VI) नय प्रापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, निर्भासक, उपलम्भक और व्यंजक है।

नयगति–नयप्रकार–नैगमादि नयों की गति या प्रयोग को नयगति कहते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत, ये ७ नय हैं। इनको दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं–शब्दनय और अर्थनय। इसी प्रकार व्यवहारनय और निश्चयनय तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय, यों दो-दो प्रकार भी वस्तु-तत्त्व को समझने के लिए राग के किये गये हैं।

नयाभास–(I) यह वहाँ होता है, जहाँ स्व-अभिप्रेत अंश के निरूपण करने के साथ इतर अंश का अपलाप किया जाता है। (II) पारस्परिक अपेक्षा से रहित नैगमादि नयों को नयाभास कहा जाता है। (III) प्रतिपक्ष का निराकरण करने वाले नय को नयाभास कहते हैं।

नरकगति-नामकर्म–जिस अशुभ नामकर्म के उदय से जीव को नारकभाव = नारकपर्याय प्राप्त होती है, उसे नरकगति-नामकर्म कहते हैं।

नरकायु–जो कर्म नारकों को नरक में उद्विग्न होने पर भी नारकपर्याय में धारण करके रखता है–वहाँ रोक कर रखता है, उसे नरकायु कहते हैं। इसे 'नारकायु' भी कहते हैं।

नरदेव–शास्त्रानुसार जो चातुरन्त चक्री चक्ररत्न इत्यादि वैभव से युक्त सम्यक्त्वयुक्त हो उसे नरश्रेष्ठों को नरदेव कहा गया है।

नाम-कर्म–जो स्व-स्वकर्मानुसार जीव को नमाता–नम्रीभूत करता है, वह नामकर्म है, अर्थात् प्राणियों को गति, जाति आदि के अभिमुख करता है–प्राप्त कराता है, वह नामकर्म है। इसके मुख्य दो प्रकार हैं–शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म।

नाम-निक्षेप–नाम के अनुरूप वस्तु में वैसा गुण न होने पर व्यवहार के लिए पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाये, उसे नाम-निक्षेप कहते हैं।

नास्तिक = मिथ्यादृष्टि–(I) जो यथार्थ देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा-प्रतीति, रुचि नहीं रखता, उन्हें नहीं मानता, वह नास्तिक है। (II) जो आत्मा, परमात्मा,

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, नौ तत्त्व, कर्म-कर्मफल-कर्मबन्ध-कर्ममुक्ति आदि को नहीं मानता, वह भी नास्तिक या मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्वी होता है।

निकाय–(I) नित्य काय या अधिक काय का नाम निकाय है। पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर हैं, वे अपने जातिगत (एकेन्द्रिय जातिगत) अन्य भेदों के प्रक्षेप की अपेक्षा से निकाय कहलाते हैं। जैसे–षड्जीव-निकाय। अपने भेदों की अपेक्षा से वे काय कहलाते हैं। जैसे–पृथ्वीकाय, अप्काय आदि।

निक्षिप्त-दोष–सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि पर रखा हुआ आहार देने लगे, उस समय ले ले तो निक्षिप्त-दोष लगता है।

निक्षेप–(I) लक्षण और विधान (प्रकार) पूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए जो न्यास–नाम, स्थापना, द्रव्य और भावादि के भेद से विरचना या निक्षेप किया जाये, उसे निक्षेप कहते हैं। (II) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों नयों का विषयभूत जो तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु है, वह निक्षेप है। निक्षेप का प्रयोजन है, वस्तु की व्याख्या यानी विश्लेषण करके यथार्थ-अयथार्थ का संशय दूर करना।

निगोद–वनस्पतिकाय का एक भेद। जो अनन्त जीवों को नियत गो = भूमि, क्षेत्र या आश्रय देता है, ऐसे जीव के प्रकार को निगोद कहते हैं।

निगोद जीव–जो अनन्तानन्त जीवों का साधारणरूप से एक ही शरीर हो, अथवा जो निगोदभाव से या निगोदों में जीते हैं, वे निगोद जीव कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर निगोद होता है, वे भी निगोद शरीर कहलाते हैं।

निग्रह–योगों (मन-वचन-काया के व्यापारों) की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना–उन पर नियंत्रण करना निग्रह या गुप्ति है। सम्यक् प्रकार से योगों के निग्रह को गुप्ति भी कहते हैं।

नित्य–(I) तद्भाव = वस्तु-स्वभाव का विनाश न होना नित्य है। (II) जो वस्तु जिस रूप में पूर्व में देखी गई है, उस रूप का सदा के लिए, उस रूप का सदा बना रहना, यही उस वस्तु की नित्यता है।

नित्यपिण्ड (आहारदोष)–मैं प्रतिदिन इतना आहार दूँगा, आप प्रतिदिन गोचरी के लिए आइए, इस प्रकार कहने पर वचनबद्ध हो कर, निमंत्रित हो कर, उसी गृहस्थ के घर जाना और आहार ग्रहण करना नित्यपिण्ड नामक आहारदोष है।

निंदा–(I) जिस वेदना में अत्यन्त या निश्चितरूप से चित्त दिया जाता है, वह निदा वेदना कहलाती है। (II) सामान्य रूप से चित्त वाली यानी सम्यक् विवेक वाली वेदना को शास्त्रीय भाषा में 'निदा' कहते हैं।

निदान–(I) विषय-सुख की अभिलाषारूप भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके द्वारा नियमित चित्त दिया जाये, वह निदान (नियाणा) है। (II) अपने तप, ब्रह्मचर्य, चारित्र, संयम आदि के फल के बदले अमुक पद, सुख, वस्तु आदि की आगामी भव में प्राप्ति की कामना करना निदान है। इस प्रकार की आकांक्षा से तप, चारित्र आदि खण्डित = भंग हो

जाने से भी इसे निदान कहा गया है। भगवान् महावीर ने औपपातिकसूत्र में ९ प्रकार के निदान बताए हैं।

निद्रा–(I) मद, खेद, पीड़ा, थकान आदि को दूर करने के लिए जो शयन किया जाता है, उसे निद्रा कहते हैं। यह तथा निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला एवं स्त्यानर्द्धि, ये पाँचों दर्शनावरणीय कर्म के भेद हैं। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ये सब प्रकट होती हैं। इनके लक्षण पृथक्-पृथक् हैं।

निधत्त (बन्ध का एक प्रकार)–(I) जिस कर्म का प्रदेशपिण्ड न तो उदयावधि से पूर्व उदय में दिया (उदीरणाकरण किया) जा सके और न अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त किया जा सके, उसे निधत्त या निधत्ति कहते हैं। (II) उद्वर्तना या अपर्वतना करणों को छोड़ कर शेष करणों के अयोग्यरूप से कर्म को व्यवस्थापित किया जाना निधत्तिकरण कहा जाता है।

निकाचित–कर्मों के जिस पिण्ड का न तो उत्कर्षण हो सकता है, न अपकर्षण और न ही अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण और उदीरणाकरण (उदयावली) में प्रविष्ट हो सकता है, वह निकाचितरूप से बद्ध कर्म है। इसे निकाचना, निकाचितकरण या निकाचिता भी कहते हैं।

निन्दा-परपरिवाद-खिंखिणी–(I) दूसरे के दोषों (चाहे सत्य हों या असत्य) को प्रकट करने की इच्छा होना पर-निन्दा है। इसे १८ पापस्थानों में परपरिवाद नाम से गिनाया है। सूत्रकृतांगसूत्र में इसे 'खिंखिणी' भी कहा गया है। किन्तु आत्म-निन्दा पश्चात्ताप का एक प्रकार है, जो प्रायश्चित्त तप का अंग है।

निमित्त-कुशील–व्यंजन, स्वर, अंग-स्फुरण, छिन्न, भौम, लक्षण और स्वप्न, इन आठ प्रकार के निमित्तों का प्रकाशन करके वसति एवं भिक्षादि प्राप्त करना आहार का निमित्तदोष है। इसी से मिलता-जुलता दोष निमित्तपिण्ड है। त्रिकाल-विषयक लाभ-अलाभ आदि कहना निमित्त है। तथैव अंगुष्ठप्रश्न आदि विद्या-विशेष रूप निमित्त को भिक्षा का साधन बनाना निमित्तपिण्ड है।

नियतिवाद–जो जिस समय में, जिससे, जैसे और जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उसी के द्वारा, उसी प्रकार और उसके होगा ही, इस प्रकार के कथन को नियतिवाद कहते हैं।

नियम–(I) नियम से करने योग्य कार्य को नियम कहते हैं। (II) नियमित और परिमित काल के लिए किये गये त्याग-प्रत्याख्यान, सौगन्ध या प्रतिज्ञा को नियम कहते हैं, किन्तु वह सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की वृद्धि में सहायक होना चाहिए। (III) शास्त्रविहित का आचरण करना और शास्त्र में निषिद्ध का परिवर्जन करना भी नियम है।

नियाग–प्रतिदिन आमन्त्रित आहार को ही ग्रहण करना, अनामंत्रित आहार को ग्रहण न करना नियाग नामक आहारदोष है। संयमी साधु के लिए यह अनाचीर्ण है। ५२ अनाचीर्णों में से एक अनाचीर्ण है यह।

निरतिचार–ग्रहण किये हुए व्रतों, महाव्रतों या त्याग-प्रत्याख्यान एवं नियम का अतिचाररहित (निर्दोष) पालन करना।

निरनुकम्प–जो कठोर-हृदय दूसरे को पीड़ा से काँपता हुआ देख कर स्वयं कम्पित नहीं होता, ऐसा निष्ठुर-हृदय निरनुकम्प होता है।

निरनुतापी–'मैंने अकृत्य को–नहीं करने योग्य कार्य को–करके बुरा किया है', इस प्रकार से पश्चात्ताप नहीं करता, वह निरनुतापी होता है।

निरंजन–जिसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, जन्म-मरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, स्थान, ध्यान, पुण्य, पाप, हर्ष, विषाद नहीं है तथा एक भी दोष नहीं है, ऐसे परम शुद्ध आत्म-स्वभाव या परमात्मभाव को निरंजन कहते हैं।

निराकार–जिसके शरीर न होने से हाथ, पैर, नाक, कान आदि अवयवों का आकार-विशेष नहीं होता, वह निराकार, सर्वकर्ममुक्त, सिद्ध-परमात्मा।

निराकार उपयोग–सामान्य-विषयक उपयोग या दर्शन निराकार-उपयोग या अनाकारोपयोग है।

निराकांक्ष–विभिन्न दर्शनों, मतों, विचारधाराओं, मान्यताओं या परम्पराओं के ग्रहणरूप आकांक्षा से रहित सम्यग्दृष्टि।

निरालम्ब ध्यान–ध्यान की जिस अवस्था में न कोई धारणा हो, न किसी मंत्र या पद का उच्चारण या चिन्तन हो, न मन में किसी प्रकार का संकल्प या विकल्प हो, किन्तु अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा रोक कर मुनि जो आत्मस्थ होता है, उस अवस्था को निरालम्ब ध्यान कहते हैं।

निर्ग्रन्थ–बाह्यग्रन्थों (परिग्रह) तथा आभ्यन्तर (मिथ्यात्व आदि) ग्रन्थों से रहित हो, वह। जैनागमों में ५ कोटि के, ५ स्तर के निर्ग्रन्थ बताए गये हैं–पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनमें चतुर्थ कोटि के निर्ग्रन्थ वे हैं, जो वीतराग-छद्मस्थ ईर्यापथ को–योगसंयम को प्राप्त हैं। अथवा लकड़ी द्वारा पानी में खींची गई रेखा के समान जिनका कर्मोदय प्रगट नहीं है, तथा जो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करने वाले हैं। स्नातक कोटि के निर्ग्रन्थ तो अरिहन्त, वीतराग, केवली हैं।

निर्जरा–(I) पूर्वबद्ध कर्मों के प्रदेशपिण्ड का गलना–एक देश से क्षय होना–निर्जरा है। (II) परिपाक के वश अथवा उदीरणा द्वारा या तप-संयमादि द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है। वह दो प्रकार की है–सकाम और अकाम। सकामनिर्जरा सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। सकामनिर्जरा भी दो प्रकार की है–सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। इसके अतिरिक्त भी महानिर्जरा भी बताई गई है, जो श्रमणों और श्रमणोपासकों को तीन-तीन मनोरथों से तथा दशविध वैयावृत्य तप से, वाचनारूप स्वाध्याय आदि से होती है। सम्यग्दृष्टि से ले कर क्षीणमोह गुणस्थान तक के अधिकारियों के क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी प्रशस्त निर्जरा होती है।

निर्जरानुप्रेक्षा–पूर्वोक्त प्रकार की निर्जराओं का एकाग्रतापूर्वक बार-बार शास्त्रानुसार–चिन्तन-मनन करना, सकाम और अविपाक निर्जरा के उपायों और अवसरों का चिन्तन

और उपयोग करना निर्जरानुप्रेक्षा है। बाह्याभ्यन्तर तप, परीषह और उपसर्गों को समभाव से सहन करने का विचार करना भी निर्जरानुप्रेक्षा है।

निर्जराभाव–तीव्रता या मन्दता को प्राप्त जीव–परिणामों के द्वारा असंख्यातगुणित श्रेणी के क्रम से जो कर्म आत्मा से पृथक् होते हैं, उनकी इस पृथक्ता का नाम निर्जराभाव है। अथवा कर्मों की इस पृथक्ता से जीव का जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसे भी निर्जराभाव जानना चाहिए।

निर्माण-नामकर्म–(I) जिस कर्म के उदय से अपनी-अपनी जाति के अनुसार अंग-उपांगों का निवेश (स्थापना या रचना) होता है उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं। (II) जो कर्म जाति-विशेषानुसार स्त्री-पुरुषादि के लिंग और आकार का नियामक है, वह भी निर्माण-नामकर्म है।

निर्यापक–(I) दीक्षादाता गुरु के अतिरिक्त ऐसा श्रमण जो देश और सर्वविरतिरूप दोनों ही प्रकार के व्रतों में भंग (छेद) होने पर व्रतारोपण करता है, वह। (II) अथवा जो कल्प्य-अकल्प्य आहार-पानी की परीक्षा में कुशल, संलेखना-संथारा के समय समाधि उत्पन्न कराने में–आराधक के चित्त को स्वस्थ व आत्म-समाधिस्थ रखने में कुशल होते हैं, तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थों (छेदसूत्रों) के सरहस्य सूत्रार्थ ज्ञाता होते हैं, वे निर्यापक श्रमण होते हैं।

निर्लांछन कर्म–श्रावक के लिए वर्जित १५ कर्मादानों (खरकर्मों) में से एक कर्मादान। बैल, घोड़े आदि की नासिका को बींधना, गाय घोड़े आदि को गर्म लोह-शूलाका से दागना (चिह्नित करना), बैल, घोड़े आदि को बधिया (खस्सी) करना, ऊँटों की पीठ का गालना इत्यादि कर्म (व्यवसाय या धन्धे) निर्लांछन कर्म हैं। यह कर्मादानरूप व्यवसाय श्रावक के लिए सर्वथा वर्ज्य है।

निर्वाण–(I) परतंत्रता से निवृत्ति अथवा शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि को निर्वाण कहते हैं। (II) जहाँ राग-द्वेष से संतप्त प्राणी सर्वकर्ममुक्त तथा जन्म-मरण-शरीरादि से मुक्त हो कर परम शान्ति पाते हैं, उसका नाम निर्वाण है। इसे निर्वृत्ति भी कहते हैं।

निर्वाण-मार्ग–सर्वकर्मक्षय से जो आत्यन्तिक सुख-शान्ति प्राप्त होती है, उसका नाम निर्वाण है, इस निर्वाण के सम्यग्दर्शनादि मार्ग को निर्वाण-मार्ग कहते हैं।

निर्वाण-सुख–सांसारिक-सुख का अतिक्रमण करके जो एकान्तिक, आत्यन्तिक-अविनश्वर (शाश्वत), अनुपम, नित्य और निरतिशय सुख (आनन्द) है, वह निर्वाण-सुख कहलाता है।

निर्विचिकित्सा–(I) युक्ति और आगम से संगत अर्थ के विषय में भी मतिविभ्रमवश फल के प्रति संदेह करना विचिकित्सा है। सम्यग्दृष्टि द्वारा इस प्रकार की विचिकित्सा न करना निर्विचिकित्सा है। (II) इस प्रकार जो निर्विचिकित्सारूप सम्यक्त्व के अंगयुक्त हो, वह निर्विचिकित्सक कहलाता है। (III) श्रमण-श्रमणियों के रत्नत्रय से पवित्र व्यक्तित्व को देख कर काया तो स्वभावतः अशुचिमय है, इस प्रकार उन त्यागीजनों के प्रति जुगुप्सा न करके गुणों के प्रति प्रीति रखना भी निर्विचिकित्सा = निर्जुगुप्सा है। यह सम्यक्त्व के ८ अंगों में से एक अंग है।

निर्वेद–संसार, शरीर और इन्द्रियों के विषयभोगों के प्रति विरक्ति, वैराग्य या उपरति को निर्वेद कहते हैं।

निर्वेदनी कथा–(I) संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कथा है। (II) इहलोक-परलोक में पापकर्मों के अशुभ फल का कथन करने वाली, अथवा भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होने से पुण्यफल-प्राप्तिकारिणी कथा निर्वेदनी कथा है।

निर्हारिम (पादपोपगमन संथारा)–जो समाधिमरण वसति के एक देश में किया जाता है, वहाँ से उसके निर्जीव शरीर का निर्हरण (निःसारण) किया जाता है, इस कारण इस संथारे की निर्हारिम संज्ञा है।

निवृत्ति (बादर) गुणस्थान–बादर कषाय से युक्त होते हुए अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रविष्ट जीवों के परिणाम परस्पर निवर्तमान होते हैं। अतः इस गुणस्थान को निवृत्ति (बादर) गुणस्थान कहते हैं।

निश्चयचारित्र–औपाधिक रागादि विकल्पों से रहित स्वाभाविक (अनाकुलतारूप) सुख के स्वाद से जो चित्त की स्थिरता होती है, इसका नाम वीतरागचारित्र या यथाख्यातचारित्र है।

निश्चय ज्ञान–समस्त शुभाशुभ विकल्पों-संकल्पों से रहित परमानन्दरूप आत्मा के स्वरूप का वेदन करना।

निश्चय तपश्चरणाचार–समस्त परद्रव्यों की इच्छाओं को रोक कर अनशनादि बारह प्रकार के तपों को तपते हुए आत्म-स्वरूप में तपन को निश्चय तपश्चरणाचार कहते हैं।

निश्चय दर्शनाचार–द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि समस्त परद्रव्यों से भिन्न उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यग्दर्शन में आचरण करना।

निश्चयनय–शुद्ध द्रव्य के निरूपण करने वाले नय को निश्चयनय या शुद्ध नय कहते हैं।

निश्चय वीर्याचार–निश्चय दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार की रक्षा के लिए अपनी शक्ति को नहीं छिपाना निश्चय वीर्याचार है।

निषद्या-परीषह-विजय–साधक द्वारा भयानक स्थानों (सूने घर, पर्वत, गुफा, गह्वर, एकान्त स्थान, अपरिचित स्थान आदि) में रहते हुए सूर्य-प्रकाश और इन्द्रियजन्य ज्ञान से परीक्षित प्रतिलेखित स्थान में नियमकृत्य करना, आसन में स्थित रहना, भयादिजनक शब्द सुनकर विचलित–भयभीत न होना, देव-मनुष्य-तिर्यंच-प्रकृति-कृत उपसर्ग सहते हुए मोक्षमार्ग में स्थिर रहना निषद्या-परीषह-विजय है।

निषेक–(I) एक साथ जितने कर्मपुद्गल जिस रूप में भोगे जाते हैं, उस रूप रचना का नाम निषेक है। (II) विवक्षित कर्म की स्थिति में से उसके अबाधाकाल को घटा देने पर शेष रही स्थिति-प्रमाण उसका निषेक (रचना) प्रत्येक समय में उदय में आने वाला कर्मस्कन्ध होता है।

निसर्ग–(I) निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। वह क्वचित् सम्यग्दर्शन का हेतु होता है। (II) निसर्ग-अधिकरण है–मन, वचन और काया से प्रवृत्ति करना। (III) निसर्ग का एक अर्थ–छूट जाना भी है। अपूर्वकरण परिणाम के अनन्तर जो तत्त्वश्रद्धा का कारणभूत अनिवृत्तिकरण होता है, उसे भी निसर्ग कहते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने पर वह छूट ही जाता है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन–बाह्यपुरुष के उपदेश के बिना जीवादि पदार्थों का अधिगम होना–सम्यग्दर्शन का उत्पन्न होना–निसर्गज सम्यग्दर्शन है।

निह्नव–ज्ञान या ज्ञानी का, या जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका नाम छिपाना, अपलाप करना निह्नव है। यह ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म का एक कारण भी है।

निःशंक–निःशंकित–(I) आप्त-प्रज्ञप्त आगमों तथा अतीन्द्रिय विषयों में किसी प्रकार की शंका न होना, जो जिन भगवन्तों ने कहा है, प्ररूपित किया, वही सत्य है। आप्त-पुरुष असत्यवादी नहीं होते। (II) जो सम्यग्दृष्टि जीव सात प्रकार के भयों से रहित हो चुके हैं, होते हैं, वे निःशंक या निःशंकित हैं।

निःश्रेयस–जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, दुःख और भय से रहित तथा शुद्ध (निराबाध) सुख से युक्त निर्वाण (मोक्ष) को निःश्रेयस कहा जाता है।

निष्क्रमण–(I) बाहर निकलना, निर्गमन। (II) दीक्षा ग्रहण करने के लिए घर से प्रस्थान करना।

निष्कामकर्म–शुभ कर्म भी कामना-नामनारहित हो कर करना, कर्मफल की इच्छारहित, समर्पणवृत्ति से कर्म करना। अहंकाररहित हो कर करना।

निमित्त-नैमित्तिक–(I) किसी कार्य में प्रेरक या तटस्थ अथवा सहायक कारण को निमित्तकारण कहते हैं, उस निमित्त में जो व्यक्ति सहयोगी होता है, वह नैमित्तिक कहलाता है। (II) निमित्तशास्त्र का ज्ञाता भी नैमित्तिक कहलाता है।

निर्विकल्पता–प्रकारता-विशेषणता-संकल्प-विकल्पता से रहित अवस्था निर्विकल्पता है।

नीरजस्क–अष्टविध कर्मरज से रहित सिद्ध-परमात्मा।

नीललेश्या–जो कार्य करने में मन्द, विचारशून्य, विशिष्ट ज्ञान से रहित, विषयलोलुप, अहंकारी, मायाचारी, आलसी हो, जिसका अभिप्राय-ज्ञान दुःशक्य हो, जो परवंचनाकुशल तथा धनधान्य-तीव्राभिलाषी हो, उसे नीललेश्या वाला समझना चाहिए।

नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष–लिंग के बिना–इन्द्रिय आदि की सहायता न ले कर जीव को जो स्वतः अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, या केवलज्ञान होता है, उसे नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन तीनों कोटि के ज्ञानों से अतीन्द्रिय ज्ञान या अमुक अवधि तक का ज्ञान होता, परन्तु केवलज्ञान से तीन काल, तीन लोक का ज्ञान होता है।

नोकर्म–कर्मोदयवश जो पुद्गल-परिणाम जीव के सुख-दुःख का कारण होता है, या कर्मों के सुख-दुःखरूप फल भुगवाने में सहायक होता है, वह नोकर्म है। ईषत् (किंचित्) कर्मरूप वह नोकर्म औदारिक-शरीरादि-स्वरूप होता है।

नोकषाय-वेदनीय–स्त्रीवेद आदि नोकषायरूप से जिसका वेदन किया जाये, उसे नोकषाय-वेदनीय कहते हैं।

नोसंसार–सयोगीकेवली के चारों गतियों में परिभ्रमणरूप संसार का तो अभाव हो गया है, लेकिन असंसार (पूर्ण मोक्ष) की प्राप्ति अभी नहीं हुई है। अतएव उन्हें ईषत् संसाररूप नोसंसार माना जाता है।

न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान–जिस नामकर्म के उदय से नाभि से ऊपर के शरीरावयव विशाल हों, किन्तु नाभि से नीचे के अंग छोटे हों, उसको न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान कहते हैं।

न्यासापहार–धरोहर के रूप में स्वर्ण, आभूषण या नकद राशि आदि रखने को न्यास कहते हैं। न्यास (धरोहर) रखी हुई वस्तु का अपहरण, अपलाप कर देना या हड़प जाना, गबन कर देना, न्यासापहार या न्यासापलाप नामक सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

नैष्ठिक श्रावक–जो निष्ठापूर्वक श्रावकधर्म तथा व्रतनियमों का आचरण करता है, वह।

(प)

पंचम अणुव्रत–श्रावक का पाँचवाँ परिग्रह-परिमाणव्रत, जिसमें धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, कुप्य आदि बाह्य परिग्रह की यथाशक्ति मर्यादा की जाती है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक–अप्रत्याख्यानावरण नामक द्वितीय कषाय का क्षयोपशम होने पर स्थावर जीवों की अनिवार्य आवश्यकतावश घात में प्रवृत्त होते हुए भी त्रसजीवों के आकुट्टी की बुद्धि से यथाशक्ति की घात से निवृत्त हो चुका है, उसे पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहा जाता है।

भाव-पंचाग्नि-साधक–काम, क्रोध, मद, लोभ और माया; इन पाँचों अग्नियों = अग्निसम संतापजनक दुर्गुणों को जिस साधक ने शान्त कर दिया है, वह।

पंचांग-नमस्कार–दो हाथ, दो घुटने और मस्तक, इन पाँच अंगों को जमीन से लगा कर नमस्कार करना।

पंचेन्द्रिय–(I) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियों से होने वाले ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो पंचविध विषयों का ज्ञान कर सकते हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं। (II) नारक, मनुष्य और देव तथा संज्ञिपंचेन्द्रिय तिर्यंच, ये पंचेन्द्रिय जीवों की कोटि में आते हैं।

पंचेन्द्रिय जाति-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीवों में पंचेन्द्रिय जाति-स्वरूप से समानता हो, उसे पंचेन्द्रिय जाति-नामकर्म कहते हैं।

पण्डित–(I) जो पाप से डीन यानी दूर रहता है, वह पण्डित है। (II) जो इन्द्रिय और मन के विषयों की आसक्ति से खण्डित (स्खलित) न होता हो, वह पण्डित है। (III) वमन किये हुए भोगों को आसेवन करने के दोष के ज्ञाता पण्डित हैं। (IV) जो आत्मानुभूतिरूप परम समाधि में स्थित होकर शरीर से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा (शुद्ध आत्मा) को जानता है, वह पण्डित = अन्तरात्मा होता है। (V) जिसके पण्डा = सत्-असत्-विवेकशालिनी बुद्धि उत्पन्न हो गई हो, वह पण्डित है।

पण्डितमरण–पण्डितों (विरतों) = संयतों का मरण (समाधिपूर्वक मृत्यु) पण्डितमरण है।

पदस्थध्यान–धर्मध्यान का एक प्रकार। (I) पंचपरमेष्ठियों से सम्बद्ध एक अक्षर या पद का जो जाप किया जाता है, वह। (II) स्वाध्याय, (नवकारादि) मंत्र-पद गुरु या देव की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता होती है, वह पदस्थध्यान है। पवित्र पदों का आलम्बन ले कर जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थध्यान है।

पदानुसारी लब्धि (ऋद्धि)–(I) किसी एक पद को दूसरे से सुन कर आदि, अन्त अथवा मध्य में शेष समस्त ग्रन्थ का जान लेना। (II) जो एक सूत्रपद के द्वारा बहुत से श्रुत का अनुसरण कर लेता है, उसकी इस लब्धि को पदानुसारी लब्धि या ऋद्धि कहते हैं।

पद्मलेश्या–त्यागी, भद्रपरिणामी, पवित्र, सरल व्यवहार करने वाला, क्षमाशील और साधुवर्ग एवं गुरुजनों की भक्ति में निरत व्यक्ति पद्मलेश्या का अधिकारी होता है।

पद्मासन–काय-क्लेश तप का एक साधन। जंघा के मध्य भाग में जहाँ जंघा से संश्लेष = सम्बन्ध होता है, वह पद्मासन कहलाता है।

परकायशस्त्र–वनस्पतिकाय से भिन्न पत्थर, अग्नि आदि (एक स्थावर जीव के लिए दूसरे) परकायशस्त्र कहलाते हैं (द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा)।

परभाव–आत्मा के स्वभाव से भिन्न सजीव-निर्जीव सभी परभाव हैं।

पराघात-नाम–परघात-नाम–(I) जिस नामकर्म के उदय से जीव दूसरों को त्रास देता है, प्रतिघात आदि करता है, उसे पराघात-नामकर्म कहते हैं। (II) जिसके निमित्त से दूसरे के शस्त्र आदि से घात होता है, वह परघात नामकर्म है। (III) जिस कर्म के उदय से शरीर में दूसरे का घात करने वाले पुद्गल (जैसे–सर्प की दाढ़ें आदि) उत्पन्न होते हैं, उसे भी परघात-नामकर्म कहते हैं। (IV) जिस कर्म के उदय से कोई दर्शनमात्र से ही ओजस्वी (दीप्तिमान्) होता है, जिसे देखकर दूसरा (प्रतिपक्षी) पराभूत हो जाता है। (V) अथवा जो सभा में वचनचातुर्य से, आकर्षण से सभ्य जनों को त्रस्त कर देता है, या दूसरों को आघात पहुँचाता है, उसे भी पराघात-नामकर्म कहते हैं।

परा-प्राप्ति–(I) सब कर्मों के नष्ट हो जाने पर जो शुद्ध आत्म-भाव की प्राप्ति होती है, वह। (II) अथवा कर्मजनित औदयिकादि भावों का अभाव हो जाने पर जो प्राप्ति होती है, वह परा-प्राप्ति कहलाती है।

परावर्तमाना (कर्मप्रकृतियाँ)–वे कहलाती हैं, जो दूसरी प्रकृतियों के बन्ध, उदय अथवा बन्धोदय दोनों को रोक कर अपना बन्ध, उदय और बन्धोदय करती हैं। दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र की कुल ९१ कर्मप्रकृतियाँ परावर्तमाना हैं। शेष २९ प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, नाम, अन्तराय और मोहनीय की अपरावर्तमाना हैं, जो दूसरी प्रकृतियों के बन्ध, उदय और बन्धोदय को रोकती नहीं हैं।

परिकर्म–(I) द्रव्य के गुण-विशेष का परिणमन करना। (II) योग्यता को उत्पन्न करना, शरीरादि को संस्कारित करना। इसे व इसके कारणभूत शास्त्र को भी परिकर्म कहा जाता है। (III) जिस ग्रन्थ में गणित-विषयक करणसूत्र उपलब्ध होते हैं, वह भी परिकर्म कहलाता है।

परिगृहीता–(I) जिस स्त्री का स्वामी एक पुरुष होता है, वह। (II) जिसके साथ विधिवत् पाणिग्रहण किया गया है, वह परिगृहीता कहलाती है।

परिग्रह–(I) चेतन और अचेतन वस्तु के प्रति 'यह मेरी है', ऐसी ममता, अहंता, मूर्च्छा रखी जाये, मूर्च्छावश स्वामित्व स्थापित किया जाये, या संगृहीत किया जाये, वह परिग्रह है। (II) संयम-यात्रा के लिए धर्मोपकरण को छोड़ कर अन्य वस्तुओं का स्वीकार करना, उन पर ममत्व रखना परिग्रह है। चेतन-अचेतन बाह्य तथा आभ्यन्तर द्रव्यों के प्रति ममत्व बाह्य परिग्रह है तथा मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रह है। शास्त्र में तीन प्रकार के परिग्रह-स्रोत बताये गये हैं–शरीर, कर्म और उपधि। इन तीनों के प्रति ममता-मूर्च्छा रखना महापरिग्रह है।

परिग्रहक्रिया–विविध उपायों से भोगोपभोग की सामग्री का उपार्जन करना, उनका रक्षण करना और उनमें मूर्च्छा रखना परिग्रहक्रिया है।

परिग्रह-त्याग-महाव्रत–क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य-सुवर्णादि दस प्रकार के बाह्य तथा मिथ्यात्व आदि १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रह (ग्रन्थ) का तीन करण, तीन योग से त्याग करना परिग्रह-त्याग-महाव्रत है।

परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत–दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करना, उससे अधिक में इच्छा न रखना परिग्रह-परिमाणव्रत या इच्छा- परिमाणव्रत भी है।

परदारगमन–अपनी परिगृहीता पत्नी के सिवाय अन्य स्त्री (भले ही वह विधवा हो, कुलटा हो, वेश्या हो, कुँवारी हो) के साथ गमन = सहवास करना परदारगमन है।

पर-निन्दा–दूसरों के विद्यमान, अविद्यमान दोषों को प्रकट करना।

पर-परिवाद–अन्य जनों, धर्म-सम्प्रदायों या जाति-कौमों के व्यक्तियों के बिखरे हुए गुण-दोषों को कहना पर-परिवाद है। अठारह पापस्थानों में से एक पापस्थान है, जिसका साधु-जीवन में कृत-कारित-अनुमोदितरूप से त्याग किया जाता है।

परम भाव जीव (आत्मा)–जीव (आत्मा) का स्वभाव न तो उत्पन्न हुआ है, और न ही कर्मक्षय से प्रादुर्भूत हुआ है, उसे परमभाव से जीव (स्वतः शुद्ध स्वभावी आत्मा) कहा गया है।

परमर्षि–केवलज्ञानी जगद्वेत्ता संयत जीव परमर्षि हैं।

परम व्रत–मोहकर्म का अभाव हो जाने पर शुद्धोपयोगरूप जो चारित्र होता है, उसे निश्चयदृष्टि से परम व्रत कहा गया है।

परम समाधि–वचन के उच्चारण की क्रिया को छोड़ कर = वचनोच्चारण के बिना–वीतरागस्वरूप आत्मा का ध्यान करना परम (निर्विकल्प) समाधि होती है। संयम, नियम और तप के आश्रय से जो धर्मध्यान-शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम समाधि होती है।

परम सुख–जो सुख 'पर' के सम्बन्ध से रहित होता हुआ एकमात्र आत्मारूप उपादान से सिद्ध हुआ (प्रादुर्भूत) है, स्वयं अतिशयवान् है, बाधारहित है, वृद्धि-हानि से रहित है, विषयों से उत्पन्न नहीं है; प्रतिपक्ष-विरहित है, अन्य किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता तथा अनुपम और अपरिमित होता हुआ सदा रहने वाला (शाश्वत) है एवं उत्कृष्ट व अनन्त प्रभाव से युक्त है; वही परम सुख है। वही आत्मा का एक स्वभाव–अनन्त अव्याबाध-सुख अतिशय स्वस्थता-सम्पन्न (परम आनन्द) कहलाता है। ऐसा परम सुख सिद्धात्मा के ही सम्भव है।

परम हंस–जैसे हंस मिले हुए नीर और क्षीर को पृथक् कर देता है, उसी प्रकार जो नीर-क्षीर के समान मिले हुए कर्म और आत्मा की भिन्नता का–भेदविज्ञान का अनुभव करता है, वह परम हंस है, किन्तु जो अग्नि के समान सर्वभक्षक है, वह परम हंस नहीं हो सकता।

परमाणु–जो आदि, मध्य और अन्त से रहित, अप्रदेश (दूसरे प्रदेश से सर्वथा रहित), इन्द्रियों से अग्राह्य, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त मूर्त्त होते हुए भी अविभाज्य हो, (अविभक्त) उसे जिनेन्द्र परमाणु-पुद्गल कहते हैं। यह पुद्गलास्तिकाय का एक अंग है।

परमात्मा–जो सर्वदोषों से रहित हैं, अनन्त ज्ञानादिरूप परम ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर हैं, ऐसे शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहते हैं; वह चिदानन्दमय है, निर्लेप, निष्कल, शुद्ध निर्विकल्प, निर्वाण-प्राप्त सिद्ध-परमात्मा हैं। वे परमार्थभूत अष्टविध शुद्धात्म गुणों से युक्त, अनन्त गुणभाजक सर्वोपाधिरहित परमात्मा हैं। दूसरे- जीवन्मुक्त सशरीरी सयोगीकेवली अरिहन्त परमात्मा हैं–जो केवलज्ञान-दर्शन से युक्त हैं, संसारी जीवों से पर

जिनकी आत्मा है, तथा परा = सर्वोत्कृष्टा अन्तरंग-बहिरंगलक्षणा, अनन्त-चतुष्टयादिरूपा तथा समवसरणादिरूपा मायानी लक्ष्मी जिनके है, वे परम हैं। ऐसे परम आत्मा सयोगीकेवली अर्हन्त परमात्मा हैं।

परमावधिज्ञान–जिस ज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा असंख्यात लोक-प्रमाण संयम के विकल्प हैं, वह परम अवधिज्ञान है। तीर्थंकर भगवान् को जन्म से ही परम अवधिज्ञान होता है।

परलोक–(I) दूसरे भव में जीव के जाने का नाम परलोक है। व्यवहारनय से स्वर्ग, नरक, अपवर्ग आदि को परलोक कहा जाता है। (II) वीतराग-चिदानन्दरूप अनुपम स्वभाव वाले आत्मा का नाम 'पर' है, उसका जो निर्विकल्प समाधि में अवलोकन किया जाता है, उसे भावतः 'परलोक' कहते हैं।

परलोकभय–(I) परभव से सम्बन्धित भय। (II) विजातीय तिर्यंच, देव आदि से मनुष्यों आदि को जो भय होता है, उसे भी परलोकभय कहा गया है। (III) इस प्रकार के दुर्धर अनुष्ठान का परलोक में कुछ विशेष फल होगा या नहीं? इस प्रकार की भीति को भी परलोकभय कहा जाता है।

परलोकभय-निवारण–लोक शाश्वत व एक ही है, जो सबको प्रकट है। शुद्ध चेतन-आत्मा के केवलज्ञानस्वरूप लोक का स्वयं अकेला अवलोकन करता है, उसको छोड़ कर दूसरा कोई तेरा लोक है ही नहीं, तब भला, तुझे उसका भय कहाँ से, कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इस प्रकार (निश्चयनयदृष्टि से) परलोकभय का निवारण करना चाहिए।

परलोकाशंसाप्रयोग–परभव में देवलोक आदि के पाने की इच्छा से व्रत, तप, समाधिमरण संथारा आदि करना परलोकाशंसा प्रयोग है। यह संलेखना-संथाराव्रत का एक अतिचार है।

पर-विवाहकरण–कन्यादान का नाम विवाह है। अपनी सन्तान को छोड़ कर अन्य की सन्तान (पुत्र-पुत्री) का कन्यादान के फल की लिप्सा से अथवा स्नेह के सम्बन्ध से विवाह करना-कराना पर-विवाहकरण है। यह श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

परव्यपदेश–(I) अन्य दाता की देय वस्तु का देना–परव्यपदेश है। (II) इसका दाता दूसरे स्थान पर है, दी जाने वाली भोज्य वस्तु भी मेरी नहीं है, अन्य की है, इस प्रकार साधु-साध्वियों को आहारादि देने में टालमटूल करना, यह वस्तु दूसरे की है, इसलिए नहीं दे सकता, यह कह कर भिक्षा न देना परव्यपदेश है। यह 'अतिथि-संविभागव्रत' का अतिचार है।

पर-समय–(I) जीव के द्वारा ज्ञान-दर्शन-स्वरूप स्वभाव अपना (आत्मा का) है, यह जानते हुए भी, मोहनीय कर्मोदयवश विभाव में उपयोगयुक्त हो कर कर्मजनित रागादि भावों को अपना मानना पर-समय है। (II) अन्य दर्शन, धर्म, मत या परम्परा के सिद्धान्त का नाम भी 'पर-समय' है।

परिग्रहसंज्ञा–विषयभोग की सामग्री के देखने से, उधर उपयोग के जाने से, आसक्ति से और लोभकषाय की उदीरणा से ममत्व-बुद्धिपूर्वक जो परिग्रहविषयक अभिलाषा होती है, उसका नाम परिग्रहसंज्ञा है।

परिणाम–(I) एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना, परिणत होना। (II) धर्मादि द्रव्यों का तथा गुणों का स्वभाव स्वतत्त्व परिणाम है। (III) अध्यवसाय-विशेष का नाम भी परिणाम है। (IV) किसी कार्य के फल या नतीजे को भी परिणाम कहते हैं।

परिणाम-विशुद्ध प्रत्याख्यान–जो प्रत्याख्यान राग-द्वेषरूप चित्तवृत्ति से दूषित न हो, उसे भाव-विशुद्ध अथवा परिणाम-विशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं।

परिभोग–जिस वस्तु को बार-बार भोगा जाये–सेवन किया जाये, वह परिभोग है। उपभोग है–जिसे एक बार भोगकर छोड़ दिया जाये, वह।

परिभोगान्तराय–जिस कर्म के उदय से परिभोग में अन्तराय–विघ्न-बाधाएँ आती हैं, उसे परिभोगान्तराय कर्म कहते हैं।

परिवर्तन–परियट्टण–पर्यटना–स्वाध्याय तप का एक अंग। पठित भावागम का विस्मरण न हो, इसके लिए उसका बार-बार परिशीलन, अभ्यास, गुणन या आवर्तन किया जाये। बार-बार आवृत्ति करना परिवर्तना या पर्यटना है।

परिव्राजक–सब ओर से पापों का वर्जन = परित्याग करते हुए जो गमन करता है या प्रवृत्ति करता है, वह यथार्थ परिव्राजक है।

परिषह = परीषह–(I) आत्म-साधना में उपस्थित अनुकूल-प्रतिकूल, या शारीरिक-मानसिक पीड़ाएँ (बाधाएँ) सही जायें, उसका नाम परिषह है। क्यों सही जायें ? स्वीकृत रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग से–धर्ममार्ग से च्युत-भ्रष्ट-स्खलित न हो जायें इसलिए, तथा ये बाधाएँ–पीड़ाएँ सकामनिर्जरा करने का अवसर देने आई हैं, ऐसा दीर्घदृष्टि से विचार करके मन में आर्तध्यान अथवा संक्लेशयुक्त परिणाम किये बिना, समभाव से, शान्ति से सह लेने से निर्जरा होगी, इसलिए इन्हें सहन करना परीषहजय है। ये परीषह वर्गीकरण की दृष्टि से मुख्यतया २२ हैं–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये २२ प्रकार के परीषह हैं।

परिहार-विशुद्धि-चारित्र–सामूहिक रूप से अमुक अवधि तक तपश्चर्या एवं सेवा (वैयावृत्य) द्वारा आत्म-शुद्धि करने की चारित्र-साधना।

परीत-संसार (संसार-परीत)–जिसका संसार (जन्म-मरणादिरूप संसार) परिमित (सीमित) हो गया है, वह परीत (परित्त) संसार या परीत-संसारी है। जो जिनदेव के वचनों में अनुरक्त होकर भक्तिभावपूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा मिथ्यात्व से विरहित होते हुए असंक्लिष्ट परिणाम वाले हैं, वे परीत-संसारी (परिमित-संसार वाले) होते हैं। परीत-संसार का कालमान–परीत-संसारी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः कुछ कम अर्द्ध-पुद्गल परावर्तनकाल तक संसार में रहता है, तत्पश्चात् अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

परोक्ष–(I) इन्द्रिय, मन, परोपदेश और प्रकाश आदि के निमित्त से होने वाला पदार्थ का ज्ञान परोक्ष कहलाता है। (II) अक्ष यानी जीव की द्रव्य इन्द्रियाँ और मन चूँकि पुद्गल-कृत हैं, अतः वे 'पर' हैं–उससे भिन्न हैं, उनसे जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष कहलाता है। जैसे–अनुमान।

पर्याप्ति–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन की शक्तियों की उत्पत्ति का नाम पर्याप्ति है। वैसे पर्याप्ति वह तभी समझी जाती है, जब उस-उस शक्ति की पर्याप्त निष्पत्ति हो जाती है। पर्याप्ति नामक शक्ति पुद्गल द्रव्य के उपचय से उत्पन्न होती है।

पर्याप्ति-नामकर्म–(I) जिस कर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना हो।

पर्याप्त-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव यथायोग्य चार, पाँच और छह पर्याप्तियाँ पा कर पर्याप्त होते हैं, उसे पर्याप्त या पर्याप्तक-नामकर्म कहा जाता है। (II) अथवा पर्याप्तियों के उत्पादक कर्म को पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय–(I) किसी भी वस्तु की उत्पत्ति और व्यय (विनाश) का नाम पर्याय है। (II) एक ही वस्तु के पर्याय क्रमभावी होते हैं। जैसे–चेतन के सुख-दुःख आदि, अचेतन के कोश, कुशूल आदि। मिट्टी के घड़ा, सुराही, हांडी आदि। (III) इन्द्र के ईन्दन, शकन आदि भावान्तर तथा इन्द्र, शक्र आदि संज्ञान्तरों को पर्याय कहा जाता है।

पर्यायस्थविर–जिसे दीक्षा लिए हुए २० आदि वर्ष हो चुके हैं, उस साधु या साध्वी को पर्यायस्थविर या पर्यायस्थविरा कहते हैं। इसे दीक्षास्थविर भी कहते हैं।

पर्यायार्थिक नय–जिस नय का प्रयोजन पर्याय है, अर्थात् जो पर्याय को विषय करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इसे पर्यायास्तिक नय भी कहते हैं।

पर्युषणकल्प–वर्षाकाल के चार मासों में अन्यत्र गमन न करके एक ही स्थान में रहना, पर्युषणकल्प नामक दसवाँ कल्प, स्थविरकल्पी साधुओं के लिए है।

पात्र–(I) जो ज्ञान और संयम में लीन हैं, जिनकी दृष्टि दूसरी ओर नहीं है, जो एकमात्र आत्मा की ओर ही दृष्टि देते हैं, जितेन्द्रिय हैं, धीर हैं, ऐसे लोक में जो सर्वश्रेष्ठ श्रमण (साधु) हैं, वे पात्र माने गये हैं। (II) जो सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान में सम (राग-द्वेष से रहित) हैं, वे पात्र हैं। इसके तीन प्रकार आचार्यों ने किये हैं–उत्तम सुपात्र–साधुवर्ग, मध्यम पात्र–श्रावकवर्ग और जघन्य पात्र–मार्गानुसारी, साधर्मी या नीतिमान् गृहस्थ। अनुकम्पापात्र भी जघन्यतर पात्र कहा जा सकता है।

पादपोपगमन अनशन–(I) कटा हुआ वृक्ष जैसे बिलकुल हलन-चलन नहीं करता, इसी प्रकार जिस समाधिमरण में वृक्ष के समान शरीर को स्थिर रखा जाता है, शरीर का परिकर्म आदि भी नहीं किया जाता, दूसरे साधक से शुश्रूषा भी नहीं ली जाती, उसे पादपोपगमन संथारा (अनशन) कहते हैं। (II) इसे पादोपगमन मरण भी कहते हैं, जिसका अर्थ किया गया है–पावों से चलकर योग्य देश का आश्रय लेने पर जो मरण होता है।

(III) इसे प्रायोगमन या प्रायोपवेशन भी कहा गया है जिसका अर्थ है–संन्यास के प्रायोग्य अनशन।

पाप–पापकर्म–(I) अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं। (II) आत्मा को जो दुर्गति में गिराता है, पतन कराता है, वह पाप है। (III) अशुभ कर्मप्रकृतियों को पापकर्म कहते हैं। चार घातिकर्म पाप तथा चार अघातिकर्म मिश्र हैं, पुण्य-पाप उभयरूप हैं।

पापकर्म-बन्धक-अबन्धक–जो साधक सूत्राज्ञा के विपरीत, यतना से चलना, बैठना, सोना, खाना-पीना, बोलना आदि प्रवृत्तियाँ नहीं करता, असावधानी से उपयोगरहित प्रवृत्तियाँ करता है, वह पापकर्म को बाँधता है। इसके विपरीत जो यतना से उपयोगसहित, विवेकपूर्वक उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ करता है, उसके पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

पापकर्मोपदेश–बिना ही प्रयोजन के हिंसादि पापकर्मों का उपदेश देना पापकर्म की प्रकृतियाँ कटुक रस वाली हैं, अशुभ हैं।

पाप-जुगुप्सा–निर्मल अन्तःकरण से सतत पाप से उद्विग्न रहना, पाप-जुगुप्सा, पापभीरुता है। तथैव पूर्वकृत पापकर्म के विषय में पश्चात्ताप करना, वर्तमान में पाप न करना तथा भविष्य के लिए पाप का चिन्तन न करना अथवा मन-वचन-काया से पाप-विषयक मनन, वचन-कर्तृत्व न करना भी पाप-जुगुप्सा है।

पाप-श्रमण–जो साधु आचार्य-कुल से सम्बन्ध तोड़ कर स्वच्छन्दरूप से या स्वमति कल्पना से एकाकी विहार करता है, उपदेश ग्रहण नहीं करता, पाँचों ही विकृतियों (विगइयों) का नित्य प्रचुर मात्रा में सेवन करता है, तपश्चरण में अरुचि रखता है, वह पापश्रमण है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष–जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में आत्मा की ही एकमात्र अपेक्षा रखता है, अन्य इन्द्रियादि कारणों की नहीं, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

पारिणामिकभाव–(I) जिस भाव का कारण द्रव्य का आत्म-लाभ मात्र हो, अन्य कोई न हो, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। (II) कथंचित् अवस्थित वस्तु एक अवस्था को छोड़ कर अगली दूसरी अवस्था को प्राप्त होती है, इसे भी परिणाम कहते हैं, इसी को अथवा इससे रचे गये को पारिणामिक कहा जाता है।

पारिणामिकी बुद्धि–(I) आयु के परिपाक के अनुसार जिसका परिणमन होता है, यानी बुद्धि परिपक्वता = अनुभव-वृद्धि को प्राप्त होती है, वह पारिणामिकी बुद्धि है। (II) अथवा अपनी-अपनी विशेष जाति में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह भी पारिणामिकी है।

पार्थिवीधारणा–ध्यानावस्था में मध्यलोक के बराबर क्षीरसागर, उसके मध्य में जम्बूद्वीप-प्रमाण सहस्रपत्रमय स्वर्ण-कमल, उसके पराग-समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरुप्रमाण कर्णिका, उसके ऊपर श्वेतवर्ण के सिंहासन पर स्थित हो कर कर्मों को नष्ट करने में उद्यत आत्मा का चिन्तन करे, यह पार्थिवीधारणा (की प्रक्रिया) है।

पाशस्थ–पाश कहते हैं–बन्धन को। जो साधक बन्धन के हेतुओं–मिथ्यात्वादिरूप पाशों में स्थित है। अर्थात् कर्मबन्ध की प्रवृत्तियों में रचा-पचा रहता है, वह पाशस्थ है।

पिण्ड-प्रकृति–बहुत-सी कर्मप्रकृतियों के समूहरूप प्रकृतियाँ पिण्डप्रकृतियाँ कहलाती हैं। जैसे–त्रसदशक, स्थावरदशक, कषायचतुष्क आदि।

पिण्डस्थध्यान–(I) अपने शरीर मे पुरुषाकार, जो निर्मल गुण वाला जीव प्रदेशों का समुदाय स्थित है, उसका चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है। (II) पिण्ड का अर्थ है–देह। उसमें जो सच्चिदानन्दमय तेजस्वी आत्मा विराजमान है, उसका चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है। (III) अपने पिण्ड में रवि किरणों के समान तेजस्वी, कषायादि कल्मषों का हरण करने वाले जिनेन्द्र का ध्यान करना अथवा अपने भाल के नीचे हृदयप्रदेश में या कण्ठदेश में रविसम तेजस्वी जिनेन्द्र भगवान के रूप का ध्यान करना भी पिण्डस्थध्यान है। अथवा श्वेत चमकीले किरणों को फैलाते हुए अष्टमहाप्रातिहार्य-परिकरित तीर्थंकर भगवान् अपनी देह में या हृदय में स्थित हैं, ऐसा ध्यान करना भी पिण्डस्थध्यान है।

पिपासा-परीषह-जय–मार्ग में स्थित तत्त्वज्ञ साधु प्यास से पीड़ित होने पर भी सचित्त पानी को ग्रहण न करके या ग्रहण करने की इच्छा भी न करके उस पीड़ा को समभाव से सहता है, या अचित्त जल मिलने की प्रतीक्षा करता है, वह तृषापरीषह-विजयी है।

पीहित–सचित्त वनस्पति, जल, बीज, मिट्टी आदि से ढक कर दिया जाने वाला आहारादि लेना या देना पीहित नामक आहारदोष है।

पीतलेश्या–कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विचारक, विद्यावान्, दया का सागर, लाभ-अलाभ में सदा प्रसन्नचित्त जीव के पीतलेश्या (तेजोलेश्या) होती है।

पुण्य–(I) जो आत्मा को पवित्र करता है, अथवा जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है। (II) पुण्य शुभ कर्म को कहते हैं। (III) दानादि क्रियाओं से उपार्जनीय शुभ कर्म पुण्य हैं। (IV) शुभ प्रकृतिस्वरूप परिणत पुद्गल पिण्ड जीवों के लिए आल्हादकर पुण्य है।

पुद्गल–स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध वाले रूपी हों, वे द्रव्य पुद्गल कहलाते हैं। शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप इत्यादि पुद्गल की पर्यायें हैं। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्गल के गुण हैं, लक्षण हैं। स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और अणु, ये सभी पुद्गल के ही विभिन्न रूप हैं।

पुद्गल-परावर्त–(I) तीनों लोकों में स्थित समस्त पुद्गलों को औदारिकादि शरीररूप से ग्रहण कर लेने का नाम पुद्गल-परावर्त है। (II) जब संसार के मध्यगत समस्त पुद्गल औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, भाषा, आनापान, मन और कर्म, इन सात के रूप में आत्मसात् करके परिणमा लिये जाते हैं, तब पुद्गल-परावर्त पूर्ण होता है।

पुद्गल-परिवर्त-संसार–जीव ने पुद्गल-परिवर्तरूप संसार में सभी पुद्गलों को एक बार नहीं, अनन्त बार भोग कर छोड़ा है। यही पुद्गल-परिवर्त-संसार का स्वरूप है।

पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृति–जिन कर्मप्रकृतियों का विपाक पुद्गल से सम्बन्धित है, वे पुद्गलविपाकी हैं। आतप, छह संस्थान, छह संहनन, औदारिकादि तीन शरीर, तीन अंगोपांग, उद्योत, ध्रुवोदयी नाम-प्रकृतियाँ–निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस् व कार्मणशरीर, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, अगुरुलघु, शुभ और अशुभ, ये १२ तथा उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण, इन ३६ (नामकर्म की) प्रकृतियों का विपाक पुद्गलविपयक है, अतएव ये प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं।

पुरुषवेद–पुरुषवेद नामक नोकषाय के उदय से पुरुष को स्त्रीविषयक अभिलाषा होना पुरुषवेद है।

पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय–विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) का निराकरण करके आत्म-तत्त्व का सम्यक् निश्चय करना और उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है। इसी से पुरुषार्थ में सफलता मिलती है।

पुरुषोत्तम (तीर्थंकर भगवान का एक विशेषण)–सर्व प्राणियों के हितैषी होने से जिसने अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त सर्वोत्तम पद प्राप्त कर लिया है, उसे पुरुषोत्तम समझना चाहिए।

पुलाक–जिन महाव्रती साधकों का मन उत्तरगुणों की भावनाओं में तथा मूलगुणों (व्रतों) में भी कहीं, किसी समय परिपूर्णतायुक्त नहीं हो, उनका साधुत्व तण्डुल-कण से शून्य निःसार धान्यवत् निःसार होने से पुलाक कहलाता है। ऐसे पुलाकयुक्त साधक पुलाकनिर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

पृथक्त्ववितर्क-सविचार–पूर्वगत श्रुत का अवलम्बन ले कर तथा किसी एक द्रव्य को ध्यान का विषय बना कर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप भंगों को तथा मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व पर्यायों पर अनेक नयों की अपेक्षा भेद-प्रधान चिन्तन करता हुआ अर्थ, व्यंजन, योग और पर्याय के परस्पर परिवर्तनरूप विचार से युक्त चित्तवृत्ति का बार-बार बदलना आदिरूप ध्यान प्रथम शुक्लध्यान है। पृथक्त्ववितर्क- सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान का ध्याता उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती संयत होता है। वह पूर्वों का ज्ञाता श्रुतकेवली होता है।

पृथ्वीकाय-पृथ्वीकायिक–(I) पृथ्वी ही जिनका शरीर है, वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक जीव होते हैं। (II) जो जीव पृथ्वीकायिक-नामकर्म के उदय से युक्त हो कर पृथ्वी को शरीररूप से ग्रहण किये हुए हैं, वे पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। (III) पृथ्वीकायिक जीव द्वारा जो शरीर छोड़ा जा चुका है, उसे भी पृथ्वीकाय कहा जाता है।

पैशुन्य–पीठ पीछे किसी के दोषों को दूसरे के सामने प्रगट करना, चुगली खाना, गुप्तरूप से किसी के विद्यमान-अविद्यमान दोषों को प्रकट करना पैशुन्य या पिशुनकर्म है। यह अठारह पापस्थानों में से एक पापस्थान है।

प्रकृति–(I) स्वभाव, भेद, शील ये समानार्थक हैं। (II) जो आत्मा के ज्ञान आदि को आवृत आदि करने के कर्म-स्वभाव को अभिव्यक्त करती है, यानी कर्म-स्वभाव की भिन्नता

प्रगट करती है वह कर्म-प्रकृति है। (III) सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति है (सांख्य)।

प्रकृतिबन्ध–(I) तीव्र-मन्द या शुभाशुभरूप विशेषता से रहित इसकी प्रकृति = अनुभाग के स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहा गया है। (II) प्रकृति नाम-स्वभाव का है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की जो ज्ञानादि के आवरणरूप प्रकृति (स्वभाव) है, उसे विभिन्न रूपों में बाँध देना प्रकृतिबन्ध है। विभिन्न कर्मों की स्वभावानुसार छँटनी (Sorting) कर देना प्रकृतिबन्ध का कार्य है।

प्रकृति-संक्रम–(I) जो प्रकृति अन्य प्रकृतिरूपता को प्राप्त कराई जाये। (II) अथवा जब एक कर्म की उत्तरप्रकृति अन्य सजातीय उत्तरप्रकृति में संक्रमण को प्राप्त होती है, उसे प्रकृति-संक्रम कहते हैं। जैसे–असातावेदनीय की सातावेदनीय में, सातावेदनीय की असातावेदनीय में।

प्रकृति-स्थान-संक्रम–दो-तीन आदि प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृति-स्थान कहते हैं। जब एक प्रकृति में बहुत-सी कर्मप्रकृतियाँ संक्रमित होती हैं, जैसे–यशःकीर्ति नाम में शेष नामकर्म-प्रकृतियाँ; तब उसे प्रकृति-स्थान-संक्रम कहा जाता है।

प्रच्छन्न-दोष–जो साधु गुप्तरूप से पूछ कर अपने अपराध की शुद्धि करता है, उसके आलोचना का छठा दोष उत्पन्न होता है।

प्रज्ञापनी भाषा–(I) बहुत-से लोगों को लक्ष्य करके जो धर्मोपदेश दिया जाये, धर्मचर्चा की जाये। (II) अथवा विनम्र शिष्य को उसके हित से प्रेरित हो कर जो उपदेश दिया जाये। (III) अथवा शिष्य के द्वारा पूछने पर उसकी विनति के अनुसार प्रज्ञापना करना प्रज्ञापनी भाषा है। यथा–'जो प्राणिहिंसा से निवृत्त होते हैं, वे आगामी जन्म में दीर्घायु होते हैं।'

प्रज्ञापरीषह–प्रज्ञापरीषह-जय–(I) विशिष्ट ज्ञान के प्राप्त होने पर उससे गर्व को प्राप्त होना प्रज्ञापरीषह है। (II) अथवा बहुत श्रम का अभ्यास करने पर भी ज्ञान का प्राप्त न होना प्रज्ञापरीषह है। प्रथम परिभाषानुसार–ज्ञान प्राप्त होने पर भी ज्ञान का गर्व न करना प्रज्ञापरीषह-जय है। द्वितीय परिभाषानुसार–ज्ञानाभिलाषी होने पर भी प्राप्त न होने पर खिन्न न हो कर अपने कर्मों का दोष समझना प्रज्ञापरीषह-विजय है।

प्रतिकुंचन-माया–आलोचना करते हुए अपने दोष को छिपाना प्रतिकुंचन माया है।

प्रतिक्रमण–(I) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से जो अपराध (दोष) हुए हों, उन्हें निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा से युक्त हो कर मन-वचन-कायपूर्वक शुद्ध करना प्रतिक्रमण है। (II) स्व-स्थान से प्रमादवश पर-स्थान में गये हुए जीव का पुनः स्व-स्थान में = संयम में लौटना प्रतिक्रमण है। (III) प्रमाद एवं कषायवश तथा योगों की चंचलतावश जो भी अपराध (दोष) हुआ हो, उसके लिए 'मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो'; यों पश्चात्तापपूर्वक प्रतीकार प्रगट करना भी प्रतिक्रमण है। (IV) पूर्व में जो शुभ-अशुभ अनेक प्रकार के कर्म किये हैं, उनसे अपने को पृथक् करना, अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के

विपाकरूप शुभाशुभ भावों से आत्मा को पृथक् करना (निश्चयतः) प्रतिक्रमण है, जो आत्म-स्वरूप में अवस्थानरूप ही है।

प्रतिपत्ति–(I) कान लगाकर सावधानी से उपदेश को ग्रहण करना। (II) हितरूप शिक्षा देना और यथावसर अन्नपानादि प्रदान करना। (III) किसी पदार्थ की मीमांसा सुन कर यह ऐसा ही है (तहत्ति, तथेति) इस प्रकार से बोध-स्वीकार या निश्चयात्मक बोध का नाम प्रतिपत्ति है। (IV) जीवादि की मार्गणा का नाम भी प्रतिपत्ति है।

प्रतिपाति–अधःपतन ही जिस ज्ञान या ध्यान का स्वभाव हो, वह प्रतिपाति ज्ञान या ध्यान कहलाता है। जैसे–प्रतिपाति अवधिज्ञान।

प्रतिपृच्छा–(I) कौन-सा महाकार्य करना है, उस विषय में गुरु से सविनय पूछ कर फिर साथी साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है। (II) अथवा पहले निषेध किये हुए कार्य के विषय में प्रयोजनवश पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है। पठित पाठ या सूत्र के विषय में शंका उपस्थित होने पर पृच्छा-प्रतिपृच्छा करना भी स्वाध्याय का एक अंग है।

प्रतिबुद्ध–जो मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी निद्रा के हट जाने से सम्यक्त्व के विकास को प्राप्त कर चुका है, अथवा संसार की अनित्यता से विरक्त हो चुका है, उसे प्रतिबुद्ध कहते हैं।

प्रतिबुद्धजीवी–जिस धैर्यशाली जितेन्द्रिय महापुरुष को स्वहिताहित-विवेकिता एवं प्रवृत्ति करने में सदैव सतत योग-जागृति रहती है, वह प्रतिबुद्धजीवी अप्रमत्तयोगी कहलाता है।

प्रतिमा–ग्रहण किये हुए त्याग, नियम, प्रत्याख्यान को जीवनपर्यन्त स्थिर रखने की प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहते हैं। जैसे–श्रावक की ११ प्रतिमाएँ, तथा भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हैं।

प्रतिरूपक व्यवहार–(I) अच्छी या असली वस्तु ग्राहक को दिखा कर खराब, खोटी या नकली वस्तु दे देना, या धोखाधड़ी करना, या मिलावट करना, ये सब प्रतिरूपक व्यवहार नामक दोष (अतिचार) अचौर्याणुव्रत को मलिन करते हैं।

प्रतिलेखना–(I) आगमानुसार वस्त्रादि उपकरणों को जीवों की दया के लिए देखना। (II) इस प्रकार क्षेत्र की, काल की, भावों की तथा द्रव्य की प्रतिलेखना यानी संयमानुसार विवेकपूर्वक निरीक्षण-परीक्षण करना भी प्रतिलेखना है।

प्रतिश्रोतःपदानुसारी बुद्धि–किसी ग्रन्थ के अन्तिम पद के अर्थ और परिच्छेद को दूसरे से सुन कर अन्तिम पद से ले कर आदि पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में जो साधु कुशल हैं, उनकी उस लब्धि या ऋद्धि का नाम प्रतिश्रोतःपदानुसारी बुद्धि है।

प्रतिसेवना–प्रतिषेवणा–जो आचरण साधुपद के योग्य नहीं हैं, ऐसे अकल्पनीय (अकल्प्य) आचरण का नाम प्रतिसेवना या प्रतिषेवणा है।

परिष्ठापनासमिति–प्रतिष्ठापनसमिति–जो स्थान जीव-जन्तुओं से रहित, निरवद्य हो, निश्छिद्र हो, जहाँ आवागमन न हो, गूढ़ हो, दूसरों की बाधा से रहित स्थान हो, ऐसे प्रासुक स्थान पर मल-मूत्रादि विसर्जन = परिष्ठापन करना (परिठाना) प्रतिष्ठापनसमिति या परिष्ठापनसमिति है। इसका दूसरा नाम उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठार्पानकासमिति भी है।

प्रतिसेवनाकुशील–पंचविध निर्ग्रन्थ का एक प्रकार। जिनकी परिग्रहासक्ति कम नहीं हुई है, यद्यपि वे मूलगुणों–उत्तरगुणों का भलीभाँति पालन करते हैं, फिर भी कथंचित् उत्तरगुणों की विराधना कर देते हैं, ऐसे साधु प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ कोटि के होते हैं। कुशील निर्ग्रन्थ के अन्तर्गत एक कषायकुशील भी होते हैं; जिनके मूल-उत्तरगुणों का पालन बराबर होता है; किन्तु कषायों की मन्दता नहीं होती।

प्रत्यभिज्ञान–परोक्षप्रमाण का एक भेद। 'यह वही है' इत्याकारक ज्ञान को, अथवा यह उसी के सदृश (जैसा) है, इस प्रकार के ज्ञान (प्रमाण) को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

प्रत्यय–जिसके आश्रय से पदार्थ की प्रतीति हो, वह प्रत्यय कहलाता है। जैसे–ज्ञान के विषयभूत घट आदि को प्रत्यय कहा जाता है।

प्रत्याख्यान–(I) आगन्तुक दोषों का परित्याग करना प्रत्याख्यान है। (II) परित्याज्य या स्वेच्छा से त्याग करने की शक्यता वाली वस्तु के प्रति 'परित्याग करता हूँ', इस प्रकार बोल कर प्रत्याख्यान करना प्रत्याख्यान है। (III) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ६ प्रकार के अयोग्यों = पाप के कारणों का वर्तमान एवं भविष्यकाल की अपेक्षा मन-वचन-काया से जो परित्याग किया जाता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। शास्त्र में इसके दो प्रकार भी बताये हैं–सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान-कषाय-प्रत्याख्यानावरणीय कषाय–जो कषायचतुष्क संयम (सर्वविरति = सकलचारित्र) का विघात करते हैं, उन्हें उपर्युक्त नामों से पुकारा जाता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वविरति को आवृत करता है। जिनके उदय से जीव महाव्रतों (सकलचारित्र) का पालन या स्वीकार नहीं कर पाता, उन्हें प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ कहते हैं।

प्रत्येकजीव–(I) मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज, कन्द, स्कन्ध, स्कन्धबीज, बीजरूह (बीज से उत्पन्न होने वाले गेहूँ आदि अनाज) और सम्मूर्च्छिम, ये वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक भी होते हैं और अनन्तकाय (साधारण) भी। प्रत्येक जीव साधारण से भिन्न होते हैं, जिनकी शिरा, सन्धियाँ और पोर आदि प्रकट दीखते हैं। (II) पत्ता, फल, फूल, जड़ और स्कन्ध आदि के आश्रित जो एक-एक जीव रहते हैं, वे प्रत्येक जीव हैं। (III) देव, नारक, मनुष्य, द्वीन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक तिर्यंच, पृथ्वी आदि तथा कैथ आदि वृक्ष; ये सब प्रत्येकजीव माने जाते हैं।

प्रत्येक-नाम-प्रत्येकशरीर-नाम–जिस नामकर्म के उदय से एक जीव के एक ही शरीर की रचना होती है, उसे प्रत्येक-नामकर्म कहते हैं। इसे प्रत्येकशरीर-नामकर्म भी कहा जाता है।

प्रत्येकबुद्ध–बैल, बादल, ध्वजा, स्त्री आदि किसी भी एक बाह्य वस्तु को देख कर उसके आश्रय से संसारविरक्तिरूप प्रबोध को पाते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। जैसे–करकण्डू आदि।

प्रत्येकबुद्ध सिद्ध–प्रत्येकबुद्ध होते हुए जो सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होता है, वह।

प्रथमानुयोग–चरित्र और पुराणरूप श्रुत का नाम प्रथमानुयोग है, जिसमें किसी विशिष्ट पुरुष के आश्रित कथा का नाम चरित्र तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के आश्रित कथा का नाम पुराण है। प्रथमानुयोग को श्वेताम्बर-परम्परा में चरितानुयोग कहा है।

प्रदेशबन्ध–(I) कर्मदलों का संचय होना प्रदेशबन्ध है। (II) योग-विशेष के आश्रय से, सभी भवों में अथवा सब ओर से आ कर, सूक्ष्म एक क्षेत्र का अवगाहन करते हुए कर्मदलों का आत्म-प्रदेशों पर स्थित होना प्रदेशबन्ध है। (III) आत्म-प्रदेशों और कर्मप्रदेशों का सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध है।

प्रदेश-संक्रम–विवक्षित कर्मप्रकृति का जो कर्म-द्रव्य अन्य (सजातीय) प्रकृति को प्राप्त कराया जाये तद्रूप परिणमाया जाये, वह प्रदेश-संक्रम कहलाता है।

प्रभावना–सम्यक्त्व का आठवाँ अंग। (I) धर्मकथादि के द्वारा धर्मतीर्थ को प्रसिद्धि में लाना। (II) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रभाव से या रत्नत्रय तेज से आत्मा को प्रभावित व प्रकाशित करना आत्म-प्रभावना है। (III) संसार में फैले हुए अज्ञानान्धकार के प्रसार को दूर करके यथायोग्य जिनशासन के माहात्म्य को फैलाना भी प्रभावना है।

प्रमत्तसंयत (प्रमत्तविरत)–(I) जो छठे गुणस्थानवर्ती साधु वर्ग सम्यक्त्व आदि समस्त गुणों तथा महाव्रतों को स्वीकार करके व्रतरक्षक शीलों से युक्त हो कर भी व्रतपालन में व्यक्त (स्थूल) तथा अव्यक्तरूप से प्रमाद करता है, वह प्रमत्तसंयत है। (II) जो संयम को स्वीकार करके विकथादि प्रमादों से युक्त होता है, वह प्रमत्तसंयत या प्रमत्तविरत होता है।

प्रमाण–(I) स्व और पर को प्रकाशित करने वाले निर्बाध ज्ञान का नाम प्रमाण है। (II) आत्मा आदि के ज्ञान को यानी जीव-पुद्गलादि के, अथवा स्व और अर्थ (परार्थ) के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इसके मुख्यतया दो भेद हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद–पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। परोक्ष के तीन भेद–अनुमान, आगम और प्रत्यभिज्ञान।

प्रमाणातिक्रम–तीव्र लोभ के वश हो कर स्वीकृत परिग्रह-प्रमाण के उल्लंघन करने को प्रमाणातिक्रम कहते हैं।

प्रमाद–(I) उत्तम क्रियाओं–व्रत-संयमादि के विषय में अनादर करना। (II) संज्वलनकषायचतुष्क और नौ नोकषायों के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है। (III) मोक्षमार्ग के प्रति उद्यम में शिथिलता प्रमाद है।

प्रमादाचरित–(I) मद्य (मदवर्द्धक) विषय, कषाय, निद्रा (निन्दा), विकथा आदिरूप प्रमाद का आचरण करना प्रमादाचरित है। (II) निष्प्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु

आदि का आरम्भ-समारम्भ करना, निरर्थक वनस्पति-छेदन करना, व्यर्थ ही इधर-उधर भटकना इसे प्रमादाचरित या प्रमादचर्या कहते हैं। आठवें अनर्थदण्डविरमणव्रत का यह एक अतिचार है।

प्रमार्जना-संयम–शुद्ध भूमि के देख लेने पर भी रजोहरण आदि से प्रमार्जन करके सोने, बैठने आदि चर्या का यतनापूर्वक करना प्रमार्जना-संयम है। इसी का दूसरा नाम प्रमृज्य-संयम है।

प्रमोदभावना–(I) गुणीजनों के गुणों का चिन्तन करना, सम्यग्दृष्टि, व्रती, महाव्रती, ज्ञानी, संयमी गुणीजनों के प्रति मुख से प्रसन्नता, उल्लास, बहुमान तथा अनुराग का प्रकट होना प्रमोदभावना है। (II) जो गुणों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आदि धर्मों) में अधिक हैं, आगे बढ़े हुए हैं, उनके गुणों की प्रशंसा करना प्रमोदभावना है।

प्ररोहण–जिसमें कर्म अंकुरित होते हैं, उस कार्मणशरीर को प्ररोहण कहा जाता है।

प्रवचन–(I) श्रुतज्ञान को प्रवचन कहते हैं, तद्विषयक उपयोग से अभिन्न होने के कारण संघ अथवा प्रथम गणधर को भी प्रवचन कहते हैं। (II) द्वादश-अंगस्वरूप सिद्धान्त (श्रुत) का नाम प्रवचन है। उक्त प्रवचन के सुनने, धारण करने, यथाशक्ति तदनुसार आचरण करने वाले महाव्रती, देशव्रती, अविरत-सम्यग्दृष्टि भी प्रवचन (संघ) रूप से परिगणित हैं।

प्रवचन-प्रभावना–आगमार्थ का नाम प्रवचन है, अथवा पूर्वोक्त संघ का नाम प्रवचन है, उसकी ख्याति, प्रशंसा, आदर बढ़े ऐसे कार्य करना, प्रवचन-प्रभावना है।

प्रवचन-भक्ति–द्वादशांगीरूप प्रवचन में प्रतिपादित अर्थ का अनुष्ठान–तदनुसार आचरण करना प्रवचन-भक्ति है।

प्रवचन-वत्सलता–तीर्थंकर-नामगोत्र बाँधने का एक विशिष्ट कारण। (I) अर्हत्-शासन के अनुष्ठायी श्रुतधर, बाल-वृद्ध, तपस्वी–शैक्ष-ग्लान आदि का संग्रह, उपग्रह (उपकार) और अनुग्रह करना। (II) जिस प्रकार गाय बछड़े के प्रति वात्सल्य रखती है, उसी प्रकार समस्त साधर्मिक भाई-बहनों, साधु-साध्वियों के प्रति परस्पर वात्सल्यभाव (शुद्ध प्रेम–अहेतुक निःस्वार्थ अनुराग) रखना प्रवचन-वत्सलता है।

प्रवीचार–मैथुनोपसेवन का नाम प्रवीचार है।

प्रव्रज्या–(I) सर्वसंग-परित्याग का नाम प्रव्रज्या है। (II) गृह, परिग्रह तथा मोह से रहित, बाईस परीषहों और कषायों पर विजय प्राप्त कराने तथा समस्त आरम्भ एवं सावद्ययोग का परित्याग कराने वाली आर्हती दीक्षा प्रव्रज्या है। भगवतीसूत्रवर्णित दानामा और प्रणामा प्रव्रज्या जिन-प्ररूपित नहीं है, अतः वे प्रव्रज्याएँ सम्यग्दृष्टि-साधक के लिए ग्राह्य नहीं हैं।

प्रशम–(I) रागादि दोषों की उपशान्ति या उनकी तीव्रता के अभाव का नाम प्रशम है। यह सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में प्रथम लक्षण है। (II) अनन्तानुबन्धी कषायों (रागादि) का, सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन-मिश्रदर्शन की तीव्रता का अभाव प्रशम है।

प्रशस्त-निदान–संयम के हेतुभूत मनुष्यपर्याय, सत्व (उत्साह), बल (शारीरिक-मानसिक), वीर्य और संहनन, इनकी प्रार्थना करना तथा श्रावककुल व बन्धुकुल में उत्पन्न होने की प्रार्थना करना प्रशस्त-निदान कहलाता है।

प्रशस्तराग–अरिहन्त, सिद्ध और साधु-साध्वियों के प्रति भक्ति, धर्म में–धर्माचरण में अनुरक्ति (प्रवृत्ति), तथा गुरुजनों के वचनानुसार आचरण करना प्रशस्तराग है।

प्रशस्त (शुभ) विहायोगति–जो कर्म उत्तम बैल, हाथी आदि की प्रशस्त (उत्तम) गति (चाल) के समान उत्तम गति (चाल) का कारण है, उसे प्रशस्त (शुभ) विहायोगति-नामकर्म कहते हैं।

प्रशस्त इन्द्रिय-प्रणिधि–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन इष्ट-अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष न करना प्रशस्त इन्द्रिय-प्रणिधि है, जिसकी साधना से जीव अष्टविध कर्मरज को नष्ट करता है। इसकी विधि है–इन्द्रियों के विषय-विचार को रोकना, इन्द्रिय-विषयता को प्राप्त पदार्थों पर राग-द्वेष न करना, कषायों के उदय को रोकना, तथा उदयगत कषायों का निग्रह करना प्रशस्त इन्द्रिय-प्रणिधि का मार्ग है।

प्रशान्तरस–हिंसादि दोषों से रहित, मन के समाधान (समाधि) से, उसकी विषय-विमुखतारूप स्वस्थता से होने वाले निर्विकार (हास्यादि विकारों से रहित) रस को शान्तरस कहते हैं। यह क्रोधादि के परित्याग से होता है।

प्रागभाव–कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व जिसका अभाव रहता है, अर्थात् जिसकी निवृत्ति होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव कहलाता है।

प्रध्वंसाभाव–(I) अगली पर्याय–आगामी काल–से विशिष्ट जो कार्य है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यानी जिसकी उत्पत्ति होने पर कार्य की अवश्य विपत्ति (विनाश) हो जाता है। जैसे–दही की उत्पत्ति होते ही दूध का अवश्य विनाश हो जाता है, वह प्रध्वंसाभाव का स्वरूप है।

प्राण–बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास, ये प्राण कहलाते हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग-नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाले श्रोत्रेन्द्रिय आदि ५ इन्द्रियबलप्राण, मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, उच्छ्वास-निःश्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण ये १० प्रकार के प्राण जैनागमों में वर्णित हैं।

प्राणातिपात–(I) प्राणियों के पूर्वोक्त, दशविध प्राणों को नष्ट करना, हानि पहुँचाना, भयभीत करना, अत्याचार करना, प्राणों को संकट में डालना आदि प्राणातिपात हैं। (II) इन १० प्रकार के प्राणों में से किसी भी प्राण का वियोग करना-कराना, अनुमोदन करना प्राणातिपात (हिंसा) है। इससे विरत होना प्राणातिपात-विरमण है।

प्राणिवध–प्रमाद के वश होकर आकुट्टी की बुद्धि से किसी भी प्राणी का हनन करना।

प्राणायाम–(I) उत्तम भावनापूर्वक मन-वचन-काययोगों का निरोध–निग्रह करना प्राणायाम है। (II) जिसके द्वारा ध्यान की सिद्धि और अन्तरात्मा की स्थिरता होती है उसे भी प्राणायाम कहा गया है।

प्राणिसंयम–एकेन्द्रियादि जीवों को किसी भी प्रकार से पीड़ा न पहुँचाना प्राणिसंयम है। इसे जीवकायसंयम भी कहा गया है।

प्रायश्चित्त–(I) आभ्यन्तरतप का प्रथम प्रकार। जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों का विशोधन होता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। (II) पापों को नष्ट करने वाला होने से इसे 'पापच्छित्' भी कहते हैं। (III) जिससे प्रायः चित्त की शुद्धि हो जाती है, उसे भी प्रायश्चित्त कहते हैं। यह आलोचनार्ह इत्यादि भेद से १०प्रकार का है।

प्रासुक–जो त्रस एवं स्थावर जीवों से रहित हो गया है, उसे प्रासुक, अचित्त, सूक्ष्म जीवों के संचार से रहित कहते हैं।

प्रारब्धकर्म–पूर्वकृत कर्म, जिसका भविष्य में फल भोगना पड़ेगा।

प्रीतिदान–(I) अपने नगर या ग्राम में भगवान के–तीर्थंकर या केवली के, अथवा आचार्य, उपाध्याय और साधु-साध्वी के आगमनविषयक समाचार देने वाले नियुक्त या अनियुक्त पुरुष के लिए जो हर्षपूर्वक दान दिया जाता है, उसे प्रीतिदान कहते हैं। (II) अथवा प्राचीनकाल में कन्याओं के पाणिग्रहण के समय वर-कन्या को, किसी प्रकार के दबाव, श्वसुर-पक्ष की माँग या भयवश नहीं, किन्तु प्रसन्नतापूर्वक जो दान दिया जाता था, उसे प्रीतिदान कहा गया है।

प्रेक्षासंयम–प्रेक्ष्यसंयम–(I) भलीभाँति देखभाल करके कि किसी जीव को हानि न पहुँचे, इस आशय से भलीभाँति निरीक्षण करके कार्य करना प्रेक्षासंयम है। (II) प्रेक्ष्य = बीज, जन्तु, हरितकाय आदि से रहित भूमि को या पट्टे, चौकी, आसन आदि को देख कर बैठना, सोना या स्थित होना अथवा यतनापूर्वक जीव-जन्तु देख कर चलना, भोजन करना आदि प्रवृत्ति भी प्रेक्ष्यसंयम या प्रेक्षासंयम कहलाती है।

पौषधोपवासव्रत–श्रावक का ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषधव्रत, जिसमें आठ पहर तक चौविहार उपवास सहित रहना होता है। आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, प्रवचन-श्रवण आदि करके आत्म-जागृतिपूर्वक साधुवत् रहना होता है। इसमें आरम्भ-परिग्रह त्याग, अब्रह्मचर्य, शरीर-शृंगार, आभूषणादि व्यापार-व्यवसाय आदि सावद्य व्यापारों का त्याग आवश्यक होता है। सोना, बैठना आदि क्रियाएँ प्रतिलेखन-प्रमार्जनपूर्वक की जाती हैं। इस व्रत के ५ अतिचार हैं।

पुनर्जन्म–मृत्यु के बाद पुनः कर्मानुसार गति या योनि में जन्म।

पूर्वजन्म–इस जन्म से पहले का जन्म-जन्मान्तर।

परिज्ञा–वस्तुतत्त्व का भलीभाँति ज्ञान करना, उसका विश्लेषण करना परिज्ञा है। परिज्ञा दो प्रकार से होती है, किसी राग-द्वेष, कषाय आदि पापकर्मबन्धक पाप का त्याग करने के लिए जैनागमों से दो ठोस उपाय बताये हैं–ज्ञपरिज्ञा से उसे जानो और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग करो।

पूर्वाग्रह–किसी भी परम्परा, रूढ़ि, रीति-रिवाज या प्रथा को गलत होने, युगबाह्य होने, उससे स्व-पर को आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक हानि होने पर भी पूर्वजों ने

इस प्रथा या रूढ़ि को चलाया था। मैं इसे कैसे छोड़ दूँ? इस प्रकार की भ्रान्ति, मिथ्यात्व एवं अज्ञान के वश उसे पकड़े रखना पूर्वाग्रह है, यह सम्यग्दर्शन में, सत्यनिष्ठा में, सत्याचरण में बाधक है। कर्मबन्ध का कारण है।

प्रतिसंलीनता–बाहर विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों, हिंसादि प्रवृत्त होते हुए अंगोपांगों और योगों को कषायादि विकारों में दौड़-धूप करते हुए मन को बहिर्मुखी होने से बचा कर अन्तर्मुखी बनाना, पर-भावों से हटा कर स्वभाव में, आत्म-गुणों में लीन करना प्रतिसंलीनता है। यह छठा बाह्यतप है।

(फ)

फलदान-शक्ति–अनुभागबन्ध के द्वारा कर्मों में फल देने की शक्ति स्वतः पैदा हो जाती है।

सफल और अफल का रहस्यार्थ–जो अबुद्ध हैं, किन्तु धन या सत्ता के अधिपति हैं इसलिए महाभाग्यशाली दिखते हैं, लड़ाइयों में वीरता दिखाने के कारण उन्हें लोग वीर कहते हैं, किन्तु हैं वे असम्यक्त्व (मिथ्यात्व) दर्शी–यानी मिथ्यात्वदृष्टि से ग्रस्त। अतएव उनको कृतक पापकर्मों के कारण उनका सब पराक्रम अशुद्ध और कर्मफलयुक्त होने से सफल (फलयुक्त) होता है, जबकि जो प्रबुद्ध महाभाग कर्मविदारण में वीर हैं, सम्यग्दृष्टि (सम्यक्त्वदर्शी) हैं, उनका सारा पराक्रम शुद्ध है, और कर्मफल से रहित (अफल) होता है।

फलदाता–कर्मों का फलदाता न तो कोई ईश्वर है, न ही कोई देवी-देव या सरकार, किन्तु युक्तिपूर्वक सोचा जाये तो कर्म स्वयं ही अपना फलदाता है। मनुष्य चाहे, या न चाहे, आखिर कर्म ही उसे फल देता है। शुभ कर्म (पुण्य) का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ मिलता है।

(ब)

बकुश (निर्ग्रन्थ का एक प्रकार)–जो निर्ग्रन्थता पर आरूढ़ हो कर अखण्डित रूप से व्रतों का पालन करते हुए शरीर और उपकरणों की स्वच्छता और साज-सज्जा में ही लगे रहते हैं, तथा परिवार से भी जिनका मोह नहीं छूटा, वे साधक बकुश कोटि के निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

बन्ध (कर्मबन्ध)–(I) आत्म-प्रदेशों और कर्मपुद्गलों का क्षीर-नीरवत् एक-दूसरे में परस्पर आश्लिष्ट हो जाना बन्ध है। (II) आस्रवों द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग हो जाना बन्ध है। (III) कषाय से संयुक्त प्राणी योग के आश्रय से कर्मरूप में परिणत होने के योग्य जो (कर्म) पुद्गलों का ग्रहण करता है, वह बन्ध कहलाता है।

बन्ध (श्रावक के अहिंसाणुव्रत का प्रथम अतिचार)–(I) किसी पशु आदि को गाढ़ बन्धन से बाँध देना, जिससे आकस्मिक संकट आने पर तत्काल खुल न सके, वह बन्ध नामक अतिचार (दोष) है। (II) हाथी आदि को पकड़ने के लिए खोदे गये गड्ढे में उनके फँस जाने पर साँकल या रस्सी से बाँध देना भी बंध है।

बन्धन–अष्टविध कर्मों को बाँधना बंधन है।

बन्धनकरण (बन्ध नामक करण)–कर्मपुद्गलों को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से योगों और कषायों से परिणमाने की जो क्रिया (प्रक्रिया) है, उसे बन्धनकरण कहते हैं।

बन्धन नाम–शरीर-नामकर्म के उदय से प्राप्त पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर सम्बन्ध (एकरूपता) जिस कर्म के आश्रय से होता है, उसे बन्धन-नामकर्म कहते हैं।

बन्ध-विधान–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद को प्राप्त बन्ध के विकल्पों का नाम बन्ध-विधान है।

बन्ध-स्थान–(I) एक जीव के एक समय में जो अनुभाग दिखता है, वह स्थान कहलाता है। बन्ध से जो स्थान निर्मित होता है, उसे बन्ध-स्थान कहते हैं। (II) पूर्वबद्ध अनुभाग का घात (रसघात) करते समय जो बन्धानुभाग के समान स्थान होता है, उसे भी बन्ध-स्थान कहा जाता है।

बहिरंग-धर्मध्यान–पंच-परमेष्ठियों की भक्ति आदि के साथ उनके अनुकूल उत्तम (धर्म) आचरण करना बहिरंग-धर्मध्यान है।

बहिरात्मा–(I) जो शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्रादि तथा राग-द्वेषादिरूप विभाव (विभावचेतनारूप) परिणति को आत्म-स्वरूप मानता है, तथा इन्द्रिय-विषयजनित सुखादि को आत्मिक-सुख मान कर उन्हीं मूढ़ बुद्धि हो कर रमता है एवं वस्तुस्वरूप को नहीं जान कर 'यह सब अतिशय कष्टदायक हैं'; ऐसा विचारता है, जबकि इन्द्रिय-विषयसुख आत्मा के लिए भविष्य में दुःखदायक है, ऐसा विचार नहीं करता, उसे बहिरात्मा समझना चाहिए। (II) देहादि में आत्म-बुद्धि होना बहिरात्मभाव है। (III) विषय-कषायों में रचे-पचे रहना, जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान न करना, गुणों के प्रति द्वेष करना और आत्म-स्वरूप को न जानना; ये बहिरात्मा के लक्षण हैं।

बहिःपुद्गल-प्रक्षेप–दशवें देशावकाशिक व्रत का एक अतिचार। मर्यादित देश (क्षेत्र) के बाहर प्रयोजन उपस्थित होने पर दूसरों को सम्बोधित करने–बुलाने के लिए कंकर आदि फेंकना।

बहु-अवग्रह (मति-श्रुतज्ञान का एक भेद)–बहुत-से पदार्थों का एक बार में ग्रहण होना बहु-अवग्रह नामक मति-श्रुतज्ञान है।

बहुविध-अवग्रह–एक बार में अनेक प्रकार के पदार्थों का ग्रहण करना।

बहुश्रुतता–(I) युगश्रेष्ठ आगमों, उनकी व्याख्याओं, रहस्यों एवं धारणाओं का ज्ञान बहुश्रुतता है। (II) अथवा बारह अंगों का पारगामी ज्ञान होना बहुश्रुतता है।

बहुश्रुत-भक्ति (तीर्थंकर-नामकर्म का एक कारण)–(I) पूर्वोक्त बहुश्रुतों के द्वारा व्याख्यात (उपदिष्ट) आगमों और ग्रन्थों का पारायण करना, पंचांगसहित स्वाध्याय करना

एवं तदनुसार शुद्धात्म-लक्षी आचरण करना बहुश्रुत-भक्ति है। (II) अथवा स्व-पर-सिद्धान्तों (समयों) के ज्ञाता बहुश्रुत कहलाते हैं, उनके प्रति भक्ति, बहुमान तथा निर्मल परिणाम के साथ अनुराग रखना बहुश्रुत-भक्ति है।

बादर–(I) बादर शब्द स्थूल का पर्यायवाची है। (II) छिन्न होकर भी जो स्वयं जुड़ने में समर्थ हैं, वे दूध, घी, तेल, पानी आदि बादर माने जाते हैं। (III) कर्मस्कन्धों की स्थूलता को भी बादर कहते हैं।

बादर-सम्पराय–सम्पराय कहते हैं–कषाय को। जिस जीव के बादर (स्थूल) सम्पराय होता है–संसार में परिभ्रमण कराने वाला कषायोदय होता है, उसे बादर-सम्पराय कहते हैं। इसके अधिकारी प्रमत्त-संयत गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण (बादर) गुणस्थानवर्ती जीव विवक्षित हैं। इसे **बादर-सम्पराय** भी कहते हैं।

बाल–जिसकी प्रवृत्ति अविवेकपूर्ण असत् (निकृष्ट) होती है, अथवा जो असदाचरण करता है ऐसा विशिष्ट विवेक-विकल, कुज्ञान-परायण व्यक्ति **बाल** कहलाता है। वह स्थूल असंयम से भी निवृत्त नहीं होता।

बालतप–बाल कहते हैं–मूढ़ को, जो हिताहित-विवेक-विकल होता है, जिसे धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप का बोध नहीं होता। ऐसे बाल द्वारा निदान या मिथ्याज्ञानादि से या मायाचार से प्रेरित हो कर बाह्याभ्यन्तरतप करना बालतप है। बालतप मोक्ष का साधक न हो कर संसारवर्द्धक होता है। उसका तप अत्यधिक कायकष्टपूर्ण होता है।

बालमरण–जो किसी प्रकार से आत्महत्या करके या तीव्र कषायवश मरता है, या किसी दुर्घटना में असमाधिपूर्वक मरता है, उस मिथ्यादृष्टि और मिथ्याज्ञानी या पापाचारी व्यक्ति का मरण बालमरण या अनिच्छा से विवशतापूर्वक मरण भी बालमरण है। त्रिरत्न से रहित होने के कारण उसका वह अकाममरण बालमरण है। बालक की तरह जो बाल (अबोध) एवं अविरत है, उसका मरण।

बालपण्डितमरण–(I) जो समस्त असंयम (अविरति) के परित्याग में असमर्थ होने के कारण हिंसादि पापों से एकदेश से विरत होता है, यानी स्थूल हिंसादि पापों का त्याग करता है, वह देशविरत होता है, इस देशविरत में भी जो देशतः विरत (सम्यग्दृष्टि) होता है, उस एकदेशविरत के मरण को बालपण्डितमरण कहा जाता है। (II) यहाँ बाल का अर्थ है–असंयत सम्यग्दृष्टि और पण्डित का अर्थ है–संयत। इस प्रकार संयमासंयमी, असंयत-संयत, विरताविरत बालपण्डित कहलाते हैं। उनका समाधिपूर्वक मरण बालपण्डितमरण है।

बाल-बालमरण–जो व्यवहार-पाण्डित्य, सम्यक्त्व-पाण्डित्य, ज्ञान-पाण्डित्य और चारित्र-पाण्डित्य इन सबसे रहित होता है, उसे बाल-बाल कहते हैं, उसके मरण को बाल-बालमरण कहते हैं।

बाह्यतप–(I) जो तप बाह्यद्रव्य की अपेक्षा रखता है, तथा दूसरों के देखने में भी आता है, जिस तप को लौकिक जन भी जान लेते हैं, सम्यग्दर्शनपूर्वक वह अनशन आदि

६ प्रकार का तपश्चरण सम्यक् बाह्यतप है। शर्त यह है कि उस बाह्यतप से किसी का अनिष्ट या अमंगल न हो, उस तप से आर्त्त-रौद्रध्यान न हो, मन में दुष्ट विचार न आयें, तत्त्वविषयक श्रद्धा प्रादुर्भूत हो, मन-वचन-काया के योग क्षीण न हों।

बीजबुद्धि–(I) न जोइन्द्रिय-मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय, इन तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से युक्त किसी महर्षि की जो बुद्धि संख्यात शब्दों में लिंगयुक्त एक ही बीजपद को दूसरे के उपदेश से प्राप्त करके उसके आश्रय से समस्त श्रुत को ग्रहण कर लेती है, उसे बीजबुद्धि नामक लब्धि (ऋद्धि) कहते हैं। (II) दिखलाये गये पद, प्रकरण, उद्देश और अध्याय आदि के आश्रय से जो बुद्धि समस्त अर्थ का अनुसरण किया करती है, उसका नाम बीजबुद्धि ऋद्धि है।

बीजरुचि (सम्यक्त्व)–जाने हुए एक पद के आश्रय से जल में तेल की बूँद के समान जो रुचि या तत्त्व-श्रद्धा फैलती है, उसे बीजरुचि या बीज-सम्यक्त्व कहते हैं।

बुद्धबोधित–(I) बुद्ध का अर्थ यहाँ आचार्य है, आचार्यों के द्वारा जो प्रबोध को प्राप्त हुए हैं, वे बुद्धबोधित कहलाते हैं। (II) अथवा जिसने सिद्धान्त और संसार के स्वभाव को जान लिया है, उनके द्वारा प्रबोध को प्राप्त हुए बुद्धबोधित कहलाते हैं।

बुद्धबोधित-सिद्ध–जो पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धबोधित हो कर सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, वे।

बुद्धि–(I) जिसके द्वारा ऊहित = ईहा के द्वारा तर्कित-पदार्थ का निश्चय होता है, उसका नाम बुद्धि है। यह अवाय नामक मतिज्ञान का समानार्थक शब्द है। (II) पदार्थ को ग्रहण करने और जानने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं। ऐसी बुद्धि औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी के भेद से चार प्रकार की है।

बुद्धि-सिद्ध–(I) जो पूर्वोक्त चार प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न हो, उसे बुद्धि-सिद्ध कहते हैं। (II) अथवा जिसकी बुद्धि एक पद से अनेक पदों का अनुसरण करने वाली, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मल से रहित हो, तथा सूक्ष्म–अतिशय दुःखबोध्य पदार्थों को जानने में समर्थ हो, वह बुद्धि-सिद्ध कहलाता है।

बोधि–(I) जिनोपदिष्ट धर्म की प्राप्ति का नाम बोधि है। यह उस सम्यग्दर्शनस्वरूप है, जो यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीन करणों के व्यापार के द्वारा पूर्व में नहीं भेदी गई ग्रन्थि के भेदन से प्रकट होता है तथा जिसके आविर्भूत होने पर प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट हो जाते हैं। (II) पूर्व में नहीं प्राप्त हुए (भलीभाँति नहीं समझे हुए) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के यथार्थ बोध, उसकी प्राप्ति में साधक-बाधक तत्त्वों का सम्यक् बोध का प्राप्त होना बोधिलाभ है।

बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा–(I) जिस उपाय के द्वारा पूर्वोक्त बोधिलाभ प्राप्त होता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार की बोधिलाभ की दुर्लभता का बार-बार चिन्तन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा या बोधिदुर्लभभावना है। (II) इस अनादि संसार में जीव को एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के भव में बोधि का नाम तक नहीं सुना गया, पंचेन्द्रिय तिर्यंचभव में

भी बोधि का नाम सुनने पर भी किसी विरले ही संज्ञी पंचेन्द्रिय को–चण्डकौशिक सर्प या नन्दन-मणिहार मेंढक को पूर्वजन्मकृत शुभ कर्म के फलस्वरूप बोधि प्राप्त होती है। नारकभव में तो पूर्वभव में क्षायिक सम्यक्त्वी हो या सम्यग्दर्शन किसी निमित्त से प्राप्त हुआ हो तो बोधि प्राप्त होती है। तथैव देवभव में भी सम्यग्दृष्टि के सिवाय अन्य देव को बोधिदुर्लभ है। कुमानुष योनि में तथा मनुष्यभव में भी बोधि सबको कहाँ सुलभ है। मुझे शुभ कर्मवश क्षयोपशमवश बोधि प्राप्त हुई है, तो इसको प्राप्त करके मोहकर्म को अधिकाधिक उपशान्त, मन्द और क्षय करने का पुरुषार्थ करूँ, ताकि दुर्लभतर उत्तमबोधि प्राप्त हो सके, इस प्रकार का चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

ब्रह्मचर्य–ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मा, परम आत्मा में ही विचरण करना मन-वचन-काया से पंचेन्द्रिय विषयों एवं कषायों एवं विजातीय लिंग के प्रति अब्रह्मचर्य से दूर रख कर आत्म-स्वभाव में लीन रहना, कामोत्तेजना के बाह्य निमित्तों से दूर रहना ब्रह्मचर्य है। इसका भलीभाँति पालन मनसा, वाचा, कायेन करने से होता है। ब्रह्मचर्य या ब्रह्मचर्यवास दशविध उत्तम श्रमणधर्म का एक अंग है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के लिए दिव्य, मानुष एवं तिर्यंच-सम्बन्धी समस्त अब्रह्मचर्यवर्द्धक विकारों से मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सजग रहना जरूरी है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत–श्रावक का चतुर्थ अणुव्रत। यह स्व-पत्नी-संतोष–पर-स्त्री-विवर्जनरूप है। इसके ५ अतिचार हैं। परस्त्रीगमन स्वयं न करना, न कराना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं।

(भ)

भक्तकथा–रसनेन्द्रिय-विषयासक्त स्वादलोलुप साधक-साधिका द्वारा खाद्य, पेय, व्यंजनों, मिष्टान्नों आदि की ही चर्चा करते रहना, अधिकतर समय इसी की कथा में व्यतीत करना भक्तकथा नामक दोष है, वचनगुप्ति में बाधक है। संयम पर कुठाराघात करने वाली कथा है यह।

भक्त-परिज्ञा–त्रिविध या चतुर्विध आहार को शास्त्रोक्त छह कारणों से ग्रहण करना और छह कारणों से त्याग करना भक्त-परिज्ञा है। भक्त अर्थात् भोजन का–अमुक भोज्य-वस्तु या स्वादिष्ट–सरस भोजन या रूक्ष भोजन का भी ज्ञपरिज्ञा से हानि-लाभ जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से हानिकारक एवं त्याज्य खाद्य-पेय का त्याग करना। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, शारीरिक क्षमता आदि को जान कर आहार-त्याग करना भी भक्त-परिज्ञा है।

भक्त-प्रत्याख्यान–इसके दो प्रकार हैं–(I) उपवास, बेला, तेला आदि बाह्य (इत्वरिक अनशन) तप के समय तेविहार या चउविहार भक्त-प्रत्याख्यान तप किया जाता है। (II) संलेखना-संथारा ग्रहण करने के समय यावज्जीव भक्त- प्रत्याख्यान किया जाता है। इसका विधिपूर्वक प्रत्याख्यान किया जाता है।

भक्ति–अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत, प्रवचन, साधु-साध्वी, संघ आदि के प्रति भावविशुद्धियुक्त अनुराग (प्रशस्तराग) भक्ति है।

भयसंज्ञा–(I) सात प्रकार के भयों में से किसी भी भय से मन में चिन्तित- शंकित रहना भयसंज्ञा है। (II) किसी निमित्त से या बिना निमित्त के भी जो भीति उत्पन्न होती है, वह भय है, उसकी संज्ञा यानी वृत्ति भयसंज्ञा है। अतिशय भयानक पदार्थ के देखने से, उधर बार-बार उपयोग के जाने से, बल की हीनता से, भयमोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से, भय के अभिप्रायरूप जीवपरिणाम होना भयसंज्ञा है।

भय-नोकषाय–जिस कर्म के उदय से प्राणी को उद्वेग, तनाव, डर आदि हुआ करता है, वह भयनोकषाय कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव को सप्तविध भय उत्पन्न होते हैं, वह भय-नोकषाय कर्म है। इसे भयमोहनीय, भयवेदनीय आदि भी कहते हैं।

भव–(I) भव कहते हैं–जन्म-मरणादिरूप संसार को। आयुष्यकर्म के उदय के निमित्त से जो जीव की (जन्म-मरणादि) अवस्था होती है, वह भव (संसार) है। (II) जिसमें प्राणी अपने आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने तक रहते हैं, वह भव है।

भवनवासी–भवनपति देव–(I) जो देव स्वभावतः भवनों में निवास करते हैं, वे भवनवासी या भवनपति देव कहलाते हैं। (II) भवनवासी-नामकर्म के उदय से भवनों में रहने वाले देवी-देवों को भवनपति या भवनवासी कहते हैं। इनके दस प्रकार हैं– असुरकुमार, नागकुमार आदि।

भव-प्रत्यय (भवधारणीय) अवधिज्ञान–प्राणी जिसमें कर्म के वशीभूत हो कर जन्म-मरण करते हैं, उसका नाम भव है। जो नारक-देवादि अवस्थारूप भव जिस अवधिज्ञान का कारण है, वह भवप्रत्यय या भवधारणीय अवधिज्ञान कहलाता है। वह देवों और नारकों को जन्म से ही होता है। मिथ्यादृष्टि को विभंगज्ञान और सम्यग्दृष्टि को अवधिज्ञान।

भवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ–अपने-अपने योग्य नारक आदि भव में जो कर्मगत फल देने की अभिमुखता होती है, उसका नाम भवविपाक है। जिन कर्मप्रकृतियों का विपाक (फलदानोन्मुखता) उचित भव की प्राप्ति होने पर ही होती है, वे भवविपाकिनी कर्मप्रकृतियाँ कहलाती हैं।

भव्य–अनादि पारिणामिक भव्यत्व नामक भाव के कारण से मुक्ति प्राप्त करने योग्य जीव।

भवसिद्धिक–भविष्य में जिन जीवों को सिद्धि (मुक्ति) होने वाली है, वे भवसिद्धिक या भव्य कहलाते हैं। अभव्य को मुक्ति नहीं होती। वह उपरिम नवग्रैवेयक तक जा सकता है, किन्तु रहता है, संसार के जन्म-मरण के चक्र में ही।

भवस्थ-केवलज्ञान–मनुष्यभव में स्थित जीव के चार अघातिकर्म क्षीण न होने पर, अर्थात् उनके विद्यमान रहते हुए, जो केवलज्ञान होता है, वह भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है।

भवस्थिति–एक भव में जितने काल तक का अवस्थान है, यानी स्थिति (आयुष्यकर्म) है, उसका नाम भवस्थिति है।

भवाभिनन्दी–जो जीव निरर्थक महारम्भ और महापरिग्रह में रत और विषयासक्ति में सुख मान कर भवभ्रमण में ही आनन्द मानता है, संसार की रंगीनियों में ही डूबा रहता है, वह भवाभिनन्दी है।

भव्य-द्रव्य देव–जो मनुष्य या तिर्यंच भविष्य में देवों में जन्म लेने वाले हैं, उन्हें भावी (भव्य) द्रव्य देव कहते हैं।

भाव–(I) जीव के परिणाम-विशेष का नाम भाव है, जो तीव्र, मन्द निर्जराभाव आदि के रूप में अनेक प्रकार का है। (II) कर्म-विशेष के उपशम आदि के आश्रय से जो जीव की परिणति होती है, उसे भाव कहते हैं। (III) चारित्रादिरूप परिणाम को भी भाव कहते हैं। भाव पाँच प्रकार का है–औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव।

भावकर्म–कर्मपुद्गलों के पिण्डरूप द्रव्यकर्म के साथ जब राग-द्वेषादि विकार होते हैं तो वे भावकर्म कहलाते हैं।

भावतीर्थ–(I) सभी तीर्थंकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र से संयुक्त रहते हैं, इसीलिए दाह की शान्ति, तृष्णा का छेद और मलरूप कीचड़ की शुद्धि, इन तीन कारणों से उन्हें भावतीर्थ कहा जाता है। (II) क्रोधादि का निग्रह करने में समर्थ प्रवचन को भी भावतीर्थ कहते हैं। सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी भावतीर्थ कहलाते हैं। इन रत्नत्रयों को सर्वविरतिरूप से धारण करने के कारण तथा स्वयं तरने और भव्य जीवों को तारने में कारण होने से चतुर्विधसंघ, अथवा पंच-परमेष्ठी भी भावतीर्थ कहलाते हैं।

भावधर्म–(I) आत्मा (जीव) का स्वभाव (ज्ञान-दर्शन-सुख-शान्तिरूप) भावधर्म है। जो प्रशमादि चिह्नों के द्वारा जाना-पहचाना जाता है। (II) क्षायोपशमादिरूप शुभ लेश्या-परिणाम-विशेष से दानादि कार्यों में जो मन को उल्लास या हर्ष होता है; उसे भी भावधर्म कहते हैं।

भावना–(I) ध्यान के अभ्यास की क्रिया को भावना कहते हैं। (II) वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा चारित्रमोह के उपशम, क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा के द्वारा जो बार-बार भायी जाती है–पुनः-पुनः जिसमें प्रवृत्त हुआ जाता है, उसे भावना कहते हैं। ये मैत्री आदि ४ हैं, तथा अनुप्रेक्षा के नाम से अनित्यादि १२ भावनाएँ हैं।

भावनायोग–समस्त परभावों को अनित्यादि भावनाओं से जान कर अनुभवात्मक भावना से आत्म-स्वरूपाभिमुख योगवृत्ति के मध्य में स्थित हो कर आत्मा को मोक्षमार्ग से जोड़ना–संलग्न करना भावनायोग है। भावनायोग के द्वारा शुद्ध आत्मा जल पर नाव की तरह संसार-सागर को पार करती हुई किनारे पर पहुँच जाती है।

भावनिक्षेप–वर्तमान में विवक्षित पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भावनिक्षेप कहते हैं।

भावनिद्रा–सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से रहित होना भावनिद्रा है।

भावनिर्जरा–(I) कर्मशक्ति की निर्जरा (देशतः क्षय) करने में जो समर्थ है, बारह प्रकार के तप से वृद्धिंगत शुद्धोपयोग–संवरपूर्विका भावनिर्जरा है। (II) रागादि विभावों का आत्मा से पृथक् (विश्लिष्ट) हो जाना भावनिर्जरा है। (III) आत्मा के शुद्ध भाव से जो भुक्त रस विशिष्ट (पूर्वबद्ध) कर्म का शीघ्र ही नष्ट हो जाना भावनिर्जरा है। (IV) पुद्गलों की कर्मत्वपर्याय का विनष्ट होना भी भावनिर्जरा है।

भावपुण्य–शुभ परिणाम पुण्य है, उसका कर्त्ता जीव (आत्मा) है। यह शुभ परिणाम (शुभ भाव) ही द्रव्य-पुण्य का निमित्त बनता है। इस कारण उसे शुभास्रव क्षण के बाद शुभभावरूप भावपुण्य कहा जाता है।

भावपूजा–तीर्थंकर, अरिहन्त, सिद्ध आदि की वचन से स्तुति, स्तवन या स्तोत्र द्वारा गुणोत्कीर्तन करना, मन से उनके गुणों का स्मरण करना, स्वयं में वे गुण आवें, इस प्रकार की भावना करना भावपूजा है।

भावबन्ध–उपयोगस्वरूप जीव (आत्मा) पंचेन्द्रिय-विषयों को पा कर उनमें मूढ़, आसक्त या राग-द्वेष करता है। इन विभावों के साथ आत्मा (जीव) का जो (संयोग) सम्बन्ध होता है, उसे भावबन्ध कहते हैं।

भावमोक्ष–(I) समस्त कर्मों के क्षय को भावमोक्ष कहते हैं। (II) जो आत्मा का परिणाम सर्वकर्मक्षय का कारण है, वह भावमोक्ष है।

भावलेश्या–कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति भावलेश्या है।

भावविशुद्धि–अन्तःकरण की निर्मलता–निष्कल्मषता का नाम भावविशुद्धि है।

भावश्रुत–(I) इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो श्रुत के अनुसार विशेष ज्ञान होता है, वह भावश्रुत कहलाता है। (II) अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव भी भावश्रुत है। (III) क्षयोपशमलब्धि का नाम भी भावश्रुत है।

भावसमाधि–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप समाधि को भावसमाधि कहते हैं।

भावसंवर–(I) संसार की कारणभूत क्रियाओं से जो निवृत्ति होती है, वह भावसंवर है। (II) जीव का गुप्ति आदि परिणाम को प्राप्त होना भावसंवर है। (III) इन्द्रियरूप छिद्रों द्वारा जीवरूप नौका में प्रविष्ट होने वाले कर्मजल को समिति आदि द्वारा रोक देना भी भावसंवर है।

भावसामायिक–अपने समान दूसरों को दुःखित न करने का अभिप्राय रखना, इष्ट से न राग रखना, न ही अनिष्ट से द्वेष रखना, राग-द्वेष के मध्य में रहना साम = भावसामायिक है। रत्नत्रयरूप समीचीन भाव का आत्मा में प्रवेश कराना भावसामायिक है।

भावेन्द्रिय–(I) (इन्द्रियत्व को) लब्धि और उसके उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। अर्थग्रहण करने की शक्ति का नाम लब्धि है और अर्थग्रहण करने के प्रति जो व्यापार

(प्रवृत्ति) होता है, उसे उपयोग कहते हैं। इन दोनों को भावेन्द्रिय कहते हैं। (II) समस्त आत्म-प्रदेशों से सम्बन्धित श्रोत्रादि इन्द्रिय-विषयक आवरण के क्षयोपशमरूप लब्धि और उपयोग का नाम भावेन्द्रिय है।

भाषाद्रव्यवर्गणा–स्पष्ट वचन बोलने वाले व्यक्ति द्वारा वर्ण, पद और वाक्य के आकार में जो कुछ बोला जाता है, उसे भाषा कहते हैं। भाषाद्रव्यवर्गणाएँ उसे कहते हैं, जो वर्गणाएँ उत्तरोत्तर एक-एक वृद्धि वाले स्कन्धों से प्रारम्भ हो कर ।पा की उत्पत्ति में कारण हों। यह वर्गणा चार प्रकार की भाषा को ग्रहण करने में ₄वृत्त होती है। यथा–सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा।

भाषापर्याप्ति–भाषा के योग्य द्रव्य के ग्रहण करने और छोड़ने के निष्पादनरूप क्रिया की समाप्ति भाषापर्याप्ति है।

भाषासमिति–पैशुन्य, हास्य, कर्कश, पर-निन्दा, आत्मा-प्रशंसारूप विकथादि वर्जित करके स्व-पर हितकर सत्य, परिमित असंदिग्ध, निष्पाप वचन विचारपूर्वक बोलना भाषासमिति कहलाती है।

भूयस्कारबन्ध–थोड़ी प्रकृतियों को बाँध कर आगे बहुत कर्मप्रकृतियों को बाँधना भूयस्कारबन्ध या भुजाकारबन्ध कहलाता है।

भोक्तृत्व–शुभाशुभ कर्मों के निष्पादन का नाम कर्तृत्व है, इस कर्तृत्व के कारण शुभाशुभ कर्मों को भोगा जाना भोक्तृत्व है।

भोग (भोगाकांक्षा) कृत निदान (नियाणा)–(I) देवों, मनुष्यों-सम्बन्धी भोगों की वांछा करना तथा स्त्रीत्व, पुरुषत्व, ईश्वरत्व, श्रेष्ठित्व, सार्थवाहत्व, वासुदेवत्व या चक्रवर्तित्व-प्राप्ति की वांछा करना भोगकृत-निदान है। (II) इस व्रत-शीलादि से मुझे इस लोक या परलोक में इस प्रकार के भोग प्राप्त हों, ऐसा मन में विचार या संकल्प-विकल्प करना भोगकृत निदान है।

भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंच–भोगभूमिज मनुष्य मन्द-कषायी हो कर उदय-प्राप्त प्रशस्त कर्मप्रकृतियों के फलस्वरूप विविध आमोद-प्रमोद में आसक्त रहते हैं।

भोगान्तराय–जिसके उदय से वैभव के रहते हुए तथा त्याग के परिणाम न होने पर भी जीव भोगों को नहीं भोग सकता, ऐसे भोगविषयक विघ्न को भोगान्तराय कहते हैं।

भोगोपभोग-परिमाण–श्रावक का सातवाँ व्रत। जिस व्रत में भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं (२६ प्रकार के बोलों) की यावज्जीवन की मर्यादा की जाती है, तथा १५ प्रकार के कर्मादानों (खरकर्मों) का त्याग किया जाता है, वह भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहलाता है।

भ्रान्ति–(I) किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का बोध होना भ्रान्ति है। (II) जो वह नहीं है, उसमें उसका ज्ञान होना भ्रान्ति कहलाती है। जैसे–सीप को देख कर उसमें चाँदी का ज्ञान।

(म)

मतिज्ञान–(I) इन्द्रियों और मन से (सम्यग्दृष्टि को) होने वाला यथायोग्य पदार्थज्ञान मतिज्ञान या आभिनिबोधिकज्ञान कहलाता है। यही ज्ञान मिथ्यादृष्टि को होता है तो मतिअज्ञान कहलाता है। होता है, इन्द्रियों और मन को ही, किन्तु सम्यग्दृष्टि के ज्ञान की तरह उसके साथ आत्म-लक्षी दूरदर्शी दृष्टि नहीं होती। (II) मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से किसी पदार्थ का मननपूर्वक ज्ञान होना मतिज्ञान है। (III) किसी प्रकार से पदार्थ का परिज्ञान हो जाने पर भी अपूर्व तथा उसके भूत-भविष्य की तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के आलोचनरूप बुद्धि होती है, उसका नाम मति है। संज्ञा, स्मृति, चिन्ता, आभिनिबोध ये मति शब्द के समानार्थक हैं। मतिपूर्वक ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है।

मात्सर्य–(I) दूसरे की उन्नति देख कर डाह करना, खेद खिन्न होना। (II) अतिथिसंविभागव्रत का एक अतिचार। दूसरे दाता को देख कर 'क्या मैं इस दरिद्र से भी हीन हूँ?' इस प्रकार के मात्सर्यभाव से साधु-साध्वी को आहारादि देना मात्सर्य दोष है।

मान (कषाय-विशेष)–(I) जाति आदि के या ज्ञानादि गुणों के आश्रय से दूसरों के प्रति नम्रतापूर्ण व्यवहार न करना। (II) दूषित अभिप्राय (पूर्वाग्रह या कदाग्रह) को न छोड़ना या यथोक्त शिष्टजनों–गुरुजनों द्वारा कथित वचन को भी ग्रहण न करना मानकषाय है। यह तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर के स्तर से चार प्रकार का है। मान, गर्व, अहंकार, मद, स्तब्ध, घमण्ड आदि एकार्थक हैं।

माननिःसृता असत्यभाषा–मानयुक्त (गर्वस्फीत) हो कर जो वचन कहा जाये, वह माननिःसृता असत्यभाषा कही जाती है।

मानव–जो मनोज्ञानरूपी नेत्रों से युक्त हो कर हेयोपादेय पदार्थों को जानते-मानते हैं, वे मानव हैं।

मानसजप–एकमात्र मन के व्यापार से जो स्व-संवेद्य जाप होता है, वह मानसजप है। त्रिविध जपों में यह प्रथम है।

मानसतप–मन की प्रसन्नता, सौम्यत्व (स्वभावतः शान्त परिणति, मौन, आत्म-विनिग्रह (मनोनिग्रह) एवं भाव संशुद्धि (परिणामों की निर्मलता), इन्हें मानसतप कहा जाता है।

मानसिकविनय–मनोविनय–सात प्रकार के मोक्षलक्षी विनयों में से एक। (I) पापरूप विरुद्ध आचरण की परिणति को रोकना, प्रिय एवं हितकर मार्ग में परिणत (तत्पर) करना मानसिकविनय है। अकुशल ध्यान (दुर्ध्यान) को प्राप्त मन को रोकना, कुशल (शुभ) ध्यान में मन को उद्यत = प्रवृत्त करना तथा मन को दुष्ट परिणामों से हटा कर शुभ योग में स्थापित करना भी मनोविनय है।

मानसध्यान–एकवस्तु-विषयक मन की एकाग्रता।

माया–चारित्रमोहनीय के भेदरूप मायाकषाय के उदय से जीव को दूसरों को ठगने, वंचना करने के कुटिल परिणामों की उत्पत्ति मायाकषाय है।

माया-निःसृता असत्यभाषा–(I) कपटपूर्वक गूढ़ भाषा दूसरों को छलने के लिए बोलना। (II) मायाचार (दम्भ) पूर्वक कहना 'यह इन्द्र है', 'यह देव है' इस प्रकार का कथन माया-निःसृत असत्यभाषा है।

माया-मृषावाद–कपटपूर्वक झूठ बोलना, मन में कुछ और हो ौर बाहर से झूठा प्रदर्शन करना, दम्भ, ढोंग–धतिंग करना, अन्य वेश और भाषा करके दूसरों को धोखा देना माया-मृषावाद कहलाता है।

मायाशल्य–(I) किसी भी प्रकार का मायाजाल रच कर दूसरों को ठगना तीक्ष्ण काँटों का-सा मायारूप शल्य मायाशल्य है। (II) यह आलोचनार्ह प्रायश्चित्त का एक दोष है, जिसमें पर-स्त्री आदि के इच्छारूप या दूसरे जीवों के वध–बन्धन आदिरूप दुर्ध्यान को कोई नहीं जानता, ऐसा समझकर साधक दोषों को छिपाता है, यथार्थ आलोचना नहीं करता, वहाँ मायाशल्यवश वह विराधक हो जाता है।

मारणान्तिक समुद्घात–(I) मरणान्त समय में मूल शरीर को बिना छोड़े ऋजुगति या विग्रहगति से जहाँ कहीं उत्पन्न होना है, उस क्षेत्र तक जा कर शरीर से तिगुणे बाहुल्य से या अन्य प्रकार से अवस्थित रहना मारणान्तिक समुद्घात कहलाता है। (II) औपक्रमिक या अनौपक्रमिक आयु के क्षय से मरण के अन्तकाल में होने वाला समुद्घात।

मारणान्तिकातिसहनता–मरणकाल में होने वाले या मारणान्तिक कष्ट, उपसर्ग या परीषह को असंख्यगुणी निर्जरा को अलभ्य अवसरदायक तथा कल्याणकारक मित्र समझ कर धैर्य व समभाव से, शान्ति से सहन करना। यह अनगार के २७ मूलगुणों में अन्तिम गुण है।

मारणान्तिकी संलेखना–समाधिमरण की पूर्व तैयारी। जिसमें तप और कषायों को कृश किया जाये, उसका नाम संलेखना है। मृत्यु के होने का आभास होने–ज्ञान होने या आसार दिखने पर पहले (अपश्चात्) या पश्चात् (अपश्चिमा व पश्चिमा) संलेखना की जाती है। यह संलेखना चूँकि मरणरूप अन्त समय में होती है, इसलिए इसे मारणान्तिकी संलेखना कहते हैं।

मार्ग–(I) 'मृजु शुद्धौ धातु से निष्पन्न 'मार्ग' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ होता है–शुद्ध द्रव्यमार्ग की तरह जो शुद्ध भावमार्ग है। जैसे–काँटे, कंकर, झाड़-झंखाड़ आदि दोषों से रहित मार्ग से अभिप्रेत स्थान पर जाने वाले पथिक सुखपूर्वक पहुँच जाते हैं, इसी प्रकार मिथ्यादर्शन-अविरति आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रययुक्त श्रेय (मोक्ष) के प्रति ले जाने वाले शुद्ध मार्ग से मोक्षपथिक सुख से मोक्ष पहुँच जाते हैं। इस कारण शुद्ध रत्नत्रय को मार्ग कहा गया है। (II) मार्गण = अन्वेषण करने–शोध–खोज करने अर्थ में होने से जिससे आत्मा की, परमात्मा की या मोक्ष की शोध = अन्वेषणा–मार्गणा की जाये, उसे भी मार्ग कहते हैं।

मार्गणा–अन्वय धर्म (सम्बन्धित वस्तु-तत्त्व) की प्रार्थना = अन्वेषणा–गवेषणा करना मार्गणा है। मार्गणा, गवेषणा, अन्वेषणा ये समानार्थक शब्द हैं, इसलिए जीव (आत्मा) का गति, इन्द्रिय आदि १४ द्वारों (स्थानों) से, अथवा सत्संख्या आदि से विशिष्ट १४ गुणस्थानों (जीवसमासों) का अन्वेषण–सर्वेक्षण किया जाये, उसकी मार्गणा संज्ञा है।

मद–मद्य आदि के समान असम्बद्ध संलाप, जिसे अपनी जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य का घमण्ड होता है इनमें से किसी एक या अनेक के आश्रय से अपना अभिमान प्रकट करना मद है। दूसरों को अपना बनाने या अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बढ़-चढ़कर अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की जाती है, वह भी मद है। ये आठ प्रकार के मद सम्यक्त्व-साधना में अत्यन्त बाधक हैं।

मद्य–जिनके सेवन से बुद्धि लुप्त हो जाती है, स्मरण-शक्ति कुण्ठित हो जाती है, अपने-पराये का, गम्य-अगम्य, वाच्य-अवाच्य का कोई विचार नहीं रहता, ऐसी सभी नशीली चीजें मद्य हैं। जैसे–शराब, भाँग, गाँजा, गुटका, तम्बाकू, हिरोइन, ब्राउन शुगर आदि सब चीजें मद्य हैं। सप्त कुव्यसनों में यह एक कुव्यसन है। इसके व्यसन से प्राणी आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाता।

मधुर-नाम–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल मधुररसरूप से परिणत होते हैं, उसे मधुररस-नामकर्म कहते हैं।

मनःसंयम–अकुशल मन का निरोध करना, अपवित्र विचारों को उत्पन्न न होने देना, पवित्र विचारों को मन में स्थान देना मनःसंयम है। द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान, कपट आदि दुर्भावों से दूर रह कर धर्मध्यान आदि में प्रवृत्त होना भी मनःसंयम है।

मनःपर्यय, मनःपर्याय, मनःपर्यवज्ञान–(I) वीर्यान्तराय और मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग-नामकर्म के लाभ के बल से आत्मा का, जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से उपयोग उत्पन्न होता है, वह मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। (II) जो ज्ञान जीवों द्वारा मन से चिन्तित अर्थ को प्रकट किया करता है, उसे मनःपर्यव, मनःपर्याय या मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। उसका सम्बन्ध मनुष्यक्षेत्र से है। अर्थात् वह मनुष्यलोक में अवस्थित संज्ञी जीवों के मन से चिन्तित अर्थ को ही जानता है। मनुष्यलोक के बाहर स्थित जीवों के मनश्चिन्तित अर्थ को नहीं। वह शुद्ध-निर्दोष चारित्रवान् संयत के क्षान्ति आदि गुणों के निमित्त से उत्पन्न होता है। इसके दो प्रकार हैं–ऋजुमति और विपुलमति।

मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म–मनःपर्यायज्ञान का आवरक कर्म।

मनःपर्याप्ति–(I) मनरूप होने योग्य द्रव्य के ग्रहण और त्याग की शक्ति जिस क्रिया से निर्मित हो उसकी पूर्णता। (II) अनुभूत पदार्थों के स्मरण की शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से जो पुद्गलसमूह उत्पन्न होता है, वह भी मनःपर्याप्ति है। (III) द्रव्यमन के आलम्बन से जो अनुभूत पदार्थों के स्मरण की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे भी मनःपर्याप्ति कहते हैं।

मनुष्यगति-नाम–(I) जिस गति-नामकर्म के उदय से जीव मनुष्यभव या मनुष्यभाव को प्राप्त होता है, वह। (II) जो कर्म मनुष्य की सब पर्यायों–अवस्थाओं का कारण है, वह है–मनुष्यगति-नामकर्म।

मनुष्यायु–जिस कर्म के उदय से शारीरिक, मानसिक सुख-दुःखों से युक्त मनुष्यों में जन्म होता है, उसे मनुष्यायुकर्म कहते हैं।

मनोगुप्ति–(I) मन से रागादि का हट जाना, विषय कषायों से दूर रहना। (II) पापपूर्ण आर्त-रौद्रध्यानादिरूप संकल्प (चिन्तन) को रोकना। (III) सरागसंयमादिरूप कुशल संकल्प का अनुष्ठान करना। (IV) अथवा कुशल-अकुशल दोनों ही प्रकार के संकल्पों का निरोध करना।

मनोबल ऋद्धि (लब्धि)–(I) जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के होने पर एक अन्तर्मुहूर्त मात्र में समस्त श्रुत का चिन्तन कर लेता व उसे जान लेता है; उसका नाम मनोबल या मनोबली है। (II) १२ अंगशास्त्रों में उद्दिष्ट त्रिकाल-सम्बन्धी अनन्त अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायों से व्याप्त ६ द्रव्यों का सतत चिन्तन करने पर भी खेद को प्राप्त न होना मनोबल है। ऐसी मनोबल ऋद्धि का स्वामी मनोबली कहलाता है।

मनोयोग–(I) आभ्यन्तर वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप मनोलब्धि का सन्निधान होने पर, बाह्यनिमित्तभूत मनोवर्गणा का आलम्बन होने पर, मनःपरिणामों के अभिमुख हुए जीव के आत्म-प्रदेशों का जो परिस्पन्द होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। (II) मन के योग्य पुद्गलों (मनोवर्गणा) के आश्रय से जो आत्म-प्रदेशों में परिणमन होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।

मंत्र (जाप्य)–जो पुरुषदेवाधिष्ठित हो, तथा जो हवनादि अन्य साधना से रहित हो, अथवा पाठ करने मात्र से सिद्ध हो जाता है, वह मंत्र कहलाता है। ऐसे मंत्र का जाप भी किया जाये तो वह सिद्ध हो जाता है।

मंत्र (राज्यकार्योपयोगी)–निम्नोक्त पाँच अंगों से सम्पन्न हो, वह मंत्र सर्वकार्योपयोगी होता है–(१) जो सभी कार्यों के प्रारम्भ करने में उपायभूत हो, जिसमें अपाय और उपाय दोनों का विचार किया जाये, (२) जिसमें पुरुष, द्रव्य, सम्पत्ति-सामर्थ्य का विचार हो, (३) देश और काल के विभाग का विवेक हो, (४) आई हुई आपत्ति के प्रतीकार करने का सामर्थ्य हो, (५) कार्यसिद्धि का भी विचार हो। इस प्रकार की मंत्रणा से सम्पन्न मंत्र सभी सामाजिक, राजकीय, सांस्कृतिक कार्यों में उपयोगी होता है।

मंत्री–मंत्र वही है, जो इन पाँच अंगों से युक्त मंत्रणा करने में कुशल हो।

मंत्रभेद–सत्याणुव्रत का एक अतिचार। विश्वासपात्र व्यक्ति आदि के द्वारा कही हुई गोपनीय या गुप्त बात को प्रगट कर देना यह मंत्रभेद विश्वासघात, चुगली या आत्महत्या का भी कारण बन जाता है।

मरण–आयु के क्षय से प्राणों का वियोग होना।

मरणभय–पंचेन्द्रिय, त्रिविधबल, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु, इन दशविध प्राणों के परित्याग का भय।

मरणाशंसा–संलेखना-संथाराव्रत का एक अतिचार। रोगादि के आतंक से व्याकुल हो कर जीवन में संक्लेश को प्राप्त होने से अथवा सर्वत्र अनादर, निन्दा, उद्विग्नता आदि से घबरा कर शीघ्र मृत्यु हो जाने की आकांक्षा करना।

मल-परीषहजय–सूर्य के प्रचण्ड ताप से पसीना आदि के आश्रय से शरीर मलिन हो जाने पर भी, मलसंचय से न घबरा कर उसका ऐसा प्रतीकार न करना, जिससे जलकायिक जन्तुओं को पीड़ा हो, उक्त परीषह-सहन करना मल-परीषह-विजय है।

महादेव–जिसने राग-द्वेष-मोहरूपी महामल्लों को पराजित कर दिया है, महामोहादि दोषों को स्वेच्छा से नष्ट कर दिया है, जो संसाररूप महासमुद्र से पार हो चुका है, वही महादेव है।

महाव्रत–जो महान् अर्थ (मोक्ष) को सिद्ध करते हैं, जो (पंचमहाव्रत) महापुरुषों के द्वारा आचरित-पालित हैं, जो स्वयं महान् हैं, उन हिंसादि पापों के सर्वथा त्यागरूप व्रतों को महाव्रत कहते हैं।

महासुख–निःस्पृहता–बाह्य विषय-सुखों की आकांक्षा न करना महासुख का लक्षण है।

मंगल–(I) जो पापरूप मल को गाल देता है–नष्ट कर देता है, वह। (II) जो ज्ञानावरणीयादि कर्ममल को गलाता है, वह। (III) जो मग = सुख लाता है–प्राप्त कराता है, वह। (IV) जिसके द्वारा अपना हित जाना या सिद्ध किया जाता है, वह मंगल है।

मंदभाव–बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की अनुदीरणा से जीव का अनुत्कट परिणाम होना।

माध्यस्थ्यभावना–(I) राग या द्वेष के वशीभूत हो कर पक्षपात न करना, मिथ्यादृष्टि, क्रूरकर्मी, देव-गुरु-धर्म-शास्त्रनिन्दक, मद्य-माँसादिलुब्धक, पापाचारी, नास्तिक आदि के प्रति मध्यस्थ–तटस्थ रहना, उपेक्षाभाव रखना, कदाचित् मौन रखना, उसके साथ वाद-विवाद में न उतरना।

मित्रानुराग (संलेखना-संथाराव्रत का एक अतिचार)–पूर्वजन्म के या इस जन्म के जो भी मित्र, सुहृत, स्वजन-परिजन-कुटुम्बीजन हैं उन सभी प्रेमियों (लौकिक स्वार्थरत जनों) के प्रति अनुरागभाव, आसक्तिभाव ला कर आर्तध्यान करना आमरण समाधिमरण (संथाराव्रत) का दोष है।

मिथ्याकार–गृहीत व्रतों, नियमों में दोष लग जाने, अपराध या भूल हो जाने पर 'यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इस प्रकार पश्चात्तापपूर्वक कहना मिच्छाकार है। साधु की दशविध समाचारी का एक अंग है यह।

मिथ्याचार–बाह्यरूप से इन्द्रियों का दमन करके जो व्यक्ति मन ही मन इन्द्रिय-विषयों की लालसा, वासना करता रहता है, उसकी ऐसी प्रवृत्ति मिथ्याचार है। अथवा विशेष अभिप्राय एवं उद्देश्य से रहित असत्य आचरण करना।

मिथ्यात्व–(I) जिनोपदिष्ट तत्त्वों पर संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप विमोह (मूढ़ता) रहना। (II) कुदेव पर देवबुद्धि, कुगुरु पर गुरुबुद्धि और कुधर्म पर धर्मबुद्धि रखना, तथा सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म एवं सत्तत्त्वों के प्रति श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व है। (III) तत्त्वार्थों पर अश्रद्धान मिथ्यात्व है, वह तीन प्रकार का है– संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत। इसे मिथ्यादर्शन भी कहते हैं। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जिसकी दृष्टि मिथ्या, विपरीत हो जाती है, वह मिथ्यादृष्टि या मिथ्यादर्शनी होता है।

मिथ्यादृष्टि (मिथ्यात्व) गुणस्थान–(I) जिसके अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन ७ प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम नहीं हुआ है, वे मिथ्यात्व गुणस्थान के अधिकारी हैं। (II) मिथ्यात्व के उदय से जिस जीव को औदयिकभाव होता है, उसके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

मिथ्याश्रुत–(I) जो श्रुत अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों द्वारा स्वच्छन्द (अवग्रह-ईहारूप) बुद्धि से तथा (अवाय और धारणारूप) मति से कल्पित हो। (II) अप्रशमादि मिथ्या परिणाम से युक्त होने से, तथा वस्तुस्वरूप का विपरीतरूप से प्रतिभास होने से उसके द्वारा परिकल्पित श्रुत मिथ्याश्रुत है।

मिथ्योपदेश–(I) स्वर्गादिरूप अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के विषय में दूसरे को साम्प्रदायिक कट्टरता, अन्ध-विश्वास, चमत्कार आदि बातों से ठगना, विपरीत प्रवृत्ति कराना मिथ्योपदेश है। (II) प्रमाद से युक्त होते हुए बोलना, वस्तुस्वरूप से विपरीत उपदेश देना अथवा विवादास्पद विषय में कपटपूर्ण उपदेश करना मिथ्योपदेश है।

मिश्रगुणस्थान–जिस प्रकार दही और गुड़ के स्वाद को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के मिथ्या श्रद्धान के साथ जो उसका सम्यक् श्रद्धान मिश्रित रहता है वह मिश्रगुणस्थान है।

मिश्रभाव–(I) उपशम और क्षय उभयस्वरूपभाव को मिश्र = क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। (II) कर्म के कुछ उपशम और क्षय के साथ देशघाती स्पर्द्धकों का उदय बना रहने पर जो भाव उत्पन्न होता है, उसे मिश्र या क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

मुक्त–(I) जो जीव द्रव्यबन्ध और भावबन्ध दोनों से रहित हो चुके हैं। (II) जो ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मों से सर्वथा छुटकारा पा चुके हैं, वे मुक्त हैं।

मुक्ति–(I) बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु-विषयक तृष्णा या लोभ के परित्याग का नाम मुक्ति है। दशविध श्रमणधर्म का द्वितीय धर्म आगमानुसार मुक्ति (मुत्ती) है। (II) सर्वकर्मों से, जन्म-मरणादि से, शरीरादि से तथा समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाना भी सिद्धि–मुक्ति है। वह न तो अत्यन्त अभावरूप है, न जड़मयी है, न ही आकाशवत् व्यापक है,

विषय-सुखों से निवृत्ति होने पर आत्यन्तिक अव्याबाध आत्मिक-सुख से निवृत्ति वाली नहीं है। आत्मा के सर्वगुणों से मुक्त जीव मुक्ति में रहता है, वहाँ अक्षय, अनन्त शाश्वत-सुख है, और वह अनन्त ज्ञान-दर्शनमयी है।

मूढ़दृष्टि–आत्म-स्वरूप से च्युत हो कर इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों में मुग्ध होता हुआ, जो अपने शरीर को ही आत्मा मानता है, वह मूढ़दृष्टि कहलाता है। मिथ्यादृष्टिजनों की पूजा-प्रतिष्ठा, आडम्बर आदि देख कर जिसकी मति व्यामूढ़ हो जाती है, वह भी मूढ़दृष्टि है।

मूर्च्छा–(I) इन्द्रिय-विषयों में भावतः आसक्ति। (II) बाह्य और आभ्यन्तर उपधियों के रागादिवश संरक्षण, उपार्जन और संस्करण आदि में रचे-पचे रहना। (III) मोहवश 'यह मेरा है' इस प्रकार का ममत्वावेश भी मूर्च्छा है।

मृदु-स्पर्शनाम–(I) जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में मृदुता = कोमलता हो। (II) अथवा प्राणी का शरीर-स्पर्श मृदु हो, वह।

मृषानन्द = मृषानुबन्धी रौद्रध्यान–(I) दूसरों को ठगने, धोखा देने, असत्य वचन एवं आचरण से अपना बचाव करने या दूसरों को सन्तुष्ट करने का प्लान बनाना, मन में घाट घड़ते रहना, इस प्रकार का ध्यान। (II) जो कर्म के भार से युक्त होने से सदैव असत्य-असमीचीन, असद्भूत वचनों से दूसरों को झाँसा देने का ध्यान करता है वह मृषानन्दी जीव का मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

मृषाभाषा–जो भाषा यथार्थ वस्तु-स्वरूप के प्ररूपक सत्य की विराधिनी होती है, वह।

मृषावाद–अप्रशस्त वचन का नाम मृषावाद है, जो मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद और कषायवश बोला जाता है।

मृषावाद-विरमण–क्रोध, लोभ, भय और हास्य तथा राग और द्वेष से द्रव्य से असत्य बोलना, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से यावज्जीव तक और भाव से तीन करण और तीन योग से (यानी जीवनपर्यन्त मन-वचन-काया से असत्य बोलने, बुलवाने और बोलने वाले का अनुमोदन करने का) त्याग करना मृषावाद-विरमण है। दूसरे शब्दों में सत्यमहाव्रत है।

मैत्रीभावना–मन-वचन-काया से समस्त प्राणियों के प्रति अदुःखजननी, परहित-चिन्ता, मित्रता-चिन्तन मैत्रीभावना है।

मैथुनसंज्ञा–(I) वेदमोहनीय के उदय से मैथुन की अभिलाषारूप जीव का परिणाम मैथुनसंज्ञा है। (II) नित्य सरस स्वादिष्ट भोजन करने, ऐसे भोजन के प्रति ही आसक्ति रखने, कुशील-सेवन करने तथा वेदमोहनीयकर्म की उदीरणा से मैथुन संज्ञा होती है।

मोक्ष–(I) समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना मोक्ष है। (II) जीव और कर्मों का वियोग हो जाना मोक्ष है। (III) बन्ध के हेतुभूत आश्रवों के निरोधस्वरूप संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।

मोक्षमार्ग–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सहित राग-द्वेषरहित सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है। यही मोक्षोपाय है।

मोह–मोहवेदनीय कर्म से आपादित अज्ञान–अविवेकरूप परिणाम मोह है। दर्शनमोहनीय की तीन तथा चारित्रमोहनीय की २५ (१६ कषाय और ९ नोकषाय) इन कुल २८ प्रकृतियों का समूह मोहराज की सेना है। इन्हीं से व्यक्ति के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की शक्ति कुण्ठित, आवृत, मूर्च्छित, मोहित हो जाती है। सामान्यतया दर्शन-चारित्रमोह द्वारा उपजनित अविवेक ही मोह है।

मौखर्य–धृष्टता से मनमाने ढंग से ऊलजलूल बकवास करना, असभ्य, असत्य और असम्बद्ध बकवास करना मौखर्य है। यह श्रावक के ८वें अनर्थदण्ड- विरमणव्रत का एक अतिचार है।

(य)

यति–(I) जो संयम और योग में प्रयत्न करता है, वह। (II) जो पापरूप पाश को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हो। (III) जो उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने के लिए प्रयत्न करता है, वह यति (संयति) है। यति का अपरनाम महाव्रती साधु, श्रमण या भिक्षु है।

यतिधर्म–(I) समस्त सावद्ययोगों से विरत होना। (II) निज-आगमोक्त धर्म का आचरण करना यतियों का निजधर्म है।

यथाख्यातचारित्र–(I) समस्त मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय या उपशम हो जाने से आत्म-स्वभाव में अवस्थान हो जाना। (II) मोह के सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाने से यथाख्यातचारित्र होता है। भगवान् ने शुद्ध संयम (चारित्र) का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा ही आत्म-स्वभाव में पूर्णतया अवस्थान यथाख्यातचारित्र है।

यथाख्यात-संयत–(I) अशुभ मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय हो जाने पर छद्मस्थ (११-१२वें गुणस्थानवर्ती साधक) अथवा जिन (१३-१४वें गुणस्थानवर्ती यथाख्यात-संयत कहलाते हैं।

यथाजात–बाह्य और आभ्यन्तर सभी परिग्रहों की चिन्ता से जो मुक्त हो चुका है, उसे यथाजात शिशु के समान निर्द्वन्द्व यथाजात कहते हैं।

यथाप्रवृत्तकरण–जो करण यानी कर्मक्षपण का अतिशयित कारण, यथाप्रवृत्त है, यानी अनादि-सिद्ध प्रकार से प्रवृत्ति में आया है, वह यथाप्रवृत्तकरण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़े हुए पाषाणों में से कुछ पाषाण किसी प्रकार के प्रयोग के बिना घर्षणवश स्वयमेव गोल हो जाते हैं, इसी प्रकार अनादिकाल से कर्मक्षपण के लिए जो अध्यवसाय में प्रवृत्त है, उनकी वह प्रवृत्ति यथाप्रवृत्तकरण कही गई है।

यंत्रपीड़न कर्म–श्रावक के लिए त्याज्य १५ कर्मादानों में एक। तिल, सरसों, एरण्ड बीज आदि को यंत्र में पील कर तेल निकालने का व्यवसाय करना यंत्रपीड़न कर्म है।

यम–भोगोपभोग का परिमाण करने के लिए यावज्जीवन जो व्रत या नियम लिए जाते हैं, उनका नाम यम है, और जो प्रतिदिन के लिए प्रत्याख्यान या नियम लिये जाते हैं, वे प्रायः नियम कहलाते हैं।

यशःकीर्ति-नामकर्म–किसी अच्छे पराक्रम के आश्रय से सर्वजन द्वारा कीर्तनीय गुणों की जो ख्याति सब दिशाओं में फैलती है, उसे यश कहते हैं; तथा पुण्य-प्रभाव से उन गुणों का एक ही दिशा में फैलना कीर्ति है। (I) जिसके उदय से यश और कीर्ति दोनों हो, उसे यशःकीर्ति-नामकर्म कहते हैं। (II) तप, शूरवीरता और त्याग (दान) में पराक्रम इत्यादि गुणों के कारण जिस यश को उपार्जित किया जाता है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना यशःकीर्ति-नामकर्म है।

याचना-परीषहजय–भिक्षु-भिक्षुणी भिक्षाजीवी होते हैं, उन्हें वस्त्र, पात्र, अन्न-पान एवं वसति आदि सब दूसरों–गृहस्थों से याचना करने पर ही प्राप्त होते हैं। आम स्वाभिमानी गृहस्थ याचना करने में जहाँ लज्जा, गौरवहीनता एवं दीनता अनुभव करता है, वहाँ सर्वसंपत्करी भिक्षाजीवी जो साधु याचना में किसी प्रकार की दीनता-हीनता अनुभव नहीं करता है, उस परीषह को धर्म समझ कर सहन करता है, वह याचना-परीषह-विजयी है।

योग–(I) मन-वचन-काया के आश्रय से आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होना योग है। (II) वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई पर्याय से जो आत्मा का सम्बन्ध होता है, उसका नाम योग है।

योग (आत्म-साधना की दृष्टि से)–(I) जो आत्म-परिणाम विपरीत अभिप्राय को छोड़ कर जिनप्रज्ञप्त तत्त्वों में आत्मा को योजित (संलग्न) करता है, वह योग है। (II) क्लिष्ट-चित्तवृत्ति–निरोध योग है। (III) सम्यक्-प्रणिधान यानी एकाग्रचिन्तानिरोधरूप समाधि को योग कहते हैं।

योग-भक्ति–जो साधु स्वयं को राग-द्वेषादि के परित्याग में तथा समस्त विकल्पों के अभाव = निर्विकल्प समाधि में योजित करता है, उसकी वह भक्ति योग-भक्ति है।

योग-वक्रता–मन-वचन-काया की कुटिलतापूर्ण प्रवृत्ति।

योग-सत्य–साधु के २७ गुणों में से एक गुण। मन-वचन-काया के योगों की यथार्थता। जैसा मन में हो, वैसा ही वचन से प्रगट करना और काया से भी तदनुरूप चेष्टा करना योग-सत्यता है।

योनि–जीवों का उत्पत्ति स्थान। ये योनियाँ कुल ८४ लाख हैं।

(र)

रति–(I) जिस कर्म के उदय से शब्दादि विषयों के प्रति या असंयम के प्रति प्रीति या उत्सुकता रहती है, उसे रति-नोकषाय कहते हैं। इसके विपरीत संयम में प्रीति या रुचि का न होना अरति है। रति और अरति ये दोनों नोकषाय मोहनीय के दो भेद हैं। अठारह

पापस्थानों में रति-अरति दोनों को एक पापस्थान माना है। (II) अथवा जिस कर्म के उदय से अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रति अत्यधिक प्रीति उत्पन्न हो, वह रति है।

रसगौरव–रसगारव–(I) इष्ट रस या रसास्वादयुक्त वस्तु पा कर गर्व करना। (II) अभीष्ट रस का त्याग न करना, अनिष्ट रस के विषय में अनादरभाव (द्वेषभाव) रखना भी रसगौरव है।

रस-परित्याग–बाह्य तप का एक भेद। विशिष्ट रस से युक्त तथा विकार के कारणभूत दूध, दही, घी, तेल तथा गुड़ (शक्कर), मधु, नवनीत आदि पाँच विगइयों तथा मद्य और माँस इन महाविगइयों का त्याग करना रस-परित्याग नामक तप है, इस तप को निव्विगइ (निर्विकृति) तप भी कहा जाता है।

रस-वाणिज्य–मद्य, वसा (चर्बी), मधु, नवनीत आदि रसों का व्यवसाय करना। यह भी १५ कर्मादानों में एक कर्मादान है। श्रावक के लिए त्याज्य है।

रहस्याभ्याख्यान–सत्याणुव्रत को मलिन करने वाला एक अतिचार। स्त्री-पुरुषों द्वारा एकान्त में किये गये कार्य-विशेष को प्रकाशित करना। अथवा किसी के मर्म को प्रगट करना।

राग–(I) माया, लोभ, हास्य, रति-अरति, त्रिवेद, इन रागरूप द्रव्यकर्मों से जनित परिणाम राग-द्वेष हैं। (II) विचित्र चारित्रमोहनीय-विपाक-जनित प्रीति-अप्रीति राग और द्वेष कहलाते हैं। निर्विकार स्व-संवेदनस्वरूप वीतरागचारित्र के रोधक चारित्रमोह को भी राग-द्वेष कहते हैं।

रूक्ष-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में रूखा स्पर्श हो, उसे रूक्ष-नामकर्म कहते हैं।

रूपस्थध्यान–जिस प्रकार शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार शरीर से बाहर उसका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं। वह दो प्रकार का है–स्वगत और परगत। पंच-परमेष्ठियों के ध्यान का नाम परगत और शरीर से बाहर अपने आत्मा का ध्यान स्वगत रूपस्थ ध्यान है। परमेष्ठी के स्वरूप को उनके चित्र, मूर्ति या किसी प्रतीक में आरोपित करके उसका ध्यान करने को भी रूपस्थध्यान कहते हैं।

रूपातीतध्यान–(I) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवर्जित ज्ञानदर्शनस्वरूप निरंजन निराकार चिदानन्दमय शुद्ध अमूर्त्त परमाक्षररूप आत्मा का (या परमात्मा का) आत्मा से ध्यान करना रूपातीतध्यान है। परन्तु इस ध्यान की योग्यता तभी आती है, जो साधक इससे पूर्व रूपस्थध्यान में अभ्यस्त व पारंगत हो चुका हो। (II) धर्मध्यान के तीनों सालम्ब ध्यानों का साधक पहले पूरा अभ्यास कर लेता है, तदनन्तर निरालम्ब रूपातीत ध्यान प्रारम्भ करता है। इसमें इन्द्रियाँ और मन लयलीन हो जाते हैं; ध्याता, ध्येय और ध्यान का विकल्प नहीं रहता, केवल अमूर्त्त, अज, अव्यक्त, निर्विकल्प, चिदात्मक आत्मा का आत्मा से स्मरण करता है, उसे रूपातीत या रूपवर्जित, अरूपध्यान या गतरूपध्यान कहते हैं।

रूपानुपात–दशवें देशावकासिक व्रत का एक अतिचार। मर्यादित क्षेत्र के बाहर प्रयोजन उपस्थित होने पर रूप (चेहरा) दिखा कर दूसरे को अपने निकट लाने का प्रयत्न करना रूपानुपात नामक अतिचार (दोष) है।

रूपी–जो स्निग्ध और रूक्षगुणयुक्त पुद्गल गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेदों की अपेक्षा समान होते हैं, वे रूपी कहलाते हैं।

रोग-परीषहजय–रोगों को निराकुलतापूर्वक सहना रोग-परीषहसहन या रोग-परीषहजय है।

रौद्रध्यान–(I) क्रूराशय कर्म से होने वाला ध्यान रौद्रध्यान है। उसके चार प्रकार हैं–हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेनानुबन्धी, संरक्षणानुबन्धी। (II) प्राणिहिंसा, असत्य, चौर्यकर्म और विषय (धनादि) संरक्षण तथा ६ प्रकार के आरम्भ से सम्बन्धित तीव्र कषायसहित होने वाला ध्यान। (III) अथवा निरन्तर प्राणिवधादि-विषयक चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है।

(ल)

लक्षण–(I) किसी वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। (II) परस्पर मिले हुए होने पर भी जिसके द्वारा विवक्षित वस्तु की भिन्नता का बोध हो, उसे लक्षण कहते हैं। (III) जिसके अभाव में द्रव्य (वस्तु) का अभाव हो सकता है, उसे उसका लक्षण जानना चाहिए। जैसे–उपयोग के अभाव में जीव का और रूपरसादि के अभाव में पुद्गल का अभाव हो सकता है। अतः जीव का लक्षण उपयोग और पुद्गल का लक्षण है–रूपरसादि।

लघुकर्मा (हलुकर्मी)–जिसके समीचीन धर्म पालन से द्वेष के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का तीव्र उदय न हो, उसे लघुकर्मा (लहुकर्मी या हलुकर्मी) कहा जाता है।

लघुगति–तूम्बड़ी या वेगयुक्त आक की रुई आदि की गति को लघुगति–शीघ्रतायुक्तगति कहते हैं।

लघु-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में लघुता (हल्कापन) होती है, उसे लघु-नामकर्म कहते हैं।

लब्धि–(I) विशिष्ट-प्राप्ति या उपलब्धि को लब्धि कहते हैं। (II) ज्ञानावरणीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम का नाम लब्धि है। (III) विशिष्ट तप के कारण जो ऋद्धि प्राप्त होती है, उसे लब्धि कहते हैं। (IV) इन्द्रियों द्वारा पदार्थों को जानने की शक्ति को भी लब्धि कहते हैं।

लब्धिस्थान–समस्त चारित्रस्थानों को लब्धिस्थान कहते हैं।

लव–सात स्तोकों का एक लव होता है।

लाक्षावाणिज्य–१५ कर्मादानों में से एक कर्मादान। लाख, मनःशील, नीली, धातकी (एक वृक्ष की छाल) और टंकण खार आदि इन पाप की कारणभूत वस्तु का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य है।

लाघव–(I) 'यह मेरा है' इस प्रकार के ममत्व का परित्याग करके अहंकार त्याग करना–लघुता धारण करना–लाघव है। यह शौचधर्म का रूपान्तर है। (II) क्रियाओं में कुशलता–दक्षता को भी लाघव कहते हैं।

लाभ–(I) लाभान्तराय कर्म के क्षय से भोग्य-उपभोग्य वस्तुओं का होने वाला लाभ। (II) इच्छित पदार्थ की प्राप्ति का नाम लाभ है।

लाभान्तराय कर्म–जिसके उदय से लाभ में बाधा पहुँचे।

लीनता–प्रतिसंलीनता (I) स्त्री, पशु, नपुंसक आदि के संसर्ग से रहित निर्बाध एकान्त स्थान में रहना तथा मन, वचन, काय, कषाय और इन्द्रियों को वश में रखना यह लीनता नामक बाह्यतप है। इसे प्रतिसंलीनता तथा विविक्त शय्यासन तप भी कहते हैं।

लेश्या–(I) कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। (II) जिसके द्वारा प्राणी कर्म से संश्लिष्ट हो, उसका नाम लेश्या है। (III) कृष्ण आदि रंग के द्रव्यों की सहायता से जीव का जो परिणाम होता है, उसे भी लेश्या कहते हैं।

लोक–जो अनन्तानन्त आकाश के ठीक मध्य भाग में स्थित हो कर अनादि-अनन्त है तथा ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोक के भेद से तीन प्रकार का है, जीवादि षड्द्रव्यों से समृद्ध है, जो आदि व अन्त से रहित है तथा स्वभाव से उत्पन्न हुआ है, उसे लोक कहते हैं।

लोकपाल–जो दुर्ग के पालन-रक्षण की तरह लोक का पालन करते हैं, वे लोकपाल हैं। वे चारों दिशाओं में चार हैं–सोम, यम, वरुण और कुबेर (वैश्रमण)।

लोकपूरण-समुद्घात = केवलि-समुद्घात–(I) जब वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति बहुत और आयुकर्म की स्थिति कम होती है, तब केवली के आत्म-प्रदेश उपयोग के बिना ही, उक्त कर्मों की स्थिति को आयु के समान करने के लिए शरीर से बाहर निकल कर चार समयों में समस्त लोक को व्याप्त कर देते हैं, इस प्रक्रिया का नाम लोकपूरण-समुद्घात है; इसे केवलि-समुद्घात भी कहते हैं। (II) जिस प्रकार मद्यद्रव्य के फेन का वेग बुदबुद के आविर्भाव होते ही शान्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलि-समुद्घात होते ही केवली की आयु के समान वेदनीय आदि अन्य अघातिया कर्मों की भी स्थिति हो जाती है।

लोकमूढ़ता–(I) नदी या समुद्र में स्नान करने, बालू व पत्थरों का ढेर लगाने, पर्वत से गिरने, अग्नि में पड़ने = सती होने इत्यादि (को अन्ध-विश्वास से पुण्यकारक मानना) लोकमूढ़ताएँ हैं। (II) इहलौकिक श्रेय के लिए अन्ध-विश्वासपूर्वक कई रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, रीति-रिवाज मानना, जैसे–संक्रान्ति में तिल दान, ग्रहणादि में दान, स्नान तथा कुदेवों की आराधना आदि लोकमूढ़ताएँ हैं।

लोकाकाश–(I) जो जीव और पुद्गलों से सम्बद्ध तथा धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय एवं काल से व्याप्त हो कर सदा आकाश में रहता है, वह लोकाकाश है। (II) जहाँ धर्मास्तिकायादि द्रव्य देखे जाते हैं, वह लोकाकाश है।

लोकानुप्रेक्षा–लोकसंस्थानानुप्रेक्षा–जीवादि पदार्थों के समुदायस्वरूप, जो अधो-मध्यादि के भेद से तीन प्रकार का लोक है, उसमें कहाँ, कौन-से जीव, क्यों और कैसे-कैसे रहते हैं? इत्यादि प्रकार से उनके निवास-स्थान, उनकी गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यता-अभव्यता, संज्ञित्व-असंज्ञित्व, आहार, सुख-दुःख, आयु आदि का विचार (चिन्तन) करना लोकानुप्रेक्षा है।

लोकान्तिक देव–(I) लोक से यहाँ अभिप्राय है–पंचम देवलोक (ब्रह्मलोक) का। उसके अन्तिक यानी निकटवर्ती कृष्णराजी क्षेत्र में जो देव रहते हैं, वे लोकान्तिक हैं। (II) अथवा लोक से यहाँ औदयिकभावस्वरूप संसार विवक्षित है। उसके अन्त में यानी इस भव के अनन्तर दूसरे भव में संसार (लोक) का जो अन्त कर देते हैं (सर्वकर्ममुक्त हो जाते हैं), इस कारण भी वे लोकान्तिक देव कहलाते हैं। इन्हें लोकान्तक भी कहते हैं।

लोकायतिक (चार्वाक मतानुयायी)–जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक आदि को बिलकुल नहीं मानते। इस शरीर और इस भव को ही सब कुछ मानते हैं, प्रत्यक्षवादी हैं, शरीर के भस्मीकृत होने पर पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं, जो शरीर और इन्द्रिय-सुखोपभोग को ही सर्वस्व मानते हैं, वे लोकायतिक हैं।

लोच–साधु-साध्वियों के लिए एक अनिवार्य कल्प (नियम)। संभावित जीवहिंसा से बचने, सौन्दर्य-प्रदर्शन, शरीर-प्रसाधन आदि रागभाव के निरोध के लिए पर्युषण आदि अमुक काल में मस्तक, श्मश्रु आदि के केशों का लोच करने का कल्प।

लोभ–बाह्य पदार्थों का अर्जन, रक्षण, संग्रह करना और उन पर ममत्व-बुद्धि रखना, देने योग्य पात्रों, सार्वजनिक सेवाभावी संस्थाओं, पुण्य कार्यों में धन को न देना अथवा दूसरे के धन को ग्रहण करना, हड़पना, रिश्वतखोरी, शोषण, भ्रष्टाचार आदि भ्रष्ट तरीकों से धन बढ़ाना लोभ है।

लोमाहार–शरीरपर्याप्ति के पश्चात् बाहरी त्वचा (चमड़ी) के द्वारा रोमों के आश्रय से जिस आहार को ग्रहण किया जाये, वह लोमाहार है।

लौकिकमूढ़–जो हिताहित-विवेकमूढ़ व्यक्ति लोकवंचनादिरूप धर्म, पशुबलि, नरबलि आदि हिंसाप्ररूपक धर्म को अथवा देवदासी, सती-प्रथा, जीवित ही मिट्टी में दबकर, पर्वत से कूदकर, पंचाग्नि तप कर मर जाने को धर्म-पुण्य आदि मानते हैं, तदनुसार आचरण करते हैं, वे लोकमूढ़ या लौकिकमूढ़ कहलाते हैं।

(व)

वक्ता : यथार्थ-अयथार्थ–(I) जो व्यक्ति सत्य-असत्य, समीचीन-असमीचीन भाषण करता है, वह वक्ता तो है, पर आत्मलक्षी यथार्थ वक्ता नहीं है। (II) जो प्रज्ञावान्, सर्वशास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, लोक-व्यवहार में दक्ष, आशातीत, प्रतिभाशाली, शान्त, प्रश्न का उत्तर पहले से ही सोचने-देखने वाला, कैसा भी अंटसंट प्रश्न हो, उसे सहने वाला, दूसरे के चित्त को आकर्षित करने वाला, परनिन्दा से रहित तथा स्पष्ट, हित, मित, मधुर भाषण करने वाला होता है, वही यथार्थ वक्ता एवं धर्मकथा का व्याख्याता हो सकता है।

वचनसिद्धि : वचन–निर्विषा ऋद्धि–(I) जिस सिद्धि, लब्धि या ऋद्धि के प्रभाव से, बोलने मात्र से विष-संयुक्त तीक्ष्ण या कटु आदि आहार निर्विष हो जाता है, उसे वचननिर्विषा ऋद्धि कहते हैं। (II) या जिस ऋद्धि, सिद्धि या लब्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी के वचन को सुन कर बहुत-से रोगों से अभिभूत प्राणी नीरोग, स्वस्थ हो जाते हैं, वह भी वचननिर्विषा ऋद्धि या वचनसिद्धि है।

वचनबलप्राण–स्वर-नामकर्म के साथ शरीर-नामकर्म होने पर जो वचन- विषयक प्रवृत्ति (व्यापार) करने की विशेष शक्ति होती है, उसे वचनबलप्राण कहते हैं।

वचन-बला ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रकट होने पर मुनि जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से एक मुहूर्त्त के भीतर समस्त श्रुत को अनायास ही जान लेता है और उत्तम स्वर के साथ उच्चारण भी कर लेता है, उसे वचन-बला ऋद्धि जानना चाहिए।

वज्रऋषभनाराच संहनन–जिस नामकर्म के उदय से वज्र के समान अभेद्य हड्डियाँ वज्रमय वेष्टन (ऋषभ) से वेष्टित और वज्रमय नाराचों से कीलित रहा करती हैं, उसे वज्रऋषभनाराच संहनन-नामकर्म कहते हैं।

वध–किसी जीव की आयु, इन्द्रियाँ और बलप्राणों का वियोग करना वध है। लकड़ी, चाबुक या बेंत आदि से मारना-पीटना या सताना-डराना भी वध है। यह असातावेदनीय कर्मबन्ध का कारण है।

वनकर्म–वनजीविका–वन को खरीद कर वृक्षों को काटना और बेचना, कटे हुए या बिना कटे हुए वन के फलों, फूलों, पत्तों आदि को बेच कर आजीविका चलाना, वह वनजीविका या वनकर्म (वणकम्मे) नामक कर्मादान है, खरकर्म है।

वनस्पतिकायिक जीव–वनस्पति-नामकर्म के उदय से जिनका शरीर वनस्पति का होता है, वनस्पतिकायिक जीव है।

वध-परीषह-जय–(I) तीक्ष्ण शस्त्र-अस्त्रादि के द्वारा घात करने पर भी घातक जनों के प्रति रोष, द्वेष, शाप, कोपादि विकार को प्राप्त न हो कर यह विचार करना कि यह सब मेरे पूर्वकृत कर्म का फल है। ये बेचारे मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? शरीर तो नाशवान् है ही, उसी को ये भले ही नष्ट कर दें इत्यादि विचार करते हुए उसे शान्ति, समता और धैर्य के साथ सहन करना वध-परीषह-जय है।

वन्दना–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, गुरु (दीक्षादाता), तप, श्रुत या गुणों में अधिक साधकों को तीन करणों के संकोचपूर्वक–मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म (वन्दनीय क्रम) के द्वारा कायोत्सर्ग आदि सहित या बिना कायोत्सर्गादि के जो अभिवादन-स्तुतिपूर्वक (गुरु-वन्दन-पाठ = तिक्खुत्तो के पाठ से) पंचांग नमा कर प्रणाम किया जाता है, उसे वन्दना कहते हैं। षड् आवश्यकों में यह तीसरा आवश्यक है। इसका वन्दना के अतिरिक्त गुणवत्-प्रतिपत्ति नाम भी है।

वयःस्थविर–साठ वर्ष से ऊपर का वृद्ध जन।

वर्गणा–(I) समस्त जीवों के अनन्तवें भाग-प्रमाण वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। (II) असंख्यात-लोकप्रमाण योगाविभाग-प्रतिच्छेदों की एक वर्गणा होती है।

वर्ण-नामकर्म–जिस कर्मोदय के निमित्त से शरीर में वर्ण प्राप्त हुआ करता है, उसे वर्ण-नामकर्म कहते हैं।

वशार्तमरण–इन्द्रिय-विषयों के वश हो कर पीड़ित होते हुए मरना वशार्तमरण है।

वलयमरण = वलयमरण–जो साधक संयम के अनुष्ठान से खिन्न हो कर या संयम से भ्रष्ट हो कर क्षुधादि परीषहों द्वारा मरते हैं; उनका मरण वलयमरण, वलायमरण या वलन्मरण होता है।

वह्नि–लोकान्तिक देवों का एक प्रकार, जो वह्नि (अग्नि) की तरह देदीप्यमान होता है। इसलिए उक्त देवों का नाम 'वह्नि' है।

वाक्य-शुद्धि–पृथ्वीकायादि जीवों के प्रति आरम्भ-विषयक प्रेरणा से रहित, परपीड़ाजनक, कठोर, कर्कश, छेदन-भेदनकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, सावद्य आदि वचन-प्रयोग से रहित, हित, मित, प्रिय, मधुर, सत्य वचन बोलने का नाम वाक्य-शुद्धि है। दशवैकालिकसूत्र के सातवें अध्ययन में साधक के लिए वाक्य- शुद्धि का सुन्दर मार्गदर्शन है। इसे वाक्शुद्धि भी कहते हैं।

वाक्-संयम–हिंसाकारी व कठोर आदि वचनों से निवृत्त हो कर शुभ भाषा में प्रवृत्ति करना वाक्संयम है।

वाग्गुप्ति–पाप की हेतुभूत स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, देशकथा या चौर्यकथा इत्यादि विकथाओं को अथवा असत्य आदि वचनों के परित्याग को तथा वाणी पर नियंत्रण रखने को वाग्गुप्ति कहते हैं। मौन रखना भी वाग्गुप्ति है।

वाग्भव–असमीक्ष्याधिकरण–निरर्थक कथा-वार्त्ता करना, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला कुछ भी भाषण करना, अंटसंट बकवास करना वाग्भव (वाचिक)–असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। यह आठवें अनर्थदण्ड-विरमणव्रत के मौखर्य नामक अतिचार के अन्तर्गत है तथा सामायिक व्रत के १० वाचिक दोषों में से एक दोष है।

वाग्योग–वचनयोग–(I) औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के व्यापार से प्राप्त हुए वचन-द्रव्य-समूह की सहायता से जो जीव का व्यापार होता है, वह वाग्योग है। (II) वाणी की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न वाग्योग है। (III) भाषा-पर्याप्तियुक्त जीव के शरीर-नामकर्म के उदय से स्वर-नामोदय सहकारी कारण से भाषावर्गणा में आये हुए पुद्गलस्कन्धों का चतुर्विध भाषारूप से परिणमन वाग्योग है।

वाचना–निर्दोष ग्रन्थ और उसका अर्थ दोनों पढ़ाना, दोनों का प्रदान करना वाचना है। शिष्यों को पढ़ाने को भी वाचना कहते हैं।

वाचनार्ह–गुरुभक्त, क्षमावान, कृतकृत्य, नीरोग, विशुद्ध बुद्धि के ८ गुणों से युक्त, विनम्र, शास्त्रानुरागी, सर्व प्रकार के आक्षेपों से रहित, निद्रा और आलस्य का विजेता, विषयेच्छा से रहित और मात्सर्यभाव से दूर रहने वाला हो, वह साधक सिद्धान्त की वाचना लेने के योग्य होता है।

वात्सल्य–(I) जो मुक्ति के साधना के प्रतिभूत रत्नत्रय में अनुराग रखता है, वह वात्सल्यगुणयुक्त सम्यग्दृष्टि है। (II) साधर्मिजन, विशेषतः अतिथि, ग्लान, गुरु, तपस्वी आदि के प्रति अनुराग रखता है, जिनशासन पर अनुराग रखता है; वह सम्यग्दर्शन के वात्सल्य गुण का परिपालक है।

वामन-संस्थान–जो नामकर्म समस्त अंगों और उपांगों की ह्रस्व अवस्था- विशेष (बौनेपन) का कारण हो, उसे वामन-संस्थान कहते हैं।

वायुकायिक जीव–जिस जीव ने वायु को शरीररूप में ग्रहण कर लिया हो, उसे वायुकायिक कहते हैं।

वासना–अविच्युति से जो संस्कार स्थापित होता है, उसे वासना कहते हैं। धारणा के तीन क्रम हैं–अविच्युति, वासना और स्मृति; इन तीनों में से वासना उसका दूसरा भेद है।

विकथा–जो कथा (वार्तालाप, बातचीत या सम्भाषण) संयम की विघातक हो, कामोत्तेजक, युद्धोत्तेजक, रागभावोत्तेजक एवं मार्गविरुद्ध, पापवर्द्धक हो, वह विकथा है।

विकल्प–मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि हर्ष-विषादरूप परिणाम का होना विकल्प है।

विक्रिया-वैक्रियशक्ति–अणिमा, महिमा आदि अष्टविध सिद्धियों के योग से एक या अनेक, छोटा या बड़ा, नानारूप धारण कर लेना विक्रिया या वैक्रिय- शक्ति है। देवों और नारकों को तो जन्म से वैक्रियशरीर मिलता है। देव वैक्रियशरीर के आश्रय से नानारूप बना सकते हैं।

विक्षेपणी कथा–पहले मिथ्यावाद का कथन करके फिर स्व-सम्यग्वाद का कथन करना अथवा पहले स्व-सम्यग्वाद का प्रतिपादन करके फिर मिथ्यावाद का कथन करना अर्थात् स्व-समय–पर-समय दोनों का कथन करना विक्षेपणी कथा है। कुमार्ग से सन्मार्ग में डालना विक्षेपणी का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

विचय–विवेक, विचय और विचारणा, ये तीनों समानार्थक हैं।

विज्ञान–(I) मोह, सन्देह, विपर्यास तथा अनध्यवसाय से रहित जो ज्ञान होता है, वह विज्ञान कहलाता है। (II) जिस ज्ञान में स्व-पर-विषयक विविध प्रकार का प्रतिभास होता है, उसका नाम विज्ञान है।

विद्या–(I) जिस मंत्र की अधिष्ठात्री स्त्री-देवता हुआ करती है अथवा जो जप आदि अनुष्ठान द्वारा सिद्ध की जाती है, उसे विद्या कहते हैं। (II) अथवा जिसको जान कर मानव अपने हित को समझता है और अहित से दूर रहता है, उसे विद्या कहते हैं।

विद्याचारण–जिनको विद्या के बल से आने-जाने की लब्धि या ऋद्धि (शक्ति) प्राप्त हो जाती है, उन्हें विद्याचारण कहते हैं।

विनय–(I) जो अष्टविध कर्मों को विनयति यानी नष्ट करता है, हटाता है, चतुर्गतिरूप संसार से मुक्त कराता है, वह विनय है। (II) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप (द्वादशविध) तथा बहुविध उपचारविनय के भेद से विनय ५ प्रकार का है। (III) ज्ञानादि चतुष्टय में जो अतिचार हों, अशुभ क्रियाएँ हों, उन्हें दूर करना– हटाना विनय है।

विनय-सम्पन्नता–मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि और उनके भी साधन (मार्गदर्शक) गुरु आदि हैं, उनकी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार विनय, बहुमान, आदर-सत्कार करना विनय-सम्पन्नता है। यह तीर्थंकर-नामकर्म के बन्धक कारणों में से एक है।

विनयाचार–कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्ध परिणामों के साथ जो स्थित है, उसके लिए अथवा उसके द्वारा उक्त शुद्ध परिणामों में स्वयं स्थित होने हेतु–शास्त्र का जो पाठ, व्याख्यान और परिवर्तन (पर्यटना) बार-बार अनुशीलन–किया जाता है, उसे विनयाचार कहते हैं।

विपाक–(I) कषाय की तीव्रता-मन्दता आदि भावों की विशेषता के अनुसार जो कर्म की अनुभाग-शक्ति में विशेषता होती है, उसका नाम विपाक है। (II) विपचन का नाम विपाक है यानी शुभाशुभ कर्मपरिणाम (कर्मफल)। (III) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूप पाँच निमित्तों के भेद से जो कर्मों के अनुभाग (फलदान-शक्ति में विश्वरूपता = विविधता) होती है, उसे विपाक कहते हैं।

विपाकजा निर्जरा–पूर्वबद्ध कर्म अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर जो पकते हैं–उदय को प्राप्त हो कर फल देते हैं–उसे विपाकजा निर्जरा कहते हैं। इसके विपरीत अविपाकजा निर्जरा उदय में आने से पहले ही तप, परीषह-उपसर्ग-विजय आदि के द्वारा उदीरणा करके यानी उदय में ला कर उन कर्मों की निर्जरा की जाती है, उसे अविपाकजा निर्जरा कहते हैं। विपाकजा निर्जरा दोनों प्रकार की होती है–सकामा और अकामा।

विपाकविचय (धर्मध्यान)–(I) एक या अनेक भवों में उपार्जित जीवों के पुण्य व पापकर्मों के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष का जिस ध्यान में विचार किया जाता है, उसे विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं। (II) अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के निमित्त से जो ज्ञानावरणीयादि कर्मों के फल के अनुभवन (अनुभाव) का विचार किया जाता है, अथवा जिस ध्यान में कर्म के फल (विपाक) का निर्णय किया जाता है उसका नाम भी विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपुलमति (मनःपर्यायज्ञान)–(I) जो ऋज व अनृजु मनोगत, वचनगत तथा कायगत को जान लेता है, उसे विपुलमति मनःपर्यायज्ञान कहते हैं। (II) जो मनःपर्यायज्ञान मन से–मतिज्ञान से, मन अथवा मतिज्ञान के विषय को जान कर दूसरों की संज्ञा, चिन्ता, स्मृति, मति, जीवन-मरण, पूर्वजन्म, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि को जान लेता है, वह विपुलमति है।

विप्पणास–मरण (समाधिमरण का एक प्रकार)–जिसे अकेला सहन न करके ऐसे दुरुत्तर, दुर्भिक्ष, घोर अटवी, पूर्व शत्रु का, दुष्ट राजा का या चोर का भय अथवा मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत उपद्रव के उपस्थित होने पर या ब्रह्मचर्यव्रत के भंग का नाश आदि चारित्रदोष-सम्बन्धी संकट उपस्थित होने पर पापभीरु, संवेग- प्राप्त मुनि कर्मोदय को उपस्थित जान कर पापाचरण करने से या चारित्र-विराधना करने से डरता है। ऐसे धर्म-संकटकाल में वह ऐसा निर्णय करता है कि यदि मैं उपसर्ग-पीड़ित होने से संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा तो दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाने पर संक्लेशयुक्त हो कर उसे भी सहन न कर सकूँगा। ऐसी स्थिति में मैं रत्नत्रय के आराधन से भ्रष्ट हो जाऊँगा। अतः वह निश्चल, निर्द्वन्द्व हो कर दर्शन व चारित्र से शुद्ध रहकर अरहन्त के पास में (या अरहन्त की साक्षी से) आलोचना करके निर्मल परिणामों से आहार-पानी का त्याग (निरोध) करता है। इस अवस्था में उसका जो समाधिपूर्वकमरण होता है, उसे विप्पणासमरण कहा जाता है।

विप्रौषधि (लब्धि)–'विट्' शब्दमल का 'प्रु' शब्द प्रस्रवण का वाचक है जिसके मल और मूत्र दोनों औषधिरूप हो जाते हैं, वह विप्रौषधि या विडौषधिलब्धि (ऋद्धि) का धारक होता है।

विभंगज्ञान–(I) क्षायोपशमिक व कर्मागम के निमित्तभूत विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मिथ्यात्व के सहित रहता है। (II) जिस अवधिज्ञान के जानने के पीछे आशय सम्यक् नहीं होता, दृष्टि विपरीत होती है, वह विभंग कहलाता है।

विरताविरत–प्रत्याख्यान कषाय के उदय होने से जीव विरताविरत होता है। जो हिंसादि पाँच पापों से स्थूलरूप से विरत होता है, सूक्ष्मरूप से अविरत, किन्तु सम्यग्दृष्टि और तत्त्वों का ज्ञान और श्रद्धान रखता है, वह विरताविरत श्रावक है।

विरति–चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक आदि चारित्र का आविर्भाव होता है, उसे विरति कहते हैं।

विराग–राग के कारणों के अभाव में जो विषयों से विरक्ति होती है, उसका नाम विराग है।

विरागता–लोभनिग्रह का नाम विरागता है। लोभ के अन्तर्गत आसक्ति, रागभाव, मोह, वासना, कामना, लालसा, तृष्णा आदि सभी आ जाते हैं।

विरागविचय–शरीर अपवित्र है और भोग किम्पाक फल के समान विषैले हैं, इस प्रकार विषयों के प्रति विरक्ति का पुनः-पुनः चिन्तन विरागविचय धर्मध्यान कहलाता है। धर्मध्यान के १० भेदों में से यह छठा भेद है।

विराधक–जो रत्नत्रयस्वरूप विशुद्ध आत्मा को छोड़ कर परद्रव्य का विचार करता है, उसे विराधक कहा गया है।

विरुद्धराज्यातिक्रम–(I) राज्य के कानून के विरुद्ध कार्य करना। (II) विरोधी राज्य में या पर-राज्य में शासकीय विधान का भंग कर अन्य प्रकार से वस्तु का ग्रहण, राज्य

की सीमा का अतिक्रमण करना, वहाँ के कानून का उल्लंघन करना भी विरुद्ध-राज्यातिक्रम है। यह तृतीय अणुव्रत का अतिचार है।

विविक्त–स्वाध्याय, अध्ययन, ध्यान, धारणा आदि में बाधक स्त्री, पशु, नपुंसक आदि कारणों से रहित पर्वत की गुफा, कन्दरा, प्राग्भार, श्मशान या जनशून्य गृह, अथवा उद्यान आदि स्थान विविक्त माने जाते हैं। विविक्त के अर्थ हैं–विजन, छन्न, पवित्र, एकान्त और स्त्री आदि के निवास-सम्पर्क से रहित या जनसम्पर्क से रहित।

विविक्तशय्यासन तप–(I) तिर्यंचनी, मनुष्यनी (नारी), विकारयुक्त देवी, जन्तु, नपुंसक आदि के तथा जनसम्पर्क से रहित स्थान को प्रयत्नपूर्वक छोड़ कर निर्बाध स्थान में आसन व शय्या लगाना विविक्तशय्यासन तप है। (II) ब्रह्मचर्य के परिपालन, तथा पवित्रता, ध्यान, धारणा, स्वाध्याय, अध्ययन आदि के लिए जन्तु-पीड़ा से रहित निर्जन शून्य गृह आदि में सोना, बैठना आदि विविक्त शय्यासन तप है।

विवेक-प्रतिमा–विवेक का अर्थ है–विवेचन यानी त्याग। आभ्यन्तर कषाय आदि तथा बाह्य–गण, उपधि, शरीर और भक्त-पान आदि जो अनावश्यक या अयोग्य हों, उनका परित्याग करना। किन्तु इन सब गण आदि के प्रति घृणा, द्वेष, अरुचि या ईर्ष्या न करना, इनके प्रति अन्तर में आस्था व आदरभाव रखना यह व्युत्सर्ग नामक आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।

विशुद्धता–अतिशय तीव्र कषाय का अभाव या मन्द कषाय का नाम विशुद्धता है। यह सात बन्धकों की विशुद्धता है।

विशुद्धि–(I) विवक्षित ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है, उसका नाम विशुद्धि है। (II) अपराध से मलिन हुए आत्मा को आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त द्वारा निर्मल करने का नाम शुद्धि–आत्म-शुद्धि है। (III) सातावेदनीय नाम (पुण्य प्रकृति) के बन्ध योग्य परिणाम को भी (भाव) विशुद्धि कहते हैं।

विशुद्धि-स्थान–परिवर्तमान (परावर्तमान), साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत (मन्द) कषाय-स्थानों को विशुद्धि-स्थान कहा जाता है।

विशोधि–विशेष प्रकार से शुद्धि विशोधि है। शिष्य के द्वारा हुए अपराध की आलोचना कर लेने पर उसको यथायोग्य प्रयाश्चित्त दिया जाना, विशोधि कहलाती है।

विश्वस्त-मंत्रभेद–विश्वास को प्राप्त जो मित्र व पत्नी आदि हैं, उनके मंत्र को–गोपनीय अभिप्राय (बात) को–प्रकट कर देना विश्वस्त-मंत्रभेद है। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

विषय–(I) द्रव्य-पर्यायरूप अर्थ विषय है। (II) इन्द्रियों और मन को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ विषय कहलाते हैं। (III) जिह्वा आदि इन्द्रियों से जिन रस आदि को ग्रहण किया जाता है, वे उनके विषय माने गये हैं।

विष-वाणिज्य–सोमल, पोटेशियम साइनाइड, तेजाब आदि विषों का तथा विषैले जानवरों–सर्प, छिपकली, बिच्छू, नेवला, सांडा, गोह आदि को पकड़वा कर उनसे विविध दवाइयाँ या सूप या तेल आदि बना-बना कर बेचना, ये सब चीजें विष-वाणिज्य में गिने जाते हैं। यह कर्मादान है।

विसंवाद–विपरीत प्रतीति।

विसंवादन–स्वर्ग-मोक्षादि-साधक समीचीन क्रियाओं में प्रवृत्त किसी दूसरे व्यक्ति को मन-वचन-काय की कुटिलता से 'ऐसा मत करो, ऐसा करो' इस प्रकार से बहकाने, वंचना करने को विसंवादन कहते हैं।

विस्तार-रुचि (सम्यक्त्व का एक भेद)–प्रमाण, नय, निक्षेप आदि विस्तृत उपायों से अंगशास्त्र, पूर्वशास्त्र आदि में प्ररूपित तत्त्वों को जान कर जो रुचि या श्रद्धा होती है, उसे विस्तार-रुचि, विस्तार-दृष्टि या विस्तार-सम्यक्त्व कहते हैं।

विहायोगति-नामकर्म–(I) (दिगम्बर-परम्परानुसार) विहायस् नाम आकाश का है। जिस कर्म के उदय से जीव का आकाश में गमन निष्पन्न होता है, उसे विहायोगति-नामकर्म कहते हैं। (II) (श्वेताम्बर-परम्परानुसार) जिस कर्म के उदय से जीव शुभ या अशुभ गति (गमन = चाल) से युक्त होता है, वह विहायोगति- नामकर्म कहलाता है। इसके दो भेद हैं–शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति।

वीचार–अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं। यह प्रशस्तध्यान का विषय है।

वीतराग–मोहनीय कर्म के क्षय से जीव वीतराग (राग-द्वेष से रहित) होता है।

वीतराग-कथा–गुरु और शिष्य अथवा तत्त्वज्ञान के विशिष्ट विद्वानों के बीच में जब भी किसी वस्तुस्वरूप के निर्णय की बात चले, तब परस्पर वीतरागता या वीतराग को लक्ष्य में रख कर चलना वीतराग कथा है।

वीतराग-चारित्र–रागादि तथा अपध्यान आदि समस्त विकल्पों से रहित तथा स्व-संवेदन से उत्पन्न स्वाभाविक सुख के रसास्वाद से युक्त जो चारित्र होता है, उसे वीतराग-चारित्र कहते हैं।

वीतराग-सम्यक्त्व–७ कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा में जो निर्मलता होती है, उसे वीतराग-सम्यक्त्व कहा जाता है।

वीर–(I) जो कर्मों का विदारण करता है तथा तपस्या से सुशोभित है और तप तथा वीर्य से युक्त है, उसे वीर कहा जाता है। (II) रागादि शत्रुओं पर जो विजय प्राप्त कर लेता है, वह वीर कहलाता है।

वीर्य–(I) द्रव्य की अपनी शक्ति का नाम वीर्य है। (II) वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम वीर्य है।

वीर्यान्तराय कर्म–जिस कर्म के उदय से वीर्य की उत्पत्ति में अन्तराय पड़े यानी किसी ज्ञानादि की आराधना में कोई साधक शक्ति लगाना चाहे परन्तु इस कर्म के उदय से वह शक्ति न लगा सके, वहाँ वीर्यान्तराय कर्म समझना चाहिए। (II) शरीर निरोग होने तथा यौवन अवस्था होने पर भी जिसके उदय से प्राणी अल्पप्राण हो जाये। (III) अथवा शरीर बलिष्ठ होने पर भी तथा प्रयोजन सिद्ध होने की सम्भावना होने पर भी प्राणी हीनबल व पस्तहिम्मत होने से उसमें प्रवृत्त ही नहीं होता उसका वह कारणभूत कर्म है–अन्तराय कर्म।

वृत्ति-संक्षेप तप–वृत्ति-परिसंख्यान तप–अपनी स्वाद-लालसा की वृत्ति को कम (संक्षिप्त) करने के लिए साधु द्वारा भिक्षाचरी के लिए गृह, एक पाड़ा (मोहल्ला) अथवा दरिद्रदाता आदि के घर से भिक्षा के विषय में परिमाण करना अथवा (श्रावक के पक्ष में) खाद्य द्रव्यों की गिनती रखना वृत्ति-संक्षेप है।

वेद–जो अनुभव में आये, वह वेद है। आत्म-प्रवृत्ति से जो मैथुन क्रिया के प्रति मुग्ध करता है–सम्मोह उत्पन्न करता है, वह वेद-नोकषाय है। यह तीन प्रकार का है–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

वेद (श्रुत)–जो समस्त पदार्थों को वर्तमान में जानता है, भविष्य में जानेगा और भूतकाल में जान चुका है, उसे वेद कहते हैं। श्रुत के वाचक ४१ नामों में से एक है।

वेद = वेदन–सुख-दुःख आदि का वेदन–अनुभव करना अथवा कर्मों का शुभ-अशुभ फल वेदना = भोगना, अनुभव करना = वेद या वेदन कहलाता है। वेद वेदनकर्त्ता जीव का भी एक पर्याय है।

वेदक-सम्यक्त्व–प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख हुआ जो जीव दले जाने वाले धान के छिलके, कण और तन्दुल, इन तीन विभागों के समान मिथ्यादर्शन कर्म को मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, इन तीन भागों में विभाजित कर सम्यक्त्व-प्रकृति का अनुभव (वेदन) करता है। वह सद्भूत पदार्थों के श्रद्धान के फलस्वरूप वेदक सम्यग्दृष्टि होता है।

वेदना–विवक्षाभेद से वेदना का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। यथा–(१) कर्म के उदय का नाम वेदना है। (२) कर्म के अनुभव = कर्मफल के वेदन (भोगने) का नाम वेदना या वेदन है। (३) आठ प्रकार के कर्मद्रव्य का नाम वेदना है। (४) सुख-दुःख का नाम वेदना है। (५) उदय में प्राप्त हुए वेदनीय कर्म के द्रव्य को ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा वेदना कहा जाता है। (६) शब्दनय की अपेक्षा वेदनीय कर्मद्रव्य के उदय से जो सुख-दुःख होते हैं, उनको तथा आठों कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणाम (अनुभव = अनुभाव) को भी वेदना कहा गया है।

वेदना (आर्त्तध्यान)–(I) शूल रोग आदि की पीड़ा होने पर उसके वियोग के लिए तथा भविष्य में उसका संयोग न हो, इसके लिए जो चिन्ता (व्याकुलता) होती है, उसका नाम वेदना है। (II) वात, पित्त, कफ आदि के विकार से शरीर में जो पीड़ा होती है, उसके कारण हुए आर्त्तध्यान को भी वेदना कहते हैं।

वेदनाभय–मलों के प्रकोप से शरीर में जो रोगादिजनित वेदना उत्पन्न होती है, वह आगन्तुक है। अभी आई नहीं है, उससे पहले ही शरीर में कम्पन होना, अज्ञानतावश उसके लिए चिन्तातुर होना कि 'मैं कैसे निरोग होऊँगा? मुझे कहीं व्याधिजनित वेदना न हो जाये' यही वेदनाभय है, जो भयमोहनीय कर्म के उदय से होता है।

वेदनीयकर्म = वेद्यकर्म–मधुलिप्त तलवार की धार के समान जो कर्म सुख-दुःख के अनुभवन (वेदन) कराने के स्वभाव वाला है, वह वेदनीय या वेद्य कर्म है। उसके दो प्रकार हैं–सातावेदनीय और असातावेदनीय।

वेहाणस-मरण–पेड़, पंखे आदि से उद्बन्धन = गले में बंधन (फाँसी) डाल कर आकाश में (झूल कर) मरण होता है, उसे वेहाणस या वैहायस-मरण कहते हैं।

वैक्रियशरीर–(I) जिस कर्म के उदय से जीव (आत्मा) के साथ वैकुर्विक शरीर के परमाणु बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसको वैक्रियशरीर-नाम कहते हैं। (II) अणिमादि अष्टगुणरूप सिद्धियों के सम्बन्ध से छोटे-बड़े, स्थूल-सूक्ष्म, एक-अनेक आदि नाना प्रकार के रूपों का निर्माण किया जाना विक्रिया है, विक्रियारूप प्रयोजन सिद्ध करने वाले शरीर को वैक्रिय या वैक्रियिकशरीर कहते हैं। (III) सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्य करने में समर्थ, पुद्गलों से रचित तथा विविध क्रियाओं को करने के प्रयोजन वाला शरीर वैक्रियशरीर होता है।

वैक्रिय-समुद्घात–(I) एकत्व-पृथक्त्वरूप अनेक प्रकार के वैक्रियिकशरीर, बाकप्रकार और प्रहरण आदि विक्रियारूप प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले समुद्घात–आत्म-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने–को वैक्रिय-समुद्घात कहते हैं। (II) वैक्रियशरीर-नामकर्म के उदय वाले देवों और नारकों द्वारा स्वाभाविक आकार को छोड़ कर विभिन्न आकारों में अवस्थित होना वैक्रिय-समुद्घात कहलाता है।

वैनयिक मिथ्यात्व–(I) समस्त देवों और सभी शास्त्रों को–उनकी यथार्थता-अयथार्थता का विवेक न करके समानरूप में देखना वैनयिक मिथ्यात्व है। (II) जिनका प्रयोजन एकमात्र सबका विनय करना ही होता है, वे वैनयिक मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। (III) इहलोक-परलोक-सम्बन्धी सभी सुख विनय से ही प्राप्त होते हैं, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास के क्लेश से; विनय से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार की एकान्तिक मान्यता को वैनयिक मिथ्यात्व कहते हैं। इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त व्यक्ति वैनयिकवादी भी कहलाते हैं।

विनयवाद–(I) एकान्तरूप से विनय को ही स्वीकार करना विनयवाद है। इनकी मान्यता है कि सुर, राजा, ज्ञाति, यति, स्थविर (वृद्ध), अधम, माता, पिता, इन ८ में से प्रत्येक का देश व काल की उपपत्ति के साथ काय, वचन, मन और दान, इन चार के द्वारा विनय करना चाहिए। यों ८ भेदों के साथ इन ४ को गुणित करके ८ × ४ = ३२ भेद एकान्त विनयवाद के हुए। विनयवाद का एक और प्रकार भी है–कुत्ता, गाय, मनुष्य, चाण्डाल या कोई भी जीव सामने मिल जाये सबका यथायोग्य विनय करना यह भी एकान्त विनयवाद का रूप है।

वैनयिकी प्रज्ञा–वैनयिकी बुद्धि–विनयपूर्वक १२ अंगशास्त्रों के पढ़ने वाले के या 'पर' का = अनुभवियों, महत्तरों–बुजुर्गों का विनय करने से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह वैनयिकी बुद्धि या प्रज्ञा है। विनय यानी सेवा-शुश्रूषा (गुरु आदि की) जिसकी कारण है या जिसमें उसकी प्रधानता है, वह भी वैनयिकी बुद्धि कहलाती है।

वैभाविकभाव–जीव के अपने गुणों में जिनसे संक्रमण, परिवर्तन या विकार होता है, वे कषाय, राग, द्वेष, मोह, ममत्व, अहंत्व आदि वैभाविकभाव कहलाते हैं।

वैमानिक (देव)–जिनमें रहते हुए जीव अपने आपको विशिष्ट पुण्यशाली मानते हैं, वे विमान हैं और उनमें रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं।

वैयावृत्य (आभ्यन्तरतप का एक भेद)–(I) कायपीड़ा, अशक्ति, रुग्णता, व्याधि, मार्गश्रम से श्रान्त, चोर, दुष्ट, दुर्जन आदि से उपद्रुत, हिंस्र पशुओं से पीड़ित, शासनकर्त्ता आदि से बाधित, नदी आदि से अवरुद्ध, परीषह, मिथ्यात्व तथा दुर्भिक्ष आदि संकटों से ग्रस्त आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (नवदीक्षित), ग्लान, गण, कुल, संघ (चतुर्विध संघ), साधु और समनोज्ञ (साधर्मिक), इन दस उत्तम सेवा-शुश्रूषा–पात्रों को उन-उन संकटों से–आपदाओं से व्यावृत्त करने = दूर करने, का जो कर्म या भाव है, उसे वैयावृत्य कहते हैं। (II) गुणीजनों पर किसी प्रकार का दुःख, संकट, विपत्ति आ पड़ने पर उनका निरवद्य वृत्ति से अप्रत्युपकारभावना से प्रतीकार करना–अपनयन करना वैयावृत्य है। गुणवान् साधुवर्ग या धर्मसंघ, गण आदि पर दुःख आ पड़ने पर निर्दोष उपाय द्वारा उसे दूर करने का निरन्तर विचार या चिन्तन करते रहना वैयावृत्यभावना है।

वैयावृत्य-योग–जिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, प्रवचन-वात्सल्य, अरहन्त-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति आदि भावों द्वारा जीव अपने योगों को पूर्वोक्त वैयावृत्य में योजित करता है, उसका नाम वैयावृत्य-योग है।

वैराग्य–शरीर, विषयभोग तथा संसार (जन्म-मरणादि) आदि अनिष्ट पर- वस्तुओं पर प्रीतिरूप–आसक्तिरूप रागभाव का नष्ट हो जाना विराग है, विराग की अवस्था वैराग्य है।

वैस्रसिकबन्ध–पुरुष के प्रयत्न के बिना पुद्गलों में परस्पर बन्ध हो जाना वैस्रसिकबन्ध है।

व्यंजनावग्रह–जिससे अर्थ व्यक्त होता है, उसे व्यंजना कहते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों में शब्दादिरूप से परिणत पुद्गल-ग्रहण करने पर भी दो-तीन आदि समयों में व्यक्त नहीं हो पाते। किन्तु वे बार-बार अवग्रह होने पर व्यक्त होते हैं। अतः व्यक्त ग्रहण से पूर्व जो उनका अवग्रह (अव्यक्तरूप से) होता है, वही व्यंजनावग्रह है। (अर्थ का) अव्यक्तरूप से ग्रहण होना व्यंजनावग्रह है।

व्यंजनावग्रहावरणीय–जो कर्म व्यंजनावग्रह को आवृत करता है, वह व्यंजनावग्रहावरणीय है।

व्यन्तरदेव–जिन देवों के निवास जलाशय, वृक्ष, वनादि विविध क्षेत्र हैं, अनेक प्रकार के वनान्तर जिनके आश्रयभूत हैं, वे व्यन्तर कहलाते हैं। अथवा जिनका मनुष्यों से अन्तर नहीं है, वे भी वाणव्यन्तर कहलाते हैं।

व्यवहारचारित्र–अशुभ (आचरण) से निवृत्ति और शुभ आचरण में प्रवृत्ति व्यवहारचारित्र है।

व्यवहारनय–संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों का जिसके द्वारा भेद किया जाता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं।

व्यवहार-सम्यक्त्व–(I) मिथ्यात्व से विपरीत तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यक्त्व का कारणभूत व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। (II) मूढ़तात्रय, अष्टविध मद, छह अनायतन, शंकादि आठ मल से रहित शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थ–श्रद्धान- लक्षण सराग-सम्यक्त्व का ही अपर नाम व्यवहार-सम्यक्त्व है।

व्यवहार-सम्यग्ज्ञान–अंगशास्त्र और पूर्वश्रुत विषयक ज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञान का लक्षण है।

व्यवहार-सम्यग्दर्शनाराधना–तीन मूढ़ताओं और पच्चीस दोषों को दूर करके हेय के परित्याग और उपादेय के ग्रहणपूर्वक जिसमें जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान किया जाये, उसे व्यवहार-सम्यग्दर्शनाराधना कहते हैं।

व्युत्सर्गतप–(I) विविध बाह्याभ्यन्तर बन्धहेतुओं–दोषों का उत्कृष्ट त्याग व्युत्सर्ग है। (II) आत्मा और आत्मीयरूप संकल्प–अहंकार और ममकार का त्याग व्युत्सर्ग है। (III) बाह्य शरीर, भक्त, उपधि और अन्तरंग क्रोधादि कषायों तथा राग-द्वेषादि विकारों का व्युत्सर्जन = विशिष्ट रूप से त्याग करना व्युत्सर्गतप है। यह आभ्यन्तरतप है।

व्युत्सर्ग-समिति–जीव-जन्तुओं से रहित पृथ्वी पर मल, मूत्र, कफ, लींट आदि को अतिशय प्रयत्न (यतना) के साथ डाला (परिठा) जाये, उसे व्युत्सर्ग-समिति कहते हैं।

व्युत्सृष्ट-मरण–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परित्याग करके जो मृत्यु हो, वह व्युत्सृष्ट-मरण है।

व्यवहार-हिंसा–रागादि की उत्पत्ति में बाह्य निमित्तभूत जो अन्य प्राणियों का घात होता है, उसे व्यवहार-हिंसा कहते हैं।

व्युपरत क्रियानिवृत्ति–जो ध्यान वितर्क व वीचार से रहित हो, क्रिया से विहीन हो, जिसमें योगों का निरोध हो चुका हो तथा शैलेश (मेरुपर्वत) के समान निष्कम्प और स्थिरता-प्राप्त हो, उसे अन्तिम व्युपरत-क्रिया नामक चतुर्थ शुक्लध्यान कहते हैं। शेष चार अघातिकर्मों का क्षय करने के लिए अयोगीकेवली भगवान इसे ध्याते हैं।

व्रत–(I) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाँचों से विरत होने का नाम व्रत है। (II) सर्वसावद्ययोगों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं। (III) नियमों का

संकल्पपूर्वक पालन करना तथा अशुभ कर्म से निवृत्त होना और शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना व्रत है।

व्रती–जो माया, निदान और मिथ्यादर्शन, इन तीन शल्यों से रहित हो कर अहिंसादि व्रतों से विभूषित होता है, वह व्रती कहलाता है।

(श)

शकटजीविका–गाड़ियाँ और उनके अंगभूत चक्के आदि बनाना, बेचना और भाड़े पर चलाना शकटजीविका है।

शकटीकर्म (साडीकम्मे)–गाड़ियाँ बनाना, भाड़े पर चलाना, और उसके द्वारा आजीविका करना शकटीकर्म है। ये दोनों धन्धे त्रसजीवों को पीड़ादायक, त्रस-स्थावर-हिंसाजनक होने से हेय हैं। इसीलिए इन्हें कर्मादान (खरकर्म) में गिनाया है।

शक्तितस्तप–यह शरीर दुःख का कारण, अनित्य और अपवित्र है, अभीष्ट भोगों के द्वारा इसे पुष्ट करना उचित नहीं है; अपवित्र हो कर भी यह गुणरूप रत्नों के संचय करने में उपकारी है, ऐसा विचार करके विषयसुख में आसक्त न हो कर उसका उपयोग दास की तरह करना। जिस प्रकार कार्य के सम्पादनार्थ सेवक को भोजन और वेतन आदि दिया जाता है, उसी प्रकार रत्नत्रयादि गुणों को प्राप्त करने के लिए यथायोग्य इस शरीर का पोषण करना तथा शक्ति के अनुरूप आगमानुसार बाह्याभ्यन्तर तप करना शक्तितस्तप कहलाता है।

शक्तितस्त्याग–पात्र के लिए दिया गया आहारदान उसी दिन में उसकी प्रीति का कारण होता है। अभयदान एक भव की आपत्तियों को, दूर की आपत्तियों को दूर करने वाला है, किन्तु सम्यग्ज्ञान का दान हजारों भवों के दुःखों से मुक्त कराने वाला है। इस कारण विधिपूर्वक इस तीन प्रकार के दान देना या त्याग करना शक्तितः त्याग कहलाता है।

शंका–सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा उपदिष्ट (आगमगम्य अतीन्द्रिय) कतिपय पदार्थ हैं या नहीं ?इस प्रकार का सन्देह करना शंका है।

शब्दानुपात–मर्यादित क्षेत्र के बाहर व्यापार करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके खाँसने आदि का शब्द करके समझाना या बुलाना शब्दानुपात नामक देशावकाशिक व्रत का अतिचार है।

शय्या-परीषहजय–तीक्ष्ण, विषम, ऊबड़-खाबड़, अधिक रेतीले, पथरीले, कंकरीले, शीत या उष्ण भूमि वाला प्रदेश ठहरने और सोने के लिए मिले, फिर भी साधक बिना किसी प्रकार की उद्विग्नता, चंचलता या प्रतिक्रिया के प्राणियों की किसी प्रकार की विराधना न हो, इस प्रकार प्रमार्जन-प्रतिलेखनापूर्वक शव के समान निश्चल हो कर सोने-रहने-बैठने वाला, जो साधक व्यन्तर आदि के उपद्रव से विचलित न हो कर शान्ति से ज्ञान-ध्यान में चित्त लगाता है, तो वह शय्या-परीषह पर विजय कर लेता है। इसे शय्या-परीषह-सहन भी कहते हैं।

शम–(I) दर्शनमोहनीयस्वरूप मोह और चारित्रमोहनीस्वरूप क्षोभ इन दोनों से रहित आत्मा के परिणाम को शम कहते हैं। (II) दुष्ट अनन्तानुबन्धी कषायों उदयाभाव का नाम शम है। चारित्र, धर्म और शम एकार्थक हैं।

शरीर-नामकर्म–जिसके उदय से आत्मा के औदारिक आदि शरीर की रचना होती है, वह शरीर-नामकर्म कहलाता है।

शरीर-पर्याप्ति–तिलों के खल भाग के समान खलभागरूप में परिणत पुद्गल स्कन्धों को अस्थि आदि स्थिर-अवयवरूप से तथा तैल-समान रस-भाग को रस, रक्त, मज्जा, चर्बी और वीर्य आदि द्रवरूप अवयवों द्वारा औदारिक आदि तीन शरीररूप में परिणमन की शक्ति से युक्त स्कन्धों की जो पर्याप्त प्राप्ति होती है, उसे शरीर-पर्याप्ति कहते हैं।

शरीरबन्धन-नामकर्म–जो पूर्वबद्ध और वर्तमान में बाँधे जाने वाले औदारिक आदि शरीरगत पुद्गलों के सम्बन्ध का कारण है, उसे शरीरबन्धन-नामकर्म कहते हैं।

शरीरसंघात-नामकर्म–उदय-प्राप्त जिन पुद्गल-स्कन्धों द्वारा बन्धन-नामकर्म के उदय से बन्ध को प्राप्त हुए शरीरगत पुद्गल-स्कन्धों की मृष्टता (शुद्धि या चिकनापन) की जाती है, उसका नाम शरीरसंघात-नामकर्म है।

शान्ति–कर्मजनित संताप का उपशम होना।

शासनदेव–जैनशास्त्र की रक्षा करने तथा विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले शासनदेव-देवी कहलाते हैं।

शास्त्र–जो आप्त के द्वारा कथित है, कुवादियों द्वारा खण्डनीय नहीं है, जिसमें प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध सम्भव नहीं है, जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ उपदेष्टा व समस्त प्राणियों के लिए हितकर होता है एवं कुमार्ग = मिथ्यात्व आदि से बचाने वाला होता है, उसे शास्त्र कहते हैं।

शिक्षाव्रत–शिक्षा कहते हैं–पुनः-पुनः परिशीलन = अभ्यास करने को अथवा विद्या को। शिक्षा के लिए अथवा शिक्षा की प्रधानता से युक्त जो व्रत ग्रहण किया जाय, वह शिक्षाव्रत है। श्रावक के लिए ४ शिक्षाव्रत बताये गये हैं।

शिव–जिस महान् देव ने अतिशय कल्याणकारी, शान्त परमसौख्यरूप, अविनश्वर, मुक्तिपद को प्राप्त कर लिया है, वह शिव है। 'शिव' सिद्धिगति का भी एक विशेषण है।

शिष्य–जो गुरुभक्त, विनीत, भवभीरु, धर्मात्मा, बुद्धिमान्, शान्तचित्त, आलस्यरहित और शिष्ट हो, वही शिष्य कहलाता है।

शीत-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में शीतता (ठण्डक) होती है, वह।

शीत-परीषहजय–अत्यन्त कड़ाके की ठण्ड पड़ रही हो, ठण्डी हवाएँ कलेजे को चीर रही हों, उस समय भी नग्न या परिमित वस्त्रों में रह कर समभाव से ज्ञानभाव में रमण करते हुए उसे सहना शीत-परीषहजय है।

शुक्लध्यान–(I) जिस ध्यान में सुविशुद्ध आत्म-गुणों का संयोग हो, जहाँ कर्मों का क्षय या उपशम हो, जिसमें लेश्या भी शुक्ल हो, उसे शुक्लध्यान कहा जाता है। (II) असंक्लिष्ट परिणाम को शुक्लध्यान कहते हैं अथवा अष्टविध कर्मरज को जो शुद्ध करता है, वह शुक्लध्यान है।

शुक्ललेश्या–पक्षपात न करना, निदान न करना, समस्त प्राणियों पर समताभाव रखना तथा राग-द्वेष से रहित होना, ये शुक्ललेश्या के लक्षण हैं।

शुद्ध चेतना–मात्र ज्ञान का अनुभव करना शुद्ध चेतना है।

शुद्ध ध्यान–रागादि की परम्परा नष्ट हो जाने पर जब अन्तरात्मा प्रसन्न होता है, तब जो आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है, उसे शुद्ध ध्यान कहा गया है।

शुद्ध सम्प्रयोग–सिद्धि के कारणभूत अर्हन्त आदि परमेष्ठियों के विषय में जो गुणानुरागरूप भक्ति से अनुरंजित मन का व्यापार होता है, उसे शुद्ध सम्प्रयोग कहते हैं।

शुद्धात्मा–आत्मा स्वभावतः जिसकी शुद्ध हो तथा त्रिविध दण्ड, द्वन्द्व, ममता, आकुलता, परावलम्बन, राग, द्वेष, मूढ़ता, भय, परिग्रह, मूर्च्छा (आसक्ति), शल्य, काम, क्रोध, मान और मद, इन समस्त दोषों से रहित होने से जिसकी आत्मा शुद्ध है, वह शुद्धात्मा है।

शुद्धि–(I) चित्त का प्रसन्न रहना, यही शुद्धि का लक्षण है। (II) निर्मल ज्ञान और दर्शन का आविर्भाव होना भी शुद्धि है।

शुद्धोपयोगी श्रमण–जिसने पदार्थप्ररूपकसूत्र (परमागम) को भलीभाँति जान लिया है, जो तप और संयम से युक्त हो कर रागरहित है, शुद्ध आत्म-ज्ञान में दक्ष है, सुख-दुःख में समभावी है, वह शुद्धोपयोगी श्रमण है।

शुभ काययोग–अहिंसा, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का परिपालन करना इत्यादि शुभ काययोग है।

शोकमोहनीय (नोकषाय का एक भेद)–जिस कर्म के उदय से इष्ट-वियोग आदि के समय में प्राणी छाती पीट-पीट कर जोर-जोर से रोता है। गुणानुस्मरणपूर्वक विलाप करता है, पृथ्वी पर लोटता है तथा दीर्घ श्वास लेता है, उसे शोकमोहनीय कर्म कहते हैं।

शौचधर्म–(I) जो मुनि कांक्षाभाव को छोड़ कर वैराग्यभावना से युक्त होता है, उसका वह धर्म शौचधर्म होता है। (II) लोभ के जितने भी प्रकार हैं, उनसे प्रकर्षरूप से निवृत्त हो जाने पर शुचिभाव (निर्मलता) या शुद्ध कर्म होना शौचधर्म है। यह दशविध श्रमण (उत्तर) धर्म का एक अंग है।

श्रद्धा–(I) व्यामोह, संशय और विपर्यास से रहित 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार की प्रतीति श्रद्धा है। (II) तत्त्वार्थाभिमुखी रुचि का नाम श्रद्धा है। (III) मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशमादि से चित्त की प्रसन्नता श्रद्धा कहलाती है।

श्रमण–जो पंससमितियों से युक्त है, तीन गुप्तियों से संरक्षित है, पाँच इन्द्रियों से संवृत है, कषायों का विजेता, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, निन्दा-प्रशंसा में, मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में तथा जीवन-मरण में सम रहता है। ऐसे संयत को श्रमण कहते हैं।

श्राद्ध–जो देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रखता है, श्रद्धागुण से युक्त है, वह श्राद्ध है। यह श्रावक या श्रमणोपासक का पर्यायवाची शब्द है।

श्रावक–जो श्रद्धालु है, धर्मसंघ की सेवा-शुश्रूषा करता है, दान का बीज बोता है, जैनधर्म-दर्शन का स्वीकार करता है, यथाशक्ति व्रत-नियम, त्याग-प्रत्यख्यान करता है, पापकर्मों को काटता है, यथाशक्ति संयम करता है। जो बारहव्रतरूप श्रावकधर्म का पालन करता है, वह श्रावक है।

श्रुतज्ञान–श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञानरूप बहिरंग कारण के होने पर जो इन्द्रियातीत विषय के आलम्बन से स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहा है।

श्रुतावर्णवाद–जिनप्रज्ञप्त आगमों की बातों को ले कर उनकी हँसी उड़ाना, निन्दा करना, उनकी यथार्थता पर शंका करना श्रुतावर्णवाद है।

श्रुतविनय–श्रुतविनय चार प्रकार का है–(१) सूत्रग्राहण–(उद्युक्त हो कर शिष्य को श्रुत का ग्रहण कराना, (२) अर्थ-श्रावण (प्रयत्नपूर्वक अर्थ को सुनाना), (३) हितप्रदान (जिस-जिस साधक के लिए जो-जो, जितना-जितना योग्य है, उसे वह-वह और उतना-उतना सूत्र और अर्थ के रूप से दिया जाना), और (४) निःशेषवाचन (समाप्ति पर्यन्त जो वाचन किया जाये)।

श्रुतस्थविर–जो स्थानांग और समवायांगसूत्र का ज्ञाता हो, वह श्रुतस्थविर कहलाता है।

श्रुतातिचार–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि के बिना श्रुत (शास्त्र) का पठ न-पाठन करना अतिचार है।

श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह–श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रय से होने वाला अमुक सीमा तक के अर्थ = पदार्थ का अवग्रह (ग्रहण = ज्ञान) करना।

(ष)

षट्स्थान-वृद्धि–अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि; ये षट्स्थान-पतित वृद्धि के रूप हैं।

षट्स्थान-हानि–अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्त गुणहानि; ये षट्स्थान-पतित हानि के रूप हैं।

षड्जीवनिकाय-संयम–षड्जीवकाय-संयम–पृथ्वीकाय आदि ५ स्थावर और त्रस; इन छह जीवनिकायों के संयम को–उनके संघट्टन आदि से होने वाली विराधना के परित्याग को षड्जीवनिकाय-संयम कहते हैं।

षष्ठभक्त (प्रत्याख्यान) तप (बेला)–छठी भोजन बेला में, (दो दिन के उपवास के बाद) पारणा करने को षष्ठभक्त (छट्ठभत्त) तप कहा जाता है।

(स)

सकल चारित्र–पूर्णतया पंचमहाव्रतपालक त्यागी अनगार।

सकल परमात्मा–चार घातिकर्मों से रहित अरिहन्त।

सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय–पूजा-प्रशंसा का नाम सत्कार है और क्रिया के प्रारम्भ आदि में आगे करना, आमन्त्रित करना पुरस्कार है। किसी दीर्घकालिक संयमी, तपस्वी, ब्रह्मचारी को, बहुश्रुत विद्वान् को, प्रवक्ता को लोगों द्वारा आदर- सत्कार न दिये जाने पर तथा अज्ञानी लोगों द्वारा उसकी आलोचना, निन्दा किये जाने पर भी मन में रोष, क्रोध, उफान न आना, किसी प्रकार की दुर्भावना को मन में न आने देना, निमित्तों पर रोष न करना, प्रतिक्रिया न करना, समभाव से अपने सत्कार्य, स्वाध्याय, ज्ञानध्यान में दत्तचित्त रहना उक्त श्रमण द्वारा सत्कार-पुरस्कार-विजय कहलाता है।

सत्य-मनोयोग–सत्य-पदार्थ-विषयक ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति भावमन है, अतः समीचीन पदार्थ को विषय करने वाला मन सत्य-मन है, उसके आश्रय से जो योग = प्रयत्न-विशेष होता है, वह सत्य-मनोयोग कहलाता है।

सत्य-महाव्रत–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह एवं हास्यवश असत्य भाषणरूप परिणाम, असत्य वचन तथा असत्याचरण का मन-वचन-काया से, कृत-कारित अनुमोदितरूप से त्याग करना सत्य-महाव्रत का लक्षण है। अन्य को संतप्त करने वाला वचन भी न बोलना, सूत्र व अर्थ-विषयक अन्यथा कथन न करना भी सत्य-महाव्रत है।

सत्य-वचनयोग–दस प्रकार के सत्य-वचन के आश्रय से जो योग–आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, उसे सत्य-वचनयोग कहते हैं।

सत्याणुव्रत–स्थूल असत्य स्वयं न बोलना दूसरों से न बुलवाना तथा विपत्तिजनक सत्य भी न बोलना, यह स्थूल मृषावाद विरमणव्रत यानी सत्याणुव्रत है।

सत्त्व–वीर्यान्तराय के क्षयोपशम आदि से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह सत्त्व है, सुदृढ़ मनोबल को भी सत्त्व कहते हैं।

सत्त्व–सत्ता–कर्मों का आत्मा के साथ अबाधाकाल तक बना रहना, उदय में न आने तक अस्तित्त्व रूप में पड़े रहना सत्ता है। इसे दिगम्बर-परम्परा में सत्त्व में रहना कहते हैं।

सद्वेदनीय कर्म–जिसके उदय से देवादि गतियों में शारीरिक-मानसिक सुख- प्राप्ति हो, वह सद्वेदनीय, सद्वेद्य या सातावेदनीय कर्म है।

सान्निपातिकभाव–औदयिक, औपशमिक आदि भावों में दो-तीन आदि भावों का संयोग।

सम्मिश्राहार–सचित्त के साथ अचित्त आहार का मिश्रण करके जो आहार निष्पन्न किया हो, वह।

सप्तभंगी–प्रश्न के वश एक ही वस्तु में जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अविरुद्ध विधि-निषेध रूप सात प्रकार के विकल्प किये जाते हैं, उसे सप्तभंगी कहते हैं। यथा–स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति स्याद् अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य। ये सात भंग (विकल्प) सप्तभंगी कहलाते हैं।

स्याद्वाद–(I) अनेकान्तस्वरूप अर्थ के कथन का नाम स्याद्वाद है। (II) जो विरोध का मथन करता है, सापेक्षदृष्टि से समन्वय करता है, वह स्याद्वाद है।

समचतुरस्र-संस्थान-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से शरीर में सब ओर मान, उन्मान और प्रमाण हीनाधिक नहीं होता, अंग-उपांग अविकल और अधिकृत अवयवों से पूर्ण हों, आकार भी ऊपर, नीचे व तिरछे में समान हो, इस प्रकार शरीरगत अवयवों की रचना समान विभागों को लिए हुए हो, वह समचतुरस्र-संस्थान कहलाता है।

समता–शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण, स्वर्ण-मिट्टी आदि पर राग-द्वेष के अभाव का नाम समता है। जीवन-मरण, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि अवस्थाओं में भी राग-द्वेष न करना समता है।

सम-धी–अहंकार, ममकार से रहित हो कर मान, मद, मत्सरभाव का त्याग करके जो महापुरुष निन्दा-स्तुति में हर्ष-विषाद को प्राप्त नहीं होता है, उस प्रशस्त व्रतों से युक्त महापुरुष को सम-धी कहते हैं।

समनस्क–(I) जो संज्ञी जीव हैं, वे समनस्क कहलाते हैं। (II) जिसके आश्रय से जीव दीर्घकाल तक स्मरण रख सकता है, भूत-भविष्य के विचार के साथ-साथ कर्त्तव्य कार्य का भी विचार कर पाता है, ऐसी सम्प्रधारण संज्ञा में प्रवर्त्तमान जीव संज्ञी = समनस्क होते हैं। सम्प्रधारण संज्ञा के आश्रय से ही संज्ञी समझना चाहिए, न कि आहारादि चार संज्ञाओं के आश्रय से।

समनोज्ञ–बारह प्रकार के वन्दन-भोजनादि व्यवहाररूप सम्भोगसहित जिनके साथ व्यवहार होते हैं, वे परस्पर समनोज्ञ या साम्भोगिक कहलाते हैं।

समभिरूढ़नय–वर्तमान पर्याय को प्राप्त पदार्थों को छोड़ कर दूसरे पदार्थ में शब्द की प्रवृत्ति न हो, उसे समभिरूढ़नय कहते हैं।

समय–शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त, प्रतिज्ञा और आत्मा, इन अर्थों में प्रयुक्त होने वाला शब्द।

स्व-समय–(I) स्व-सिद्धान्त। (II) जीव जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित होता है, तब उसे स्व-समय जानना चाहिए।

समय-विरुद्ध–स्व-सिद्धान्त विरुद्ध कथन।

समाधिमरण–रत्नत्रय में तथा शुद्ध आत्मभावों में एकाग्रचित्त हो कर जिसमें समाधिपूर्वक मृत्यु का सहर्ष स्वीकार किया जाता है, वह।

समारम्भ–दूसरों को सन्ताप देने वाले हिंसादि कार्य के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है।

समिति–प्राणियों को पीड़ा से बचाने के लिए सम्यक् प्रकार से इति = प्रवृत्ति करना समिति है। यह गमनादि पाँच प्रवृत्तियों–चेष्टाओं की एक संज्ञा है।

समुच्छिन्न क्रियानिवर्ती–जिस (शुक्ल) ध्यान के समय प्राण-अपान के संचार (श्वासोच्छ्वास क्रिया) के साथ समस्त तन, मन, वचन के योगों के आश्रय से होने वाले आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दनरूप क्रिया का व्यापार नष्ट हो जाता है, उसे समुच्छिन्न–क्रियानिवर्ती शुक्लध्यान कहते हैं। इसे समुच्छिन्न–क्रियानिवृत्ति एवं समुच्छिन्न–क्रियाऽप्रतिपाती भी कहते हैं।

समुद्घात–समभूत हो कर आत्म-प्रदेशों के शरीर से बाहर प्रक्षेप–निर्गमन का नाम समुद्घात है।

समुद्देश–सूत्र की व्याख्या करना अथवा अर्थ को प्रदान करना समुद्देश है।

सम्मूर्च्छिम–जो जीव सब ओर से अपने यथायोग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छिम या सम्मूर्च्छन जीव कहलाते हैं।

सम्यक्चारित्र–सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसहित जो पंचमहाव्रत पंचसमिति–तीन गुप्ति में प्रवृत्ति और हिंसादि पंचपापों से निवृत्ति होती है या चारित्रावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से सम्यक् क्रियाओं में प्रवृत्ति, मिथ्या क्रियाओं से निवृत्ति होती है, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व–(व्यवहार से) आप्त, आगम, यथार्थरूप से जाने गये नौ पदार्थों (तत्त्वों) के प्रति जीव के श्रद्धान को तथा (निश्चय से) शुद्ध आत्मा के प्रति श्रद्धान को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन–जीवादि पदार्थों के विषय में, जो 'यही तत्त्व है' ऐसा तत्त्वार्थ का जो निर्धारण और श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व-क्रिया–अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा-भक्ति, बहुमान, पूजा, आदर-सत्कार-पुरस्कार, उनकी स्तुति, स्तवन, गुणगान, प्रभावना आदि करना सम्यक्त्व-क्रिया या सम्यक्त्ववर्द्धिनी-क्रिया है।

सम्यक्त्व-मोहनीय–शुभ परिणाम द्वारा जिसके अनुभाग को रोक दिया गया है तथा जो उदासीनरूप से स्थित जीव के श्रद्धान को रोक नहीं सकता है, ऐसा मिथ्यात्व सम्यक्त्व-मोहनीय कहलाता है। इसके उदय का अनुभव करने वाला जीव वैसे तो सम्यग्दृष्टि कहलाता है, किन्तु देव, गुरु, धर्म तथा आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान में चल, मल, अगाढ़ दोष के कारण उसके सम्यक्त्व में शिथिलता आ जाती है।

सम्यग्ज्ञान–(I) संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय तथा भ्रान्ति से रहित, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से मति-श्रुतादि भेदरूप ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है। (II) जो-जो जीवादि पदार्थ जिस-जिस प्रकार से व्यवस्थित हैं, उनका उसी रूप में ग्रहण होना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्-मिथ्यात्व–जिस प्रकार धोने से कोदो (एक तुच्छ धान्य) की मद-शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है और कुछ बनी रहती है, उसी प्रकार जिसका रस (अनुभाग) कुछ क्षीण हो चुका है, कुछ बना हुआ है; ऐसे उस मिथ्यात्व को सम्यग्-मिथ्यात्व कहते हैं।

सरागचारित्र–जो संसार के कारणों को छोड़ने में उद्यत है, पर जिसका रागादिरूप अभिप्राय नष्ट नहीं हुआ है, उसे कहते हैं–सराग। रागसहित संयम को सरागसंयम कहते हैं। मध्य की ८ कषायों के उपशम तथा संज्वलन और नोकषायों के क्षयोपशम से युक्त जो चारित्र होता है, अथवा आदि के १२ कषायों के क्षयोपशम तथा संज्वलन और नोकषायों के उदय से जो चारित्र होता है, उसे सरागचारित्र जानना चाहिए।

सरागसंयम–(I) प्राणियों और इन्द्रियों के विषय में जो अशुभ प्रवृत्ति होती है, उससे विरत होने का नाम संयम है। सराग-साधक के संयम को अथवा रागसहित संयम को सरागसंयम कहते हैं। (II) मूल-उत्तरगुणों रूप सम्पत्ति के साथ लोभ आदि के उदययुक्त जो प्राणिवध आदि से निवृत्ति होती है, उसे भी सरागसंयम कहते हैं।

सराग-सम्यक्त्व–जो तत्त्वार्थ श्रद्धान प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों से प्रकट होता है अथवा इन चिह्नों से जाना जाता है, उसे सराग-सम्यक्त्व कहते हैं।

सर्वज्ञ–जो त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायों के सहित समस्त लोक व अलोक को प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ है।

सर्वौषधि (प्राप्त) ऋद्धि (लब्धि)–जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर तपयुक्त मुनियों का स्पर्श, जल, वायु, रोग और नख आदि सब रोग-निवारिणी औषधि का काम करते हैं, ऐसी ऋद्धि या लब्धि।

सवितर्क-अवीचार-एकत्वध्यान–जिस शुक्लध्यान में एकत्व के साथ वितर्क (श्रुतज्ञान और उसका विषयभूत अर्थ) तो रहता है, पर वीचार नहीं रहता, वह सवितर्क-एकत्व-अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान होता है।

सवितर्क-सवीचार-सपृथक्त्व ध्यान–यह प्रथम शुक्लध्यान है, इसमें वितर्क और वीचार पृथक्त्व के साथ रहते हैं।

सहसाऽभ्याख्यान–समुचित विचार न करके सहसा किसी पर झूठा आरोप, अविद्यमान दोष का आक्षेप लगाना सहसाऽभ्याख्यान है।

संक्रमण–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों को अन्यथा रूप में परिणत करना संक्रमण है। अथवा यहीं अन्य प्रकृति के रूप में परिणमाना भी संक्रमण है।

संक्लेश–(I) असातावेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम। (II) अथवा आर्त्त और रौद्रध्यानरूप परिणाम।

संक्षेप रुचि (सम्यग्दर्शन)–जिसने मिथ्याभाव को ग्रहण नहीं किया है, किन्तु जिनप्रज्ञप्त आगम में निपुण नहीं है, अतएव संक्षेप में तत्त्व को सरलता से समझने की रुचि वाला है, वह संक्षेप रुचि है।

संगविमुक्ति–मुनिधर्म के लिए अयोग्य, अकल्प्य वस्तुओं का त्याग कर देने पर भी उनके विषय में आसक्ति नहीं रखना संगविमुक्ति है।

संग्रहनय–जो नय अपनी जाति के विरोध से रहित एकरूपता को प्राप्त करके अनेक भेदों से युक्त पर्यायों को सामान्यतः सर्वरूप में ग्रहण करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं। जैसे–अनेक प्रकार के सामान्य, विशिष्ट घट होते हुए भी सब घटों को एक रूप में ग्रहण करने वाला संग्रहनय है।

संघ : धर्मतीर्थ : धर्मसंघ–साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध (धर्म) संघ का नाम संघ है। इसे धर्मतीर्थ या धर्मसंघ भी कहते हैं।

संघअवर्णवाद–चतुर्विध संघ की निन्दा करना, संघ के किसी भी सदस्य का अवर्णवाद बोलना, पत्रों में छपवाना, पर्चेबाजी करना सबसे बड़ा परनिन्दा नामक पापस्थान है।

संज्ञाक्षर–अक्षर की जो संस्थानाकृति है, उसे संज्ञाक्षर कहते हैं।

संलेखना–जिस तपश्चरण में शरीर व कषाय आदि को कृश किया जाता है, वह संलेखना है। समाधिमरण का पूर्वरूप।

संवर–आस्रव का निरोध करना संवर है।

संविग्न–मोक्ष-सुखाभिलाषी।

संवृत (योनि)–जो जन्म-स्थानरूप प्रदेश भलीभाँति ढका हुआ होता है, जिसका देखा जाना कठिन होता है वह संवृतयोनि है।

संवेग–संसार के जन्म-मरणादि दुःखों से निरन्तर भीरुता होना संवेग है। मोक्षाभिलाषा को भी संवेग कहते हैं।

संशय-मिथ्यात्व–दोलायमान स्थिति, जिसमें दो पक्षों में से एक का भी निर्णय नहीं होता। जैसे–सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय मोक्ष के मार्ग हो सकते हैं या नहीं?

संसारानुप्रेक्षा–(I) विभिन्न गतियों, योनियों और कुलों में जन्म-मरण-रोग-वृद्धावस्था आदि स्थितियों पर विचार करके संसार-परिभ्रमण का तथा उससे छूटने का विचार करना। (II) संसार में अनादिकाल से कर्मवश शरीर का ग्रहण, उसके सम्बन्ध से कर्म का ग्रहण, फिर पुनः शरीर, पुनः कर्म इत्यादि प्रकार से संसार-परम्परा का अनुप्रेक्षण करना।

संस्थान-नाम–(I) जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति निर्मित होती है। (II) जिस कर्म के उदय से बद्ध और संघात-प्राप्त पुद्गलों में आकार-विशेष का होना संस्थान-नामकर्म है।

सातागौरव–भोजन-शयनादि की अत्यधिक प्रचुर सुख-सम्पन्नता पा कर गर्व करना या आसक्ति रखना।

सातावेदनीय–जिस कर्म के उदय से शारीरिक, मानसिक सुख का वेदन होता है।

साधारणशरीर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से बहुत-से जीवों के उपभोग के हेतुरूप से साधारण (सबका एक) शरीर होता है या प्राप्त होता है, उसे साधारणशरीर-नामकर्म कहते हैं।

साधु-समाधि–ज्ञान-दर्शन-चारित्र में भलीभाँति अवस्थित होने का नाम समाधि है, साधुओं की समाधि को साधु-समाधि कहते हैं अथवा साधु यानी अच्छी समाधि को भी साधु-समाधि कहा जा सकता है।

सामायिक–सभी जीवों, पदार्थों पर कषायों का निरोध करना सर्वसावद्ययोगविरति, निरवद्ययोगप्रवृत्ति का नाम सामायिक है। जो राग-द्वेषरहित होकर सभी प्राणियों को अपने समान देखता है उसे सम कहा है। सम की आय का नाम समाय है, समाय ही सामायिक है। आर्त्त-रौद्रध्यान के त्यागपूर्वक राग-द्वेष से दूर रहना सामायिक है।

सामायिकचारित्र–शुभाशुभ विकल्पों के त्यागरूप समाधि सामायिकचारित्र है। सभी जीव केवलज्ञानस्वरूप हैं, इस प्रकार सभी जीवों के ऊपरी कलेवर (आवरण) को न देख कर उनमें शुद्ध आत्मा को देखना सामायिकचारित्र है।

साम्य–मोह और क्षोभ से विहीन आत्म-परिणाम।

सामायिक संयत–जिस एक ही संयम में समस्त संयम का समावेश होता है, अर्थात् सामायिक का स्वीकार कर लेने पर अनुपम चार महाव्रतरूप चातुर्याम धर्म का मन-वचन-काय से स्पर्श हो जाता है तथा जो अनुपम होकर दुरवबोध है, उस सामायिक-संयम का परिपालन करने वाला सामायिक संयत है।

साम्परायिक कर्म–मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से ले कर सूक्ष्मसम्परायसंयत गुणस्थान तक कषाय के उदयवश उत्पन्न परिणामों के अनुसार योग द्वारा लाया गया कर्म।

सावद्ययोग–अवद्य कहते हैं–हिंसादि पाप को। जो योग (मन-वचन-काया का व्यापार) हिंसादि पापों से युक्त हो, वह सावद्ययोग कहलाता है।

सांकल्पिकी = संकल्पजा हिंसा–त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक आकुट्टि की बुद्धि से हिंसा करना सांकल्पिकी या संकल्पजा हिंसा है। वह अहिंसाणुव्रती श्रावक के लिए त्याज्य है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष–इन्द्रियों और मन के आश्रय से होने वाला पदार्थ और इन्द्रिय-नोइन्द्रिय के साक्षात् सन्निकर्ष से होने वाला ज्ञान।

सुभग-नामकर्म–जिसके उदय से अनुपकारी व्यक्ति भी सबके मन को प्रिय होता है, वह सुभग-नामकर्म है।

सुस्वर-नामकर्म–जिसके उदय से मनोज्ञ स्वर निष्पन्न होता है, वह सुस्वर-नामकर्म है।

सूक्ष्म जीव–सूक्ष्म-नामकर्म के उदय से युक्त जीव।

सूक्ष्मसम्परायचारित्र–जिस चारित्र में अतिशय सूक्ष्म कषाय (सम्पराय) का अस्तित्व रहता है, वह सूक्ष्मसम्परायचारित्र है। इस चारित्र वाला दशम गुणस्थानवर्ती साधक होता है।

सूत्ररुचि–जो सूत्र का अवगाहन करता हुआ अंगश्रुत से या अनंग-प्रविष्ट श्रुत से सम्यक्त्व का अवगाहन करता है अथवा शीघ्र ही उसमें रुचि (तत्त्व श्रद्धा) उत्पन्न होती है, उस व्यक्ति को और उसके उस सम्यक्त्व को सूत्ररुचि जानना चाहिए।

सेवार्त (छेवट्ठ) संहनन–जिस संहनन में परस्पर पर्यन्तमात्र के स्पर्शरूप सेवा को प्राप्त हड्डियाँ सदा चिकनाहट के मर्दनरूप परिशीलना की इच्छा किया करती हैं, उसे सेवार्त संहनन कहते हैं। इसके कारणभूत नामकर्म को भी सेवार्त संहनन- नामकर्म कहते हैं।

स्कन्ध–जो समस्त अंशों से परिपूर्ण हो, वह। स्कन्ध अनन्त प्रदेशों से युक्त होता है, जो लोक में छेदा-भेदा जा सकता है।

स्कन्ध देश-प्रदेश–पूर्वोक्त विवक्षित स्कन्ध के अर्ध-भाग को स्कन्ध-देश और उसके आधे से आधे भाग को स्कन्ध-प्रदेश कहते हैं।

स्तिबुक-संक्रम–(I) अनुदीर्ण प्रकृति के दलिक का उदय-प्राप्त प्रकृति में विलय होना स्तिबुक-संक्रम है। (II) विवक्षित प्रकृति का समान स्थिति वाली अन्य प्रकृति में संक्रमण होना भी स्तिबुक-संक्रमण है।

स्तेन-प्रयोग–चोर को चोरी करने के लिए स्वयं उद्यत या प्रेरित करना स्तेन-प्रयोग है। अथवा चोर को चोरी करने के लिए उपकरण देना भी स्तेन-प्रयोग है। इसे स्तेनानुज्ञा भी कहा जाता है।

स्तेनानुबन्धी : स्तेयानुबन्धी–अहर्निश प्राणि-हिंसा के कारणभूत पर-द्रव्यहरण (चोरी, डाका, लूटपाट, शोषण, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, स्मगलिंग, कर-चोरी आदि) में चित्त संलग्न रहता है, इसे स्तेनानुबन्धी या स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं।

स्तेय-त्याग : स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत–दूसरे की मालिकी की गिरी हुई, रखी हुई, विस्मृत आदि वस्तु को बिना पूछे, बिना दी हुई वस्तु को लोभवश उठा कर, चुरा कर अपने कब्जे में करना, उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करना स्तेय (चोरी) है। इस प्रकार के स्थूल-स्तेय (जिससे कानून से दण्ड मिले, समाज के द्वारा निन्दित हो) कहलाता है। उसका त्याग करना स्तेय-त्याग या स्थूल-अदत्तादानविरमणव्रत कहलाता है। अचौर्याणुव्रत का यह नामान्तर है।

स्त्यानर्द्धि : स्त्यानगृद्धि–जिस निद्रा के उदय से सुप्तावस्था में आत्म-शक्तिरूप ऋद्धि पिण्डीभूत हो जाती है, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है। यह दर्शनावरणीय कर्म का एक प्रकार है। इस निद्रा के सद्भाव में प्रथम संहनन वाले में अर्ध-चक्री के समान बल उत्पन्न हो जाता है।

स्त्रीकथा–स्त्रियों के वेश-भूषा, नृत्य, हावभाव तथा काम-वासनोत्तेजक अंगोपांगों का एवं विविध देश की ललनाओं की काम-प्रकृति आदि का वर्णन करना स्त्रीकथा है।

स्त्रीपरीषह-सहन–उद्यान, भवन आदि एकान्त स्थानों में यौवनमद एवं मदिरापान आदि से उन्मत्त स्त्रियों द्वारा बाधा पहुँचाने अथवा किसी कामोन्मत्त नारी द्वारा रति-याचना करने पर भी कछुए के समान अपनी इन्द्रियों और मन के काम-विकार को

रोक लेता है, मन से भी उसकी इच्छा नहीं करता, उसके स्त्रीपरीषह-सहन या स्त्रीपरीषह-विजय हो जाता है।

स्त्रीलिंगसिद्ध केवलज्ञान–स्त्रीलिंग में रहते हुए जो वेदमोहनीय का क्षय होने से सिद्धत्व को प्राप्त हुए हैं, उनके केवलज्ञान को स्त्रीलिंगसिद्ध केवलज्ञान कहते हैं।

स्त्रीवेद–जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है, वह स्त्रीवेद कहलाता है।

स्थविरकल्प–जो साधक-साधिका संघ में रह कर अपना आहार, विहार समाचारी-पालन तथा वन्दना आदि सभी व्यवहार करते हों, उनकी यह साधना स्थविरकल्प साधना है। उनके मुख्यतया १० कल्प होते हैं, उनमें से कुछ अवस्थित और कुछ अनवस्थित होते हैं।

स्थावर–एक ही स्थान में अवस्थित हो कर रहने वाले एकेन्द्रिय जीव।

स्थावर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव की उत्पत्ति एकेन्द्रिय जीवों में होती है, उसे स्थावर-नामकर्म कहते हैं।

स्थिति–(I) काल के परिमाण का नाम स्थिति है। (II) कालकृत व्यवस्था का नाम भी स्थिति है। (III) अपने द्वारा बाँधी हुई आयु (मान लो, मनुष्यायु है तो उस) के उदय से उस भव में उस शरीर के साथ अवस्थित रहना आयु की स्थिति का लक्षण है। (IV) अपने स्वरूप से च्युत न होना, इसे भी स्थिति कहते हैं।

स्थितिकरण–(I) कुमार्ग में जाते हुए स्वयं को मोक्षमार्ग में स्थापित करना स्थितिकरण या स्थिरीकरण है। (II) अथवा दर्शन, चारित्र या संवर-निर्जरारूप धर्म या धर्म से भ्रष्ट होते, डिगते हुए, धर्मान्तर करने जाते हुए या धर्मभ्रष्ट हो कर पतित होते हुए प्राणियों (विशेषतः मानवों) को धर्मानुरागियों द्वारा धर्म में प्रतिष्ठित किया जाता है, उसे स्थिर किया जाता है, इसे भी स्थिति (स्थिरी)-करण कहते हैं। यह सम्यक्त्व के ८ अंगों में से एक अंग है।

स्थितिबन्ध–कर्त्ता के द्वारा गृहीत कर्मराशि का अपने आत्म-प्रदेशों में स्थित रहना स्थिति है। जीव के परिणाम (अध्यवसाय = कषाय की तीव्रता-मन्दता) के अनुसार काल-सीमा निर्धारित होना स्थितिबन्ध है।

स्थिति-संक्रम–मूल व उत्तरकर्मप्रकृतियों की जो स्थिति उद्वर्तित या अपवर्तित की जाती है अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त कराई जाती है, उसे स्थिति-संक्रम कहा जाता है।

स्थिर-नामकर्म–स्थिरता का उत्पादक कर्म।

स्नातक (निर्ग्रन्थ)–जिन्होंने चार घातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, वे सयोगीकेवली और अयोगीकेवली ये दो प्रकार के निर्ग्रन्थ स्नातक कहलाते हैं।

स्निग्ध-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में स्निग्धता हो, उन्हें स्निग्ध-नामकर्म कहते हैं।

स्नेहराग–विषयादि के निमित्त विकल होते हुए व्यक्ति को, जो विनयहीन पुत्रादि पर भी राग होता है, उसे स्नेहराग कहते हैं।

स्पर्धक–(I) वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। (II) जिनमें क्रमवृद्धि और क्रमहानि होती है, वे स्पर्धक होते हैं। (III) वस्तुतः अविभाग-परिच्छिन्न कर्मप्रदेश रसभाग-प्रचय-पंक्ति से क्रमवृद्धि व क्रमहानि होना स्पर्धक कहलाता है। (IV) श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र असंख्यात वर्गणाओं को लेकर एक स्पर्धक होता है।

स्पर्शेन्द्रिय–वीर्यान्तराय और प्रतिनियत इन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग-नामकर्म के लाभ के आश्रय से जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है, स्पर्शानुभव होता है, उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं।

स्पर्श-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर में कठिनादि स्पर्श उत्पन्न होता है, उसे स्पर्श-नामकर्म कहते हैं।

स्फोटकर्म : स्फोटजीविका–बारूद आदि से पत्थरों को फोड़ने का, सुरंग बिछा कर विस्फोट करने का धंधा करना स्फोटकर्म या स्फोटजीविका है। यह १५ कर्मादानों में से एक है।

स्वलिंगसिद्ध–पूर्व भावप्रज्ञापनीय की अपेक्षा से जो रजोहरणादि स्वलिंग (अपने संघ के निर्धारित वेश) से सिद्ध हुए हैं, वे। उनके केवलज्ञान को स्वलिंगसिद्ध केवलज्ञान कहते हैं।

स्वभाववाद–काँटों की तीक्ष्णता कौन करता है? मृग, मोर आदि पक्षियों को विविध रंगों से कौन चित्रित करता है? कोई भी नहीं। वह सब स्वभाव से ही हुआ करता है। इस प्रकार का कथन स्वभाववाद है।

स्वयंबुद्ध–मिथ्यात्वरूपी निद्रा के विनष्ट हो जाने से सम्यक् श्रेष्ठ बोधि को स्वयं प्राप्त बुद्ध स्वयंसम्बुद्ध कहलाते हैं।

स्वाध्याय–अपने लिए जो अध्ययन हितकर हो अथवा जो सम्यक् अध्याय हो, वह स्वाध्याय है। वह पाँच प्रकार का है।

स्वास्थ्य–दुःख के कारणभूत कर्मों के विनष्ट हो जाने पर जो निर्बाध स्वाभाविक सुख उत्पन्न होता है, वही स्वास्थ्य का लक्षण है।

(ह)

हितभाषण–जिस भाषण का फल मोक्षपद-प्राप्ति हो।

हिंसा–प्रमादयुक्त योग से प्राणियों के प्राण की विराधना–विघात करना, उन्हें हानि–क्षति पहुँचाना हिंसा है।

हिंस्रप्रदान = हिंसादान–प्राणिवधजनक तलवार, परशु, भाला आदि किसी का वध करने की नीयत से देना। यह अनर्थदण्डविरमणव्रत का एक अतिचार है।

हिंसानन्द रौद्रध्यान–तीव्र हिंसा आदि में अहर्निश रचापचा रहना, उसी में आनन्द मानना। हिंसा में अतिशय अनुराग रखना। इसे हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान भी कहते हैं।

हीनाधिक मानोन्मान–तौल और माप में लेते-देते समय कमोवेश करना। यह तृतीय अणुव्रत का अतिचार है।

हुण्डक संस्थान–जिसके उदय से शरीर के सभी अंग बेडौल हों, विरूप हों, प्रमाण और लक्षण से हीन हों, उसे हुण्डक संस्थान-नामकर्म कहते हैं। ● ●

परिशिष्ट ३

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अ

अखण्ड ज्योति (मासिक पत्रिका)

अमर आलोक (उपाध्याय अमर मुनि)

अमितगति श्रावकाचार

अन्तर्नाद (उपाध्याय अमर मुनि)

अन्तकृद्दशांगसूत्र

अन्तकृद्दशांगसूत्र तथा नहिमा
(सुयश मुनि 'विद्यार्थी')

अनुयोगद्वारसूत्र
(मलधारी हेमचन्द्राचार्य वृत्ति)

अनुत्तरौपपातिकसूत्र

अनगार धर्मामृत (पं. आशाधरजी)

अध्यात्ममतपरीक्षा

अध्यात्म-कमलमार्तण्ड

अध्यात्म-कल्पद्रुम

अध्यात्म-सार
(महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी)

अध्यात्म [illegible]
(उपाध्याय अमर मुनिजी)

अध्यात्म [illegible]

अध्यात्म रहस्य

अध्यात्म रामायण

अध्यात्मदर्शन (आनन्दघन-चौबीसी पर भाष्य)
(पं. मुनिश्री नेमिचन्द्रजी)

अभिधान-चिन्तामणि
(आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

अपना दर्पण : अपना बिम्ब
(आचार्य महाप्रज्ञ)

अपने घर में (आचार्य महाप्रज्ञ)

अमूर्त चिन्तन (आचार्य महाप्रज्ञ)

अपूर्व अवसर (पद्य)
(श्रीमद् राजचन्द्र)

अन्ययोग-व्यवच्छेदिका
(आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

अरिहन्त
(डॉ. साध्वीश्री दिव्यप्रभाजी)

अयोग-व्यवच्छेदिका
(आचार्य हेमचन्द्रसूरि)

अस्तेय-दर्शन
(उपाध्याय अमरमुनि)

अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग १ से ७ तक

अष्टक प्रकरण (आचार्य हरिभद्रसूरि)

अहिंसा-दर्शन (उपाध्याय अमरमुनि)

अभिधम्मत्थ कोश (बौद्ध ग्रन्थ)

अभिधम्मत्थ संगहो

अष्टसहस्री

अष्टशती

अमरकोश

अथर्ववेद

अनुशासनपर्व (महाभारत)

अष्टाध्यायी (पाणिनि)

अमृतनादोपनिषद्

आ

आत्मतत्त्व विचार (विजयलक्ष्मणसूरि)
आत्मानुशासन
आत्मतत्त्व
आत्मरश्मि (मासिक पत्रिका)
आत्मार्थी माटे मोक्ष पामवानो उपाय (शान्तिभाई का. मेहता)
आगम-मुक्ता (उपाध्याय केवलमुनि)
आत्मकथा उर्फ सत्य के प्रयोग (महात्मा गांधी)
आत्मसिद्धिशास्त्र (श्रीमद् राजचन्द्रजी)
आप्तपरीक्षा
आप्तमीमांसा (आचार्य समन्तभद्र)
आत्म-मीमांसा (पं. दलसुखभाई मालवणिया)
आराधना-सार
आत्म-षट्क
आध्यात्मिक निबंधो (गुजराती) (भोगीभाई गि. शेठ)
आज का आनन्द (दैनिक समाचार-पत्र, पूना)
आदिपुराण (दि. जैनाचार्य-रचित)
आनन्दघन चौबीसी
आचारांगसूत्र, श्रु. १ व २
आचारांग वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति
आउरपच्चक्खाण
आचारशास्त्र
आचार-सार
आवश्यकसूत्र (मलयगिरि टीका)
आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रीया वृत्ति)
आवश्यक चूर्णि
आश्रम संहिता
आँखों देखी, कानों सुनी (मुनि लाभचन्द्र जी)
आवश्यक कथा
आगार धर्मामृत (पं. आशाधरजी)
आख्यानमणिकोष
आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति
आवश्यक मलयवृत्ति

इ

इष्टोपदेश
इसिभासियाइं सुत्ताइं
Introduction to Devout Life

ई

ईशावास्योपनिषद्
ईथिकल स्टडी

उ

उत्तराध्ययनसूत्र (प्रियदर्शिनी टीका)
उत्तराध्ययनसूत्र (पाइय टीका)
उत्तराध्ययन निर्युक्ति, वृत्ति
उपासकदशांगसूत्र
उपासकाध्ययन
उपनिषद् (१० उपनिषद् मूल)
उपदेशमाला (धर्मदासगणि)
उपदेशप्रासाद (भाषान्तर)
उपदेश-सप्ततिका (गुजराती)

'उत्थान' का महावीरांक
(श्वे. जैन कॉन्फ्रेंस, मुम्बई)
उसहचरियं

ऋ

ऋग्वेद
ऋग्वेद पुरुषसूक्त
ऋषभजिनस्तवन
ऋणानुबन्ध (भोगीभाई गि. सेठ)

ए

एसो पंच णमोक्कारो
(आचार्य महाप्रज्ञ)

ऐ

ऐजन
ऐतरेय-उपनिषद्
As You Like It (Act II. Sc. III)

ओ

ओघ निर्युक्ति
Old Age Its Cause and Prevention
(Senford Benitt)
On the Characterization of Action
(By Nicholas Rescher)

औ

औपपातिकसूत्र

अं

अंगुत्तरनिकाय

क

कम्मपयडी (मूल व टीका)
कर्म अने आत्मानो संयोग
(श्री अध्यायी)
कर्मग्रन्थ, भाग १ से ६ तक
(विवेचक–मरुधरकेसरी जी)
कर्मग्रन्थ, भाग १ से ४ तक
(पं. सुखलालजी सिद्धान्तशास्त्री)
कर्मग्रन्थ, भाग ५
(सं.–पं. कैलाशचन्द्रजी)
कर्मग्रन्थ, भाग ६
(सं.–पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री)
कर्मप्रकृति (आचार्य विजयजयन्तसेनसूरि)
कर्मप्रकृति (मलयगिरि टीका)
कर्मग्रन्थ प्राचीन, भाग १ से ६ तक
(संस्कृत टीका, व्याख्या)
कर्म फिलोसोफी (गुजराती)
(विजयलक्ष्मणसूरिजी)
कर्मरहस्य (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)
कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)
कर्मविज्ञान, भाग १ से ८ तक
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
कर्मवाद (आचार्य महाप्रज्ञ)
कर्मवाद : पर्यवेक्षण
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
कर्मविपाक (स्वोपज्ञ वृत्ति)
कर्मसिद्धान्त (श्री कन्हैयालाल लोढ़ा)
कर्मसंस्कार (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)
कर्म की गति न्यारी, भाग १
(पं. अरुणविजय गणि)
कर्मयोग (बुद्धिसागरसूरीश्वरजी)
कबीर की साखी
कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

कषाय पाहुड (आचार्य गुणधर)
कषाय प्राभृत
कल्याण (मासिक-पत्र)
कल्पसूत्र (आचार्य देवेन्द्र मुनि)
कल्पसूत्र (सं.-पं. मुनिश्री नेमिचन्द्रजी)
कल्पसूत्र (सुबोधिका टीका)
कामसूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
कामन्दकीय नीति
कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर)
कुछ देखी, कुछ सुनी
(मुनिश्री लाभचन्दजी)
कर्म-मीमांसा
(कल्याण मासिक में प्रकाशित लेख)
केवल अपने ही लिए न जीएँ
(श्रीराम शर्मा आचार्य)
कर्म का स्वरूप
(पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री)
कर्म की विचित्रता
(डॉ. रतनलाल जैन)
कर्म-मीमांसा
(युवाचार्यश्री मधुकर मुनिजी)
कर्मवाद : एक अध्ययन
(सुरेशमुनि शास्त्री)
कुरानशरीफ
Creative Period

ग

गरुड़ पुराण
गुप्त भारत की खोज (पॉल ब्रिंटन)
गुणस्थान क्रमारोह (रत्नशेखरसूरि)
गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड)
(आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती)
गौतमसूत्र
गीता-रहस्य (लोकमान्य तिलक)
गोभिल्ल गृह्यसूत्र
गुण-साधर्म्य प्रकरण
गौतम-पृच्छा
गणधरवाद

घ

घट-घट दीप जले (आचार्य महाप्रज्ञ)

च

चरक संहिता
चारित्रसार
चार्वाक दर्शन
चाणक्य नीति
चारित्र प्रकाश (पं. धन मुनि)
चारित्र प्राभृत (चरित्त पाहुड)
चन्द्रप्रज्ञप्ति
चंदावेज्झयं पइण्णयं
चाँदनी भीतर की (आचार्य महाप्रज्ञ)
चित् और मन (आचार्य महाप्रज्ञ)
चेतना का ऊर्ध्वारोहण (आचार्य महाप्रज्ञ)
चिन्तन की मनोभूमि
(उपाध्याय अमरमुनि)
चौदह गुणस्थान
(पं. चन्द्रशेखरविजयजी)
चौदह गुणस्थान का थोकड़ा
(अगरचन्द भैरोंदान सेठिया)
चौवीसी (विनयचन्दजी रचित)

छ

छगन कथामाला
(मुनिश्री छगनलालजी)

छान्दोग्य उपनिषद्

ज

जवाहर किरणावली (रामवनगमन)

जवाहर किरणावली (शालिभद्रचरित्र)
(जवाहराचार्य)

जीवन की अन्तिम मुस्कान
(उपाध्याय केवलमुनि)

जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप
(आचार्य देवेन्द्रमुनि)

जिनसूत्र (आचार्य रजनीश)

जातक कथा

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति

जीवनयात्रा (मुनि चन्द्रप्रभसागर)

जातकट्ठ कथा

जीवाभिगमसूत्र

जीव-प्राभृत

जिनवाणी
(कर्मसिद्धान्त विशेषांक, सन् १९९०)

जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन
(डॉ. सागरमल जैन)

जैन, बौद्ध, गीता के आचार-दर्शनों
का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)

जैनसिद्धान्त बोल-संग्रह, भाग १ से ७ तक
(भैरोंदानजी सेठिया)

जैनसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)

जैनधर्मामृत (पं. हीरालालजी शास्त्री)

जैनसिद्धान्त
(पं. कैलाशचन्द्रजी जैन सिद्धान्तशास्त्री)

जैनयोग (आचार्य महाप्रज्ञ)

जैनसाहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ४

जैनधर्म और दर्शन (गणेश ललवानी)

जैनदृष्टि ए कर्म
(डॉ. मोतीचन्द गि. कापड़िया)

जैनदर्शनमां कर्मवाद
(पं. चन्द्रशेखरविजयजी गणिवर)

जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
(आचार्य देवेन्द्रमुनि)

जैनदर्शन में आत्म-विचार
(डॉ. लालचन्द्र जैन)

जैनदर्शन
(डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य)

जैनतत्त्व-प्रकाश
(आचार्य पूज्यश्री अमोलकऋषिजी)

जैनदर्शन : मनन और मीमांसा
(आचार्य महाप्रज्ञ)

जैनदर्शन (न्या. न्या. श्री न्यायविजयजी)

जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
(मरुधरकेसरीजी)

जैनकथा-कोष (मुनि छत्रमलजी)

जैनतत्त्वकलिका
(आचार्य आत्मारामजी)

जैनेन्द्रसिद्धान्त कोष, भाग १ से ४ तक
(ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)

जैनकथाएँ, भाग १ से १०८ तक
(उपाध्याय पुष्करमुनिजी)

जैन रामायण
(युवाचार्य श्री शुक्लचन्दजी)

जीवन विज्ञान (आचार्य महाप्रज्ञ)

जीवन की पोथी (आचार्य महाप्रज्ञ)

जैनभारती (अर्हद् वन्दना विशेषांक)
जैनभारती (मासिक) (कुछ अंक)
जैन प्रकाश (पाक्षिक) (कुछ अंक)
जो जे अमृत कुम्भ ढोलाय ना
(श्री चन्द्रशेखरविजयजी)
जैन स्वाध्याय सुभाषितमाला, भाग २
जैन वीरों की कथाएँ
जैनसिद्धान्त दीपिका
(आचार्य गणाधिपति तुलसी)
जैनसाधना : एक विश्लेषण
(डॉ. साध्वीश्री मुक्तिप्रभाजी)
जैनागमों में अष्टांगयोग
(आचार्यश्री आत्मारामजी)
जैनागम थोक संग्रह
जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ
(आचार्य महाप्रज्ञ)
जैनदर्शन और संस्कृति
(आचार्य महाप्रज्ञ)
जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त : एक अध्याय
(डॉ. श्रु. मनोरमा जैन)
ज्योतिष्करण्डक
जीवन-रहस्य और कर्म-रहस्य
(आचार्य अनन्तप्रसाद जैन 'लोकपाल')
जैमिनीसूत्र
जाबालदर्शनोपनिषद्
जैनजगत्
(भदन्त आनन्द कौशल्यायन का लेख)
जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि
(डॉ. राधाकृष्णन्)
जैनदृष्टिए कर्म की प्रस्तावना
(नगीनदास गिरधरलाल शाह)
जैन लक्षणावली, भाग १ से ३ तक
जय धवला

ठ

ठाणांगसूत्र (स्थानांगसूत्र)
ठाणे (सं.-मुनि श्री नथमल जी)

ण

णमोक्कार महामन्त्र के चमत्कार
(दिवाकर चित्रकथा)

त

तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञभाष्य
(आचार्य उमास्वाति)
तत्त्वार्थसूत्र, हिन्दी विवेचन
(उपाध्याय केवलमुनि)
तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन
(पं. सुखलालजी)
तत्त्वार्थसूत्र (श्रुतसागरीया वृत्ति)
तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय
(आचार्य आत्मारामजी)
तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती) (विवेचन)
(रामजी माणेकचन्द दोशी)
तिलोयपण्णत्ति
तत्त्वार्थ (राजवार्तिक)
तत्त्वार्थ (श्लोकवार्तिक) (अकलंक भट्ट)
तत्त्वार्थ (सर्वार्थसिद्धि)
(आचार्य पूज्यपाद)
तीर्थंकर (मासिक)
(विचक्षणश्री विशेषांक, जुलाई १९७२)
तैत्तिरीय उपनिषद्
तुलसी दोहावली

तीर्थंकर महावीर (श्रीचन्दजी सुराना)
तत्त्वार्थसार
तत्त्वानुशासन (नागसेनसूरि)
तर्कसंग्रह
तंदुल वैयालीय प्रकीर्णक
तंत्रशास्त्र
तांड्य-उपनिषद्
तंत्रवार्तिक (कुमारिल भट्ट)
तत्त्व-दीपिका
तात्पर्यवृत्ति

थ

थेरी गाथा

द

दशवैकालिकसूत्र (हरिभद्रीया वृत्ति, चूर्णि)
दशवैकालिक (चूलिका १ व २)
दर्शन और चिन्तन (पं. सुखलालजी)
दशवैकालिक निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)
दीघनिकाय
दशाश्रुतस्कन्ध
देवचन्द्र चौबीसी
देवागम-स्तोत्र (आचार्य समन्तभद्र)
देवाधिदेवनुं कर्मदर्शन
(श्री चन्द्रशेखरविजयजी गणिवर)
दुःख-मुक्ति : सुख-प्राप्ति
(श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा)
दो आँसू (कहानी संग्रह)
(उपाध्याय केवलमुनि)
दिव्यदर्शन (गुजराती) (मासिक पत्रिका)
दुःखविपाकसूत्र
द्रव्य-संग्रह
द्वन्द्व-समास प्रकरण
दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त
दर्शनपाहुड (कुंदकुंदाचार्य)
दैनिक आज (कानपुर)

ध

धर्म-मंथन (गुजराती) (महात्मा गांधीजी)
धर्म और दर्शन (आचार्य देवेन्द्रमुनि)
धर्म-संग्रह
धवला
ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण)
ध्यानविचार
धर्म के नाम पर (चतुरसेन शास्त्री)
धम्मपद
धर्म के दश लक्षण
(डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)
धर्मानुबन्धी विश्वदर्शन, भाग ५ (गुजराती)
धर्मरत्न प्रकरण
धर्मनिर्णय सिन्धु

न

नवपदार्थ ज्ञानसार
नन्दीसूत्र मूल
नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
नीतिशतक (भर्तृहरि)
न्यायदर्शन-सार
नीति-वाक्यामृत (आचार्य सोमदेव)
न्याय भाष्य
न्याय कुसुमाञ्जली

न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली
न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
न्याय कुमुदचन्द्र
न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य)
न्याय-वैशेषिकदर्शन
न्यायसूत्र
न्यायमंजरी (उत्तर भाग)
नवतत्त्व प्रकरण स्वोपज्ञ टीका
(आचार्य देवेन्द्रसूरि रचित)
नयचक्र वृत्ति
नन्दीसूत्र (मलयगिरि वृत्ति)
निशीथचूर्णि, भाष्य
नवतत्त्व
निरयावलिकासूत्र
नारदभक्तिसूत्र
नवभारत टाइम्स (बम्बई, हिन्दी)
(दि. २४-४-१९९२)
Nature of Human Action
(Edited by—MyLes Brand)

प

परमात्मप्रकाश मूल एवं टीका
पाइय णाममाला
पाइय-सद्द-महण्णवो
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
(आचार्य अमृतचन्द्र)
पंचसंग्रह (प्राकृत)
पंचाध्यायी (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध)
पंचाशक
पंचास्तिकाय (आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रवचन-सारोद्धार
प्रशमरति (आचार्य उमास्वाति)
प्रश्नव्याकरणसूत्र
प्रज्ञापनासूत्र
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
पंचम कर्मग्रन्थ
प्रमेय कमलमार्त्तण्ड
पातंजल योगदर्शन
(भोज वृत्ति, व्यास भाष्य)
प्रेक्षाध्यान (मासिक पत्रिका)
परमार्थ (गुजराती) (मासिक)
पद्मनन्दि पंचविंशतिका (श्री पद्मनन्दी)
परमात्म द्वात्रिंशिका (सामायिक पाठ)
(आचार्य अमितगतिसूरि)
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
प्रबन्ध चिन्तामणि
प्रश्नोत्तरमणिमाला, भाग १ से ९ तक
(मुनिश्री मोहनलालजी)
पूज्यपाद-श्रावकाचार
प्रतिक्रमण-त्रयी
परिशिष्टपर्व (श्री हेमचन्द्राचार्य)
पाराशर-स्मृति
प्रेक्षाध्यान : कायोत्सर्ग
(आचार्य महाप्रज्ञ)
पानी में मीन पियासी
(आचार्य देवेन्द्रमुनि)
परमसखा : मृत्यु (काका कालेलकर)
पंचवस्तुक
पुरुषार्थ-दिग्दर्शन

परमानन्द पंचविंशतिका
पर्च्यास बोल
पाप की सजा भारी, भाग १ व २
पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति
(आचार्य अमृतचन्द्र)
पंचसंग्रह (संस्कृत)
पंचतंत्र
प्रेम-प्रभा टीका
प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका टीका
(आचार्य अमृतचन्द्र)
प्रतीत्य समुत्पाद
प्रमाण वार्तिकालंकार
पासहणाह-चरिउ
प्रमाण-मीमांसा

ब

बनारसी विलास
बारस अणुवेक्खा
ब्रह्मचर्य-विज्ञान
(उपाध्याय पुष्करमुनि)
बीकानेर के व्याख्यान
(पू. आचार्य श्रीजवाहरलालजी)
बौद्धधर्मदर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)
बौद्धदर्शन (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)
Buddhist Philosophy (Keith)
ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहत्कल्प भाष्य
बाइबिल
बौद्धपिटक (मौलुक्य-पुत्र संवाद)
बंध-प्रकरण
बालजीवन (गुजराती) (मासिक पत्र)
ब्रह्मजातसूत्र
बुद्धचरित
बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
बंधविहाणे मूलपयडीबंधो टीका
(संशोधक : विजयप्रेमसूरिजी)
बंधविहाणे उत्तरपयडीबंधो टीका
(संशोधक : विजयप्रेमसूरिजी)

भ

भगवद्गीता
भक्तामर-स्तोत्र : एक दिव्यदृष्टि
(डॉ. साध्वीश्री मुक्तिप्रभाजी)
भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र (अभय-वृत्ति)
भगवतीसूत्र
भक्तिसूत्र (प्रवचन) (आचार्य रजनीश)
भर्तृहरि वैराग्यशतक
भावनाशतक
(शतावधानी पं. मुनि श्री रत्नचन्द्रजी)
भगवान महावीर : एक अनुशीलन
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
भगवतीसूत्र (टीका का गुजराती अनुवाद)
(पं. बेचरदास जी तथा पं. भगवानदास जी)
भावपाहुड
भगवती आराधना (विजयोदया टीका)
भगवती आराधना
(आचार्य शिवकोटी)
भावसंग्रह
भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन
(वी. एल. आत्रेय)

भारतीय दर्शन की रूपरेखा
(प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा)
भारतीय इतिहास के नायक

म

मनुस्मृति
महाबंधो, भाग १ व २
(भारतीय ज्ञानपीठ)
मनोविज्ञान और शिक्षा
(डॉ. सरयूप्रसाद चौबे)
मिलिन्द प्रश्न
मार्कण्डेय पुराण
मूलाराधना टीका
मूलाचार
मज्झिम निकाय
महाभारत (वेदव्यास)
महावीरस्वामीनो संयमधर्म (गुजराती)
माठर वृत्ति
महावीरचरियं
महाकर्म-विभंग
महावीर की साधना का रहस्य
(आचार्य महाप्रज्ञ)
मन और उसका निग्रह
(स्वामी बुधानन्द)
मानवतानुं मीठुं जगत्, भाग १ से ३ तक
(कविवर्यश्री नानचन्द्रजी)
मदनरेखा (आचार्यश्री जवाहर)
मोक्षमाला (श्रीमद् राजचन्द्र)
मृत्युंजय णमोक्कार
(मुनिश्री अमरेन्द्रविजयजी)
मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) टीका
मृत्यु-महोत्सव
महात्मा गांधीजी की आत्म-कथा
महापुराण (जिनसेनाचार्य)
मोक्षशास्त्र (रामजीभाई दोशी)
(गुजराती टीका)
मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति
(आचार्य महाप्रज्ञ)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक (पं. टोडरमल जी)
मुक्ति के ये क्षण (ब्र. कु. कौशलजी)
मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता
(आचार्य महाप्रज्ञ)
मैं आत्मा हूँ, भाग १ से ३ तक
(डॉ. तरुलताबाई स्वामी)
मन का कायाकल्प (आचार्य महाप्रज्ञ)
मोक्षप्रकाश
माटी और सोना
(श्री नेमिचन्द पटोरिया)
महकते जीवन फूल (अशोक मुनिजी)
महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक
(महापच्चक्खाण-पईण्णयं)
मरणसमाधि-प्रकीर्णक
मोक्ख पुरिसत्थो, भाग १ से ५ तक
(प्रवर्तकश्री उमेशमुनि)
मेरी भावना (पं. जुगलकिशोरजी)
महाजीवन की खोज
मिले मन भीतर भगवान
(विजयकलापूर्णसूरि जी)
महादेवस्तोत्रम् (आचार्य हेमचन्द्र)
मुण्डकोपनिषद्
महिम्न स्तोत्र

य

यजुर्वेद
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन (व्यास भाष्य)
योगदर्शन (विद्योदय भाष्य)
(डॉ. उदयवीर शास्त्री)
योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति (हेमचन्द्राचार्य)
योगसार
योगविंशिका
योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्रसूरि)
योगावतार द्वात्रिंशिका
योगबिन्दु
योगवाशिष्ठ
योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त
योग, प्रयोग, अयोग
(डॉ. साध्वीश्री मुक्तिप्रभाजी)
योग से अयोग की ओर
(मुनि सुखलालजी)
योगभेद-द्वात्रिंशिका
(महामहोपाध्याय यशोविजयजी)
युगनिर्माणयोजना (मासिक पत्रिका)
(श्रीराम शर्मा आचार्य)
योग-रहस्य
योगबीज
योग-कुण्डलिन्युपनिषद्
योग-सन्ध्या

र

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार
रत्नाकरावतारिका
रामचरितमानस (गोस्वामी तुलसीदास)
रामकृष्ण-वचनामृत
राजप्रश्नीयसूत्र (रायप्पसेणीयसुत्तं)
रसबंधो (मुनि जयशेखरविजयजी)
राजवार्तिक (तत्त्वार्थ वार्तिक)
(आचार्य अकलंकदेव)
रे कर्म तेरी गति न्यारी
रयणसार
रघुवंश महाकाव्य
रति-अरति-पापस्थान की सज्झाय

ल

लोकप्रकाश
लब्धिसार
लाटी-संहिता
लोकतत्त्व निर्णय
लक्ष्मणप्रश्न (द्वितीय)
लोकतंत्र निर्णय
Live Divine

व

वसुनन्दी श्रावकाचार
वल्लभ प्रवचन, भाग १ से ३ तक
(सं.-मुनिश्री नेमिचन्दजी)
व्यवहार भाष्य
व्यवहारसूत्र वृत्ति
वृहत्कल्प भाष्य
वृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र (टीका)
विशेषावश्यक भाष्य
विपाकसूत्र

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र
बृहदालोयणा (लाला रणजीतसिंहजी)
वाल्मीकि रामायण (सुन्दरकाण्ड)
वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि
(डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री)
वैराग्यशतक (भर्तृहरि कृत)
वैशेषिकसूत्र (प्रशस्तपाद भाष्य)
वंदित्तुसूत्र (प्रतिक्रमण)
वेदान्तसूत्र
बृहदारण्यक उपनिषद्
वीतराग वन्दना विशेषांक
(जैन भारती)
विवेक चूड़ामणि (आद्य शंकराचार्य)
वैशेषिक दर्शन
विसुद्धिमग्गो
व्रतविचार (महात्मा गांधी)
वस्तुविज्ञानसार
वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी
विवेकानन्द साहित्य
वर्धमान-देशना

श

शास्त्रवार्ता-समुच्चय
(आचार्य हरिभद्रसूरि)
शास्त्रदीपिका
शान्तिशतकम्
शाबर भाष्य
शान्तसुधारस
(उपाध्याय विनयविजयजी)
शालिभद्र चरित्र
(आचार्यश्री जवाहरलालजी)
शान्तिपथ-प्रदर्शन (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)
श्रावकधर्म-दर्शन
(उपाध्याय पुष्करमुनिजी)
श्रावक का अस्तेय व्रत
(श्री जवाहराचार्य)
शुभाशुभ कर्मफल
(आत्मनिधि मुनि त्रिलोक)
शतक
शिवपुराण
शब्दों की वेदी : अनुभव का दीप
(मुनि दुलहराज)
शुक्ल यजुर्वेद संहिता
श्वेताश्वतर उपनिषद्
शंकराचार्य-प्रश्नोत्तरी
श्रमण भगवान महावीर
(पं. कल्याणविजयजी)
श्रमण भगवान महावीर
(आचार्य महाप्रज्ञ)
श्रमणसूत्र (उपाध्याय अमरमुनि)
श्रमणोपासक (पाक्षिक पत्र)
श्री अमर भारती (मासिक पत्रिका)
श्रीमद् राजचन्द्र, भाग १

ष

षट्खण्डागम (धवला टीका)
षड्दर्शन समुच्चय (आचार्य हरिभद्रसूरि)
षड्दर्शन-रहस्य
षड्दर्शन समुच्चय टीका

स

समयसार मूल (आचार्य कुन्दकुन्द)

समयसार (आत्मख्याति टीका)
समयसार कलश (आचार्य अमृतचन्द्र)
समयसार (पं. जयचन्दजी छाबड़ा)
समतायोग (रतनमुनिजी)
समराइच्चकहा (आचार्य हरिभद्रसूरि)
समवायांगसूत्र
समाधिमरण (गुजराती)
(भोगीभाई गि. सेठ)
समीचीन धर्म (आचार्य समन्तभद्र)
सामायिक पाठ (आचार्य अमितगतिसूरि)
समाधिशतक टीका
सत्येश्वरगीता (स्वामी सत्यभक्त)
सामायिकसूत्र सभाष्य
(उपाध्याय अमरमुनि)
सागर जैन विद्याभारती
(डॉ. सागरमल जैन)
सागार धर्मामृत (पं. आशाधरजी)
साधना के मूल मंत्र
(उपाध्याय अमरमुनि)
साधना का सोना : विज्ञान की कसौटी
(मुनि सुखलालजी)
सुमरो मंत्र भलो नवकार (गुजराती)
संयम कब ही मिले (गुजराती)
(आचार्य भद्रगुप्तविजय जी)
संस्कृति के दो प्रवाह
(आचार्य महाप्रज्ञ)
सोया मन जग जाए
(आचार्य महाप्रज्ञ)
सांख्यदर्शन (सांख्यसूत्र)
सांख्यकारिका
सांख्यतत्त्व कौमुदी
(तत्त्ववैशारदी, भारती आदि टीकाएँ)
स्याद्वादमंजरी (मल्लिषेणसूरि)
सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १ व २
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
सूत्रकृतांगसूत्र
(अमरसुखबोधिनी व्याख्या)
स्थानांगसूत्र (अभयदेव वृत्ति)
स्थानांगसूत्र विवेचन
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
सांख्य-प्रवचन भाष्य
सिद्धि के सोपान (संतबालजी)
हिन्दी अनुवाद-पं. मुनिश्री नेमिचन्द्रजी)
सुभाषितमाला (आचार्य हस्तीमल जी)
सूत्रकृतांग (शीलांक वृत्ति) तथा निर्युक्ति
सूत्रकृतांग (जवाहराचार्य के तत्त्वावधान
में सम्पादित)
सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर टीका)
(आचार्य पूज्यपाद)
सन्मतितर्क प्रकरण (आचार्य सिद्धसेन)
सप्ततत्त्व प्रकरण
सुदर्शन सेठ (आचार्य श्री जवाहर)
सूत्रपाहुड
सम्यक्त्व-सित्तरी
सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन
(अशोक मुनि)
संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरिरचित)
संयुत्तनिकाय
समाज दिग्दर्शन
सत्यशासन-परीक्षा
(आचार्य विद्यानन्दी)

सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में
(आचार्य महाप्रज्ञ)
सिरीसिरिवालकहा (रत्नशेखरसूरि)
सामञ्ञफल सुत्त दीघनिकाय
साहित्य (जैन साहित्य) नुं संक्षिप्त इतिहास
(मुनिश्री नित्यानन्दविजयजी)
सिद्धि विनिश्चय टीका
सोलह सती
स्कन्द-पुराण
सुत्तनिपात वासिट्ठसुत्तं
सिद्धान्त कौमुदी
संबोध सत्तरी (हरिभद्रसूरि)
Studies of Jain Philosophy
Surmons and Sayings of the Budha
(Chetana)
Spiritual Teachings of
Swami Brahmanand

ह

हरिजनसेवक (पत्रिका)
हितोपदेश (संस्कृत)
हिन्दी बाल शिक्षा, भाग ५
हंसा ! तू झील मैत्री-सरोवर में
(मुनि अभयशेखरविजयजी)
हठयोग-प्रदीपिका
Human Anatomy and Philosophy
(Edited by—David M. A., Mysore)
Heart of Rama

क्ष

क्षपणसार
क्षमापना (जिनचन्द्र विजय)

त्र

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
(आचार्य हेमचन्द्र)

ज्ञ

ज्ञाताधर्मकथासूत्र
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
ज्ञान का अमृत
(श्र. सं. सलाहकार श्रीज्ञानमुनिजी)
ज्ञानबिन्दु (ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी)
ज्ञानसार
(महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी)
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य)

● ●